

प्रकाशक

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास

अध्यक्ष, सस्कृत-पुस्तकालय

प्रेक्षणालय-१ अनसारी रोड,

नया दरिमागज, दिल्ली-६

पुनर्मुद्रणादि सर्वेअधिकाराः प्रकाशकायत्ताः

इस पुस्तक के छापने, बेचने तथा कॉपीराईट के सर्वाधिकार फर्म 'मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास' के आधीन हैं। अनुवादक डाक्टर भास्कर गोविंद घाणेकर अथवा चौधुम्बा सस्कृत-सीरीज आफ्रिम, बनारस के पास कोई अधिकार नहीं हैं। सूचनायं निवेदन है।

मुद्रक—

जिननारायण उपाध्याय सी० ए० 'विशारद'

नया ससार प्रेस, भदनी कागी।

निवेदन

शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठो न च नष्टः कथञ्चन । व्याख्याने तु परं कष्ट इति मे निश्चिता मतिः ॥
टीकाकारयशःप्रार्थी ह्यतो यास्यामि हास्यतान् । प्रांशुलभ्यं फलं प्राप्सुद्ग्राहुरिव वामनः ॥
तथापि कृतवाग्द्वारे कार्येऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः । मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

श्रीविश्वनाथजी की असीम कृपा से आयुर्वेदरहस्यदीपिका के शारीरस्थान का दूसरा भाग पाठकों की सेवा में उपस्थित करने का परम सौभाग्य आज मुझे प्राप्त हुआ है । सूत्रनिदानस्थानात्मक प्रथम भाग प्रकाशित होने के पश्चात् अनेक आयुर्वेदप्रेमी डाक्टरों, वैद्यों तथा आयुर्वेदिक स्कूल, कालेज और पाठशालाओं के विद्यार्थियों ने मुझे प्रशंसात्मक अनेक चिट्ठियाँ लिखीं और इसको शीघ्र समाप्त करने का अनुरोध किया । कुछ लोगों ने समय समय पर इस अनुरोध का स्मरण दिलाने का भी कष्ट उठाया । इसके सम्बन्ध में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि ग्रंथ को शीघ्र समाप्त करने का संकल्प प्रारंभ से ही मैंने कर रक्खा था । परन्तु जिस ढंग से ग्रंथ लिखने का काम मैंने प्रस्तुत किया, वह ढंग तार पर चलने के काम के समान कठिन होने के कारण तथा कुछ अघटितघटनाजनित मानसिक औदासीन्य के कारण ग्रंथ को शीघ्र समाप्त करने का मेरा संकल्प दिन प्रतिदिन दूर होता जा रहा । तो भी शारीरस्थान, जो सुश्रुतसंहिता का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, तथा जो अपनी दुर्बलता के कारण विद्यार्थियों के सामने सदा के लिए एक सतिकुण्डलस्थान या उलझन-सा बना रहा और प्रथम भाग प्रकाशित होने के समय से विद्यार्थी जिसको पाने के लिए बहुत ही उत्कण्ठित रहे, समाप्त करके मैंने अपना तथा विद्यार्थियों का बहुत कुछ काम समाप्त कर लिया है ।

इस भाग में भी प्रथम भाग की भाँति मूल, अनुवाद और वक्तव्य का ढंग रक्खा गया है । परन्तु विषय अत्यंत गहन होने के कारण वक्तव्य अधिक विस्तृत और संस्कृत तथा अंग्रेजी ग्रंथों के उद्धरण अधिक संख्या में सविस्तर दिये गये हैं । इसके सिवा अनेक पाठकों से सूचना मिलने के कारण संस्कृत उद्धरणों के अध्यायादि का निर्देश किया गया है । इस टीका के लिए जिन अनेक ग्रंथों से सहायता मिली है, उनका निर्देश प्रथम भाग में करना मैं भूल गया था । इस भाग में उन ग्रंथों में से मुख्य मुख्य ग्रंथों के नाम कृतज्ञता-पूर्वक दिये गये हैं ।

प्राचीन काल में सुश्रुतशारीर शारीरविषयक ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था । इसका प्रमाण निम्न लोकोक्ति में मिलता है—निदाने माधवः श्रेष्ठः, सूत्रस्थाने तु वाग्भटः । शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः, चरकस्तु चिकित्सिते ॥
इस काल में पाश्चात्य शारीरविषयक ग्रंथों के साथ तुलना होने के कारण सुश्रुतशारीरकी सारी श्रेष्ठता जाँची ही । इसका प्रमाण म० म० कविराज गणनाथ सेन जी के निम्न वचनमें मिलता है—“एव च योऽसौ ‘शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः’ इति प्राचीनप्रवादः, स वृद्धसुश्रुतमधिकृत्य प्रचलितो नेदानीन्तने सुश्रुते भद्रप्रक्षिपभूयिष्ठे प्रयोक्तव्य इति निशङ्कं ब्रूमः । इदानीन्तु हन्त ‘शारीरे सुश्रुतो नष्टः’ इत्येव युज्यते विलपितुम् ॥” (प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना, चतुर्थपाद) । कविराज जी का यह मत प्रत्यक्षशारीर (Anatomy) लिखते समय प्रकट हुआ है, इस बात को न भूलना चाहिए । प्रत्यक्षशारीर सुश्रुतशारीर का एक अंश है । इसमें प्रत्यक्षशारीर के अतिरिक्त सांख्य, न्याय, वैरोपिक, वेदान्त, अनुवंशिकता (Heredity), सुप्रजाजनन (Eugenics), गर्भवृद्धिविज्ञान (Embryology), शारीरकार्यविज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology, Psychogeny),

स्त्रीरोग आर प्रसूतितन्त्र (Gynecology and midwifery), कौमारश्रुत्य (-Paediatrics) इत्यादि गहन विषय स्वरूप मे गागर मे सागर की भोंति भरे हुए है । इसलिए क्विरान जी के उपर्युक्त मत की यथार्थता एक अश के लिए ही सीमित हो जाती है, सम्पूर्ण शरीर के लिए नहीं । मेरी अल्पवृद्धि के अनुसार पाश्चात्य वैज्ञानिक तुलनात्मक दृष्टि से मुश्रुतशरीरान्तर्गत सम्पूर्ण विषयों की जाँच पड़ताल करने पर भी उसकी नष्टता की, अपेक्षा श्रेष्ठता का ही परिचय मिलता है । यह मेरा मत कहीं तक ठीक है, इसका निर्णय पाठकगण स्वयं मेरे ग्रंथ को पढ़कर कर सकते हैं ।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों मे मुश्रुतसहिता जैसा सर्वोत्तम है, वैसे ही बहुत सरल भी है । परन्तु इसके लिए शरीरस्थान अणुवाद है । इसमें अनेक गहन विषय थोड़े मे वर्णित होने के कारण बहुत कठिनता आ गई है । परन्तु इस कठिनता मे मुझे पत्थरकोयले के कालपन का नहीं, हीरे की दीप्ति का अनुभव मिला । इसको भेने ग्रन्थ मे विद्याधियों के लिए सुलभ करने का भरसक प्रयत्न किया है । मैं जानता हूँ कि यह मेरा प्रयत्न टिड्डी के पैर उठाकर आकाश को स्पर्श करने के साहस के समान या घूस की नाव पर चढ़कर महासागर को पार करने वाले नाविक की हिम्मत के समान, दा टिटहरी के चोंच मे भर भरकर नदी को सूखा बनाने की महत्त्वाकांक्षा के समान हास्यास्पद है । तो भी जैसा ही सफा, यह काम करके पाठकों के सामने रखवा गया है ।

यह स्थान परम कठिन होने के कारण इसमे दोषों की कुछ अधिकता होना स्वाभाविक है तथा कई विषय विवादास्पद होने के कारण प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों के मत के साथ घोर विरोध प्रकट करना अनिवार्य हो गया है । ये दोष ग्रन्थकार के अज्ञान के और विरोध पक्षपातहीन वैज्ञानिक दृष्टि के परिणाम हैं । तो भी विरोध के लिए मैं उन आचार्यों से समायाचना करता हूँ और विद्वान् चिकित्सकों और सहृदय पाठकों से नम्र निवेदन करता हूँ कि आप लोग हस-स्त्रीरन्यायेन दोषों की ओर दृष्टि न देकर गुणोंको ग्रहण करें और लेखक का साहस बढ़ावें—

सत-हस गुण गहर्हि पय, परिहरि वारि-विकार ।

भारती विश्वविद्यालय
विलायतपुरामी
संवत् १९९०

}

निवेदक—
भास्कर गोविन्द घाणेकर

शारीरस्थानस्य विषयानुक्रमणिका

| सूत्राङ्काः | विषयाः | पृष्ठाङ्काः | सूत्राङ्काः | विषयाः | पृष्ठाङ्काः | सूत्राङ्काः | विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|-------------|--|-------------|---|--------|--|-------------|--------|-------------|
| | प्रथम अध्याय | | १९-२० असृग्द्रलक्षण | २७ | ६० पूर्वजन्म और उत्तरजन्म के गुण | | | |
| १ | सर्वभूतचिन्ताशारीरोपक्रम | १ | २१ असृग्द्रचिकित्सा | २७ | कर्मों का संबंध | | | १६ |
| २ | अव्यक्त स्वरूप | १ | २२ नष्टार्तव लक्षण और चिकित्सा | २८ | तृतीय अध्याय | | | |
| ३ | अव्यक्तसे चौबीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति | १ | २३ क्षीणार्तवचिकित्सा | २९ | १ गर्भावक्रान्तिशारीरोपक्रम | | | २७ |
| ४ | ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विषय | ४ | २४ उक्तप्रकरणोपसंहार | २९ | २ शुक्र और आर्तव का सौम्याग्नेय | | | |
| ५ | प्रकृति और विकृति | ५ | २५-२७ ऋतुमतीचर्या | २९ | स्वरूप | | | ५७ |
| ६ | तत्त्वों का अधिभूतादि भेद से त्रैविध्य | ६ | २८-३१ पृथ्वीय आचार निरूपण | ३२ | ३ मैथुन कर्म तथा शुक्रार्तव संयोग | | | ५७ |
| ७ | चौबीस तत्त्वोंका अचेतनरूप, पुरुष का चेतनत्व तथा अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति के हेतु | ६ | ३२ ऋतुमतीसहवासफल | ३३ | ४ आत्मा के पर्याय तथा शुक्रार्तव संयोग में उसका अवतरण | | | ६२ |
| ८ | प्रकृति पुरुष साधर्म्य वैधर्म्य | ८ | ३३ पुसत्रनविधि | ३५ | ५ गर्भ में लिगभेद के हेतु | | | ६६ |
| ९ | व्यक्त तत्त्वों की त्रिगुणात्मिकता | ९ | ३४ गर्भोत्पत्ति की सामग्री | ३६ | ६ ऋतुकाल की मर्यादा | | | ७१ |
| १० | प्रकृति के विषय में आयुर्वेद का सिद्धान्त | १० | ३५ विधियुक्त उत्पन्न गर्भ के गुण | ३९ | ७-८ ऋतुमती के लक्षण | | | ७४ |
| ११-१३ | पुरुषसंभव द्रव्यसमूह की पचमहाभूतोत्पत्ति | १२ | ३६ गर्भ के गौर कृष्णादि वर्णों के उत्पत्ति हेतु | ३६ | ९ ऋतुकाल के पश्चात् गर्भाशय की स्थिति | | | ७६ |
| १४ | आयुर्वेद में इन्द्रियों का भोतिकत्व | १३ | ३७ गर्भ के नेत्रवर्णों के उत्पत्तिहेतु | ४० | १० आर्तवस्वरूप और उसके स्रवण की युक्ति | | | ७६ |
| १५ | इन्द्रियों के विषयग्रहणसंबंधी नियम | १३ | ३८ पुरुषसमागम के समय स्त्रियों के आर्तव का विमर्षण | ४० | ११ आर्तवप्रवृत्ति और निवृत्ति काल | | | ७६ |
| १६ | पुरुष का परिमाण | १४ | ३९ यमलगर्भोत्पत्तिहेतु | ४२ | १२ समविषम दिन और समागम का फल | | | ७७ |
| १७ | पुरुष का अनेक योनिगमन और उसके अवतरण की युक्ति | १५ | ४० आसेक्य पुरुष का लक्षण | ४४ | १३ सद्योगृहीतगर्भा के लक्षण | | | ७७ |
| १८ | शरीर मन के साथ सयोग होने पर पुरुष के प्रकट होने वाले गुण | १५ | ४१ सौगन्धिक पुरुष का लक्षण | ४४ | १४-१५ व्यक्तगर्भा स्त्री के लक्षण | | | ७६ |
| १९ | सात्त्विकादि युक्त मन के गुण | १६ | ४२ कुम्भीक पुरुष का लक्षण | ४४ | १६ गर्भिणी के वर्ज्य आहार-विहार | | | ८२ |
| २० | महाभूतों के गुण | १७ | ४३ ईर्ष्यक पुरुष का लक्षण | ४४ | १७ वर्ज्य आहार विहारादि के आसेवन का हेतु | | | ८४ |
| २१ | त्रिगुणात्मक भूत संगठन | १७ | ४४ नरपण्ड का लक्षण | ४५ | १८ प्रथम मास में गर्भ का स्वरूप | | | ८४ |
| २२ | पंचीकरण | १८ | ४५ नारीपण्ड का लक्षण | ४५ | १९ द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप | | | ८५ |
| २३ | अध्यायोपसंहार | १८ | ४६ सशुक्र और अशुक्र पण्ड | ४५ | २० तृतीय मास में गर्भ का स्वरूप | | | ८६ |
| | द्वितीय अध्याय | | ४७ आसेक्यादि स्त्रीवर्णों में ध्वजोच्छ्राय की उपपत्ति | ४५ | २१ चतुर्थ मास में गर्भ का स्वरूप और माता की द्विहृदयता | | | ८६ |
| १ | शुक्रदोषितशुद्धिशारीर | १८ | ४८ आहाराचार चेष्टा का संतान पर परिणाम | ४५ | २२ दौहद की उपेक्षा का फल तथा पूरण का महत्त्व | | | ८६ |
| २ | दुष्ट शुक्र का प्रजोत्पादन में असामर्थ्य | १९ | ४९ अनस्थि गर्भोत्पत्ति हेतु | ४५ | २३-३३ दौहद विशेषता के अनुसार गर्भ स्वभाव विशेषता के उदाहरण | | | ८६ |
| ३ | वातादि से दूषित शुक्र के लक्षण | १९ | ५०-५१ पितृगुणविरहित गर्भोत्पत्ति हेतु | ४५ | ३४ दौहदोत्पत्ति की उपपत्ति | | | ८८ |
| ४ | आर्तव के दोष | २० | ५२-५३ सर्पवृश्चिकादि तथा कुञ्ज कुण्ठिकादि गर्भोत्पत्ति हेतु | ४५ | ३५ पाँचवें महीने के गर्भ का स्वरूप | | | ८६ |
| ५-१० | शुक्रदोषचिकित्सा | २१ | ५४ गर्भवस्था में मलादि के अभाव के हेतु | ४५ | ३६ छठे महीने के गर्भ का स्वरूप | | | ९० |
| ११ | अदुष्ट शुक्र का लक्षण | २२ | ५५ गर्भ के न रोने के कारण | ४५ | ३७ सातवें मास में गर्भ का स्वरूप | | | ९० |
| १२-१६ | आर्तवदोषचिकित्सा | २३ | ५६ माता के श्वास प्रश्वासादि द्वारा गर्भ को श्वास प्रश्वासादि की प्राप्ति | ४५ | ३८ आठवें महीने में गर्भ का स्वरूप तथा उसकी अस्थिरता | | | ९० |
| १७ | अदुष्टार्तव लक्षण | २४ | ५७ शरीररचनाविशेष में स्वभाव का महत्त्व | ४५ | ३९ प्रसवकाल की मर्यादा | | | ९१ |
| १८ | असृग्द्र की व्याख्या | २५ | ५८ शरीररचनाविशेष में स्वभाव का महत्त्व | ४५ | | | | |
| | | | ५९ जातिस्मरता के हेतु | ४५ | | | | |

| | | | | |
|---|-----|---|-----|--|
| ४० गर्भोपपन्न का मम | ३३ | ४७ दिवास्वप्न और रात्रिजागरण के लिए योग्य | १२८ | १८ पशु से दानसपत्य काय का सामसत्व; रोगियों में चिकि— |
| ४१ गर्भवृद्धि में प्रथम अंगोत्पत्ति के मतमतान्तर | ३५ | ४८ तन्द्रालक्षण | १२८ | के लिए हून कार्यों की प्र |
| ४२ इसके संबंध में घनवन्तरिका मत | ३६ | ४९ जृग्मालक्षण | १२९ | जानने की आवश्यकता |
| ४३ गर्भ के मातापितादि से उत्पन्न होने वाले शरीर के लक्षण | ३६ | ५० क्लमलक्षण | १२९ | १९ प्रकृतियों का उपसहार |
| ४४ गर्भ के माता में प्रकट होने वालेही पुनपुंसक सूचकलक्षण | ३७ | ५१ आलस्यलक्षण | १२९ | पञ्चम अध्याय |
| ४५ माता-पिता के देवता भाक्षण पर त्वादि का सन्तान पर परिणाम | ३८ | ५२ उच्छ्वेदलक्षण | १२९ | १ शरीरसंघात्याकारणशारीरोपक्रम |
| ४६ अंग प्रत्यगनिवृत्ति में पूर्वजन्म के धर्माधर्म का महात्व | ३८ | ५३ श्ठालिलक्षण | १३० | २ गर्भ और शरीर व्याख्यान |
| चतुर्थ अध्याय | | ५४ गौरवलक्षण | १३० | ३ प्रत्यङ्गविभागकथन |
| १ गर्भव्याकरणशारीरोपक्रम | ९९ | ५५ सूक्ष्म, भ्रम, तन्द्रा और निद्रा की सप्रति | १३० | ४ प्रत्यङ्गों की प्रत्यक् प्रथक् गणना |
| २ शरीर के एकाद्र्या प्राण | ९९ | ५६ गर्भवृद्धि के हेतु | १३० | ५ प्रत्यक् प्रथक् प्रत्यङ्गों की संख्या |
| ३ सात त्वचाओं का निरूपण | ९९ | ५७-५८ गर्भवृद्धि की युक्ति | १३० | ६ प्रत्यङ्गों का सविस्तार कथन |
| ४ कला सख्या | १०२ | ५९ शरीर बचने पर भी दृष्टि और रोमकूपों की अवृद्धि | १३१ | ७ आशयवर्णन |
| ५-६ कला स्वरूप | १०२ | ६० शरीर चीजन होने पर भी नखों और केशों की वृद्धि | १३१ | ८ आन्त्रवर्णन |
| ७-८ मासधरा कला | १०३ | ६१ प्रकृति का सप्तविधत्व | १३१ | ९ शरीर के बहिर्मुख स्नेतस् |
| ९-१० रक्तधरा कला | १०३ | ६२ प्रकृति बनने का हेतु | १३१ | १० कण्ठरावर्णन |
| ११-१३ मेदोधरा कला | १०४ | ६३-६६ वातप्रकृति के लक्षण | १३२ | ११ जालवर्णन |
| १३-१४ श्लेष्मधरा कला | १०४ | ६७-७० पित्तप्रकृति के लक्षण | १३३ | १२ कूर्चावर्णन |
| १५-१६ मूत्रधरा कला | १०५ | ७१-७५ कफप्रकृति के लक्षण | १३४ | १३ मासुरज्जुवर्णन |
| १७-१८ पित्तधरा कला | १०५ | ७६ मिश्र प्रकृति | १३४ | १४ सेवनीवर्णन |
| १९ शुक्र धरा कला | १०६ | ७७ जीवितावस्था में प्रकृति की एकता | १३४ | १५ संघातवर्णन |
| २० शुक्र का सर्वशरीरव्यापित्व | १०६ | ७८ प्रकृति दोषयुक्त होने पर भी मनुष्योत्पत्ति में उसका निर्दोषत्व | १३५ | १६ सीमन्तवर्णन |
| २१ शुक्रचरण मार्ग | १०६ | ७९ एकैय मत से प्रकृति पा भौतिकत्व | १३६ | १७-१८ अस्थियों की सख्या |
| २२ शुक्रचरण की युक्ति | १०६ | ८० वक्षकाय के लक्षण | १३६ | १९ शाखाओं की अस्थियों |
| २३ गर्भिणी में अनातंत्र्य का हेतु | १०९ | ८१ महेन्द्रकाय के लक्षण | १३६ | २० धम की अस्थियों |
| २४-३० गर्भ के यज्ञतादि अंगों की उत्पत्ति की कल्पना | ११० | ८२ वारणकाय के लक्षण | १३७ | २१ शिर और श्रोत्रा की अस्थियों |
| ३१ हृदय का स्वरूप | १११ | ८३ कौशेयकाय के लक्षण | १३७ | २२ अस्थियों के प्रकार |
| ३२ निद्रा का स्वरूप और प्रकार | ११७ | ८४ गांधर्वकाय के लक्षण | १३७ | २३-२४ अस्थियों का कार्य |
| ३३-३४ निद्रा का स्थान और हेतु | ११९ | ८५ याम्यकाय के लक्षण | १३७ | २६ संधियों के प्रकार |
| ३५ स्वप्न की उत्पत्ति | १२४ | ८६ ऋषिकाय के लक्षण | १३७ | २७ उनके स्थान |
| ३६ इन्द्रियों की विकलता के कारण आत्मा का प्रसुप्त सा मालम्ब होना | १२५ | ८७ वक्षकाय से ऋषिकाय की सार्विकता | १३७ | २८ सपूर्ण शरीर को तथा पद्यों की संधिसंघटा |
| ३७ दिवास्वप्न के लिए योग्य काल और व्यक्तियोंका निरूपण, उसके दोष, रात्रिजागरण के दोष | १२५ | ८८ आसुरकाय के लक्षण | १३७ | २९ शाखाओं की संधियों |
| ३८ ३९ दिवास्वप्न और रात्रिजागरण का दोषकरत्व और उनको टालने से मिलने वाला फल | १२६ | ८९ सर्पकाय के लक्षण | १३७ | ३० मध्य शरीर की संधियों |
| ४० दिवास्वप्न या रात्रिजागरण का साम्यीकरण होने पर उनका निर्दोषत्व | १२७ | ९० राजनकाय के लक्षण | १३७ | ३१ श्रोत्रा के उपर की संधियों |
| ४१ निदानाश के कारण | १२७ | ९१ राक्षसकाय के लक्षण | १३७ | ३२ संधिचक्ष्णा के प्रकार |
| ४२-४५ निदानाश की चिकित्सा | १२७ | ९२ वैशाचकाय के लक्षण | १३८ | ३३ पेशीछायासिरादि संधियों का अपरिसंख्येयत्व |
| ४५ अतिनिद्रा की चिकित्सा | १२८ | ९३ प्रेतसख के लक्षण | १३८ | ३४ छायासख्या |
| | | ९४ आसुर से प्रेतसखकाय का राजसत्व | १३८ | ३५ शाखागत छाया |
| | | ९५ पशुकाय के लक्षण | १३८ | ३६ मध्यशरीरगत छाया |
| | | ९६ मत्स्यसख के लक्षण | १३८ | ३७ उर्ध्वजडुगत छाया |
| | | ९७ दानसपत्य काय के लक्षण | १३८ | ३८-४० छायाओं के प्रकार और उनके स्थान |
| | | | १३८ | ४१-४२ छायाओं का कार्य |
| | | | १३८ | ४३ शरीरकार्य में छाया का महात्व |
| | | | १३८ | ४४ छायाविज्ञान का महात्व |
| | | | १३८ | ४५ पेशियों की संख्या |
| | | | १३८ | ४६ शाखागत पेशियों |

| | | | | | |
|--|-----|--|-----|---|-----|
| २४ रक्तविस्त्रावण में कुछ दोष | | १७ मांसवह स्रोतस् | २२७ | ३१ अपरिसुप्त स्तन्यसेवन के दोष | २७१ |
| दोष रखने का प्रयोजन | २०७ | १८ मेदोद्वेह स्रोतस् | २२७ | ३२ स्तन्यनाश, हेतु और चिकित्सा | २७१ |
| २५ सिरावेध में रक्त निकलने का प्रमाण | २०७ | १९ मूत्रवह स्रोतस् | २२८ | ३३ शुद्धस्तन्यपरीक्षा | २७३ |
| २६ रोगानुसार शाखाओं की वेध्य सिराओं के स्थान | २०८ | २० पुरीयवह स्रोतस् | २२८ | ३४-३६ स्तन्यदोष, हेतु और परिणाम | २७४ |
| २७ बाहु की वेध्य सिराओं के स्थान | २०८ | २१ शुक्रवह स्रोतस् | २२८ | ३७-३९ शिशुरोगविज्ञानोपाय | २७५ |
| २८ रोगानुसार पीठ और वक्ष की वेध्य सिराओं के स्थान | २०९ | २२ आर्तववह स्रोतस् | २२८ | ४० अवस्थाभेद से औषधिप्रदान पद्धति | २७६ |
| २९ रोगानुसार जन्पूर्व सिरादोषन के स्थान | २०९ | २३ सेवनीवेधलक्षण | २२९ | ४१ औषधमात्राकथन | २७६ |
| ३० दुष्टवेधन के नाम | २०९ | २४ स्रोतोवेध की साध्यासाध्यता और चिकित्सा | २३० | ४२ स्तनलेप से औषधिप्रदान | २७७ |
| ३१ दुष्टवेध्य सिराओं का विवरण | २०९ | २५ स्रोतस की व्याख्या | २३० | ४३ शिशुज्वर में द्रव्यप्रयोग | २७७ |
| ३२ सिरावेध यत्नपूर्वक करने का कारण | २१२ | दशम अध्याय | | ४४ उवर में स्तनपानविधि | २७७ |
| ३३ दुष्टवेध्य का कारण वैद्य का अज्ञान | २१३ | १ गर्भिणीव्याकरणशारीरोपक्रम | २३० | ४५ विरेचनादि के प्रयोग का निर्देश | २७७ |
| ३४ स्नेहस्वेदनादि की अपेक्षा सिरावेध का गुणाधिकत्व | २१३ | २ गर्भिणीसामान्यपरिचर्या | २३१ | ४६ तालुपात, लक्षण और चिकित्सा | २७७ |
| ३५ सिरावेध का चिकित्सार्थत्व | २१३ | ३ गर्भिणी का मासानुमासिक आहार | २३३ | ४६ नाभिनुपिडलक्षण और चिकित्सा | २७८ |
| ३६ पंचकर्म के पञ्चानु निषिद्ध कर्म | २१३ | ४ सूतिकागार और नौवें मास में उस में प्रवेश | २३६ | ४७ गुदपाक, चिकित्सा | २७८ |
| ३७ रक्तविस्त्रावण के विविध साधनों की रक्तस्थिति के अनुसार कार्यमर्यादा | २१३ | ५ प्रभवसामान्य के लक्षण | २३७ | ४८ स्वास्थ्यरक्षक घृत | २८० |
| ३८ दूसरी दृष्टि से जलीनादि की कार्यमर्यादा | २१४ | ६ आमन्नप्रसवा के लक्षण | २३८ | ४९-५० शिशुपालन के सामान्य नियम | २८० |
| नवम अध्याय | | ७ प्रभव प्रथमावस्था का कर्म | २४० | ५१ स्तन्याभाव में देने योग्य दूध | २८१ |
| १ धमनीव्याकरणशारीरोपक्रम | २१५ | ८ ,, द्वितीयावस्था के कर्म | २४३ | ५२ अन्नप्राशनविधि | २८१ |
| २ सिराओं से धमनियों का पृथक्त्व | २१५ | ९ प्रतिदोष गर्भ का अनुलोमकरण | २४५ | ५३ द्रोणपसर्गप्रतिषेध | २८१ |
| ३ चौबोस धमनियों के विभाग | २१५ | १० गर्भाशयसंग की चिकित्सा | २४५ | ५४ द्रोणपसर्गामान्यलक्षण | २८५ |
| ४ उर्ध्वग धमनियों का कार्य | २१५ | ११ नवजात शिशु के उपचार | २४६ | ५५ अस्थापनविधि | २८६ |
| ५-६ अधोगामी धमनियों के कार्य | २२० | १२ शिशु की स्नानविधि | २४९ | ५६ विवाहकाल | २८६ |
| ७-८ तिर्यगामी धमनियों के कार्य | २२१ | १३ स्तन्योत्पत्तिकाल | २५० | ५७-५८ अत्यंत बाला में गर्भाधान के परिणाम | २९० |
| ९ धमनीगत दिद्रों का परिमाण | २२२ | १४ शिशु को मधुसर्पिरादि प्राशनविधि | २५० | ५९ गर्भाधान के लिए अयोग्य स्त्री पुरुष | २९१ |
| १० धमनियों का महत्त्व | २२२ | १५-१७ सूतिकापरिचर्या | २५२ | ६० गर्भाधानचिकित्सा | २९१ |
| ११ स्रोतस् उनके नाम और सख्या | २२४ | १८-१९ सूतिकारोग, हेतु और चिकित्सा | २५७ | ६१ हीन और उपशुष्क गर्भ, लक्षण और चिकित्सा | २९३ |
| १२ प्राणयत्न स्रोतस् | २२४ | २० प्रभव, स्त्रीयावस्था, अपराहरण | २६० | ६२-६९ गर्भाधानप्रतिषेधक मायागु-मायिक औषधिप्रयोग | २९३ |
| १३ अन्नयत्न स्रोतस् | २२५ | २१ मज्जालक्षण | २६४ | ७० प्रयत्नों के बीच में छूट साह, से अधिक काल होने पर बालक का अन्त्यायुक्त | २९४ |
| १४ उदरवह स्रोतस् | २२५ | २२ मज्जालचिकित्सा | २६५ | ७१ गर्भिणीचिकित्सा के कुछ मार्गदर्शन नियम | २९५ |
| १५ रसवह स्रोतस् | २२६ | २३ शिशुरक्षाकर्म | २६६ | ७२-७४ बालनुद्विचर्चक योग | २९६ |
| १६ रक्तवह स्रोतस् | २२६ | २४ नामकरणविधि | २६७ | | |
| | | २५ धात्री क गुण | २६७ | | |
| | | २६ स्तनदोष के परिणाम | २७० | | |
| | | २७-२९ धात्रीगन्धनपानविधि | २७० | | |
| | | ३० अनियतधात्रीदोष | २७० | | |

आयुर्वेदरहस्यदीपिका के प्रमाण-ग्रंथ List of Books consulted

संस्कृत

- | | | | |
|---|--|--|---|
| १ ऋग्वेद | ३० सांख्यकारिकाभाष्य गौडपादाचार्यकृत | ५२ वास्तुशास्त्र मयकृत | ८१ आयुर्वेदसंदीपनीसुश्रुतटीका हाराणचन्द्रकृत |
| २ अथर्ववेद | ३१ वात्स्यायनभाष्य न्यायसूत्रस्य | ५३ अर्थशास्त्र कौटिल्यकृत | ८२ आयुर्वेददीपिका चरकटीका चक्रपाणिकृत |
| १ तैत्तिरीयसंहिता | ३२ उद्योतकरवार्त्तिक न्यायसूत्रस्य | ५४ शुक्रनीति | ८३ निबंधसंग्रह सुश्रुतटीका उरुहणकृत |
| ४ मनुस्मृति | ३३ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य | ५५ रतिमंजरी | ८४ सर्वांगसुंदरा अष्टांगहृदय- टीका अरुणदत्तकृत |
| ५ याज्ञवल्क्यस्मृति | ३४ दशोऽनिषत् शांकरभाष्य | ५६ सिद्धान्तशिरोमणि भास्कराचार्यकृत | ८५ शशिलेखा अष्टांगसंग्रह- टीका इन्दुकृत |
| ६ दक्षस्मृति | ३५ वैशेषिकसूत्रोपस्कार शंकरमिश्रकृत | ५७ गीतगोविन्द | ८६ मधुकोष माधवनिदानटीका विजयरक्षितकृत |
| ७ पाराशरस्मृति | ३६ कणादसूत्रविवृति जय- नारायण तर्कचिन्तनकृत | ५८ चरकसंहिता | ८७ आतंकदर्पण माधवनिदान टीका वाचस्पतिमिश्रकृत |
| ८ आस्तम्भस्मृति | ३७ वैशेषिकभाष्य चन्द्रकान्त- भट्टाचार्यकृत | ५९ अष्टांगहृदय | ८८ शार्ङ्गधरदीपिका आढमल्लकृत |
| ९ अत्रिस्मृति | ३८ सांख्यसूत्रभाष्य विज्ञान- भिक्षुकृत | ६० अष्टांगसंग्रह | ८९ शार्ङ्गधर गूढार्थदीपिका काशीराम |
| १० मन्वर्थमुक्तावली कुल्लूक भट्टविरचित | ३९ जयमंगला टीका (कामसूत्र) यशोधरकृत | ६१ भेलसंहिता | ९० रसयोगसागर, प्रस्तावना- सहित |
| ११ मिताक्षरा विज्ञानेश्वर- विरचित | ४० श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका शंकरानन्दकृत | ६२ शार्ङ्गधरसंहिता | ९१ तर्कसंग्रह |
| १२ रामायण | ४१ श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका नारायणकृत | ६३ योगरत्नाकर | ९२ शाकुन्तल |
| १३ महाभारत | ४२ कठोपनिषद् | ६४ भावप्रकाश | ९३ रघुवंश |
| १४ भागवत | ४३ प्रश्नोपनिषद् | ६५ चक्रदत्त | ९४ कुमारसंभव |
| १५ देवीभागवत | ४४ छान्दोग्योपनिषद् | ६६ वंगसेन | ९५ विक्रमोर्वशीय |
| १६ त्रिष्णुपुराण | ४५ बृहदारण्यकोपनिषद् | ६७ वृन्दमाधव | ९६ नीतिसतक वैराग्यशतक |
| १७ कूर्मपुराण | ४६ ईशानास्योपनिषद् | ६८ माधवनिदान | ९७ अमरकोष |
| १८ योगवासिष्ठ | ४७ गर्भोपनिषद् | ६९ क्षेमकुतूहल | ९८ मेदिनीकोष |
| १९ भगवद्गीता | ४८ श्वेताश्वतरोपनिषद् | ७० उभामहेश्वरसंवादे नाडी- ज्ञानम् | ९९ हलायुधकोष |
| २० गौतमसूत्र | ४९ मुण्डकोपनिषद् | ७१ नाडीज्ञानतरंगिणी | १०० सुभाषितरत्नभाण्डागर |
| २१ न्यायसूत्र | ५० पञ्चदशी | ७२ रसार्णव | १०१ मेघदूत |
| २२ वैशेषिकसूत्र | ५१ पञ्चीकरणवार्त्तिक | ७३ काश्यपसंहिता | १०२ उत्तररामचरित |
| २३ सांख्यसूत्र | | ७४ राजनिघण्टु | |
| २४ सांख्यकारिका | | ७५ मदनपालनिघण्टु | |
| २५ योगसूत्र | | ७६ धन्वन्तरिनिघण्टु | |
| २६ वेदान्तसूत्र | | ७७ प्रत्यक्षशारीर, प्रस्तावना- सहित | |
| २७ कामसूत्र-वात्स्यायनकृत | | ७८ सिद्धान्तनिदान | |
| २८ सांख्ययत्त्वकौमुदी वाचस्पतिमिश्रकृत | | ७९ संज्ञाचक्रविमर्श | |
| २९ सांख्यप्रवचनभाष्य | | ८० हारीतसंहिता | |

आयुर्वेदरहस्यदीपिका के प्रमाण-ग्रंथ
List of Books consulted
ENGLISH

- | | |
|--|---|
| 1 Anatomy by Grey | 29 Psychology of Sex by Havelock Ellis |
| 2 Physiology by W. D Halliburton | 30 Ideal Birth by Von De Velda |
| 3 " " Howell | 31 Esoteric Anthropology by Dr. Nicholas |
| 4 Applied Physiology by Wrights | 32 Manual of Embryology by Fraser |
| 5 Physiology by Starlings | 33 Surgical Instruments of the Hindus by Mukerji, G N |
| 6 Materia Medica by Ghosh | 34 History of Hindu Medicine by Mukerji, G.N. |
| 7 Indian Materia Medica by Nadkarni | 35 Interpretation of Ancient Hindu Medicine by Chakrabart |
| 8 Text book of Medicine by F.W. Price | 36 History of Hindu Chemistry by P. C. Ray |
| 9 " " by Savill | 37 Studies in the Medicine of Ancient India by Dr. Hoernle |
| 10 " " by Osler | 38 English Translation of Sushrut Samhita by Dutt |
| 11 " " by Taylor | 39 Problem of Rebirth by Hon Ralph Shirley |
| 12 Preventive Medicine and hygiene by Rosenaw | 40 Book of Meditations by Allen James |
| 13 Physiology in Health and disease by Wiggers | 41 From Unconscious to conscious by G. Gelay |
| 14 Manual of Pathology by Green | 42 Reincarnation by Walker |
| 15 " " Hewitt | 43 Metaphysics of life and death by Tudor Jones |
| 16 Tropical Medicine by Rogers and Magan | 44 Idealistic view of life by Sir SriRadhakrishnan |
| 17 Differential diagnosis by Herbert French | 45 Positive sciences of the Hindus by B. N Seal |
| 18 Symptom diagnosis by Barton and Yater | 46 History of Hindu Philosophy by Das Gupta |
| 19 Lectures in diseases of children by Robert Hutchison | 47 Medical Annual 1935 |
| 20 Surgery by Rose and Carless | 48 English translation of Sushrut by Kaviraj Kunjlal |
| 21 Minor Surgery and Bandaging | 49 Sushrutic Anatomy by Gangadhar Shastri Joa |
| 22 Midwifery by Jellet | 50 Manual of Bacteriology by Muir and Ritch |
| 23 " " Ten Teachers | |
| 24 Diseases of Women by Bland-Sutton and Jiles | |
| 25 Sexual physiology by Chandra Chakrabarty | |
| 26 Introduction to sexual Physiology by Marshall | |
| 27 Riddle of Sex | |
| 28 Studies in the Psychology of Sex by Havelock Ellis | |

श्रीः ।

आयुर्वेदरहस्यदीपिकाख्यव्याख्यासमुल्लसिता

सुश्रुतसंहिता

शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अव यहाँ से सर्वभूतचिन्ता (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य—शारीरस्थान की प्रवृत्ति 'विद्यानार्थं शारीरस्य' (प्रथमखण्ड पृष्ठ १६) है। शारीरविज्ञान में गर्भावक्रान्ति (Embryology), अंगप्रत्यंगविज्ञान (Anatomy), शारीरकार्यविज्ञान (Physiology) इत्यादि अनेक विषयों का समावेश होता है—शारीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा । सर्वभावैर्यतस्तास्मात् शारीरं स्थानमुच्यते ॥ (चरक, शारीर ८) । इन अनेक विषयों का सम्यक् परिचय तथा आकलन होने के लिए प्राचीन दृष्टपना के अनुसार सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का तथा तदन्तर्गत मनुष्यशरीर की स्थूल और सूक्ष्म रचना का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसलिए इस अध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति का संक्षिप्त विवरण मुख्यतया कपिलमहामुनि-प्रणीत सांख्यदर्शानुसार किया गया है। सर्वभूतचिन्ता-शारीर—सर्वभूतचिन्ता नामक शारीर। स्थावरजंगमात्मक अखिल भूत याने सृष्ट पदार्थ, इनकी उत्पत्ति स्थिति और कार्य इनका चिन्तन याने विवरण या विचार जिसमें किया गया है, वह अध्याय। स्थावरजंगमात्मक समस्त सृष्टि पञ्चीकृत पंचमहाभूतों से उत्पन्न हुई है और चिकित्सा में इन भूतों से अधिक परे विचार करने की आवश्यकता नहीं होती—भूतेभ्यो हि पर यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥ (सुश्रुत, शारीर १) । इसलिए इस अध्याय में अव्यक्त से पंचमहाभूत किस प्रकार से उत्पन्न हुए हैं, इसका विचार किया है। शारीर—शारीरविज्ञान के विषयों का विवरण जिसमें होता है, उसे शारीर कहते हैं—शारीरिकभावमधिकृत्य कृतोऽध्यायः शारीरः। शारीरस्थान का प्रत्येक अध्याय इस

कारण से शारीर कहलाता है—निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि महर्षिणा । विद्यानार्थं शारीरस्य भिषजां योगिनामपि ॥ शारीरिक भावों में दार्शनिक भावों का भी समावेश होता है क्योंकि वे शारीर के मूलतत्त्व हैं (१ वें अध्याय के ६३ वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो) । वेदान्तसूत्र इसी कारण से 'शारीरिक सूत्र' कहलाते हैं ।

अव समस्त सृष्टि का आदि कारण जो प्रकृति, उसका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम । तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इचौदकानां भावानाम् ॥ २ ॥

(अव्यक्तस्वरूप—) समस्त भूतों का (आदि) कारण (परंतु स्वयं) कारणरहित, सत्त्व रज और तम इन (तीनों) के लक्षणों से युक्त, अष्टविधरूप युक्त, और अखिल जगत् की उत्पत्ति का हेतु 'अव्यक्त' है। जैसे कि (एक) समुद्र (मत्स्य, पद्म, कच्छप इत्यादि अनेक) जलजीवों का अधिष्ठान होता है, वैसे ही वही एक अव्यक्त अनेक क्षेत्रज्ञों का अधिष्ठान होता है ॥ २ ॥

वक्तव्य—सर्वभूत—सांख्यपरिभाषा के अनुसार 'व्यक्त-तत्त्व' अर्थात् अव्यक्त को छोड़कर बाकी रहने वाले जौवीस तत्त्व । अकारण—जिसके लिए कोई कारण नहीं है अर्थात् जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है—न विद्यते कारणं यस्य तदकारणम् । इसलिए 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' (सांख्यसूत्र १, ६७) और 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सांख्य-कारिका ३) इस प्रकार सांख्यदर्शन में अव्यक्त का वर्णन किया गया है। सत्त्वरजस्तमोलक्षणम्—स्थावरजंगमात्मक समस्त सृष्ट पदार्थों में सत्त्व, रज और तम इनका मिश्रण होता है। ये गुण कभी भी स्वतन्त्र और अकेले नहीं होते,

तीनों मिलकर रहते हैं—अन्वयोन्माभिभवार्थे विकल्पेन परस्परम् ॥ तथाज्यो-वाप्रया सर्वे न निष्ठानि निराश्रया ॥ २३ ॥ सरत्र न केरलं क्वापि रजो न तमस्ताया ॥ मिलाश्रया सदा सर्वे तेना-न्यो वाप्रया २४ ॥ १४ ॥ यद्ये यमियुनाश्वे ॥ १५ ॥ (देवीभागवत ३, ८) । इन गुणों की न्यूनाधिकता के कारण सृष्ट पदार्थों में सोना, लोहा, पानी, मिट्टी, प्राणियों का शरीर इत्यादि नानास्व उत्पन्न हुआ है । जिनको सात्त्विक, राजस्य, सामस्य कहते हैं उनमें भी तीनों गुण उपस्थित रहते हैं परतु 'व्यपदेशन्तु भूयना' इम न्याय से उनमें सत्त्व, रज और तम का क्रम से प्राबल्य होता है—(जसमभ्यामिभूय सत्त्वं भवति भारत ॥ रज सत्त्वं तमश्चे तम सत्त्वं रजस्तथा ॥ (भगवद्गीता १७, १०) । सब सृष्ट पदार्थों का कारण जो अभ्यक्त है, उसमें भी ये गुण होते हैं, क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार जो गुण कारण में नहीं होते, वे कार्य में स्वतन्त्ररूप से नहीं आ सकते—असदकस्यादुपादानप्रवर्षणा स्वतंसमवा भावात् ॥ शकत्व शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्त्वात् ॥ (सात्त्विकारिका १) । भेद इतना ही होता है कि सृष्ट पदार्थों में गुण वियमावस्था में याने न्यूनाधिकभाव से और कार्य-कर स्थिति में होते हैं, और अभ्यक्त में साम्यावस्था में याने अन्व्यूनाधिकभाव से और अकार्यकर स्थिति में होते हैं—सत्त्वं जसमभ्या सत्त्वावस्था प्रकृति ॥ (सात्त्विकसूत्र १-६१) । साम्यावस्था न्यूनाधिकमावेनामहनमन् प्रजायार्यपरतमित्यर्थ । एवं च चार्थमित्त गुणयत्र प्रकृतिरिति पूर्ववसिनोऽर्थ ॥ (अनिहृद टीका) । अष्टरूपम्—त्रयो रूपाणि यस्य तच्छोक्तम् ॥ महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राणि ये प्रकृति के सात रूप हैं । ये सात रूप और स्वयं प्रकृति मिलकर अष्टरूप होते हैं । इसका कारण यह है कि साध्यशास्त्रकार शिलापुत्रकन्यायेन अभ्यक्त के लिए रूपित्व और रूपत्व दोनों ही मानते हैं । परतु साध्य में अष्टविध प्रकृति के मूलप्रकृति और प्रकृतिविकृति करके दो भेद किये गये हैं—मूलप्रकृतिरविकृति मरदाया प्रकृतिविकृतय सप्त । (सात्त्विकारिका ३) । वेदान्त में भी प्रकृति का यही अष्टविध रूप माना जाता है, परतु उसमें प्रकृति परब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण उस पर रूपत्व और रूपित्व दोनों आरोपित करने की आवश्यकता नहीं होती । जो शास्त्रकार इस तरह पुत्रों की गणना में पिता का समावेश करना पसन्द नहीं करते तथापि रूप का अष्टविधत्व कायम रखना चाहते हैं, वे प्रकृति के स्थान में मन का समावेश करते हैं—युष्मदोषोऽननो वायु स मनो बुद्धिर च । अहङ्कार शोभे मित्रा प्रकृतिरष्टधा ॥ (भगवद्गीता ७, ४) । अन्वयक—प्रकृति या प्रधान । व्यक्त और अव्यक्त के भेद निम्न प्रकार से साध्यकारिका में वर्णन किये हैं—हेतुमदमित्य भव्यापि सक्षिपमनेरमक्षिन् निद्रम् ॥ सात्त्वं परतन्व न्वक्तम्, विपरीतमन्वयनम् ॥ १० ॥ अर्थात् अव्यक्त अहेतुमत्, नित्य, व्यापी, निष्कल्प, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, अनवयव और स्वतन्त्र होता है । सात्त्व्यदर्शन के चौबीस ताथों में केवल एक प्रकृति सात्त्व्य एवं गुणविशिष्ट होने के कारण वह अव्यक्त कहलता है । सत्त्व—चेत्र का वास्तविक अर्थ रेत या भूमि है । दर्शनशास्त्र में चतुर्विंशतितत्त्वसमुदाय को अर्थात् शरीर को चेत्र कहते हैं—रं शरीर को देव चेत्रमित्यभिधीयते । (भगवद्गीता १३, १) । सादीनि बुद्धि-अन्वयक-अहङ्कार-रज-वा-

एम् । भूयप्रकृतिरिन्द्रिया विवाराश्वेव शोच ॥ सुकोन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मन्द्रियाणि च । समनस्ताश्च पञ्चार्थ विवारा इति सक्षिना ॥ इति चेत् समुद्दि सर्वकन्व्यक्तप्रकृतिम् ॥ चरक, शां १ ॥ इस शरीर का जो ज्ञाता या साक्षी है, वह ऐन्द्रिय कहलाता है—अन्वयकमस्य चेत्त्रय चेत्त्रयशुभयो विदु ॥ (चरक, शां १) । चेत्त्रय के लिए ही श्, आत्मा, पुरुष (तृतीय अध्याय सूत्र ३ देखो) इत्यादि पर्याय प्रयुक्त होते हैं—आत्मा चेत्त्रय इत्युक्त ॥ (महाभारत, शान्ति १८०) । चेत्त्रयाभापुरचेत्त्रय स्तुः पुरुषसत्त्वक ॥ (चरक, शां १) । प्राय भूमि (चेत्र) और वीज का अनुभव सामने रखकर दर्शनशास्त्र में शरीर को चेत्र कहने का रिवाज पड़ गया होगा । जैसे कि एक चेत्र अनेक बीजों का अधिष्ठान होकर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ उत्पन्न कर सकता है, वैसे ही शरीररूपी चेत्र अनेक पुरुषों का अधिष्ठान होकर अनेक प्रकार के जीवनम्पु उत्पन्न करता है । अधिष्ठान—आश्रय, शरीरोत्पादन का विषय । श्रीरत्नात् भाशानम्—उदके भवा श्रीदत्ता मत्स्यपुत्रादयो जनन-बुद्धिरोप्य अभ्यक्त एक, अचेतन और अधिष्ठान रूप होता है तप्य चेत्त्रय अनेक, सचेतन और आश्रयी होता है । इस दृष्टि रं यदि समुद्र के दधान्त का विचार किया जाय तो 'उरुमन श्रीदत्ता नदीनदरत्नदागादय' यह कहवङ्गवृत्त अर्थ अयुक्त मालूम होता है ।

अभ्यक्त अचेतन है । जब उसका संयोग चेतयिता पुरुष के साथ होता है, तब भूतों की उत्पत्ति होती है । उसका क्रम अब वर्णन करते हैं—

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव, तल्लिङ्गाच्च महत्तस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तेजसो भूतादिरिति, तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तेजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—श्रोत्ररजकक्षुजिह्वाग्राण्य वाग्प्रेस्तोपस्थपायुपादमनासीति, तत्र पूर्वाणि पञ्च पुत्रान्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मन्द्रियाणि, उभयार्थक मनः, भूतादेरपि तेजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—शब्दतन्मानः, स्पर्शतन्मानः, रूपतन्मानः, रसतन्मानः, गन्धतन्मानः प्रमिति, तेषां त्रिषोपाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तेषां भूतानि व्योमानिलानलजलोदर्यः, एतमेपा तस्यचतुर्विंशतिरार्यायता ॥ ३ ॥

(अभ्यक्त से सृष्ट्युत्पत्ति—) उस अव्यक्त से उसी स्वभाव (सात्त्विकतम स्वभाव) का महत् (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है, और उसी स्वभाव के (त्रिगुणात्मक) बुद्धितत्त्व से उसी स्वभाव का (त्रिगुणात्मक) अहङ्कार उत्पन्न होता है । यह अहङ्कार तीन प्रकार का है—(१) वैकारिक (सात्त्विक), (२) तेजस (राजस) और (३) भूतादि (तामस) । उसमें राजस अहङ्कार की सहायता द्वारा सात्त्विक अहङ्कार से आहृद् इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं । जैसे—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वागी, हस्त, लिङ्ग, गुहा, पाद और मन । इनमें प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, दूसरी पाँच कर्मन्द्रियाँ हैं और मन कर्मन्द्रिय तथा

ज्ञानेन्द्रिय है। राजस अहङ्कार की सहायता द्वारा तामस अहङ्कार ने भी तत्त्वभाव की पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रस-तन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा। उन तन्मात्राओं के विनोप ये हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। उन (तन्मात्राओं) से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी (ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं)। इस प्रकार यह चौबीस तत्वों का समुदाय वर्णन किया है ॥ ३ ॥

वक्तव्य—तदर्थ—अव्यक्त और त्रिगुणसाम्यावस्था में स्थित प्रकृति पुरुष का संगोग होते ही स्वयं अव्यक्त-वस्था और त्रिगुणसाम्यावस्था को छोड़कर व्यक्त और त्रिगुणवैषम्ययुक्त अनेक तत्वों को उत्पन्न करती है। इस तत्त्वपरंपरा का प्रारम्भ तभी होता है, जब प्रकृति पुरुषाधिष्ठित होती है। इसमें प्रथम तत्व मदान् है। इसी को बुद्धितत्त्व भी कहते हैं—यदेतद्विद्वां वीर्यं प्रथमतः प्रकृत्यात्मकम् । तत्त्वस्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्त्वं तदुच्यते ॥ सारासार विचार करके किसी विषय के संबंध में निश्चित करना, या कार्यकारण संबंध को देखकर निश्चय (एवमेव, नान्यथा) करना या अन्य प्रकार से कार्याकार्य निर्णय करना, यह बुद्धि का कार्य है। इस प्रकार के कार्य को 'व्यवसाय या अव्यवसाय' कहते हैं—व्यवसायारिभवा बुद्धिः ॥ (महाभारत) । अव्यवसायो बुद्धिः ॥ (सांख्यसूत्र २, १३; सांख्यकारिका २३) । यह बुद्धि गुणाधिष्ठय के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस होती है और उसके कार्य में भी गुण के अनुसार फर्क होता है—प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये । दग्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विका ॥३०॥य या धर्मगर्भं च कार्यं चाभयमेव च । प्रवधावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥ प्रथमं धर्ममिति या मन्यते तमसाष्टता । सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः ना पार्थ तामसी ॥३२॥ (भगवद्गीता १८) । धर्मो ज्ञानं धिराग प्रेषयन् । सात्त्विकमेतद्रूपं, तामसमास्माद्भिर्पर्यस्तम् ॥ (सांख्य-कारिका २३) । बुद्धितत्त्व की व्यापकता और विशालता को देखकर उसको महत् संज्ञा दी गई है—बुद्धेर्महत्त्वसंज्ञा च स्वैतरसकतकार्यव्यापकत्वान्महदेश्वार्थान्निवर्था ॥ तल्लिङ्ग एव—अव्यक्तस्य लिङ्गमिव लिङ्गं चरत् । अव्यक्त जिस प्रकार त्रिगुणात्मक होता है; वैसा ही जो त्रिगुणात्मक है। परंतु भेद यह होता है कि महान् में त्रिगुण की साम्यावस्था न होकर वैषम्यावस्था होती है और इसी कारण से उपर्युक्त सात्त्विकादि भेद होते हैं। अहङ्कार—अहं अहं करना, अभिमान या पृथक्त्व। प्रकृति से महत्त्व उत्पन्न होने पर भी उसका पृक्तत्व नष्ट नहीं हुआ था, परंतु जब अहङ्कार उत्पन्न हुआ, तब उसमें अनेकत्व और पृथक्त्व आ गया और इसी अहङ्कार के कारण पानी, पत्थर, प्राणी, वनस्पति इत्यादि स्वावरजङ्गमात्मक अनेक वस्तुएँ तथा मनुष्यों में अभिमान उत्पन्न हुआ है। अहङ्कार बुद्धि का ही एक भेद होने से बुद्धि के पश्चात् उसकी उत्पत्ति होती है तथा बुद्धि के अनुसार उसके सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं—अहङ्कार-विमुहात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ (भगवद्गीता ३, ४०) । अभिमानोऽहङ्कारः (सांख्यकारिका २४) । इस पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—'यत् खवालोचितं मतं च तत्र अहमधिकृतं, यत्कः कल्पदमत्र, मदर्थो एवाऽमी विषयाः, सत्तो नाऽन्योऽत्राऽधि-

कः कश्चिदिति, एकोऽहमिति' इति योऽभिमानः सोऽसाधारण-व्यापारवाचकत्वान् । तमुपनीय हि बुद्धिरप्यन्यथि कर्तव्य-वेत्तव्या' इति । अहङ्कार उत्पन्न होने के पश्चात् आगे की सृष्टि के मुख्य दो विभाग होते हैं—एक वनस्पति, प्राणी, मनुष्य इत्यादि इन्द्रिययुक्त अर्थात् सेन्द्रियसृष्टि का विभाग और दूसरा इन्द्रियरहित अर्थात् निरिन्द्रिय सृष्टि का (जड़ सृष्टि का) विभाग—इन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ (धरक, सूत्र १) । यहाँ इन्द्रियशब्द से केवल 'इन्द्रिय-युक्त प्राणियों की इन्द्रियों की शक्ति' इतना ही अर्थ अभि-प्रेत है, क्योंकि सेन्द्रिय प्राणियों के जड़ शरीर का समावेद निरिन्द्रिय सृष्टि में और आत्मा का समावेद पुरुष में होता है। इसलिए सेन्द्रियसृष्टि का विचार करने समय सांख्य-शास्त्र में केवल इन्द्रियों का विचार होता है। सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय के सिया सृष्टि का तीसरा विभाग असमाध्य होने के कारण अहङ्कार के दो ही विभाग किये गये हैं—अभि-मानोऽहङ्कारः, तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सगः । एकाऽहमव्यक्तं गण्यते सा-दाप्यव्यक्तैव ॥ (सांख्यकारिका २४) । एवं द्विविध एव सगोऽ-हङ्कारात्, न तद्वय इति 'व्य'कारेणव्यापारयति ॥ (वाचस्पति मिश्र) । इन्द्रियशक्ति श्रेष्ठ होने के कारण सेन्द्रियसृष्टि की उत्पत्ति सात्त्विक (सत्त्वगुणोत्कर्ष) अहङ्कार से और निरि-न्द्रियसृष्टि तामस अहङ्कार से मानी गई है। परंतु पित्त और कफ के समान सत्त्व और तम पद्म और निष्क्रिय होते हैं। इसलिये दोनों प्रकार की सृष्टि में प्रवर्तक रज सहायक होता है—उपलभ्यं च लोच रजः ॥ (सा० का० १३) । रजश्च प्रवर्तकं सर्वगतवानाम् । (सुश्रुत, प्रथमखण्ड पृष्ठ १३०) । इसलिये लिखा है—सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकुण्ठा-दहङ्कारात् । भूवाद्वैतन्मात्रः स तामसरत्वेनानुभयन् ॥ (सा० का० २५) । इस कारिका पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—तेजसात् राजानादुभयं गण्यद्वयं भवति । यद्यपि रजसो न कार्यान्तर-मस्ति; तथाऽपि सत्त्वतमसो स्वयमक्रिये असन्नेन न स्वत्वकार्यं कुरतः; रजस्तु चजयया ते यथा चालयति तथा स्वकार्यं कुरुत इति, न दु-भयस्मिन् कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोरप्यन्तरादरेणानि रजसः कारण-त्वमिति न व्यर्थं रजः ॥ तद्वचनान्येवैवाऽशेन्द्रियाणि—यद्यपि अहङ्कार त्रिगुणात्मक है तथापि इन्द्रियां सत्त्वप्रधान होती हैं। इनमें भी मन तथा बुद्धीन्द्रियों में कर्मिन्द्रियों की अपेक्षा सत्त्वोत्कर्ष अधिक होता है। कुछ शास्त्रकार कर्म-न्द्रियों को रजःप्रधान मानते हैं। श्रोत्ररवक् इति—शृणोत्यनेन श्रोत्रम् । त्वचत्यनेनेति त्वक् । चष्टे स्पर्ष रूपवन्तं च प्रकाशयतीति चतुः । जिप्रत्यनेनेति प्राणम् । रसयत्यास्वादयत्यनेनेति रसनं (जिह्वा) । पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि—श्रोत्र से वाक् तक । यद्यपि कान, नाक, आँख ये दो दो होते हैं तथापि इन्द्रिय-संख्यागणना की दृष्टि से वे एक एक गिने जाते हैं—यद्यपि चाक्षिणी कर्णौ नासापुटे द्वे तथाऽप्येकेन्द्रियाधिष्ठानत्वेनैक-मेवेति कृत्वा पञ्च इत्युक्तम् ॥ (चक्रपाणिदत्त) । उभयात्मकं मनः—इसका अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय है और दोनों प्रकार का है। अन्य इन्द्रियों के साथ सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण मन इन्द्रिय कहलाता है—इन्द्रियं च साधन्यात् । (सा० का० २०) । इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकहङ्कारो-पादानत्वं च साधर्म्यं, न त्विन्द्रियैस्त्वम्, महदहङ्कारयोरप्यात्म-लित्वेनैन्द्रियत्वप्रसंगात्; तस्माद् व्युत्पत्तिमात्रसिन्द्रिलित्वं न तु

प्रवृत्तिमिच्छन् ॥ (वाचस्पतिमिश्र) । सुदीन्द्रिय बन्ने का कारण यह है कि सुदीन्द्रिया अर्थात् प्रदूषण करने में तब प्रवृत्त और तमपं होखी है, जब मन उनमें अधिष्ठित होता है—मन पुरःपरातीन्द्रियाण्यप्येन्द्रणमनार्थोभि भवति ॥ तद्य (मन) अधिष्ठितस्य रासचपेत् ॥ पेशाप्रदयभूमतिन्द्रियाणाम् ॥ (चरक, सू० ८) । चतुः पश्यति स्वाधि गमना न तु चतुषा ॥ मनसा व्याप्यते चतुः पश्यति न पश्यति ॥ १७ ॥ भवेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते । न नेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवाह पश्यति ॥ २० ॥ (भद्राभारत, शान्ति ३११) । अथरमना भ्रमूर् नारसंभवेरमना क्रम्व नामोपनि गनमा खेव पश्यति मनसा भ्रमोति ॥ (बृहदारण्यकोपनिषत् ३. २. ३) । सुदीन्द्रियों के साथ मन का संबंध इतना घनिष्ठ होने के कारण उसको 'सुश्रुत' इन्द्रिय भी कहने का सप्रदाय पद गया है—पतिन्द्रिय-प्रसादनः (चरक, सू० २९) । तत्र सुश्रो रस पतिन्द्रिय-प्रसादनः (सुश्रुत-प्रथमखण्ड २३०) । मन-पशनीन्द्रियाणि प्रवृत्तिस्थानि कर्षति ॥ (अथर्वश्रीता १६, ७) । सुदीन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के संबंध में 'बर्षील' की तरह अमुक ऐसा है (संकल्प), अमुक ऐसा नहीं है (विकल्प), 'ह्रस्वादि' सारासार विचार 'बुद्धि' के सामने कार्याकार्यनिर्णय के लिए व्यवस्थित रूप से रखने का काम मन का है और 'बुद्धि' के द्वारा निर्णय प्राप्त होने पर उसके अनुसार कर्म-न्द्रियों के द्वारा काम कराने का कार्य मन ही करता है । इस तरह विस्तीर और व्यवस्था करने का कार्य व्याकरण कहलाता है—मनो ध्वान्तपाठमरुत् (महाभारत) । हमरूपि उ सका संसाधैश्च कर्मनिर्णयार्थे ॥ भी किया गया है—उदीन्द्रिय वरं द्रिय च, चक्षुरादीना वागादीना च मनोविधितानामेव स्वस्व विषयेषु प्रवृत्ते ॥ (वाचस्पतिमिश्र) । चरक में उपर्युक्त विचारपरम्परा सचेप में निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—इन्द्रियेन्द्रियाणि हि समनकेन गृह्णते । यत्प्रवृत्ते मनसा तुर्वं उपपत्ते दोषतोऽथवा ॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिमिश्रयातिवा । व्यवस्थति तथा वस्तु वर्तु वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ (चरक, शा० १) । तन्मात्र—शब्दस्पर्शादि का अभिहित पृथक् पृथक् सूक्ष्म सूक्ष्म रूप या चीज । आपस में इनका पारिस्वय (जैसे—शब्द-तन्मात्र से रूपतन्मात्र इत्यादि) पादोन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता । इसलिए ये तन्मात्र अधिशेष कहलाते हैं—मना-वाण्यविशेषा, तेषो भूतानि पञ्च पञ्चभ्य । एते स्थाना विशेषा शान्ता मूढाश्च वीराश्च ॥ (सा० का० १८) । शब्दादिन्मात्राणि सूक्ष्माणि, न चैषा शातत्यादिरस्ति उपनोगयोगे विशेष इति भाष्यशब्दार्थ । तन्मात्राणि त्वरमदादि परस्परवाहकानि नानुभवन्ते इत्यविशेषा स्वभा इति श्लोचन्ते ॥ (वाचस्पति-मिश्र) । तस्मिन्स्तिस्तिस्तु त माया तेन तन्मात्रता स्थूता । न शान्ता नाऽपि वीरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥ (विष्णुपुराण) । विशेष—बाह्येन्द्रियप्राज्ञ व्यवष्टेदक गुण, जिनके द्वारा ये तन्मात्र आपस में विभिन्न किये जा सकते हैं । जैसे—शब्द-तन्मात्र शब्दगुण द्वारा, स्पर्शतन्मात्र स्पर्शगुण द्वारा अन्य-तन्मात्राओं से विभिन्न किया जाता है । भूत—पृथिव्यादि पञ्च-महाभूत । ये भूत स्थूल बहिरिन्द्रियप्राज्ञ होते हैं—भूतत्व नाम बहिरिन्द्रियप्राज्ञविशेषगुणवस्त्वम् ॥ (न्यायवैशिकी) । तेष्व—इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से एकोत्तरपरिचुद्धया आका-शादि स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं । तेषो भूतानि पञ्च

पश्यन् ॥ इस कारिका (१८) पर वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं—तेष्वन मानेयो यथासत्यमेन्द्रियिणु पञ्चभ्यो भूतान्मा-याशानि नानातस्मिन्नाविरुच्यति पञ्च पञ्चमसात्तन्मात्रम् ॥ जैसे—शब्दतन्मात्र से शब्दगुण आकार, शब्दतन्मात्र सहित स्पर्शतन्मात्र से शब्दस्पर्शगुण वायु, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहित रूपतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपगुणज तेज, शब्दस्पर्शरूप-तन्मात्रसहित रसतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपरसगुणज जल, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहित गन्धतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुण पृथिवी । चरक में भी लिखा है—महाभूतानि च वाशुरगिराण विव्रितया ॥ शब्द-स्पर्श च रूप च रसो गन्धश्च तदृणा ॥ तेगमेवगुण पूर्वो गुणश्चि परे परे । पूर्वः पूर्वगुणैव मनसो वृत्तिपु स्थूत ॥ (शारी १) । तत्त्वचतुर्विधति—अव्यय, महान्, अदृष्ट, पंच सुदीन्द्रिया, मन, पंच कर्मेन्द्रिया, पंच तन्मात्र और पंच महाभूत इन चौबीस तत्वों का समुदाय—प्रवृत्तेर्गंड-स्त्वोऽहंकारस्तस्मादुत्पद्य रोदण । तस्मादपि पोषणान्नाद्यश्च पञ्चभूतानि ॥ (सा० का० २२) । सुश्रुतों का समुदाय चौबीस तत्व सांख्यदर्शन के अनुसार है । चरकसहित में जो चौबीस तत्व दिये हैं, उनमें तन्मात्राओं का उल्टे 'महीं और उनके स्थान में पचमहाभूतों का निर्देश किया है और पचमहाभूतों के स्थान में पचासों का निर्देश किया है । सचेप में, चारकोक चौबीस तत्वों की गणना में तन्मात्राएँ नहीं हैं, पंच इन्द्रियार्थ हैं । चरक बहुत पुराना ग्रन्थ है । उसके समय में सांख्यदर्शन का उदय हो रहा था परन्तु उसकी नीव पक्की नहीं हुई थी । इसलिए उपर्युक्त फल मिलता है (जागे भी ७ वें सूत्र की टिप्पणी देखो) । सुश्रुत के समय तथा चक्रपाणिदत्त (चरकटीकाकार) के समय सांख्यदर्शन की तत्त्वचतुर्विधति निश्चित हुई थी । इसलिए चक्रपाणिदत्त अपनी टीका में 'स्वादीनि' से 'तन्मात्र' और 'पञ्चास' से 'पञ्चमहाभूत' ऐसा अर्थ करके सांख्यदर्शन के साथ समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं—शारीनि चक्षुभूत शारीनि तन्मात्रशब्दाभिधेयानि । पञ्चास इति स्थूला आकाशादय शब्दादिश्च, सुश्रुत्युक्तोहि परमावर्ती भेरो नास्त्येवास्मिन् दर्शने ॥ (शारी अ० १. १३-१४) । परन्तु यह दूरान्वय है, सरलान्वय नहीं है ।

तत्र सुदीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः—कर्म-न्द्रियाणां यथासह्यं यचनादानानन्दरिसर्गविहरणानि ॥ ४ ॥

(इन्द्रियों के विषय—) उन (इन्द्रियों) में सुदीन्द्रियों के शब्दादि विषय होते हैं । कर्मन्द्रियों के क्रम से—वचन, आदान, आनन्द, विसर्ग और विहरण (ये विषय) होते हैं ॥ ४ ॥

वचन्य—शब्दादयो विषया—श्रोत्र का विषय—शब्द, स्वप्ना का स्वप्न, चक्षु का रूप, जिह्वा का रस और घ्राण का गन्ध । यथासत्य—चाणी का वचन, हस्त का आदान, उपस्थ का आनन्द, गुदा का उत्सर्ग और पाद का विहरण । सुदीन्द्रियों के जैसे कंबल एक एक विषय होते हैं, वैसे कर्मन्द्रियों के नहीं हैं । कर्मन्द्रियों के विषयों में अनेकता होती है । इसलिए यहाँ पर यचनादानादि जो विषय बताये गये हैं, वे केवल उपलक्षणात्मक समझने चाहिये । इसी

अथानेकता के कारण ग्रन्थान्तरों में क्रमेन्द्रियों के अर्थों के सम्बन्ध में कुछ भिन्नता दिखाई देती है । जैसे हस्त के विषय में चरक में लिखा है—हस्तौ ग्रहणधारणे (शारीर १) । आनन्द—यह उपस्थ का विषय है । उपस्थ से स्त्री और पुरुष दोनों का जननेन्द्रिय अभिप्रेत है—उपस्थं रतिसम्पाद्य-सुखसाधनम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३, १२ की टीका में विज्ञानेश्वर) । अर्थात् आनन्द से मैथुनजन्य आनन्द यहाँ अभिप्रेत है । इसके सिवाय प्रजोत्पत्ति के आनन्द का भी इसी में समावेश करते हैं—उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या । (गौडपादाचार्य) । मैथुन और प्रजोत्पत्ति के सिवाय सूत्र, शुक्र और आतं व इनका उत्सर्ग करना यह भी उसका स्वाभाविक कार्य होता है । इसलिए चरक में उसका कार्य विसर्ग भी बताया है—पायूपस्थं विसर्गार्थम् । (शा० १) ।

मन के विषयों का यहाँ पर वर्णन नहीं दिया है । चरक में इसके विषय का वर्णन मिलता है—चिन्तं विचार्यमूर्धं च ध्येयं संकल्पमेव च । यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ (शारीर १) । मन के विषय का विवरण पीछे ३ सूत्र के 'उभयात्मकं मनः' इसकी दिपपणी में किया गया है ।

अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चैत्यष्टौ प्रकृतयः शेषाः षोडश विकाराः ॥ ५ ॥

(प्रकृति और विकृति—) अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र यह आठ (तत्त्व) प्रकृति हैं; शेष सोलह (तत्त्व) विकार हैं ॥ ५ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों के दो विभाग किये हैं—प्रथम विभाग प्रकृति का और दूसरा विकृति का है । प्रकृति—प्रकरोतीति प्रकृतिः । तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृति-त्वम् ॥ जो अन्य तत्त्वों को पैदा करती है, वह प्रकृति है । इस कारण मात्रवाचक साधारण अर्थ से यहाँ आगे के लिए प्रकृति शब्द-प्रयोग किया गया है । 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' यह जो प्रकृति का लक्षण पीछे द्वितीय सूत्र के वक्तव्य में दिया गया है, उस लक्षण के अनुसार यहाँ पर प्रकृति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, क्योंकि यह लक्षण केवल अव्यक्त पर लागू होता है, परन्तु 'प्रकरोति' इति प्रकृतिः 'यह लक्षण आठों पर भी लागू होता है । जैसे—अव्यक्त महान् को, महान् अहङ्कार को, अहङ्कार पञ्चतन्मात्र को और पञ्चतन्मात्र पञ्च-महाभूतों को पैदा करते हैं । सांख्यशास्त्र में प्रकृति के दो भेद किये गये हैं । (१) प्रथम भेद को मूलप्रकृति कहते हैं । यह प्रकृति दूसरे तत्त्व को उत्पन्न करती है, परन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती अर्थात् यह किसी का विकृति नहीं होती है—मूलप्रकृतिरविकृतिः । (सा० का० ३) इस भेद में केवल अव्यक्त आता है । (२) दूसरे भेद को प्रकृतिविकृति कहते हैं । इस भेद के तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं, तथा स्वयं दूसरे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए प्रकृतिविकृति कहलाते हैं—तत्त्वान्तरोपादानत्वे सति कार्यत्वं प्रकृतिविकृतिस्त्वम् । इस विभाग में महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र इन सात तत्त्वों का समावेश होता है । जैसे—महान् अहङ्कार की प्रकृति और अव्यक्त की विकृति है, अहङ्कार पञ्चतन्मात्राणां की प्रकृति और महान् की विकृति है और पञ्चतन्मात्र पञ्च-महाभूतों की प्रकृति और अहङ्कार की विकृति होती है ।

इस कारण से ये सात तत्त्व प्रकृतिविकृति कहलाते हैं—महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ॥ (सा० का० ३) अष्टौ प्रकृतयः—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सांख्यदर्शन में प्रकृति का अष्टविधत्व नहीं है । यह वर्गीकरण वेदान्त के प्रभाव से सांख्यदर्शन में प्रारम्भ हुआ और यही वर्गीकरण महाभारतान्तर्गत सांख्यशास्त्र में दिया गया है—अव्यक्तं च महान्तं च तथाऽहङ्कारमेव च । पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् । एताः प्रकृतयश्चाष्टौ ॥ (शान्तिपर्व ३१०) । चरक में भी यही वर्गीकरण है—खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः । भूतप्रकृति-रुद्धिः ॥ (शा० १) । इस सूत्र में पञ्चमहाभूतों के स्थान में उनकी तन्मात्राएँ देकर प्रकृति का अष्टविधत्व माना गया है । वेदान्त की कल्पना सांख्य में ठीक बैठने के लिए यह फर्क किया गया है । विकार—जो किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वयं अन्य तत्त्व से उत्पन्न होता है, वह विकार है—तत्त्वान्तराजनकत्वे सति जन्यत्वं विकारत्वम् ॥ इस विभाग में ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत मिलाकर सोलह तत्त्व समाविष्ट होते हैं क्योंकि इनसे आगे कोई तत्त्व निर्माण नहीं होते । इस पर यहाँ शङ्का हो सकती है कि जब पञ्चमहाभूतों से समस्त सृष्टि के अनन्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं तब प्रकृति केवल सप्त या अष्ट और विकार केवल षोडश इस प्रकार इयत्ता करना अयुक्त है । इसका समाधान वाचस्पति मिश्र निम्न प्रकार से करते हैं—अपि च पृथिव्यादीनां गोषट्शुक्लादयो विकाराः, एवं तद्विकारभेदानां पयोवीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथाऽपि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम् । 'तत्त्वान्तरो-पादानत्वं च प्रकृतित्वम्' इहाभिप्रेतमिति न दोषः सर्वेषां गोषटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरम् ॥ इसका तात्पर्य यह है कि गोषटादि पृथिव्यादि के समान स्थूल, बाह्येन्द्रियग्राह्य और शान्तादिधर्मयुक्त होने के कारण स्थूल पञ्चमहाभूतों से भिन्न तत्त्व के नहीं हैं । इसलिए प्रकृति और विकारों की संख्या जो ऊपर निर्दिष्ट की गई है, वही सही है ।

स्वः स्वश्रौपां विषयोऽधिभूतः स्वयमध्यात्मम्; अ-धिदैवतं तु—बुद्धेरहंसा, अहङ्कारस्येश्वरः मनसश्चन्द्र-माः दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसन-स्यापः पृथिवी प्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोमित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्येति ॥ ६ ॥

(तत्त्वों का अधिभूतादि त्रैविध्य—) इनका अपना अपना विषय अधिभूत होता है । स्वयं तत्त्व आध्यात्मिक है और अधिदैवत बुद्धि का ब्रह्मा, अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र की दिशाएँ, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, रसना का जल, प्राण की पृथिवी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पादों का विष्णु, गुद का मित्र और जननेन्द्रिय का प्रजापति है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—अधि—इस उपसर्ग का अर्थ तद्विषयक, तद-धिष्ठित या तदधिकृत्य ऐसा होता है । अधिभूतम्—भूतेषु विद्यमानं विषयभूतं शब्दादिकम् । अध्यात्मम्—आत्मनि कार्यकारणसंबन्धे शरीरे विद्यमानं श्रोत्रादि । अधिदैवतम्—देवतासु त्रियमानं दिगादिकम् ।

महदादि सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति । कैवल्यार्थम्—केवलस्य भावः कैवल्यम् । अद्वितीयता, अकेलापन अर्थात् प्रकृति से वियोग । प्रकृति से संयुक्त होने के पश्चात् उससे वियुक्त होने की स्थिति को सांख्यदर्शनकार मोक्ष कहते हैं । यह मोक्षया वियोग तब होता है, जब पुरुष को केवल ज्ञान प्राप्त होता—यत् तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्ति न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् । अविपर्यायविशुद्धं कैवल्यमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ (सां० का० ६४) । नास्मीत्यात्मनः कर्तृत्वनिषेधः । न मे शक्ति सङ्गनिषेधः । नाहमिति तादात्म्यनिषेधः ॥ (विज्ञानभिन्नु) । सचेतन पुरुष के साथ संयोग होने पर जब प्रकृति सृष्टि का कार्य प्रारंभ करती है और जिस प्रकार नर्तकी नाना प्रकार के नाच और हावभावों के द्वारा प्रेक्षकों का मनोरंजन करके उनका मन अपनी ओर आकर्षण करती है; वैसे ही प्रकृति भी पुरुष का नाना प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं द्वारा मनोरंजन करके उसको अपनी ओर आकर्षण करती है । इन विविध मनोरंजन के पदार्थों से जब तक पुरुष को आनन्द होता है, उनके न मिलने से उसको दुःख होता है और वह अहङ्कार-विमूढ होकर सब सृष्टि का कर्तव्य अपने में मानता है, तब तक उसको मोक्ष नहीं मिलता । जब पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है कि वह स्वयं त्रिगुणातीत और अकर्ता है तथा प्रकृति त्रिगुणामय और कर्त्री है अर्थात् जब वह प्रकृति से अपना पृथक्त्व समझता है और प्रकृति उससे पृथक् हो जाती है तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है । इससे यह स्पष्ट है कि सुख-दुःख भोग के बिना कैवल्य नहीं मिल सकता और सृष्ट पदार्थों के बिना सुख-दुःख भोग नहीं होता है । इसलिए पुरुष के उपभोगार्थ और पर्याय से कैवल्यार्थ उसका संयोग होते ही प्रकृति में महदादि सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है—संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याय इति संयोग एव भोगापवगार्थं सर्गं करोति ॥ कैवल्य सृष्टयत्पत्ति का यद्यपि अन्तिम और मुख्य उद्देश है तथापि सुख-दुःख भोग भी उसके साथ उद्देश होता है, परंतु वह गौण और साध्य का साधन होने के कारण यहाँ पर अनिदिष्ट है । 'भिन्नकर्मोक्तार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य' इस सांख्य-सूत्र (२, १) पर विज्ञानभिन्नु लिखते हैं—यद्यपि मोक्ष-वद्भोगोऽपि सृष्टेः प्रयोजनं तथापि मुख्यत्वान्मोक्ष एवोक्तः ॥ सांख्यकारिका (२१) में दोनों का निर्देश किया है—पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पंचबन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥ क्षीरादि हेतु—प्रकृति सर्गोत्पत्ति में कैसे प्रवृत्त होती है, इसके संबंध में सांख्यदर्शनकार क्षीर के तथा अन्य दृष्टान्त देते हैं । (१) क्षीर का दृष्टान्त—जैसे दूध के स्वयं अज्ञ-अचेतन—होते हुए भी बरस पैदा होते ही उसकी घृद्धि के लिए प्रवृत्ति याने उत्पत्ति होती है, वैसे ही प्रधान के स्वयं अचेतन होते हुए भी पुरुष का संयोग होते ही उसके मोक्ष के लिए सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है—वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य (सां० का० ५७) । यथा तृणोदकं गर्वां भक्षितं क्षीरभावेन परिश्रम्य वत्सविवृद्धिं करोति, पृष्ठे च वत्से निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम्, इति अज्ञस्य प्रवृत्तिः ॥ (गोडपादाचार्य) । सांख्यसूत्र में भी क्षीर का यही दृष्टान्त (अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्छेदितं प्रधानस्य ३, १९) ।

दिया हुआ है, परंतु विज्ञानभिन्नु उसका अर्थ 'दूध का दही में परिवर्तन' करते हैं—यथा क्षीरं पुरुषप्रयत्ननैरपेक्ष्यैव स्वयमेव दधित्पेषणं परिश्रमते, एवमचेतनत्वेऽपि परप्रयत्नं विनाऽपि महदादिरूपपरिणामः प्रधानस्य भवतीत्यर्थः ॥ (२) दूसरा दृष्टान्त काल का दिया है । जैसे सृष्टिघृद्धि के लिए काल का वर्षा, शीत, ग्रीष्म इत्यादि ऋतुओं का चक्र स्वयं जारी रहता है, वैसे ही पुरुषमोक्ष के लिए प्रकृति का सृष्टिचक्र जारी रहता है—कर्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः ॥ (सां० सूत्र ३, ६०) । अर्थको गच्छति ऋतुरितरश्च प्रवर्तते इत्यादिरूपं कालादिकर्म स्वत एव भवत्येवं प्रधानस्यापि चेष्टा स्यात् ॥ (विज्ञानभिन्नु) । (३) तीसरा दृष्टान्त मनुष्यों के व्यवहार का दिया है । जैसे, ईप्सितार्थं प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक कार्यों में प्रवृत्त होता है, वैसे ही पुरुषमोक्ष के लिए प्रकृति अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करने में प्रवृत्त होती है—श्रीस्तुभ्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः । पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ (सां० का० १८) । (४) चौथा दृष्टान्त नर्तकी का है । जैसे कि, प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थं नर्तकी गीत वाद्य नृत्य हावभाव इत्यादि में प्रवृत्त होती है, वैसे ही प्रकृति प्रवृत्त होती है । पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति स्वभाव से या संस्कार से होती है—स्वभावाच्चेष्टिगमनभिसन्धानाद् नृत्यवत् ॥ (सांख्यसूत्र ३, ६१) । ये दृष्टान्त प्रकृति की प्रवृत्ति के लिए जैसे सूचक हैं, वैसे उसकी निवृत्ति के लिए भी सूचक होते हैं । जैसे बरस पृष्ठ होने पर तृणोदक क्षीरोत्पत्ति से निवृत्त होता है, पानी का काम समाप्त होने पर वर्षाऋतु आप से आप निवृत्त होती है, भोजन बनने पर मनुष्य (रसोद्भवा) भोजनव्यापार से निवृत्त होता है [विक्रमोवात् सृष्टि-निवृत्तिः प्रधानस्य स्रद्धवत् पाके ॥ (सांख्यसूत्र ३, ६३) । परवैराग्येण पुरुषार्थसमाप्ती प्रधानस्य सृष्टिनिवर्तते, यथा पाके निष्पन्ने पाचकस्य व्यापरो निवर्तते इत्यर्थः ॥ (सांख्यप्रवचन-भाष्य)], और प्रेक्षकों का मनोरंजन होने पर नर्तकी रंगभूमि से निवृत्त होती है [रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥ (सां० का० १६) । यथा परिपक्वो नृत्यदर्शनार्थं प्रवृत्ताया नर्तक्यास्तत्सिद्धौ निवृत्तिरित्यर्थः ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)], वैसे ही पुरुष को कैवल्य प्राप्त होने पर प्रकृति उससे याने पर्याय से सर्गोत्पत्ति से निवृत्त होती है ।

अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्यं व्याख्यास्यामः । तद्यथा—उभावप्यनादौ, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यनपरौ, उभौ च सर्वगताविति; एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा वांजयर्मिणो प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थवर्मिणो चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अवोजयर्मिणोऽप्रसवधर्मिणो मध्यस्थवर्माश्चेति ॥ ८ ॥

(प्रकृतिपुरुषसाधर्म्यवैधर्म्यं—) अब इसके पश्चात् प्रकृति और पुरुष के साम्य और वैषम्य का व्याख्यान करते हैं । वह (साम्य और वैषम्य) इस प्रकार का है—दोनों ही अनादि, दोनों ही अनन्त, दोनों ही अलिङ्ग, दोनों ही नित्य, दोनों

ही अक्षर और दोनों ही सर्वव्यापी होते हैं। परन्तु प्रकृति एक, अचेतन, त्रिगुणामक, बीजधर्मा, प्रभवधर्मा, और अमध्यस्थधर्मा है। पुरुष अनेक, सचेतन, निर्गुण, बीजधर्म रहित, प्रभवधर्मरहित और मध्यस्थधर्मा होते हैं ॥ ८ ॥

वस्तुस्थिति—उभाव्यनादी—दोनों में बहुत समता होने के कारण चरकसंहिता में प्रकृति और पुरुष दोनों का समोपदेश आवश्यक में किया गया है। साधर्म्यवधर्म्य—समानो धर्म साधर्म्यम्। विरडो विरडुणो वा धर्मो वैषम्यम् ॥ समत और विषमता। अनादि—नास्ति आदि वारण पूर्वकानो वा यम्य स। चरक में प्रकृति और पुरुष के अनादित्व के सम्बन्ध में लिखा है कि आत्मा अनादि है, इसमें सन्देह नहीं है और चैत्रपरम्परा भी अनादि है, अत दोनों ही अनादि होने के कारण इनके अनादित्व में तरतम भेद नहीं किया जा सकता है—आदिनास्त्वामन, चैत्रपरम्पर्वमनादिवम्। अस्तस्यो रनादित्वात् कि पूर्वनिमित्तो नैष्यते ॥ (शा० १)। अनन्त—नास्ति ज्ञानो यत्य। यह आनन्द्य तीन प्रकार का होता है—न -वादिवादज्ञानो नित्यवात्रापि वान्त। न वल्लोऽपि सवाल्यदात्तत्वं प्रकृति विधा ॥ अलिङ्ग—न विष्णो भिन्न यत्वं तदलिङ्गम्। लिङ्गत्वेनैतन्नि विद्वन्नाशरो लक्षण वा। लिङ्गप्राप्तता व्यक्त का लक्षण है। इसलिये अलिङ्ग से अव्यक्त का बोध होता है। किंवा 'लिङ्ग तत्त्वमुक्तम्। लयरासे पञ्चमशाभूति त मात्रेषु शीतले ता-येकांशेति महाहकारे स च पुनो, सा च प्रयत्ने त्व च यान्ति। नैव प्रधानम् तस्मादलिङ्ग प्रधानम्' ॥ (गौडपादाचार्य)। अर्थात् तिनका लय नहीं होता है, उस प्रकार का। किंवा चारणानुमापत्रन उपयामनादान लिङ्ग नाव नायम्'। (सारथ्य प्रवचन भाष्य)। जो कार्य जान नहीं होता, वह अलिङ्ग है। सीनों दृष्टि से अलिङ्ग के वास्तविक अर्थ में पक नहीं होता। अक्षर—न विष्णो पर श्रेष्ठ यत्नो वा यस्मात्। जिससे कोई श्रेष्ठ या सुखम न हो। किंवा न कि प्रधानात् किञ्चिदस्ति पर यस्य प्रधान कार्य स्यात्' ॥ (गौडपादाचार्य)। सर्वगत—सर्वव्यापी, सर्वमूर्तत्वयोगी या विष्णु। एता—सर्वपुरुषसाधारणा। अस्तस्य पुरुष भेद होने पर भी अभिप्रा। त्रिगुण—सर्वरजतमात्मक। ये तीन गुण प्रकृति में साम्यावस्था में और अकार्यावस्था में उपस्थित होते हैं—एतव रजसम इति ऽङ्कत तु गुणवयम् ॥ ९१-मयो च प्रकृतिः ॥ अकार्यावस्थोऽस्ति तु गुणमनाय प्रकृतिरित्यर्थ ॥ (सारथ्य प्रवचनभाष्य)। बीजधर्मिणी—। प्रभव धर्मो बीजधर्मो लोऽस्या मरुति बीजधर्मिणी। बीज में जैसे बूटोत्पत्ति का धर्म होता है, वैसे सर्वावस्थित का धर्म निरम में उपस्थित हो, एनी। एतय दृष्टि को कई बार फट फूल से लड़े फूल की उपमा भी जाती है और इस दृष्टिपर मनुष्य का वर्णन साक्षरतामें के अनुसार करते हैं। तय प्रकृति को बीज ही करते हैं—अमकसात्मनोऽपि सुद्वैतधर्मसा मदात्। महाहकारेण हित्वा मरुतेर। महाभूतिसिद्धयश्च विद्योयवित्ताहवात्। सदा पर्यः सत्पुण्य सुभासुयवाचरव ॥ भागीक सर्वभूतानां तद्वदुत्त सन्तम् ॥ (महाभारत, आषडायनपर्व ३१)। प्रभव धर्मिणी—मयया वा र्वाहोऽनुत्तर परिणामो वा तदुपो धर्मो य कोऽन्त मरुति प्रभवधर्मिणी महाहृदि तातो ही समस्त चराचर दृष्टि को जन्म देने का धर्म जिसमें उपस्थित हो, एनी। अमध्य स्थधर्मिणी—अमध्यस्थधर्म धर्मो वा लोऽस्या भागीति अमध्यर

धर्मिणी। सुखदुःखादि द्रव्यों से विकलित होने का जिसका धर्म हो, ऐसी अर्थात् सुख दुःख को भोगने वाली। अधिक विवरण आगे 'मध्यस्थधर्माण' में देखो। बहव—सांख्यशास्त्रानुसार पुरुष अनन्त होते हैं और उनके बहुत्व के लिये निम्न प्रमाण पेश किये जाते हैं—(१) यदि पुरुष एक होता तो सब का जन्म एक समय में होना चाहिये, तब की मृत्यु एक समय में होनी चाहिये, एक के विरल होने पर सब विकल होने चाहिये। परन्तु इस प्रकार की घटनाएँ सतार में नहीं दिखाई देती हैं, इसलिये प्रत्येक शरीर के पुरुष पृथक् पृथक् होने चाहिये। (२) एक धर्म में, एक अधर्म में, एक ज्ञान में, एक अज्ञान में एक वैराग्य में, एक विषय में प्रवृत्त होता है। इस तरह प्रत्येक में स्वतन्त्र प्रकृति होती है। इसलिये प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र पुरुष है। (३) बु सात्त्विक कुक्ष राजस और बुद्ध तामस होते हैं, तथा बु देवयोनि में, कुक्ष मनुष्ययोनि में और बुद्ध तिर्यक्यो में जन्म लेते हैं। इसलिये प्रत्येक शरीर में पुरुष स्वतन्त्र है सांख्यकारिका में ये तीनों प्रमाण दिये हैं—न तस्यरक्षणया प्रतिनियमात्, अतुल्यत्वं प्रकृतेशः। पुरुषस्तु तद्विद्वेगुणविकि पाचैव १७। अतीवधर्माण अमध्यधर्माण—समस्त सस प्रकृति का पर्याय से त्रिगुणों का लेल है। पुरुष त्रिगुणाती या निर्गुण होते हैं। इसलिये न वे प्रभवधर्मों और न बीज धर्मों हो सकते हैं। मध्यस्थधर्माण सुखदुःखादि द्रव्यों में मध्यस्थ जैसे विकलित नहीं होता है, उस प्रकार का ध जिसमें है ऐसा अर्थात् निर्विकार। यद्य मोक्ष सुखदुःखादि विकार प्रकृति के हैं। पुरुष इनसे अलिप्त है—समाय भवोऽऽ न मुच्यते नापि समानि कश्चित्। समरति कश्चो मुच्यते। न न भया प्रकृति। ६२०। पुरुष के मध्यस्थधर्म के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—निर्विकार परस्परमा एतस्यभूतगुणैर्द्रव्यै चैः ये कारण नित्यो द्रव्य परवति हि किय ॥ (सु० १)। दशा सात्त्वो, तेन यतिवत् परमशा। सयो सन् जगत् त्रिषा सर्वा परदत्त रागद्वेषदिना सुचने, तयाऽऽयाऽपि सुखदुःखा सर्वधर्मानोऽपि न रागादिना सुचने, दृष्टव्याऽसायादिविकारतु मनसि प्राकृत्युद्धो वा सात्त्विकरजसपरिप्रभाङ्गवर्तिनि भाव। (अक्याणिदत्त)। इस तरह पुरुष अकर्ता होने पर भी व्यवहार में वही कर्ता मोक्षा कहलाता है। इसका समाधान यह है कि जैसे एक पुष्प की सक्षिपि से रवेत आदर्श में रक्षिता आ जाती है, सुवक्षसक्षिपि से रोहे म सुवक्षस्य आ जाता है, वैसे ही कर्त्री प्रकृति की सक्षिपि से पुरुष भी कर्तृत्व और भोगतृत्व आरोपित होता है—यथा महाराज स्वयमप्य भियमाऽपि इ येन वरयण सोऽा वररप्य मायेव मेरुकरम्, तथा कृत्स्नोपि पुरुषश्छुदायवित्करमोर्दो वया, सद्रूपि। वैश्वामादिभक्ति सवोयादरसाक्षिप्यमातेर तथा मेरुकरावदसका तमक्षिपिति। अत भारतनि वरुत्समवपुष सविचरम्। निरिण्णुत्तराक लो कर्ता सक्षिपिाङ्गन ॥ यथा। केभो रक रक्षितो लवने जने। रक्षणादप्य येन तदम् वया पूर ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)। सांख्यकारिकाय प्रभा और पुरुष का साम्य और वैषम्य निम्न प्रकार से वर्णन किया है—हेतुमदित्यवयवादि सविषयनेऽव्यभिचि १-तम् ॥ हाव परतन व्यक्तम्, विरतीमव्यक्तम् ॥ १०॥ त्रिगुणनिर्विकर सायाऽवनेतेन प्रभवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रचानम्, तद्विरोधराय

पुमान् ॥११॥ 'तथा च' का अर्थ पूर्व (१० वीं) आर्या में अहेतुत्व, निराय इत्यादि प्रधान के गुण वर्णन किये हैं वैया, अर्थात् इससे साम्य प्रदर्शित होता है और 'तद्विपरीत' से वैपम्य प्रदर्शित होता है ।

तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति; तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥६॥

कारणानुरूप कार्य (हुआ करता है), इस (न्याय) के अनुसार ये सम्पूर्ण विशेष त्रिगुणात्मक होते हैं । तदञ्जन और तन्मय होने के कारण पुरुष त्रिगुणात्मक ही होते हैं, ऐसा कई (आचार्य) कहते हैं ॥ ९ ॥

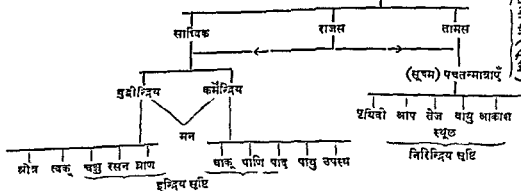
वक्तव्य — कारणानुरूपं कार्यम्—सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद का (२ और ७ वें सूत्र की टिप्पणी देखो) यह उपसिद्धान्त है । विशेष—इसका सामान्य अर्थ आकाशादि पञ्चमहाभूत है—तन्मात्राण्यविशेषरतेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चमवः । एते सृष्टा विशेषाः शान्ता मृदाश्च घोरश्च ॥ (सा० का० ३८) । परन्तु यहाँ पर 'महदादि विशेषभूतपर्यन्त' सब तरह उससे अभिप्रेत हैं । कारण यह है कि, जैसे आकाशादि पञ्चमहाभूत त्रिगुणात्मक हैं, वैसे बुद्धि, अहङ्कार और एकादश इन्द्रियाँ भी त्रिगुणात्मक हैं । संक्षेप में, विशेष शब्द यहाँ पर व्यक्त का पर्याय है । तद्गुणा एव पुरुषाः—पुरुष निर्गुण है, इसका उल्लेख पिछले सूत्र में किया है । परन्तु वह भी तद्गुण (प्रकृतिगुणयुक्त अर्थात् त्रिगुणात्मक) हो जाता है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है । इस मत के समर्थनार्थ वे दो कारण बताते हैं । (१) तदञ्जनत्वात्—प्रकृति से लिप्त होने के कारण । अञ्जन का अर्थ है लेप या अपद्रव्य की मिलावट । पुरुष स्वयं त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति से लिप्त होने के कारण त्रिगुणात्मक हो जाता है । जैसे आदर्श स्वच्छ होते हुए भी लाल फूल की सन्निधि से लाल हो जाता है तथा मुख स्वयं स्वच्छ होते हुए भी मलिन आदर्श के कारण मलिन दिखाई देता है । इसलिए सांख्यसूत्र में लिखा है—न नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥ ७, १९ ॥ इस सूत्र के प्रवचन में विज्ञानभिद्रु लिखते हैं—यथा स्वभावशुद्धस्य स्फटिकस्य रागयोगो न जपायोगं विना घटते, तथैव नित्यशुद्धादि स्वभावस्य पुरुषस्योपाधिसंयोगं विना दुःखसंयोगो न घटते ॥ इसी दृष्टि से उपाधिविरहित अर्थात् प्रकृतिविरहित पुरुष या आत्मा निरञ्जन कहलाता है—अयमात्मा सन्भावो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जो विभुरित्यादि ॥ (श्रुति) । निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवधं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धे-धनमिवानलम् ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्) । परन्तु केवल संयोग (उपाधि) पुरुष में त्रिगुणात्मकता प्राप्त होने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वाभ्यास से जब पुरुष को केवलज्ञान

उत्पन्न होता है तब वह पूर्ववत् त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति की उपाधि में शरीररनाश होने के समय तक (सा० का० ६४ से ६७ देखो) रहता है । पुरुष को त्रिगुणात्मक बनाने के लिए केवल उपाधि पर्याप्त नहीं होती, इसलिए दूसरा हेतु तन्मयत्व यताया गया है । त्रिगुणात्मता प्राप्त होने के लिये यह हेतु आवश्यक है । (२) तन्मयत्वाच्च—तद्रूप होना, सम रस होना, अभेदभाव से रहना, अपने को भूल जाना अर्थात् आसक्ति इसको तन्मयता कहते हैं । जैसे कामी पुरुष स्त्री के साथ तन्मय होकर अपने पुरुषत्व को भूल जाता है—तन्मयत्वं चास्य विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जातम् इत्यादिवद् द्रष्टव्यम् ॥ (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।३।१७) । पुरुषतन्मयत्व से उसका बुद्ध्यादिमयत्व समझना चाहिए । बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि में तन्मयता उत्पन्न होने के कारण पुरुष अपने को ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता इत्यादि मानता है यद्यपि वास्तव में वह इससे विपरीत है—न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति । बुद्ध्युपाधिधर्माभ्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारिकत्वमकर्तुः/भोक्तृत्वांसंसारियो नित्यमुक्तस्य सतः आत्मनः ॥ (शांकरभाष्य) । प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ प्रकृतेः गुणसंमूढाः सजन्ते गुणकर्मसु । पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिमन्मवाः । निवधन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (भगवद्गीता) । यह बुद्ध्यादिमयत्व पुरुष में प्रतिबिम्बरूपेण होता है, वास्तव में नहीं होता—सा (तदाकारता, तन्मयता) कूटस्थचित्ता बुद्धेरर्थकारवत् परिणामो न सम्भवतीत्य-गत्या प्रतिबिम्बस्वरूपतायामेव पर्यवस्यति । अयमेव बुद्धिवृत्तिप्रति-बिम्बो वृत्तिसारूप्यमितरत्रेतियोगध्वनेषु (१. ४) उक्तः । सत्त्वेऽ-नुतप्यमाने तदाकारानुरोधत्वात् पुरुषोऽप्यनुतप्यत इव दृश्यते इति योगभाष्ये तदाकारानुरोधशब्देन विशिष्टैव तापादिदुःखस्य प्रतिबिम्ब उक्तः । अत एव च पुरुषस्य बुद्धिदृश्यपरागे स्फटिकं दृष्टान्तं सूत्रकारो वक्ष्यति—कुसुमवच्च मथेरिति । तस्मिंश्च दर्पणे स्फारे सभस्ता वस्तुदृष्टयः । इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तद्दृग्माः ॥ अत्र दृष्टि-शब्दो बुद्धिदृत्तिसामान्यपरो युक्तिसाम्यात् । प्रतिबिम्बश्च तत्तदुपा-धिषु बिम्बाकारश्चित्परिणाम इति । तस्मात् प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषे दुःखसम्बन्धो भोगाख्योऽस्ति ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य) । इस विवरण का तात्पर्य यह है कि जैसे जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब उस पर जल के चञ्चलत्वादि धर्म आरोपित होते हैं और व्यवहार में चन्द्र हिलता है ऐसा बोला जाता है परन्तु आकाशस्थ चन्द्र इन चञ्चलत्वादि धर्मों से दूर होता है, वैसे ही प्रकृति के बुद्ध्यादि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने पर उसके ऊपर प्रकृति के त्रिगुणात्मादि धर्म आरोपित होते हैं और व्यवहार में पुरुष त्रिगुणात्मक है ऐसा बोला जाता है, परन्तु वास्तव में पुरुष इन धर्मों से दूर होता है । इस तन्मयत्व और तदञ्जनत्व के कारण उत्पन्न हुई त्रिगुणात्मता ये कारण दूर होने पर अर्थात् पुरुष प्रकृति से दूर होने पर दूर हो जाती है, जैसे जपापुष्प आदर्श से दूर होने पर आदर्श की लाली दूर हो जाती है—यथा ज्वलद्गृहा-दिल्लं गृहं विच्छिद्य रक्षते । तथा सदोषप्रकृतिविच्छिन्नोऽयं न शोचति ॥

सांख्यदर्शनसूत्र
(अनेक, निगुण) पुरुष—(दोनों अनादि अनंत इत्यादि)—

प्रकृति (अव्यक्त, एक, सगुण)
महान् (अव्यक्त और सूक्ष्म)
अहङ्कार (अव्यक्त और सूक्ष्म)

प्रकृति पर प्रतीका (सूक्ष्म)



अब तक सांख्यदर्शन के अनुसार सर्गोत्पत्ति का जो क्रम ऊपर वर्णन किया गया है, उसका वृक्ष पहले सुखावशेष के लिए दिया गया है।

प्रकृति, पुरुष, पंचमहाभूत इत्यादि तत्त्वों के संबन्ध में सांख्यदर्शन की जो विचारप्रणाली अब तक वर्णन की गई है, वह पूर्णतया आयुर्वेदसमत नहीं है। इसलिये जिन बातों में आयुर्वेद अपनी विशेषता रखता है वाने मतभेद प्रकट करता है, उन बातों का अब विचार किया जाता है। प्रथम प्रकृति के संबन्ध में आयुर्वेद का मत प्रकट करते हैं—

वेद्यके नू—

स्वभावमीश्वर काल यद्वच्छ्वा नियति तथा ।
परिशामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥ १० ॥

आयुर्वेद में तो पृथुदर्शी लोक स्वभाव, ईश्वर, काल, यद्वच्छ्वा, नियति और परिशाम की प्रकृति (के समान आदि कारण) मानते हैं ॥१०॥

यक्तव्य—वेद्यक—वेद्यमभिवृत्त कृते य य । चिकित्सा शास्त्र । (१) स्वभाव—तत्त्वद्रव्यप्रतिबद्ध सहज धर्म या गुण—स्वभाव स्वस्य तत्त्वदायस्य भावोऽसाधारणकथारि रम् यणऽग्नेर्नकारित्वमर्वा निम्नदेशगमनादि ॥ (शंकरानन्द श्वेताशतरोपनिषद् टीकाकार) । तत्र प्रकृतिरूपेण स्वभावो य स पुनराहागोषद्वयं या स्वाभाविको मुखीगुणयोग । (चरक, विमान १) । यद् स्वभाव निष्प्रतिक्रिय होता है—स्वभावो निष्प्रतिक्रिय । (चरक, सा० १) । दिवा प्रज्वेयमभ्येय न भवेय तु कश्चापि । एष मे सहजो दोष स्वभावो दुरतिक्रम ॥ (रामायण ६, ३६) । यावद् स्वभावोऽस्य देहस्य न निवर्तते । (योगवासिष्ठ ३, ७६६) । क कष्टकानां प्रकरोति तैष्वप्ययु, विन विविध गृहणच्छिद्यो च । मातुर्यमिद्यो कडगा सरीषे, स्वभावत सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥ (१) ईश्वर—परमात्मा, परमेश्वर जो संपूर्ण जगत् में व्याप्त है, जिससे यह सृष्टिकर्म घुमाया जाता है, जिसका न कोई प्रति है, न परिचालक है, न उपरायक है इत्यादि—देशस्थेषा भविमा ह्य लोके वेनेर्द् भ्राम्यते नप्राचकम् ॥ न तस्य कश्चिद् परिवर्तिन लोके न वैशिता नैव न

तरप विह्वत् । न कारण वरणाधिरो न चास्य कश्चिज्जनिता न चापि ॥ (श्वेताशतरोपनिषद्) । ईशावात्स्यमि—स्वर्ग यस्मिन्न अगर्शा अगत् ॥ (ईशावास्योपनिषद्) । ईश्वरवाहमत्यर्थे न च मामीश्वरी पर । ददाति च सदैश्वर्यमीश्वरत्वेन कीर्तिन ॥ (३) काल—निमेषादि युगपर्यन्त भूतभविष्यत्वत्मानकाल जो सर्व जगत् का शासक है—वाले निमेष दिवाधपर्वत् प्रत्ययोत्पादको भूयो वतमान भागामीति स्ववहियमाशो जने ॥ (शंकरानन्द) । काल पचति भूगानि काल सहरते प्रजा । काल द्रष्टुषु जाति कालो हि दुरतिक्रम ॥ नाकालो त्रियते जाय ते वा नाकालो व्याहरते च काल । नाकालो यौवनमभ्युपेति नाकालो रोरति बीजमुदम् ॥ कालमूलमिदं सर्वं भावामयो सुखासुखे ॥ कलेनाश्वागता सर्वे वानो हि वनवत्तर ॥ (महाभारत) । (४) यद्वच्छ्वा—बुद्धियुक्त कर्तृत्व के विन मेघ का बरसना, भूमिकण होना इत्यादि घटनाओं के अचानक उत्पन्न करने वाली शक्ति । वाकालीय यथेन सुवादकारिणी काचन शक्ति । यत्तुमनीयं योचिर्वा कासाचित कर्मिथिदृष्टो गर्भधारणमित्यादि ॥ (शंकरानन्द) । यद्वच्छ्वा कालभार्या ययाऽऽकस्य द्रवो वपनि भूमि कण्ठे, लाभालाभो मत्र ॥ (नारायण, श्वेताशतरोपनिषद् टीकाकार) । यद् यद्वच्छ्वाभसतुष्टो ह् दानीने विमत्त्वर । मम मिद्वारिदो य कृत्वाऽपि न निवृत्तये ॥ यद्वच्छ्वा भोपदत्र स्वगदायम वृत्तम् । सुखिन चत्रिया पाष क्भन्ते युद्धमीदृशम् ॥ (भगवद्गीता) । (५) नियति—पूर्वजन्त जित या वर्तमान धर्माधर्म कर्म का फल या अष्ट । अथवा—नियति सर्ववर्णनं वनुवनाऽकारवत्रि यवनशक्ति यत्तुंभवे योचिर्वा गर्भधारणमिदृश्ये सुदुष्टइति रित्यादि ॥ (शंकरानन्द) । नियतियथाऽग्निरुत्पन्नैव उत्तति वायुस्त्रियगेव पवत इति नियमरूपा । (नारायण) । इस दृष्टि से 'विरोध नियम के अनुसार होने वाले कार्य' को नियति कहते हैं । (६) परिशाम—प्रकृति के गुणविकास का फल या अन्तिम परिवर्तन, पंचमहाभूत । प्रकृति—प्रकरोतीति प्रकृति, आदिकारण । किं वा प्रकृतिवत् आदि कारण । पृथु-गिन—मोटी या उदारबुद्धि वाले, दूरदर्शी, संकुचित विचार न रखने वाले । मन-य-संख्य

से प्रकृति को आदि कारण मानते हैं, वैसे ही आयुर्वेद पृथुदर्शा ऋषि स्वभावादि छुओं को प्रकृति के समान आदि कारण मानते हैं ।

इस संसार में दृष्टि के सामने आने वाले विविध और बेलक्षण पदार्थों को तथा विचित्र घटनाओं को देखकर मनुष्यों के दिमाग में इनके कारण के संबंध में अनेक कल्पनाएँ उठती हैं । परंतु साधारण मनुष्य इनके ऊपर न अधिक विचार करता है, न उसके पास अधिक विचार करने के लिए आवश्यक समय और बुद्धिसामर्थ्य होता है । भारतीय ऋषि, जो सदैव तत्त्वचिन्तन में निमग्न रहा करते थे, इस विषय के संबंध में भी अधिक विचार करते थे जिसके फलस्वरूप उनमें प्राचीनकाल से कई मतमतान्तर प्रचलित थे । इन मतमतान्तरों का उल्लेख जैसे यहाँ पर किया है, वैसे श्वेताश्वतरोपनिषत् के प्रारंभ में सृष्टि का कारण क्या है ? इस तरह पूर्व प्रश्न करके किया गया है—कि कारणं ब्रह्म कुनः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः । अघिष्ठिताः केन सुखेनेरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थान् ॥ १ ॥ कालः स्वभावो नियतियदृच्छ्या भूतानि योनिः पुंरुष इति चित्यम् । संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥ ये सब मतमतान्तर निम्न प्रकार के हैं । सांख्य या प्रकृतिवादी मानते हैं कि सृष्टि का कारण प्रकृति है; स्वभाववादी या लोकायतिक स्वभाव को कारण मानते हैं; वेदान्ती, योगी और ईश्वरवादी परमेश्वर को कारण मानते हैं; कालवादी काल को कारण मानते हैं; भीर्मांसक नियति को कारण मानते हैं; और जगत्त्रित्यस्ववादी या गुणपरिणामवादी नास्तिक पंचमहाभूतों को कारण मानते हैं । इस तरह प्रत्येक पक्ष अपने मत को सत्य, या प्रधान और दूसरे के मत को असत्य, गौण या अपने मत में अन्तर्भूत मानता है । जैसे—सांख्य ईश्वर, काल, स्वभाव इत्यादि को कारण न मानते हुए प्रकृति को ही कारण मानते हैं । गांडपादाचार्य 'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति' इस कारिका (६१) के भाष्य में लिखते हैं—'केचिद्वैश्वरं कारणं ब्रुवते—'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयत्परमानः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ॥' परंपरे स्वभावकारणका ब्रुवते—'केन शुलकीकृता इंसा मयूराः तेन चित्रिताः । स्वभावेनैव' इति । अत्र सांख्याचार्या आहुः—'निर्गुणस्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन् ? कथं वा पुरुषाद्भिर्गुणादेव ? तस्मात् प्रकृतेर्लुप्यते । यथा—शुलकेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव परो भवति कुशेभ्यः कृष्ण एव' इति । एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते, निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति । अनेन पुरुषो व्याख्यातः । तथा केषांचित् कालः कारणमिति । उक्तं च—'कालः पचति भूतानि' कालः संहरेते जगत् । कालः सुतेषु जागति कालो हि दुरतिक्रमः ॥' 'व्यक्तान्व्यक्तपुरुषाख्यः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणम्, स्वभावोऽपि अत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति, तस्मात् प्रकृतिरेव कारणम् ॥' वेदान्ती भी इसी तरह स्वभाव, काल इत्यादि को जगत् कारण मानने वालों को मूढ समझते हैं—स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिगुह्यमानाः ॥

निषत्) । आयुर्वेददृष्टा ऋषि उपर्युक्त सांप्रदायिकों के अनुसार अपनी दृष्टि संकुचित न रखकर सर्वग्राही रखते हैं और विषयानुरोध और औचित्य के अनुसार चिकित्साशास्त्र में इन सब मतमतान्तरों का परामर्श लेते हैं । इसलिए यहाँ पर पृथुदर्शा शब्द का प्रयोग किया गया है—एतत् सर्वानुमतं, सर्ववेदपरिपत्वादायुर्वेदस्य (उल्लेख) । सुश्रुत में तथा आयुर्वेद के चरकादि अन्य ग्रन्थों में इन छुओं के उदाहरण मिलते हैं । (१) स्वभाव—अन्नप्रत्यङ्गनिवृत्तिः स्वभावादेव जायते । सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ । तलेष्वसंभवो यश्च रोम्यामेतत् स्वभावतः ॥ (सुश्रुत शा०) । कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्तात् यथा फलम् । प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं भ्रुवम् ॥ (सुश्रुत, निदान) । स्वभावाल्लेषो मुद्रास्तथा लावकपिञ्जलाः । स्वभावाद्गुरवो माषा वराहमहिषादयः ॥ (चरक, सु०) । (२) ईश्वर—जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः । सीङ्ग्याद्सानाददानो विवेक्तं नैव शक्यते ॥ (सुश्रुत) । स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च भूतानां भावाभावकरः विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वगः सर्वतन्त्राणां विधाता भावानामणुः विमुर्विष्णुः क्रान्ता लोकानां वायुरेव भगवानिति ॥ (चरक) । (३) काल—कालो हि नाम भगवान् स्वयंमुरनादिमध्यनिधनोऽन्न रसव्यापत्ती जीवित्तमरणे च मनुष्याणामायत्ते ॥ (सुश्रुत) । तावेतावर्कवायुसोमाश्च कालस्वभावमार्गपरिगृह्यताः कालतुरसदोषदेहबलनिवृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ॥ (चरक) । देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् । शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः ॥ (सुश्रुत, उत्तर ६१) । (४) यदृच्छ्या—पाशव्ययुक्तश्चिरवृद्धयपाको यदृच्छ्या पाकमियात् कदाचित् । यदृच्छ्या चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विद्युः ॥ (सुश्रुत) । (५) नियति (अदृष्ट)—ब्रह्मालीतज्जनवधपरस्वहरणादिभिः । कर्मभिः पापयोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम् ॥ कर्मजा व्याधयः केचिद्दोषजाः सन्ति चापरे । कमदोषोद्भवाश्चान्ये, कर्मजास्तेष्वहेतुकाः ॥ नश्यन्ति त्वक्रियाभिस्ते क्रियाभिः कर्मसंज्ञये ॥ (सुश्रुत) । निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पूर्वदेद्विक्रमं । हेतुसदपि कालेन रोगाणामुपजायते ॥ न हि कर्म मद्यत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते । क्रियाधनाः कर्मजा रोगाः प्रशंसं यन्ति तद्वशात् ॥ (चरक) । नियम—नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा । जतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संज्वियते तथा ॥ यथा वेलागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः । वेगहानी तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्निलीयते ॥ दोषवेगोदये तद्वदुदीर्यते उवरोऽस्य वा । वेगहानी प्रशाम्येत यथाम्भः सागरे तथा ॥ इन्द्रियेणोन्द्रियार्थो हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः । नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥ (सुश्रुत) । पचाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः । अपस्मारस्य कुर्वन्ति वेगं किञ्चिद्वान्तरम् ॥ (चरक) । (६) परिणाम—ता एकीपथ्यः कालपरिणामात् परिणतवीर्यां वलवत्सो हेमन्ते भवन्त्यापश्च । बालानामपि वयःपरिणामात् शुक्रप्रादुर्भावो भवति । इह सर्वद्रव्याप्यभयदहतानि सम्यक् मिथ्याविपकानि गुणं दोषं वा जनयन्ति । (सुश्रुत) । जाठरेणामिना योगाद्यदिति रसान्तरम् । रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) । इन कारणों में परिणाम उपादान कारण और शेष निमित्त कारण होते हैं । संक्षेप में इस विवरण का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद, शरीर में जो अनेक कार्य होते हैं, उनकी उपपत्ति

भी कारण मानता है ।
 तन्मयान्येष भूतानि तद्गुणान्येष चादिशेत् ।
 तैश्च तल्लक्षणैः छन्दो भूतग्रामो व्यजन्व्यत् ॥ ११ ॥
 तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा ।
 भूतेभ्यो हि परं यस्मादास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥ १२ ॥
 यतोऽभिहितं—तरसममवद्रव्यसमूहो भूतादि-
 क्तः ॥ १३ ॥

आकाशादि पञ्चमहाभूत प्रकृतियुक्त तथा प्रकृतिगुणयुक्त जानने चाहिये । इन महाभूतों से प्रकृतिलक्षणयुक्त संपूर्ण (स्थावरजगत्प्रामाणिक) सृष्टि उत्पन्न हुई है ॥ ११ ॥ उस (संपूर्ण स्थावरजगत्प्रामाणिक सृष्टि) का सदा से ही चिकित्सा के लिए उपयोग कहा गया है क्योंकि चिकित्सा शास्त्र में पंचमहाभूतों से परे विचार (करने का प्रयोजन) नहीं होता ॥ १२ ॥ इसलिये 'पुरुषसममवद्रव्यसमूह पञ्चमहाभूतोपेक्ष' कहा गया है ॥ १३ ॥

वस्तुतः—१-मय-प्रकृतिस्वरूप, जैसे अचेतन, प्रसव-धर्मी इत्यादि । तद्गुण-त्रिगुणात्मक । पञ्चमहाभूतों में त्रिगुण वैषम्यावस्था में होते हैं । इनका संगठन आगे २१ वें सूत्र में वर्णन किया गया है । लक्षण-पञ्चमहाभूतों के लक्षणों से युक्त । महाभूतों के लक्षण—(अरक्तचकोष्णस्वभूतानिजलेजमान् । आकाशस्याप्रोपतो इष्टश्चि यथाकम् ॥ (अरक्तं शां १) । शरीर की दृष्टि से पञ्चमहाभूतों के लक्षण—वैश्वं बसुः खमाकाशमूमाभिः सलिलं द्रवम् । पृथिवी चात्र सवातः शरीरं पाजनीतिकम् ॥ १-वैतेः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजगत्प्रामाणिकम् (महाभारत) । तै—रक्षीकृतैर्महाभूतैः । स्थावरजगत्प्रामाणिक प्रत्येक द्रव्य पञ्चमहाभूतप्रामाणिक है । पर्यं इतना ही है कि प्रत्येक द्रव्यगत पञ्चमहाभूतों का परिमाण भिन्न भिन्न होता है, जिससे द्रव्यों में भी भिन्नता आ जाती है । पाँचों महाभूतों के न्यूनाधिक मिश्रण से जो द्रव्याभि-निर्भूति होती है, उसको 'पञ्चीकरण' कहते हैं । भूतों के न्यूनाधिक प्रमाण के कारण पञ्चीकरण अनन्त प्रकार का होता है और द्रव्य भी अनन्त मिलते हैं । पञ्चीकरण का विवरण आगे इस अध्याय के २२वें श्लोक के अन्तर्गत किया गया है । व्यजन्व्यत्—विदिधो जनिनः । चिकित्सा प्रति—दोषघातु वैषम्यरूप विकार को दूर करने के लिए । शरीर-गत पञ्चमहाभूतप्रामाणिक दोषघातुओं का वैषम्य प्राप्त होने पर उचित औषधियों द्वारा उनको साम्यावस्था में स्थापित करना इसको चिकित्सा कहते हैं—यामिः क्रियाभिर्गोचरे शरीरे भावः समः । सा विरिक्ता विकारणां कर्म तद्विषयं ॥ २२ ॥ प्रकृतिपदुत्सांवायो विरिक्तेयमिधोवते । (चरक) । भूतेभ्यो हि परम्—पुरुषाणां परम् । प्रत्येक द्रव्य के पञ्चमहाभूतप्रामाणिक सङ्गठन से अधिक । चिकित्सा के लिए अधिष्ठान और उपकरण दोनों की ही जरूरत होती है । पञ्चमहाभूता-त्मकघातयुक्तपुरुष अधिष्ठान और भूतग्राम उपकरण हैं—
 तस्याकाशमयं च तस्यां पुरुषोविधानम् (प्रथमखण्ड पृष्ठ ८ पर सूत्र २० वैशे) । इसलिये भूतज्ञान का सम्बन्ध अधि-ष्ठान और उपकरण दोनों के साथ होता है । (१) अधिष्ठान की दृष्टि से—शरीरगत दोषघातु अङ्गप्रत्यङ्गाद के पञ्चमहाभूतप्रामाणिक सङ्गठन ज्ञान से अधिक । शरीर में अयुक्त दोष

अयुक्तभूताधिक्य से, अयुक्त घातु अयुक्तभूताधिक्य से होता है, इस प्रकार के पञ्चमहाभूतप्रामाणिक शरीररचनाविज्ञान से यदि वैध भली भाँति परिचित हो तो उनकी साम्यावस्था औषधियों के उपयोग से स्थापित करने में वैध की सफलता मिल सकती है । इसी दृष्टि से आगे २०वें सूत्र में 'महाभूतविकारप्रविभागेन' शरीर के अंगप्रत्यंग वर्णन किये गये हैं । चरकसंहिता में भी शरीर के अङ्गप्रत्यंगों का विवरण इसी दृष्टि से (शां ३५२) दिया गया है । इत सूत्र की टीका में चक्रपाणिदत्त महाभूतों के अनुसार अङ्ग प्रत्यंगों का वर्गीकरण करने का उद्देश्य लिखते हैं—पुरुषोऽयं भूतक्यावैनाभिधानमज्ञानो ह्ये वा वृद्धो वा सस्यो त्व कारण भूतभूतोरुपयोगवतिवैषम्यात् वृद्धिघनजननाजानार्थं । यद्वत् वदन्-प्रभव तद्वत् तदनुपपानेन द्रव्येष कथंते, क्षोयते च तद्विपरीतेन ॥ (२) उपकरण की दृष्टि से—संसार में मिलने वाले द्रव्यों के भूतप्रामाणिक संगठन ज्ञान से अधिक । सृष्टि में मिलने वाले प्रत्येक पदार्थ के सङ्गठन से यदि चिकित्सक भली भाँति परिचित हो तो वृद्धियुक्त दोषघातु के हासन के लिए तथा क्षययुक्त दोषघातु के वर्धन के लिए उचित द्रव्यों का उपयोग करके वह दोषघातुओं की साम्यावस्था स्थापन करने में याने चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है । इस सफलता के लिए चेष्टा क्या है ? प्रकृति क्या है ? महानु क्या है ? तन्मात्रा क्या है ? इत्यादि गहन तर्कों के सम्बन्ध में विचार करने की बड़ी विशेष आवश्यकता नहीं होती है । इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के द्रव्यविशेषविज्ञानीय अध्याय में द्रव्यों के पाधिजादि भेद तथा उनके गुण-धर्म वर्णन करके (प्रथम खण्ड पृष्ठ २२६) पञ्चात् लिखा है—पनेन निदर्शनं गानोरधिभूतं जगति किञ्चिद्द्रव्यम-स्तौति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषैर्ष्यं चाभिधानोच्य स्ववैषम्येण युक्तानि द्रव्याणि काष्ठानि भवन्ति ॥ वैसे ही आगे चलकर उसी अध्याय में 'भूतेर्गोवाविश्वैर्धैः शर्म याति समीरणा' इत्यादि द्रव्यसङ्गठन का द्रव्यों के ऊपर होने वाला परिणाम लिखा है । यनोऽभिहितम्—सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय के ३० वें सूत्र में (प्रथम खण्ड पृष्ठ १२ पर) । तस्यमवद्रव्यसमूहो भूतादि—चिकित्सा का अधिष्ठान पुरुष है और पुरुष सांख्यदर्शनोक्त पचीसर्व तत्व का नाम है । वह निर्गुण, निर्विकार और अशरीर होने के कारण न उसमें दोषघातु-वैषम्य हो सकता है, न वैध उसकी चिकित्सा कर सकता है । इसलिये इस संसार में पुरुष अवतीर्ण होने के लिए जो जो चीजें आवश्यक होती हैं (जैसे—शुक्रशोणित, त्रिदोष, सक्षपात इदंयदृकादि अङ्ग) वे सब पुरुष धाम से अभिन्न होती हैं । अर्थात् चिकित्सा के लिए वैध का सम्बन्ध पुरुषाधिष्ठान ही पञ्चमहाभूतप्रामाणिक दोषघातु अङ्ग-प्रत्यंगों के साथ हो जाता है, प्रत्येक पुरुष के साथ नहीं आता है । सर्वे में यदि वैध शरीर के तथा द्रव्यों के पञ्चमहाभूतप्रामाणिक सङ्गठन से भली भाँति परिचित हो तो पुरुष प्रकृति इत्यादि का गहन विचार न करने पर भी वह चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है, यह अभिप्राय इन श्लोकों से निकलता है ।
 भौतिकांन चोन्द्रयाप्यायुर्वेदे वर्णयन्ते, तथेन्द्रियायाः ॥ १४ ॥

भवति चात्र—

इन्द्रियेणोन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः ।

नियतं तुल्ययोनित्वाच्चान्येनान्यमिति स्थितिः ॥१५॥

(इन्द्रियों का भौतिकत्व—) आयुर्वेद में इन्द्रियां भौतिक ही वर्णन की जाती हैं, तथा इन्द्रियों के अर्थ (भौतिक वर्णन किये जाते हैं) ॥१४॥ इस (के समर्थन) पर श्लोक है—मनुष्य (प्रत्येक) इन्द्रिय के द्वारा तुल्ययोनि होने के कारण उसके विषय का ही एकान्ततः ग्रहण करता है, अन्य (इन्द्रिय) से अन्य (विषय) का (ग्रहण) नहीं (करता), यही सिद्धान्त है ॥१५॥

वक्तव्य—आयुर्वेद—इस सूत्र में सांख्यदर्शन से आयुर्वेद का मतभेद प्रदर्शित करने के लिए आयुर्वेद शब्द का उपयोग किया है। यह दूसरा मतभेद है। इन्द्रियाणि—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन। इन्द्रियार्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। भौतिकानि—यही मतभेद है। सांख्यदर्शन वृक्ष को देखने से यह भेद स्पष्ट होगा। सांख्यदर्शन के अनुसार वैकारिक अहङ्कार से समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है अर्थात् प्रस्तुत बुद्धीन्द्रियों के संबन्ध में यों कह सकते हैं कि उनकी योनि एक याने वैकारिक अहङ्कार है। तामस अहङ्कार से पांच तन्मात्राएँ और उनसे पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन्द्रियों की और भूतों की उत्पत्ति पृथक् पृथक् होने के कारण इन्द्रियों को सांख्याचार्य भौतिक नहीं मानते। सांख्यसूत्र में इन्द्रियों को भौतिक मानने का स्पष्ट निषेध किया है—आहङ्कारित्त्वश्रुतेर्न भौतिकानि (२, २०)। परंतु वैशेषिक, न्याय और वेदान्तदर्शनों में इन्द्रियां भौतिक मानी गई हैं—प्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतभ्यः ॥ (न्यायदर्शन १, १, १२)। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि (इन्द्रियकारणानि इति) (१, १, १३)। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ (१, १, १४)। खं श्रोत्रे, स्पर्शने वायुदर्शने तेज उरकटम्। सनिलं रसने, भूमिप्राण्ये तज्ज्ञैतिरूपितम् ॥ आयुर्वेद ने इन्द्रियोत्पत्ति के संबन्ध में सांख्यदर्शन को छोड़कर न्यायादि दर्शनों का आधार ग्रहण किया है। चरक में भी इन्द्रियां भौतिक मानी गई हैं—पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्व्योतिरापो भूरिति ॥ (सू० ८)। इन्द्रियेण इत्यादि—इस श्लोक में इन्द्रियों को भौतिक मानने का तत्त्व (स्थिति, सिद्धान्त) वर्णन किया है। तत्त्व का विचार निम्न तीन पहलुओं से कर सकते हैं। (१) सांख्यदर्शनानुसार पाँचों इन्द्रियां वैकारिक अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं, अर्थात् इन्द्रियां एक स्वरूप की होनी चाहिए। यदि यह तत्त्व ठीक हो तो एक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिए, या पाँचों से पाँचों अर्थों का ग्रहण नियमविरहित होना चाहिए, या एकाध इन्द्रिय न होने पर या नष्ट होने पर उसका कार्य अन्या से होना चाहिए। परंतु इन्द्रियां इस प्रकार अर्थग्रहण नहीं करती, उनमें अर्थग्रहण का नियम होता है। इसलिए अनुमान से यह कह सकते हैं कि सब इन्द्रियां एककारणोत्पन्न नहीं हैं अर्थात् पाँच अर्थों के लिए जैसे पाँच इन्द्रियां हैं, वैसे ही पाँच इन्द्रियों के लिए पाँच उपादान कारण भी होने चाहिए—नाना-

प्रकृतेनामेपां सतां विषयनियमो नैकप्रकृतिनाम्, सति च विषय-नियमे स्वविषयग्रहणतत्त्वत्वं भवति ॥ (वास्त्यायनभाष्य)। कः पुनरर्थं नियमः? भूतगुणविशेषप्रत्यक्षसाधनत्वम्। न सर्व-मिन्द्रियं सर्वभूतगुणविशेषं गृह्णाति, अपि तु यज्जातीयमिन्द्रियं भवति तस्य यो गुणविशेष इतरतरभूतव्यवच्छेदेहेतुर्गन्धादिः स तेनैवेन्द्रियेण गृह्यत इत्यर्थं नियमः। ऐकार्थ्ये पुनरर्थं नियमो न स्यात्। यदि पुनरिन्द्रियाण्येकार्थकान्येकार्थकारणानि स्युः कारण-स्वभावानुविधानाकार्थकान्याद्विषयव्यवस्था न स्यात् सर्वं सर्वार्थमेकं वा सर्वार्थमिति स्यात् ॥ (उद्योतकर चार्त्तिक)। (२) श्रोत्र केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है। शब्देतर अन्य अर्थों को ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के संबन्ध में अनुभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का कार्य विषयग्रहणनियमयुक्त होता है। यह कार्य तथ हो सकता है, जत्र प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनि—उपादान कारण) भिन्न भिन्न हो याने इन्द्रियां स्वस्वभिन्नप्रकृति हीं (३) पहले यह बताया जा चुका है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये क्रम से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी के गुण हैं—शब्दो वैहायसः-राशी वायवीयः प्रकीर्तितः। रूमगन्धयमापोऽत्र रसो गन्धस्तु पाथिवः ॥ शब्द आकाशीय गुण है और उसका ग्रहण केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है। गंध पाथिव गुण है और उसका ग्रहण केवल घ्राणेन्द्रिय द्वारा होता है। इससे यही अनुमान होता है कि शब्द और श्रोत्र, रूप और चक्षु, रस और जिह्वा, स्पर्श और स्पर्शन तथा गंध और घ्राण ये 'तुल्ययोनि' होते हैं—भूतगुणविशेषोपलब्धेनादात्म्यम् ॥ (न्यायदर्शन ३, १, ६०)। इस सूत्र पर भाष्यकार लिखते हैं—श्लो दि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषोऽभिव्यक्तिनियमः। यथा—वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आपो रसव्यञ्जकः, तेजो रूपव्यञ्जकं, पाथिवं किञ्चिद्रव्यं कत्यविद्रव्यस्य गंधव्यञ्जकम्। अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः, तेन तेन भूतगुणविशेषोपलब्धे-र्मन्यामहे—भूतप्रकृतेर्नोन्द्रियाणि नाऽव्यक्तप्रकृतेर्न ॥ वैशेषिक दर्शन में भी लिखा है—पूरस्त्वाद्गन्धव्यञ्जकत्वे पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः। ८, २, ५ ॥ तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शविशेषात् ॥ ८, २, ६ ॥ श्रीजयनारायण तर्कपञ्चानन महाचार्य कणाद-सूत्रविद्युति में लिखते हैं—प्राणेन्द्रियं पाथिवं रूपादिमध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात् कुक्कुमगन्धाभिव्यञ्जकत्वादिवत्। रसनेन्द्रियं जलीयं परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरसव्यञ्जकत्वात्सत्त्वरसाभिव्यञ्जकत्वत्वात् दीपप्रभावत्। त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति स्पर्शव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्घिसलिलशैत्यव्यञ्जकव्यजनवत् ॥ चरक में भी लिखा है—तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकार-समुदायारमकानामपि सतामिन्द्रियार्थां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषयोपपद्यते; तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभा-वाद्भिभूत्वाच्च ॥ (सू० ८)। इन बुद्धीन्द्रियों के उपादान कारण महाभूत पञ्चीकृत होते हैं। जैसे—घ्राणेन्द्रिय का उपादान कारण महाभूत केवल पृथिवी त्र होकर पंचमहाभूतों का मिश्रण है, जिसमें पृथिवीतत्त्व की अधिकता होती है। इस विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए ऊपर वैशेषिक सूत्र में 'भूयस्त्वात्' शब्द प्रयोग किया गया

है । इस सूत्र के भाष्य में चन्द्रकान्त भद्र लिखते हैं—
 मधापि क्वचित्पृथिवी पचान्तिवका, तत्रैवं सति सा तथा
 गन्धवरादाङ्गन्धदाने प्रकृतिः पच रसादिमरादाङ्गानैऽपि प्रकृतिः
 स्वादिश्येन भाह—भूयस्त्वदिदि । यैवा पृथिवी, भूयांसः खरवस्वा
 पृथिव्या मत्ता म्पनीयानश्वादादीनामि भूयस्त्वादाङ्ग-ध्वनी पृथिवी
 शुच्यते ॥ चरक में भी लिखा है—एकैकपिकयुक्तानि खादीना
 मिन्द्रियाणि द्व । पञ्चक्रान्तुनेषामि येष्यो बुद्धिः प्रवर्तते ॥
 (शा० १, २४) । इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—
 एकैकपिकरसैः पञ्चापि पाद्यभौतिकानि, परं अञ्चुपि तैः तैऽपिक-
 मित्याप्यतं गृह्यति ॥

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्गताः क्षेत्रज्ञा
 नित्याश्च; असर्गतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषव्याप-
 कान् हेतुनुदाहरन्ति ॥ १६ ॥

(पुरुष का अणुत्व—) आयुर्वेदशास्त्र में क्षेत्रज्ञ सर्वगत
 नहीं कहे जाते हैं, परंतु नित्य (कहे जाते हैं), और
 असर्गगत क्षेत्रज्ञों में (ही आयुर्वेद के ऋषि) पुरुष नित्यता-
 दर्शक हेतु बतलाते हैं ॥ १६ ॥

यक्तव्य—इस सूत्र में आयुर्वेद का साक्ष्यदर्शन
 से तीसरा भेद प्रदर्शित किया है । सर्वगत—सर्वव्यापी, विभु,
 सर्वमूर्तसंयोगी । न—इससे पूर्वशब्द के अर्थ से कुछ
 असंगतता सूचित की जाती है । जैसे—आयुषद में क्षेत्रज्ञ
 सांख्यशास्त्रानुसार सर्वगत न होने पर भी उसके अनुसार
 नित्य कहलाते हैं और सर्वगत पुरुष का नित्यत्व जैसे सिद्ध
 किया जाता है, वैसे असर्गगत क्षेत्रज्ञ का भी नित्यत्व सिद्ध
 किया जाता है । सांख्यदर्शन में पुरुष विभु, अनेक और
 नित्य माने गये हैं । पुरुष के नित्यत्व के सबन्ध में योगादि अन्य
 दर्शनों का ऐकम्य है । परंतु अनेकत्व और विभुत्व ये दो
 लक्षण परस्पर विरोधी होने के कारण सब दर्शनों का इनके
 संबन्ध में ऐकम्य नहीं है । यदि पुरुष विभु माना जाय तो
 उसमें उत्पन्नित, गति, आगति इत्यादि गमन कार्य नहीं हो
 सकते तथा सर्वमूर्तसंयोगी होने के कारण वह अनेक भी नहीं
 हो सकता, एक ही होना चाहिए । यदि पुरुष विभु और
 अनेक हों तो प्रत्येक शरीर में अनेक (सर्व) पुरुष उप-
 स्थित होंगे और प्रत्येक जीव को ससार में जितने जीव
 हैं उनके अनुभव का ज्ञान होगा । इस प्रकार का ज्ञान
 नहीं होता है, इसलिए पुरुष या तो विभु और एक
 या अविभु और अनेक होने चाहिए । हम विरोध को दूर
 करने के लिए अन्य दर्शनकारकों में से एक गुण को हटा
 देते हैं । वैशेषिक, भ्याय और वेदान्त पुरुष को विभु और
 एक मानते हैं और उसका अनेकत्व घटाकर, मर्यादा के
 समान वर्णन किया जाता है—मयास्थानो माना । (वैशेषिक
 दर्शन ३, २, २०) । एक पर हि भूराभा भूने भूने अद्वयवित्त ।
 ररुषा बहुधा जैव इदमेव जलचन्द्रयद ॥ एकतया सर्वभूतान्-
 राभ्य रूप रूपं प्रतिक्रपो भव ॥ महर्षि सुश्रुत पुरुष का
 अनेकत्व साम्य करते हैं । इसलिये विरोधपरिहाराय उसका
 विभुत्व अमान्य करते हैं । चरकाचार्य पुरुष को विभु और
 एक मानते हैं—मन्वकमनाया क्षेत्रज्ञ आशुगो विभुः स्यप ॥
 विभुः प्रमन एवास्व सम्प्राप सर्वगो गदात् ॥ (शा० १) । आत्मा
 विभु मानने के कारण समस्त संसार में क्या हो रहा

है, इसका ज्ञान तथा प्रत्येक जीव के सुखदुःख का
 अनुभव प्रत्येक जीव को होना चाहिये, यह आवेप
 उत्पन्न होगा है । इसका समाधान यह है कि यद्यपि
 पुरुष विभु है तथापि उसको इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की
 प्राप्ति होती है और ये इन्द्रियां प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र
 होती हैं । अतः एक जीव को दूसरे जीव के सुख-दुःखादि
 का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता—मर्यादाः कारयेथेना-
 वज्ञान तत्त्व प्रवर्तते । करुणानामैकस्वदायोगादा न वर्तते ॥ देहो
 सर्वगोऽप्ययमा स्वे स्वे संशरंतेन्द्रिये । सर्गः सर्वत्रयस्वास्तु
 नाऽऽत्माऽऽतो वेत्ति वेदना ॥ निरवानुभवं मनसा देहक्रान्तुगुणिना ॥
 सर्वयोगिनं विधादैकयोगानपि रिशयम् ॥ (शा० १) । सुश्रुत
 में पुरुष अविभु मानने के कारण इस प्रकार का समाधान
 करने की आवश्यकता नहीं मालूम हुई । पुरुष न,
 परिमाण—पुरुष के तीन परिमाण हो सकते हैं—मध्यम
 विभु और अणु । (१) मध्यम परिमाण—इसका अर्थ
 यह होता है कि जिस शरीर में पुरुष रहता है, उसको
 वह पूर्णतया व्यापता है । इसलिए वह शरीर परिमाण
 भी कहलाता है । बौद्ध आत्मा का परिमाण मध्यम मानते
 हैं । परन्तु इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि पुरुष
 मनुष्यजन्म से हाथी के जन्म में चला जाय तो वह
 शरीरव्यापी नहीं होगा और यदि हाथी जन्म से चींटी
 के जन्म में चला जाय तो उसका समावेश उसके शरीर
 में नहीं होगा । इसलिए आत्मा का परिमाण मध्यम नहीं
 माना जा सकता । 'पव धात्माऽकार-यन्' इस मण्डूक्य
 (२, २, ३४) के भाष्य में श्रीशंकराचार्य लिखते हैं—
 शरीरव्या चानवस्थितपरिमाणस्वा मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरि-
 माणो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन इतिजन्म प्राप्नुवन्न
 क्लृप्त इतिशरीर व्याप्तुयात् । पुत्तिकान्नम च प्राप्नुवन्न क्लृप्त-
 पुत्तिकशरीरे समीचेन । समान एव परस्थितपि जन्मति कौमार-
 योवमस्याधिषु दोषः ॥ (२) विभुपरिमाण—इसका अर्थ सर्व
 व्यापी, जिसके सिवा कोई छद्म पदार्थ नहीं होता । परंतु पुरुष
 में पूर्वदेहपरित्याग, अपरदेहगमन, परलोकगमन इत्यादि
 गतिवाचक कार्य होते हैं । इसलिए वह विभु नहीं हो
 सकता । श्रीशंकराचार्य 'उत्कान्तनगत्यागीनाम्' इस मण्डू-
 क्य (२, ३, १६) के भाष्य में लिखते हैं—उत्कान्तनगत्या-
 गतिप्रशयानि द्व जीवरम परिच्छेद प्रापवन्ति । आमायुक्तानि-
 गत्यागीनां भवत्पारसिदिशुशान्तावकाजव इति प्राप्नोति । न हि
 विभोश्चनमवकल्पन इति ॥ सुश्रुत में इसी कारण से (आगे
 का सूत्र देखो) पुरुष का विभुत्व नहीं माना गया है ।
 (३) जब पुरुष मध्यम और विभु नहीं है, तब अणु होना
 चाहिए । अणु से अतिसूक्ष्मत्व का बोध होता है—तालाप्र
 शमागमस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विद्वेदः स
 चानन्त्याय वल्पे ॥ (श्वेताश्वरोपनिषत्) । पाँचवें अध्याय
 का ३२ वाँ श्लोक देखो । यहाँ पर भी असर्गगत से आत्मा
 का परिमाण उपर्युक्त विवरण के आधार पर अणु ही सम
 झना चाहिए—मति य परिक्षेपे शरीरपरिमाणेश्वरव्यापि-
 त्वाश्याय निरस्यशरत्प्राप्तेति गल्पे । (मण्डूक्य शंकरभाष्य) ।
 आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेष्वसर्गताः क्षेत्रज्ञा नि

त्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्म-
निमित्तं: त पतेऽनुमानप्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतना-
वन्तः शाश्वता लोहितरैतसोः सन्निपातेष्वभिव्य-
ज्यन्ते, यतोऽभिहितं—पञ्चमहाभूतशरीरिसम-
वायः पुरुष इति; स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधि-
कृतः ॥१७॥

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्त में अणुरूप और नित्य पुरुष धर्मा-
धर्म के कारण तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि और देवयोनि में
संचार करते हैं । ये अनुभवप्राह्य, अत्यन्त सूक्ष्म, सचेतन
और नित्य पुरुष शुक्रशोणित संयोग में प्रकट होते हैं ।
इसलिए (पहले) कहा है कि पञ्चमहाभूत और आत्मा
के संयोग की ही पुरुष कहते हैं, और यही कर्म पुरुष-
चिकित्सा का अधिकरण होता है ॥१७॥

वक्तव्य-पिछले सूत्र में आत्मा अणु और नित्य
वर्णन किया है । इस सूत्र में उसके अणुत्व और नित्यत्व के
हेतु बताये गये हैं । आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेपु—आयुर्वेदशास्त्र
में जो सिद्धान्त ग्रहण किये गये हैं, उनके अनुसार ।
तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु—यहाँ पर जो योनि के तीन
प्रकार प्रदर्शित किये हैं, उनमें संपूर्ण भौतिक सृष्टि का
समावेश हो जाता है । इनमें पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप
(सर्पादि) और स्थावर करके तिर्यग्योनि पाँच तरह
की होती है । ग्राह्य, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याज्ञ,
राक्षस और पैशाच करके देवयोनि आठ तरह की होती
है । मनुष्ययोनि केवल एक तरह की होती है—अष्टविकल्पो

देवसैतिर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति । मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः
ऋगः ॥ (सा० का० ५३) । सञ्चरन्ति—इस संचरण में तीन
प्रकार की गतियाँ आती हैं—(१) उत्क्रान्ति—एक देह का
याग । (२) गति—परलोकगमन । (३) आगति—दूसरे
जन्म में प्रवेश । ये तीनों गतियाँ एक पुरुष के सम्बन्ध में
होती हैं, जिससे उसका नित्यत्व सिद्ध होकर विशुद्ध नष्ट
होता है । एक जन्म से दूसरे में प्रवेश करते समय पुरुष
अपने साथ पूर्वजन्म के सस्कारों को ले जाता है, जिनके
कारण बालक जन्म होते ही स्तनपान की अभिलाषा करता
है, कुछ लोग बुद्धिमान् होते हैं, कुछ मन्दबुद्धि होते हैं,
कुछ धार्मिक होते हैं और कुछ लोभी, तामसी इत्यादि
होते हैं । न्यायदर्शन में पुरुषनित्यत्व की सिद्धि इन
उदाहरणों से ही की गई है—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य
हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः । ३।१।२१॥ प्रत्याहाराभ्यासकृत्वात्
स्तन्याभिलाषात् । ३।१।२२॥ वीतरागजन्मादश्नात् । ३।१।२५॥

धर्माधर्मनिमित्तम्—शुभ, पुण्य या सार्विक कर्मों के द्वारा
देवयोनि में; अशुभ पाप या तामस कर्मों के द्वारा तिर्यक्योनि
में; और संमिश्र कर्मों के द्वारा मनुष्ययोनि में पुरुष को
जन्म मिलता है । तीसरे अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य
में देवसंगात् की टिप्पणी भी देखो । धर्म से जिनमें पुण्य
कर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म, अधर्म से जिनमें पाप-
कर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म, और धर्माधर्म से जिनमें
दोनों प्रकार के कर्मों की प्रायिक तुल्यता हो ऐसे कर्म
समझने चाहि—यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देवश्च
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ (भगवद्गीता १४।१४) ।

रजसि प्रलयं गर्त्वा कर्मसङ्गिण जायते । तथा प्रचीनस्तमसि मृद्यो-
निपु जायते ॥१५॥ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्वा मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १५॥ देवत्वं सार्विका
यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः । तिर्यकत्वं तामसा नित्यमित्येषा
त्रिविधा गतिः ॥ (मनुस्मृति १२।४०) । अनुमानप्राह्यः—
पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म अणुप्रमाण होने के कारण प्रत्यक्ष चर्मा-
चक्षुषों से उनका ग्रहण नहीं हो सकता, परन्तु उनके
और लक्षणों (आगे का सूत्र देखो) से अप्रत्यक्षतया
उनकी उपलब्धि होती है—सौक्ष्म्यादनुपगच्छिर्नाभावात्
कार्यतस्तदुपलब्धेः ॥ (सांख्यकारिका ८) । पुरुषोपलब्धि
के सम्बन्ध में पाँचवें अध्याय के ६२ वें श्लोक में कुछ विवरण
किया गया है । अतः उस श्लोक को तथा उसके वक्तव्य को
देखो । परमसूक्ष्माः—इस विषय का अधिक विवरण
तीसरे अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है,
उसको देखो । श्वेताश्वतरोपनिषत् में पुरुष सूक्ष्मता का
प्रमाण निम्न प्रकार से वर्णित है—वालाप्रशतभागस्य शतधा
कल्पितस्य च । भागो जीवः स विशेषः ॥ (८।८) । लोहितरैतसोः
सन्निपातेषु—शुक्र और शोणित के संयोग में । इसका
विवरण तीसरे अध्याय के तीसरे सूत्र के वक्तव्य में किया
गया है । शुक्रशोणित सन्निपात से सम्पूर्ण जरायुजन्य
प्राणियों का बोध होता है और पुरुष के संचरण में इसकी
आवश्यकता भी होती है, क्योंकि कर्मानुसार पुरुष को
मनुष्येतर प्राणियों में भी संचार करना पड़ता है । परन्तु
यहाँ पर इस का अर्थ मनुष्य कर सकते हैं । यतोऽभिहितम्—
सूत्रस्थान के प्रथमाध्याय के २० वें सूत्र में ।

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणायानानु-
ष्मेपनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्वि-
ज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥१८॥

(पुरुष के गुण—) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,
माण, अपान, उन्मेष, बुद्धि, मनःसंकल्प, विचारणा,
स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि ये उस
(पुरुष) के गुण हैं ॥ १८ ॥

वक्तव्य—सुखदुःखे—सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम् ॥
सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम् । (तर्कसंग्रह) । वाचना-
लक्षणं दुःखम् ॥ (न्यायसूत्र १) । इच्छाद्वेष—काम और
क्रोध—पुत्रानुशायी रागः । दुःखानुशायी द्वेषः ॥ (योगसूत्र २) ।
सुखदुःख के पीछे पड़ने से ही इच्छा और द्वेष उत्पन्न होते
हैं । प्रयत्न—कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करने की
प्रवृत्ति । प्रत्यक्ष कार्य इससे अभिप्रेत नहीं है—प्रवृत्ति—
वाग्बुद्धिशरीरारम्भः । (न्यायसूत्र १) । प्राण—वायुओं वक्त्र-
संचारी स प्राणो नाम देहधृक् । श्वास के द्वारा फुफ्फुस के
भीतर जाने वाली वायु । संक्षेप में श्वास (Inspiration) ।
अपान—प्राण के विरुद्ध याने बाहर जाने वाली वायु
(Expiration) अपान का अर्थ पाँच वायु में से जो
अपानवायु होती है, वह नहीं है । चक्रपाणिदत्त भी 'प्राण-
पानाबुच्छ्वासनिश्वासात्' इसका अर्थ करते हैं । अपान का
उपयोग इस दृष्टि से हमेशा होता है—प्राणायानी समी कृत्वा
नासाभ्यन्तरचारिणी ॥ (भगवद्गीता २।२७) । उन्मेषनिमेषौ—
आँखों के पलक बन्द करने और खोलने के कर्म । इनके

अर्थ के समग्र्य में कुछ मतभेद दिखाई देता है—
 भ्रष्टिपद्मणी येन सगुणैरे ननुभेव । येन च सगुणकोरस्यो
 विभागस्तन्निभेव ॥ (वैशेषिकभाष्य) । भ्रष्टिपद्मणी
 संयोगजनक कम निभेव । तदोविभागजनक कम वनेष (कणाद्
 सूत्रविष्टिति) । बुद्धि—ज्ञान—बुद्धिरप्यनभिर्धानी त्वनर्था
 नात् ॥ (योगसूत्र १) सर्वंस्ववहादेतुदुष्टिज्ञानम् ॥
 (तर्कसंग्रह) । सात्त्विकदर्शन का बुद्धितत्त्व यहाँ पर अभिभेद
 नहीं है । अङ्कुर—सङ्करपात्मक मानसिक कार्य । कोई
 वस्तु इस प्रकार की है, इस कार्य को इस प्रकार करना
 चाहिए, इस प्रकार के विचार को सङ्करप कहते हैं । विच
 रणा—उद्वापोहात्मक वस्तुविमर्श अर्थात् युक्तयुक्त प्रमाणों
 के द्वारा परीक्षण करना । स्थिति—इन्द्रियों के द्वारा भूतकाल
 में जो कुछ भी संस्कार हुए हैं, उनका ज्ञान—“भ्रुम”
 विषयासंप्रयोगे स्थिति ॥ (योगसूत्र) भ्रष्टवत्ताय—
 यही काम करना चाहिए, इस प्रकार का निश्चय—नेऽप्य
 क्तमभ्यमिति विनिश्चयश्चिन्मिनिधानात्प्राक्प्रवेत्त्य वा बुद्धे
 सोऽप्यवन्माय । (सांख्यतत्त्वकौमुदी) । विषयोक्तमि—
 इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों का ज्ञान होना । गुण—
 पुरुष के यहाँ पर सोलह गुण बताये गये हैं । ये गुण जब
 किसी शरीर में मिलते हैं, तब उस शरीर को सजीव
 और जब नहीं मिलते हैं, तब मृत कहते हैं । यह सजीव
 या मृतावस्था पुरुष के अधिष्ठान होने पर या न होने पर
 होती है । इसलिये ये गुण पुरुष के कहे जाते हैं और
 इनकी उपस्थिति पर अतिपुरुष भवत्पुत्र अद्वय पुरुष का
 पता लगाया जाता है—अन्धा देव सुखदुःख प्रयत्नश्चाना
 धुनि । यदि सृष्टिःसृष्टुं लोकाणि परमात्मनः । यस्मात्प
 सगुणसत्त्वैरे लिङ्ग भेदानि जीवतः । न नृत्वागारमवेत्तन्म् ।
 तस्मादाहुर्महेश्वर । शरीर रि गते तस्मिन् नृत्वागारमवेत्तन्म् ।
 पञ्चभूतावशेषे वात् पञ्चवर्गसुखेन ॥ (श्रक शा०) । इस
 सूत्र में सांख्यमत से आयुर्वेद का चौथा मतभेद वर्णन
 किया है । सांख्यदर्शन में भी पुरुष अनुमानप्राप्त होते हैं
 और उनकी उपलब्धि के लिए निम्न प्रमाण दिये गये हैं—
 सङ्गानपराधात्वात् त्रिगुणान्निविषयवाधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति
 भोक्त्वभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ (सा० का० १०) ।
 परन्तु ये निर्गुण अर्थात् सुखदुःखादि से विरहित माने गये
 हैं । उपयुक्त कारिका में भी त्रिगुणान्निविषयवात् स्पष्ट लिखा
 है । इसके सिवाय ११वाँ कारिका में भी ‘त्रिगुणं स्वल्भया
 प्रधानं तद्विपरीत्येन च पुमान्’ इस तरह पुरुष निर्गुण है,
 इसका स्पष्ट निर्देश है । इस कारिका पर विज्ञानमिद्ध
 अपनी कौमुदी में लिखते हैं—त्रयो गुणा सुखदुःखानोऽ
 भवेति त्रिगुणत्वं । तन्नेन सुखादीनामा मगुणत्वं पराभिमत
 मयाकृतम् । यहाँ पर पुरुष के जो गुण वर्णन किये हैं, न स्वाय
 वैशेषिकमतानुसार किये गये हैं—अन्धा देवपञ्चसुखदुःख
 ज्ञानानि लिङ्गम् । (न्यायसूत्र १) । प्राचाचारनिभेयोपे
 भोवनमनोगोपीन्द्र्यान्तविशाला ॥ सुखदुःखेन्द्र्यान्तवशात्परमो
 लिङ्गानि ॥ (वैशेषिकदर्शन २, ४) । श्रकसंहिता में भी
 पुरुष के ये ही गुण बताये गये हैं ।

सुप्तस्मरणार्थं यहाँ पर सांख्यदर्शन से आयुर्वेददर्शन
 के मतभेदों का बोध दिया जाता है—

सांख्ययुर्वेदमतभेदसूचक कोष्टक

| मतभेद का स्थान | सांख्य | आयुर्वेद |
|-------------------|--------------|----------------------------|
| (१) सृष्टिका कारण | प्रकृति | स्वभावादि द्व (इनेक १०) |
| (२) इन्द्रियाँ | भौतिक | भौतिक एव १४ |
| (३) पुरुष | विभु निर्गुण | मणु भीर तपुण (एव १६-१७) |

सांख्यकास्तु—आनुशास्यं सविभागरुचिता
 तिनित्ता सत्य धर्म आस्तिस्य ज्ञान बुद्धिमेधा स्मृति
 धृतिरनभिपङ्गश्च, राजसान्तु—दुःखदुःखलताऽटन
 शीलताऽधृतिरहङ्कार आनुतिकरमकारुण्य दम्भं
 मानो हर्षः कामः क्रोधश्च तामसास्तु—विषादिरः
 नास्तिस्यमर्मशीलता बुद्धिनिरोधोऽज्ञानं दुर्मेष
 रजमकर्मशालता निद्रालुश्च वेति ॥१६॥

(मन के गुण—) अकरता (द्वायुक्ति), अपने कं
 जो कुछ भी मिलता है उसमें से दूसरे को ज्ञान करने कं
 प्रवृत्ति, चम्पा, सत्य, धर्म, आस्तिक्यबुद्धि, ज्ञान, (स्वय
 सायामक) बुद्धि, (भयादि) धारण करने की शक्ति,
 सृष्टि, छति और अनासक्ति ये सांख्यिक गुण हैं ।
 दुःख की अधिकता, भ्रमण की प्रवृत्ति, अधीरता अहङ्कार,
 असत्य बोलने की प्रवृत्ति, मृता, दम्भ (कपटवृत्ति,
 दोग) मान, हर्ष, काम और क्रोध ये राजस गुण
 हैं । मानसिक उद्विग्नता, नास्तिक्यवृत्ति, अधर्म की
 ओर प्रवृत्ति, बुद्धि का निरोध, अज्ञान, मूढता, काम न
 करने की प्रवृत्ति (आलस्य) और निद्रालुता ये तामस
 गुण होते हैं ॥१६॥

वक्ष्यते—इस सूत्र में मन के सांख्यिकादि गुण वर्णन
 किये हैं । जिसमें आनुशास्यदि गुण अधिकता में होते हैं वह
 सांख्यिक, जिसमें दुःखदुःखलतादि गुण अधिक होते हैं वह
 राजस, और जिसमें विषादिस्वादि गुण अधिक होते हैं वह
 तामस कहलाता है । इन गुणों क निरपवाद होने की आवश्यकता
 नहीं है—पदगुण चान्तर्य पुरुषभ्रुवनेते मन्त्र तस्मत्
 मेरोपदिशितं सुनयो गुणशुद्ध्यानुशास्यम् ॥ (श्रक, सूत्र ८) ।
 सत्यं ग्यान्तान्वये सरस इत्येवमन्तरशांथि सत्यशीव
 शोनि वर्य मरति स सांख्यिक रि वर्य इत्ये पवनपरमपि
 न्वास्वैवम् ॥ (चक्रपाणिदत्त) । अस्तिपद्म—धर्म, परलोक,
 परमेस्वर इत्यादि के सत्य में विश्वास करने की प्रवृत्ति । अति
 भ्रमणोपरलोकशादकचित्त बुद्ध्या चतोरित्तित्तिक । (ब्रह्मण) ।
 आस्तिक्यम् अक्षयानता परमायुष्वागमायुः ॥ (शक्राचार्य) ।
 मेघ—धाराणाशक्ति । मेघां प्रधादि मन्थेन ॥ (श्रक) ।
 धृति—निश्चयात्मक बुद्धि—धृति निश्चयविका । (श्रक) ।
 किंवा धैर्य, मनःधैर्य, विषयों से आकर्षित न होने की
 स्थिति—धृतिमनोवनेन ॥ (श्रक) । मान—संसार में
 अपनी हुनत हो, इस प्रकार की महावाकांक्षा । बुद्धिनिरोध—
 विपरीतबुद्धि—भर्त्सक भ्रमिन्त या म वने तममाश्रुता । सर्वार्थ
 विपरीतश्च बुद्धि सा धार्य लमणो ॥ (गीता १८) ।

आन्तरिक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रस-
मूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं
सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च; तेजसा-
स्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्ति-
रमर्षस्तैदृष्यं शौर्यं च; आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं
सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च; पृथिवास्तु-
गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥२०॥

(महाभूतों के गुण—) शब्द, श्रोत्र, शरीरगत भवकाश
और विविक्तता ये आकाश के; स्पर्श, त्वचा, संपूर्ण चेष्टाएँ,
सर्वशरीरगत स्पंदन और हलकापन ये वायु के; रूप,
चक्षु, वर्ण, उष्णता, तेज (शरीरगत) पचनकार्य, क्रोध,
तीक्ष्णता (तेज मिजाज) और शौर्य ये तेज के; रस,
जिह्वा, (शरीरगत) संपूर्ण द्रवभाग, भारीपन, शीतता,
स्निग्धता और वीर्य ये जल के; और गन्ध, घ्राणेन्द्रिय,
(शरीरगत) सर्व ठोस भाग और गुरुता ये पृथिवी के
गुण हैं ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में प्राणियों के शरीर में पंचमहाभूतों
से जो जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन किया गया है।
इस वर्णन के उद्देश्य के संबंध में पीछे १३ वें सूत्र के वक्तव्य
में विवरण किया गया है। ये पञ्चमहाभूत शरीर में खाद्य
द्रव्यों द्वारा प्रवेश करके उपर्युक्त भाव उत्पन्न करते हैं—पृथि-
व्यापस्तेनो वायुराकाशमित्यस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी, का
आपः, किं तेजः, को वायुः, किमाकाशम् इत्यस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे
तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः, यदुष्णं तत्तेजः, यः
सञ्चरति स वायुः, यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते । (गर्भोपनिषत्) ।
चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः । पृथिवी चात्र संघातः
शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ (महाभारत, शां० १५४) । सर्वच्छिद्र-
समूहः—शरीर के भीतर जितने स्रोतसू, मार्ग, वाहिनियाँ, छिद्र,
भवकाश, आशय (जैसे रक्षाशय, आमाशय) इत्यादि होते
हैं वे सब इसमें आते हैं। श्रोत्रं प्राणं तथास्यं च हृदयं कोष्ठमेव च ।
आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥ विविक्तता—एक का
दूसरे से पृथक्त्व । यह पृथक्त्व आकाश के बिना नहीं हो सकता
और भवकाश आकाश के बिना नहीं हो सकता । इसलिए
आकाशीय विकारों में इसका समावेश किया गया है । शरीरस्प-
न्दन—हृदय का संकोच विकास, धमनियों की फड़कन, शरीर
के अंगों का स्फुरण (जैसे आँखों का) तथा अनैच्छिक अन्य
गतियाँ जैसे आन्त्र का परिसरण (Peristalsis), गर्भाशय
का संकोच इत्यादि । सर्वमूर्तसमूह—शरीर के सब द्रव और
वायुरूप पदार्थों को छोड़कर सब धातु उपधातु इत्यादि
साकार अवयव ।

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्व-
रजोबहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला
पृथिवीति ॥२१॥

(त्रिगुणानुसार भूतसंगठन—) इन पंचमहाभूतों में
आकाश सत्त्वप्रधान है, वायु रजःप्रधान है, अग्नि सत्त्वरजःप्रधान
है, जल सत्त्वतमःप्रधान है और पृथिवी तमःप्रधान है ॥२१॥

वक्तव्य—इस सूत्र में पंचमहाभूतों का संगठन त्रिगुणों
के अनुसार दिया गया है । आकाश प्रकाशक होने से सत्त्वबहुल
३, सु० सं०

माना गया है; वायु चल होने से रजोबहुल माना गया है;
अग्नि प्रकाशक और चल होने से सत्त्वरजोबहुल माना गया है;
पानी स्वच्छ, प्रकाशक और गुरु होने के कारण सत्त्वतमोबहुल
माना गया है, और अत्यंत आवरक होने के कारण पृथिवी
तमोबहुल मानी गई है । त्रिगुणों के अनुसार पंचमहाभूतों का
संगठन देने का उद्देश्य यह है कि चिकित्साशास्त्र में इसकी भी
कभी कभी आवश्यकता होती है । जैसे—पृथिव्यमभस्तमोरूपं रक्त-
गन्धश्च तन्मयः । तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥ (सु०
मूर्च्छाप्रतिषेध) ।

श्लोकौ चात्र भवतः—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।

स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥ २२ ॥

ये सब (आकाशादिपंचमहाभूत) एक दूसरे में अनुप्रविष्ट
समझने चाहिए । परंतु इन सब महाभूतों के (खास) प्रकट
लक्षण (केवल) अपने अपने द्रव्य में अपेक्षित होते हैं ॥२२॥

वक्तव्य—अन्योन्यानुप्रविष्टानि—अन्योन्यस्थान्योन्यस्मिन् अ-
नुप्रवेशः अन्योन्यानुप्रवेशः, तद्युक्तानि । अनुलोम और प्रतिलोम
दोनों प्रकार से पाँचों में पाँचों का प्रवेश होता है । डल्हन
की टीका में 'तत्र शब्दगुणमाकाशं मारुते प्रविष्टम्, आकाशमारुतो
तेजसि प्रविष्टी, आकाशमारुतेर्जासि तोयद्रव्ये प्रविष्टानि, आकाश-
मारुतेजस्तोयानि पृथिव्यामनु विष्टानि । एवं व्योमानिलानलजलो-
वीणां परस्परमनुप्रवेशकानुप्रवेश्यत्वेनावस्थितानामन्योन्यानुप्रविष्टत्व-
मुक्तम् ॥' इस प्रकार इसका अर्थ दिया है, परन्तु यह ठीक नहीं
मालूम होता है क्योंकि इस विवरण से भूतों का अन्योन्यानु-
प्रवेश न होकर केवल अनुप्रवेश या अनुलोम प्रवेश होता है ।
जैसे—आकाश में किसी अन्य भूत का प्रवेश ही नहीं है, वायु
में केवल आकाश और वायु हैं और ऊपर श्लोक में 'सर्वाण्येतानि'
स्पष्टतया लिखा है । डल्हणाचार्य जो अनुप्रवेश वर्णन कर रहे
हैं, वह अनुप्रवेश गुणविकास (Evolution) के समय का है,
स्थूल भूतों की उत्पत्ति से इसका कोई संबंध नहीं है । स्थूल-
भूतोत्पत्ति के लिए परस्परानुप्रवेश होना चाहिए । स्वे स्वे द्रव्ये—
पंचीकरण के द्वारा भूतों की बनावट इस प्रकार की होती है
कि जिस जिस नाम से जो द्रव्य याने भूत पुकारा जाता है
उसमें उस भूत का आधिक्य होता है और अन्यो की अल्पता
होती है । इस अधिकता और अल्पता के कारण अधिकतायुक्त
भूत के लक्षण प्रकट होते और न्यूनतायुक्त के लक्षण अप्रकट
रहते हैं ।

पंचीकरण—इस श्लोक में महाभूतों का पञ्चीकरण संक्षेप
में वर्णन किया गया है । समस्त स्थावरजंगमात्मक सृष्टि जिन
भूतों से उत्पन्न होती है, वे अमिश्र स्वरूप के न होकर संमिश्र
स्वरूप के होते हैं । इनका मिश्रण विशेष पद्धति से
होता है । इस पद्धति को पञ्चीकरण कहते हैं । पञ्चीकृत-
महाभूत में पाँचों के अंश उपस्थित रहते हैं । वेदान्त
ग्रंथों में पञ्चीकरण के नियम निम्न प्रकार के मिलते हैं—
दिधा विषाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः । स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्ब्रजनाद्य
पञ्च पञ्च ते ॥ (पंचदशी) पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद्
दिधा । एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत् पुनः ॥ एकैकं भागमेकस्मिन्
भूते संवेशयेत् क्रमात् । तत्तथाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि ॥
वात्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत् ॥ पञ्चीकरणेनैतस्यादि-
त्यादृत्सत्त्ववेदिनः ॥ (सुरेश्वराचार्यकृत पञ्चीकरणवार्तिक) ।

इन श्लोकों का तात्पर्य नीचे कोष्ठक से दिया जाता है। सुसा-
वबोध के लिये तीन कोष्ठक बनाये जाते हैं।

(१) कोष्ठक—इसमें प्रत्येक भूत के दो भाग बनाये
जाते हैं—

| | | | |
|--------|---|---|---|
| भाकाश | ॥ | ॥ | १ |
| तेज | ॥ | ॥ | १ |
| वायु | ॥ | ॥ | १ |
| जल | ॥ | ॥ | १ |
| पृथिवी | ॥ | ॥ | १ |

(२) कोष्ठक—आपे के फिर चार समान भाग करके प्रत्येक
भूत के पाँच विभाग बनाये जाते हैं—

| | | | | | | |
|--------|---|---|---|---|---|---|
| भाकाश | ॥ | = | = | = | = | १ |
| वायु | ॥ | = | = | = | = | १ |
| तेज | ॥ | = | = | = | = | १ |
| जल | ॥ | = | = | = | = | १ |
| पृथिवी | ॥ | = | = | = | = | १ |

(३) कोष्ठक—प्रत्येक भूत के प्रथम अर्धोश के साथ दूसरे
अर्धोश के जो चार भाग किये हैं, उनमें से इतरभूतों का एक
एक भाग मिलाया जाता है, जिससे पञ्चीकृतमहाभूत का टीक
सङ्गठन बन जाता है—

| | | | | | | |
|-------------|-------|------|-----|----|--------|---|
| पञ्चीकृतभूत | भाकाश | वायु | तेज | जल | पृथिवी | |
| भाकाश | ॥ | = | = | = | = | १ |
| वायु | = | ॥ | = | = | = | १ |
| तेज | = | = | ॥ | = | = | १ |
| जल | = | = | = | ॥ | = | १ |
| पृथिवी | = | = | = | = | ॥ | १ |

उपर्युक्त कोष्ठक से यह स्पष्ट होगा कि पञ्चीकृतमहाभूत
में उसी भूत का भागा अंश और आपे हिस्से में समान-
रूपेण इतरभूत होते हैं। यही कारण है कि अन्य भूतों के
लक्षण अव्यक्त होकर अधिकांश में जो भूत होता है, उसी
के लक्षण स्पष्ट होते हैं और जिसका भाग अधिक होता
है तथा लक्षण प्रकट होते हैं उसी का नाम उस भूत को
दिया जाता है। इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के ५२वें अध्याय
में (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३२८) लिखा है—रस्परसर्गात्
परस्परानुपहार परस्परानुपदेशात् सर्वेषु सर्वेषां साविध्यमस्ति
उक्तार्थवर्षात् प्रथमम् ॥ इन पञ्चीकृत महाभूतों के द्वारा ही
समस्त स्थावरजंगमाम्बक सृष्टि तथा पीछे सूत्र २० में
वर्णन किये हुए शारीरिक भाव उत्पन्न होते हैं। पञ्चीकृत
पञ्चमहाभूतनिर्वाह व सर्वविधासिद्ध्यन्ते ॥ (श्रीशङ्कराचार्य)

संलयदर्शन में यद्यपि स्पष्ट पञ्चमहाभूतों से समस्त
निरिन्द्रिय सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है तथापि ये स्पष्ट
महाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं, इसके सम्बन्ध में केवल
'गुणपरिणाम' के अतिरिक्त और कोई अधिक वर्णन नहीं
मिलता। स्पष्ट भूतों की उत्पत्ति का विशेष विवरण वेदान्त
दर्शन में मिलता है, जो पञ्चीकरण कहलाता है। पञ्चीकरण
के पूर्व वेदान्त में सिद्धकरण था, जिसमें केवल तेज, आप
और पृथिवी ये तीन भूत थे। आगे षट्कर पाँच भूतों
की उत्पत्ति सर्वसंमत हुई, जिसके कारण त्रिकरण का
रूपान्तर पञ्चीकरण में किया गया है। पीछे १०वें सूत्र

में जिन महाभूतों से शरीर के विविध भाव धत्तये गये हैं,
वे महाभूत किस प्रकार के होते हैं इसका वर्णन इस श्लोक
में किया गया है।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु ।
द्वैत्रद्वन्द्व समासेन स्यतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥२३॥
इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सर्वभूतविद्याशारीरं नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

(उपसंहार—) आठ प्रकृति, सोलह विकार और पुरुष
ये (इस अध्याय में) अपने और दूसरे के साथ के अनु-
सार संघेप से वर्णन किये गये हैं ॥२३॥

वचनम्—स्व१. त्रपरतन्त्रयोः—स्वतन्त्र अव्ययन्त्र या
आयुवदशाद्य, और परतन्त्र मुख्यतया सांख्यदर्शन उनके
अनुसार। इस श्लोक में अध्याय का उपसंहार किया है।
प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसमें वर्णन किये हुए विषयों
का संघेप में निर्देश करने की प्रथा सुश्रुत में नहीं है।
चरन्संहिता में प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसका उपसंहार
करने का नियम है।

इति भास्कराशंभो गोविन्दात्मजेन विरचितायामसुवैदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाष्यटीकायां सर्वभूतविद्याशारीरं नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः शुक्रशोणितशुद्धिं शारीरं व्याख्या-
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके पश्चात् शुक्रशोणितशुद्धि नामक अध्याय का
व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया
था ॥१॥

वचनम्—प्रथम अध्याय के १०वें सूत्र में यह बताया
गया है कि पुरुष शुक्रशोणित के संयोग में अवतीर्ण होता
है। इसके पश्चात् गर्भ की वृद्धि प्रारंभ होती है। इसलिए
इस अध्याय में शुक्र और शोणित का विचार किया जाता
है। आरम्भ की अवतीर्ण होने के लिए शुक्रशोणित शुद्ध होना
आवश्यक है—शुद्धे शुक्रार्ते च सत्यः स्वर्गमेवेत्युच्यते ॥ गर्भः
स्यद्यत्ने तुक्तिवशात्पिनिरवारणो ॥ (अष्टांगहृदय, भा० १) ।
इसलिए इस अध्याय में शुक्र और आर्तव का विचार उनकी
शुद्धि की दृष्टि से किया गया है। शुद्धि- गर्भाधानयोग्यता
तथा नीरीरोगभोत्पादनचमता जिस शुक्र और आर्तव में
हो, वही शुद्ध कहा जाता है। इस दृष्टि से इस अध्याय में
निर्दिष्ट शुक्रशोणित के लक्षण, दोष उत्पन्न होने पर उनका
स्वरूप और संघेप को निर्दिष्ट करने की विधि इन बातों
का विवरण किया गया है। शुक्र- गर्भात्पादक शरीर से
निकलने वाला द्राव्य (Semen) । इसी को तेज, रेत, कीच,
धीर्य भी कहते हैं—शुक्रं तेषोरेतमी च कीचकीचन्द्रियाणि च ।
(अमरकोश) । शोणित- आर्तवशोणित का यह संघेप
है—रक्तमेव च कोष्ठां माने मासे गर्भोत्पन्नमाप्यं गर्भं
प्रवर्तमानमातंभवित्याहुः । (अष्टांगसंस्कृत, भा० १) । इसी को

रज या पुष्प भी कहते हैं । पुरुषों में गर्भोत्पादक एक वस्तु होती है, परन्तु स्त्रियों में दो वस्तुएँ होती हैं । एक वस्तु दृश्य होती है और प्रतिमास योनिद्वार से बाहर आती है । इसको आर्तवदोषित या वहिःपुष्प (Menstrual, Menstruation) कहते हैं । दूसरी वस्तु अदृश्य, अत्यंत सूक्ष्म और शरीर के भीतर ही रहती है । इसको 'अन्तःपुष्प' या संदर्भ के अनुसार केवल आर्तव कहते हैं—**द्रादशान्द्रे व्यतीति तु यदि पुष्पं वहिर्निदि । अन्तःपुष्पं भवत्येव पनसोद्भवरादिव ॥ (वात्स्यायन)** । इसको वीजीज (Ovum) कहते हैं । इसकी शुद्धाशुद्धता का ज्ञान प्रत्यक्षतया होना कठिन होता है, अप्रत्यक्षतया आर्तवदोषित से हो सकता है । इसलिये यहाँ पर दोषित से मास्यपुष्प (Menstrual blood) लेना चाहिए । इसका अधिक विवरण चौथे सूत्र के तथा १८ श्लोक के वक्तव्य में किया गया है, उसे देखो । अब प्रथम शुक्र के दोष बताये जाते हैं—

**वातपित्तश्लेष्मशोणितकुण्णपत्रन्थिपूतिपूयत्तीण-
मूत्रपुरीपरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति ॥२॥**

(शुक्रदोष—) वात, पित्त, कफ, शोणित (इनके वर्ण और लक्षणों से युक्त), शवगन्धी, गाँठदार, दुर्गन्धित, पूययुक्त, क्षीण, मूत्र और पुरीष (की गंध से युक्त) शुक्रवान् (पुरुष) सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं ॥२॥

वक्तव्य—रेतसः - वातादि दोषों से युक्त जिनका शुक्र हो, ऐसे पुरुष । वास्तव में असामर्थ्य पुरुष में न होकर शुक्र में होता है, परंतु शुक्रोत्सर्ग का कारण पुरुष होने से असामर्थ्य उसी के ऊपर आरोपित हुआ है । प्रजोत्पादने असमर्था भवन्ति - प्रजोत्पादन का सामर्थ्य वीर्यान्तर्गत बीज या शुक्राणु (Spermatozonia) के ऊपर और असामर्थ्य इनके दोषों के ऊपर निर्भर होता है । इसलिये अष्टांगसंग्रह में यही सुश्रुत का वचन 'श्रवीमानि' इस पद के साथ दिया गया है—**वातपित्तश्लेष्मकुण्णपत्रन्धिपूयत्तीणमूत्रपुरीपरेतसि श्ववीजानि भवन्ति ॥ (शा० १)** । बीज की दृष्टि से शुक्र को फल कह सकते हैं । फल में अंडुत्पादन शक्ति का असामर्थ्य बीजाभाव से या बीजाप्राशस्य से होता है । शुक्र में भी प्रजोत्पादन का असामर्थ्य बीजाभाव से या बीजाप्राशस्य से होता है । जब शुक्र में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति होती है, तब उस अवस्था को अशुक्राणुता (Azoospermia) कहते हैं । यह अशुक्राणुता दो प्रकार की हो सकती है । प्रथम प्रकार में घृणपत्रन्धि के भीतर, शुक्राणुओं की उत्पत्ति नहीं होती और दूसरे प्रकार में शुक्राणु उत्पन्न होते हैं, परन्तु अन्य कारण से उनका नाश हो जाता है । यहाँ पर जो दोष बताये गये हैं, उनके द्वारा प्रायः दूसरे प्रकार की अशुक्राणुता उत्पन्न होती है । पहले प्रकार की अशुक्राणुता पदों में पाई जाती है । आगे श्लोक ४६ देखो ।

अप्राशस्य मुख्यतया कई प्रकार का होता है । पहले प्रकार में शुक्राणु संख्या में कम और कमजोर होते हैं । इसको अल्प-शुक्राणुता (Oligoospermia) कहते हैं । दूसरे प्रकार में वीर्यगत जीवाणु मृत के समान होते हैं । इस अवस्था को

नष्टशुक्राणुता (Necrozoospermia) कहते हैं । तीसरे प्रकार में शुक्र में रक्त मिला रहता है । इसको रक्तशुक्रता (Haemospermia) कहते हैं । चौथे प्रकार में शुक्र अल्प राशि में और मुश्किल से निकलता है । उसको अल्पशुक्रता (Oligospermia) कहते हैं । पाँचवें प्रकार में शुक्र का उत्सर्ग होता ही नहीं । उसको शुक्रघ्न या अशुक्रता (Aspermia) कहते हैं । इनके सिवाय और भी कुछ दोष हो सकते हैं । चरकसंहिता में शुक्र के निम्न आठ दोष वर्णन किये हैं—**फेनिलं वनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छलम् । अन्यथात्-पसंस्वदभवसादि तथाप्यम् ॥ (चिकित्सा ३०)** । जैसे अन्तःपुष्प स्त्रियों में अदृश्य होता है, वैसे ही पुरुषों में शुक्रगत बीज अदृश्य होता है । इसलिये जिसमें यह बीज रहता है, उस शुक्र की वर्णवेदना के अनुसार तद्रूप बीज की स्थिति का अनुमान किया जाता है । अतः प्रत्येक के वर्णवेदना का ध्य विवरण करते हैं । आधुनिक काल में शुक्र का अप्राशस्य माष्टम होने पर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा तद्रूप शुक्राणुओं की स्थिति का ज्ञान हो जाता है । जिनमें प्रजोत्पादन का सामर्थ्य नहीं होता, उनको वन्ध्य (Sterile) और उस अवस्था को वन्ध्यता (Sterility) कहते हैं ।

**तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, शोणितवर्णवेदनं कुण्णप-
गन्ध्यनल्पं च रक्तेन, त्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां,
पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां, क्षीणं प्राशुक्तं पित्त-
माहताभ्यां, मूत्रपुरीपगन्धि सन्निपातेनेति । तेषु
कुण्णपत्रन्धिपूतिपूयत्तीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः; मूत्र-
पुरीपरेतसस्त्वसाध्याः (साध्यमन्यच्च इति ॥३॥**

(शुक्र दोष के कारण—) इनमें वात से (शुक्र) वायु के वर्ण और लक्षणों का, पित्त से पित्त के वर्ण और लक्षणों का, कफ से कफ के वर्ण और लक्षणों का, रक्त से रक्त के वर्ण और लक्षणों का, शवगन्धी और अल्प, कफ वात से गाँठदार, पित्त और कफ से दुर्गन्धित और पूयदार, वातपित्त से पूर्वोक्त क्षीण, सन्निपात से मूत्रपुरीपगंध का ज्ञान होता है । इनमें शवगन्धी, गाँठदार, दुर्गन्धित, पूयदार और क्षीणशुक्र (पुरुष) कृच्छ्रसाध्य; मूत्रपुरीपगन्धी शुक्र असाध्य और दोष साध्य होते हैं ॥३॥

वक्तव्य—वातेन—'शुक्रं भवति' इति योगः । इस प्रकार प्रत्येक के साथ जोड़ना चाहिए । वेदनं या वेदना—विषतेऽनेनेति वेदनम् । लक्षण—चिकित्सति भिषक् सर्वाङ्गिकाला वेदना इति ॥ [चरक, शा० १] । वातवर्णवेदनम्—रूक्षं फेनिल-मरुणमल्पविच्छिन्नं सरुजं चिराच्च निपिच्यते वातेन । (अष्टाहसंग्रह) । पित्तवर्णवेदनम्—सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च । दह-तिष्ठन्नं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥ (चरक, चि० ३०) । शोणितवर्णवेदनम्—शुक्रं में रक्त मिलने से या कामला उत्पन्न होने से शुक्र का वर्ण लाल, पीला, हरा इत्यादि हो जाता है । इसको रक्तशुक्रता (Haemospermia) कहते हैं । यह अवस्था अतिमैथुनजन्य शुक्रघ्न में होती है—तस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्ततेऽतिमात्रोपवीर्यरेतस्त्वात्; तथास्य वायुव्यापच्छमानशरीरस्यैव धमनोरनुपविशन्न शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति, तच्छुक्रसायदस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोषितं

प्रवर्तते वातानुसृष्टिर्नमः ॥ [चरक, निदान ६] । ग्रन्थिभूत—
गाढा या गांठदार । मूत्रमार्ग से बाहर जाने वाला शुक्र कई
रसों का मिश्रण है । वृषण की ग्रन्थियों में शुक्राणु उत्पन्न होते
हैं । यह रस बहुत गाढा होता है और उस कारण से या अन्य
कारण से उसमें शुक्राणु निखल रहते हैं । इस रस में अष्टौला
(Prostate), वीर्यशय, कौपर की ग्रन्थियाँ और लिटर की
ग्रन्थियाँ इनका रस मिलकर शुक्र का सङ्गठन बन जाता है ।
जब किसी कारण से ये रस वृषणग्रन्थि के रस में नहीं मिलते,
तब हीर्ष अत्यन्त गाढा होता है और मुरिकल से बाहर
निकलता है । इसके सिवाय तत्रैव शुक्राणु निखल भी होते
हैं । अर्थात् गर्भाशय के भीतर प्रवेश करके स्त्रीबीज के
साथ मिलने में वे असमर्थ होते हैं । पुनियु—अष्टौला,
शुक्राशय या शुक्रोत्पादक संस्थान के किसी अंग में पुराना
शोथ होने से पूर के समान शुक्र निकल सकता है । इस
अवस्था को पूरशुक्रता (Pyospermia) कहते हैं । वीर्य
प्राणुकम्—सूत्रस्थान के १५वें अध्याय के १०वें सूत्र में
(प्रथमखण्ड पृष्ठ ९०) शुक्रचय के लक्षण दिये गये हैं—
शुक्रचये मेदुष्वथवेदाशङ्कितैर्मैयुने चित्ता प्रसेकः, प्रसेके चाल्प-
रकशुक्रदर्शनम् । ऊपर शोणितवणवेदन भी देखो । यह
शुक्रचय स्वाभाविक नहीं है, अजित (Acquireb) है और
अतिव्याप्य से होता है । शरीर में किसी वस्तु का चय दो
कारणों से होता है—एक अयोग्य से और दूसरा अतियोग्य से ।
प्रथम कारणजन्य चय को अयोग्यचय (Disease atrophy)
और दूसरे कारण से उत्पन्न हुए चय को अतियोग्यचय
(Atrophy of overstimulation) कहते हैं । शुक्रका
चय दोनों कारणों से हो सकता है, परन्तु सप्तर में काम-
प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है—तोके स्वभावान्निभचयेवा
निस्वास्तित्वा-नोनिदित्त चोदना ॥ (भागवत) । अतः शुक्रचय
स्वभावान्निभ को अपेक्षा स्वभाव्याधिक्य के कारण प्रायः
हुआ करता है । अधिक स्वभाव्य के कारण शुक्रोत्पादक अंगों
को अधिक काम करना पड़ता है । कुछ काल तक ये अंग
किसी तरह से काम कर लेते हैं, परन्तु अन्त में वे अपना
काम करने में असमर्थ होते हैं, जिससे शुक्र की उत्पत्ति
कम हो जाती है या बिल्कुल ही नहीं होती । मूत्रपुरीष
गर्भि—शुक्राशय तथा शुक्रवाहिनियाँ मूत्राशय और
मलाशय के बीच में होती हैं । यदि किसी कारण मलाशय
का या मूत्राशय का या दोनों का सम्बन्ध हो जाय तो
शुक्र में दोनों की गन्ध आ सकती है । मल और मूत्र के
सम्बन्ध से शुक्राणु भर जाते हैं । इसके सिवा दोनों का
सम्बन्ध आप से आप ठीक भी नहीं होता । इसलिये यह
शोथ असाध्य भी होता है—वातमूत्रपुरीषाणि कुम्भः शुक्रनेत्र
थ । अग-वरात् प्रसवनि शयत्त परिबन्धे ॥ (सुश्रुत) ।
चरकसंहिता में इन शुक्रदोषों का सामान्य निदान दिया है—
रुचिभ्रंशः श्वासाश्वसः श्वासात्तु च श्वसत् । अशले श्वाप्येनो
वा मैयुनं च गण्डनः ॥ रुचिभ्रंशश्चातिवृत्तशोथो
श्वसत् । शरीरान्तरात्तु गन्धान्तरात् तथा च शि-शोवा
दश्लिमापदकृच्छात्प्रविभ्रान्तम् । अवाद्योपश्रमीकृच्छात्प्रविभिः
वदिगन्ध ॥ ४ ॥ श्वासाश्वसः कृच्छात्तु च श्वसत्
श्वसत् । दोषः पृच्छं तन्मत्तं च प्राप्य रेवोवहाः श्वाः ॥
शुक्र संपूर्णव्याप्युत्पन्नसि विभागः । दवा बीजतडाशानु

शुक्रकोशविद्विभ्रम् । न विरोधि सद्दुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ॥
(चिकित्सा ३०) । मैयुन न च गण्डनः—अयोग्यचय का यह
कारण है । श्लेष्मचारकृत्विभ्रान्तम्—अर्शः, अरमरी और वृषण
की श्लेष्मिका, चारकिया और अग्निश्लेष्मिका इनमें अतिरिक्त
या दोषयुक्त कर्म करने से ।

आतर्वचमपि विभिदोषैः शोणितचतुर्युः पूथग्द-
ग्दैः समस्तैश्चोपसृष्टमधीजं भवतिः तद्वपि शोथ-
णवेदनादिविभिक्षेयम् । तेषु वृषणप्रग्रन्थिपुनियु-
त्तोणमूत्रपुरीषप्रकारामसाध्यं साध्यमन्यच्येति ॥ ४ ॥

(आतर्व के शोथ—) आतर्व (शोणित) भी (वात,
पित्त और कफ इन) प्रयुक्त दोनों शोथों से, शोथे रक्त से,
(वातपित्त, वातकफ और कफपित्त के) दो दो शोथों से
तथा त्रिदोष से दूषित हुआ प्रजोत्पादन में अयोग्य होता
है । उन्हे भी शोथों के वर्णों और लक्षणों के द्वारा समझना
चाहिए । इनमें श्वगन्धी, गांठदार, सुराग्निधत, चीण और
मूत्रपुरीषसम आतर्व असाध्य होता है; अन्य (वात, पित्त
औरकफ से दूषित आतर्व) साध्य होता है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—नातर्व—पुरुषों में जैसे शुक्र बसे शियों
में आतर्व होता है । परन्तु प्रजोत्पादन में पुरुष और स्त्री
का कार्य भिन्न होने के कारण शुक्र और आतर्व में भी
भिन्नता आ जाती है । प्रजोत्पादन के लिये पुरुष को अपने
शुक्र को स्त्री की योनि में फेंकना पड़ता है और यह कार्य
समागम से ही प्रायः होता है । प्रायः शब्द इसलिये प्रयुक्त
किया गया है कि आधुनिक विज्ञान के युग में जनस्त्रियों
के समान विना समागम के भी गर्भापादान के (Test tube
babes) प्रयोग हो रहे हैं । इसलिये पुरुष का शुक्र बीज-
युक्त होता है । स्त्री को अपना बीज बाहर फेंकना नहीं है,
परन्तु अपने बीज को शरीर के भीतर रखकर पुरुष के
बीज को शरीर के भीतर ग्रहण करना है । इसलिये स्त्री के
आतर्व के दो भाग होते हैं । एक भाग यह होता है, जो
गर्भाशय और योनि की सफाई करके योनि को मैयुन के
लिये सुलभसेवनीय, गर्भाशय और योनि को शुक्राणुओं
के प्रवास के लिये निकटक और गर्भाशय को गर्भ के
अवस्थान के लिये योग्य बनाता है । दूसरा भाग यह है,
जो प्रत्यक्ष गर्भाशय में भाग लेता है । पहले दो आतर्व
शोणित चय, मन्त्रिणुष्य (Manstrisium चय, Manstris-
blood) कहते हैं—आतर्व शोणित श्वाप्येनप्रियोपश्वसद्गन्धः ।
(सुश्रुत, सूत्र १४) । दूसरे भाग के लिये आतर्व, शोणित
ये ही शब्द प्रयुक्त होते हैं । उसको अन्तःपुष्प भी कहते हैं ।
इसलिये सर्वत्र के अनुसार आतर्व या शोणित का अर्थ करना
चाहिए । जैसे, नीचे के उद्धरणों में आतर्व या शोणित का
अर्थ अन्तःपुष्प है । इसी को स्त्रीबीज (Ovum)
कहते हैं—शुक्रशोणितशोथो यो मशेदोच वरहः । प्रकृतिशिवे
तेन तस्या मे लक्ष्य मयुः ॥ (सुश्रुत, शां ४) । एतु स्त्रीशुभवे-
सद्ये शुक्र-सुप्तं योनिमविशयते उत्पद्यते चतुर्वेन ॥ (सुश्रुत,
शां ३) । यथा जानपेरत्था शुक्रं सौमं शुक्रोपियवसन्तः ।
गर्भान्पद्यते ओरोवशमति ॥ (चरक, शां ३) । एतु उद्यत्
श्वात्पुष्पं वापि गर्भाशय प्रति । एतु शुक्रवशावाशान्तेन गुप्तं
मरे ॥ (भावनाकाश) । ये दोनों भाग एक दूसरे से

बेलकुल भिन्न होते हैं और दोनों एक समय पर भी नहीं होते। आर्तवसम्बन्धी कुछ अधिक विवरण इसी अध्याय के २८ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। पक्षीजम्—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आर्तवशोणित पुरुषशुक्र के समान सर्वाज नहीं होता। उससे गर्भाशय की भीतरी स्थिति का कुछ पता लग जाता है। यदि आर्तवशोणित स्वाभाविक हो तो गर्भाशय वीजग्रहण योग्य है, ऐसा समझ सकते हैं। यदि दोषयुक्त हो, जैसे कि इस सूत्र में वर्णन किया है, तो गर्भाशय को वीजग्रहण के लिए अयोग्य समझ सकते हैं। इसलिए 'अजीज' से वीजविरहित ऐसा अर्थ न करके 'वीजग्रहण के लिए अयोग्य' ऐसा अर्थ करना चाहिए। ग्रन्थिभूत—आगे १७ वें श्लोक के वक्तव्य में आर्तव का समूहन देखो।

अथ शुक्रदोषों की चिकित्सा बताते हैं—

भवन्ति चात्र—

तेष्व्याद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत् ।
क्रियाविशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरवस्तिभिः ॥ ५ ॥

(वात, पित्त और कफजन्य शुक्रदोष की चिकित्सा—)
इनमें से प्रथम तीन शुक्रदोषों को बुद्धिमान् वैद्य स्नेहन स्वेदादि से, चिदोष क्रियाओं से तथा उत्तरवस्ति से दूर करे ॥ ५ ॥

वक्तव्य—स्नेहनस्वेदादि—स्नेहनस्वेदनयुक्त पञ्चकर्म ।
क्रियाविशेषैः—विशेष गुणकर और रसायन औषधियों द्वारा ।
जैसे—वातान्विते हिताः शुक्रो निरूढाः सानुवासनाः । ग्राह्यामालकीयं च, पैसे शस्तं विरेचनम् ॥ मागध्यमृतलोधानां त्रिकलापारसायनम् । कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद् भटातकस्य च ॥ (चरक, चिकित्सा ३०) । अष्टांगसङ्ग्रह में इन शुक्रदोषों की संपूर्ण चिकित्सा निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—

वातिके शुक्रदोषे वसुकसैन्धवफलाम्भसिद्धं यवक्षारप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । बिल्वविदारिसिद्धं क्षीरयुक्तमास्थापनम् । मधुकमद्वदारसि तैलमनुवासनम् । क्षीरकुलीररससिद्धं तैलमुत्तरवस्तिः ॥ पैत्तिके काण्ठेक्षुश्वदंष्ट्रागुह्वृच्छीसिद्धं मूर्वांमधुकप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । त्रिवृक्षूर्णैः सघ्नो विरेकः । पयस्याश्रोपणीसिद्धं क्षीरयुक्तमास्थापनम् । मधुकमुद्गरपणीसिद्धं तैलमनुवासनमुत्तरवस्तिश्च ॥ श्लेष्मिके पापाण्यभेदाश्मन्तकामलककाथसिद्धं पिप्पलीमधुकचूर्णप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । मदनफलकपायो वमनम् । दन्तीविडङ्गचूर्णस्तैललीढो विरेकः । राजवृक्षमदनफलकपायप्रगाढमास्थापनम् । मधुकपिप्पलीसिद्धं तैलमनुवासनमुत्तरवस्तिश्च ॥ (शारीर १)

पाययेत् नरं सर्पिर्भिषक् कुणपरेतसि ।

धातकीपुष्पखदिरदाडिमाजुंनसाधितम् ॥ ६ ॥

पाययेद्यथा सर्पिः शालसारादिसाधितम् ।

(कुणपदोषचिकित्सा—) कुणपगन्ध शुक्रदोष में धाय के फूल, खदिर, अनार और अर्जुन इनसे सिद्ध घृत वैद्य रोगी को पिलावे अथवा शालसारादि से सिद्ध तं पिलावे ॥ ६ ॥

वक्तव्य—धातक्यादि घृत—द्वलहण (धातक्यादेः कल्ककपायाभ्यां साधितम्) और हाराणचन्द्र (अत्र धातक्यादीनि व्रीण्यपि घृतानि काथकल्काभ्यामेव साधयन्ति भिषजोऽनन्तरोक्तपालाशघृतसाहचर्यात्) के अनुसार यह घृत काथ और कल्क दोनों से सिद्ध करना चाहिए। परन्तु वास्तव में यह घृत केवल

कल्क से सिद्ध करना उचित है, क्योंकि धातकी गण न होकर प्रथक् पृथक् औषधियाँ हैं। इस संबंध में चक्रपाणिदत्त 'पिप्पल्यादि घृत' (च० चि० ३) की टीका में लिखते हैं—पिप्पल्यादी घृते पिप्पल्यादीनां विशेषानुक्तैः कपायसं कल्कसं चैके ब्रूवते ग्रन्थे तु कल्कमेवेच्छन्ति । यत्र तु कपायसं वरुत्सं वा नोक्तं तत्र काथकल्कादेव कर्तव्यं । यदुक्तं सुश्रुते—कल्ककाथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत् । इति; नैवं, सुश्रुतोक्तपरिभाषा दीर्घं गणविषया एव, 'गणात्तस्मात् प्रयोजयेत्' इति वचनात्; न च पिप्पल्यादयोऽपी गणस्येनोक्ताः गणोऽपि यत्राधिकरणेन शुनस्तत्रैव काथवत्ककरणम् । यदुक्तमन्यत्र—यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणस्य स्तेऽसंविधी । तत्रैव कल्कनिर्मुहाविष्येते स्नेहवेदिभिः ॥ तस्मात्कल्कमात्रेणैव पिप्पल्यादिद्रव्यं जलं न चतुर्गुणं देयम् । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । शालसारादि—शालसारादिगणोक्त द्रव्यों के कल्क और काथ से। शालसारादिगणोक्त द्रव्यों के लिए प्रथम खण्ड १२० पृष्ठ देखो।

औषधियों का प्रमाण—धातक्यादि घृत के लिए घृत ४ सेर, जल १६ सेर और कल्क एक सेर लेना चाहिए। शालसारादि घृत के लिए शालसारादि का काथ १६ सेर (काथद्रव्य ८ सेर, जल ६४ सेर, काथ १६ सेर) लेकर ४ सेर घृत में उसका घृतपाक बनावे। फिर १ सेर कल्क, ४ सेर उपर्युक्त काथपाक का घृत और १६ सेर जल डालकर कल्कपाक करें। मात्रा एक चतुर्थांश से एक तोला।

ग्रन्थिभूते शंटीसिद्धं पालाशे वाऽपि भस्मनि ॥ ७ ॥
(ग्रन्थिदोषचिकित्सा—) गांठदार वीर्य में शटी (कचूर) द्वारा सिद्ध किंवा पलाशभस्म में सिद्ध घृत (वैद्य रोगी को पिलावे) ॥ ७ ॥

वक्तव्य—पालाशे भस्मनि—पलाशक्षारोदक में सिद्ध घृत। रक्तगुल्म की चिकित्सा में पलाशघृत चरक में वर्णन किया है—पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः । इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—क्षारपात्रे इति क्षारोदकस्था-दकद्रव्यम् । और घृन्दमाधव सिद्धियोग में रक्तगुल्मचिकित्सा में लिखते हैं—पलाशक्षारतोयेन सर्पिः सिद्धं पिबेच्च सा ॥

परुपकवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम् ।

(पूयदोष की चिकित्सा—) पूतिपूय (नामक शुक्रदोष) में परुपकादि और वटादि (गणों की औषधियों) द्वारा साधित (घृत बंध रोगी को पिलावे) ।

वक्तव्य—परुपक वटादि गणों की औषधियों के लिए प्रथम खण्ड २१३ पृष्ठ देखो।

प्रागुक्तं वदयते यच्च तत् कार्यं क्षीणरेतसि ॥ ८ ॥

(क्षीणवीर्यचिकित्सा—) क्षीणशुक्र में जो (सूत्रस्थान के दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय अध्याय के १० वें सूत्र में प्रथमखण्ड के पृष्ठ १०-११ पर चिकित्सा) पहले घटा चुके हैं तथा (चिकित्सास्थान के क्षीणबलीय वाजीकरणचिकित्सित नामक ३६वें अध्याय में) जो बतायेंगे, उसको करना चाहिए ॥ ८ ॥

विटप्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गुभिः ॥ ९ ॥

(मलमूत्रगन्धी शुक्र की चिकित्सा—) मल (और मूत्र)

१ ० तेऽश्मभिसिद्धं०, २ अस्याये 'स्नेहादिश्च क्रमः कार्यः पट्वेतासु विज्ञानता' इति कचिदधिकः पाठः०

सम शुक्र में चित्रक, उनीर (खम) और हींग से साधित घृत (रोगी को) पिलावे ॥३॥
 वक्ष्य—मूलद्रव्यगन्धी शुक्रदोष असाध्य बतवाम्या गया है। इसलिये उसकी चिकित्सा के लिये मैं इन्द्र अष्टाङ्ग-संग्रह की रीका में लिखते हैं—मूत्रपुरीषरोगसि नात्रिदुष्टे चिकित्सा, भविदुष्ट उषेवा।

अिग्य घान्तं त्रिरिक च निरूढमनुवासितम् ।
 योजयेच्छुक्रदोषोपतं सम्यगुत्तरवस्तिना ॥ १० ॥

(शुक्रदोष की साधारण चिकित्सा—) स्नेहन, वसन, विरेचन, निरूढ और अनुवासन से मली भंति विक्षोभित किये हुए शुक्रदोषपीडित रोगी को उत्तरवस्ति से समुक्त करे ॥ १० ॥

वक्ष्य—इस श्लोक में शुक्रदोषों की साधारण चिकित्सा बतलाई है। उत्तरवस्त्यन्त कर्म रोगी के शरीर को अच्छी तरह विक्षोभित करते हैं—रसमात्र पुरा शोषमनेव कार्य बलानुरूप, न द्वि बन्धयोः। सिधन्ति देदे मलिनं प्रयुक्ता क्रिष्टे यथा शसस्ति राधयोगा ॥ (चरक, चिकित्सा १)। मय दिनम्य विशुद्धानं निरूढान् सामुवासनाम् । शततन्त्रसर्षीरशकोराष्टोदसु तान् ॥ योगरिक्तोन्वेय पूर्वं शीरमांरसादिनाम् । ततो बाजो कान् योगान् शुक्रावत्तरवस्त् ॥ (अष्टाङ्गसंग्रह, उत्तर ५०)। इस प्रकार पच कर्मों द्वारा विमोघन करने के पश्चात् दोषा अनुसार उपर्युक्त श्लोकों में बताये हुए घृत या चरकोक्त निम्न साधारण योगों का प्रयोग करने से दोष दूर होकर शुक्र का बल बढ़ता है—बाजोहरणयोगेस्तेऽप्योपमुहूर्तिरे । रक्षिष्यते र्शोर्षोनिव्यापयैस्त्वया ॥ दुष्ट वरा भोक्स्तुक्त तदा तरममुपाबरेत् । घृतं च बीजनीय यषवयनशस एव च ॥ विरिन्त्य प्रयोगश्च र्शो-दोधानवोदति ॥ नवि पयो रसा शानिवैरगोवृमपठिका । प्रथमा शुक्रदोषवृ रसिक्तमं विशेषेण ॥ (चिकित्सा ३०)। उत्तर-वस्ति—न निरूढाश्चरुलक्षणे वा मांशे चोद्यन इत्युपारहितः । (अष्टाङ्गसंग्रह, सूत्र २८)। जो निरूढवस्ति के पश्चात् अथवा मूत्र से उत्तर माग से जाने मूत्रमार्ग से दिया जाता है, वह उत्तर वस्ति कहलाता है। श्रियों में उत्तरवस्ति अल्पमार्ग में भी दिया जाता है। उत्तरवस्ति का विवरण चिकित्सास्थान के ३० वें अध्याय में दिया गया है।

स्फटिशाम द्रव्यं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च ।
 शुभ्रमिच्छन्ति केचिच्च तैलक्षोडनिम तथा ॥११॥

(विद्युद शुक्र का स्वरूप—) स्फटिक के समान (श्वेत), प्रिय (विषयिता), मधुर और मनु को सी गन्ध वाले द्रव (तरल) के (आध्याय साधारणतया विद्युद) शुक्र समझते हैं। परंतु कई (आचार्यों) तैल और मधु के समान (द्रव) को भी (विद्युद शुक्र समझते हैं) ॥ ११ ॥

वक्ष्य—उपर्युक्त श्लोकों में शुद्र शुक्र का स्वरूप वर्णन किया गया था। इस श्लोक में अदुष्ट अर्थात् 'चलत्वा' या गर्मो धातवोयु शुक्र का स्वरूप वर्णन किया गया है। ६८—शरीर में रस, रक्त, अलास, रजस्य इत्यादि कई द्रव (Fluid) उपलब्ध होते हैं। उन्हीं में र शुक्र एक द्रव है। अन्य द्रवों से इसका धारण्य बर्धन करने के लिये 'स्फटिकाम' इत्यादि रसका रस रूप दिया गया है। या द्रव रस स्वरूप का है, वह शुक्र है। शिव—अधिकांश वा सामान्यतः शुक्रः (Viscum) । शरीर की द्रव है परंतु अतमें विषयता नहीं है। शरीर विरगता के कारण

मैथुन के पश्चात् योनि में उत्सर्जित हुआ शुक्र वहीं पर अथ स्थान करता है और मैथुनजन्य धर्मण से उत्पन्न हुई योनि की श्लेष्मल कला की शान्ति करके उसी में शोषित होकर स्त्री के शरीर की पुष्टि में सहायता करता है (तीसरे अध्याय के १९वें सूत्र के वक्ष्य में अध्याय की टिप्पणी देखो)। इस दृष्टि से स्निग्ध का अर्थ शरीरपुष्टिकर, ऐसा भी कर सकते हैं। इसी स्निग्धता के कारण योनि में शुक्र रहने से शुक्र के संपूर्ण शुक्राणु गर्भाशय के भीतर दौड़ में भाग ले सकते हैं और प्रजोत्पत्ति के लिये उनमें से सब से बलवान् शुक्राणु मिल जाता है। जब शुक्र में स्निग्धता न होकर वह पानी के समान पतला रहता है, तब अधिकांश योनि के बाहर निकल जाता है और उपर्युक्त कार्य मध्ये भंति नहीं हो सकते। मधु—(पदार्थों की मधुरता 'माणमुल कण्ठोद् जिह्वाप्रस्रावना' से उत्काल ज्ञात होती है। परंतु शुक्र आमसस्रस (सूचस्थान १० अध्याय के चौथे सूत्र का वक्ष्य देखो) याने जिह्वा पर प्रायश्च ग्रहण करने के लिये प्रस्राप्त पदार्थ नहीं है। अतः ऐसे पदार्थों की मधुरता अनुमान से ही जाननी चाहिये। मधुररस के लक्षणों में श्वेतपिपीपिका नाभितयम् 'यह एक लक्षण चरक और सुश्रुत (सूत्र २२।१८) में दिया गया है। इस लक्षण से मूत्र और शरीर की मधुरता आयुर्वेद में जानने की पद्धति थी—मूत्रेऽभिषाकान्ति विरीलिक्षाव। श्वेतपिपीपिकाभिश्च शरीरमाभिस्राव्य ॥ भावर्षरिक्तं वाय कालपश्चरत् सविकारः। अत्रि क्षाणानुनिश्वस्य भृशमावाति सर्वं ॥ मलिकोपसर्जनं शरीरमाधुर्वर्णं ॥ (चरक)। शुक्र के लक्षण में भी मधुर रस का प्रयोग इसी दृष्टि से समाध्याय चाहिये, क्योंकि जब शुक्र जमीन पर गिरता है या किसी वस्त्र पर लगता है, तब उस पर चीटियाँ आकर्षित होती हैं। यदि रासायनिक प्रतिक्रिया की दृष्टि से मधुर रस का अर्थ करना हो तो इससे 'न अम्ल न चादीया' (Neutral) ऐसा अर्थ करना चाहिये। मधुर रस का प्रयोग इस अर्थ से चारदाय की चिकित्सा करते समय किया गया है—अग्नेन तत्र सजुक्त सतीश्चलत्तवो रस । मधुर्वं मन्वेऽन्वेर्वं तीक्ष्णमात्र विमुञ्चति ॥ (सूत्रस्थान ३।११)। मधुर्वं—शुक्र की एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है जिसेकी तुलना किसी द्रव्य की गन्ध से पूर्णतया नहीं की जा सकती। मधुगन्धि से, इसलिये, केवल यही समझना चाहिये कि शुक्र की गन्ध अधिक से अधिक मधु के साथ मिली है—मधुने गन्धरेव गन्धो वाय । देवैर्—शुक्र का स्फटिकमज्जिभ श्वेतवर्णं सर्वमाम्य है—यै न स्फटिकमज्जिभ न्त् । (चरक)। परंतु स्तम्भ के समान शुक्र कृष्णाम्प्यादि का धाव (Secretion) होने के कारण आहार्य पदार्थ शुक्र में विद्युति वेशा न करते हुए भी उसके वर्ण में फर्क पैदा कर सकते हैं। इसलिये कई आचार्यों के मतानुसार तैल और मधु के वर्ण का भी शुक्र शुद्र होता है। अष्टांगसंग्रह में इन मतों का उल्लेख किया है—मूत्र शीघ्रं स्निग्धं शुद्रं मधुगन्धिं मधुरं पिपिपिचं च यु बर्धनं शरीरशान्तिजन्यवर्णं च शुक्रं च तर्थाश्वमेधवर्णं मरुतिः । (सूत्र ३)। परंतु कई बड़ी बतलाया है कि ये विविध वर्ण के शुक्र गर्भाधानयोग्य होते हुए भी स्फटिक वा शुद्रवर्ण शुक्र ही शीतान गौरवर्ण, उल्बवर्ण शुक्र की गंजा इत्यादी, मधुवर्ण शुक्र की शोभा इत्यादीवर्ण होती है—न च शुद्रं शुद्रं इत्युक्तव्ये वा कर्षेव कोत्तं, वेकामे इत्युक्तं, अथामे इत्युक्तं । (अष्टांगसंग्रह)। उपर्युक्त श्लोकान लक्षणों के अतिरिक्त अदुष्ट

शुक्र के निम्न तीन लक्षण और होते हैं। सौम्य—सोमगुणभू-
यिष्ठ अर्थात् कफ के गुणों की अधिकता जिसमें हो, ऐसा । इस
गुण का उल्लेख आगे तीसरे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया
गया है—सौम्यं शुक्रमार्तवमग्नेयम् । अविदाहि—जिसका उत्सर्ग
होते समय या उत्सर्ग होने के पश्चात् विदाह या जलन न
होती हो । जलनयुक्त शुक्र का उत्सर्ग प्रायः पित्तदोष से होता
है । पीछे सूत्र ३ का वक्तव्य देखो । पिच्छिल—चिपचिपा
(Slimmy या Slippery) । इसी पिच्छिलता के कारण
शुक्राणु शुक्र में स्फूर्ति के साथ बड़ी तेजी से गति कर सकते
हैं और पिच्छिल शुक्र से लिप्त होने के कारण ही शुक्राणु योनि
से गर्भाशय तथा बीजन्त्रोत (Fallopian tube) में गति
करने में बहुत कम रुकावट से समर्थ होते हैं । चरक में शुद्ध
शुक्र के लक्षण इस प्रकार वर्णन किये गये हैं—बहलं मधुरं
स्निग्धमविलिप्तं गुहं पिच्छिलम् । शुद्धं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंश-
यम् ॥ (चि० २) ।

अब इसके बाद दूषित आर्तव की चिकित्सा बताई
जाती है—

विधिमुत्तरवस्त्यन्तं कुर्यादार्तवशुद्धये ।

(आर्तवशुद्धि की साधारण चिकित्सा—) आर्तवशुद्धि
के लिए उत्तरवस्ति पर्यन्त विधि करे ।

वक्तव्य—उत्तरवस्त्यन्तम्—उत्तरवस्ति जिसका अन्तिम
कार्य है, ऐसी विधि । अर्थात् ऊपर ६ वें श्लोक में शुक्रदोषहरण
के लिए स्नेहन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और
उत्तरवस्ति—इन कर्मों से युक्त जो विधि बतलाई गई है,
वह विधि ।

स्त्रीणां स्नेहादियुक्तानां चतसृष्वार्तवार्तिषु ॥१२॥

कुर्यात्कल्कान् पिचून्ध्यापि पथ्यान्याचमनानि च ।

(वातादि चतुर्विध आर्तव दोषों की चिकित्सा—) चतु-
र्विध आर्तव दोषों में स्नेहनादि से युक्त स्त्रियों को कल्क, पिचू
और पथ्य आचमन (वंघ प्रयुक्त) करे ।

वक्तव्य—चतसृषु—वात, पित्त, कफ और रक्त इन
चार दोषों से पीड़ित विकारों में । कल्क—यथा दोषहर
ओषधियों की लुगदी योनि में धारण करना । पिचू—
यथा दोषहर द्रव्यों के काथ में या यथा दोषहर द्रव्य
काथसिद्ध तैल में रुई का फोया भिगोकर (Pad) योनि
में धारण करना । आचमनम्—योनिप्रक्षालनोदकम् ।
(बहण) । यह एक पारिभाषिक शब्द है, जिससे केवल
योनिप्रक्षालन के लिए युक्त धावन (Lotion) का ही
बोध होता है । वातादि दोषों से पीड़ित आर्तव की
चिकित्सा अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से वर्णित है—
वातजे पुष्पदोषे भास्त्रिमधुकमद्रदासिद्धं सपिष्पानम् । कामर्यं-
सुदसहासिद्धं वा क्षीरम् । मधुकमृगालविन्नाकल्कं पयस्सपिस्सिद्धं
प्रियशुतिलकल्कं वा योनी धारयेत् । सरलमुद्रापणीकपायः प्रवा-
लनम् । पित्तजे काकोलीद्रयविदारिमूलकाथमुत्पलपत्रकाथं मधुक-
पुष्पकाशमर्यफलकाथं वा सशर्करं पिबेत् । श्वेतचन्दनकाथं वा
सयौदं, धवधातकीकरकं वा घृतेन वा मधुकमधुरसायुदीकाकल्कम् ।
श्यामकमवाक्षीक्षीरं विरेकः । चन्दनपयस्याकल्कं योनी धारयेत् ।
वैरिकारिदकपायः प्रक्षालनम् । श्लैष्मिके कुटजकटुकाश्वगन्धकाथं
पिबेत् । समाचिकं वा क्षीरीवृचप्रवातकाथमेतेषामेव वा चूर्णं

मधुघृताभ्यां लिष्टात् । मदनफलकपायेण वमनम् । तत्कल्कमेव
च योनी धारयेत् । लोभ्रतिन्दुककपायः प्रक्षालनं वस्तमेवमूर्त्तं वा ॥
(शारीर १) ।

ग्रन्थिभूते पित्रेत् पाठां इयूषणं वृत्तकारिण च ॥ १३ ॥

(ग्रन्थिभूत आर्तवचिकित्सा—) गाँठदार (आर्तव
दोष) में पाठा, त्रिकटु (सोंठ, मरीच और पीपल) और
कुड़ा (इनका काथ) पीवे ॥१२-१३॥

दुर्गन्धिपूयसङ्काशे मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे ।

पित्रेद्भद्रश्रियः काथं चन्दनकाथमेव च ॥ १४ ॥

(पूयार्तवचिकित्सा—) दुर्गन्धित, पूय और मज्जासम
आर्तव में भद्रश्रिय या चन्दन का काथ पीवे ॥ १४ ॥

वक्तव्य—भद्रश्री—मलयपर्वतोत्थ श्वेतचन्दन—गन्ध-
सारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम् । (अमरकोश) । चन्दन—
इससे भी श्वेत चन्दन का ही ग्रहण करना चाहिए । जब
मलयज श्वेत चन्दन न मिले, तब साधारण श्वेत चन्दन का
उपयोग करना चाहिए । इसको दर्शाने के लिए चन्दन
शब्द लिखा गया है । गयदासाचार्य चन्दन से गोशीर्षाख्य
चन्दन समझते हैं—गयी तु भद्रश्रियं श्वेतचन्दनम्, चन्दनं
गोशीर्षाख्यं चन्दनं न तु रक्तचन्दनम्, तस्य हि गन्धापहरणशक्ते-
(भावात् ॥ (बहणटीका)) । गोशीर्ष भी श्वेत चन्दन का
ही एक प्रकार है । अमरकोपटीकाकार क्षीरस्वामी के मतानु-
सार गोशीर्षपर्वतोत्पन्न श्वेत चन्दन गोशीर्ष कहलाता
है । कपायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् । इस परिभाषा
के आधार पर डल्हणाचार्य चन्दन से रक्तचन्दन समझते
हैं, परन्तु यहाँ पर यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ पर
श्वेत चन्दन का काम है, वहाँ रक्तचन्दन किसी काम का
नहीं है । इस काथ के सिवा त्रिफलाकल्ककाथी चात्र
धारणाचमने (अष्टांगसंग्रह) इनका भी उपयोग करे ।
मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे—आर्तव का यह आखिर का दोष अर्थात्
मूत्रपुरीपसंकाश दोष है । क्षीणदोष का विवरण मूत्र-
स्थान के १५ वें अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ६१
पर) किया गया है, इसलिए उसका विवरण यहाँ पर
नहीं किया—शीर्षं प्रागोरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ॥

शुक्रदोषहराणां च यथास्वमवचारणम् ।

योगानां शुद्धिकरणं शेषास्वभ्यार्तवार्तिषु ॥१४॥

(आर्तव दोषों की सामान्य चिकित्सा—) शुक्रदोष-
हारक योगों का यथाविधि सेवन शेष आर्तवविकारों में
भी शुद्धिकारक होता है ॥१४॥

वक्तव्य—शुक्रदोषहराणाम्—शुक्रदोषहरण के लिए
ऊपर ५-१० श्लोकों में जो योग बताये गये हैं, उनका ।
शेषास्वभ्यार्तवार्तिषु—यह श्लोक १४वें श्लोक के अनुबन्ध में
है । इस श्लोक में क्षुण्णपगन्धी, पूतिपूय और मूत्रपुरीप-
प्रतीकाश इन दोषों का विवरण किया है । अर्थात् इन तीन
दोषों को छोड़कर शेष दोषों में भी याने वात, पित्त, कफ,
शोणित, ग्रन्थिभूत और क्षीण इन दोषों में । इस श्लोक
का तात्पर्य यह है कि शुक्रदोषहर प्रयोग आर्तवदोषहर
भी होते हैं ।

अग्ने(र्ज) शालियवं मधं हितं मांसं च पित्तलम् ॥१६॥
 (आतंव दोषों में पय्याहार—) आहार्य द्रव्यों में शालि, जी, मद्य और पित्तवर्धक मांस (आतंव दोषों के लिए) दितकर होता है ॥१६॥

वक्षस्य—अक्ष—मघतेऽस्ति च भृगुनि तस्यदक्षं तदुच्यते । सामान्य आहार diet.

शशाखकप्रतिमं यच्च यद्वा लान्दारसोपमम् ।

तदातवं अशंसन्ति यद्वासो न विरजयेत् ॥ १७ ॥

(प्रशस्त आतंव का लक्षण—) जो वर्ण में शराक के रक्त के समान अथवा लाधारस के समान (होकर) कपड़े को रजित न करे, उस आतंवशोणित को (आचार्य) प्रशस्त मानते हैं ॥१७॥

वक्षस्य—इस श्लोक में आतंव की प्रशस्तता का वर्णन किया है । इस प्रशस्तता का विचार निम्न पहलुओं से होता है । (१) वर्ण—यहां तथा चरक और अष्टांगसंग्रह में आतंवशोणित का वर्ण शरयोश के रक्त के समान, लाधारस के समान, वीरवहृटी कीड़े के समान याने संघेप में छाल बतलाया गया है—मातंव पुनः शुभ्रविरलाकारसोपमं शुद्धमाहुः । (अष्टांगसंग्रह) शुक्राफनसंघर्षे च पद्मालककर्मनिम्न । हृदयोपकृतंकाशमातंव शुद्धमादिशेत् ॥ (चरक) । पाश्चाय स्त्रीरोगचिकित्साकों का कथन है कि स्वामाविक राशि से अधिक जब आतंवशोणित निकलता है, तब उसका वर्ण छाल होता है—

When abundant it may be bright red *Bland-Sutton and Giles* अर्थात् अधिक लाली आतंवशोणित का प्रशस्त वर्ण नहीं कह सकते हैं । उनके मतानुसार यह शोणित सिरागत रक्त के समान किञ्चिद् कृष्णवर्ण होता है—The latter (Menstrual blood) has all the characteristics of ordinary venous blood *Bland Sutton and Giles* इस वर्ण का स्पष्ट निर्देश आगे तीसरे अध्याय में ' ईरकपृथ्वी' करके किया गया है—

नाशेनोपचितं काले धर्मोन्म्यां तदातंवम् । ईरकपृथ्वी विन्ध च वायुर्धोनिमुद्र नवेद ॥ भावप्रकाश में भी यही वर्ण लिखा है—

ईरविवर्णं कृष्णं च वायुर्धोनिमुद्र नवेद । इसलिये आतंवशोणित का प्रशस्त वर्ण लालसुखं, जैसा कि यहाँ वर्णन किया है, न समझकर किञ्चित् कालापन लिये छाल समझना चाहिये । (२) राशि—आतंवशोणितघ्राव की राशि तत्पुहस्त स्त्रियों में और सर्वावस्था में एक ही नहीं होती । अतः उसके लिये एक निश्चित परिमाण नहीं हो सकता, जिसको प्रशस्त कह सकते हैं । जो परिमाण एक स्त्री में प्रशस्त होगा, वही दूसरी में अप्रशस्त अर्थात् अत्यधिक या अत्यल्प हो सकता है । इसलिये, प्रत्येक स्त्री में मासिकघ्राव के परिमाण की प्रशस्तता उसके प्रायिक मासिक घ्राव के परिमाण का विचार करके करना चाहिये ।

What is an ordinary menstrual flow in one woman may constitute menorrhagia in another आयुर्वेद में इसलिये निश्चित परिमाण न बतलाकर 'नेत्राभिरुद्धानांस्वमातवं शुद्धमादिशेत्' (चरक) इस प्रकार परिमाण की प्रशस्तता वर्णन की गई है । उपर्युक्त विवरण से इस श्लोकार्थगत 'मनि' शब्द का प्रयोग कितना उचित है और किस हेतु से समाविष्ट किया गया होगा, इस विषय पर अधिक विवरण

की आवश्यकता नहीं है ; अथ अल्प और बहुत का प्रायि परिमाण पाश्चाय्य प्रयंकार एक छुट्टांक से तीन घाव छुट्टांक तक लिखते हैं—

The amount of blood lost naturally varies very much Within normal limits, but has been estimated at from 2 to ounces *Ten Teacher's Midwifery*. The total quantity of blood lost at each monthly period varies from 2 to 10 ounces *Bland-Sutton and Giles*. (३) घ्राव की अवधि—स्त्रियों की सन्दुरस्ती ही प्रकृति के अनुसार घ्राव के काल में बहुत भिन्नता देख जाती है । आयुवृद्ध में घ्राव का प्रायिक काल तीन से सा दिन का बतलाया गया है—

रक्तमेव खीणां माने मागमंकोष्ठमनुप्राप्य इयं प्रवर्तमानमातं वमाहुः । (अष्टांगसंग्रह) । रक्तदितं यावत् । (हारीत) । मासि मासि रजः खीणां रक्तस्रवति इत्यम् । (अष्टांगसंग्रह) । रसादेव इजः खीणां मासि मासि भ्रवं क्षवेत् । (भावप्रकाश) । दिनत्रयं प्रवृत्तिश्च कुर्वते शोणिस्रियाः ॥ पंचरात्रानुपवि च । (चरक) । पाश्चाय्य प्रयंकार भी प्रायः यही काल बतलाते हैं—

The flow lasts from three to five days. *Halliburton's Physiology*. The number of days during which the flow persists also varies in different women within normal limits, four to 5 days being the commonest length of time. *Ten Teacher's Midwifery*, कमी कमी बीच में एक आध रोज घ्राव रुक जाता है और फिर से दो तीन रोज रहता है । इसलिये

बईकटन घ्रावकाल की मर्यादा दो से सात रोज की बतलाते हैं—

The flow lasts from two to seven days मधुकोशकार 'पञ्चरात्रानुपवि' इस पर अपनी व्याख्या में लिखते हैं—

पञ्चरात्रानुपवीति पञ्चरात्र प्रभूत्प्रवृत्त्याऽनुपमानीष्यः । अल्पप्रवृत्त्या पञ्चरात्र परतोऽप्यनुपमनानि । उपर्युक्त विवरण से आतंवघ्राव का प्रशस्त काल दो से सात रोज तक होता है । इस काल से अधिक काल तक घ्राव का रहना साधारणतया विकार का निदर्शक समझना चाहिये । (४) अनुवर्ती लक्षण—मलमूत्रादि की प्रवृत्ति के समान आतंवप्रवृत्ति स्त्रियों के शरीर का स्वामाविक धर्म है । इसलिये उस समय किसी प्रकार की पीडा नहीं होती चाहिये । प्रशस्त आतंव का यही लक्षण होता है—

निपिच्छरावार्ति । (चरक) । परंतु साधारणतया यह देखना गया है कि अधिकसंघेप (६०% से ७०%) स्त्रियों में आतंवप्रवृत्ति के समय शोणीविभाग में कुछ न कुछ पीडा जरूर हुआ करती है । कुछ स्त्रियों में यह पीडा शूल के समान असह्य होती है और उसके साथ साथ सिरदर्द, शारीरिक और मानसिक कमजोरी, पेपैनी, स्वभाव में किञ्चिद्वारण इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर मासिक घर्म एक बीमारी बन जाती है । इसी को रुच्छातंव (Dysmenorrhoea) का उदाहरण योनि (उत्तराध्यान, १८ देखो) करते हैं । यह विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि स्वामाविक और वृष्ट आतंव में वास्तविक भेद है तथापि व्यवहार में दोनों के बीच में निम्न मर्यादा करना बहुत कठिन है । इसलिये आतंव की प्रवृत्ति और घ्राव के समय में यदि जरा सी पीडा

होती हो तो उसको बिलकुल अप्रशस्त मानना जरूरी नहीं है । (५) आर्तवप्रवृत्तिककाल—आयुर्वेद में इस चक्र का काल एक मास का लिखा है—मासे मासे गर्भकोष्ठमनु-प्राप्य । (अष्टाङ्गसंग्रह) । मासात्रिभिश्चन्द्रदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च । नैवातिबहुलात्यल्पमातवं शुद्धमादिशेत् ॥ (चरक) । मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदातं वम् । (सुश्रुत) । मास या मास का अर्थ चन्द्र है और नक्षत्रों में पूर्णचक्रपरिभ्रमण करने के लिए चन्द्र को जितने दिन लगते हैं, उन दिनों के समूह को 'मास' कहते हैं । यह काल साधारणतया २८ दिनों का या चार सप्ताह का होता है । अर्थात् दो आर्तवों के बीच में २८ दिन का अन्तर आर्तव की प्रशस्तता का लक्षण है । इसी दृष्टि से आर्तव को मासिकधर्म या माहवारी कहते हैं । In human subject menstruation occurs on an ovavage every four Weeks. *Halliburton's Physiology*. व्यवहार में भी यह देखा गया है कि अधिकसंख्य (७०%) स्त्रियों में मासिकधर्म का काल २८ दिनों का ही होता है । बाकी स्त्रियों में इससे एक दो दिन कम या अधिक लगते हैं । कुछ स्त्रियों में आठ दस दिन कम या अधिक लगते हैं । इसका कारण यह है कि आर्तवचक्र-काल में स्त्री की तन्दुरुस्ती, प्रकृति और आयु के अनुसार बदलता है । परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि बहुत थोड़े दिनों के पीछे स्त्राव का होना आर्तव की प्रशस्तता का लक्षण नहीं है । धर्मशास्त्र में स्वस्थ आर्तवचक्र का कम-से-कम काल २१ दिन का दिया है—अष्टादशदिना-दूर्ध्वं खानप्रवृत्तिसंख्यया । यद्रजस्तु समुत्पन्नं तत्कालोत्पन्न-मुच्यते ॥ (१) स्त्राव का सङ्गठन—मासिकस्त्राव में रक्त (Blood) होता है । रक्त के सिवा गर्भाशय की श्लैष्मिक स्त्राव का स्त्राव या श्लेष्मा (Mucus) भी होता है । इनके अतिरिक्त गर्भाशय और योनि की शीर्षं हुई कोशिकाएँ (cells) भी होती हैं । श्लेष्मा का स्त्राव अधिकतर आर्तवस्त्राव के पूर्व और पश्चात् हुआ करता है । साधारण रक्त और आर्तव रक्त में एक भेद यह होता है कि उसमें साधारण रक्त की अपेक्षा चूना (Calcium) अधिक परिमाण में होता है । दूसरा भेद यह होता है कि आर्तवरक्त साधारण रक्त की भाँति जमता नहीं है । न जमने का एक कारण श्लेष्म-संयोग है । दूसरे कारण के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है । ब्लेअर वेल नामक शास्त्रज्ञ का कथन है कि आर्तवरक्त में तन्वि (Fibrin) नामक द्रव्य उपस्थित नहीं होता है, जो रक्त जमने के लिए आवश्यक है—It is said by Blair Bell to contain a much larger proportion of calcium salts than circulating blood, and under normal conditions no fibrin ferment. *Ten Teacher's midwifery*. बेक और हाइट हाउस नामक शास्त्रज्ञों का कथन है कि गर्भाशय में रक्त जमता है, परन्तु गर्भाशयग्रन्थियों से फ़ैब्रोलायसीन नामक द्रव्य उत्सर्गित होता है, जो जमे हुए रक्त को फिर से तरल बनाता है—While the solution of the clot, he believes, is brought about by a fibrolysin contained in the secretion of the uterine glands. *Ibid.* उपपत्ति कुछ भी हो, आर्तवरक्त का न जमना उसकी प्रशस्तता का एक लक्षण है । जब आर्तव में कुछ खराबी होती है, तब आर्तवशोणित जमता है याने छिड़केदार या

गाँठदार बनता है और इसी का निदोष पीछे अभिप्रेत करके सूत्र ४ में किया गया है—Normal menstrual blood does not clot. It is only under abnormal conditions that clots form during menstruation. *Ibid.* (७) यद्वासे न विरजयेत्—जो आर्तवशोणित उससे आर्द्र या शुष्क सफेद कपड़े को नीम गरम पानी से धोने पर विवर्ण नहीं करता है, वह प्रशस्त होता है । इसका मतलब यह है कि आर्तवशोणित से मलिन वस्त्र गरम पानी से धोने पर निर्मल याने वेदाग होना चाहिये । जीवशोणित याने शरीरधारक शोणित (Normal blood) की यही परीक्षा आयुर्वेद में वर्णन की गई है—उभयत्र च जीवरक्तपित्तयोर्ज्ञानार्थं रक्तं शुक्लं पित्तु प्लोतं वा क्षिपेत् । तस्मिन्ना-वने कोष्णाम्बुत्तलितशुद्धं जीवरक्तम् । (अष्टांगसंग्रह) । शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिया । प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्तं, शुद्धं तु शोणितं ॥ (चरक और अष्टांगहृदय) । पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी ऐसा ही मत है—It is almost impossible to state whether stains have been caused by ordinary or menstrual blood. *Manual of Medical jurisprudence by Atchison Robertson*. अर्थात् वस्त्र धोने पर उस पर के रक्त के दाग अच्छी तरह न मिटना रक्त की खराबी का लक्षण माना गया है ।

तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनुतावपि ।

असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥१८॥

(रक्तप्रदर—) (पूर्वोक्त आर्तव) रक्त लक्षण से भिन्न, अत्यधिक मात्रा में (और) ऋतुकाल से अतिरिक्त काल में प्रवृत्त वही आर्तव इसलिये असृग्दर (वैद्य) जान ले ॥१८॥

वक्तव्य—अतिप्रसङ्गेन—ऊपर आर्तवशोणितस्त्राव का चार छटाँक तक जो अधिक से अधिक परिमाण बतलाया है, उससे भी अधिक मात्रा में । अनुत्तु—अनार्तव काल । ऊपर आर्तवशोणितस्त्राव का सात रोज तक जो अधिक से अधिक काल बतलाया है, वह ऋतुकाल कहलाता है । उससे अधिक याने सात रोज के पश्चात् का काल अनुत्तु कहलाता है । यहाँ ऋतुकाल से केवल स्वाभाविक आर्तवदर्शन काल से मतलब है । गर्भधारणा की दृष्टि से 'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः' (सुश्रुत, शा० १) इत्यादि जो ऋतुकाल वर्णन किया है, वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है । उस ऋतुकाल के सम्बन्ध में वहाँ अधिक विवरण किया जायगा । अनुतावपि—पाँच सात दिन तक जो आर्तवस्त्राव का स्वाभाविक काल है, उसमें तथा उसके पश्चात् का जो अनार्तवकाल है उसमें भी कुछ दिनों तक प्रवृत्त अर्थात् दीर्घकालानुबन्धी । बल्हणाचार्य का 'अनुतावल्पमप्यदीर्घकालमपि प्रवृत्तमसृग्दरं विजानीयात्' यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि असृग्दर में आर्तवशोणित का प्रमाणाधिक्य एक मुख्य लक्षण है—रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः । रजोवशाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ॥ यस्मादिवधयत्याशु रसभावादिमानता । तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतच्चन्द्रविशारदाः ॥ (चरक, चि० ३०) । प्रमाण से अधिक रक्तस्त्राव हो और काल अल्प हो, यह दोनों

१ विजानीयादुक्तं लक्षणमधिकम् ।

असङ्गत है—'प्रदीयते इति विलारितो मवति' इति प्रदर ।
 (चक्रपाणिदत्त) । इसलिये 'अनुतावपि' का 'अल्पमध्यमि'ं
 कालमपि प्रवृत्तम्' अर्थ करके अशुद्धर से नष्टावय का मतलब
 निकालना अत्युक्तियुक्त है । असुद्धर—इसको रक्तप्रदर या
 प्रदर कहते हैं—रक्त प्रदीयते यस्मात् प्रदरस्तेन स स्मृतः ।
 (चरक) । अशुद्धर शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं—रक्त
 प्रमाणमुत्सव्य इति रक्त प्रमाणाधिक कृत्वा रक्तमादाय तद्वजो
 यस्मादिवर्धयति पवनरसरमादयप्रभोभेत्ककुरुषवाद्यं व्याधिरसुद्धर
 इत्युच्यते । असुद्धर्यते परिमप्रिति असुद्धर' इत्येवापि निश्चितव
 नेदव्या । (चक्रपाणिदत्त, चरकटीका) । असुद्धर का
 पाश्चात्य परिभाषा में विचार—इस श्लोक में असुद्धर के तीन
 लक्षण वर्णन किये हैं—(१) रक्त-प्रासुर्यं, (२) वीर्यकाल
 प्रवृत्ति और (३) स्वाभाविक आर्तव के रक्त से असुद्धर
 के रक्त की भिन्नता । पाश्चात्य परिभाषा में आर्तव रक्त का
 विशेष विचार नहीं किया जाता है । काल और परिमाण का
 विचार होता है, और उसके अनुसार दो स्वतन्त्र नाम
 रक्ते मये हैं । अर्थात् अशुद्धर या प्रदर के लिये पाश्चात्य
 परिभाषा में एक नाम नहीं है । जब रक्तछाव अधिक
 परिमाण में होता है, परन्तु आर्तवकाल स्वाभाविक याने
 अधिक से अधिक सात रोज तक ही रहता है, उसमें
 अधिकता नहीं होती तब उसको रजप्रदर (Men-
 orrhagia) कहते हैं । जब रक्तछाव शून्यकाल में होकर
 अनार्तवकाल में भी होता है, तब उसको गर्भाशयप्रदर
 मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं । इस तरह यद्यपि
 दो अवस्थाओं के लिये दो पृथक् शब्द प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि
 आयुर्वेद के अनुसार दोनों का विचार एक साथ ही किया
 जाता है, क्योंकि दोनों अवस्थाएँ बहुत सम्बन्धित हैं । जो
 कारण छाव की अधिकता उत्पन्न करते हैं, वे ही
 भागे जाकर छाव के काल में वृद्धि और अनियमितता
 उत्पन्न करते हैं—Menorrhagia passes insensibly
 into metrorrhagia and it is therefore convenient
 to consider the two conditions together
 Many diseases lead at first to menorrhagia. Bland-
 Sutton and Giles अ यद्वक्तव्युपात्—'शशाङ्कमतिम'
 'निगिरिद'राति' इत्यादिनामप्रतिगदिनात् प्रसोक्तद
 लपरा' 'य' यादक लक्षणम् । अर्थात् आर्तव के लक्षणों से युक्त,
 शरीर, आंतिक—केनिन रज रूप व रवाव चारवनेर व । किन्तु
 केररमुदाय सरन बाध मोक्षम् ॥ ऐस्तिक—सनीनमयथा पीनमत्यु
 प्पमसितं तथा । निना शक्त इवति मुद्रमुद्रात्प्रादिम् ॥ शैथिल्य—
 विभिन्न वायुवर्ष व प्र श्रिष व शीतम् । तवायुक्त केपन व
 या मन्त्रकरम् ॥ (चरक, चि० १०) । असुद्धर के हेतु—
 शिष्यव्याख्यान—'अपेन्द्र' ॥ वाशरिभिमुनाथ । यानाभयोदा-
 रिदलभ्य आरामिपाशक्यसनादिषा व (मायवनिदान) ।
 शिष्यव्याख्यान—'गुण, विदाही, कृष्ट परस्पर
 विरोधी पदार्थों का अतिसेवन, पहिले सेवन किये हुए
 आहार का पचन होने के पूर्व दूसरा आहार सेवन करना,
 विषय मद्यों का अतिसेवन इत्यादि कारणों से वायु इतना
 होकर आंशुर्वाद्भ्रष्ट हो जाती है—एतद्वै देवते माते
 लरान्भ्रष्टविति व । कृष्णव विदाहीनि विष्णानि विदिगनि

व ॥ प्राण्यौरकानि मेवादि कृष्णं पायसं दधि । शुक्लमस्तु
 सुराग्नी भक्षन्त्या इतिोऽग्निन ॥ (चरक) । पाश्चात्य वैद्यक
 में भी साधन्य का अतिसेवन इस रोग का कारण
 माना जाता है—Over indulgence in food and alco-
 holic drinks Bland Sutton and Ciles गर्भप्रदान—
 गर्भलाव या गर्भपात । परन्तु इससे गर्भप्रसूति का भी
 बोध हो सकता है । गर्भ यदि पूर्णतया गर्भाशय से बाहर
 चला जाय और भीतर अथवा या अन्य क्लृप्त भी न रहे तो
 गर्भाशय धीरे धीरे अपनी पूर्ववस्था को प्राप्त होने लगता
 है । इस अवस्था को गर्भाशय की ह्वसवृत्ति (Involution of
 the uterus) कहते हैं । १० वें अध्याय के १५ वें सूत्र का
 पक्ष्य देखो । यदि गर्भ निकल जाने के पश्चात् गर्भा-
 शय में गर्भ का या अथवा का कुछ भाग रह जाय तो उसकी
 संवृत्ति ठीक प्रकार से न होकर वह कुछ मोटा और पिलपिला
 रह जाता है और रक्तधिन्य के कारण उससे रक्तछाव
 अधिक होता है । इस अवस्था को अपसवृत्ति (Sabinvo-
 lution) कहते हैं । यह अवस्था स्वाभाविक प्रसूति की
 अपेक्षा गर्भपात के बाद अधिक हुआ करती है । इसलिये
 गर्भपात इस रोग का जो कारण बतलाया है, वह बिल्कुल
 ठीक है—A portion of placenta or of membrane
 may remain attached to the uterine wall, both
 after full time delivery and after abortion It is
 most frequent in the latter case Bland Sutton and
 Giles अतिमैथुन—अतिमैथुन से स्त्रियों के जननेन्द्रिय
 की ओर रक्तप्रवाह अधिकता से होता है, जिससे आर्तव
 छाव भी अधिक हो जाता है । यह अवस्था विशेष करके
 विवाह के पश्चात् शुरू शुरू में जब मैथुन अधिक सेवन
 किया जाता है तब होती है—The effect of sexual
 intercourse upon the menstrual flow is difficult
 to determine, but cases do occur in which excess-
 ive menstruation has been cured by absten-
 sion and we can not but believe that excess in this
 direction must, therefore have been the cause
 Such cases occur chiefly in the newly married.
 There is no doubt that sexual excess often in
 the first months of married life is a reflex cause
 of uterine congestion and may cause metrorrha-
 gia as well as menorrhagia Different et iog-
 nous by Herbert French सानारप—सवारी करना,
 चलना फिरना । जैसे—उंट, गधा, घोड़ा साहूकल इत्यादि
 वाहनों पर सवारी करना, चलना फिरना, प्रवास करना
 हीबना इत्यादि का अतिसेवन । [इवर्ट मैन्च अपनी पुस्तक
 में Dancing Hunting Gymnastics Bicycle
 असुद्धर के कारण बताते हैं । य कारण बहुत साधारण
 हैं हैं । 'गैर—यह मानसिक विकार का उपलक्षण है ।
 इसमें भ्रान्ति, काम, मोह, विद्या इत्यादि मानसिक उप-
 भाओं का बोध होता है । मनोरोगसमाप्त' 'मोह' 'वृद्ध
 रवने' इत्यादि चरक में प्रदर के कारण वर्णन किये हैं ।
 इवर्ट मैन्च की उपर्युक्त पुस्तक में Fright Violent
 emotion इसके कारण निर्दिष्ट किये हैं । यदि ये मानसिक
 विकार अत्यधिक हो तो एक भाव बार मानिक छाव अति

ग्रा में होता है; परंतु यदि स्त्री इन विकारों से सदैव पीड़ित हो तो इन विकारों से शरीर के अन्तःस्रावों (Internal secretions) में अधिकता होकर रक्तनिपीड (Blood pressure) भी सदा के लिए बढ़ जाता है (प्रथमखण्ड पृ ३०६ देखो) और रक्तनिपीडाधिक्य से असुग्दर होता है। अतिक्रमणात्—अहृदापतियोगेन क्षीणधातुत्वात् । (मधुमेहा) । इससे खाद्य पेय द्रव्यों में योग्य और पर्याप्त द्रव्य न मिलने के कारण उत्पन्न हुए रोगों का समावेश कर सकते हैं; जैसे रक्त की जमने की शक्ति कम होना, प्रशीताद (Scurvy), नीलोह (Purpura) इत्यादि। भागिंधातात्—गर्भाशय के ऊपर बोल पड़ना या अभिघात होना; जैसे मलावरोध, कमर पर कपड़ा कसके बांधना या पहनना, नाचना, कूदना या बाहर से कोई आघात होना। इन कारणों के अतिरिक्त निम्न कारण भी असुग्दर उत्पन्न करते हैं। (१) पुण्ड्रपुण्ड्रा, धान्त्रिकज्वर, मसूरिका, विपमज्वर, आमवात इत्यादि संक्रामक रोग, वक्रहातुदर, हृत्कपाटरोग इत्यादि। (२) गर्भाशय के विकार—कैंसर, सांकोका इत्यादि दुष्टार्तुद; अर्श (Polypus), पेश्यर्तुद (Myoma) इत्यादि सौम्यार्तुद; स्थानभ्रष्टता (Displacements); और गर्भाशय का नवीन या पुराना प्रकोप (Endometriosis), गर्भाशयगत रक्ताधिक्य (Congestion), गर्भाशय के लचकीले मांस-तन्तुओं की शण जैसे कठिन तन्तुओं में परिघुत्ति (Fibrosis Uteri), रक्तगुग्म (Fibroids) इत्यादि।

असुग्दरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः ॥ १६ ॥

तस्यातिवृत्तौ दीर्घत्वं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृपा ।

दाहः प्रलापः पाण्डुरत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥२०॥

(असुग्दर के शारीरिक लक्षण—) सर्व असुग्दर अंग-मर्द और वेदनायुक्त होते हैं ॥ १६ ॥ उनकी अतिप्रवृत्ति होने में कमजोरी, भ्रम (चकर आना), मूर्च्छा (कच्चिद चेहोश होना), तम (आंखों के सामने अंधेरा आना), प्यास, दाह (आंखों, हाथ पैरों तथा शरीर में जलन मालूम होना), प्रलाप, पाण्डुरत्व (शरीर का वर्ण पीका पड़ना), तन्द्रा और वातज रोग (उत्पन्न होते हैं) ॥ २० ॥

वक्तव्य—सर्वः—ऊपर असुग्दर के अनेक हेतु वर्णन किये हैं। प्रत्येक हेतु से उत्पन्न हुए असुग्दर में सावकाल, सावमात्रा और साववर्ण में कुछ न कुछ फर्क हो सकता है। तब भी इन विविध कारणोत्पन्न सम्पूर्ण असुग्दरों में। 'नाती एकवचनम्' इस दृष्टि से यहाँ एकवचन का प्रयोग किया गया है। अङ्गमर्दः—शरीर के विविध अङ्गों में टूटने की सी पीड़ा होना। सवेदनः—कटि, वङ्गण, ऊरु इत्यादि गर्भाशय समीप अङ्गों में वेदना होना—कटिवद्वार हृत्पाश्वरूपश्रोणिषु मार्गः। क्रूरते वेदना तीव्रात्। (चरक)। तस्य—श्रातवशोऽपितस्य। दाह—यह रक्तचयजन्य दाह है। इसके लक्षण—धातुक्षयोको यो दाहस्तेन मूर्च्छां तृड्ढीतिः। चाभस्वरः क्रियाहीनः स सीदद् भ्रमपीडितः ॥ यहाँ धातुक्षय से रक्तचय का ही विशेष बोध है—धातुक्षयोको रक्तचयोक्तः। (लक्षण)। प्रलाप—विलाप या रंज करना। कमजोरी तथा अन्य लक्षणों से पीड़ित होने के कारण रोगी जरा सा परिश्रम करने पर भी आह भरता है। रोगाश्च वातजाः—

कम्प, कार्म्य, निद्रानाश, शिरःशूल तथा अन्य स्थान के शूल अनवस्थितचित्तत्व, स्वभाव का चिद्विचिदापन, मलावरोध, कर्णनाद इत्यादि।

इस श्लोक में असुग्दर के रक्तस्राव के अतिरिक्त अन्य लक्षण वर्णन किये हैं। इनमें से कुछ लक्षण गर्भाशयगत विकारजन्य होते हैं और अधिकांश लक्षण रक्तस्रावाधिक्य-जन्य होते हैं। जब रक्तस्राव अधिक होता है, तब शरीर में रक्त की कमी हो जाती है, जिससे शरीर के किसी भी अङ्ग को या धातु को पर्याप्त खाद्य नहीं मिलता। पेशियों में रक्त की कमी होने से बलक्षय होता है। रक्ता में कमी होने से पाण्डुता (Pallor) आ जाती है। आंखों में कमी होने से भ्रम, मूर्च्छा, तमोदर्शन इत्यादि विकार होते हैं। मस्तिष्क तथा नाड़ियों में कमी होने से अनवस्थितचित्तत्व, कम्प, कर्णनाद, निद्रानाश, स्वभाव में फर्क, शिरःशूल तथा अन्य स्थान के शूल इत्यादि लक्षण होते हैं।

तरुण्या हितसेविन्यास्तमलोपद्रवं भिषक ।

रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत् ॥ २१ ॥

(असुग्दरचिकित्सा)—(आहार विहार इत्यादि में) हितकर सेवन करने वाली तरुण स्त्री के अल्प उपद्रवयुक्त असुग्दर की वेध रक्तपित्त की विधि से अनुरूप चिकित्सा करे ॥ २१ ॥

वक्तव्य—तरुणी—इससे बलसर्वायुत्वं और सर्वोपपन्नत्वं का बोध होता है। यह सुखसाध्यता का एक लक्षण है। हितसेविनी—जिसको पहिले ही से अहितकर आहार-विहार सेवन करने की आदत न हो, तथा जो वैधवाव्यानुसार हितकर आहार-विहार सेवन करने में दत्तचित्त हो। रोगी का यह एक प्रशस्त गुण है तथा सुखसाध्यता का लक्षण है। अशोपद्रव—इससे उपद्रवों की संख्या, काल और तीव्रता इनमें अल्पता अभिप्रेत है; अर्थात् जिस असुग्दर में उपद्रव थोड़े हों, नये हों और सौम्य हों, ऐसा। यह कृच्छ्रसाध्यता का लक्षण है—गभिणी-वृद्धशालानां नात्युपद्रवपीडितम्। (चरक)। इस प्रथम श्लोकार्ध का इसलिये मतबल यह है कि यदि रोगी में सुखसाध्यता या कृच्छ्रसाध्यता के लक्षण उपस्थित हों तो वेध उसकी चिकित्सा करे, अन्यथा न करे—न चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वन्ति भिषक् चिकित्सात्। (माघव-निदान)। शश्वत्सवत्यथास्त्रां तृष्णादाऽज्वरान्विताम्। वीणार्का दुर्बलां च तामसाध्यं विवर्जयेत् ॥ (चरक)। रक्तपित्तविधानेन—उत्तरस्थान में रक्तपित्त की चिकित्सा जिस प्रकार वर्णन की गई है, उसके अनुसार—विधिश्वासादरेऽप्येव स्त्रीणां कार्या विज्ञानता। त्रयाणामपि दोषाणां शोणितेऽपि च सर्वशः। लिङ्गान्यालोच्य कर्तव्यं चिकित्सितमनन्वरम् ॥ (उत्तर, अ० ४९)। योनीनां वातलाघ्यानां यदुक्तमिह भेषजम्। चतुर्णां प्रदराणां च तत्सर्वं कारयेद्भिषक् ॥ रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणित-पित्तिनाम्। रक्ताशंसां च यत्प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत् ॥ रक्तयोन्या-मसुग्दरैरनुबन्धं समीक्ष्य च। ततः कुर्वाथयादोषं रक्तस्यापन-भीषथम् ॥ (चरक)। असुग्दर की चिकित्सा—(१) साधारण चिकित्सा—मद्य-मांस तथा अन्य उष्ण, कटु, खाद्य द्रव्यों को वर्ज्य करके हितकर आहार सेवन करना, चलना,

पिरना, दौड़ना, सवारी करना इत्यादि को छोड़कर शारीरिक तथा शोक, शोषादि को छोड़कर मानसिक आराम लेना, मैथुन वर्ण करना, मासिक धर्म के पहिले विरचन से कोष्ठशुद्धि सचेप में निदान परिवर्जन । (२) भेषधि चिकित्सा—इसमें विरोध करके रक्तस्थापक याने रक्तप्राय रोकने वाली (Haemostatic) शोषधियों का उपयोग, जैसे—पुष्पायुग पूर्ण, कुटजाएकालेह, अशोकपत्र, अशोका रिष्ट, कामधुधारस, प्रदरारि, प्रदरान्तक, बोलबद्ध इत्यादि शोषधियों का उपयोग करना । पाश्चात्य वैद्यक में गर्भाशय गत रक्तस्थापन के लिए एर्गोट (Ergot) का उपयोग विरोधतया किया जाता है । इसके सिवाय स्टिप्टीसिन (Styptoin), हैड्रास्टिस (Hydrastis) का भी उपयोग होता है । शरीर में जब रक्तप्राय के कारण रक्त की कमी हो जाती है, तब छोह, यकृत (Liver) इत्यादि शोणित पदक (Haematinic) शोषधियों का उपयोग करना चाहिए—यकृत मधुमेदाजाम विषसमायुक्त । (सु०, रक्त पिप्पलचिकित्सा) । (३) स्थानिक चिकित्सा—यदि उपर्युक्त दो प्रकार की चिकित्सा से फायदा न हो या स्थानिक विकृति के लक्षण पहिले से ही माध्यम होते हों तो गर्भाशय और योनि का परीक्षण करके अर्ध, अर्ध, प्रकोप या जो कुछ भी अन्य विकार हों, उनकी चिकित्सा करनी चाहिए ।

दोपैराचूतमार्गार्थावार्तव नश्यति स्त्रियाः ।
तत्र मस्त्यकुलरयाम्लतिलसामपसुरा हिताः ।
पाने मूत्रमुद्विच्यद्यद्यधिकं च भोजने ॥ २२ ॥

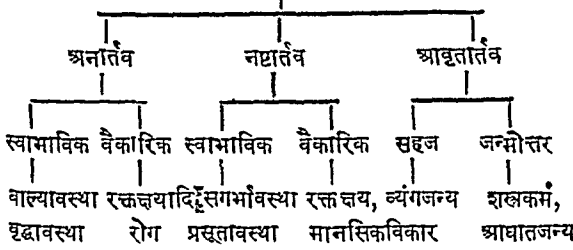
(महातव—) दोषों से मार्ग आहत होने के कारण स्त्रियों का आतव नष्ट होता है । उसमें भोजन के और पीने के लिए मद्धुडी, इच्छुडी, काजिक (या अन्य लष्टे परार्थ), तिल, उबड़, सुरा, गोमूत्र, उद्विष्ट, दही और शुक्र (सिरका) हितकर हैं ॥२२॥

पक्षय—दोष—अथ दोषा कृते वायुवातकफे च, न ह्यपि, पिप्पलुडी तस्याप्रशुद्धिद्वयोरक्तत्वात्, कुनारविद्या कहरद्वयत्वात्कारणात् । (ब्रह्मण) । अर्थात् इस रोग में वायुवृद्धि और पित्तपच होता है । माहर्गामार्ग—गर्भाशय में आतव उत्पन्न होने का दो रक्षामाविक मार्ग याने प्रम । Physiological process) है, उसमें स्त्रियों के द्वारा बाधा उत्पन्न होने के कारण । नवपति—छी में योग्य रूप में कल्पक हुआ और प्रतिमास होने वाला आतव नष्ट होता है अर्थात् उसकी उत्पत्ति रुक जाती है । मूत्र—गोमूत्र—यूने गेमुषमादेव विदेशी वन मेरि । 'अनुकम्बकं मूत्रादेव इमवोरि मूत्राणि प्रशोधयि, यत्र ह्य कण्डरिष्य शोणुव निरदालन नदरेदि निदासय' । इस प्रकार पृथिव्य मग करण मूत्रविचार की अपनी टीका (सु०, अ० ४२) में लिखते हैं । यहाँ गोमूत्र प्रश्न करने का कारण यह है कि गो का मूत्र तीक्ष्ण होने के कारण यह क्षीण बालक का हान्य करने लिये को बहाना है—गेमूत्रं ह्य गोमूत्रेण तिलं वदतामिद । (सुश्रुत) । अर्थात् यहाँ गोमूत्र न ह्य युगं विवर्ते । रिष्टावर्धे श्रियो वक्ष्ये शोषात् पुनः सता ॥ वदन्—आधा पाणी बालक वनाया हुआ मदा—प्रशोधितारिष्ट । (भाष्यकार) । अर्थात् अतः कृते विदेव विष्ट—आतववर्धन (Menstruation) ।

और आतववर्धन (Amenorrhoea) ये दोनों स्त्रियों के शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं । परन्तु जब ये दोनों अपने उचित समय पर नहीं होते, तब वैकारिक हो जाते हैं । यहाँ प्रथम श्लोकार्थ में आतववर्धन का वर्णन किया है । आतववर्धन के तीन मुख्य प्रकार होते हैं । (१) अनातव (Primary amenorrhoea)—स्त्रियों में बारह वर्ष की आयु से पचास वर्ष की आयु तक प्रतिमास आतववर्धन होता रहता है—उद्विष्ट द्वारशाले वसंमामसक पुन नराकशरीरार्थां यदि पश्चात् चयम् ॥ (सुश्रुत) । अर्थात् बारह साल के पूर्व और पचास साल के बाद जो आतव वर्धन रहता है, वह स्वाभाविक (Physiological) होता है । कभी कभी आतववर्धन के योग्य काल के कई बरसों के बाद आतववर्धन होता है । इसे कालातीत या विलम्बित (Delayed) अनातव कहते हैं । यह अवस्था प्रायः रक्तप्राय, राजपक्षमा तथा अन्य शरीरशोषक रोगों के कारण, या गर्भाशय तथा बीजकोश (Ovary) विलम्ब से परिपक्व होने के कारण उत्पन्न होती है । यदि स्त्री विवाहित हो तो आतववर्धन होने के पूर्व भी गर्भधारणा हो सकती है । गर्भधारणा के लिए आतववर्धन की कोई आवश्यकता नहीं होती, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए—उद्विष्टशरीरि (कतु) अस्तौत्यरे । (अशोकासंग्रह) । (२) अर्थात् अर्ध व सूत्र देखो । परन्तु योद्धे दिनों में गर्भधारणा के अन्य लक्षण मिलने से उस स्थिति का निर्णय हो जाता है । कभी कभी गर्भाशय तथा बीजकोश दोनों ही सदा के लिए अपरिपक्व रह जाते हैं, जिससे स्त्री में आतववर्धन कदापि नहीं होता । इस अवस्था को स्थायी (Permanent) अनातव कहते हैं । विलम्बित और स्थायी प्रकार वैकारिक हैं । (३) महातव—इससे पीडित स्त्रियों में इसके पूर्व बराबर आतव वर्धन होता रहता है । इसको औपचारिक (Secondary) कहते हैं । सगर्भावस्था और प्रसूतावस्था इसके स्वाभाविक कारण हैं—अतः शरीरवर्धनमास्त्यवसमप्रामाणिकार—इति गर्भे पशविते ह्यापि भवति । (चरक) । परन्तु इन अवस्थाओं में भी कभी कभी रक्तप्राय होता है । गर्भशाप में उसकी शान्त और नैमित्तिक कहते हैं—पशवः प्रयत्नस्य मेशोद्भवत्वात्—प्रनाशु यत् । उदानमिति प्रोक्त मेशोद्भवमुद्भवम् ॥ प्रप्रथि ह्य वा गरी रजानो विद्ये यत् । आशरी रजस प्रोक्ष माह् प्रनेविषत् क्व ॥ न ह्य प्रेविषितेन रजस्रमा को ररवता ॥ रक्तपच, राजपक्षमा, मयुमेह, दुहातुर्ध, शरीरपचकर अन्य विकार, सर्शूलगता, मस्तिकशोथ, चित्तोद्भेग (Melancholia), उन्माद तथा अन्य मानसिक विकार इसके वैकारिक कारण हैं । यहाँ प्रथम श्लोकार्थ में इसी वैकारिक महातव का संक्षिप्त वर्णन किया है । वातकृच्छ्रि और पित्तपच महार्ग का जो कारण बतलाया है, उसका कुछ स्पष्टीकरण उपर्युक्त शब्दवाच्य कार्यों को देकर हो सकता है । (४) अर्थात् अर्ध—इसमें योग्य रूप में आतववर्धन प्राप्त हो जाता है, परन्तु बारह बने का मार्ग अवरुद्ध होने के कारण आतववर्धन शीत हो जाने आहत या प्रसूत रहता है । इसलिये इस प्रकार को आहूतवर्धन (Cryptomenorrhoea) कहते हैं । यह अवशेष गर्भाशयमीमा में विद्य न होना (Imperforate cervix) को निर्गर्भाशय (Absence of vagina), योनि-

द्वार के पदों में (Hymen) छिद्र न होना इत्यादि सहज व्यंगों के कारण होता है; और सहज व्यंगजन्य आघातार्तव अधिक देखने में आता है। कभी कभी शस्त्रकर्म या आघात के कारण गर्भाशयमुख या योनिमार्ग बंद हो जाता है; परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत ही कम देखने में आते हैं। आघातार्तव में मासिक धर्म के समय सिरदर्द, श्रोणी में पीड़ा, वैचैनी इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु योनिद्वार से शोणितस्राव नहीं होता। इसलिए आर्तवादर्शन में आघातार्तव की संभावना ध्यान में रखकर यदि आवश्यक हो तो रोगी के जननेन्द्रिय का परीक्षण जरूर करना चाहिए। अब सुखावबोध के लिए आर्तवादर्शन का कोष्ठक नीचे दिया जाता है।

आर्तवादर्शन



चिकित्सा—इस बात का जरूर ध्यान रखना चाहिए कि आर्तवादर्शन रोग नहीं है, लक्षण है। इसलिए उसकी चिकित्सा कारणानुसार करनी चाहिए। स्वाभाविक अनार्तव और नष्टार्तव की चिकित्सा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैकारिक अनार्तव, जो गर्भाशयादि की स्थायी अपरिपक्वता से उत्पन्न होता है, अचिकित्स्य है। वैकारिक नष्टार्तव तथा रक्तक्षयादिजनित अनार्तव कारणानुरूप चिकित्सा करने पर प्रायः साध्य होता है। आघातार्तव कुछ असाध्य और कुछ शस्त्रसाध्य होते हैं। उनमें ओपधि सेवन से कुछ भी फायदा नहीं होता। सर्दी से बचना, गरम कपड़े पहनना, पौष्टिक पर्याप्त और हलका आहार सेवन करना, स्वच्छ हवा में हलका-सा व्यायाम करना, जल्दी सोना और अधिक निद्रा लेना, कोष्ठशुद्धि रखना तथा कारणानुसार ओपधि सेवन (जैसे, रक्तक्षय में लोह, संखिया, कुण्डला इत्यादि) यह आर्तवादर्शन की संक्षिप्त चिकित्सा है।

जीर्णं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ।
तथाऽप्यत्र विधातव्यं विधानं नष्टरक्तवत् ॥ २३ ॥

(स्त्रीणार्तव—) लक्षण और चिकित्सा के साथ स्त्रीणार्तव पहिले कहा गया है। तो भी स्त्रीणार्तव में नष्टार्तव के समान विधि (आवरण) करनी चाहिए ॥ २३ ॥

वक्तव्य—स्त्रीणं रक्तम्—स्त्रीणार्तव । इसको आलिगोमेनोहिआ (Oligomenorrhoea) कहते हैं। प्राक्—दोषधातुमलस्यष्टुद्विविज्ञानीय नामक सूत्रस्थान के १५ वें अध्याय में (प्रथमखण्ड पृष्ठ ९१ देखो) । सलक्षणचिकित्सितम्—आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च । तत्र संशोधनमात्रेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः । नष्टरक्तवत्—नष्टार्तव के समान । स्त्रीणार्तव और नष्टार्तव वास्तव में दो स्वतन्त्र लक्षण नहीं हैं, एक ही लक्षण के तरतमात्मक दो भेद हैं । जिन विकारों से नष्टार्तव उत्पन्न होता है,

उनमें आर्तव पूर्णतया बंद होने के पूर्व कुछ महीनों तक अल्पराशि में और अनियमित काल में आया करता है; तथा जिन विकारों से स्त्रीणार्तव उत्पन्न होता है, वे ही विकार अधिक तीव्र और गंभीर होने पर नष्टार्तव उत्पन्न कर सकते हैं । यह कथन रक्तक्षयादि शरीरशोषक और दौर्बल्यकर विकारों के लिए विशेष लागू हैं, और वैकारिक नष्टार्तव के ये कारण स्त्रीणार्तव के भी प्रायिक कारण होते हैं । इसलिए नष्टार्तव के समान स्त्रीणार्तव की चिकित्सा करने के लिए जो लिखा है, वह कथन रोगसंप्राप्ति की दृष्टि से ठीक है—The mode onset of amenorrhoea due to anaemia is different; there is a history of a gradual diminution in quantity of the menstrual flow which becomes very scanty before disappearing altogether; in addition, there is often history of irregularity extending over several months or years. Bland-Sutton and Giles, Diseases of women.

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धार्तवा च ॥ २४ ॥

इस प्रकार दोषविरहित शुक्रयुक्त (पुरुष) और शुद्ध आर्तवयुक्त (स्त्री होती है) ॥ २४ ॥

वक्तव्य—एवम्—ऊपर 'स्फटिकाभं द्रवम्' इत्यादि लक्षणयुक्त शुक्रवान् पुरुष अदुष्टशुक्र और 'शशासकप्रतिमम्' इत्यादि लक्षणयुक्त आर्तव वाली स्त्री शुद्धार्तवा होती है; किंवा यदि दुष्टशुक्र पुरुष और अशुद्धार्तवा स्त्री हो तो ऊपर दोषानुसार जो चिकित्सा वर्णन की गई है, उसका अनुशीलन करने से वे अदुष्टशुक्र और शुद्धार्तव हो जाते हैं ।

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवा-स्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावन-हसनकथनातिशब्दश्रवणालेखनानिलायासान् परिहरेत् । किं कारणम् ? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद्दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्रयावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद्बधिरः, अल्लेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् ॥ २५ ॥

दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं, ग्रहं च भर्तुः संरक्षेत् । ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासां समलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत् । तत् कस्य हेतोः ? ॥ २६ ॥

पूर्वं पश्येदनुस्नाता यादृशं नरमङ्गना ।

तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥ २७ ॥

(ऋतुमती चर्या—) ऋतुकाल में प्रथम दिन से ही ब्रह्मचारिणी स्त्री दिन में सोना, (आँखों में) अञ्जन डालना, (रोकर) आँसू गिराना, स्नान करना, (चन्दनादि सुगन्धी द्रव्यों का शरीर पर) अनुलेपन करना, (तैल का) अभ्यङ्ग, नखों को काटना, तेजी से दौड़ना, हँसना, (बहुत) बोलना,

अतिदाहों को सुनना, केशप्रसाधन करना, (शोके क्षपाटे की) वायु का सेवन और परिश्रम—इनको छोड़ दे। (उपयुक्त दियास्वप्नादि को छोड़ने का) क्या कारण है? दिन में सोने वाली का गर्भनिद्राण, अज्ञान से अन्धा, सोने से चिह्न इष्टिका, घान और अनुलेपन से दुःस्वरील (चिद्विदे स्वभाव का, तुनुकमिनाज), तैल के अम्यद्र से जुष्टी (स्वचा के रोगों से युक्त), नख काटने से हुनखी, तेजी से दौड़ने से चरल, हँसने से श्यामवर्ण के दाँत, भोष्ट, तासु और निद्रा पाटा, अति बोटने से बहुत बोटने वाला, अतिदाह्य सुनने से यहरा, अवलेखन से गजा, वायु और परिश्रम के सेवन से उन्मत्त होता है। ह्यलिट् इस प्रकार की क्रियाओं को रोग दे ॥ २६ ॥ दर्भशयन पर सोने घाटी, हथेली, श्यापात्र (मिट्टी की घाली) और पत्तल इनमें से एक पर हविष्य भोजन करने वाली (उस छी) को तीन दिन तक पति से निवारण करे। फिर चौथे दिन शुद्ध्यात, नवीन वक्षुष्क, (आमृपणों से तथा पुष्पों की मालाओं से) स प्रलङ्कृत, मंगलाचरण और स्वस्तिवाचन किये हुए (उस छी) को पति को दिखावे। यह किस लिए (किया जाता है)? ॥ २६ ॥ श्वसुस्नता छो निम प्रकार के पुरुर को प्रथम देखती है, उस प्रकार के अपत्य को जन्म देती है। इसलिये भर्ता को दिखावे ॥ २७ ॥

वक्ष्य—शुद्ध—इसका विचार तीसरे अध्याय के पाँचवें सूत्र के वक्ष्य में किया गया है, उसको देखो। श्वानारिण—आहार—विदार में प्रक्षुर्य के नियमों का पालन करने वाली और विशेष करके 'स्वर्ण कीन केति' प्रसूय शुक्ष भाषण्य ह्यादि अष्टविध संयुक्त से पराहमुख। अतिशब्द—अतिदाह उँके, कर्कश, भयावने तथा अन्य प्रकार के कर्णकटुशब्द। इससे अधिक समय तक सुनने का भी अर्थ हो सकता है। भवलेखन—शुद्धनिवादिना के शसमार्जनम्। (दक्षय)। कषी आदि के द्वारा खुरदरा का प्रमाधन करना। कुनख—कुला, काळा और सुदरा नख कुनख कहलाता है—अभिप्रेत ए प्रदुषो यो नखो क्लेशोऽस्तिः एतः। भवेत् कुनख विघात् कुलोत्तमिनि मयिन् ॥ उन्मत्त—इस शब्द से यहाँ पागलपन (Insanity या Madness) अभिप्रेत नहीं है परन्तु शीघ्रकोपी, उग्र, अविचारी या तेजमिनाज, इतना ही इसका अर्थ परिमित है। गर्भ—उपयुक्त कर्म श्वकुल में करने वाली स्त्री उसी काल में गर्भवती होने पर उससे होने वाली स्तान्तन अर्थात् कन्या या पुत्र। हविष्य—इतथे इति यत्। अस्मि में आहुति देने दोष्य अन्न—हविष्य प्राङ्कविशेष्य श्रीशिशानियवगोधूमसुरमाषा मुन्धर (नीवारकारि) बालशरारमहाशकैनाशुष्ठीसीवरीभ्रुगुच्छ कर्तायत्सौषधसामपनसनातिकेकटुमोदरगन्धपयोदधिप्रपायसममुद्रामसप्रमृति वेदिन्धन्म्। हविष्यभिलेखनेनवायोम्वस्यको द्रवमम्यन्वयककुलिरवयुमकनिष्ठावराजमाशकृष्णा० श्वदाकटुनीदयोपोदसी-शशङ्कु(पित्तमोचकाश)शुष्पवीपयिनिहन्वणमाशिवयामीरदधिपुन-पायसदीनां निष्पृच्छि ॥ (विज्ञानेथ, याज्ञवल्क्यस्मृति ११२७०)। वाम्भटाचार्य के अनुसार कोष्ठशोधन और कर्पण के लिए चीरसिद्ध वचाश्च अक्षरमात्रा में स्त्री को दिया जाता है, और तीक्ष्णोष्ण अन्न धर्म्य किया जाता है—वेरय वाक्क सोव कोष्ठशोधनवर्धयत्। पर्वो गणवे हले वा शुभ्रीन मदाचारिण ॥

(अष्टागहृदय, पारि १)। वाक्कं पयसा सिद्धमल्पं कर्णानं भवनीयात्। तीरलोष्णान्पचयानि च वज्रदेव ॥ (अष्टागसंक्र, पारि १)। अल्पमात्रा में भोजन देकर कर्षण करने का उद्देश्य यह मांस होता है कि गर्भधारणा निश्चित से हो जाय। माता की हृदाता या पुष्टता का सम्बन्ध गर्भधारणा के साथ होता है, यह तब आपुनिक विज्ञान को मन्थ हो गया है (३ अध्याय के ९ सूत्र का वक्ष्य देखो), परन्तु यह सयध किस प्रकार से होता है, इसका ठीक ठीक ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। गौ, भंस इत्यादि जानवरों में मनुष्यों के समान मासिक आर्तवप्राव न होकर गर्भधारणा का समय होता है। इस अवस्था को रताना या गरमना (Rat Oestrus) कहते हैं। इस समय में मर्द दिखाने से उनमें गर्भधारणा प्रायः हो जाती है। जब नहीं होती तब फिर से वे गरमाती हैं। उस समय दो तीन दिन खाने पीने को कम देने के पश्चात् यदि मर्द दिखाया जाय तो वे निश्चित से गर्भधारणा करती हैं, यह अनुभव की बात है। याज्ञवल्क्य स्मृति में पामता या कर्षण पुष्टोपादक माना गया है—पच गन्धुं शिव क्षामा मया मूल च वनेवेत्। वृश्य ह्यो वृष पुत्र लक्ष्य अनयेत् पुमान् ॥ ११०० ॥ इस पर विज्ञानेक लिखते हैं—शामग च तस्मिन् काळे रजस्वलावनेनेन भवति भय चेत् भवति तदा कर्णवा चामना पुष्टोत्तरस्ययंमरसाऽस्तिना भोजनादिना। (मिताश्ररा)। उष्ण और तीक्ष्ण अन्न का निये इसलिये किया है कि उनसे गर्भाशय में रक्ताधिय (Coagulation) होकर आर्तवप्राव बरता है। इसके कारण ग का अवस्थान गर्भाशय में नहीं हो सकता। शुद्धलाना-शुद्ध भीर्णोष्णितापगमेन, मन-नरं रनाना (द्वहण)। स्त्री व शुद्धि रनान पर नहीं है, आर्तवप्राव बढ़ होने पर है—नये तनी च समाते विगम जीर्णोष्णिने। नारी भवति सशुद्ध पुसा ससृज्यते तरा ॥ अर्थात् शुद्धि से यहाँ गर्भाशयशुद्धि समझनी चाहिए। आर्तवप्राव बढ़ होने पर बाह्यदोष के दूर करने के लिए ध्यान किया जाता है। अतः शुद्धसा का अर्थ 'जीर्णोष्णितापगमेन-शुद्धा रनानेन वद्वि-शुद्ध खोर' होता है। चतुर्थेऽहनि—चौथे दिन का निर्देश इसलिये किया है कि प्रायः उस दिन साव बंद हो जाता है, परंतु चौथे दिन भी रजोयुक्ता होने वाली बहुत सी स्त्रियाँ होती हैं। इसलिये स्मृतिप्रन्नों में प्रथम चार दिन समागम के लिए निषिद्ध बतलाये हैं—नासाभया चससत्तु निष्पृच्छे काऽशी च ॥ त्रयोदशी च, दोषारणु प्रशस्त दशरात्रयः ॥ (मनुस्मृति ११२७०)। षोडशे निशा—श्रीशर तस्मिन्पुमाद सविशंत्। मन्वा नयेत् पर्वाण्यापक्षतरस्तु वज्रदेव ॥ (याज्ञवल्क्य-स्मृति ११२६)। रजस्युरले साध्वी रनानेन स्त्री रजस्वला। (मनुस्मृति ११२६)। साव्याचारा न तावत्प्राद्रो वावक्ष्यवर्तते। रोजनिष्ठो गम्या स्त्री शुक्रमेषि चैव वि ॥ (पाराशरस्मृति)। रनानं रजस्वलाप्राप्तु चतुर्थेऽहनि शक्यते। गम्या निष्पृच्छे रजसि नानपृच्छे कथचन ॥ (आपस्तम्बस्मृति)। धर्मशास्त्र के अनुसार रजस्वला स्त्री सहवास के लिए जैसे अयोग्य होती है, वैसे ही पृष्टकर्म के लिए भी अयोग्य मानी गई है (उपर परादारस्मृति का वचन और मनु का पाँचवें अध्याय का वचन देखो), मनु के इस वचन पर विज्ञानेक लिखते हैं—रजति निःसर्पाप्रादुरने निष्पृच्छे रजस्वला स्त्री रनानेन

स्त्री देवादिकर्मयोग्या भवति । स्पर्शनादिविषये पुनरनुपस्तेऽपि
सि चतुर्थेऽहनि स्नानाच्छुद्धा भवति । तदुक्तं बृद्धमनुना—
चतुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति व्यावहारिकी' इति । तथा स्मृत्यन्तरम्—
दा भर्तुश्चतुर्थेऽहनि स्नानेन स्त्री रजस्वला । दैवे कर्मणि पित्र्ये च
रजस्वला स्त्री तीन दिन तक अस्पृश्य भी होती है । धर्मशास्त्र
इस आदेश के अनुसार भारतवर्ष में रजस्वला स्त्रियों को
यव गृहकर्मों से दूर रखने का रिवाज है । पाश्चात्य देशों में
भी प्राचीन काल में इस प्रकार का कुछ रिवाज था । इस
रिवाज की जड़ खोजने की इच्छा कुछ पाश्चात्य वैज्ञानिकों
को हुई और अन्वेषण करने पर उनको यह मालूम हुआ
कि रजस्वला स्त्री के रक्त में रजोविष (Menstrual toxin)
होता है जो स्वेद, दूध इत्यादि के द्वारा उत्सर्गित होता है ।
यदि रजस्वला स्त्री के हाथ में फूल दिया जाय तो वह फूल
रजोनिवृत्त स्त्री की हथेली में दिये हुए फूल की अपेक्षा
जल्दी सुरक्षता है । स्त्री के दूध में भी यह विष निकलता
है और बच्चे को कुछ तकलीफ देता है । प्रसूति के पश्चात् दूध
पिलाने के काल में स्त्रियों में स्वाभाविक नष्टांतव होता है ।
उसके अनेक कारणों में यह भी एक स्वाभाविक कारण हो
सकता है । मार्शल अपनी पुस्तक में लिखते हैं—In support
of this contention Machtand Lorbin have recently
obtained evidence of the existence in the blood
of a menstrual toxin, which exudes in the sweat
and other secretions and has deleterious effect on
living plant tissues. Thus they state that a
flower held in the hand of a menstruating women
will wither more rapidly than otherwise, owing
to the action of this toxic substance which is not
present excepting at this stage in the cycle. The
menstrual toxin is believed to affect the milk in
lactating women, children sucking at such times
being liable to slight digestive disturbances *Intro-
duction to sexual Physiology*. इससे यह स्पष्ट है कि
रजस्वला स्त्री को गृहकर्मों से निवृत्त रखने के प्राचीन तत्व
में कुछ तथ्य है और आजकल दूसरों की देखादेखी इस
रिवाज को तोड़ने की जो प्रवृत्ति जारी हो रही है, वह
प्रार्थनीय नहीं है । अतःवासा—नवीन अथवा स्वच्छ
शुभ्र वस्त्र पहनी हुई—शुक्लमाल्याम्बरा । (अष्टांगसंग्रह) ।
समलंकता—सुगन्धी द्रव्य, पुष्प, गहने इत्यादि से विभूषित—
अलङ्कारः फटकादिः पुष्पादिर्वा । अलङ्कियते भूयते शरीरभिरिति
ह्रवा गन्धमाल्यस्यापि अनङ्कारत्वनम् (अरण्यदत्त) । पूर्व पश्ये
इत्युक्ता—प्रतुस्नाता स्त्री में कामेच्छा अधिक होने के कारण
वह पुरुष के साथ समागम करने के लिए बहुत उत्सुक
होती है । उस समय जिस प्रकार के पुरुष को
देखती है, या जिसके रूपगुणादि का चिन्तन करती
है, उस प्रकार की सन्तान उत्पन्न कर सकती है,
यदि उस चिन्तनादुर अवस्था में पुरुष-समागम करने से
उसमें गर्भधारण हो जाय । न केवल चिन्तन परन्तु जिस
प्रकार की संतान चाहती है, उस प्रकार के पुरुष का आहा-
पिदार लेवन करने के लिए चरक में लिखा है—या या च

यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्रांशिवमनुनिशम्य
तांस्ताजनपदान् मनसाऽनुपरिक्रामयेत् । ततो या या येषां येषां
जनपदानां मनुष्याणामनुरुपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेष
जनपदानां मनुष्याणामाहारविशारोवनारपरिच्छदानानुविधत्स्वेति
वाच्या स्यात् । (शारीर ८।१४) । अपनी विशेष इच्छानुसार
संतान उत्पन्न होने के लिए तदनुरूप चिन्तन नितान्त
आवश्यक है । यह चिन्तन तब हो सकता है, जब मन के
सामने बुद्धीन्द्रियों द्वारा तदनुरूप सामग्री रक्की जाय ।
बुद्धीन्द्रियों में से नेत्र के द्वारा मन पर किये हुए संस्कार का
जितना स्थायी परिणाम होता है, उतना दूसरे इन्द्रिय के
द्वारा कृत संस्कार का नहीं होता । इसलिए यहाँ दर्शन का
ही निर्देश किया गया है । इस प्राधान्य के सिवा दर्शन यहाँ
एक उपलक्षण के तौर पर प्रयुक्त हुआ है और उससे स्पर्शन,
श्रवण इत्यादि का बोध होता है । श्रुतिकाल में स्त्री के शरीर
में आर्तव या बीज (Ovum) उत्पन्न होता है और उस
समय स्त्री जिस प्रकार के चिन्तन में मग्न रहती है, उस
प्रकार का परिणाम उसके बीज पर होकर उसी प्रकार की
सन्तान उत्पन्न होती है, यह 'पूर्व पश्येत्' उस अध्वर्यु श्लोकार्थ
का तात्पर्य है । भर्तारं पश्येदतः—उपाध्यायो वैद्यो वा इति
शेषः । अर्थात् उपाध्याय या वैद्य घर के लोगों को इस प्रकार
की सूचना दे कि स्नान होने के पश्चात् स्त्री को सर्वप्रथम
पति का दर्शन करावे । पतिव्रता स्त्री के लिए पति परम-
दैवत होता है—दुःशीलः कामवृत्तो वा धनेर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ (रामायण) । पति के
अनुसार सन्तान होने में एक प्रकार का औचित्य है, इसलिए
स्त्री को उसी का दर्शन प्रथम कराने के लिए लिखा है ।
परन्तु केवल दर्शन से काम नहीं होता है, दर्शन के समय
अनन्य मन होकर जब उसी का चिन्तन किया जाता है, तब
चिन्तानुरूप सन्तान हो सकती है—भर्तारं पश्येदनन्यमनाः ।
तदा हि यादृशमेव पश्यति चिन्तयति वा तादृशं प्रसूत इति ।
(अष्टांगसंग्रह) । अर्थात् जब पतिसदृश सन्तान की इच्छा
हो, तब पतिदर्शन की औपचारिक विधि आवश्यक है—
इच्छन्ती भर्तुमदृशं पुत्रं पश्येत् परः पतिम् (अष्टाङ्गहृदय) ।
पुत्र से यहाँ केवल सन्तान का ही अर्थ होता है—पुत्रशब्देऽ-
पत्यमात्रोपलक्षणाधीऽय । (अरण्यदत्त) । परन्तु पति के समान
पुत्र होने में सार्थकता नहीं है, उत्तम पुत्र होने में सार्थकता
है; इसलिए चरकसंहिता में पतिदर्शन की विधि का निर्देश
नहीं किया है और जिस प्रकार के पुत्र की इच्छा हो, उस
प्रकार के रूपचरितादि का चिन्तन करने के लिए लिखा है
(ऊपर 'या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत' इत्यादि देखो)—
इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ । चिन्तयेतां जनपदास्त्रदा-
चारपरिच्छदौ ॥ (अष्टाङ्गहृदय) । ऊपर सूत्र पच्चीस में प्रतु-
मती स्त्री के विशेष प्रकार के आचारों से विशेष प्रकार के
परिणाम घटलाये गये हैं । इनका आपस में कार्यकारण
संबंध कहां तक सत्य या संभवनीय है, इसका निर्णय करना
बहुत कठिन है । अंध, घंधिर, विकृतदृष्टि, चञ्चल, उन्मत्त
इत्यादि कई प्रकार के बालक जब दिखाई देते हैं तब
इन विविध कार्यों के कुछ कारण जरूर होने चाहिये ।
आयुर्वेदानुसार इनकी उपपत्ति निम्न प्रकार की हो
सकती है । मनुष्यों का बीज (शुक्राणु या आर्तव)

अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी उसमें शरीर के सब अंग-प्रत्यंग व्यवस्थित रूप से प्रतिरूपित होते हैं—
 मनुष्यबीज दि प्रत्यहबीजमागसमुद्रावासार्थं स्वसृष्टप्रत्यङ्गसु-
 दायरूपपुत्रवचनम् । (चक्रपाणिदत्त) । इस बीज में शरीर के जिस अंग का भाग उपपन्न होता है, वह गर्भ का भाग विकृत हो जाता है—परव परव द्रष्टावदवत्य बीज बीजमाग उपपन्नो भवति, तस्य तस्याङ्गावदवत्य विकृतिरवभाषते, नेपथ्यावते चानुपनापात् । (चरक, शो ३) । ऋतुकाल में बीज कट्ट शब्दों की अधिक सुनना, रोना इत्यादि से कुपित हुए क्षेत्रों के कारण यदि बीजगत कान, आँसु इत्यादि के भाग उपपन्न हो जायें तो सम्व है कि उस बीज से उत्पन्न होने वाले बालक में इन अंगों की कुछ विकृति हो सके। अथवा हँसना, रोना, ज्यादा बकबक करना इत्यादि कर्मों के समय स्त्री के मन की वा स्थिति या विचारों की बनावट जिस प्रकार की होती है, उसी का परिणाम ऋतुकाल के समय पूर्ण पक्ष हुए स्त्री के बीज पर होकर उसी के अनुसार उससे उपपन्न हुए बच्चे की आकृति, प्रकृति और स्वभाव इत्यादि बनते हैं। माता पिता का मन स्थिति का परिणाम बालक पर होता है, यह बात सर्वसम्मत है—An impression upon the mother of any kind acts upon the child *Esoteris Anthropology* माता की मन स्थिति का बालक पर परिणाम होने के तीन काल होते हैं। (१) माता के जिस बीज से बालक उत्पन्न होता है, उस बीज के सुपक होने का काल अर्थात् ऋतुकाल। इस काल में स्त्री को भारी सन्तान सर्व प्रकार से उत्तम हो, इस दृष्टि से कैसे रहना चाहिये, इसका यहाँ वर्णन किया गया है। (२) गर्भधारणा से गर्भजन्म के समय तक का याने स्त्री का सर्गमावस्था का काल। इस काल के रहन-सहन का विचार ३ अध्याय के १३ वें सूत्र में और १० वें अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। (३) जन्म के पश्चात् जब तक बालक माता का दूध पीता है, तब तक का काल। इस काल के रहन-सहन का विचार भी १०वें अध्याय के ३३वें सूत्र में किया गया है। इन तीनों कालों में से त्रितीय काल के रहन-सहन का परिणाम प्रथम और तृतीय की अपेक्षा अधिक पथायी होता है, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु प्रथम काल की मन स्थिति का परिणाम बल्कर हो सकता है और इसी सम्प्रत्येक काल की दृष्टि से २३वें सूत्र का अर्थ समझना चाहिये। उपर्युक्त कार्यों में से एक लाभ काम करने पर बालक उस कर्म के लिए बतलाये हुए परिणाम से पीड़ित होना चाहिये, यह कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि बालक की आकृति और प्रकृति की बनावट के असंख्य कारण होते हैं, जिनका अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ है।
 ततो विधानं पुत्रीयमुपाख्यायः समाचरेत् ।
 कर्मान्ते च ग्रमं होनमारमेत विचक्षणः ॥ २८ ॥
 (पुत्रीविक्रि—) पश्चात् उपाध्याय पुत्रीय विधान का सरकार करे। और (पुत्रीय) कर्म के अन्त में बुद्धिमान् (पति) इस (निगमितजिन) ग्रम को प्राग्गम करे ॥ २८ ॥
 बध्म्य—२८—स्त्री का उत्तम और पवित्रान होने के पश्चात् स्त्री के साथ उस रोग पुत्रव का उत्पानपुत्र शनान, दृष्टव्यपरिधान यह कर्म होना

चाहिये—चतुर्वेदेन्येनामुत्साप सशिरस्क र्नागवित्वा शुद्धानि वासांश्चाच्छादयेत् पुत्रव च । (चरक) । पुत्रीविक्रिधानम्—
 पुत्रकामेति यज्ञः । इसका वर्णन चरक शरीर के मध्य अध्याय में निम्न प्रकार से किया है—तत्र क्रतिश्च मापुत्रपर दिवयगारस्य प्राक्प्रवणमुद्रप्रवणं वा प्रदेक्षमसितमोक्ष्य गोम द्याभ्या स्वयङ्किलमुपलिय प्रोक्ष्य चोदकेन वेदीमरितम् स्थापयेत् तर्ष पश्चिमाहृतवक्षसचये श्रेष्ठार्षभे वाऽप्यभिन उपविशेद्यं ब्राह्म प्रभुक्, रागन्यमनुक्लु वैशद्ये चर्नन्वानुदे वा, वैशद्यमनुक्ल रोक्षे नास्ते वा । तत्रोपविष्टः पालाशीभिरेकुडीभिरीडुम्बरीभिर्मां क्षीभिर्वा समिञ्जिरिन्मुपसमापाय कुर्वी परिस्तीर्य परिभिभि परिधाय लाभैः शुद्धाभिश्च गन्धवतीभिः सुमनोभिश्चकितेय तत्र प्रणीयोदपात्रं पक्तिप्रपुत्रमुपसंस्कृत्य सपिराज्यायं यथोक्तशर्वांनाज नैयादीन् समन्ततः स्थापयेत् ॥ ततः पुत्रकामा पश्चिमोर्धो दक्षिणतो ब्राह्मणमुपविश्यान्वातमेन सह भर्ता स्पष्टे पुत्रमाशासना ततस्तस्या भारासानाया क्रतिक् प्रजापतिसिन्निदिश्व योनी तस्या वामपरिपूरणार्थं वाम्यामिति निर्वर्तयेदियुषोभि बहव्यवित्यनयर्वा त्तथैवाज्येन स्थालीवाकमभिपायं त्रिजुहुयापथाप्रायम् गन्धोपमन्त्रितुमुपरात्रं तस्ये दपात्रं सर्वोत्कार्थम् कुर्वन्वेति । तत्र समस्तं कर्मणि पूर्वं दक्षिणपार्श्वमिदरन्ती प्ररक्षिणमभिमनुपारिकामेत् सह भर्ता । ततो ब्राह्मणान् रक्षित् वाचयित्वाऽऽन्येषं प्राशोषात् पूर्वं पुमान् पश्चात् स्त्री, न चोत्सिद्धनवशेषदेव । यह पुत्रीय होम केवल वैश्विर्णिकों के लिए है; शूद्रों के लिए केवल नमस्कार होता है—शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्यात् (देवाभिदिनपुत्रपरित् सिद्धेभ्यः) । (चरक, शारीर ८) । यह पुत्रीय विधि केवल पुत्र के लिए नहीं, दुहिते के लिए भी हो सकती है। यहाँ विधान में पुत्रकाम शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उससे अपत्य अभिप्रेत है। समाचरेत्—संस्कारमाचरेत् । कर्मान्ते—पुत्रकामेति यज्ञ समाप्त होने पर । विचक्षणः—भर्ता जो गर्माधान के आहाराचार विहार इत्यादि के सम्बन्ध में काफी परिचित हो।
 ततोऽपराद्धे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सपिः क्षिण्यः सपिंःश्रीराम्यां शाल्योदत्तं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तलक्षिण्यं तैलमापोत्तरादारं नारी-
 मुपेयाद्वात्रौ सामादिभिरभिविधास्यः; विकल्पैवं चतुर्ध्यां पद्यवामदृश्यां दशभ्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः ॥२॥
 पद्यूत्तरोत्तरं विधादायुरारोग्यमेव च ।
 प्रज्ञासौभाग्यमेवैव्यं यत्नं च दिवसेषु यै ॥३०॥
 अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः; प्रयोदशोभ्रभृतयो निन्द्याः ॥३१॥
 (पुत्रीदियज्ञ के पश्चात् कर्म—) फिर (पुत्रीय यज्ञ के दिन) जो पहर में मास तक ब्रह्मचारी, दृष्टदिग्ध पुरुष हूँ और दूध के साथ मात का भोजन करके मास तक ब्रह्मचारिणी, तैलक्षिण्य, (दो पहर में) तैलमापमूषि आहार सेवन की हुई स्त्री को रात में अनुनयादि से आधासन बैठकर 'पुत्रार्थो (पुत्रव) चोरी, छुडी, आदर्य, दसर्षी और वारहर्षी (रात) गमन करे, इस नियम का मन में विचार कर (फिर उससे) सहचार करे ॥२१॥ इन दिवसों में प्रजा की आयु, आरोग्य, सौन्दर्य, ऐश्वर्य और बल

अधिकाधिक समझना चाहिए ॥३०॥ इसके सिवाय पाँचवीं, सातवीं, नौवीं और ग्यारहवीं रात्रि में कन्यार्थी (गमन करे); तेरहवीं प्रभृति निघ (होती है) ॥३१॥

वक्तव्य—नासन्—पुत्रेष्टि कर्म के पूर्व एक महीना भर । इससे यह मालूम होता है कि पुत्रेष्टि कर्म तथा यहाँ वर्णन किये हुए खाद्यपेयादि नियमों का परिपालन प्रष्टुमती की चर्चा के समान स्त्री में गर्भधारणा होने के समय तक प्रतिमास करने की विधियाँ हैं । ब्रह्मचारी—यहाँ विवाहित दम्पती का ब्रह्मचर्य अभिप्रेत है, अर्थात् प्रष्टुकाल में निघ दिन छोड़कर बाकी सब दिनों में सहवास करना ब्रह्मचर्य कहलाता है—निघ्यास्वष्टाल चान्यास त्रियो रात्रिपु वर्जयेत् । ब्रह्मचार्यैव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ (मनुस्मृति) । पोलशतु निशाः क्रीयां तस्मिन्गुग्मालु संविशेत् । ब्रह्मचार्यैव पर्वण्यपाश्र्वतस्तु वर्जयेत् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । गुग्मास्त्विति बहुवचनं समुच्चयार्थम् । अतश्चैकरिमत्रापि क्रतौ अप्रतिपिद्वानु सर्वांतु रात्रिपु गच्छेत् । एवं गच्छन्ब्रह्मचार्यैव भवति ॥ (विज्ञानेश्वर) । तीसरे अध्याय के ५ वें सूत्र के वक्तव्य में पुरुष का ब्रह्मचर्य भी देखो । स्त्री के सम्बन्ध में भी ब्रह्मचारिणी का यही अर्थ करना है । सपिःस्त्रिग्वः सपिःस्त्रीरान्यान्—पुरुष शरीर पर घृत का मर्दन करे और घृतचौरप्रधान भोजन सेवन करे, क्योंकि 'शुकं तीम्यं' होने के कारण शुकपोषण के लिए घृतचौरादि के समान तीम्य पदार्थ उसको प्रयुक्त करने चाहिए । तैलस्त्रिग्वः तैलमापोत्तराहारान्—स्त्री शरीर पर तैल का मर्दन करे और तैल तथा उद्दू जिसमें अधिक हो उस प्रकार का भोजन सेवन करे क्योंकि 'आतं वमाज्ञेयम्' होने के कारण उसके पोषण के लिए तैल मापादि के समान आम्रय पदार्थ स्त्री के लिए प्रयुक्त करने चाहिए । रात्रौ—रात्रिग्रहणात् दिवसप्रतिपेधः ॥ (विज्ञानेश्वर) । आयुर्वेदानुसार मैथुन के लिए पूर्वरात्रि विहित होती है और मध्यरात्रि, प्रभात, संध्याकाल, मध्यदिन निषिद्ध होते हैं—सन्ध्या-पर्वस्वगम्यां च नोपेयात् प्रमदां नरः । गोसर्गे चाधरात्रे च तथा मध्यन्दिनेषु च ॥ (सुश्रुत) । सामादिभिरभिविश्वात्य—स्त्री के साथ मैथुन करने के पूर्व उसको सामादि से उभारना, प्रेम से विधास उत्पन्न करना, लज्जा दूर करना इत्यादि कर्म बहुत आवश्यक होते हैं । विशेषतः शुरु शुरु में जब स्त्री और पुरुष मिलते हैं, तब सामादि की बड़ी जरूरत होती है स्त्री में प्रेम उत्पन्न होने के पूर्व और लज्जा दूर होने के पूर्व उसके साथ मैथुन करना एक प्रकार का बलाकार ही समझना चाहिये । सामादि में कामोत्तेजक परिहासानुरागात्मक बातें करना; गाल, स्तन, चूतड़, गुल्फांग इत्यादि पर हाथ फेरना या इन स्थानों को गुद्गुदाना, चुम्बन करना, आलिङ्गन करना, खुशबूदार तैलों का, पुष्पों का, उबटनों का प्रयोग, ताभ्रूल सेवन इत्यादि कायिक और मानसिक अनुनयारमक कर्मों का समावेश होता है—रत्यर्थं सन्धेन वाङ्मनानुदतः परिष्वङ्गः । पूर्वप्रकरणसम्बद्धैः परिहासानुरागैर्वचोभिरनुवृत्तिः । गुडाश्लीलानां च वस्तुनां समस्यया परिभाषणम् । सन्तानम्, अन्तं वा गीतं वादित्रम् । कलासु संकथाः । विजने च यथोक्तैः रात्रिज्ञानादिभिरेनामुद्वर्षयेत् । ततो नीवीविदलेपादियथोक्तसुपक्रमेत् । कुसुमसप्तमर्षयो हिं योषितः कुकुमारोपक्रमाः । तास्त्वनधिगत-विश्वातैः प्रसमसुपक्रम्यायाः सम्प्रयोगद्वेष्यो भवन्ति ।

तस्मात् साधैवोपचरेत् ॥ (वास्त्यायनकामसूत्र) । किंवा छान्दोग्योपनिषद् में मैथुन के हिंदारादि जो वर्णन किये हैं, उनके द्वारा स्त्री को आधासित करके—उपसन्नयते न हिंकारः । उपयते स प्रस्तावः । स्त्रिया सह शेते स उद्रीयः । प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहारः । कालं गच्छति तत्रिपनम् । पारं गच्छति तत्रिपनम् । पतद्गामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥ (छांदोग्योपनिषद् २।१३) । विपत्येवम्—पुत्रार्थी अमुक दिनों में सहवास करे, कन्यार्थी अमुक दिनों में सहवास करे; इस वैधकोक्त या धर्मशास्त्रोक्त (गुग्मालु पुत्रा जायन्ते, त्रियोऽ-गुग्मालु रात्रिपु । तस्माद्युग्मालु पुत्राथी संविशेदार्तवै स्त्रियम् ॥ मनुस्मृति) नियम का स्मरण रखकर उसके अनुसार अपने मन का निश्चय कर । एषु दिवसेषु—दिवस से यहाँ रात्रि अभिप्रेत है, अर्थात् इन दिवसों के रात में स्त्री से सहवास करने पर उत्पन्न हुए पुत्रा का आयुरारोग्य इत्यादि । उत्तरोत्तर—चौथी रात में सहवास करने पर उत्पन्न हुए पुत्र के आयुरारोग्यादि से छठी रात में सहवास करने से उत्पन्न हुए पुत्र का आयुरारोग्य अधिक होता है, इस तरह अधिकाधिक होते होते बारहवीं रात में सहवास से उत्पन्न पुत्र का आयुरारोग्य सब से अधिक होता है । कन्या के संबंध में भी यही नियम होता है । प्रजासौभाग्यम्—प्रजायाः कन्यायाः पुत्रस्य वा सौभाग्यं सौन्दर्यम् । प्रजा का संबंध आयुरारोग्यादि सब के साथ है । अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—तासुत्तरोत्तरमायुरारोग्यैर्ष्यसौभाग्यवलवर्णैर्द्रियसम्पदपर्यस्य भवति ॥ अतः परं तूत्तरोत्तरमेवायुरादीनां हासतः ॥ स्त्रीकामः—कन्या और पुत्र की उत्पत्ति के संबंध में आगे तीसरे अध्याय में ५ वें सूत्र में विवरण किया गया है । त्रयोदशीप्रभृतयः—तेरहवीं तथा आदि की तीन रात्रियाँ सुश्रुतमतानुसार निन्दित हैं । मनु के अनुसार प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं निन्दित हैं—तासामापाश्र्वतस्तु निन्दितैकादशी च वा । त्रयोदशी च, शेपास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ (मनुस्मृति) । अष्टांगहृदयानुसार प्रथम तीन और ग्यारहवीं निघ हैं—पूर्वास्तिस्रश्च निन्दिताः । एकादशी च ॥ अष्टांगसंग्रह के अनुसार प्रथम तीन, एकादशी और त्रयोदशी निघ हैं—एकादशी-त्रयोदशोस्तु ननुसक्तं स्यात् । याज्ञवल्क्य के अनुसार केवल प्रथम चार निघ और बाकी दिन अमावास्या, पौर्णिमा, चतुर्दशी और अष्टमी को छोड़कर प्रशस्त होते हैं—पर्वण्यपाश्र्वतस्तु वर्जयेत् । (याज्ञवल्क्यस्मृति) । इस तरह धर्मशास्त्र और वैद्यक के विविध ग्रंथकारों में कई मतभेद मिलते हैं ।

तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुभत्यां मैथुनगमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते; द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा; तृतीयेऽप्येवमसंपूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति; चतुर्थे तु संपूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति । न च प्रवर्तमाने रक्ते वीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति यथा नद्यां प्रतिस्त्रोतः प्लावि-द्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्भेद इष्टव्यम् । तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत् । अतः परं मासाहुपेयात् ॥ ३२ ॥

(प्रथम त्रिरात्र में स्त्रीसहवास का फल—) इन

निम्न रात्रियों में से (तत्र) प्रथम द्विस में ऋतुमती के साथ पुह्यों को मैथुनकर्म आधुष्यनाशक होता है, और उस दिन के मैथुन में जो गर्भ रपापित होता है, वह (नी महीने के पश्चात्) प्रसव के समय (प्राणों से) विमुक्त हो जाता है (मर जाता है)। दूसरे दिन में भी इसी प्रकार होता है अथवा सूतिकागृह में (बालक मर जाता है)। तीसरे दिन में भी ऐसा ही होता है, किंवा असंपूर्ण अंगयुक्त या अल्पायु होता है। चतुर्थ दिन में तो सर्वांगसंपूर्ण और दीर्घायु होता है। (नीचे की ओर) घटते हुए आर्तवशोणित में प्रविष्ट हुआ (शुक्रगत) बीज गुणकारक नहीं होता, जमे नहीं में प्रवाह के विरुद्ध फेंका हुआ तैरने वाळा (लकड़ी कागज के समान हलका) पदार्थ वापस आता है, ऊपर नहीं जाता वैसे ही (ऋतु-मती स्त्री के समागम की घटना में) समझना चाहिए। इसलिए (ऋतुमती के) नियमों का आचरण करने वाली स्त्री को (समागम के लिए) थिरात्र वर्ज्य करे। उसके बाद महीना भर (यथोचित रात्रियों में) गमन करे ॥ ३२ ॥

वक्ष्य—ऋतुमती मैथुनगमनम्—रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करने का निषेध वैषक तथा धर्मशास्त्र में किया गया है, यहाँ तक कि चौथे दिन भी यदि रजःप्राव होता हो तो उस दिन सहवास का निषेध किया गया है—रजस्वला प्राववतो नरस्त्वानियततमनः। दृष्टयासुखैतन्ने दानिरपमंश ततो भवेत् ॥ (सुश्रुत, चि० २४)। रजस्वलागुपसेदमनस्य प्रकृ-पिना दोषा नेदमगम्य श्वथु जनवन्ति तमुपदेशमित्याचक्षते। (सुश्रुत, निदान)। रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुत्तमानम्। (सुश्रुत, सूत्र २५)। दीर्घरोग विरोधार्थं तथैव च रजस्वलात्। ईदृशी प्रमदा मोहायो गच्छेत् कामद्वर्षतः। ध्वजमजः प्रवर्ते। (चरक, चिकित्सा ३०)। वाग्मत् के अनुसार रजस्वला-गमन गुणरोगों का एक कारण है—दोषाधुषितसर्कोयमलिना नृजजःपथाम् ॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर ३३)। रजसाभिपुत्रां नादी नरस्य सुगमच्छन। प्रया तेजो बल चक्षुरायुश्चैव प्रदीयते ॥ (मनुस्मृति ४।११)। इन वचनों में रजस्वलागमन से होने वाली आपत्तियों का जो वर्णन मिलता है, वह सोलहों आने वास्तविक न होकर रजस्वलागमन निषेध का महत्वसूचक है। तथापि हमसे ज्ञियों में खेतमदर और पुरुषों में मृत्युसंकेतशोध (प्रमेह) उत्पन्न होता है, इसको आधुनिक चिकित्सक भी मानते हैं। आधुनिक गर्भ—आर्तव-प्राव के दिनों में समागम करने से गर्भधारणा होती है, इसका स्पष्ट निर्देश इस वचन में है। इस काल में समा-गम करने का रिवाज सत्वार भर में कहीं नहीं है। आर्तव-प्राव समागम की दृष्टि से भयसूचक चिह्न (Dagger signal) माना जाता है। परन्तु विरही कामातुर बहुत काल के बाद मिलने के समय इस लाल रंग की प्रवाह न करके समागम करते हैं—वामानुराणां न भवं न लज्जा। कलकले की एक स्त्री के इस प्रकार के समागम से चार सन्तान हुए थे और वे सब तन्मुरस्त थे। इसलिए यहाँ पर आगे 'प्रतिशोधः स्थाति' द्रव्य का जो प्लान्त दिया है, वह ऐकान्तिक नहीं माध्यम पड़ता। इसका कारण यह है कि गर्भप्रवाह के विरुद्ध फेंका हुआ कागज या लकड़ी का टुकड़ा निर्जीव और गतिहीन होने के कारण ऊपर

कदापि नहीं जा सकता, परन्तु आर्तवप्राव के विरुद्ध योनि में उत्पन्न शुक का शुक्रायु सजीव और चञ्चल होने के कारण ऊपर गर्भाशय में जा सकता है। ऐसी अवस्था में आर्तव के विरुद्ध योनि में प्रविष्ट हुए शुक की आमतौर से क्या गति हो सकती है उसको स्पष्ट करना यही प्लाविद्व्यवहयान्त का उद्देश्य माध्यम पड़ता है। प्रसवमानो विमुच्यते—प्रायः रजि शेषः। प्रसव होने की स्थिति में, गर्भाशय से योनिद्वार के बाहर आने के पूर्व अर्थात् जन्म के समय बालक मृतजात (Still born) होता है। द्वितीयोऽप्येवम्—पुरुष की आयु का नाश और बालक का मृतावस्था में जन्म ये दोनों घटनाएँ दूसरे दिन समागम करने से होती हैं। स्निवागृहे वा—सूतिकागृह में जब तक माता का निवास होता है, तब तक। अर्थात् दस रोज के भीतर अथवा अधिक से अधिक बेड से तीन महीनों तक, क्योंकि हृत्नी अवधि तक माता सूतिका कहलाती है—यव साध-र्षमासुपसरकृता क्रमेण विमुक्ताशरविहारश्चत्वा विगतवृत्तिना-भिधाना स्थात्। पुनरान्वदन्नादित्येके। (अष्टांगसंग्रह)।

तृतीयोऽप्येवम्—पुरुष की आयु का नाश, मृतावस्था में जन्म ये दोनों, तथा सूतिकागृह में सुरुत ये तीनों घटनाएँ तीसरे दिन के समागम से होती हैं। असम्पूर्ण—जिवके शरीर की यथोचित परवरिषा नहीं हुई है ऐसा अर्थात् दुर्बल, किंवा जिसके अङ्ग परिपूर्ण नहीं हुए हैं अर्थात् सहज व्यंग (Congenital malformation) युक्त (प्रथम खण्ड सूत्र १५०) ; किंवा अस्वामाविक विवृत्त आकार का (Monstros)। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सकों का कथन है कि ऋतुकाल में समागम करने से इस प्रकार के विवृता-कारी गर्भ उत्पन्न होने की अधिक संभावना होती है। गुणकरम्—(१) गर्भाधानकर्म। क्योंकि शुक का मुख्य गुण या कर्म गर्भाशयिष्ठि है—गर्भाशयश्च भ्रूना मेघ कर्म त्राम् रच्यते। (अष्टांगहृदय, सूत्र ११)। (२) किंवा सुख देना, कुल विस्तार करना, कुल की कीर्ति बढ़ाना, पिता के तीनों ऋणों से मुक्त होना ये अल्प के गुण हैं—प्रोतिर्बल मुख वृत्तिविलासो विपुल कुलम्। ययो लोकाः सुहोदरान्तुतिष्ठापत्य-सभिगाः ॥ (चरक, चिकित्सा २)। आगे भी ३६ वें श्लोक का वक्ष्य देखो। ये गुण जिस रजि से उत्पन्न हुए बालक में होते हैं, वह बीज गुणकर कहलाता है। आर्तवकाल के प्रथम तीन दिनों में बोया हुआ बीज या तो अङ्कुरित नहीं होता, या अङ्कुरित होने पर उत्पन्न हुआ बालक अल्पायु होने के कारण पिता के श्रेण से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए लिखा है—न च गुणर भवति। गुणकर बीज का वर्णन आगे ३६ वें श्लोक में किया है—यव आज रूपस्यः सत्त्वं-न-धिरायुः। भवन्त्युपस्य मोभार-सतुषा-पुत्रियो विता ॥ मासात्—मासाति 'ऊर्ध्वम्' इति शेषः। सर्वांगमनं तु गर्भद्वारविषद्वेने स्थितमपि गर्भं प्वावपति। (इहहण)। यदि यही अर्थ लिया जाय तो 'मः पर मामाडु-पेयात्' इस वाक्य का तात्पर्य इस प्रकार होता है—ऋतुकाल के प्रथम तीन दिन छोड़कर उसके पश्चात् उचित रात्रियों में गमन करे और इसके पश्चात् ही रजस्वला होने के बाद फिर गमन करे। दोनों का तात्पर्य एक ही है, परन्तु पूर्वापर संदर्भ से ऊपर अनुवाद में दिया हुआ अर्थ अधिक प्रसन्न

मालूम होता है। वैपक या धर्मशास्त्र के अनुसार महीने में सहवास वितनी बार करना चाहिए—कुछ लोगों का कथन है कि ऋतुकाल में पुत्र या कन्या की इच्छा के अनुसार सम या विषम रात्रि में एक ही बार सहवास करना चाहिए। परन्तु वैपक में या धर्मशास्त्र में इस प्रकार का नियम नहीं है। कन्या की इच्छा करने वाले के लिए 'पद्मेभ्यां सप्तम्यां नवम्याभेकादश्यां च'; जैसे ही पुत्र की इच्छा करने वाले को 'चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां च' इस तरह दिन बतलाये गये हैं। वाक्यों में 'च' का प्रयोग किया गया है, जिससे इन सम या विषम रात्रियों का समूह प्रदर्शित होता है। इसके सिवाय आयुर्वेद में ही उत्तम सन्तति और यावदिच्छं स्त्रीगमन के लिए वाजीकरण वर्णन किया गया है—तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुण्यांश्चापत्यसंश्रितान् । वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामनुत्थानि च ॥ पुमान् यथा जातवलो यावदिच्छं क्रियो ब्रजेत् । यथा चापस्वयान् सद्यो भवेत्सदुपदेक्ष्यते ॥ (चरक) । इससे यह स्पष्ट है कि महीने में एक बार गमन यद्यपि उत्तम हो सकता है, तथापि आयुर्वेद में अभिप्रेत नहीं है। धर्मशास्त्र के अनुसार प्रथम चार रात्रियाँ, ग्यारहवीं रात्रि और तेरहवीं रात्रि को छोड़कर तथा महीने भर में अष्टमी, चतुर्दशी, पौर्णिमा और अमावास्या छोड़कर पूरा महीना भर सहवास कर सकते हैं—ऋतुकालाभिगामो स्यात् त्वदारनिरतः सदा । पर्ववर्जं ब्रजेच्चैनां तद्ब्रजतो रतिकाम्यया ॥ तासानामा-श्वतस्तनु निन्दितैकादशी च या । त्रयोदशी च, शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः ॥ (मनुस्मृति) । षोडशतुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मात् संविशेत् । ब्रजाचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥ यथाकामो भवेदापि स्त्रीणां वरमनुभरन् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । पर्वाण्यमावास्यादीनि वक्ष्यन्ते । तानि वर्जयित्वा भार्याप्रीतिर्त्रतं यस्य स तद्वतोऽनुवावप्युपेयात् ॥ (कुल्लकभट्ट) । युग्मास्त्विति बहुवचनं समुच्चयार्थम् । अतश्चैकास्मिन्नपि क्रतौ अप्रतिपिद्वान्तु युग्मात् सर्वास्तु रात्रिषु गच्छेत् । (विज्ञानेश्वर) । क्रतावुपेयाद-न्तौ च पर्ववर्जम् । क्रतावुपेयात् सर्वत्र वा प्रतिपिद्ववर्जम् । (गौतमसूत्र) । इससे धर्मशास्त्रानुसार भी महीने में केवल एक दिन सहवास करना इष्ट नहीं मालूम होता है। इसलिए 'त्रयोदशीप्रसूतयो निन्धाः' इसका अर्थ तेरहवीं रात्रि के पश्चात् सब रात्रियाँ निघ हैं, यह अर्थ भी अयुक्त मालूम पड़ता है।

लघ्वगर्भायाश्चतेष्वहःस्तु लक्ष्मणावटशुक्लासहदे-वाविश्वदेवानामन्यतम क्षारेणाभिपुत्य त्रैश्वतुरो वा विन्दन् दद्यादक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै, न च तान्निष्ठोवेत् ॥ ३३ ॥

(पुंसवनविधि—) और इन दिनों में गर्भ प्राप्त हुई, पुत्र की इच्छा रखने वाली स्त्री के दाहिने नथने में लक्ष्मणा, वटशुक्ल (वट के नवीन अङ्कुर), सहदेवा (पीतबला), विश्वदेवा (श्वेतबला) इनमें से किसी एक को गौ के दूध के साथ कुचलकर (उसके) तीन या चार बूँद (स्त्री स्वयं) प्रदान करे; उन्हें थूके नहीं ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—लघ्वगर्भायाश्चितेष्वहःस्तु—पूर्व तीन चार सूत्रों में स्त्रीसंग के लिए निघ तथा प्रशस्त दिनों का विचार

करके अन्त में प्रशस्त दिनों में स्त्रीसंग करे, इस प्रकार का विधान है। उसी के सिलसिले में यह शब्द प्रयोग है; और 'च' के प्रयोग से यह बात बिलकुल स्पष्ट होती है। इसलिए 'उपर्युक्त बतलाये हुए प्रशस्त दिनों में पुत्रसमागम करने पर जिस में गर्भधारणा हुई है, ऐसी स्त्री के यह इस शब्दप्रयोग का अर्थ है। पुंसवनविधि की काल-मर्यादा बतलाने के लिए इनका प्रयोग नहीं है। लक्ष्मणा—पुत्रकारकारस्तापविन्दुभिलांजित्त्वद्यदा । लक्ष्मणा पुत्रजननी वस्त-गन्धाकृतिर्भवेत् ॥ अग्निपुत्र—गोदुग्ध के साथ कुचलकर उसका कलक बनावे फिर वस्त्र में लेकर उसको खूब निचोड़ कर रस के बूँद नासा में छोड़ दे। पुत्रकामायै—यदि कन्यार्या हो तो घाम नासापुट में उनके बूँद डाले। न निष्ठीवेत्—नासा में बूँद छोड़ने पर वे गले में आने से कुछ खराश या बेचैनी मालूम होती है। उस समय उनको थूकना न चाहिए, निगलना चाहिए। दद्यात्—बूँद छोड़ने का काम पति या वैध या स्त्री या घर के कोई अन्य लोक करे, इसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी लिखा नहीं है। चरक और चाग्भट्ट में इस काम के लिए 'स्वयं' शब्द का प्रयोग किया है। इस पर अरुणदत्त लिखते हैं—वीरेण कल्कीकृत्य स्वयं स्त्री दक्षिणे नासा-पुटे पुत्रार्थं सिषेत् ॥

इस सूत्र में पुंसवन कर्म का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यह विधि गर्भ को पुरुष बनाने के लिए की जाती है—पुंसवनमिति पुंस्त्वकारकं कर्म । (चक्रपाणिदत्त) पुमांलघ्वो जायते येन तत् पुंसवनम् । मिशन, भग इत्यादि लिंगदर्शक वाद्यों की और घृण तथा वीजकोष (Ovary) इन लिंग-पोषक अन्तरांगों की उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पूर्व यह विधि की जाती है। क्योंकि इन अंगों की उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पश्चात् लिंगपरिवर्तन करना कठिन है—तयोः कर्मणा वेदोक्तं विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तं सम्यक् । तस्मादापन्नगर्भा स्त्रियमभिसमीप्य प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात् । (चरक, शा० ८) । प्राग्व्यक्तीभावादिति यावत् स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा गर्भस्य व्यक्तं भवति तावदेव तद्वक्ष्यमाणं कर्म लिङ्गपरिवृत्तिकरं भवति । (चक्रपाणिदत्त) । लघ्वगर्भा चैनां विदित्वा प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुष्ये पुंसवनानि प्रयुजीत । (अष्टांगसंग्रह) । गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत् । (अष्टांगहृदय) । यह अव्यक्तावस्था (Indifferent stage) आधुनिक गर्भविज्ञान (Embryology) के अनुसार अधिक से अधिक छठे सप्ताह तक होती है—

This stage (which belongs to the middle of second month) of formation is often termed the indifferent stage, but it is quite possible to distinguish the sex even now. Nevertheless, although there are sexual differences in small details at this stage, and even earlier, the fundamental arrangement of these simple parts is the same for both sexes at this time, and in this way may be said to be indifferent. *Manual of Embryology* by J. E. Frazer.

आयुर्वेद में अव्यक्त और व्यक्त अवस्था की कालमर्यादा इस प्रकार वर्णन की गई है—व्यक्तिस्तु द्वितीये मासे भवति ।

यदुक्तम्—'द्वितीये मासे घन सम्पद्यते इत्यादि । किञ्च तृतीये मासे अन्नप्रत्यङ्गान्निभ्यस्त्वैर्वाजीभावो ज्ञेयः, द्वितीये तु मासे अन्व्या दिरूपे । गर्भे प्रत्यङ्गत्वत्तोभावो न व्यक्तः । (चक्रपाणिदत्त) । अन्वक्त प्रथमे मासि सप्ताहाद् वक्त्रो भवेत् । गर्भं, पुंसवनान्तर पूर्वं व्यक्तं प्रवेजयेत् । (अष्टांगसमूह) । सप्ताहादनंतर वाक्त्वन्मासत्वात्पञ्चकृति कलली भवेत् । अत्र कललीभूते वाक्त्वं स्त्रीपुराणपुराणचित्तध्याय व्यक्तं भवति तावद् व्यक्ते प्राक् प्रथमे मासि पुंसवनं प्रवेजयेत् । (धरणदत्त) । इससे यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेदोक्त अन्वक्तावस्था की कालमर्यादा पाश्चात्त्य कालमर्यादा के साथ ठीक ठीक मिलती है, और इस अवस्था में पुंसवन की विधि करने के लिए जो लिखा है, वह भी युक्तियुक्त है । पुंसवन दो प्रकार से किया जाता है ।

(१) नस्य—छत्रमणादि का चौरयुक्त नस्य यहाँ वर्णन किया गया है । इसके सिवाय निम्न नस्य भी प्रयुक्त होते हैं— तथा पुण्योद्भूताया इतिहेतुद्वया नूतकल्पद्रव्य नावयेत् । तद्वत् तलपत्र कुमुदपत्र लक्ष्मणामूल नट्युज्जानि चाष्टौ च नावयेत् । (अष्टांगसमूह) । पुण्येषु च शालिपिष्टस्य पच्यमानस्योष्णायुषाम्नाथ तस्यैव च पिष्टस्योक्कसप्तस्य रस देहत्यागुप निषाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिज्ञेयं पिबुना ॥ (शरक) । (२) पान—इसमें विविध द्रव्यों का दूध दही इत्यादि के साथ सेवन किया जाता है—गोधू जातरस-यमोथरस प्रागुक्त राश्या शालाभ्यां जुष्टानुपहते आदानं द्वाभ्यां धानमापानार्थं सम्बुधैःशालाभ्यां गोसरुर्षापान्थ वा सप्त दधि प्रक्षिप्य पुण्येण पिबेत् । तथैषारान् जीवकमभकापामागंसहचरुजलत्वाथ गुणवैदेकैकयो व्येष्ट वाऽनुपसस्त्रव प्रथमा । कुम्भकीटव मत्स्यकं वेदकाजलीं प्रक्षिप्य पुण्येण पिबेत्, तथा वनकमयान् राजनालायसाश्च पुरुषकाननि कर्णान्तुप्रमाणान् दधनि पयस्युदकाजली वा प्रक्षिप्य पिबेदत्रवधे पत पुण्ये ॥ (चक्र, शा० ८) । पुंसवन के नस्यपानादि प्रयोग की अपेक्षा के सर्वथ में कुछ मतभेद होता है । कई आचार्य कहते हैं कि ऋतुकाल के बारह दिनों में करना चाहिए । कई कहते हैं कि इनमें भी केवल सम दिनों में करना चाहिए । कई कहते हैं कि प्रतिदिन करना चाहिए । कई कहते हैं कि दो महीनों तक धरावर करने रहना चाहिए—दायदायामिस्ये । तत्रापि शुभदिनेष्विति केचित् । अत्यमिति अपरे ॥ (अष्टांगसमूह) । तेन वक्ष्यन्त्या (पुंसवन) वर्गं मासद्वयं वाक्त्वं । (चक्रपाणिदत्त) । इन लक्ष्मणादि औषधियों का नस्यपान ऋतुकाल में गर्भस्थापक और आगे बढ़ने पर स्थित्यर्थ में पुंसवजलक होता है—नन्व्यर्थावाथ लक्ष्मणादिनस्यदानं गर्भस्थापनार्थम् । मासात्रयत्वात्तरे पुत्रापुत्रजननार्थं नस्यार्थम् ॥ (दृष्टान्त) । पुंसवन की विधि प्रथम बार गर्भमाणा होने पर की जाती है, प्रत्येक बार गर्भों की जाती है—पुंसवनात्य कम गर्भजननात् पूर्वम् । एते च पुंसवन्तीमनोभवने चैत्रसस्त्रात्पमंस्वात् सक्त्रेव गर्भे, न प्रविगर्भम् । यथाद् देवसः—सक्त्रं सरुना श्रीं सर्वगेषु संश्रुता । य य गर्भं प्रथमेषु सर्वं संश्रुतो भवेत् ॥ (विज्ञानेश्वर याज्ञवल्करपृष्टि ११२) । पुंसवन से गर्भ के छिग का परि-षर्तन हो सकता है या नहीं, इस विषय का विवरण तीसरे अध्याय के ९ वें सूत्र के अन्तर्गत में किया गया है ।

अथ चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विपूर्वकः । अतुक्षेभान्गुर्वाजासा सामध्याद्भ्रूरो यथा ॥ ३४ ॥

(गर्भोत्पत्ति की सामग्री—) जैसे ऋतु, चैत्र, जल और चीज इन चारों के सान्निध्य से अंडुर निश्चिति से (विधि-पूर्वक उत्पन्न) होता है, वैसे ही ऋतु, चैत्र, जल और चीज इन चारों की सान्निधि से गर्भ निश्चिति से विधिपूर्वक (उत्पन्न) होता है ॥३४॥

वक्तव्य—इस श्लोक में गर्भ तथा अंडुर उत्पन्न होने के लिए जो सामग्री आवश्यक होती है, उसका वर्णन किया है । गर्भोत्पत्ति की घटना समझने के लिए इस श्लोक में दिया हुआ अंडुर का दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर, स्पष्ट के सूक्ष्म निरीक्षण का साधक देने वाला तथा सुप्रजानिर्माण शास्त्र की दृष्टि से उद्बोधक है । इस श्लोक में प्रयुक्त हुआ प्रत्येक शब्द गर्भ तथा अंडुर दोनों के लिए उपयुक्त है, केवल सान्निध्य शब्द गर्भ के लिए और सामग्र्य शब्द अंडुर के लिए है, परन्तु ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं । ऋतु—(१) अंडुर की उत्पत्ति के लिए अनुकूल काल । जैसे—शालि के छि बर्षा की ऋतु, चने के लिए शिशिर ऋतु इत्यादि । ऋतु से यहाँ ऋतुपलक्षित चैत्रादि महीनों का अभिप्राय नहीं है परन्तु तदुपलक्षित आद्रता, शीतता, उष्णता इत्यादि वाद परिस्थिति के समयोग का है । यदि ऋतुपलक्षित मास योग्य होने पर शीतादि का अतियोग या मिथ्यायोग हो तो अंडुर अच्छी तरह से उत्पन्न नहीं हो सकता या नष्ट होता है यदि मासोपलक्षित ऋतु विपरित होने पर भी शीतादि परि-स्थिति योग्य हो तो अंडुर उत्तम प्रकार से उत्पन्न होता है । इसी तत्व के आधार पर जहाँ जो चीज भौतिक उत्पन्न नहीं होती, वहाँ कृत्रिमतया शीतादि अनुकूल बनाकर उत्पन्न की जाती है । प्रतुचर्चा के सम्बन्ध में भी यही तत्व वाग्भट में लिखा है—हेम तारिपु कुशीरं स्वं स्व चात्कालिकेवपि । विधि तच्छी-लन वस्त्राच्छीतादि इन्द्रवारितम् ॥ ऋतुचर्चादिशीतोष्णदृष्टिनेष-प्रतिक्रिया ॥ (अष्टांगसमूह) । इस पर इन्द्रु लिखते हैं—यस्मिन्नेव मासे शीताद्रव्यस्मिन्नेव सा चर्चा सेना । शीतादिदोष प्रतिकारा ऋतुचर्चोक्ता न तु मासनात्रसांक्षर्य ॥ (२) गर्भ के आधान के लिए अनुकूल काल—ऋतुनाम शोणितदण्डोपलक्षितो गर्भधारणयोग्य शीतोष्णवर्षाविशेष ॥ (कुम्भकमठ) । यह काल सोलह या बारह दिन का होता है । इन दिनों में स्त्री में गर्भधारणा होने की अधिक सम्भावना होती है । इसलिए इस कालविधि को गर्भधारण योग्य काल या अंडुर की तुलना में ऋतु कहते हैं । परन्तु अंडुर की दृष्टि से जैसे ऋतु पलक्षित चैत्रादि मासों में योग्यता न होकर ऋतुपलक्षित शीतादि के सम योग पर योग्यता निर्भर होती है, वैसे ही गर्भ की दृष्टि से ऋतुपलक्षित सोलह या बारह दिनों में योग्यता न होकर उन दिनों में स्त्री के शरीर के भीतर जो चीज बनती है, उसके ऊपर योग्यता निर्भर होती है । यदि वह चीज सोलह दिनों के भीतर बनती हो तो सोलह दिन गर्भधारण के लिए योग्य हो सकती है, यदि वह चीज सोलह दिनों के बाहर बनती तो सोलह दिन गर्भधारण के लिए योग्य न होकर दोष मास गर्भधारण के लिए योग्य बाने अन्तु भी ऋतु बन जायगा; और यदि वह चीज सम्पूर्ण महिने में न बने तो पूरा महीना गर्भधारण के लिए अयोग्य बनेगा । जिस चीज के ऊपर गर्भधारणा होती है, वह चीज आतव या स्त्रीजीन (Ova) कहलाती है । इस विवरण से यह स्पष्ट है कि गर्भ के

लिए ऋतु से 'स्त्रीबीज' अभिप्रेत है। ऋतु के संबंध का कुछ अधिक विवरण आगे तीसरे अध्याय के छठे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। क्षेत्र—(१) अंडुर की उत्पत्ति और उत्तम वृद्धि के लिए जिस प्रकार की भूमि आवश्यक होती है, उस प्रकार की भूमि। (२) गर्भ की उत्पत्ति और वृद्धि जिस स्थान में होती है, वह स्थान अर्थात् गर्भाशय या गर्भशय्या। परन्तु यह अर्थ कुछ सङ्गृहित है। इससे गर्भाशय जिस शरीर का एक हिस्सा होता है, वह शरीर याने स्त्री यह अर्थ अधिक योग्य है। आयुर्वेद में स्त्री के लिए क्षेत्र शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है—वाजीरथमग्रय च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षणी ॥ (चरक, चि० २)। इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—क्षेत्रमिव क्षेत्रम्, तत्र शुक्र-रूपबीजप्ररोहणाय ॥ स्मृतिग्रन्थों में भी स्त्री के लिए क्षेत्र की उपमा दी जाती है—क्षेत्रभूता सृता वारी बीजभूतः सृतः पुमान् । बीजक्षेत्रसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ (मनु-स्मृति १।३३) इस पर कुल्लुकभट्ट लिखते हैं—त्रोहासु-तचित्तस्थानं क्षेत्रं तत्तुल्या स्त्री मुनिभिः स्मृता ॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादेद्वि चम् । तभौरसं विजानीयापुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ (मनुस्मृति २।१६६)। साहित्य में भी क्षेत्र शब्द स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्षक्षेत्र-संभवा स्यात् ॥ (शाकुन्तल १)। तस्मै हिमार्द्रः प्रवर्ता तनूजां यतारमने रोचयितुं यतस्व । योपित्तु तद्वीर्यनियेकभूमिः सैव क्षमे-त्यात्ममुनोपदिष्टम् ॥ (कुमारसंभव ३।१६) वेदों में भी स्त्री के लिये क्षेत्र की उपमा दी गई है—तां पूषन् शिवतमा-मेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति । या न ऊरु उशती विश्वप्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेषम् ॥ (ऋग्वेद १०।८५।३७)। इस शास्त्र और व्यवहारप्रामाण्य के सिवा गर्भ की दृष्टि से क्षेत्र का अर्थ करने का दूसरा महत्त्व का कारण यह है कि गर्भाशय गर्भ के निवास का केवल स्थान है, उसका पोषण स्त्री के शरीर से होता है। इसके सिवा स्त्री के आहार, विहार, विचार इत्यादि का भी परिणाम गर्भ पर होता है। अम्बु—अंडुर की दृष्टि से केवल जल। उसका पोषण जिन द्रव्यों से होता है, वे द्रव्य क्षेत्र से मिलते हैं। गर्भ की दृष्टि से आहाररस। गर्भ का पोषण गर्भाशय से न होकर माता के आहाररस से होता है—मातुस्तु रस-वहायां नाढ्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिवद्धा । साऽस्य मातुराहाररस-वीर्यमभिवहति । तेनोपलेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति । इसलिये अम्बु से अप्रसूतता माता का योग्य आहार भी अभि-प्रेत होता है। बीज—शालि, यव, गोधूम इत्यादि जिनसे अंडुर उत्पन्न होता है—श्रीहयः शालयो मुद्रास्तिला मापास्तथा यवाः । यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ (मनुस्मृति)। गर्भ की दृष्टि से शुक्राणु (Spermatozoa) जिससे गर्भ-धारणा होती। परन्तु यहाँ पर भी जैसे क्षेत्र से स्त्री का ग्रहण किया जाता है, वैसे ही बीज से पुरुष का ग्रहण करना चाहिए—बीजभूतः सृतः पुमान् ॥ (मनुस्मृति)। यद्यपि रेतो बीजं तथापि तदधिकारणत्वात्पुरुषो बीजमिति व्यपदिश्यते ॥ (कुल्लुकभट्ट)। इसका कारण यह है कि बीज की गुणसम्प-न्नता पुरुष के आहार, आचार, विचार, मानसिक विकारों पर निर्भर होती है। अब इन चारों का यदि फिर से विचार किया जाय तो अंडुर की दृष्टि से ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज

ये चारों स्वतन्त्र होते हैं और अंडुरोत्पत्ति के लिए इन चारों का साजिश्व या संनिपात होना आवश्यक होता है। गर्भ की दृष्टि से ऋतु, क्षेत्र और अम्बु एक स्त्री में समाविष्ट होते हैं और बीज पुरुष में अलाहिदा होता है। इसलिये गर्भोत्पत्ति के लिए केवल स्त्री और पुरुष दोनों का संयोग काफी है। इसी लिए मनुस्मृति में लिखा है—बीजक्षेत्रसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ सामान्य—गुणसंपन्नता, उत्कृष्टता, दोपराहित्य, अनुपघात—प्रायेण सामान्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥ (कुमारसंभव)। यह दोपराहित्य जब स्त्री और पुरुष दोनों में होता है, तब उत्तम प्रजा निर्माण हो सकती है—विशिष्टं कुत्रचिद्वीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् । उभयं तु समं यत्र सा प्रवृत्तिः प्रशस्यते । (मनुस्मृति)। बीज में उत्कृष्टता या गुण-संपन्नता उपस्थित होने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए। (१) स्त्री और पुरुष के कुल—स्त्री और पुरुष दोनों के कुलों के विद्यमान तथा अविद्यमान मनुष्य स्वस्थ, दीर्घायु और स्थिरेन्द्रिय होने चाहिए। वयस्तर, वातरक्त, शोणित-प्रियता (Haemophilia), रक्तनिपीडाधिक्य, राजयक्ष्मा, कृष्ण, मधुमेह, घृफरोग तथा अन्य शारीरिक विकार, अप-स्मार, विविध प्रकार से उन्माद, उद्विग्नता, अव्यवस्थित-चित्तता, मस्तिष्कदौर्बल्य, लासक (Chorea), पक्षाघात, अप-तन्त्रक तथा अन्य मानसिक विकार, कटा होंठ, फटी तालु तथा अन्य शारीरिक व्यङ्ग इन आदिबलप्रसूत या खान-दानी रोगों से अलिप्त होने चाहिए। स्त्री और पुरुष के कुल अनुत्पन्न होने चाहिए। उत्पन्नगोत्रविवाह (Inbreeding) कुलज दोषप्रवृत्ति को बढ़ाता है। कभी कभी स्त्री और पुरुष विवाह के पूर्व समय स्वस्थ होते हैं; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके शरीर में कोई कुलज रोग नहीं है, जो उनके बीज द्वारा सन्तति में आ सके। कुछ कुलज रोग एक दो पीढ़ी के बाद आ जाते हैं, कुछ कुलज रोग अनुकूलता प्राप्त होने पर उत्पन्न होते हैं और कुछ कुलज रोग स्त्री की पुरुषसन्तति में आते हैं। इन कारणों से यह हो सकता है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वस्थ रहते हैं; परन्तु उनके कुल में कुछ विकार हों तो उनकी सन्तति में वे स्वयं पीडित न होने पर भी आ सकते हैं। इसलिये वधुवर कितने भी स्वस्थ क्यों न हों, उनके कुल का स्वास्थ्य जरूर देखना चाहिए—Choice of a mate must take into account the principles of heredity. *Ideal Birth by Van De Velde*. इस विषय के संबन्ध में आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र का मत और विशेष विवरण सूत्र २४।५ के वक्तव्य में (प्रथमखण्ड में १४।१५० पृष्ठ पर) किया गया है, उसको देखो। (२) स्त्री और पुरुष का स्वास्थ्य—स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वस्थ होने चाहिए। उनमें उपयुक्त कुलज विकार न होने चाहिए; उनमें नैष्ठुर्य, मास्यर्य, कामान्धता, क्षिप्रकोपता, अनवस्थितचित्तता, उद्विग्नता, अहंकार, समाजविरोधी वर्तन करने की प्रवृत्ति तथा अन्य प्रकार के मानसिक विकार न होने चाहिए। भांग, गांजा, अफीम, शराव तथा अन्य नशीली चीजों के सेवन को कुट्टेव न होनी चाहिए। संघेप में दोनों ही स्वस्थ, सुन्दर, सुबौल, खुशमिजाज (जनप्रिय) और व्यसनरहित होने चाहिए—सुरूपा यौवनस्था या लक्षर्यां विभूषिता । (चरक)।

बरेरुगुणोपेक्षां शुभ्वरीनां पुत्राभिधानम् । (बरक) । स्पर्शीभगवत्प-
 सुप्रभ्रामन्नाभिनहदनीहर्षां कामानगदेषामनी वृद्धमरोववत्रि
 मानीभिराज्ञां विधिनेदंष्टे ॥ (अष्टाहमग्रह) । ये जो स्त्री के
 लिए गुण वर्णन किये हैं, उन्हीं गुणों से युक्त पुरुष भी होना
 चाहिए—उत्तमाय कर्मदाभिनोपेक्षां सायवपरे शुभ प्रयुतां
 रूपांशुवधुपाम्पत्रावन्नाभिराशिमहदन्तन गगुदेवाधिरानीनो-
 गिप्रहृमिनीतीरां तथारिष वर सुवशान् दीनदेत् ॥ (बरह वन
 कामसूत्र) । वीरे वृषीवृषे, गुरा भीमान् जनयिष ॥
 (याज्ञवल्क्यस्मृति) । जतद्विष रिगापूर्वद्विभिभाषयादि-
 भितुरावजानन । (विशानेश्वर) । (३) जननेन्द्रिय
 वा स्वारथ्य—यौवनवाहिनी, गर्भाण्य, योनि, शिरन,
 पूषण इत्यादि जननेन्द्रिय के प्रायण स्वस्थ और
 शुद्ध होने चाहिए । रक्तप्रद, रथेतप्रद उपदेत,
 फिरद, सोनाक इत्यादि विकारों से प्रजननमार्ग
 अनुपहत होना चाहिए । जननेन्द्रियां पूर्ण परिपक्व होनी
 चाहिए; अपरिपक्व (Under developed) न होनी चाहिए ।
 यौवनावस्था में जननेन्द्रिय पूर्ण प्रायण न होने को अपरि-
 पक्वता कहते हैं । अष्टागहद्वय में स्त्री जननेन्द्रिय की दृष्टि के
 संशय में लिखा है—शुद्धे गर्भाण्ये मार्गं रथे शुभ्नेदंष्टि हृदि ।
 वीर्यवत्तं शुभं यत्ने ॥ (वा० १) । गर्भरथण्यो गर्भाण्य । तस्मिन्
 शुद्धे निन्देते वागदिभिरदन्त्या भान् प्रहृत्सादापयसाय
 वातादिभिरदंष्टे ॥ (अष्टगहद्वय) । यौजननेन्द्रिय दृष्ट होने पर
 उसके विविध स्त्राय शक्तते हैं । ऐसे अपर्यमार्गों में गिरा
 हुआ पुरुष का शुभ्राय उसके स्त्राय से निर्वल्य का सुन होता
 है । (१) स्त्री-पुरुषों का प्रथम मनागोत्पादक बाल—स्त्री और
 पुरुष दोनों ही यौवनावस्था में पदार्पण करने के पश्चात्
 कुछ साल तक अपरिपूर्णवीर्य होते हैं । जब तक वे परिपूर्ण
 वीर्य नहीं होते, तब तक उनका बीज भी परिपूर्णवीर्य नहीं
 होता । स्त्री और पुरुष दोनों का परिपूर्णवीर्य होने का
 काल निश्चय निश्च होता है । सुभ्रत और अष्टागसग्रह के
 अनुसार पुरुषों का वय २२ और स्त्रियों का १६ होता है—
 पञ्चदशे वयो वर्षे पुमान्, नारी तु षोडशे । समवागनवीर्यो
 ती जानीयात् कुशलो निपन् ॥ (सुधुत प्रथमलण्ड छूट १२९
 देखो) । तन्या योऽसावर्षाया पञ्चदशतिवर्षं पुरुष पुत्रार्थं
 प्रयतेत । (अष्टागसग्रह) । उत्तम बीज उत्पन्न होने की
 आयुर्वेदशास्त्रानुसार यह वयोमर्यादा है । कौटिलीय अर्थ-
 शास्त्र में पुरुष के लिए यही मर्यादा बतलाई है—
 मद्गन्धवसोत्पदादाय । अतो गोदान दारयमव च ॥ पाश्चात्
 शास्त्रज्ञों के अनुसार (अर्थात् उनके देशों के लिए) पुरुषों
 में ३० और स्त्रियों में २३ वयोमर्यादा मानी जाती है—

The most favourable age for procreation for the transmission of mental abilities for the offspring is, according to Vaerting, the thirtieth year in the man, in the woman, not before the 23rd year *Ideal birth by Van De Felde*

यह मर्यादा भारतवर्ष जैसे उष्ण देश के लिए कुछ अधिक है । इसलिए १६ से २० वर्ष स्त्रियों के लिए और २५ से ३० पुरुषों के लिए उचित वयोमर्यादा मालूम होती है । इस वयोमर्यादा के पश्चात् दीर्घकाल तक स्त्री और पुरुष विवाह न करें तो उस अतिपरिपक्व अवस्था में विशेष करके स्त्रियों

में, बीज कुछ सराव हो जाता है और उत्पन्न हुई संतति दुर्बल होती है । इसमें यह स्पष्ट है कि उत्तम संतति होने के लिए एक विशेष आयुमर्यादा आवश्यक है—जननेन्द्रिय कर्षावमग्रह पञ्चदशतिवर्षम् । यथापथे पुमान् गर्भं बुद्धिन्व न रिपदते ॥ जयो वा न रिरे जीरेयोरेवा दुर्बलेन्द्रिय ॥ अग्नि वृद्ध्यां (Old, particularly old primiparae) दीर्घ रोमिण्यामभ्येन वा रिचारेणोपसृष्ट्यां गर्भधान नैर वृशी । पुत्ररथापि पत्रिषय त एव दोषा समरन्ति ॥ (सुधुत) । Children born before the mother is twenty one are decided by inferior vitality to those of women in the next five years Simila ly late marriage is unfavourable for the women and her offspring The new born children of the old, particularly excessively old primiparae, are even in the case of robust mothers not exactly strongly developed and resemble the children of too young primiparae Moreover, the theory that there is a deterioration of the germ in old mother is not to be rejected lightly and would have an influence on the quality of the offspring *Ideal Birth by Van De Felde (४)* स्त्री और पुरुष में अ-उत्तम-भारतीय वैद्यक औ धर्मशास्त्र के अनुसार वर की अवेचा वय उमर में झोट होनी चाहिये—अविप्युतमद्वययो लक्षणां विवमुदरेत् । अन्व पुरिंरां वान्नावनपिण्ठां परीपत्तोत् । (याज्ञवल्क्यस्मृति) यवीर्यो वयसा प्रमाणव न्यूनान् ॥ (विशानेश्वर) । पाश्चात् शास्त्रज्ञों का भी मत है कि उत्तम प्रजा उत्पन्न होने के लिए स्त्री पुरुष की अवेचा उमर में कुछ छोटी हो—For psychological and social, but also for purely biological reasons, it is to be desired further that the woman should be a few year younger than the man, for she reaches physical and mental maturity relatively earlier than the man and her sexual capability die out earlier *Ideal birth* अथ दोनों में निश्चित अन्तर कितना होना चाहिए इसका ठीक प्रमाण कहन कठिन है परन्तु साधारणतया यों कह सकते हैं कि स्त्री और पुरुष में यौवनावस्था प्राप्त होने के समय जो अन्तर होता है, उससे कम अन्तर न होना चाहिये । यौवनावस्था का प्रारम्भ स्त्रियों में आर्तवप्रदान से और पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति से होता है । आर्तवप्रदान स्त्रियों में साधारणतया १२ साल में और शुक्रोत्पत्ति पुरुषों में १६ साल में होती है, वय और वर में कम से कम अन्तर इसलिए चार साल का होना चाहिए, अधिक से अधिक अन्तर नौ साल का, जो सुभ्रत ने दिया है, होना चाहिए । अर्थात् वय और वर में चार साल से कम और नौ साल से अधिक अन्तर कदापि न होना चाहिये । वास्तविककामसूत्र में वयुवर में कम से कम तीन साल का अन्तर बतलाया है—त्रिवर्षात् प्रथुं न्यूनवयसम् । टीकाकार यशोधर अग्नि जीयमज्जला टीका में वयुवर का अन्तर चार से आठ देते हैं—वयुर्थांशं यावत् कनिष्ठा वस्त्रे वरात् । कन्या परिणयेच्छ्रुना नेत्रातिवयाथ या ॥ (१) दो प्रसवों में अ-उत्तम—अवधी अवधी सन्तान

उत्पन्न होने से स्त्री के स्वास्थ्य में बिगाड़ हो जाता है, और ऐसे गिरे स्वास्थ्य में उत्पन्न हुई सन्तान कमजोर होती है। इसलिए दो गर्भधारणा के बीच में कुछ नियमित अन्तर होना बहुत आवश्यक है। इस विषय पर विचार करने से यह कहना पड़ता है कि प्रसव के कारण खराब हुआ स्त्री का स्वास्थ्य जब तक बालक उसका दूध पीता है तब तक ठीक नहीं हो सकता क्योंकि स्त्री जो कुछ अन्न सेवन करती है, उसके एक अंश से बच्चे का भी पोषण होता है—यद्यदनाति मातास्य भोजनं हि चतुर्विधम् । तस्माद्वाद्रसीभृतं वीर्यं त्रेधा प्रवर्तते । भागः शरीरं पुष्पाति स्त्रयं भागेन वर्धते ॥ (भोज) । इसलिए बालक जिस समय से माता का दूध पीना छोड़ दे, उस समय से एक वर्ष भर माता को यथेच्छ पौष्टिक खाना पीना मिलने पर उसका स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जाता है और वह उत्तम बीज उत्पन्न करने में समर्थ होकर दूसरी बार उत्तम गर्भ धारण करने योग्य हो जाती है। इसलिए दो सन्तानों के बीच में २, ३ साल का अन्तर होना बहुत आवश्यक है। आगे १०वें अध्याय के १२वें सूत्र के वक्तव्य में 'मैथुन' की टिप्पणी में भी इस विषय का विचार किया गया है, उसको देखो। इस तरह उपर्युक्त छः गुणों से युक्त १०-पुरुषों का बीज उत्कृष्ट और सर्वगुणसम्पन्न होता है और उनके संयोग से उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है। अंडुर की टि से बीज का सामग्र्य कृमिवातादि से अनुपदग्धता में, ल का सामग्र्य योग्य समय पर मिलने में, चैत्र का सामग्र्य योग्य प्रकार की भूमि और योग्य खाद मिलने में और खु का सामग्र्य उचित दौरे या उष्णता में होता है— या बीजमकालाम्बुकुमिकीटादिद्रूपितम् । नाविरोहति सन्दुष्टं तथा फ्रं शरीरिणाम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३०) । सामग्र्य में इन चारों के संयोग का बोध होता है और सान्निध्य में सामग्र्य का बोध होता है। विधिपूर्वकः—यथाविधि, यथाशास्त्र अर्थात् सुप्रजानिर्माणशास्त्र (Eugenics) के अनुसार जैसा होना चाहिए, वैसा।

एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः ।

भवन्त्यण्यस्य मोक्षारः सत्पुत्राः पुत्रिणो हिताः ॥३५॥

ऐसे (यथायोग्य चारों पदार्थों के संयोग से) उत्पन्न हुए (बालक) रूपवान्, सर्ववान्, दीर्घायु, ऋणमोचन करने वाले, सत्पुत्र और पिता के हितकारी होते हैं ॥३५॥

वक्तव्य—सत्त्ववन्तः—गर्भ में निन्न गुण सत्त्व से उत्पन्न होते हैं—शुद्धसत्त्वजानि शौचमास्तिकर्तव्यं कृतज्ञता दानिष्ण्यं व्यवसायः शौर्यं गान्भीर्यं बुद्धिमैत्रा र्च्यतः शुद्धवर्मस्त्वभक्ति-रभिपन्नाभावस्तमोगुणविपर्ययश्च । (अष्टांगसंग्रह) । इन गुणों से युक्त । ऋणस्य मोक्षारः—पुत्र के लिए देव, पितृ और ऋपि इनके तीन ऋण होते हैं। इन ऋणों का परिमार्जन करना पुत्र का कर्तव्य है। इस कर्तव्य को करने वाले—ब्राह्मणों एवं जयमानस्त्रिभिर्ऋणवाश्रयते, यत्नेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः, स्वाध्यायेनपिभ्यः ॥ अथवा केवल पिता की दृष्टि से विचार किया जाय तो विवाह कर सन्तति उत्पन्न करके प्रजातन्तु को अविच्छेद रखना—प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेदतीः । पिता की मृत्यु होने पर उसको पिण्ड प्रदान, यदि हो सके तो गया

में जाकर करना—पितृकर्मणं पिण्डदानात् । पृथ्व्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः । तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्द्वयां ब्रजेत् ॥ (रामायण) । और पिता के पैसे का भी ऋण हो तो उसको देना—पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनामिच्छुंसेपि वा । पुत्रपीत्रैर्कर्मण्यं देयं निद्वेवे साक्षिभात्रितम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । इन ऋणों का शोधन करने वाले । सत्पुत्राः—इस प्रकार ऋणमोचन करके पिता की रक्षा नरक से जो करते हैं, वे सत्पुत्र हैं—अतः पुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्सृज्य यत्नतः । ऋणात् पिता मोचनीयो यथा नो नरकं ब्रजेत् ॥ पुन्र्नाम्नो नरकाथस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन् यः पाति सर्वतः ॥ (रामायण) । अतः सब से उत्तम ऋणमोचन का मार्ग उत्तम प्रजा उत्पन्न करना है—प्रजननं वै प्रतिष्ठा । लोके साधु प्रजायास्त्वन्तुं तन्वानः पितृणामनृषो भवति । तदेव तस्यानृषं तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति । (तैत्तिरीय आरण्यक) ।

तत्र तेजोधातुः सर्ववर्णानां प्रभवः; स यदा गर्भोत्पत्तावध्यातुप्रायां भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रयः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम् । यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते ॥ ३६ ॥

(गर्भ के गौरकृष्णादि वर्णों की उत्पत्ति—) पंचमहा-भूतों में से तेजोधातु सर्व वर्णों का उत्पत्ति हेतु है। जब वह गर्भोत्पत्ति के समय जलधातुप्रधान होती है, तब गर्भ को गौरवर्ण करती है; (जब) पृथिवीधातुप्रधान (होती है तब गर्भ को) कृष्णवर्ण (करती है); पृथिव्याकाशधातु-प्रधान कृष्णश्याम करती है; जलकाशधातुप्रधान गौर-श्याम करती है। कई आचार्यों का कथन है कि जिस वर्ण का आहार गर्भिणी सेवन करती है, उस वर्णयुक्त संतति को उत्पन्न करने वाली होती है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—सर्ववर्ण—शरीर के स्वाभाविक वर्ण—कृष्णः कृष्णश्यामः श्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति । (चरक) । ये शरीर के स्वाभाविक वर्ण त्वचागत मेचकि (Melanin) नामक रंगद्रव्य की न्यूनाधिकता के अनुसार हुआ करते हैं। तादृग्वर्णप्रसवा—तादृग्वर्णः प्रसवः अप्रसवं यस्याः सा । उसी वर्ण का अपत्य जिसको होता है, ऐसी स्त्री (त्वचा के वर्ण के लिए ४ अध्याय के ३ सूत्र का वक्तव्य देखो) । इस सूत्र में बालकों के शरीर के वर्णों में अन्तर क्यों पड़ता है, इस विषय का कुछ तार्किक विवरण किया है। इस विषय का विचार करने पर वर्ण में अन्तर पड़ने के निम्न कारण मालूम होते हैं। (१) कुल, जाति या वंश (Racial)—जैसे, नीग्रो की सन्तान काली होती है, जापानी चीनी की पीली होती है और यूरोपियन की गौर-वर्ण होती है। भारतवर्ष में भी कुछ जातियाँ गौरवर्ण, कुछ श्यामवर्ण और कुछ कृष्णवर्ण होती हैं। (२) बीज (hereditary or Germinal)—गौरवर्ण पुरुष और कृष्णवर्ण स्त्री के सहवास से गौरवर्ण संतति होती है, यह बीजानुगत वर्ण-भेद का उदाहरण है। (३) आहार—आहार से गर्भ की धृति होती है, त्वचा भी चमकी है और त्वचागत रंगद्रव्य भी बनता है। इसलिए माता के आहार का

के अन्वय में शारीरिक और मानसिक विक्रम पर जैसे हुमा करता है, वैसे उसके वर्ण पर होना भी युक्तियुक्त है। जाति-गण या कुलगत सन्तानि में साधारणतया एक प्रकार का शरीरवर्ण उत्पन्न होने के कारणों में उनका जातीय आधार एक कारण अस्तर होता है। अंग्रेज, चीनी या जापानी चाहे वे किसी देश में हों अपने जातीय वर्ण के अनुसार सन्तान उत्पन्न करते हैं क्योंकि जहाँ तक हो सके, वे अपने आहार में बदल नहीं करते हैं। (१) रोग प्रकृति (Climate) देश या प्रांत की आवश्यकता जैसी होती है, वैसी सरसिनी छीनों की खचा की रगत बदलती है। जैसे, उष्ण मुलुक में होने वाली की तथा उनकी सन्तान की खचा गौरवर्ण होती है। काला आदिमी जब उष्ण मुलुक में रहता है, तब उसकी तथा उसकी संतान की खचा कुछ गौरवर्ण हो जाती है। वैसे ही उष्ण प्रदेश में रहने वाली का वर्ण कुछ कृष्ण होता है और गौरा मनुष्य भी उष्ण प्रदेश में रहने पर कुछ काला हो जाता है। (२) व्यवसाय और रहन-सहन—जिन मनुष्यों को अपना व्यवसाय करने के लिए नये यदन से काम करना पड़ता है, या गरीबी के कारण शरीर पर पूरा कपड़ा नहीं मिलता तथा धूप में काम करना पड़ता है, वे मनुष्य तथा उनकी सन्तान कुछ काली हो जाती है। इसके विरुद्ध जो धुआ में काम करते हैं, शरीर पर पूरा कपड़ा पहनते हैं, वे मनुष्य तथा उनकी सन्तान कुछ गौरवर्ण होती है। (३) चिन्तन—गर्भाधान के समय में तथा उसके पश्चात् सर्गावस्था में स्त्री जिस वर्ण के बालक का मन से चिन्तन करती है, उस चिन्तन का प्रभाव बालक के वर्ण पर होता है। इसी तरह के आधार पर सौदागर जिस रंग का बच्चा घोड़ी से चाहते हैं, उसी रंग का घोड़ा घोड़ी के सामने गर्भाधान के समय खचा करते हैं और घोड़ी की आँखों में पट्टी बांध देते हैं। जब दूसरे घोड़े से गर्भाधान हो चुकता है, तब आँखों की पट्टी खोल देते हैं। पट्टी खोलने से घोड़ी की नजर सामने वाले घोड़े पर पड़ती है और उसी रंग का बच्चा प्रायः होता है। मनुष्यों में भी इसी प्रकार चिन्तन का प्रभाव वर्णों पर कभी कभी होता है। कृष्णवर्ण स्त्री-पुरुषों की गौरवर्ण सन्तान और गौरवर्ण स्त्री-पुरुषों की कृष्णवर्ण सन्तान की उत्पत्ति का समयमें इसी तरह पर हो सकता है। इस विषय में यूरोपियन की एक आवश्यकता प्रसिद्ध है। एक यूरोपियन दुग्धनी के यहाँ काले रंग की सन्तान हुई। कारण यह साबित हुआ कि गर्भाधान के समय स्त्री की दृष्टि पलक के सामने रंगे हुए एक हबशी के चित्र पर पड़ी थी। आयुर्वेद में भी लिखा है—
 इच्छेया यादृश पुत्र तदुपचरिताथ वो । चिन्तयेत् जनयदा रादायापरिच्छेदी ॥ (अष्टांगहृदय) । माता के चिन्तन का परिणाम बालक पर कैसे होता है, इस विषय के अधिक विवरण के लिए प्रथम खण्ड का १५१ पृष्ठ देखो। इन कारणों का सफ़िष्ट निर्देश अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से मिलता है—
 ॥१॥ अथ कृष्ण, शुक्ये पुत्रमण्डले वा गर्भस्य गौरव, मैत्राणे कृष्ण, शुक्ये वै श्यामत्वम् । नवा चौरादिभ्युराणामुप योग्यान्मनुसदन्विहारय गौरव, निजाजविदारिता कृष्ण, श्यामिनायां श्यामता । देशनाजानुसृतिश्च वर्णभेद । काणानित्या श्याम (जनयति) । (चरक) ।

तत्र दृष्टिमागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्ष, पिप्पलानुगतं पिप्पलाक्ष, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विट्ताक्षमिति ॥ ३७ ॥

(नेत्रवर्ण की उत्पत्ति—) दृष्टिमाग में अमाप्त तेजो-धातु (बालक की) जन्मान्ध करती है। यही रक्तानुगत (होने पर) रक्ताक्ष, पिप्पलानुगत (होने पर) पिप्पलाक्ष (पीली आँखों वाला), श्लेष्मानुगत (होने पर) शुक्लाक्ष (और) वातानुगत (होने पर) विट्ताक्ष (करती है) ॥ ३७ ॥

वक्ष्य—इस सूत्र में आँखों की जन्मजात विट्तिर्वा वर्णन की है। ये विट्तिर्वा गर्भावसन्नि के समय आँखों की यथोचित पृष्टि न होने से होती है। ज्ञान्य—जन्मान्धता नेत्रों की उत्पत्ति न होने से (अनेत्रता Anophthalmos), दृष्टिनाही, दृष्टिपटल (Retina) या दृष्टि के लिए आवश्यक अन्य अंगों की भी कमी शून्य न होने से होती है। यह अन्धता पू या अपूर्ण दोनों प्रकार की हो सकती है। रक्ताक्ष, पिप्पलाक्ष शुक्लाक्ष—ये तीनों भेद कृष्णमण्डल (Iris) के वर्णानुसार किये हुए मालूम पड़ते हैं। कृष्णमण्डल संकोचविस्तारशील नेत्र का सफ़िद्ध पदार्थ है, जो प्रकाश की तीव्रताविरुद्ध के अनुसार सदैव सिद्धा और फैला करता है। इस पर की बीच की तह अनेच्छिक मांसतन्तुओं से बनती है। इनके संकोचविकास से पुनः छोटी और बड़ी होती है। इन मांसतन्तुओं के पिछले पृष्ठ पर शोहरा सेलों की एक तह होती है। इनके अगले पृष्ठ पर सयोजक धानुओं की सेलों की तह होती है, जिसमें रक्तवाहिनियाँ और नाधियों के अग्र होठे हैं और इस तह के अगले पृष्ठ पर भी सेलों की एक तह होती है। इस तरह इस पूर्व में चार तहें होती हैं, और मांसतन्तुओं की तह छोड़कर शेष तीनों की सेलों में स्वभाविक अवस्था में रंग (Pigment) कम कायी होते हैं, जिनके कारण आँखें काली काली दिखाई देती हैं। यही आँखों का प्रकृतवर्ण है। जब रंग मध्यम होता है, तब आँखें पिप्लव या धूसर दिखाई देती हैं। जब रंग कम होता है, तब फीकी (शुक्लवर्ण) दिखाई देती हैं और जब बहुत ही कम होता है, तब (Albinism) भीतरी रक्तवाहिनियों के रक्त के कारण गुलाबी या लाल छाल दिखाई देती हैं। इस तरह तेजोधातु से नेत्रगत रगद्वय ठीक न बनने से ये तीन वर्ण के दोष उत्पन्न होते हैं। विकलाक्ष—मँगापन, द्विधादृष्टि, पलक का छोटा बड़ा या टेवा होना इत्यादि नेत्र के आकार में सराशी करने वाले विकार ।

भवन्ति चान्न—

घृतपिण्डो यथैगग्निमाश्रितः प्रतिलोप्यते ।

त्रिसर्पत्यातं नारायंस्तथा पुंसां समागमे ॥ ३८ ॥

जैसे कि अग्नि के आश्रित होने से घृतपिण्ड द्रवीभूत होकर फैलता है, वैसे ही पुरुषों के समागम से शिशु का आवर्तन (एक होकर पिण्ड याने कोप से बाहर) प्रसर्पण करता है ॥ ३८ ॥

वक्ष्य—शुद्धकाल के प्रारंभिक तीन दिनों में योनि

से बाहर बहने वाला रक्त और उसके पश्चात् शरीर के भीतर उत्पन्न होकर और भीतर ही रहकर गर्भधारणा में भाग लेने वाला पदार्थ ये आर्तव शब्द के दो अर्थ होते हैं, इसका उल्लेख इस अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । यहाँ आर्तव का दूसरा अर्थ अभिप्रेत है और इस अर्थ से आर्तव को स्त्री-बीज (Ova) कहते हैं । आर्तव क्या है ?—जैसे कि पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति के लिए दो शुक्रग्रन्थियाँ (घृषण) होती हैं, वैसे ही स्त्रियों में गर्भाशय के पार्श्विक बंधनों में स्थित दाहिनी ओर एक और बाईं ओर एक-दो आर्तवग्रन्थियाँ या बीजकोष होते हैं । इनका आकार और परिमाण चिड़िया के अण्डे जैसा होता है । इन बीजकोषों में स्त्री के जन्म के समय ७०००० के लगभग अण्डे बीज होते हैं, जो धीरे धीरे पक होते जाते हैं । जो बाल्यावस्था में पक होते हैं, वे कोष के बाहर नहीं आते, भीतर ही भीतर सीप होते हैं । जो बीज युवावस्था में पक होते हैं, वे कोष की दीवाल को तोड़कर बाहर आते हैं । प्रायः एक मास में एक ही बीज पक होकर कोष के बाहर निकलता है और इसको बीजविपाक (Ovulation) कहते हैं । बीजविपाक का प्रायिक काल मासिक स्राव के समय से बारह दिनों का माना जाता है । बीजकोष से बाहर आया हुआ विपाक बीज का व्यास ३:५ - ४:० इंच के लगभग होता है और नंगी आँखों से यह एक सूक्ष्म विन्दु जैसा दिखाई देता है । जो बीजकोष के बाहर आता है, वह या तो उदरगुहा में गिर जाता है, या बीजवाहिनी में प्रवेश करता है जहाँ शुक्राणु से उसका संयोग होकर गर्भ उत्पन्न होता है या गर्भाशय और योनि में से शरीर के बाहर चला जाता है । यह वस्तु अतिसूक्ष्म होने के कारण इसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता और गर्भोत्पादक आर्तव का उल्लेख साधारण आर्तवशोणित से ही किया जाता था तथापि वह मलरहित, बीजभूत, सूक्ष्म, आर्तवशोणित का स्राव बन्द होने पर फिर स्त्री के शरीर में उत्पन्न होने वाली और अपने स्थान से प्रसर्पित होकर शुक्र के साथ मिलने वाली, पुरुष के समागम से जिसकी उत्पत्ति जल्दी होती है ऐसी, आर्तवस्राव प्रारम्भ से केवल सोलह दिन स्त्री के शरीर में रहने वाली वस्तु है, इतना स्वरूपनिर्देशक वर्णन ग्रन्थों में मिलता है । इस वर्णन का आधुनिक शारीर-कार्यविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर, आयुर्वेदोक्त गर्भजनक आर्तव स्त्रीबीज (Ova) होता है और इसी अर्थ से यहाँ आर्तव शब्द प्रयुक्त हुआ है । ढरहणाचार्य साफ लिखते हैं कि स्त्रीपुरुषसमागम से प्रवर्तित हुआ आर्तव शुक्र के साथ मिलकर गर्भसंभवहेतु होता है—ननु पुराणमार्तवमुप-चयादिनत्रयं स्रुत्वा स्वयमेव विनिवृत्तं नूतनं स्वरूपं स्थानीभूतमिव प्रवर्तितुमचमं तत् कथमार्तवसंचारो येन तत्संसृष्टं शुक्रं गर्भजननसमर्थं भवतीत्याशङ्क्याह—घृतेत्यादि । पुंसां समागमे इन्द्रियद्वयसवर्षजे-नोभ्याम्बालीनिमार्तवं विसर्पति । तच्च विसर्पितं शुक्रोपगतं गर्भा-शयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसंभवहेतुर्भवति । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि गर्भजनक आर्तव प्रवर्तन या आधुनिक परिभाषानुसार बीजविपाक का कार्य जो स्त्रीशरीरगत अनेक स्वाभाविक सहायक कारणों के द्वारा एक नियत समय पर हुआ करता है, स्त्री का पुरुष के साथ समागम

होने से नियत समय के पूर्व होता है । अर्थात् स्त्री का पुरुष के साथ समागम बीजविपाक कार्य को उद्दीपित (Provoke) करके बीज को गीघ्रता से कोष के बाहर प्रवर्तित करता है । आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी यही कथन है—

In general, I believe I admit that in the majority of cases the ovum is set free from the Graafian follicle on the twelfth day after the commencement of the last menstruation. While it may perhaps happen more frequently that, if an orgasm in copulation happens to take place, the follicle bursts prematurely. I would regard it as probable that the said boy births came from premature ovulations provoked by coitus which produce ova not yet quite mature. *Ideal birth.*

इस उपमा में घृतपिण्ड बीजकोष के लिए, घृत बीज के लिए और अग्नि मैथुन के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

कुछ प्राचीन टीकाकार इस श्लोकगत आर्तव से शुक्र समझते हैं—अन्ये तु—घृतकुम्भो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते । विसर्पत्यार्तवं पुंसां तथा स्त्रीणां समागमे—इत्यत्र यथाऽऽर्तवशब्देन शुक्रमुच्यते तथा स्त्रीणां चार्तवमित्यत्रापि आर्तवशब्दः शुक्र एव वर्तते न तु रजसि । (शिवदाससेन) । परन्तु यहाँ पर भी शुक्र शब्द स्त्रीशरीरगत गर्भोत्पादक वस्तु के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । स्त्रीशरीरगत गर्भोत्पादक वस्तु के लिए शुक्र शब्द कभी कभी प्रयुक्त होता है—कोपुंसयोः सुसंयोगे यथादी विसर्जेत्युमान् । शुक्रं ततः पुमान् वीरो जायते बलवान् दृढः ॥ अप चैद्विना पूर्वं विसर्जेद्रक्तसंयुतम् । ततो रूपाश्रिता कन्या जायते दृढसंहता ॥ (दारुवाह, अरण्यदत्त की शारीर १-५ की टीका में उद्धृत) । स्त्रियों के शुक्रस्रवण के सम्यन्ध में ढरहणाचार्य इस श्लोक की टीका में निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे । गर्भस्य तत्र किञ्चित् करोतीति न चिन्त्यते ॥ (घृदवाग्भट) । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जैसे स्त्री के समागम में पुरुष से शुक्र निकलता है, वैसे ही पुरुष के समागम में स्त्री से शुक्र निकलता है परन्तु वह गर्भोत्पादक न होने के कारण उसका विचार करने का कारण नहीं है ।

वाग्भटाचार्य के इस श्लोक का विचार करने के पूर्व समागम के समय स्त्री-पुरुषजननेन्द्रिय से जिन चीजों का स्राव होता है, उसके संबंध में आधुनिक शास्त्रज्ञों ने जो कुछ विवरण किया है, उसका ज्ञान आवश्यक है । पुरुष जब मैथुन करने लगता है, तब उसके मूत्रद्वार से स्वच्छ लसदार तरल की कुछ बूँदें निकला करती हैं । यह तरल अष्टीला (Prostate) और कौपर की ग्रन्थियों का स्राव होता है, जो मैथुन की रगड़ को कम करने के लिए रोगन की तरह काम में आता है । इसमें शुक्राणु नहीं होते । थोड़ी देर पीछे मैथुन के अन्त में दूसरा अत्यन्त चिपचिपा और लसदार तरल वेग के साथ आता है । यह तरल शुक्र है, जिसमें शुक्राणु होते हैं । मैथुन के समय स्त्री की योनि से भी कुछ तरल निकलता है । यह तरल योनि की श्लेष्मल स्वचा से तथा योनिद्वारसमीपवर्ती ग्रन्थियों (Bartholian glands) से निकलता है और योनि को तर रखकर शिशु की रगड़ से

उसकी रखा करता है। योही वेर पीठे जब मैथुनजम्प आनन्द परमोच कोटि तक पहुँचता है, तब पुरुषों के समान स्त्री के गर्भाशय से दूसरा चारीय चिपचिपा पदार्थ उत्सर्गित होता है। इस तरल का गर्भापादन से कोई संबंध नहीं है—

The process of erection in women is accompanied by the pouring out of fluid which copiously bathes all parts of the vagina round the entrance to the vagina. This is a bland more or less odourless mucus which under ordinary circumstances slowly and imperceptibly suffuses the parts. There is however a real ejaculation of fluid, which as usually described, comes largely from glands, situated near the mouth of the vagina. *Psychology of sex by Huxslock Ellis*

इस सन विवरण का तात्पर्य यह है कि इस श्लोकगत आर्तव का अर्थ स्त्रीबीज है, जिसके लिए कभी कभी शुक्र शब्द का मो प्रयोग होता है और स्त्रियों में शुक्र का अर्थ स्त्रीबीज या योनिगत घाव होता है और संदर्भ के अनुसार उनसे उचित अर्थ निकालना चाहिए।

बीजेऽन्तर्गत्यायुना भिन्न द्वौ जांनौ कुत्सिमागतौ ।

यमान्तिर्यभिधायते धर्मतरुपुरसरौ ॥३६॥

(अनेक गर्भोत्पत्ति हेतु—) अन्तर्वासु के द्वारा बीज विभक्त होने पर गर्भाशय में अचरीण हूप दो पापी जीव यम कहलाते हैं ॥३६॥

वक्तव्य—अन्तर्वासु—पक्षात्पात्तर्गत वायु अर्थात् अपान वायु जिसका संबंध आर्तव, शुक्रगर्भ हत्यादि के साथ होता है। किंवा पक्षमाहभूतान्तर्गत वायु जिसके द्वारा गर्भ में विभजन का कार्य होता है—उ चेतनावर्धन वायुविभक्ति (शारीर २१२)। बीजे भिन्ने—इसके दो अर्थ हो सकते हैं और उनके अनुसार अनेक गर्भोत्पत्ति होती है। (१) स्त्रीबीज पृथक् पृथक् होने पर। साधारणतया प्रतिमास बीजकोष से केवल एक बीज बाहर निकलता है और जब उसका सयोग शुक्राणु के साथ होता है, तब गर्भ उत्पन्न होता है। कभी कभी चाम और दक्षिण बीजकोष से एक एक या कभी एक ही से दो बीज बाहर आते हैं। इस तरह साधारणतया एक और क्वचित् दो या तीन बीज हर महीने में बाहर आते हैं। स्त्रीसमागम के समय उत्सर्गित शुक्र में करोड़ों शुक्राणु होते हैं और एक बीज को फलित (Fertilize) करने के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। शास्त्रों की यह राय है कि जन्म के समय स्त्री के बीजकोष में ७२००० के लगभग अपक बीज होते हैं। इनमें से स्त्री की गर्भधारणयोग्य आणु में केवल ७०० तक बीज एक होकर बाहर आते हैं और उनमें से दस बाह्य बीज सकल होते हैं। इस प्रकार असंख्य शुक्राणु और अनेक स्त्रीबीज होने पर भी स्त्रियों में कई महीनों तक गर्भधारणा नहीं होती या गर्भधारणा होने पर प्रायः एक ही गर्भ का आधान होता है। इसका कारण यह है कि बाहर आये हुए बीज कई बार उद्वृष्टा में ही

नष्ट हो जाते हैं। जो बीजवाहिनियों में आकर शुक्राणु के साथ मिलते हैं, वे ही सकल होते हैं। अतः अनेक एक बीज बाहर आने पर भी बीजवाहिनियों में आने में असमर्थ होने के कारण बहुपत्यता (Multiple pregnancy) उत्पन्न नहीं होती। जब अनेक बीज बीजवाहिनियों में आ सकते हैं, तब यह घटना उत्पन्न होती है। इस प्रकार दो स्वतन्त्र बीजों से उत्पन्न हुए यमल द्विबीजात्मक (Binocular) और स्वतन्त्र बीजों से उत्पन्न हुए त्रिक, चतुष्क अनेक बीजात्मक (Multiovarular) कहलाते हैं। प्रतिमास बीज का उत्सर्ग करना, उसको यथामार्ग बीजवाहिनियों में ले जाना, गर्भ का उत्सर्ग, प्रतिमास आर्तव का उत्सर्ग ये कर्म अपानवायु के हैं—राधापानावगोदान. काठे र्वर्षि चारण्यः । समीरः शुक्रमूरुशुक्रगर्भासंवायः ॥ (सुधुत, निदान १)। इसलिये बहुबीजात्मक बहुपत्यता अपानवायु के कारण समझ सकते हैं। (२) दूसरे प्रकार से भी बहुपत्यता होती है। एक ही बीज शुक्रसंयुक्त होने के बाद दो भागों में पूर्णतया विभक्त (Complete division) होने से। इस प्रकार से उत्पन्न हुए अपत्त्यों को एकबीजात्मक (Uniovarular) कहते हैं। इनमें भी दो प्रकार हैं—दो केन्द्रयुक्त बीज से होने वाले, और एक केन्द्रयुक्त बीज शुक्राणु से संगत होने के बाद दो भागों में पूर्णतया युग्मभाजन (Complete dichotomy) होने पर होने वाले। इस प्रकार की बहुपत्यता पंचमहाभूतात्मक वायु के कारण समझ सकते हैं।

एकबीजात्मक अपत्त्यों की विशेषज्ञता—(१) एक बीज से साधारणतया दो ही गर्भ हुआ करते हैं, परन्तु क्वचित् तीन भी हो सकते हैं—

Irreplets may be developed from three ova or from two ova, one of which has a double nucleus or conceivably from a single ovum *Ten Teacher's Midwifery*.

(२) युग्म बालकों में एकबीजात्मक अपत्त्यों का प्रमाण बहुत कम होता है। द्विकेन्द्रात्मक बीज से होने वालों का प्रतिशत प्रमाण बाहु और एककेन्द्रात्मक बीज से होने वालों का ५ होता है। अर्थात् प्रतिशत है। जब रस शुक्राणु का लिङ्ग एक होता है और अपत्तियों भूषण दिखाई देती एक ही होती है। (३) इनकी सुष्टि की शुद्धि भी कभी विषमसुष्टि होती है और इनका अर्थ, तब (Ait) नहीं होता। (४) इनमें कालपूर्व प्रसव का कारण भी समावना भी अधिक होती है।

अनेकबीजात्मक अपत्त्यों की विशेषज्ञता—(१) इसमें प्रत्येक गर्भ शुक्रसंयुक्त स्वतन्त्र बीज से उत्पन्न होता है। (२) युग्मों में द्विबीजात्मक अपत्त्यों का प्रमाण एकबीजात्मक अपत्त्यों की अपेक्षा छ से आठ गुना अधिक होता है, अर्थात् २० प्रतिशत युग्म बालक द्विबीजात्मक होते हैं। (३) दोनों का लिङ्ग एक या भिन्न हो सकता है। परन्तु अपरा और गर्भ के आवरण सर्वत्र स्वतन्त्र होते हैं। (४) इनकी सुष्टि ठीक और समान होती है, दोनों का तोल समान होता है और प्रायः स्वास्थ्य भी ठीक होता है। (५) प्रायः योग्य समय पर प्रसव होता है।

बहुपत्यता का प्रमाण—अनेक देवों के प्रसूतिपुत्रों के

द्विचूतों का विचार कर हेलिन नामक शास्त्रज्ञ ने यह आनुमानिक नियम बनाया है कि प्रत्येक अस्सी प्रसवों में एक युग्म (Twins) उत्पन्न होता है, प्रत्येक ६४०० प्रसवों में एक त्रिक (Triplet) उत्पन्न होता है, और प्रत्येक ६१२००० प्रसवों में एक चतुष्क (Quadruplet) उत्पन्न होता है। पंचक (Quintlet) और षट्क (Sixlet) अपत्य बहुत कम होते हैं इसलिए उनके सम्बन्ध में नियम करना कठिन है—

We may mention as a curiosity, that according to a formula given by Hellin, there is one twin birth in 80 births, one triplet in 80 × 80 and one quintlet in 80 × 80 × 80. *Ideal Birth.*

बहुप्रसव राष्ट्र में युग्मों की संख्या उपर्युक्त प्रमाण से भी अधिक हुआ करती है—

As a rule, the more fertile a nation the more twin pregnancies will there be. *Ten Teacher's Midwifery.*

इनकी आयुर्मर्यादा—साधारणतया युग्म बालक सजीव प्रसूत होते हैं और साधारण अपत्य के समान आयुर्मर्यादा होती है। त्रिक बालक भी सजीव प्रसूत होते हैं और युग्म के समान जी सकते हैं। चतुष्क, पञ्चक और षट्क बालक सजीव प्रसूत हो सकते हैं, परन्तु प्रायः जीते नहीं। एक नीग्रो स्त्री से छः अपत्य हुए थे। उनमें पाँच पुत्र और एक कन्या थी। उनमें एक बालक दो दिन तक जीवित रहा, चार तीन दिन तक जीवित रहे और एक चार रोज के बाद मर गया।

बहुपत्यता के हेतु—अनेक अपत्य क्यों उत्पन्न होते हैं ? इस विषय का संतोषजनक उत्तर आज का विज्ञान नहीं दे सकता। तथापि निम्न कारण सहायता करते हैं। (१) कुलजप्रवृत्ति—बहुपत्यता में कुछ कुलजप्रवृत्ति सिद्ध हुई है। यह कुलजप्रवृत्ति स्त्री में अधिक होती है, क्योंकि आखिर में अनेक अपत्य उत्पन्न होने का कार्य स्त्रीबीजगत प्रवृत्ति पर निर्भर होता है परन्तु यह प्रवृत्ति पुरुष के बीज में भी कभी कभी दिखाई देती है, क्योंकि एक घर के कई भाइयों को युग्म हुए हैं और एक पुरुष से अनेक स्त्रियों में भी युग्म हुए हैं। पुरुष के शुक्राणुओं में यह प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न होती है, इसका भी संतोषजनक उत्तर देना कठिन है क्योंकि प्रत्येक समय असंख्य स्त्रीबीजों को सफल करने के लिए पर्याप्त शुक्राणु योनि में प्रविष्ट होते हैं। (२) आयु—इक्कीस से अठ्ठाईस साल की आयु में युग्म अधिक होते हैं। अधिक उम्र की स्त्री में प्रथम प्रसव में अधिक होते हैं। (३) प्रसव क्रम—प्रथम प्रसव में युग्म होने की सम्भावना सब से अधिक होती है, दूसरे प्रसव में सब से कम होती है और तीसरे से फिर धीरे धीरे बढ़ने लगती है। जिस नीग्रो स्त्री के छः अपत्यों का ऊपर निर्देश किया गया है, उसको प्रथम बार चार, दूसरी बार तीन, तीसरी बार तीन और चौथी बार छः, इस तरह चार प्रसवों में कुल सोलह अपत्य हुए थे। बहुपत्यता के कारण एक स्त्री के ४४, उसकी एक बहन के ४१ और दूसरी बहन के २६ अपत्य हुए थे।

आयुर्वेद में बहुपत्यता की उपपत्ति—बहुपत्यता के एकबीजात्मक और अनेकबीजात्मक करके दो कारण इस वक्तव्य के

प्रारम्भ में आधुनिक पाश्चात्य कल्पना के अनुसार बताये गये हैं। आयुर्वेद में इसके संबंध में निम्न वचन मिलते हैं—
 भिनत्ति यावद्बहुधा प्रपन्नः शुक्रार्तवै वायुरतिप्रवृद्धः । तावन्त्य-
 पत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसृते ॥ (चरक,
 शारीर २) । शुक्रार्तवेऽनिलेन खण्डशो भिन्ने यथाविभागमपत्याना-
 मुत्पत्तिः । (अष्टांगसंग्रह, शारीर २) । मिश्रीभूतं च शुक्रार्तवै
 स्वविशिष्टहेतुकोऽनिलो यदा खण्डशः करोति तदा बहूनामपत्यानां
 संभवः । (इन्दु) । शुक्रार्तवे पुनः । वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं
 बहुपत्यता । (अष्टांगहृदय, शारीर १) । यदा तु कललं वायु-
 स्तद् द्विधा कुल्ले बली । यमो तदा संभवतः कृष्णत्रेयवचो यथा ॥
 (भेदसंहिता, शारीर १) । इन वचनों में 'मिश्रीभूतं शुक्रार्-
 तवै' 'कलल' (तीसरे अध्याय का १८वाँ सूत्र और उसका वक्तव्य देखो) इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि आर्तव और शुक्र संयुक्त होने के पश्चात् उसमें विभाग होने के कारण बहुपत्यता उत्पन्न होती है, यह आयुर्वेद के सब ग्रंथकारों का मत है। यह मत आधु-
 निक परिभाषा 'के अनुसार एकबीजात्मक (Uniovular) अपत्यों के लिए लागू है। इस दृष्टि से 'बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने' इसका स्पष्टीकरण 'अतिवृद्धेनान्तर्वायुना मिश्रीभूते शुक्रार्तवे द्विधा खण्डशो भिन्ने सति' ऐसा होता है। व्यवहार में यद्यपि एकबीजात्मक बहुपत्यता हुआ करती है तथापि उसका प्रमाण बहुत कम होता है और अनेकबीजात्मक बहुपत्यता अधिक हुआ करती है। तिस पर भी आयुर्वेद में अनेक-
 बीजात्मक बहुपत्यता का उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के अनुसार पुरुष के शुक्र में और स्त्री के आर्तव में प्रत्येक समय एक ही बीज (उत्पादक अंश) होता है, ऐसी कल्पना होती है। इनके संयोग से एक अपत्य उत्पन्न होता है और जब इनके संयोग के कई विभाग हो जाते हैं तब कई अपत्य उत्पन्न होते हैं। पशुओं की बहुपत्यता के सम्बन्ध में भी आयुर्वेद की यही कल्पना है, जिससे उपर्युक्त कथन की सत्यता स्पष्ट होती है—सूकरसार-
 मेयादिजातिषु त्वनेनैव विधिना सदाऽनेकपत्यता । (अरुणहृत्,
 अष्टांगहृदय, शा० १) । वायुस्त्वश्ववराहाणां देहेषु बलवान् पुनः ।
 स तत्र कललं भिन्ना करोति बहुपुत्रताम् ॥ (भेदसंहिता, शा० १) ।
 इसमें संदेह नहीं कि जानवरों में बहुपत्यता मनुष्यों के समान हुआ करती है, इसलिए मनुष्यों की बहुपत्यता की आयुर्वेद की कल्पना जैसी एकदेशीय है, वैसी जानवरों की बहुपत्यता की भी हो जाती है। वास्तव में मनुष्यों में बहु-
 पत्यता अधिकतर अनेक बीजों से होती है और सूकर सार-
 मेयादि पशुओं में भी ऐसी ही होती है। सूकरसारमेयादि जाति में बहुपत्यता स्वभाव है। मनुष्य-जाति में, यद्यपि उसको विकृति नहीं कह सकते तथापि यह, स्वभाव नहीं है अर्थात् स्वभावविरोधी कार्य होने में कुछ कारण होना चाहिए। आयुर्वेद इसके लिए पूर्वकर्म या पूर्वपाप कारण मानता है—कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसृते । (चरक) । तीसरे अध्याय का ४५वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो ।
 यमो मे न्यूनाधिक वृद्धि का हेतु—जब दो अपत्य एक बीज के विभिन्न होने से होते हैं, तब प्रायः एक अपत्य दूसरे से तोल में अधिक रहता है। इसका कारण यह होता है कि, दोनों की अपरा एक होती है और दोनों के रक्तपरिभ्रमण

पण्डकं शृणु पञ्चमम् ॥४३॥

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते ।

नतः स्त्रीचेष्टिनाकारो जायते षण्डसंज्ञितः ॥४४॥

(नरपण्ड—) पाँचवाँ पण्डक सुनो ॥४३॥ जो पुरुष (अपनी) स्त्री में ऋतुकाल में मोहवश स्त्री की तरह प्रवृत्त होता है, तब स्त्री के समान हावभाव करने वाला और आकार का पण्ड नामक (पुत्र) उत्पन्न होता है ॥४४॥

वक्तव्य—अङ्गनेव—मैथुन के समय स्त्री नीचे उताना और पुरुष ऊपर होना चाहिए—उताना तन्मना योषित्तिष्ठे-दङ्गैः सुसंस्थितैः । (अष्टांगहृदय) । पुरुष को स्त्री के नीचे होने का वैद्यक में निषेध किया है—न चासावधत्तिष्ठेत् । तथाहि स्त्रीचेष्टः पुमान् जायते पुंश्रेष्ठा स्त्री । (अष्टांगसंग्रह) । अङ्गनावदुत्तानो भूत्वा व्यवययति । (डहण) । कामशास्त्र में इसका निषेध नहीं है । परन्तु यह आसन काम वृत्ति के लिए है सन्तानोत्पत्ति के लिए नहीं कहा है । इस प्रकार के आसन को 'पुरुषायित' कहते हैं और यह आसन पुरुष तब ग्रहण करता है, जब मैथुन के समय वह थक जाता है परन्तु उसकी कामेच्छा पूरी नहीं होती—नायकस्य सन्तताभ्यासात् परिश्रममुपलभ्य रागत्य चानुपशमम्, अनुमता तेन तमथोऽवपात्य पुरुषायितेन साहाय्यं दद्यात् ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । स्त्रीचेष्टिता-कारः—स पुमान् स्त्र्याकृतिः स्त्रीचेष्टितश्च स्त्रीवदधोभूतः स्वमेढ्रस्योर्ध्व-प्रदेशेऽपरपुरुषाद् वीर्यञ्चूर्तिं कारयति । (डहण) । स्त्री के समान शरीर का आकार, स्त्री के समान हावभाव करना, वेप करना और पुरुष से प्रेम करना इत्यादि ।

ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्तताङ्गना यदि ।

तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥४५॥

(नारीपण्ड—) अथवा यदि स्त्री भी ऋतु समय में (मोहवश) पुरुष की तरह प्रवृत्त हो, तो यदि कन्या उत्पन्न होगी तो वह पुरुष के समान चेष्टा करने वाली होगी ॥४५॥

वक्तव्य—पुरुषवत्—पुरुष को नीचे करके स्वयं पुरुष के समान ऊपर होकर—पुरुषमथः कृत्वा व्यवयं कुरुते यदि । नरचेष्टिता—स्त्रीरूपाऽपि पुंवत् स्त्रियमारुह्य तद्योनौ स्वयोनियर्षणं करोति । (डहण) । पुरुष के समान हावभाव करना, वेप करना और स्त्री से प्रेम करना इत्यादि ।

आसेक्यश्च सुगन्धो च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा ।

सरैतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्ड(ण्ड)संज्ञितः ॥४६॥

(सशुक्र और अशुक्र पण्ड—) आसेक्य, सौगन्धिक, कुम्भीक तथा ईर्ष्यक ये (चार नपुंसक) सशुक्र जानने चाहिए; षण्ड नामक (नपुंसक) शुक्ररहित है ॥४६॥

वक्तव्य—अशुक्र—आसेक्यादि चार पुरुषों में एक विशेष अवस्था में सिर्फ ध्वजोच्छ्राय होता है और उस समय शुक्र भी गिरता है याने ये प्रजोत्पादन में समर्थ होते हैं । पंचम पण्ड में प्रायः ध्वजोच्छ्राय नहीं होता तथा शुक्र भी नहीं गिरता; अर्थात् यह प्रजोत्पादन में असमर्थ है । यह वन्ध्य (Sterile) कहलाता है । आसेक्यादि पुरुष एक विशेष प्रकार के नपुंसक (Impotent) हैं । इनका विशेष विचार आगे के श्लोक के वक्तव्य में किया गया है ।

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः ।

हर्पास्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत् ॥४७॥

(ध्वजोच्छ्राय की उपपत्ति—) इस विप्रकृति के द्वारा हर्ष (उत्पन्न होने) से उनकी शुक्रवह सिराएँ फूल जाती हैं, जिसके कारण ध्वजोच्छ्राय होता है ॥४७॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आसेक्यादि नपुंसकों में ध्वजोच्छ्राय की युक्ति वर्णन की है । शुक्रवहसिरा—घृषण और शिरनगत रक्तवाहिनियाँ । ध्वजोच्छ्राय—शिरनोत्थान (Erection of the penis) । ध्वजोच्छ्राय मैथुन के समय की एक प्राकृतिक और आवश्यक स्थिति है । ध्वजोच्छ्राय के बिना मैथुन नहीं हो सकता । स्त्रियों में भी मैथुन के समय उनकी भगशिरिका (Clitoris) का उच्छ्राय होता है; परन्तु स्त्रियाँ निश्चेष्ट होने के कारण उच्छ्राय के बिना भी मैथुन हो सकता है—तर्ता हि पुरुषोऽधिकरणं युवतिः । (कामसूत्र) । अनया विप्रकृत्या—शुक्रप्राशनादि उपर्युक्त विपरीत प्रक्रियाओं के द्वारा । इन प्रक्रियाओंका वैपरीत्य समझने के लिए ध्वजोच्छ्राय में शिरन में होने वाला परिवर्तन स्वाभाविक तौर से कैसे होता है, इसका ज्ञान बहुत आवश्यक है । ध्वजोच्छ्राय में शिश्रगत परिवर्तन—मैथुन के अतिरिक्त समय में शिरन शिथिल, छोटा और सिकुड़ा हुआ रहता है । जब पुरुष का मन कामुक होता है, तब शिरन पहले से बहुत दृढ़, मोटा और लंबा हो जाता है । पुरुष का शिश्र कितना ही मोटा और लम्बा क्यों न हो तथा योनि कितनी ही चौड़ी क्यों न हो, जब तक शिश्र खूब सख्त नहीं होगा, तब तक उसका प्रवेश योनि में नहीं होगा और मैथुन भी असंभव होगा । शिश्रोत्थान ठीक न होना यह नपुंसक (Impotent) का एक लक्षण है । शिश्र की वनावट में मूत्र-प्रसेकधरा (Corpora spongiosa) एक और शिश्र-पार्श्विका दो (Corpora cavernosa) इस तरह तीन पेशियाँ भाग लेती हैं । स्पंज के समान इन पेशियों में बहुत से गव्हर (Caverns) होते हैं, जो शिथिलावस्था में रिक्त रहते हैं । जब पुरुष का मन मैथुनप्रवण होता है, तब ये अवकाश रक्त से भरकर तन जाते हैं (स्फुटत्वमायान्ति) । रक्त आने का मार्ग खुलने के साथ साथ रक्त लौटने का मार्ग बंद हो जाता है । जैसे, गाढ़क (एक प्रकार का मोटा कपड़ा) की एकमुखी नलिका में पानी भरकर दूसरा मुख कस्के बाँधने से उस नली में सख्ती आ जाती है, वैसे ही शिश्र के अवकाश विस्फुटित होकर उनमें रक्त भरकर लौटने का मार्ग बंद होने से शिरन में सख्ती आ जाती है । यह सख्ती मैथुन समाप्त होने के समय तक याने वीर्य निकलने के समय तक रहती है । उसके पश्चात् रक्त लौट जाता है और शिश्र पहिले के समान शिथिल पड़ जाता है ।

शिरनगत ये परिवर्तन कैसे होते हैं?—शिश्रगत रक्त-परिश्रमण का नियन्त्रण मस्तिष्क और कटिबिभागगत केन्द्रों के द्वारा होता है । सुन्दर स्त्री, स्त्री का कर्णमधुर गान, सुगन्धित फूलों की गंध, ताम्बूल सेवन, स्त्रीशरीर का स्पर्श इन कामोत्तेजक अर्थों का संबंध पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से होने पर उनको सूचनाएँ इन इन्द्रियों के केन्द्रों में पहुँचती हैं, वहाँ से सोचने के स्थान में जाती हैं । आधुनिक

विद्वानों का कथन है कि कामुक विषयों की सूचनाओं का मनन करने का कोई एक स्थान या केन्द्र नहीं है, मस्तिष्क का संपूर्ण वहिस्तर (Cerebral cortex) यह काम करता है—

The higher sexual centres are situated in the brain. Their exact location is not known. It seems that the whole cortex is capable of receiving and transmitting sexual stimuli. The human mind is *omni-sexual*. *Riddle of Sex*

कामुक सूचनाओं का मन से ग्रहण होने पर बुद्धि से मैथुन करने का निश्चय हुआ हो तो मस्तिष्क से सूचना तारों द्वारा कटिबिभागगत सुपुष्पा के जननेन्द्रियसंबन्धी केंद्र को जाती है। यहाँ से जननेन्द्रियसंबन्धी रक्तवाहिनियों को जाती है, जिससे जननेन्द्रिय में रक्त पहुँचाने वाली वाहिनियाँ विस्फारित होकर उनमें काफी रक्त भर जाता है और जननेन्द्रिय से रक्त ले जाने वाली वाहिनियाँ सङ्चित हो जाती हैं, जिससे आया हुआ रक्त लौट नहीं सकता और शिथिल का उत्पान होता है। कटिबिभागगत सुपुष्पकेंद्र जननेन्द्रिय से नाभियों द्वारा आई हुई सूचना के अनुसार प्रतिचेष क्रिया (Reflex action) के द्वारा जननेन्द्रिय को उत्थित करने में स्वतन्त्र होता है। इस तरह स्पर्शादि कामुक विषयों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण मन को उत्तेजित करने का प्रधान मार्ग है और उत्तेजित मन मैथुनकर्म का प्रधान आश्रय है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शब्दस्पर्शादि बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि मन इन अर्थों को चिन्तन द्वारा मानसप्रत्यक्ष कर ले, तब भी वह उत्तेजित हो सकता है। इस तरह शब्दस्पर्शादि कामुक अर्थों का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या चिन्तन द्वारा प्रत्यक्ष करके उत्तेजित होकर मैथुन करने में समर्थ होना यह मन की प्रकृति है, इससे विपरीत विप्रकृति है। अब एक एक अर्थ का विचार किया जाता है।

(१) रूप—सुंदर, सुडील, जवान, वस्त्रालंकार से विभूषित या नम स्त्री, स्त्री का मुख, केशकलाप, स्तन, नितम्ब, जयन इत्यादि अंग, स्त्री के वस्त्र अलंकार या अन्य पदार्थ, स्त्री की तस्वीर या मूर्तियाँ तथा अन्य कामोत्तेजक वस्तुओं में से एक या अनेकों के प्रत्यक्ष दर्शन या मानसिक चिन्तन से शिशोत्थापन होना प्रकृति है। इसके सिवाय मनुष्यों के या जानवरों के मैथुनिक कर्म चित्र में या प्रत्यक्ष देखने पर शिशोत्थापन होना यह भी प्रकृति है। परन्तु जब उपरिनिर्दिष्ट दृश्यों में से एक दृश्य के प्रत्यक्ष दर्शन के सिवाय अन्य दृश्यों से उत्थापन नहीं होता और केवल उसी दृश्य से होता है, तब वह विप्रकृति ही जाती है। ईर्ष्यक इस प्रकार की विप्रकृति है। दूसरे का सम्बन्ध देखने से हर्षण होने की विप्रकृति को अंग्रेजी में *Scotophobia* or *mixoscopia* or *voyeurism* कहते हैं—

Founded on the sense of vision also we find a phenomenon bordering on the abnormal which is by Moll termed *Mixoscopia*. This means sexual pleasure derived from the spectacle of other persons engaged in natural and perverted sexual

actions. *Studies in the Psychology of sex by Havelock Ellis.*

(२) रस—कामोत्तेजक अर्थात् वाजीकरण द्रव्यों के सेवन से काम को और बढ़ाना इसमें कोई खराबी नहीं होती है, परन्तु किन्हीं पदार्थविशेष के सेवन के दिना मैथुन में अमामर्ष्य उत्पन्न होना यह विप्रकृति है। आसेक्य इस प्रकार की विप्रकृति है, जिसमें मुखमैथुन (Fellatio) और शुक्रप्राशन के सिवा काम, हर्ष और उत्तेजना प्राप्त नहीं होती। शुक्र में वाजीकरण के गुण कुछ ऐसे विपरीत लोगों में दिखाई देते हैं—

Semen is thus a natural stimulant and physiological aphrodisiac. When held for some time in the mouth, remarked John Hunter, it produces warmth similar to spices which lasts for some time. The stimulation produced by the injection of semen would appear to form in some cases a part of the attraction exerted by Fellatio. De sade emphasized this point and in a case recorded by Howard semen appears to have acted as a stimulant for which the craving was as irresistible as that for alcohol in dipsomaniacs. *Ibidem*

(३) गंध—सर्प तथा अन्य जानवरों में प्राणोद्दिग्ध बहुत तीक्ष्ण होती है और इस तीक्ष्णता के कारण वे प्राणोद्दिग्ध का अनेकविध उपयोग कर लेते हैं। मनुष्यों में प्राणोद्दिग्ध उतनी तीक्ष्ण नहीं है और उसकी उपयोगिता बहुत कम है तथापि सुगन्धित तेल, इत्र, पुष्प इत्यादि की गंध से मन प्रसन्न होता है और सम्पूर्ण मस्तिष्कमस्थान कुछ उत्तेजित हो जाता है। अपने पुराने ग्रन्थों में स्त्री और पुरुष के शरीर की गंध वर्णन करके गंध के अनुसार पद्मिनी, चित्रिणी इत्यादि भेद किये हैं—पद्मिनी पद्मगन्धा स्यात्पद्मगन्धा च चित्रिणी। शक्तिनी चारुगन्धा स्यात्त्रिगन्धा च हस्तिनी ॥ भवति कमलनेत्रा नासिना सुदूरभा अश्विरलवुचयुग्मा चारुवेशी कृष्णी। मृदुवचनक्षुणीया गीतवायानुरजा मन्वनमुमुक्षुः पद्मिनी पद्मगन्धा ॥ (रतिमजरी)। यह गन्ध की कल्पना कुछ लोगों को केवल कारुणिक मालूम होगी, परन्तु आधुनिक विद्वानों का भी कथन है कि स्त्री और पुरुष दोनों में युवावस्था में एक विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न होती है—

In both sexes, puberty, adolescence, early manhood and womanhood are marked by a gradual development of the adult odour of skin and excreta, in general harmony with the secondary sexual developments of hair and pigment. *Psychology of Sex*

अब मैथुन की दृष्टि से गंध का विचार किया जाय तो यों कहना पड़ता है कि प्राणोद्दिग्ध और जननेन्द्रिय म जरूर कुछ सम्बन्ध है और एक के उत्तेजित हो जाने से दूसरा भी उत्तेजित हो जाता है। जानवरों में प्रायः शरीर की, विशेष करके जननेन्द्रिय की, गंध को सूँघकर ही मैथुन में प्रवृत्ति और उत्तेजना आती है, क्योंकि उनकी शरीर की गंध और

प्राणोन्द्रिय दोनों ही तीव्र होती हैं। मनुष्यों में शरीर की गंध तथा प्राणोन्द्रिय दोनों ही उतनी तीव्र न होने के कारण मैथुन में शरीर की गंध को सूँघकर प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति याने प्रकृति नहीं होती। हाँ, मैथुन के समय सुगन्धित तैल, इत्र, पुष्पमाला इत्यादि का उपयोग स्त्री के शरीर पर करने से उनकी गंधों का कामोत्तेजक प्रभाव जरूर कुछ पड़ता है और मैथुन में कुछ सहायता होती है, परन्तु यह प्रभाव गौण है। कुछ लोगों में गन्ध का, विशेष करके जननेन्द्रिय की गंध का कामोत्तेजक प्रभाव बहुत अधिक दिखाई देता है और ये लोग प्रायः उस गन्ध के सिवाय मैथुन करने में असमर्थ होते हैं, यह विप्रकृति है। सुगन्धो नपुंसक इसी वर्ग का है—

Olfactory influences play a certain part in various sexually abnormal tendencies and practices which do not proceed from an exclusively olfactory fascination. Thus, Cunnilingus and Fellatio derive part of their attraction more especially in some individuals from a predilection for odours of sexual parts. In many cases smell plays no part in attraction. 'I enjoy cunnilingus if I like the girl very much in spite of the smell.' We may associate this impulse with the prevalence of these practices among sexual inverts in whom olfactory attraction are often specially marked. It is certain also that a great many neurasthenic people and particularly those who are sexually neurasthenic are particularly by susceptible to olfactory influences. A neurasthenic sensitiveness to odours is frequently accompanied by lack of sexual vigour. *Studies in the Psychology of Sex*

(४) स्पर्श—यह कामोत्तेजन का बड़ा प्रभावशाली इन्द्रियार्थ है। पुरुष का स्त्री के शरीर से और स्त्री का पुरुष के शरीर से स्पर्श होते ही दोनों के शरीर में बिजली की सी चमक पैदा होकर मन कामप्रवण होता है। कण्डूयन (गुदगुदाना), चुम्बन, आलिङ्गन और प्रत्यक्ष मैथुन स्पर्श के ही विविध प्रकार हैं। यद्यपि शरीर की सम्पूर्ण त्वचा में कामोत्तेजक शक्ति होती है तथापि कुछ स्थान ऐसे हैं कि जहाँ यह शक्ति विशेषरूप से होती है। इनको कामकटिवन्ध (Erogenous zones) कहते हैं। ये कामकटिवन्ध अधिकतर उन स्थानों में होते हैं, जहाँ वाह्य त्वचा का श्लेष्मल त्वचा से संयोग होता है। जैसे—मुख, योनिमुख, गुद, स्तनाग्र इत्यादि। इनके सिवाय ऊरु, कचा आदि अन्य स्थान भी होते हैं। इन कटिवन्धों का आपस में या जननेन्द्रिय से संयोग होने पर कामवेग बढ़ता है। इसलिए समागम के समय स्त्री-पुरुष कामवेग को बढ़ाने के लिए इन स्थानों की संयोगपरिवृत्ति (Permutations and Combinations) करते हैं। अर्थात् योनिचुम्बन, स्तनचुम्बन, गुदमैथुन, मुखमैथुन इत्यादि कार्य, जो प्रायः अस्वाभाविक कहलाते हैं, वास्तविक स्वाभाविक हैं। परन्तु यदि

इन कर्मों का उपयोग मैथुन के बढ़ले क्रिया जाय, या इनमें सिं एकाध कर्म के सिवाय अन्य कामुक इन्द्रियायों से शरनोत्थान न हो तो यह विप्रकृति हो जाती है। कुम्भीक नपुंसक इस विप्रकृति का उदाहरण है, क्योंकि गुदमैथुन के सिवाय उसमें शरनोत्थापन नहीं होता।

(५) शब्द—कर्ममधुर गान, स्त्री के बोल, कोकिला के शब्द सुनकर तवीयत प्रसन्न होती है और कामवेग बढ़ता है; यह प्रकृति है। परन्तु यदि किसी विशेष शब्द के सिवाय कामवेग बिलकुल ही न बढ़ता हो तो वह विप्रकृति हो जाती है। इस प्रकार का यहाँ कोई उदाहरण नहीं है।

कामुक विप्रकृति—उपर्युक्त आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष कामुकविप्रकृति के जो अनेक प्रकार होते हैं, उनमें से एक प्रकार की विप्रकृति के (Sexual aberrations या Perversions) उदाहरण हैं। आसेक्यादि जिस विप्रकृति के उदाहरण हैं, उसकी विशेषता यह होती है कि एक विशिष्ट अवस्था में सिर्फ मनुष्य मैथुन करने में समर्थ होता है और उसके सिवाय पण्ड रहता है। इस अवस्था को Fetishism (फेटीशिसम) कहते हैं। यह अवस्था मानसिक दौर्बल्य के कारण होती है—

Although the man be impotent under what might be termed ordinary or usual circumstances, he is able to perform the sexual act under unusual or special conditions. This condition of affairs is a psychoneurosis, the man being impotent unless there are special and unusual circumstances attending the act, and to this state of affairs the name fetishism is given. *Index of differential diagnosis by Herbert French.*

चरकसंहिता में संस्कारवाही नाम से इसी विप्रकृति का वर्णन किया है—शुक्राशयद्वारविषट्नेन संस्कारवाहं कुर्वतेऽनिलश्च । (शारीर २)। संस्कार का अर्थ अष्टांगसंग्रह में इस प्रकार वर्णन किया है—त्र संस्कारो वाजीकरावस्तयोऽभ्यवहारश्चेतोहर्षणानि च । विशिष्ट संस्कार के पश्चात् शुक्रवह सिराएँ विस्फुट होकर जिसको मैथुन में सामर्थ्य आ जाता है, वह संस्कारवाही है—संस्कारेण वस्तिवाजीकरणादिना परं यस्य शुक्रमदृष्टद्वारं सत् प्रवर्तते स संस्कारवाहः । (चक्रपाणिदत्त) । संस्कारेण वाजीकरणादिना स्वीगमनाय संवाहयत इत्यर्थः । (इन्दु) । अत्र च संस्कारवाहेन सुश्रुतोक्ता आसेक्यसौगन्धिककुम्भीका अन्तर्भावनीयाः, यत एतेऽपि संस्कारविशेषैवैव शुक्रं त्यजन्ति । (चक्रपाणिदत्त) । इस अवस्था का कारण विकृत वायु है। स्वाभाविक वायु 'सर्वेन्द्रियाणामुज्ज्वलकः, हर्षोत्साहयोर्धनिः' है, और विकृत होने पर 'मनो व्यावर्तयति' अर्थात् मनोव्यावर्तन इस अवस्था का कारण सिद्ध होता है। यही कारण आधुनिक परिभाषा में Psycho neurosis करके उपर्युक्त हर्षोर्धं फ्रेंच के उद्धरण में दिया है। अतः Fetishism के लिए 'संस्कारवाहिता' शब्द प्रयोग कर सकते हैं।

नरपण्ड और नारीपण्ड—ये भी कामुक विप्रकृति के उदाहरण हैं। पुरुषपण्ड देखने में स्त्री के समान होता

है। उसकी मानसिक स्थिति भी स्त्री के समान होती है। स्त्री के समान चेष्टा करने की उसकी इच्छा होती है और स्त्री के समान पुरुष के साथ प्रेम करता है और उसी से मैथुन भी करवाता है। ऊपर ४४-४६ वें श्लोक के वक्तव्य में दलहण की टीका देखो। नारीपण्ड की इससे विपरीत स्थिति होती है। वह स्त्री होने पर भी सब काम मर्दाना करना चाहती है। शारीरिक कोई भी वैपरीत्य न होकर स्त्री में पुरुष के और पुरुष में स्त्री के गुणधर्म उपस्थित होना इस कामुक वैपरीत्य को नरनारीपण्ड कहते हैं। पाश्चात्य परिभाषा में इस कामुक विप्रकृति को सेक्जुअल इन्वर्शन (Sexual inversion), होमो सेक्जुअलिटी (Homo sexuality) या हर्माफ्रोडिटी की परिभाषा में सायको सेक्जुअल हर्माफ्रोडिटिज्म (Psycho-sexual hermaphroditism) कहते हैं। इन पण्डों की शारीरिक और मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में ऊपर दलहण का जो कथन दिया है, ठीक वैसा ही कथन 'हिबेलक एडिस' अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

In male inverts there is a frequent tendency to approximate to feminine type and in female inverts to the masculine type. This occurs both in physical and psychic respects. Among female inverts there is some approximation to the masculine attitude and temperament though this is by no means always conspicuous. *Psychology of sex*

नरपण्ड अशुक्र है और अनुमान से नारीपण्ड अनातंवी होती है, अर्थात् पुरुष वन्ध्य और नारी वन्ध्या दोनों ही प्रजोत्पादन में असमर्थ होते हैं। यह कथन भी ठीक मालूम होता है। कारण यह है कि इन नरनारीपण्डों की अन्तर्बोध जननेन्द्रियां अपक्व या शैशवीय (Infantile) हुवा करती हैं—

The sexual organs in both sexes are sometimes over developed, or perhaps more usually, under developed, in a slight approximation to the infantile type. Many of these physical and psychic characteristics may be said to indicate some degree of infantilism. *Psychology of sex*

जिन मनुष्य में लैंगिक आकर्षण अपने लिंग के मनुष्य की ओर होता है, उसे समलिंगी (Homosexual) और उस अवस्था को समलिंगता (Homosexuality) कहते हैं। जब यह अवस्था सदा या जन्म ही होती है, तब उसे लैंगिक विपर्यय (Sexual inversion) कहते हैं। हेबेलक एडिस की इस व्याख्या के अनुसार नरनारीपण्ड Sexual inversion के उदाहरण हैं। जो समलिंगी मनुष्य सदा प्रकृति के नहीं होते, वे अशुक्र नहीं होते। वे स्त्री और पुरुष दोनों की ओर आकर्षित होते हैं। इसलिये द्विलिंगी (Bisexuais) कहलाते हैं। इन समलिंगियों में हस्तमैथुन, गुदमैथुन, मुण्मैथुन इत्यादि अनेक लैंगिक विपर्यय मिलते हैं और मन्व्यारवाहिक भी हो सकता है। इत्यदि, आभेय्यादि पुरुष समलिंगियों के विविध प्रकार समझ सकते हैं।

कामुक या लैंगिक विप्रकृति (Sexual aberration) प्रकार—आधुनिक काल में पाश्चात्य विद्वानों ने का विप्रकृति की ओर काफी ध्यान देकर उसके कई प्र निर्णित किये हैं। उनका विवरण सद्ये में नीचे जाता है—

(अ) फागेन्सा वा विपर्यय (अयोग और अनियोग)।
(१) कामजड़ता (Sexual frigidity)—इस विपर्यय मनुष्य की कामवासना बहुत कम रहती है या कभी व उसका अभाव होता है। (२) बालोत्पत्ता (Erotien Satyriasis, Nymphomania)—इसमें पुरुष या कामवासना से उन्मत्त हो जाते हैं।

(आ) वाम वा मिथ्यायोग (Parasthosis sexualis)
(१) लघुविपर्यय—

(क) आत्मलिंगता (Auto sexuality)—इसमें पुरुष या स्त्री का कामुक आकर्षण अपने शरीर की ओर होता और हस्तमैथुन, दिवा या रात्रि के स्वप्न, कामुकचिन्त इत्यादि के द्वारा इसकी शान्ति होती है। उसको अ व्यक्तिकी आवश्यकता नहीं होती।

(ख) समलिंगता (Homosexuality, sexual inversion)—(१) द्विलिंगी—इसमें पुरुष और स्त्री दोनों ओर आकर्षण होता है। (२) इसमें केवल अपने लिंग व्यक्ति की ओर आकर्षण होता है। (३) मानसिक प्रकृति दूसरे प्रकार के लिंग के व्यक्ति के समान होती है। (शारीरिक आकृति दूसरे प्रकार के लिंग के व्यक्ति के समान होती है।

नारीपण्ड और नरपण्ड इस प्रकार के हैं—

(ग) जानवरों की ओर आकर्षण होना (Bestiality)—डुत्ता, विह्वी, खूबर, गौ, घोड़ी, चकरी इत्यादि जानवर का उपयोग किया जाता है। इसको 'तिर्यग्योगिनगम' कहते हैं।

(घ) लौंबेवाजी या कुमारियता (Paiidophilia)—छोटेछोटे कोमल बच्चों के ऊपर प्रेम करना।

(ङ) सुदँवाजी या शवप्रियता (Necrophilia)—शरीर पर प्रेम करना।

(२) हेतुविपर्यय—

(च) शिरन और योनि के अतिरिक्त अन्य स्थानों में आनन्द प्राप्त करना (अयोनिगमन), या किसी अभाषात वस्तु या क्रिया से आनन्द प्राप्त करना (Fetichism)। आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष हस्ती वर्ग में आते हैं।

(छ) प्रदर्शनीयता (Exhibitionism)—इसमें मनुष्य में अपने गुणों को दूसरों को सार्वजनिक स्थानों में दिखाने की प्रवृत्ति होती है।

(ज) काममूर्ता (Sodism, Masochism)—इसमें कामुकविपर्यय के अतिरिक्त दूसरे पर कर्णनामापदेश, प्रहार करना इत्यादि कर्म करने की प्रवृत्ति होती है।

(झ) काम का विपरीतकालोद्भव (Parodoxia)।
ustia)—इसमें अकाल में कामवासनाओं का उत्पन्न होना है। जैसे—शिवों में बारह साल के पूर्व और पुराणों में

पंद्रह साल के पूर्व कामवासना प्रबल होना । किंवा वृद्धावस्था में काम फिर से प्रबल होना ।

इन लैङ्गिक विपर्ययों के उदाहरण उपर्युक्त सुश्रुत के श्लोकों के अतिरिक्त और भी मिलते हैं—कामार्ता हि प्रकृति-कृपणाश्चेतनाचेतनेषु । (मेघदूत ९) । नहि जातवलाः सर्वेनराश्चापत्यभागिनः । बृहच्छरीरा वलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः ॥ सन्ति चाल्पवलाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः । प्रकृत्या चावलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः ॥ नराश्चटकवत् केचित् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम् । गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचित् बहुगामिनः ॥ कालयोगवलाः केचित् केचिदभ्यसनध्रुवाः । केचित् प्रयतनैर्व्यञ्ज्यन्ते वृषाः केचित् स्वभावतः ॥ (चरक, चिकित्सा २) । नान्ययोनि नायोनौ व्यवायं गच्छेत् । (चरक) । तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम् । दुष्टयोनौ विसर्गं तु बलवानपि वर्जयेत् ॥ (सुश्रुत) । तिर्यग्योनिरजादिः । अयोनि मुखमैथुनम्, यथा दाक्षिणात्याः स्त्रियो मुखे मैथुनं कारयन्ति । (डह्लहण) । स्त्रीयोगैव पुरुषाणामपि अलब्धवृत्तीनां त्रयोनिषु विजातिषु स्त्रीप्रतिमासु केवलोपमर्दान्नाम्नाभिप्रायानिवृत्तिर्न्यास्याता । धान्त्रिकां सर्वां दासीं वा पुरुषवदलंकृत्याकृतिसंयुक्तैः कन्दमूलफलावयवैरपद्रव्यैर्वाऽत्वाभिप्रायं निवर्तयेयुः ॥ वियोनिषु बालोष्कक्षादिषु, विजातिषु एडीवडवादिषु । स्त्रीप्रतिमासु स्त्रीप्रतिवृत्तिषु समुत्कीर्ण-स्त्रीलिङ्गादिषु । कन्दा आलुकरदल्यादीनाम् । मूलं तालकेतकीनाम् । फलमलायुर्कडीनाम् । (वात्स्यायनकामसूत्रस्य [जयमंगला-टीकायाम्, यशोधरः] । स्त्रियमयोनौ गच्छतः पूर्वसाहसदण्डः, पुरुषमधिमेहतश्च । मैथुने द्वादशपणः तिर्यग्योनिचात्मनः । देवत-प्रतिमानां च गमने द्विगुणः स्युतः । स्त्रीपुंसयोर्मैथुनार्थेनाङ्गविद्येष्टायां रहशूलसंभाषायां वा चतुर्विंशतिपणः स्त्रिया दण्डः, पुंसो द्विगुणः । केशनीवीदन्तनखाबलमन्त्रेषु पूर्वसाहसदण्डः । (कौटिलीय अर्थशास्त्र) । इसके सिवाय 'औपरिष्टकम्' और 'ग्रहणनयोगा' इत्यादि कामसूत्र के द्वितीय अधिकरणगत प्रकरण भी कामुक विपर्यय के ही हैं । उनके अन्त में वात्स्यायन लिखते हैं—कष्टमनार्थवृत्तमनादृश्यमिति वात्स्यायनः । तथादन्यदपि (प्रस्तराद्या-हननं) देशसाल्म्यात्प्रयुक्तमन्यत्र न प्रयुज्यते ॥ तदेतत्तन कार्य समयविरोधादसंभ्यत्वाच्च ।

ये लैङ्गिक विपर्यय अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक, क्या सभ्य और क्या असभ्य, सभी लोगों में संसार भर में प्रचलित हैं, क्योंकि कामातुर मन क्या करेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं—अर्थस्यास्य रहस्यत्वाच्चलत्वान्मनसस्तथा । कः कदा, किं कुतः कुर्यादिति को ज्ञातुमर्हति ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । कामातुराणां न भयं न लज्जा । (सुभाषित) । शास्त्राणां विषयस्तावच्चान्मदरसा जनाः । प्रवृत्ते रतिचक्रे तु नैव शास्त्रं न च क्रमः ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । लैङ्गिक विपर्यास के कारण—इन लैङ्गिक विपर्ययों (Sexual perversions) को धार्मिकदृष्ट्या पातक का ढर दिखाया जाता था, सामाजिक दृष्टि से लोग उनको घृणा से देखते थे और राजकीयदृष्ट्या विपर्यय काम करने पर उनको दण्ड दिया जाता था और अब भी इन तीन उपायों द्वारा उनकी संभावना होती है । परन्तु ये लोग इन उपायों का प्रयोग होते हुए भी प्राचीनकाल में थे, वर्तमानकाल में हैं, और भविष्यकाल में होंगे । पाश्चात्य देशों में गत अर्धशताब्दी में मानसशास्त्र के साथ साथ कामशास्त्र का भी काफी विचार हुआ है; और कुलजप्रवृत्ति, गर्भावक्रान्ति, शरीर-कार्यविज्ञान इत्यादि अनेक शास्त्रों की सहायता से मन के

इन कामुक विपर्ययों का विचार करने पर पाश्चात्य शास्त्रज्ञ इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यद्यपि बाल्य और युवावस्था में खराब संगति के कारण मनुष्यों को खराब आदतें लगा सकती हैं, तथापि अधिकसंख्य लोग अपनी आन्तरिक प्रकृति के कारण ही विपर्यय होते हैं; अर्थात् उनकी प्रकृति विपरीत होती है । इस विप्रकृति के तीन कारण माने गये हैं—

(१) आदिवलप्रवृत्तिदोष (माता पिता के बीजों का दोष (Hereditry)—माता पिता के धन के लिये जैसे उनकी प्रजा अधिकारी होती है, वैसे ही उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के लिए भी उनकी प्रजा अधिकारी होती है । यह स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य उनके बीज के द्वारा संतति में प्रविष्ट होता है । कामुक विपर्यास-युक्त मातापिता की प्रजा में कामुक विपर्यास उत्पन्न हो सकता है । (२) जन्मबलप्रवृत्ति (Anomalies of development)—माता के उदर में स्थित गर्भ में माता के आहार-विहार आचार-विचार के कारण या अन्य कारणों से विविध मानसिक और शारीरिक विकार जैसे उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है, वैसे ही लैङ्गिक विपर्यास भी उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है और जन्म के पश्चात् बाल्यावस्था और युवावस्था में खराब संगति के कारण या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं द्वारा उनकी वृद्धि होती है । (३) अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों (Endocrine glands) के दोष—गर्भ में पुंस्त्व और स्त्रीत्व के लिए योग्य बाह्य और आभ्यन्तरीय जननेन्द्रियां उत्पन्न करना, जन्म के पश्चात् योग्य वय में उनकी वृद्धि करना, दाढ़ी मूँछें, स्तन-वृद्धि इत्यादि व्यञ्जकविशेषों की वृद्धि करना तथा स्त्री और पुरुष के लिए योग्य मनोवृत्ति को बनाना इत्यादि सब कार्य शरीरगत कुछ विशेष ग्रंथियों के अन्तःस्राव से होते हैं । इन ग्रंथियों में स्त्रीत्व के लिए बीजग्रंथि Ovary का स्राव और पुरुषत्व के लिए घृषण का स्राव महत्व का है । इनके सिवाय अधिवृक्कग्रंथि (Suprarenal), ग्रीवाग्रंथि (Thyroid), थायमस (Thymus), पोषणकग्रंथि (Pituitary) इत्यादि अनेक ग्रंथियां लैङ्गिक कार्य में सहायता करती हैं । गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् इनका कार्य विकृत होने से नरनारी-पण्डता, स्वलिङ्गता, कामजड़ता, कामोन्मत्तता, द्विलिङ्गता इत्यादि अनेक लैङ्गिक विपर्यय उत्पन्न होते हैं । इन ग्रंथियों की विकृति प्रायः आदिवल और जन्मबल के कारण ही हुआ करती है । इसलिए आधुनिक विद्वानों का यह कथन है कि लैङ्गिक विप्रकृतियां प्रकृतिप्रभव होती हैं और विप्रकृति और प्रकृति वास्तव में एक ही प्रकृति के तरतमदृष्टि से उत्पन्न हुए भेद हैं—

These elements of pathology are already to be found in the physiological, and pathological processes are still following the laws of physiology. Every normal man in matters of Sex, when we examine him carefully enough, is found to show some abnormal elements and the abnormal man is merely manifesting in a disordered or extravagant shape some phase of the normal man. Psychology of sex

है। उसकी मानसिक स्थिति भी स्त्री के समान होती है। स्त्री के समान चेष्टा करने की उसकी इच्छा होती है और स्त्री के समान पुरुष के साथ प्रेम करता है और उसी से मैथुन भी करवाता है। ऊपर ४४-४५ वें श्लोक के वक्तव्य में दलहन की टीका देखो। नारीपण्ड की इससे विपरीत स्थिति होती है। वह स्त्री होने पर भी सब काम मर्दाना करना चाहती है। शारीरिक कौरों भी वैपरीत्य न होकर स्त्री में पुरुष के और पुरुष में स्त्री के गुणधर्म उपस्थित होना इस कामुक वैपरीत्य को नरनारीपण्ड कहते हैं। पाश्चात्य परिभाषा में इस कामुक विप्रकृति को सेक्शुअल इन्वर्शन (Sexual inversion), होमो सेक्शुअलिटी (Homo sexuality) या हर्माफीरिड की परिभाषा में सायको सेक्शुअल हर्माफीरिडिज्म (Psycho-sexual hermaphroditism) कहते हैं। इन पण्डों की शारीरिक और मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में ऊपर दलहन का जो कथन दिया है, ठीक वैसे ही कथन 'हेवेलोक पब्लिस' अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

In male inverts there is a frequent tendency to approximate to feminine type and in female inverts to the masculine type. This occurs both in physical and psychic respects. Among female inverts there is some approximation to the masculine attitude and temperament though this is by no means always conspicuous. *Psychology of sex*

नरपण्ड अशुक्र है और अनुमान से नारीपण्ड अनातंवी होती है, अर्थात् पुरुष चन्ध्य और नारी चन्ध्या दोनों ही प्रजोत्पादन में असमर्थ होते हैं। यह कथन भी ठीक मालूम होता है। कारण यह है कि इन नरनारीपण्डों की अन्तर्जात जननेन्द्रियाँ अपक या बौद्धीय (Infantile) हुआ करती हैं—

The sexual organs in both sexes are sometimes over developed, or perhaps more usually, under developed, in a slight approximation to the infantile type. Many of these physical and psychic characteristics may be said to indicate some degree of infantilism. *Psychology of sex*

जिस मनुष्य में लैंगिक आकर्षण अपने लिंग के मनुष्य की ओर होता है, उसे समलिंगी (Homosexual) और उस अवस्था को समलिंगता (Homosexuality) कहते हैं। जब यह अवस्था सदा या जन्मत्र होती है, तब उसे लैंगिक विपरीत (Sexual inversion) कहते हैं। हेवेलोक पब्लिस की इस स्वास्था के अनुसार नरनारीपण्ड Sexual inversion के उदाहरण हैं। जो समलिंगी मनुष्य सदा प्रकृति के नहीं होते, वे अशुक्र नहीं होते। ये स्त्री और पुरुष दोनों की ओर आकर्षण होते हैं। इसलिये बिलिडिजी (Bisexuale) कहलाते हैं। इन समलिंगियों में हर्ममैथुन, शुक्रमैथुन, सुगमैथुन इत्यादि अनेक लैंगिक विपर्यय मिलते हैं और संस्कारवादिष्य भी हो सकता है। इसलिये, आनेक्यादि पुण्य समलिंगियों के विविध प्रकार समस्त सकते हैं।

कामुक या लैंगिक विप्रकृति (Sexual aberration) के प्रकार—आधुनिक काल में पाश्चात्य विद्वानों ने कामुक विप्रकृति की ओर काफी ध्यान देकर उसके कई प्रकार निर्णीत किये हैं। उनका विवरण सचेत में नीचे दिया जाता है—

(अ) वामेच्छा वा विपर्यय (अयोग और अनियोग)—
(१) कामजड़ता (Sexual frigidity)—इस विपर्यय में मनुष्य की कामवासना बहुत कम रहती है या कभी कभी उसका अभाव होता है। (२) वामोत्पत्ता (Erolism Satyriasis, Nymphomania)—इसमें पुरुष या कामवासना से उन्मत्त हो जाते हैं।

(आ) वाम का मिथ्यायोग (Parasthesia sexualis)

(१) लक्ष्मिविपर्यय—

(क) आत्मलिंगता (Auto-sexuality)—इसमें पुरुष या स्त्री का कामुक आकर्षण अपने शरीर की ओर होता है और हस्तमैथुन, दिवा या रात्रि के स्वप्न, कामुकचिन्त इत्यादि के द्वारा इसकी शान्ति होती है। उसको आत्मलिंगता की आवश्यकता नहीं होती।

(ख) समलिंगता (Homosexuality, sexual inversion)—(१) दिलिङ्गी—इसमें पुरुष और स्त्री दोनों की ओर आकर्षण होता है। (२) इसमें केवल अपने लिंग व्यक्ति की ओर आकर्षण होता है। (३) मानसिक प्रवृत्ति दूसरे प्रकार के लिंग के व्यक्ति के समान होती है। (४) शारीरिक आकृति दूसरे प्रकार के लिंग के व्यक्ति के समान होती है।

नारीपण्ड और नरपण्ड इस प्रकार के हैं—

(ग) जानवरों की ओर आकर्षण होना (Bestiality)—कुत्ता, बिल्ली, सूअर, गौ, घोड़ी, बकरी इत्यादि जानवरों का उपयोग किया जाता है। इसको 'तियर्येनोगिमन' कहते हैं।

(घ) लैंगिकता या कुमारप्रियता (Pedophilia)—छोटेछोटे बालक बच्चों के ऊपर प्रेम करना।

(ङ) मृतदेवाजी या शवप्रियता (Necrophilia)—शरीर पर प्रेम करना।

(२) हेतुविपर्यय—

(च) शिरस और योनि के अतिरिक्त अन्य स्थानों में आनन्द प्राप्त करना (अयोगिमन), या किसी असाधारण वस्तु या क्रिया से आनन्द प्राप्त करना (Fetichism)। आसेक्यादि घटुविषय पुरुष हस्ती धर्म में आते हैं।

(छ) प्रदर्शनीयता (Exhibitionism)—इसमें मनुष्य में अपने सुश्राण दूसरों को सार्वजनिक स्थानों में दिखाने की प्रवृत्ति होती है।

(ज) कामक्रूरता (Sadism, Masochism)—इसमें कामुकविपर्यय के अतिरिक्त दूसरे पर कर्मानामाप्तेन्द्र प्रसार करना इत्यादि क्रूरकर्म करने की प्रवृत्ति होती है।

(झ) वाम का विपरीतच्छात्रण्य (Parodoxia sexualis)—इसमें अकाल में कामवासनाओं का उद्वेग होता है। जैसे—छियाँ में बारह साल के पूर्व और पुराँ में

पंद्रह साल के पूर्व कामवासना प्रबल होना । किंवा घृद्धा-
वस्था में काम फिर से प्रबल होना ।

इन लैङ्गिक विपर्ययों के उदाहरण उपर्युक्त सुश्रुत के
श्लोकों के अतिरिक्त और भी मिलते हैं—यामातां हि प्रकृति-
कृपयाश्चेतनाचेतनेषु । (मेघदूत ९) । नहि जाववलाः सर्वेनराश्चा-
पत्यभागिनः । बृहच्चरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्वलाः ॥ सन्ति
चाल्पवलाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः । प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति
चामयदुर्वलाः ॥ नराश्चटकवद् केचित् प्रजन्ति बहुशः स्त्रियम् ।
गजबध प्रसिद्धन्ति केचिन्न बहुगामिनः ॥ कालयोगवलाः केचित्
केचिदभ्यसनभवाः । केचित् प्रयत्नैर्ब्यज्यन्ते वृषाः केचित् स्वभावतः ॥
(चरक, चिकित्सा २) । नान्ययोनि नायोनी व्यवयं गच्छेत् ।
(चरक) । तिर्यग्योनावयोनी च प्राप्तशुक्रविधारणम् । दुष्टयोनीं
विसर्गं तु बलवानपि वर्जयेत् ॥ (सुश्रुत) । तिर्यग्योनिरजादिः ।
श्रयोनि मुखमैथुनम्, यथा दाक्षिणात्याः स्त्रियो मुखे मैथुनं कार-
यन्ति । (डल्हण) । स्त्रीयोगेयैव पुरुषायामपि श्रलम्बवृत्तीनां विद्यो-
निषु विजातिषु स्त्रीप्रतिमासु केवलोलोपमर्दान्नाभिप्रायानिवृत्तिर्न्यास्याता ।
धान्यिकां सर्वां दासीं वा पुरुषवदलक्ष्याकृतिंसंयुक्तैः कन्दमूलफला-
वयवैरपद्रव्यैर्वाऽस्त्रामिप्रायं निवर्तयेत् ॥ वियोनिषु बालोरुकक्षादिषु,
विजातिषु ष्ठीवडवादिषु । स्त्रीप्रतिमासु स्त्रीप्रतिकृतिषु समुत्कीर्ण-
स्त्रीलिङ्गादिषु । कन्दा श्राद्धकदल्यादीनाम् । मूलं तालकेनकीनाम् ।
फलमलाशुक्लकटीनाम् । (वात्स्यायनकामसूत्रस्य [जयमंगला-
टीकायाम्, यशोधरः]) स्त्रियसयोनी गच्छतः पूर्वस्साहसदण्डः,
पुरुषमधिमेहतश्च । मैथुने द्वादशपणः तिर्यग्योनिस्वात्मनः । दैवत-
प्रतिमानां च गमने द्विगुणः स्यूतः । स्त्रीपुंसयोर्मैथुनाभेनाङ्गविचेष्टायां
रहशीलसंभाषायां वा चतुर्विंशतिपणः स्त्रिया दण्डः, पुंसो द्विगुणः ।
केशनीवीदन्तनखाबलमन्येन पूर्वस्साहसदण्डः । (कौटिलीय अर्थ-
शास्त्र) । इसके सिवाय 'औपरिष्टकम्' और 'प्रहणनयोगा'
इत्यादि कामसूत्र के द्वितीय अधिकरणगत प्रकरण भी कामुक
विपर्यय के ही हैं । उनके अन्त में वात्स्यायन लिखते हैं—
कष्टमनार्यवृत्तमनाद्व्युत्पत्तिं वात्स्यायनः । तथादन्यदपि (प्रस्तरात्पा-
हनं) देशसात्म्यात्प्रयुक्तमन्यत्र न प्रयुज्जीत ॥ तदेतत्त न कार्यं
समयविरोधादसम्भवाच्च ।

ये लैङ्गिक विपर्यय अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक,
क्या समय और क्या असमय, सभी लोगों में संसार भर में
प्रचलित हैं, क्योंकि कामातुर मन क्या करेगा, इसका कोई
ठिकाना नहीं—अर्थस्यास्य रहस्यवाञ्छजत्वान्मनसस्तथा । कः
कदा, किं कुतः कुर्यादिति को ज्ञानुमर्हति ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) ।
कामातुराणां न भयं न लज्जा । (सुभाषित) । शास्त्राणां
विषयस्तावद्यावन्मदरसा जनाः । प्रवृत्ते रतिक्रमे तु नैव शास्त्रं
न च क्रमः ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । लैङ्गिक विप-
र्यास के कारण—इन लैङ्गिक विपर्ययों (Sexual per-
verts) को धार्मिकदृष्ट्या पातक का डर दिखाया जाता
था, सामाजिक दृष्टि से लोग उनको घृणा से देखते थे और
राजकीयदृष्ट्या विपर्ययकाम करने पर उनको दण्ड दिया
जाता था और अब भी इन तीन उपायों द्वारा उनकी
संभावना होती है । परन्तु ये लोग इन उपायों का प्रयोग
होते हुए भी प्राचीनकाल में थे, वर्तमानकाल में हैं, और
भविष्यकाल में होंगे । पाश्चात्य देशों में गत अर्धशताब्दी
में मानसशास्त्र के साथ साथ कामशास्त्र का भी काफी
विचार हुआ है; और कुलजप्रवृत्ति, गर्भावक्रान्ति, शरीर-
कार्यविज्ञान इत्यादि अनेक शास्त्रों की सहायता से मन के
७ सु० सं०

इन कामुक विपर्ययों का विचार करने पर पाश्चात्य शास्त्रज्ञ
इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यद्यपि बाल्य और युवावस्था में
खराब संगति के कारण मनुष्यों को खराब आदतें लग सकती
हैं, तथापि अधिकसंख्य लोग अपनी आन्तरिक प्रकृति के
कारण ही विपर्यय होते हैं; अर्थात् उनकी प्रकृति विपरीत
होती है । इस विप्रकृति के तीन कारण माने गये हैं—

(१) आदिवलप्रवृत्तिदोष (माता पिता के बीजों का
दोष (Hereditiv)—माता पिता के धन के लिये जैसे उनकी
प्रजा अधिकारी होती है, वैसे ही उनके शारीरिक और
मानसिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के लिए भी उनकी प्रजा
अधिकारी होती है । यह स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य उनके
बीज के द्वारा संतति में प्रविष्ट होता है । कामुक विपर्यास-
युक्त मातापिता की प्रजा में कामुक विपर्यास
उत्पन्न हो सकता है । (२) जन्मबलप्रवृत्ति (Anamolios of
development)—माता के उदर में स्थित गर्भ में माता
के आहार-विहार आचार-विचार के कारण या अन्य कारणों
से विविध मानसिक और शारीरिक विकार जैसे उत्पन्न होते
हैं या उनका सूत्रपात होता है, वैसे ही लैङ्गिक विपर्यास भी
उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है और जन्म के
पश्चात् बाल्यावस्था और युवावस्था में खराब संगति के
कारण या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं द्वारा उनकी
वृद्धि होती है । (३) अन्तःस्रावी ग्रंथियों (Endocrino
glands) के दोष—गर्भ में पुंस्त्व और स्त्रीत्व के लिए योग्य
वाह्य और आभ्यन्तरीय जननेन्द्रियां उत्पन्न करना, जन्म के
पश्चात् योग्य वय में उनकी वृद्धि करना, दाढ़ी मूँछें, स्तन-
वृद्धि इत्यादि व्यञ्जकविशेषों की वृद्धि करना तथा स्त्री और
पुरुष के लिए योग्य मनोवृत्ति को बनाना इत्यादि सब कार्य
शरीरगत कुछ विशेष ग्रंथियों के अन्तःस्राव से होते हैं ।
इन ग्रंथियों में स्त्रीत्व के लिए बीजग्रंथि Ovary का स्राव
और पुरुषत्व के लिए घृणण का स्राव महत्व का है । इनके
सिवाय अधिवृक्कग्रंथि (Suprarenal), ग्रीवाग्रंथि (Thyroid),
थायमस (Thymus), पोषणकग्रंथि (Pituitary) इत्यादि
अनेक ग्रंथियां लैङ्गिक कार्य में सहायता करती हैं । गर्भावस्था
में तथा जन्म के पश्चात् इनका कार्य विकृत होने से नरनारी-
पण्डता, स्वलिङ्गता, कामजडता, कामोन्मत्तता, द्विलिङ्गता
इत्यादि अनेक लैङ्गिक विपर्यय उत्पन्न होते हैं । इन ग्रंथियों
की विकृति प्रायः आदिवल और जन्मबल के कारण ही
हुआ करती है । इसलिए आधुनिक विद्वानों का यह कथन है
कि लैङ्गिक विप्रकृतियां प्रकृतिप्रभव होती हैं और विप्रकृति
और प्रकृति वास्तव में एक ही प्रकृति के तरतमदृष्टि से
उत्पन्न हुए भेद हैं—

The elements of pathology are already to be found
in the physiological, and pathological processes
are still following the laws of physiology. Every
normal man in matters of Sex, when we examine
him carefully enough, is found to show some ab-
normal elements and the abnormal man is merely
manifesting in a disordered or extravagant shape
some phase of the normal man. Psychology of sex
लैङ्गिक विपर्ययों की उत्पत्ति के संबंध में पाश्चात्य शास्त्रज्ञों

के अनुसार ऊपर जो तीन कारण दिये हैं, वे ही तीन कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यही वही आश्चर्यजनक और सतोप-जनक बात है (१) आदिवलप्रवृत्ति दोष—यदा तु स्त्रिया शोषितगर्भाशयो दोषा किञ्चिद् प्रवृथ्वन्ति तदा वो गर्भो भवति तस्य गर्भस्य यस्य यस्य मातृजन्मावभवस्य बीजे बीजाशये वा दोष प्रकोपनापद्यते त तमवयव विकृतिराविशति। एवमेव पुनो यदा शुक्रादये बीजे बीज प्रदुष्यति, इत्यादि योजयेद्गन्ध्य पूनिप्रज तथा पुरषाकृतिप्राय पुरुष तुष्णमुखिन नाम जनयति। (अष्टाङ्गसंग्रह)। इसके सिवाय सुधुत में आसेक्यादि पद्विध पण्ड और चरक में द्वैतात्, वकी इत्यादि पण्ड शुभशोणितदोषजन्य ही वर्णन किये हैं। (२) जन्मत्रलप्रवृत्ति दोष—बीजात्म गर्भाशयवाल्दोषैर्मातुस्तदाहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दुष्टा विविधानि दोषा सत्थानवर्णैर्द्रव्यैर्कृणानि ॥ (चरक)। इसमें इन्द्रिय-वैकृत के भीतर ऐन्द्रिक विपर्यय आ जाते हैं। शुक्राशय गर्भ-गन्धस्य गत्वा करोति वायु पवनन्द्रियत्वन्। नाव्यमिदोषादपुरुषयो तु यस्य नाश गतो वाक्पिपण्डक स। शुक्राशयद्वारविषट्पेन सस्कार वाह वि करोति वायु। व्यवयश्रीश (गर्भिणी) दुर्बपुष्पश्लोक सैथ वा। अग्निधारी परोपनापिनमिषु सैथ वा। वद्वन्निरथा दुर्बलमल्पशुक्रमनपथ वा। (चरक)। (३) स्त्रीकर और पुरुषकर भाग दोष—यदा तु अस्या शोषिते गर्भाशयबीज भागावयव स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेश प्रदोष प्राप्यते तदा स्थाकृतिभूषिष्ठामस्त्रिय भार्वा नाम जनयति। यदा तस्य बीजे बीजभागवयव पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेक-देश प्रपेयप्राप्यते तदा पुरषाकृतिभूषिष्ठमपुरुष तुष्णमुखि नाम जनयति। (चरक)। स्त्रीकर शरीर भाग के संबंध में चत्रपाणिदत्त लिखते हैं—स्त्रीकराणां शरीरबीजभागानामिति स्त्रीत्वञ्चरुलनो पश्यतेमराश्यादिजन्यबीजगणानाम्। जैसे ही 'पुरषगणामिति पुमत्वञ्चरुलनो पश्यतेमराश्यादिजन्यबीजगणानाम्' भी कह सकते हैं। संबंध में स्वन रमश्च इत्यादि स्त्रीत्व पुरुषत्व-व्यञ्जक अंगों की उत्पत्ति करने वाले भाग का दोष। आधुनिक शारीरवाच्यविज्ञान के अनुसार यह सिद्ध हुआ है कि पुरुषत्व और स्त्रीत्व व्यञ्जक अंगों की उत्पत्ति का काम विशेष अन्तःप्राची ग्रथियों के रस से होता है—

The main spring of puberty lies in the sexual hormone, the hormone, so we have learned, is a product of internal secretion by the sex glands. The testicles in the male and the ovaries in the female are the workshops and supply stations of sexual hormone. Now, sexual hormone is not a new ingredient of puberty. It has existed before and some authorities have reserved for it the formidable task of sex differentiation in the embryo. It decides the issue between male and female. Secondary sexual characteristics one being developed. The larynx grows longer. The voice gets deeper. A crop of hair appears on the face and upper lip of the male. The testicles grow larger. The female breasts swell. The girdle becomes fuller. *The Riddle of the sex*

चक्रपाणिदत्त के कथन का मेल हम उद्धरण के साथ करने पर स्त्रीकर और पुरुषकर भाग आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा

के अनुसार sexual glands समझ सकते हैं। आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष नपुंसक हैं। उनमें एक विशेष स्क्कार से ध्वजोच्छ्वाय होता है, अन्यथा उनमें ध्वजोच्छ्वाय नहीं होता। इस अवस्था को स्क्कारवाहित्य (Fetichism) कहते हैं। नपुंसकत्व (Impotence) का यह कारण है। इसके सिवाय और भी कई कारण होते हैं, उनका यहाँ सचेत में विचार किया जाता है।

नपुंसकता (Impotence) के कारण—(१) शिक्ष और धृष्टण के विकार—वेदाम्सात्। (अष्टागसंग्रह)। वदन्ति शेषमच्छेदात्। (चरक)। जैसे शिरन का सहजव्यग, निरुद्धप्रकश, धृष्टण-स्य, शिक्ष का अभाव, शिक्ष का कर्कट (बैन्सर), स्त्रीपद, जल धृष्टण (मूत्रज्युष्टि) इत्यादि।

(२) शारीरिक विकार—रसादीना च सद्यत्। वाता दीनां च वैभ्रमात्पैदानशनाच्छ्रमात्। (चरक)। अनिस्थीत्यात्। (अष्टागसंग्रह)। अर्या, क्षयात्। (चरक)। मधुमेद, वातरक्त, जरा, पोष-ग्रथि का कार्य ठीक न होना (Hypopituitarism), अनिस्थीत्य, फिरा की चौथी अवस्था ने मस्तिष्क सुधुन्नागन विकार, च-ररिम का परिणाम वातक रक्तचय, राजयक्ष्मा, फिरा और विपमज्वर दीर्घत्व इत्यादि।

(३) मानसिक विकार—चिन्त्या, शोषा चानिनिषेवशात्। शोषामसवनात्, शोषोपदशनात्, अरसत्वात्, शोकचिन्त्या भयत्रासात्। (चरक)। अविश्वात्, शोषामरीशनात्, कोषत (अष्टागसंग्रह)। मन, मस्तिष्क और मैथुनकर्म के संबंध में पाण्डे इसी वक्तव्य के प्रारम्भ में जो विवरण किया गया है, उस से मानसिक विकारों का नपुंसकता के साथ चिन्ता घना संबंध है, इसका बोध हो जायगा। जब तक पुरुष का मन मैथुन की ओर नहीं खोगा तब तक जननेन्द्रिय में खर रक्तसंयव नहीं होगा और ध्वजोच्छ्वाय भी ठीक नहीं होगा। इसलिए मैथुन के समय 'तन्मय' होना बहुत आवश्यक है—उत्सर्ग मैथुनाहारशोधने रक्षत्। (सुधुत)। उपयुक्त मानसिक विकारों से पुरुष का मन मैथुन से पराङ्मुख हो जाता है, जिसमें ध्वजोच्छ्वाय ठीक न होने के कारण मैथुन नहीं हो सकता। हम विषय का कुछ अधिक विवरण सुधुत चिकित्सास्थान के २९वें अध्याय में होगा। वध्याता के भी प्राय-वे ही कारण होते हैं। पाण्डे २ सूत्र का वक्तव्य तथा ३ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में पुरुष की मन स्थिति की टिप्पणी भी देखो।

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।

र्योपुसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि साहशः ॥४८॥

(आहाराचारचेष्टा वा सन्तति पर परिणाम—) जिस प्रकार के आहार, आचार और चेष्टाओं से पुत्र होकर ली और पुरुष समागम करते हैं, उस प्रकार की सन्तान उनमें (उत्पन्न) होती है ॥४८॥

वक्तव्य—पुत्र—कन्या या पुत्र—पुत्रदोषोत्पत्त्यापो पल्लवाशोषेन। (अर्यगदत्त)। समुपेयातात्—इसमें केवल समागमकाल अभिप्रेत नहीं है, समागमपूर्वकाल भी इसमें समाविष्ट है। इसको गर्भधारणकाल (Procreation period) कहते हैं। इस काल की अवधि आयुर्वेद के अनुसार अधिक से अधिक एक महीने

की समझ सकते हैं—मांस ब्रह्मचारी, मांस ब्रह्मचारिणीम् । (सूत्र २९ देखो) । यह एक महीने का काल स्त्री की दृष्टि से उचित है, क्योंकि एक महीने में केवल एक ही बीज कोष से पक्क होकर बाहर निकलता है, जिससे गर्भधारणा हो सकती है । पुरुष की दृष्टि से एक महीने की अवधि कुछ अधिक है, क्योंकि उसके वृषण में प्रतिदिन असंख्य शुक्राणु उत्पन्न होते हैं । परन्तु व्यवहार के लिए अधिक से अधिक एक महीने की अवधि दोनों में भी उचित समझी जा सकती है । पाश्चात्य शास्त्रज्ञ मद्य, अफीम इत्यादि नशीली चीजों का वर्जन गर्भाधान के पूर्व एक महीना भर करने को कहते हैं—

Prospective parents who in intentional procreation wish to give life to a child with the best possible predispositions must be advised not to drink alcohol for a long time—at least four weeks. This period is not chosen arbitrarily. It is based at least for the women, on the consideration that a poisoned follicle and vitellus developed from it might damage and endanger embryo and pregnancy. This abuse (opium and morphia, etc.) might be discontinued at least for the period (one month) claimed above for preparation for the act of procreation. *Ideal Birth.*

इस एक महीने के काल में स्त्री और पुरुष का जिस प्रकार का आहार होगा, विहार होगा, मानासक स्वास्थ्य होगा; उसी के अनुसार अपत्य भी स्वस्थ या अस्वस्थ, सबल या निर्बल, आनंदी या दुःखी, चञ्चल या स्थिर हो जायगा । इसलिए जिस प्रकार के अपत्य की इच्छा हो, उस प्रकार के अपत्य के लिए उचित आहार, विहार, आचार, विचार, चिन्तन इत्यादि शारीरिक और मानसिक कर्म स्त्री और पुरुष दोनों को ही एक महीना भर के लगभग करने चाहिए—रच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितंश्च तौ । चिन्त्येतां जनपदास्तदाचारपरिच्यदौ ॥ (अष्टांगहृदय) । *Ideal Birth* में भी लिखा है—

By procreation, we want to transmit our jago and make it go on living in our children and children's children. And therefore because we want to and must give our best we should set a certain time for concentration on the duty in which we prepare body and mind.

पीछे सूत्र २७वें का भी वक्तव्य देखो ।

पदा नार्याबुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन

मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥४६॥

(अनस्थिगर्भोत्पत्तिहेतु—) जब अत्यन्त कामातुर हुई दो किर्यां समागम करती हैं और किसी तरह से एक दूसरे में शुक्र का उत्सर्ग करती हैं, तब अनस्थि (गर्भ) पैदा होता है ॥४६॥

वक्तव्य—वृषस्यन्ती—वृषभ की इच्छा करने वाली गौ, यह इसका योगार्थ है । स्त्री की दृष्टि से वृष के समान मैथुन कर्म में चलवान् पुरुष के साथ समागम की इच्छा करने वाली अर्थात् अत्यन्त कामातुर—‘वृषं पुरपमात्सार्थचिच्छन्ती’ इति

वृषस्यन्ती । रावणावरजा तत्र राघवं मदनानुरा । अभिपेदे निदाघातां व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे । इति रामो वृषस्यन्ती वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ (रघुवंश १२) । शुक्र—स्त्रियों में मैथुन के आनन्द से योनिगर्भाशय से एक प्रकार का चिपचिपा स्राव खवता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । परन्तु यह पुरुषों के समान गर्भजनक शुक्र नहीं है, न इसका गर्भोत्पत्ति से कोई संबंध है; इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद में किया गया है—योमितोऽपि खवन्त्येव शुक्रं पुसां समागमे । गर्भस्य तत्र किञ्चित् करोतीति न चिन्त्यते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इस विषय के संबंध में अरुणदत्त अष्टांगहृदय की टीका में लिखते हैं—तदेवं तरुणीनां कुसुमशराक्रान्तमानसानां तथाविधेन पुरुषसंयोगेन विनाऽपि केवलात् स्मृतिसंस्पर्शदर्शनाच्चलितप्रसूतरेतसां किमिति गर्भो न जायते ? । शुक्रार्तवं हि गर्भकारणम् । तच्च सन्निति-तमेवेति केचित् । तान् ब्रूमहे । पुंशुक्राभावात् । पुंशुक्रं हि स्त्रीरेतोरक्त-युक्तं गर्भकारणम् । न च तदत्रास्ति । तदभावाद्गर्भस्याऽनुत्पत्तिः । तथा च संग्रहेऽप्यध्यगोष्ठ—। यूरोप में १७वीं शताब्दी तक मैथुन के समय के इस योनिगर्भाशयगत स्राव को स्त्रीशुक्र ही कहते थे और गर्भधारणा के लिए उसे आवश्यक मानते थे—

This mucous éjaculation was in former days regarded as analogous to the seminal éjaculation in men and hence essential to conception. The belief that mucus poured out in women during sexual excitement is feminine semen and therefore essential to conception had many remarkable conjectures and was wide spread until the seventeenth century. *Studies in the Psychology of sex.*

आयुर्वेद में इस प्रकार का अज्ञान स्त्रीशुक्र के संबंध में नहीं था, यह उपर्युक्त अरुणदत्त और वाग्भट के ग्रन्थों से स्पष्ट है । अनस्थि—अस्थिविरहित, कोमलास्थियुक्त या विकृतास्थियुक्त । ‘अ’ से अभाव, अल्पता और अप्राशस्त्य तीनों का बोध हो सकता है ।

इस श्लोक में नारीपण्डों (Female Homosexual) का उल्लेख है । नारीपण्ड स्त्रियों से प्रेम करती है, स्त्रियों से कामुक चेष्टा करती है, वेप आकृति इत्यादि में पुरुषों का अनुकरण करने की इच्छा करती है । जो द्विलिङ्गी नारीपण्ड (Bisexual) होती है, वह स्त्री से भी प्रेम करती है और किसी पुरुष की पत्नी होकर भी रह सकती है । इस श्लोक का अभिप्राय—(१) स्त्रीशुक्रसे गर्भोत्पत्ति का विचार किया जाय तो इस कथन को प्रत्यक्षविरोधी, आयुर्वेदविरोधी और अनार्प मानकर इस श्लोक को प्रक्षिप्त समझ सकते हैं । (२) यदि अनस्थि याने कोमलास्थि विकृतास्थि युक्त बालकों के विकारों (जैसे—Rickets, Osteogenesis Imperfecta, Fragilitas Ossium इत्यादि) की दृष्टि से विचार किया जाय तो यों कह सकते हैं कि इस प्रकार के कुकर्म के साथ इनकी उत्पत्ति का संबंध किया गया होगा, जैसे कि नरनारीपण्ड की उत्पत्ति में माता पिता के कुछ विपरीत कर्म का संबंध लगाया गया है । पूर्वापर संदर्भ से द्वितीय अर्थ अधिक उचित मालूम पड़ता है ।

अनुत्पत्ता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत् ।

आर्तं वायुरादाय कुक्षो गर्भं करोति हि ॥५०॥
मासि मासि विवर्तते गर्भेण्या गर्भलक्षणम् ।
फलं जायते तस्या वृत्तं पैतृकैर्गुणैः ॥५१॥

(विकृतगर्भोत्पत्ति—) परन्तु यदि ऋतुघाता स्त्री स्वर्ग में मैथुन का अनुभव करे तो वायु आर्तव को गर्भाशय में ले जाकर गर्भ को उत्पन्न करता है ॥ ५० ॥ (इस प्रकार की) गर्भिणी के गर्भ के लक्षण प्रतिमास बदलते जाते हैं, (परन्तु) उसका (वह गर्भ) पितृगुणविरहित (केवल) कल्ल बनता है ॥

वक्तव्य—एकमे मैथुनमासदेव—पुरपसमागम के समय तथा समागम का चिन्तन करने से जैसे स्त्रियों की योनि गर्भाशय से शुक्रलाव होता है, वैसे हा स्वर्ग में मैथुन का दृश्य देखने पर पुरुषों के समान स्त्रियों में भी योनिगर्भाशय से शुक्रलाव होता है—

Inquiries into the lives of girls reveal numerous incidents of orgasmic dreams resulting, probably, in secretions from cervix and other parts, such as seen in normal intercourse *As die of sex*

गर्भलक्षण—आर्तव का बंद होना, मातृवर्धन इत्यादि जो तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र में वर्णन किये हैं । पैतृकैर्गुणैः—गर्भ में केश, श्मश्रु, नख, अस्थि, सिरासनाद्यु इत्यादि घातु पिता से उत्पन्न होते हैं, तीसरे अध्याय का ४२वां सूत्र देखो । इन घातुओं से विरहित गर्भ उत्पन्न होता है ।

इन स्त्रियों के भी पिछले स्त्रियों के अनुसार दो अर्थ कर सकते हैं । (१) स्त्री के आर्तव के साथ स्वर्ग में मैथुन कर्म अनुभव करने पर उत्पन्न हुए स्त्री के शुक्र का संयोग गर्भोत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं है, इसका विचार पिछले स्त्रियों के वक्तव्य में किया गया है । अतएव इन स्त्रियों को अनार्य या प्रचिप्त मानना । सुश्रुत के प्राचीन टीकाकार जेज्जाटाचार्य इन स्त्रियों को नहीं पढ़ते हैं—इसी द्वाविपे स्तोमो जेज्जाटाचार्येण न पठितो । (उल्लङ्घनीका) । (२) अथवा अस्थि श्मश्रु इत्यादि से विरहित विकृत गर्भ की उत्पत्ति के लिए विवाहित स्त्री का स्वर्गमैथुन कारण मानना । पूर्वोपर सदृश से दूसरा अर्थ प्रशस्त है ।

कुम्भों से मनुष्यों को पराश्रुत करने के लिये प्रत्येक शास्त्र अपने अधिकारानुसार उसका स्वराव फल बतलाता है । जैसे—अर्थशास्त्र कुम्भ के लिए दण्ड देता है, धर्मशास्त्र प्रायश्चित्त या दूसरे जन्म में नीच योनि या रोग की उत्पत्ति बतलाता है और वैद्यशास्त्र इन्हीं जन्म में रोगोत्पत्ति या सन्तति में रोगोत्पत्ति बतलाता है । जैसे—भगवद्गीतादिपाद स्थान् श्वश्रु सखिभाष्य । (पृष्ठगीतम्) । श्रियमयोगी गच्छन् पूर्वस्मात्सदण्डं, पुरवमपिमिदं वक्ष्ये । (कीटिलीय अर्थशास्त्र) । भद्रकीससम्भवनपरस्वररणादिभिः । वमसि पाप रोगस्य प्राज्ञ उग्रस्य सभक्त् ॥ (सुश्रुत) । इस श्लोक से रक्तगुलम का भी अर्थ निकाला जाता है, परन्तु निम्न कारणों से यह अर्थ अर्थव्याप्य मालूम पड़ता है—(१) पूर्वोपर सदृश से वह श्लोक गर्भ की विकृति के सम्बन्ध में लिखे गये हैं । रक्तगुलम गर्भ की विकृति नहीं है, गर्भाशय की विकृति है, निरर्तमें गर्भ के समान लक्षण होते हैं—ममगमविद् । (२) चरक, सुश्रुत, वाग्भट तथा आधुबेद के अन्य ग्रंथों

में रक्तगुलम के कारणों में स्वर्गमैथुन का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है । (३) यदि प्रथकार इससे रक्तगुलम समझता तो उत्तरतन्त्र में जहाँ पर इसका विवरण किया गया है, वहाँ का उल्लेख यहाँ पर कर देता, जैसे कि पानीय चार के बारे में किया गया है—न केनरचारवद्वन्धा परित्तावेद, तस्य विस्मरो न्यव (उत्तरस्थाने चारपाकविधि अध्याय) ।

सर्पवृश्चिकट्टुपाण्डविकृताष्टतयश्च ये ।
गर्भास्वेते स्त्रियाश्चैव हेयाः पापवृत्ता भृशम् ॥ ५२ ॥
गर्भां वातप्रकोपेण दौष्टदे वायमानिते ।
भवेत् कुञ्ज-कुणि-पद्भुम्को मिम्भिन एव च ॥ ५३ ॥
मातापिनोस्तु नास्तिस्याद्युग्मेश्च पुत्रजतैः ।
यातादीनां च कोपेन गर्भां विकृतिमान्पुयात् ॥ ५४ ॥

(गर्भ की विकृतियाँ और उनके हेतु—) सर्प, वृश्चिकट्टुपाण्ड (इत्यादि के समान) विकृताकारी जो स्त्रियों गर्भ (होते हैं), वे अकसर पाप कर्मों से (होते हैं), ऐसा जानना चाहिए ॥ ५२ ॥ वातप्रकोप से, अथवा दौष्टदे व अवमानना करने से गर्भ कुञ्ज, कुणि (जिसका हाथ विक या स्वराव हो गया है ऐसा), पद्भु (लँगड़ा या विकृत पै का), गूक (गूंगा),^५ अथवा मिम्भिन (जिसका उच्चार नामा में होता है ऐसा, साधुनासिक वाक्) होता है ॥ ५३ ॥ माता पिता की नास्तिकता से पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों से और वातादि (दोषों) के प्रकोप से गर्भ विकृति को प्राप्ति करता है ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—सर्पवृश्चिकादि—इससे सर्प वृश्चिकादि व अर्थ न करना चाहिए । मनुष्ययोनि में जन्म लेकर जिन शरीर मनुष्य की वास्तविक आकृति से भिन्न होता है, वे विकृताकारी गर्भ हैं इस शब्दप्रयोग से अभिप्रेत हैं । विकृताकृत्य—गर्भ में जो अनेक विकृताकार दिखाई देते हैं वे अर्थात् की अतिपृष्टि, अपृष्टि और अर्धपृष्टि इन कारणों से होते हैं । वे विकृताकार Anomalies of foetal developments or Congenital malformations कहलाते हैं । इसमें कटा होंट, फटी तालु, टेया पैर, विकृत हस्त अंगुलियों का अधिक, कम या संयुक्त होना, उनका अभाव गुदा या मूत्रद्वार का न होना, सिर का बढ़ा होना, मस्तिष्क कावर्ण और सुपुत्राणुरण की प्रथियाँ (No ngscolo), इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं । इसमें से विशेष प्रकार की विकृताकारता को Monstrosity या Terata कहते हैं और विकृतगर्भ को Monsters (राक्षस) कहते हैं । सर्पादि उदाहरण इसी वर्ग के हैं । आधुनिक काल में इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

(अ) श्लुकटाक्षस (Single monstrosities)—इसमें केवल एक ही गर्भ की विकृतियाँ आती हैं । इनके तीन विभाग किये हैं—(१) नाभिगीवी Omphalosito, —इसमें नाभि नाड़ी द्वारा नाभि के नीचे के अंगों का पोषण होता है, परन्तु हृदय मिर इत्यादि ऊपर के अंगों का पोषण नहीं होता । कभी कभी मूत्रपिण्ड के समान यह अवस्थि और निराकारी (Andreas) भी होता है । इस प्रकार के हृदयहीन (Acardiac) गर्भ एकहीनोत्पन्न युग्म गर्भों में

कभी कभी उत्पन्न होते (पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हैं । (२) प्रातःजीवी (Autosito)—इसमें नाभिनाड़ी द्वारा प्रारम्भ में सभी अंगों की वृद्धि होती है, परन्तु आगे जाकर किसी न किसी अंग की वृद्धि रुक जाती है । जैसे—किसी में अधःशाखा या ऊर्ध्वशाखा की वृद्धि ठीक नहीं होती, वह शाखाविकारी (Teratomialians) कहलाता है; किसी में शाखाएँ संयुक्त रहती हैं; किसी में अन्तराधि की दीवाल ठीक नहीं बनती, वह अन्तराधिविकारी कहलाता है; किसी में खोपड़ी या मस्तिष्क की वृद्धि ठीक नहीं होती या बिलकुल नहीं होती, उसे शीर्षविकारी (Terato oncephalians) कहते हैं; किसी में मुख का ऊपर का या नीचे का भाग नहीं मिलता, वह मुखविकारी (Terato cephaliens) कहलाता है । (३) परोपजीवी (Parasito — इसमें नाभिनाड़ी भी नहीं होती । ये केवल निराकारी ल होते हैं, जो माता के गर्भाशय की दीवाल पर बाँधे की ह चिपककर उसी से रस ग्रहण किया करते हैं । अल्प ये परोपजीवी कहलाते हैं ।

(आ) त्र्युत्तराक्षस Double monsters—इसमें गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं । इसके निम्न विभाग किये थे—(१) युग्म आत्मजीवी (Double auto-sito)—इसमें दो पूर्ण गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं Terato pagians — यथा नाभि के नीचे का हिस्सा पृथक् होकर ऊपर का जुड़ा होता (Teradelphian) है; या दोनों के शीर्ष पृथक् होकर १५ अंग जुड़ा रहता (Teratodymos) है । (२) आत्मपरोपजीवी (Auto parasito)—इसमें परोपजीवी गर्भ दूसरे गर्भ पर जुड़ा रहता है । जैसे—एक स्वतन्त्र गर्भ के सिर के साथ दूसरे का केवल सिर जुड़ा रहता है, या दूसरे के केवल हाथ पैर जुड़े रहते हैं, या एक के उदर में दूसरा गर्भ मिलता है । दो जुड़े हुए गर्भ प्रायः एकजीवात्मक दो गर्भों का सम्पूर्ण पृथक्त्व न होने के कारण उत्पन्न होते हैं । पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो ।

विकृताकृति गर्भ की उत्पत्ति के कारण—पाश्चात्य वैद्यक में गर्भ की जन्मज विकृति के कोई विशेष हेतु नहीं बतलाये हैं । आयुर्वेद में इसके छः कारण बतलाये गये हैं, जो बहुत युक्तियुक्त मालूम होते हैं और जब तक दूसरे कारण सिद्ध नहीं हुए हैं, तब तक इनको मानना ही उचित है । (१) पापकर्म—माता पिता के पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पापाचरण तथा गर्भ के पूर्वजन्म के पापकर्म । माता पिता के पापाचरण में स्त्रियों का आपस में मैथुनकर्म, स्वप्नमैथुन इत्यादि कर्मों का समावेश कर सकते हैं । (२) बीजदोष—इसमें माता के बीज का तथा पिता के शुक्राणु के दोषों का समावेश होता है । (३) गर्भाशयदोष—फिरंग, सोजाक, गर्भाशयशोथ, प्रदर इत्यादि विकार इसमें आते हैं । (४) माता के आहार-विहार का दोष—इसमें गर्भाधान होने के पश्चात् के आहार-विहार का समावेश होता है । तत्पूर्व के आहार-विहार के दोषों का समावेश नं० २ और ३ में होता है । (५) माता के श्रद्धाविवाह का तथा मानसिक विकारों का परिणाम—श्रद्धा-विवाह का विवरण सूत्रस्थान के २४ वें अध्याय के ५वें सूत्र के वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ १९०-१९१) में किया गया है । इसी कारण में नास्तिक्य का भी समावेश करना

चाहिए, क्योंकि नास्तिक्य मन की ही एक अवस्था है । धर्मशास्त्र और परमार्थ की दृष्टि से 'नास्तिक्यं ग्रहधानता परमार्थध्यानमाथेयु' इस प्रकार नास्तिक्य की व्याख्या की गई है । इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कहते हैं । वैद्यकीय दृष्टि से इसकी व्याख्या निम्न प्रकार कर सकते हैं—'नास्तिक्यं ग्रहधानता आयुर्वेदोपदेशु' और इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कह सकते हैं । जैसे परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होती है, वैसे ही आयुर्वेद में याने वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य प्राप्त होता है । एक बार परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होने के बारे में सन्देह उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य-प्राप्ति के संबंध में सन्देह करने का कोई कारण नहीं होता, उसका फल तुरन्त मिलता है । वैद्यकीय नास्तिकता का स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है । गर्भाधान के पूर्व बतलाये हुए नियमों की माता-पिता को क्या आवश्यकता है ? मैथुन के समय चित्त शान्त और प्रसन्न रखने की क्या आवश्यकता है ? गर्भिणी को आहार-विहार के नियमों की क्या आवश्यकता होती है ? इत्यादि । इस नास्तिकता के कारण माता-पिता अपथ्यकर आहार-विहार करते हैं, जिससे वातादि दोष प्रकुपित होकर गर्भ की स्वाभाविक वृद्धि में बाधा होती है और विविध विकार उत्पन्न होते हैं । (२) कालदोष—काल से माता-पिता की आयु, समारामकाल, गर्भधारणकाल तीनों का बोध होता है, और माता-पिता का अतिवाल या अतिवृद्ध होना, दोनों में अनमेल, जल्दी जल्दी गर्भधारणा होना, निषिद्ध समय में मैथुन करना, अशुभ काल पर गर्भाधान होना इत्यादि बातों का समावेश काल के दोषों में होता है । याज्ञवल्क्यस्मृति और चरक में ये ही दोष बतलाये गये हैं—माल्यमांसवीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च । गर्भस्थ वैकृतं दृष्टमद्गदीनादि अन्ततः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१६६) । बीजात्मकामांशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहार-दोषैः । कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णैर्न्द्रियवैकृतानि । वर्षासु काष्ठशमघनाशुवेगास्त्रयोः सरित्तोवसि संस्थितस्य । तथैव कुयुर्विकृति तथैव गर्भस्य कुची नियतस्य दोषाः ॥ (शारीर २) ।

मलात्पत्वाद्योगाच्च वायोः पक्काशयस्य च ।

वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥५५॥

(गर्भावस्था में मलादि के अभाव के कारण—) मल के अल्प होने से तथा पक्काशय की वायु के अयोग से गर्भाशयस्थ (बालक) वात, मूत्र और मल (का उत्सर्ग) नहीं करता है ॥५५॥

वक्तव्य—मलात्पत्वात्—गर्भाशयस्थ बालक के पचन और श्वसनसंस्थान के अतिरिक्त सब संस्थान कार्य करते हैं । श्वसन के अकार्यकारित्व का उल्लेख आगे के श्लोक में किया गया है । पचनसंस्थान में जो मल बनता है, वह मुख द्वारा सेवन किये हुए आहार का अपाच्य अंश होता है । गर्भस्थ बालक मुख से कुछ भी सेवन नहीं करता, उसका पोषण माता के आहाररस से होता है । इसलिए पक्काशय में आहारजन्य मल का अभाव होता है—अज्ञानस्य साक्षादन्नपानानुप्रवेशदमलत्वाच्च रसस्य गर्भस्थ स्थूलमांसभवः । (अष्टांगसंग्रह) । परन्तु आन्न की श्लेष्मल कला की दृष्टी फूटी कोशापुँ (सेलें) इकट्ठा होकर कुछ मल जम जाता है । पित्त के कारण इसका वर्ण हरा काला सा रहता ।

ध्यानं चायुरादाय कुक्षो गर्भं करोति हि ॥५०॥
मानि मासि विन्यत गर्भण्या गर्भलक्षणम् ।
फलं जायते तस्या घञित पेटुर्गुणैः ॥५१॥

(विहृतगर्भोत्पत्ति—) परन्तु यदि श्रुतग्रान्ता स्त्री स्वप्न में मैथुन का अनुभव करे तो वायु आर्तव को गर्भाशय में ले जाकर गर्भ को उत्पन्न करता है ॥ ५० ॥ (इस प्रकार की) गर्भिणी के गर्भ के लक्षण प्रतिमास बदते जाते हैं, (परन्तु) उसका (बड़े गर्भ) पित्रगुणविरहित (केवल) फल्य बनता है ॥

वक्ष्य—(१) गर्भ मैथुनमावदेव—पुरण्यमागम के समय तथा समागम का चिन्तन करने से जैसे स्त्रियों की योनि गर्भाशय से शुद्धाव होता है, वैसे ही स्वप्न में मैथुन का दृश्य देखने पर पुरुषों के समान स्त्रियों में भी योनिगर्भाशय से शुद्धाव होता है—

Inquiries into the lives of girls reveal numerous incidents of orgasmic dreams resulting, probably, in secretions from cervix and other parts, such as seen in normal intercourse *R's die of sex.*

गर्भनक्षत्र—आर्तव का बंद होना, प्रातर्भ्रम इत्यादि जो तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र में वर्णन किये हैं ।
पेटुर्गुणैः—गर्भ में केश, रश्मि, नख, अस्थि, सिरास्नायु इत्यादि धातु पिता से उत्पन्न होते हैं; तीसरे अध्याय का ४२वां सूत्र देखो । इन धातुओं से विरहित गर्भ उत्पन्न होता है ।

इन श्लोकों के भी पिछले श्लोकों के अनुसार दो अर्थ कर सकते हैं । (१) स्त्री के आर्तव के साथ स्वप्न में मैथुन कर्म अनुभव करने पर उत्पन्न हुए स्त्री के शुक्र का संयोग गर्भोत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं है; इसका विचार पिछले श्लोक के वक्ष्य में किया गया है । अतएव इन श्लोकों को अनापं या प्रपिंस मानना । सुश्रुत के प्राचीन टीकाकार जेजडाचार्य इन श्लोकों का नहीं पढ़ते हैं—दशो द्वापि दपोरी जेजडाचार्य न पठिनी । (दखण्टीका) । (२) अथवा अस्थि श्चायु इत्यादि से विरहित विहृत गर्भ की उत्पत्ति के लिए विवाहित स्त्री का स्वप्नमैथुन कारण मानना । पूर्वोपर संदर्भ से दूसरा अर्थ प्रकट है ।

कुक्षो में मनुष्यों की परावृत्त करने के लिये प्रत्येक शास्त्र अपने अधिकारानुसार उसका खराब फल बतलाता है । जैसे—अर्थशास्त्र कुक्षम के लिए दण्ड देता है, धर्मशास्त्र प्रायश्चित्त या दूसरे जन्म में नीच योनि या रोग की उत्पत्ति बतलाता है और वैद्यशास्त्र इसी जन्म में रोगोत्पत्ति या सतति में रोगोत्पत्ति बतलाता है । जैसे—घनार्ष्यवाचिषाद् स्वात् श्रुग सदिभावण । (बृहतीतम) । श्विमयोनी गन्धन पूर्वस्तावत्सण्ड, पुरुषमधिमेहतथ । (कौटिलीय अर्थशास्त्र) । अन्नधीसज्जनवधपररवहरणादिभि । वनभि पाव-रोगस्य प्रदु इष्टव्य समवम् ॥ (सुश्रुत) । इस श्लोक से रक्तगुल्म का भी अर्थ निकाला जाता है, परन्तु निम्न कारणों से यह अर्थ अथवायं मादस पढ़ता है—(१) पूर्वोपर संदर्भ से ये श्लोक गर्भ की विहृति के सम्बन्ध में लिखे गये हैं । रक्तगुल्म गर्भ की विहृति नहीं है, गर्भाशय की विहृति है, जिनमें गर्भ के समान लक्षण होते हैं—समगमल्लिङ्ग । (२) चरक, सुश्रुत, वाग्भट तथा आधुनिक के अन्य ग्रंथों

में रक्तगुल्म के कारणों में स्वममैथुन का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है । (३) यदि ग्रंथकार हमसे रक्तगुल्म समझता तो उत्तरतन्त्र में जहाँ पर इसका विवरण किया गया है, वहाँ का उल्लेख यहाँ पर कर देना, जैसे कि पानी-घर के घारे में किया गया है—न वेनदारारत्न्या परिवत्तदेव, तव्य विलारोऽन्ध्र (उत्तरस्थाने चारपाकविधि अध्याय)

सर्पंशुक्रिकृष्णाण्डविहृताऽतृतीयश्च ये ।
गर्भास्त्वेते श्रियाश्चैव होयाः पापवृता भृशाम् ॥ ५२
गर्मां वातप्रकोपेण दौष्टदे वायमानिते ।
भवेत् कुञ्जः पुण्ड्रिः पद्भुर्भूको मिम्बिन एव च ॥ ५३
मातापिनास्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुत्रागतैः ।
यातादीनां च कोपेन गर्मां विहृतिमान्पुयात् ॥ ५४ ॥

(गर्भ की विहृतियाँ और उनके हेतु—) सर्प, वृक्षि कृष्णाण्ड (इत्यादि के समान) विहृताकारी जो स्त्रियों में गर्भ (होते हैं), वे अक्सर पाप कर्मों से (होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥ ५२ ॥ वातप्रकोप से, अथवा दौष्टदे के अवमानना करने से गर्भ कुञ्ज, कुण्डि (जिसका हाथ विकृत या खराब हो गया है ऐसा), पद्भु (लंगड़ा या विकृत पैर का), भूक (गुँगा), अथवा मिम्बिन (जिनका उच्चारण नामा में होता है ऐसा, सातुनासिक वाद्) होता है ॥ ५३ ॥ माता पिता की नास्तिकता से पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों से और यातादि (दोषों) के प्रकोप से गर्भ विहृति को प्राप्त हुआ करता है ॥ ५४ ॥

वक्ष्य—सर्पशुक्रिकारि—इससे सर्प शुक्रिकादि का अर्थ न करना चाहिए । मनुष्ययोनि में जन्म लेकर जितना शरीर मनुष्य की वास्तविक आकृति से भिन्न होता है, उसे विहृताकारी गर्भ इस शब्दप्रयोग से अभिप्रेत है ।
विहृताकारण—गर्भ में जो अनेक विहृताकार दिखाई देते हैं वे अंगों की अतिवृद्धि, अचुद्धि और अर्धचुद्धि इन कारणों से होते हैं । ये विहृताकार Anomalies of foetal developments or Congenital malformations कहलाते हैं । इसमें कटा हॉड, फटी तालु, देवा पैर, विकृत हस्त, अंगुलियों का अधिक, कम या संयुक्त होना, उनका अभाव, गुदा या मूत्रद्वार का न होना, सिर का बड़ा होना, भ्रूति कावर्ण और सुपुत्रावर्ण की प्रथियाँ (Meningocele) इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं । इनमें से विशेष प्रकार की विहृताकारता को Monstrosity या Teratoma कहते हैं और विहृतगर्भ को Monsters (राक्षस) कहते हैं । सर्पादि उदाहरण इसी वर्ग के हैं । आधुनिक काल में इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

(अ) शुकुटावत (Single monots) —इसमें केवल एक ही गर्भ की विहृतियाँ आती हैं । इनके तीन विभाग किये हैं—(१) नाभिजीवी Omphalost —इसमें नाभिनाड़ी द्वारा नाभि के नीचे के अंगों का पोषण होता है, परन्तु हृदय सिर इत्यादि ऊपर के अंगों का पोषण नहीं होता । कभी कभी शुकुटपिण्ड के समान यह अनास्थि और मिराकारी (Anidians) भी होता है । इस प्रकार के हृदयहीन (Acardiac) गर्भ एकजीवोत्पन्न युग्म गर्भों में

कभी कभी उत्पन्न होते (पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हैं । (२) आत्मजीवी (Autozoite)—इसमें नाभिनाड़ी द्वारा प्रारम्भ में सभी अंगों की वृद्धि होती है, परन्तु आगे जाकर किसी न किसी अंग की वृद्धि रुक जाती है । जैसे—किसी में वधःशाखा या ऊर्ध्वशाखा की वृद्धि ठीक नहीं होती, वह शाखाविकारी (Teratomelians) कहलाता है; किसी में शाखाएँ संयुक्त रहती हैं; किसी में अन्तराधि की दीवाल ठीक नहीं बनती, वह अन्तराधिविकारी कहलाता है; किसी में खोपड़ी या मस्तिष्क की वृद्धि ठीक नहीं होती या विलकुल नहीं होती, उसे शीर्षविकारी (Terato encephaliaus) कहते हैं; किसी में मुख का ऊपर का या नीचे का भाग नहीं मिलता, वह मुखविकारी (Terato-cophalians) कहलाता है । (३) परोपजीवी (Parasito — इनमें नाभिनाड़ी भी नहीं होती । ये केवल निराकारी कल्ल होते हैं, जो माता के गर्भाशय की दीवाल पर बाँधों की तरह चिपककर उसी से रस ग्रहण किया करते हैं । खल्लिए ये परोपजीवी कहलाते हैं ।

(आ) सयुक्तराजस Double monsters—इसमें गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं । इसके निम्न विभाग किये हैं—(१) युग्म आत्मजीवी (Double autozoite)—इसमें दोनों गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं Terato pagians — या नाभि के नीचे का हिस्सा पृथक् होकर ऊपर का जुड़ा ता (Teradolphiaus) है; या दोनों के शीर्ष पृथक् होकर २ अंग जुड़ा रहता (Teratodimos) है । (२) त्परोपजीवी (Auto parasito)—इसमें परोपजीवी गर्भ दूसरे में पर जुड़ा रहता है । जैसे—एक स्वतन्त्र गर्भ के सिर साथ दूसरे का केवल सिर जुड़ा रहता है, या दूसरे केवल हाथ पैर जुड़े रहते हैं, या एक के उदर में सारा गर्भ मिलता है । दो जुड़े हुए गर्भ प्रायः एकबीजात्मक गर्भों का सम्पूर्ण पृथक्त्व न होने के कारण उत्पन्न होते हैं । पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो ।

विकृताकृति गर्भ की उत्पत्ति के कारण—पाश्चात्य वैद्यक में गर्भ की जन्मज विकृति के कोई विशेष हेतु नहीं बतलाये हैं । आयुर्वेद में इसके छः कारण बताये गये हैं, जो बहुत युक्तियुक्त मालूम होते हैं और जब तक दूसरे कारण सिद्ध नहीं हुए हैं, तब तक इनको मानना ही उचित है । (१) पापकर्म—माता पिता के पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पापाचरण तथा गर्भ के पूर्वजन्म के पापकर्म । माता पिता के पापाचरण में स्त्रियों का आपस में मैथुनकर्म, स्वप्नमैथुन इत्यादि कर्मों का समावेश कर सकते हैं । (२) बीजदोष—इसमें माता के बीज का तथा पिता के शुक्राणु के दोषों का समावेश होता है । (३) गर्भाशयदोष—फिरंग, सोजाक, गर्भाशयदोष, प्रदर इत्यादि विकार इसमें आते हैं । (४) माता के आहार-विहार का दोष—इसमें गर्भाधान होने के पश्चात् के आहार-विहार का समावेश होता है । तत्पूर्व के आहार-विहार के दोषों का समावेश नं० २ और ३ में होता है । (५) माता के श्रद्धाविधान का तथा मानसिक विकारों का परिणाम—श्रद्धा-विधात का विवरण सूत्रस्थान के २४ वें अध्याय के पत्र सूत्र के वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ १९०-१९१) में किया गया है । इसी कारण में नास्तिक्य का भी समावेश करना

चाहिए, क्योंकि नास्तिक्य मन की ही एक अवस्था है । धर्मशास्त्र और परमार्थ की दृष्टि से 'नास्तिक्यं श्रद्धाधानता परमाध्यात्मगार्थेषु' इस प्रकार नास्तिक्य की व्याख्या की गई है । इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कहते हैं । वैद्यकीय दृष्टि से इसकी व्याख्या निम्न प्रकार कर सकते हैं—'नास्तिक्यं श्रद्धाधानता आयुर्वेदोपदेशेषु' और इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कह सकते हैं । जैसे परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होती है, वैसे ही आयुर्वेद में याने वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य प्राप्त होता है । एक बार परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होने के चारे में सन्देह उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य-प्राप्ति के संबंध में सन्देह करने का कोई कारण नहीं होता, उसका फल तुरन्त मिलता है । वैद्यकीय नास्तिकता का स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है । गर्भाधान के पूर्व बताये हुए नियमों की माता-पिता को क्या आवश्यकता है ? मैथुन के समय चित्त शान्त और प्रसन्न रखने की क्या आवश्यकता है ? गर्भिणी को आहार-विहार के नियमों की क्या आवश्यकता होती है ? इत्यादि । इस नास्तिकता के कारण माता-पिता अपथ्यकर आहार-विहार करते हैं, जिससे वातादि दोष प्रकृषित होकर गर्भ की स्वाभाविक वृद्धि में बाधा होती है और विविध विकार उत्पन्न होते हैं । (२) कालदोष—काल से माता-पिता की आयु, समागमकाल, गर्भधारणकाल तीनों का बोध होता है, और माता-पिता का अतिवाल या अतिवृद्ध होना, दोनों में अनमेल, जल्दी जल्दी गर्भधारणा होना, निषिद्ध समय में मैथुन करना, अशुभ काल पर गर्भाधान होना इत्यादि बातों का समावेश काल के दोषों में होता है । याज्ञवल्क्यस्मृति और चरक में ये ही दोष बतलाये गये हैं—'वालकमात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च । गर्भस्य वैकृतं वृष्टमद्गहीनादि जन्मतः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१६६) । बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहार-दोषैः । कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णैर्द्वियवैकृतानि । वर्षात् काष्ठाश्मधनान्दुर्वेगास्त्रोः सरित्तोतसि संस्थितस्य । यथैव कुयुर्विकृति तथैव गर्भस्य कुची नियतस्य दोषाः ॥ (शारीर २) ।

मत्ताल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्काशयस्य च ।

वातमूत्रपुरीपाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥५५॥

(गर्भावस्था में मलादि के अभाव के कारण—) मल के अल्प होने से तथा पक्काशय की वायु के अयोग से गर्भाशयस्थ (बालक) वात, मूत्र और मल (का उत्सर्ग) नहीं करता है ॥५५॥

वक्तव्य—मत्ताल्पत्वात्—गर्भाशयस्थ बालक के पचन और श्वसनसंस्थान के अतिरिक्त सब संस्थान कार्य करते हैं । श्वसन के अकार्यकारित्व का उल्लेख आगे के श्लोक में किया गया है । पचनसंस्थान में जो मल बनता है, वह मुख द्वारा सेवन किये हुए आहार का अपाच्य अंश होता है । गर्भस्थ बालक मुख से कुछ भी सेवन नहीं करता, उसका पोषण माता के आहाररस से होता है । इसलिये पक्काशय में आहारजन्य मल का अभाव होता है—अजातस्य साक्षादजातानामुपवेशदमलत्वाच्च रसस्य गर्भस्थ स्थूलमलासंभवः । (अष्टांगसंग्रह) । परन्तु आन्त्र की श्लेष्मल कला की दृष्टी फूटी कोशाएँ (सेलें) इकट्ठा होकर कुछ मल जम जाता है । पित्त के कारण इसका वर्ण हरा काला सा रहता ।

है। कर्मी कर्मी गर्भोदक के पीने से, जिसमें स्वचा की कोशाएँ और बाल रहते हैं, उसमें स्वचा की कोशाएँ और बाल भी मिलते हैं। इस मल का उत्सर्ग प्रायः जन्म के पश्चात् हुआ करता है। अर्थात् जन्म के पूर्व गर्भोदक में इसका उत्सर्ग होता है। गर्भस्थ शिशु के पक्षाशय में मिलने वाला यह मल रग में अर्धम के समान होने के कारण मेकोनिअम (Meconium) कहलाता है। अथागाच वायो पक्षाशयस्य—इसके दो अर्थ होते हैं—(१) वायु—अधोवात। इसकी उत्पत्ति पक्षाशयगत मल के सङ्घने से होती है। गर्भस्थ बालक में मलमात्र होने से अधोवायु का भी अभाव होता है। इसलिए इस पदसमूह का अर्थ 'पक्षाशयगत अधोवायु के अस्तभवे' ऐसा कर सकते हैं। (२) किंवा पक्षाशयवायु से अपानवायु भी समझ सकते हैं, जो मल मूत्रादि के उत्सर्ग का काम करता है—पक्षाशयगतलोपोपान काले कर्षति वायुवत्। समीर्य शङ्खवृद्ध गर्भोदकागच ॥ मनुष्यशरीर का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए उसमें मस्तिष्कनाडीसंस्थान, श्वसनसंस्थान, पाचनसंस्थान, रक्तवहसंस्थान इत्यादि कई संस्थान बनाये गये हैं। इनमें से रक्तवहसंस्थान माता के रक्तवहसंस्थान के सहयोग से गर्भ के पोषण का कार्य किया करता है। शेष संस्थान कार्य करने के लिए, वस्तु या विषय न होने के कारण अकार्यकर होते हैं। इस दृष्टि से 'पक्षाशयस्य वायोरयोगाच्च' इसका अर्थ 'अपानवायु की अकार्यवृत्ति' से कर सकते हैं। अपान वायु का कार्य मलमूत्र अपानवायु को नीचे उत्सर्गित करने का है। यह अपानवायु अकार्यकर होने के कारण गर्भस्थ शिशु, मलमूत्र और अधोवायु का उत्सर्ग नहीं करता है। मूत्र न करोति—गर्भ का रक्तवहसंस्थान कार्य करता है। माता से शुद्ध रक्त आता है और गर्भ के शरीर में जो अशुद्ध रक्त बनता है, वह फिर माता के शरीर में जाकर शुद्ध होता है। शरीर में रक्त की शुद्धि त्वचा, फुफ्फुस और घृक इन तीन अंगों से होती है। गर्भस्थ शिशु की त्वचा और फुफ्फुस अकार्यकर होते हैं, परन्तु घृक में रक्त की कुछ शुद्धि होकर मूत्र बनता है और उसका उत्सर्ग भी गर्भोदक में होता है क्योंकि यह देखा गया है कि पाँचवें सप्ताह से प्रसूति के समय तक गर्भोदक में मिह (Urea) की दृष्टि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और उसमें गर्भ के मूत्र में मिलने वाले रक्त भी मिलते हैं—

The gradual increase in the amount of urea present up to its maximum at full time has been taken as an indication that the foetus urinates in utero. Further, the salts found in the amniotic fluid are very similar to those commonly present in foetal urine. Ten Teacher's Midwifery

इस श्लोक का तात्पर्य इनका ही समझना कि जन्म के पश्चात् जैसे मलमूत्र का उत्सर्ग होता रहता है, उम्र प्रकार जन्म के पूर्व नहीं होता है।

जरायुणा मुप च्छ्रेत्र कण्ठे च कफवेदिते ।

पायोमार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थ प्रवेदिति ॥५६॥

जरायु के द्वारा मुप इका हुआ होने के कारण, कफ से कण्ठ स्थिर रहने के कारण और वायु के मार्ग में रुकावट होने के कारण गर्भस्थ शिशु रोता नहीं ॥५६॥

वक्तव्य—जरायु—गर्भ के आवरण (Fetal membranes) जो बालक जन्म होते ही बड़े जोर से चिहलता है, वह जन्म के पूर्व माता की कुक्षि में क्यों नहीं रोता इसके कारण इस श्लोक में वर्णन किये हैं। कण्ठ च कफवेदि-बालक के मुँह और कण्ठ में स्टेमना जरूर उपस्थित रहता है। यदि बालक स्वस्थ हो तो वह माता की सुरक्षि और मुँहकर कुक्षि से बाहर आने पर जोर से रोता है। परन्तु श्वासप्रश्वास क्रिया का प्रारम्भ है। कर्मी कर्मी श्वेप की राशि अधिक होती है, जिससे बालक की श्वास लेने तथा रोने में कठिनाई होती है। इसलिए जन्म होते ही बालक का मुँह और कण्ठ रुई के फाया से साफ करने के लिए कहा गया है—अथास्थ वालोवृद्धिगामाननारभेत् इत्युक्त्वा सुपरिलिखितवन्वा सुप्रपानितोपानवापानविमुक्त्वा (चरक) । १०वें अध्याय का ११वाँ सूत्र और उसका वक्तव्य देखो।

निश्वासोच्छ्वाससहोभस्वप्रान गर्भोऽधिगच्छति ।
मातुनिश्चितोच्छ्वाससहोभस्वप्रसमवान् ॥ ५७ ॥

माता के निश्वास, उच्छ्वास, संक्षेप तथा स्वप्न उत्पन्न हुए निश्वास, उच्छ्वास, संक्षेप और स्वप्नों को ग्रहण होता है ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि कतक बालक माता के उदर में रहता है, तब तक वह माता के शरीर के एक अंग के समान होता है और माता के प्रत्येक भले या बुरे कर्म का परिणाम जैसे उसके शरीर पर होता है, वैसे ही गर्भ के ऊपर भी हाता है। माता जब श्वासे च्छ्वास करती है, तब उसके रक्त की शुद्धि होती है और उसके साथ साथ गर्भ के रक्त की भी शुद्धि होती है। माता जब सोती है, तब उसके शरीर के साथ साथ गर्भ को भी आराम मिलता है। माता जब भोजन करती है, तब उसके शरीर के पोषण के साथ गर्भ का भी पोषण होता है। माता जब संशुद्ध होती है, तब उसके शरीर पर जो बुरा परिणाम होता है वही परिणाम गर्भ पर भी होता है। संक्षेप में माता के प्रत्येक कर्म के साथ साथ गर्भ भी वही कर्म करता हुआ जान पड़ता है। इसलिए लिखा है माता के सौम से सौम होता है, इत्यादि। परन्तु वास्तव में न गर्भ सौम होता है, सोता है, न कण्ठ होता है, और न भोजन करता है, न निश्वास करता है, न सोता है, न उच्छ्वास—भित्त सौम होता है। सौम मानसिक क्रोधादि विकार। ये सब उपलक्षण हैं। इन प्रत्येक शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का बोध होता है तीसरे अध्याय के ३१वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवी ।
तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभाषत ॥ ५८ ॥
शरीरों का सन्निवेश, दाँतों का गिरना और पैदा होना हथेली और तलुवे में घालों का न होना यह स्वभाव से होता है ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—शरीर—बाह्य और भीतरी रचना। मंगल में अनन्त प्रकार के शारीरघातो जीव होते हैं और उनके शरीर का मक्षिगत भिन्न भिन्न होता है, जिसमें एक प्रकार का जीव दूसरे प्रकार के जीव से पढ़ाया जाता है। २००

पतनोद्भवौ—दाँतों का द्विजत्व । एक बार उत्पन्न हुए दाँतों का गिरना और फिर से उत्पन्न होना । तलेपु—हस्तपादतलेपु ।

प्रत्येक प्रकार की वनस्पति से उसी प्रकार की वनस्पति की उत्पत्ति, प्रत्येक प्रकार के प्राणी से उसी प्रकार के प्राणी की उत्पत्ति, मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति, माता के उदर में मासानुमासिक गर्भ की वृद्धि, दस ही महीने में पूर्ण वृद्धि होकर जन्म होना, युवावस्था में पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति, स्त्रियों में मासिक रजःप्रवृत्ति, स्तनवृद्धि, पुरुषों में ढाढ़ी मूँछें उत्पन्न होना, स्त्रियों में न होना, वृद्धावस्था में रजो-निवृत्ति, मृत्यु इस प्रकार के संसार के असंख्य कार्य स्वभावानुसार होते जाते हैं । आधुनिक विज्ञान इन असंख्य कार्यों के लिए कितने ही कारण क्यों न खोज लें; एक अवस्था ऐसी आती है, जिसके लिए कारण देना मुश्किल होता है और अन्त में स्वभाव की ओर अंगुलि निर्देश करना पड़ता है । प्रथमखण्ड के ३६३-३६४ पृष्ठों पर 'कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्नाद् यथा फलम् । प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥

इसका तथा १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो । स्वभाव कारणों का कारण है, जिसके अनुसार सृष्टि का त्थेक कार्य हो रहा है । इसलिए कुछ लोक 'स्वभाव' को ही सृष्टि का आदि कारण मानते हैं—स्वभावमेके कृतयो इदन्ति कालं तथान्ये परिमुखमानाः ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्) । स्वभाव को अंग्रेजी में नेचर (Nature) कहते हैं । पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रत्येक कार्य का कारण खोजने की कोशिश करते हैं और जहाँ बुद्धि कार्य नहीं कर सकती, वहाँ नेचर पर सौंप देते हैं, याने एक दृष्टि से पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वभाववादी हैं । अब यहाँ शरीरादि के सन्निवेश के लिए जैसे स्वभाव कारण माना गया है, वैसे ही पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं—

Ninety percent of our physical and a large percentage of our mental make up are due to hereditary influences. There are different races, different nationalities and different individuals whom we recognize at the first glance. How is this accomplished? It is the secret of heredity, the question is—what is heredity? Heredity is the treasure chest of Nature. Everything is preserved in its repository. *The Riddle of Sex.*

तीसरे अध्याय के ४५वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो ।

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः ।

भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥५६॥

(जातिस्मरता के कारण—) पूर्वजन्मों में (ज्ञान विज्ञानादि) भावित, शास्त्रों (के अनुसार आचरण करने) में बुद्धि रखने वाले और सत्त्वभूयिष्ठ नर जातिस्मर होते हैं ॥५६॥

वक्तव्य—भाविताः—जैसे उचित द्रव्यों की भावना देने से ओषधि की गुणवृद्धि होकर वह अधिक कार्यकर होता है, वैसे ही उचित ज्ञानविज्ञानसंपन्न शास्त्रों के अध्ययन और चिन्तन रूप भावनाओं से जिनकी गुणवृद्धि हुई है, अर्थात् सुसंस्कृत । शास्त्रबुद्धि—शास्त्रान्तर्गत नियमों के ऊपर विश्वास रखकर उनके अनुसार वर्तन करने की बुद्धि

जिनमें है, ऐसे । पूर्वदेहेषु—इस जन्म के पहले अनेक जन्मों में । एक जन्म में पुरुष को जो कुछ भी अनुभव होता है, उसके संस्कार मृत्यु के बाद लिंगशरीर के साथ जाते हैं और दूसरे जन्म में आविर्भूत होते हैं । उस जन्म के संस्कार प्रथम जन्म के संस्कारों के साथ मृत्यु के बाद तीसरे शरीर में चले जाते हैं । इस तरह जन्म-जन्मान्तर के संस्कार इकट्ठे होते जाते हैं । यद्यपि शरीर बदलता है तथापि आत्मा और मन के द्वारा सब जन्मों के संस्कारों की परम्परा कायम (अविच्छिन्न) रक्खी जाती है—शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतेः । देहाद्देहान्तरं याति कृमिविच्छेदाश्रितोऽव्ययः ॥

मनो हि जन्मान्तरसंगतिश्च ॥ (रघुवंश) । रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्वः ॥ (चरक शा० २) । मनसो मनस्व इति; पूर्वजन्मन्यव्यवहिते याद्दृग् मनः, इह जन्मन्यपि ताद्गोच्य मनो भवति । उक्तं चान्यत्र—जन्म जन्म यदभ्यस्तं दान-सध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥ (चक्र-पाणिदत्त) । पूर्वजातिस्मरः—पूर्वजन्मवृत्तान्तं स्मरन्ति इति पूर्वजातिस्मराः । पूर्वजन्म का स्मरण जिनको है, ऐसे । जातिस्मरता पूर्वजन्म या पुनर्जन्म के सिद्धान्त के ऊपर अधिष्ठित होती है । यदि पुनर्जन्म केवल कल्पना की सृष्टि हो तो जातिस्मरता का विचार ही करने की आवश्यकता नहीं है । इसलिए प्रथम पुनर्जन्म का थोड़ा सा विचार किया जायगा । पुनर्जन्म भारतीय तत्त्वज्ञान (Philosophy) का मौलिक सिद्धान्त है । शरीर की मृत्यु के साथ शरीरगत आत्मा की मृत्यु न होकर वह आत्मा उस देह में प्राप्त संस्कारों के साथ दूसरे देह में चला जाता है, यह पुनर्जन्म का सूत्र है—त्रासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ (भगवद्गीता २।२२) । मृतो नष्ट इति प्रोक्तो

मन्ये तच्च मृषा ह्यसत् । स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वाऽनुभूयते ॥ (योगवासिष्ठ १।७।६९) । अन्तुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरण-मूच्छन्मम् । विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रत ॥ (३।२०।३१) । आशापाशशतावद्धा वासनाभावधारिणः । कायात्कायमुपायान्ति वृत्ताद् वृक्षमिवाण्डजाः ॥ (४।४३।२६) । इस्लाम और क्रिश्चियन धर्म में पुनर्जन्म की कल्पना नहीं है । उनके अनुसार शरीर के साथ आत्मा का भी नाश होता है और वह कयामत के दिन (Dooms day) तक कद्रिस्तान में पड़ा रहता है । यह कयामत की कल्पना विचारी मनुष्य को जँचने लायक नहीं है । परन्तु जब तक अंधश्रद्धा के दिन थे, तब तक लोग इस कल्पना पर विश्वास करते थे । आधुनिक ज्ञानयुक्त विज्ञान के युग में लोक इसकी युक्तायुक्तता पर विचार करने लगे और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पुनर्जन्म की कल्पना न केवल युक्तियुक्त है, अपितु आत्मा की दृष्टि से आवश्यक घटना है । माता-पिता से अपत्य को भौतिक शरीर मिलता है तथा कुछ कुलसंचारी (Hereditary) गुणदोष भी मिलते हैं, परन्तु इससे अपत्य के सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक गुणदोषों की उत्पत्ति लगाना मुश्किल होता है । पुनर्जन्म यही एक ऐसी घटना है कि जिसके आधार पर कठिन से कठिन प्रश्नों का भी उत्तर दिया जा सकता है । ये विचार निम्न पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरणों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं—

I am for personal purposes, convinced of the persistence of human existence beyond bodily death Sir Oliver Lodge We conclude, then, that our death is our birth to a life beyond W Tudor Jones, Reincarnation teaches that soul enters this life, not as a fresh creation, but after a long course of previous existences on this earth and else over The ancient doctrine of transmigration seems the most rational and most consistent with god's wisdom and goodness E D Walker's Re-incarnation It is not unreasonable conclusion to arrive at that the bodies which parents supply by their own sexual intercourse are tenanted in the 1st instance by spirits from another world attracted to them by some form of spiritual sympathy and that accordingly the parents of the physical form can not strictly speaking be regarded as the originators of the consciousness which inhabits it The human germsplasm is, even when seen under a microscope hardly distinguishable from that of an animal It is to be supposed that it contains within itself the undeveloped powers of a man of genius ? Or may we not rather believe that the reincarnating ego possessed these powers before his birth into this world as an inheritance from his past lives ? The hypothesis is plausible because it and it alone meets the facts of the case in innumerable instances Problem of Rebirth by Hon Ralph Ashley

पुनर्जन्म का सिद्धान्त अनुमान और बुद्धि के आधार पर सिद्ध करना पड़ता है। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं के बराबर मिलते हैं। यदि ये प्रमाण बहुतायत से मिलते ता पुनर्जन्म की आधिष्कृति और उसकी सिद्धि में भारतीय तत्वज्ञान की कोई विशेषता नहीं रहती तथा इस्लामी और क्रिश्चियन धर्म में कयामत की कल्पना नहीं आती। जातिस्मरता पूर्वजन्म सिद्ध करने का जिन्दा प्रमाण है। भारत-वर्ष के पुराणों में तथा साहित्य-ग्रंथों में जातिस्मरता के कई उदाहरण मिलते हैं। महाकवि वाण की काम्यमय कादम्बरी की कथा में जातिस्मरता मिलती है। परन्तु आजकल नास्तिक्य के कारण लोक इनको कल्पित समझते हैं। याश्राय्य देशों में जातिस्मरता के सम्बन्ध में भी जब खोज होने लगी, तब उन देशों में प्राचीन काल से आधुनिक काल तक इसके कई उदाहरण मिले। राबर्टशॉल् ने अपनी पुनर्जन्म की पुस्तक में जातिस्मरता के कई उदाहरण दिये हैं, जिनमें अलेक्साद्रिना सामोना (Alexandrina Samora) और निरिया (Nirya) के उदाहरण बड़े अद्भुत और उद्बोधक हैं। भारतवर्ष में हाल में मथुरा की शांतादेवी का उदाहरण मशहूर हो गया है। इनका भी उल्लेख उपर्युक्त पुस्तक में है। संक्षेप में, जातिस्मरता पौराणिक या कालिकल्पना नहीं है, एक सिद्ध घटना है और जातिस्मर मनुष्य जैसे प्राचीन

काल में थे, वैसे वर्तमान काल में मिलते हैं और भविष्य में भी मिलेंगे, तथा जैसे भारतवर्ष में मिलते थे और मिलते हैं, वैसे ससार के अन्य देशों में भी थे और इस समय मिलते हैं।

इस श्लोक में जातिस्मरता उत्पन्न होने के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन किया है। इसमें सत्वप्राधान्य विशेष महत्व का गुण है, क्योंकि सत्व के द्वारा मोक्ष मिलता है, याज्ञवल्क्यस्मृति में जातिस्मरता के ये ही कारण बताये हैं— आचार्योपासन बद्धाकार्येषु विवेकिता । तद्वर्तमानमुद्धान सद्वा-सङ्गिरर शुभा ॥ (३११६) । नारत्समसा सत्सुशुद्धि-निश्चयता शम । एतैरप्यै सशुद्ध सत्सयोग्यमृती भवेत् ॥ (३११९) । सत्वस्मृतेरुपस्थानासत्त्वयोग्यात् परिश्रवात् । कर्मणा सन्निकर्षाच्च सता योग प्रवर्तते ॥१६०॥ शरीरसञ्चये यथ मनः सत्त्वरथमीश्वरम् । अविच्छिन्नमनि सम्पन्नजातिस्मरतामिवात् ॥ ॥१६१॥ जातिस्मरता मोक्ष मिलने का एक साधन माना गया है। इस जन्तिस श्लोक की टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—जात्यन्तरानुत्पत्कृमिरीटादिनागर्भानामादिमसुद्धमृदुपस्मरत्वं प्राप्नुयात् । तस्मरणेन च जानोद्देयनसद्विच्छेकार्ति मोक्षे प्रवर्तते । मनुस्मृति में भी जातिस्मरता उत्पन्न होने का कारण और उसके फल ये ही बतलाये हैं—वदाभासे सनतं शौचैव तपसैव च । अदोहेण च भूताना जातिस्मरति पीति कीम ॥३११७॥ शौचिनी सस्मरजाति मद्बोधमन्वेने पुन । मद्बोधम्यासत चाजसतनन्त सुसामन्ते ॥ ११६ ॥ आज जातिस्मर मनुष्यों के जो थोड़े उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, उनके परिशीलन से जातिस्मरता के कारणों का तथा उसके फलों का कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता। भविष्य में अधिक उदाहरणों का अन्वेषण करने पर कार्यकारण और कार्यफल इनके सम्बन्ध में कुछ निर्णय किया जा सकता है।

अब पूर्वजन्म से उत्तरजन्म का सम्बन्ध बताया जाता है—कर्मणा च दितो येन तदामोति पुनर्भवे ।

अभ्यन्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥६०॥

इति सुश्रुतसंहिताया शारीरकाने शुभशौचिनि
शुद्धिशरीर नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

जिस कर्म के कारण (जाय) पुनर्जन्म में प्रेरित होता है, उसी के अनुसार (उस जन्म में सब कुछ) प्राप्त करता है, और पूर्वजन्म में अभ्यास किये हुए जो गुण होते हैं, उन्हीं को (दूसरे जन्म में) धारण करता है ॥६०॥

वस्तुस्थिति—समसा—शुभाशुभ, धर्माधर्म, पापपुण्य, राजसतामस इत्यादि विविध प्रकार के कर्म प्राणी करता है और उन्हीं की प्रेरणा से वह जन्म-जन्मान्तर में फल जाता है—शुभाशुभाभा का भ्रम या प्रेरणा मनसे गते । देहादेहान्तर कालि कृमिवच्छेदानाऽप्यथ ॥ ६७—तदनु रूपम् । जिन कर्म से जीव प्रेरित होता है, उसी के अनुरूप फल वह दूसरे जन्म में भोगता है। उत्तम कुल से जन्म, अधम कुल में जन्म, धीमार्द्र या दरिद्री कुल में जन्म, शरीर, ध्यज्ञ या स्वास्थ्य टीका व होना, विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होना, नासा प्रकाश की योनि में प्रवेश इत्यादि काम पूर्वजन्मोत्सार होते हैं—सर्वमभ्यास्य कश्चित् । मद्बोधमन्वेने नयपत्सत्सत्त्वात् । मर्मनि-पापरोगस्य प्राडु उच्छ्रय सम्भवं ॥ (सुश्रुत) । भवन्ति ये शरीरिन्द्रियैश्च रत्समसत्सव च भवेद्वि ॥ (चरक, शारीर १) ।

यथा हि भरतो वर्षैर्वर्षयथात्मनस्त्वनुम् । नानारूपाणि कुर्वाण-
स्तथात्मा कर्मजास्तनुः (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१६२) । तथै-
वात्मा तत्तत्कर्मफलोपभोगार्थं कुञ्जवामनादिनानारूपाणि कर्मनि-
मित्तानि कलेवरण्यादत्ते ॥ (विज्ञानेश्वर) । अश्रयस्ताः—जन्म
जन्म यदश्रयस्तं दानमध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्य-
स्यते पुनः ॥ उपनिषद् और गीता के निम्न वचनों में इसी
श्लोक का तत्त्व दिया है—यथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मि-
न्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतु कुर्वीत ॥ (छान्दोग्य
३।१४) । नहि कल्याणकृत्वाश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति । प्राप्य पुण्य-
कृतां लोकानुपित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽ-
पि जायते ॥ (भगवद्गीता ६।११) । अथवा योगिनामेव कुले
भवति धीमताम् । तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पूर्वदेहिङ्कम् । यतते
ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥७३॥ पूर्वान्यासेन तेनैव हियते
श्रोऽपि सः ॥७४॥ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (गीता ८।६) ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामाष्टुर्वेदरहस्य-
दोषिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने शुक्रशोणित-
शुद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो गर्भावकान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ से गर्भावकान्ति नामक शारीर का व्याख्यान
रहते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

वक्तव्य—गर्भावकान्ति—अत्र हि शुक्रशोणितं गर्भाशय-
स्थालामप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं गर्भं इत्युच्यते, तस्यावकान्तिः,
उपगमनसवतरणमिति यावत् गर्भावकान्तिः ॥ (ढल्हण) ।
गर्भस्यावकान्तिर्मूलक उत्पत्तिरिति यावत् ॥ (चक्रपाणि) । गर्भस्या-
वकान्तिरवक्रमणं संप्राप्तिः । यथाऽगर्भो गर्भतां संपद्यते इत्यर्थः ।
(अरुणदत्त) । अत्र गर्भशब्देन मनःसंयोगान्चेतनेनात्मनाधिष्ठि-
तानां महाभूतानां विकारविशेष उच्यते । तस्यावक्रमणं प्राप्तिः
स्वरूपलाभः । (इन्दु) । गर्भावकान्ति अध्याय के प्रारम्भ में
अष्टांगसंग्रह में इन्दु लिखते हैं—पुत्रस्य निषेकात् प्रथ्वि योग-
क्षेमौ यथा संभवतः, यथा च मातरि तिष्ठति, यथा च न व्यापद्यते,
अव्यापन्नं च यथा सुखं सृते इति प्रदर्शनार्थमध्यायारम्भः ॥ इस
विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ का वास्तविक अर्थ शुक्र-
शोणितसंयोग (Fertilized ovum या embryo) है, और गर्भावकान्ति का अर्थ शुक्रशोणितसंयोगप्रकृति (Pro-
cess of the fertilization of ovum) है । तथापि इस
अध्याय में, जैसे कि इन्दु ने बताया है, गर्भ की नौ सहोने
की मात्सल्यमासिक वृद्धि वर्णन की गई है । इसलिए गर्भा-
वकान्ति का अर्थ गर्भपरिवृद्धि (Development of the
foetus) समझना चाहिए ।

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामग्नेयं भूतानां
सान्निध्यमस्त्ययुना विशेषेण, परस्पररोपकारात्पर-
स्परानुग्रहात्परस्परानुप्रवेशाच्च ॥२॥

शुक्र सौम्य और आर्तव आग्नेय है, परन्तु (भूतों का)
आपस में उपकार, अनुग्रह और प्रवेश होने के कारण

(जल और अग्नि के अतिरिक्त) अन्य भूतों का भी इनमें
एक विशिष्ट अल्पमात्रा में सान्निध्य होता है ॥२॥

वक्तव्य—सौम्यम्—सौम्येद्रं सौम्यम् । सोम से उत्पन्न
हुआ अर्थात् जलोत्पन्न । आग्नेयम्—अग्नेरिदमाग्नेयम् । अग्नि से
उत्पन्न हुआ अर्थात् तेजोत्पन्न । परन्तु इसी सूत्र में जो विचार-
सरणि प्रकट की गई है, उसी के अनुसार जलभूयिष्ठ और
तेजोभूयिष्ठ । अयुना विशेषेण—अल्प परन्तु अनुपेक्षणीय मात्रा
में । सान्निध्यम्—उपस्थिति । परस्पररोपकारात् इत्यादि—
समस्त सृष्टि पञ्चीकृत महाभूतों से उत्पन्न हुई है, अर्थात् ये
पाचों महाभूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं । परन्तु केवल
अनुप्रवेश से एक में पांचों का सान्निध्य नहीं हो सकता
क्योंकि तेज और जल जैसे कुछ भूत परस्पर विरोधी होते हैं,
जो आपस में मिलने पर परस्पर नष्ट हो जाते हैं । इस शंका
को दूर करने के लिए परस्परानुग्रह और परस्पररोपकार ये
शब्द प्रयुक्त किये गये हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे
सत्त्वादि त्रिगुण परस्पर विरोधी होने पर भी प्रदीपवत्
(सांख्यकारिका १३) उपकारक और अनुग्रहाहक होते हैं,
जैसे वातादि त्रिदोष सर्प और उसके विष के समान (विषं
घोरमहीनिव ॥ चरक, चि० २६) परस्पररोपकारी होते हैं,
वैसे ही पृथिव्यादि महाभूत परस्पर विरोधी होने पर भी
सृष्टयुत्पत्ति के काम में परस्पररोपकारी होते हैं । अन्यथा,
जैसे चक्रपाणिदत्त ने शङ्का प्रदर्शित की है—तत्किं पात्र-
भीतिकद्रव्यारम्भेऽपि तयोर्विरोधात्पात्रभीतिकं द्रव्यं न स्यात्, तोया-
क्षिण्णातिरेकाद्वाऽन्तरसो न स्यात् ।—उसके अनुसार सृष्टि की
उत्पत्ति होना असम्भवनीय हो जाता । इन द्रव्यों में जो
भूत अधिक होता है, उसके अनुसार नाम दिया जाता है ।
जो अल्पमात्रा में होते हैं, उनका नाम नहीं दिया जाता ।
प्रथम अध्याय के २२वें श्लोक का वक्तव्य तथा प्रथमखण्ड
का पृष्ठ २२८ भी देखो ।

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुहृदीर-
यति, ततस्तेजोनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिम-
भिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन ततोऽशीपोमसंयो-
गात् संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते ॥३॥

(मैथुनकर्म—) स्त्री और पुरुष के समागम के समय
वायु शरीर से तेज को प्रकट करती है, फिर तेज और वायु
के सहयोग से वरित हुआ शुक्र योनि की ओर चल देता है
और आर्तव के साथ (वहाँ) मिलता है; (इस प्रकार आर्तव
रूप) अग्नि और (शुक्ररूप) सोम के संयोग से उत्पन्न
हुआ वह गर्भ तत्पश्चात् गर्भाशय में आश्रय करता है ॥३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में 'योनिमभिप्रपद्यते' तक मैथुन-
कर्म (Phenomena of coitus) वर्णन किया है और शेष
भाग में शुक्रार्तव संयोग (Fertilization of the ovum)
और उसका गर्भाशयगमन वर्णन किया है । यही वर्णन
भावप्रकाश में कुछ अधिक विस्तार से मिलता है, इसलिए
यहाँ दिया जाता है—कतौ स्त्रीपुंसयोर्योगे मकरध्वजवैगतः ।
मेदयोन्यभिसंघर्षाच्छरीरोष्मानिलाहतः ॥ पुंसः सर्वशरीरस्थं रेतो
द्रावयथेऽथ तत् । वायुर्मेहनमार्गेण पातयत्यङ्गनाभगे ॥ तत् संसृज्य
व्यासुखं याति गर्भाशयं प्रति । तत्र शुक्रवदायातेनार्तवेन युतं
भवेत् ॥ (प्रथमखण्ड) ।

वायु—मैथुनकर्म में यद्यपि पाँचों इन्द्रियाँ पाँचों इन्द्रियाओं पर काम करती हैं तथापि स्पर्श पर त्वगिन्द्रिय अधिक काम करती है, इसलिये मैथुन को स्पर्शमुख कहते हैं—
 सुरभ्रमातङ्गपद्मचन्द्रमनीना इता पद्मभिरैव पद्म ॥ हेबेलाक एलिस का भी यही कथन है—

This abbreviated courtship, by which tumescence is secured or heightened even in the repetition of acts of coitus, which have become familiar, is mainly tactile *Psychology of Sex*

स्वचा में वायु की अधिकता होती है—स्पर्शनेन्द्रियको वायु स्पर्शन व त्वगाश्रितम् ॥ (चरक)। इसलिये मैथुनोनि अभिसर्पण से तथा स्त्री के शरीर के संस्पर्श से वायु उत्तेजित होती है। आधुनिक शारीरकार्य के अनुसार मस्तिष्कस्थान (Nervous system) विशेष करके मस्तिष्क और सुषुम्ना के कामुक केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं। तेज शरीरद्रावुलीर-यनि—वायु की उत्तेजना के दो परिणाम होते हैं, एक सार्च-दैहिक और दूसरा लैट्रिक। परन्तु ये दोनों परिणाम एक अवस्था के दो रूप हैं। इस अवस्था को 'तेजोदीरण' कह सकते हैं। तेज के उष्णता, पित्त, अग्नि, शक्ति, सृष्टि, घृति, जोषा, फोर इत्यादि कई अर्थ होते हैं। चक्रपाणिदत्त चरक टीका (चिकित्सा ३१२७) में लिखते हैं—त्र तेज शब्द पित्तानललेहसक्तिवतिषु प्रीमे च ववते। परन्तु सब अर्थों में अन्तर्भूत कल्पना एक ही है। यह तेज या उष्णता तभी उत्पन्न हो सकती है, जब आदमी का हृदय बलवान् हो और रक्त गरम हो। मैथुन के समय स्त्री के स्पर्श से तथा मैथुनोनि अभिसर्पण से जब मन और वात उत्तेजित होते हैं, सब हृदय भी उत्तेजित होता है। उसकी गति शीघ्र और जोरदार होती है। समस्त शरीर में खून का दौरान तेजी से चलता है। चेहरा और आँखें लाल हो जाती हैं। रक्त का भार बढ़ता है। शरीर में उष्णता मालूम होने लगती है। त्वचागत रक्तवाहिनियाँ फैल जाती हैं। पसीना आने लगता है। साँस उथली और तेज हो जाती है, सचेप में शरीर के रोम-रोम में तेज उदीर्ण हो जाता है। यह अवस्था जैसे सर्व शरीर में होती है, वैसे ही शिथिल में होती है और उसी के कारण शिथिल अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। हृदयकी युक्ति द्वितीय अर्थाप के ४७वें श्लोक के वचन्य में वर्णन की गई है। इस अवस्था को तेजोदीरण (Tums conc) कहते हैं। जब यह अवस्था अत्युच्च कोटि को प्राप्त हो जाती है, तब वात और तेज दोनों के सहयोग से शुक्र बढ़े जोर के साथ योनि में फेंका जाता है। इस अवस्था को तेजस्तलन (Detumescence) कहते हैं। हेबेलाक एलिस इन अवस्थाओं के वर्णन में तेज (Fi e Flame, Fo ce) शब्द का ही प्रयोग करते हैं—

Tumescence is the piling on of the fuel, detumescence is the leaping out of the devouring flame whence is lighted the torch of life to be handed on from generation to generation In tumescence the organism is slowly wound up and force accumulated; in the act of detumescence the accumulated force is let go, and by its liberation

the sperm bearing instrument is driven home
Psychology of Sex

शुक्रस्खलन के समय कभी कभी हृदय की गति और रक्तभार बेहद बढ़ता है, जिससे दुर्बलहृदय और व्याधित रोगों में मूर्च्छा, ड्रीहाभेद, अपस्मार, पचाघात, मृत्यु भी हो जाते हैं—व्याधितस्व रता खोहा मृत्युमूर्च्छा च जायते ॥ (सुभुत, चि० २४)। हेबेलाक एलिस अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

Fainting, vomiting have been noted Epl lepay has not been not infrequently recorded Lesions of various organs, even rupture of the spleen, have sometimes taken place In men of mature age the arteries have at times been unable to resist the high blood pressure, and cerebral haemorrhage with paralysis has occurred. In elderly men the excitement of intercourse has sometimes caused death *Psychology of Sex*

स्त्री में भी पुरुष के समान उपर्युक्त उत्तेजनाएँ उत्पन्न होती हैं—रमार पुरुषवदे योक्विनेऽपि रसम्यक्तिर्दृष्ट्या । (काममूत्र)। परन्तु पुरुष का कार्य सक्रिय होने से उसमें स्त्री की अपेक्षा उपर्युक्त उत्तेजनाएँ अधिक तीव्र हुआ करती हैं—रतां हि पुरुषोऽधिराश युक्ति । अन्यथा हि वतां क्रिया प्रति पवते, अन्यथा चाधारः ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। योनि अभिसर्पणसे—योनि से यहाँ गर्भाशय अभिप्रेत है। मैथुन के अन्त में शुक्र चाहे भगद्धार पर गिरे, चाहे अन्तर्भाग में गिरे, चाहे गर्भाशय के मुख पर गिरे, उसकी गति सर्वदा योनि की ओर होती है, क्योंकि पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का यह कथन है कि उस समय भगद्धार से लेकर योनि तक के अंगों में इस प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है कि भगद्धार पर गिरा हुआ शुक्र भी भीतर योनि की ओर खींचा जाता है। उस समय गर्भाशय भी नीचे की ओर आता है, चौड़ा और छोटा होता है और उसका मुख प्रसारित (व्याप्तमुख) हो जाता है, जिससे उसके मुख पर गिरा हुआ शुक्र शीघ्र भीतर जा सकता है और अन्तर्भाग में गिरे हुए शुक्र के लिए भी उसके भीतर प्रविष्ट होने में सहायता होती है। इसके सिवाय शुक्राणुओं में भी गति करने की शक्ति होती है, जिसकी सहायता से वे गर्भाशय की ओर चल पड़ते हैं। भावप्रकाश में इसका सश्लिष्ट वर्णन किया है—जए सद्यं व्याप्तसुगुणं वाणि गर्भाशयं प्रति ।

So far as the evidence goes, it would seem that in women, the uterus becomes shorter broader and softer during the orgasm, at the same time descending lower into the pelvis, with its mouth open intermittently Owing to the combined activities of the semen and vagina during sexual excitement, it is possible for the semen to reach the uterus even when it has only been effused at the entrance of the vagina *Psychology of Sex*

सद्युत्पदे चारुवेन—मैथुन के अन्त में जितना शुक्र निकलता है, उसमें बाँस करोड़ के लगभग शुक्राणु होते हैं।

मनुष्यजाति में गर्भाधान के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है, और जब एक शुक्राणु का स्त्री-बीज के साथ संसर्ग हो जाता है, तब उस बीज में कुछ ऐसा परिवर्तन होता है कि फिर उसमें दूसरा शुक्राणु प्रवेश नहीं कर पाता । इसलिए यद्यपि, असंख्य शुक्राणु गर्भाशय की ओर दौड़ मारते होंगे तथापि उनमें जो सबसे प्रबल और चपल होता है, वही आर्तव के साथ मिलने में सफल होता है । यदि कर्मवशात् स्त्री के दो बीज हों तो दो शुक्राणुओं से दो गर्भों का आधान होकर युग्म उत्पन्न हो जाता है ।

शुक्र और आर्तव का संयोगस्थान—पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने मनुष्य-तर प्राणियों में इस विषय का अन्वेषण करके यह सिद्ध किया है कि उनमें शुक्राणु और स्त्रीबीज का संयोग बीजवाहिनी (Fallopian tube) में उसके औदर्यमुख (ostium-abdominale) के पास होता है और उसके आधारपर मनुष्य जाति में भी दोनों के संगम का वही स्थान माना गया है । आयुर्वेद में दोनों का संगम कहाँ होता है इसका ठीक ठीक निर्देश नहीं मिलता, परन्तु वह गर्भाशय के बाहर होता है इतना निश्चिति से बताया है और यह बात इसी सूत्र के 'संख्यते चातवेन, ततः संख्यमानो गर्भो गर्भाशयमनु प्रतिपद्यते' इस वाक्य से स्पष्ट होती है । परन्तु शुक्रशोणित के संगम का स्थान गर्भाशय के बाहर बताया है, यद्यपि यद्यपि गर्भ बनने का स्थान गर्भाशय ही बताया गया है । यह विरोध नहीं है, पाश्चात्य पौराणिक परिभाषा का भेद है । आयुर्वेद में पाश्चात्य परिभाषा के समान शुक्रशोणितसंगम को गर्भ नहीं कहते, परन्तु शुक्रशोणितसंगम में 'जीव' का संयोग होने पर उस त्रिसंयोगी अंग को (पंचम-अध्याय २ सूत्र) गर्भ कहते हैं—शुद्धे शुक्रार्तवे तत्त्वः (जीवः) स्वकर्मकलेशचोदितः । गर्भः संपद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणी ॥ अष्टांगहृदय ॥ शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽन्व-कामति सत्त्वसंप्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिर्वर्तते चरक शारीर ३॥ अथ गर्भशब्देन मनरसंयोगाच्चेतेनात्मनाधिष्ठितानां महापू-तानां विकारविशेष उच्यते ॥ इन्द्रु, अष्टांगसंग्रह ॥ आगे के सूत्र की भी टिप्पणी देखो । भावप्रकाश में दोनों के संगम का स्थान गर्भाशय बताया है— तत्र (गर्भाशये) शुक्रवदायातेनावेन युतो भवेत् ॥ भावमिश्र के इस मत की भी पुष्टि कुछ पाश्चात्य शास्त्रज्ञ करते हैं । वे कहते हैं कि यद्यपि शुक्रशोणित के संयोग का स्थान प्रायः बीजवाहिनी में होता है तथापि गर्भाशय में भी दोनों का संयोग होकर गर्भ का आधान हो सकता है—

The meeting of the sex cells and their conjugation occurs in all probability most frequently in the outer part of the fallopian tube. This statement, can not, of course be expected to rest on direct observation in the human subject, but it is considered probable because the corresponding situation is known to be the site of fertilization in other animals. On the other hand, the possibility of fertilization in the uterus can not be denied, although it seems very unlikely that the ovum, after its sojourn in the tube, would be in a condition fit enough physiologically to admit

of fertilization and development; *Manual of Embryology by Frazer.*

स्त्री बीज स्वयं गतिहीन होता है, परन्तु कोप से उदर-गुहा में आने पर बीजवाहिनी द्वारपरिवर्तों अंचलों (Fimbria) से उत्पन्न हुई लहरों में फँसकर उनकी ओर चला जाता है, और वाहिनी में घुसता है । वाहिनी भीतर से लोमश (Cilintod) होती है । इन लोमों की दिशा और गति गर्भाशय की ओर होती है । इसके सिवाय वाहिनी में भी एक प्रकार की पुरःसारणगति (Peristaltic wave) होती है । पुरःसारण और लोम इनकी सहायता से बीज धीरे-धीरे गर्भाशय की ओर चला जाता है और यदि उसका संयोग शुक्राणु से न हुआ तो मासिक स्राव के साथ वह भगद्वार से शरीर के बाहर चला जाता है । प्रायः शुक्राणु से उसका संयोग बीजवाहिनी के मुख के पास होता है, क्योंकि शुक्राणु गतियुक्त होता है । शुक्राणुओं की गति के सम्बन्ध में अनेकों के अनेक मत होते हैं, परन्तु साधारण मत यह है कि एक इंच का अन्तर तय करने के लिए पाँच से दस मिनट का समय लग जाता है और गर्भाशयमुख से बीजवाहिनी द्वार तक पहुँचने के लिए छह घंटे का समय काफी हो जाता है । इसका अर्थ यह है कि मैथुन के थोड़े घंटे के पश्चात् शुक्राणु बीजवाहिनी में पहुँच सकते हैं । उस स्थान में बीज मिलने पर दोनों का संयोग होकर गर्भधारणा होती है । यदि न मिला तो शुक्राणु उदरगुहा में चला जाता है और वहाँ यदि बीज मिल जाय तो उदर में भी गर्भधारणा होती है । इस अवस्था को औदर्य गर्भावस्था (Abdominal pregnancy) कहते हैं । कभी कभी स्त्रीबीज के पीछे पड़ा हुआ शुक्राणु इधर उधर बीज न मिलने पर सीधा बीजकोप पर चला जाता है और यदि पक्कीबीज वहाँ मिल जाय तो उससे संयुक्त होकर गर्भधारणा करता है । इस अवस्था को बीजकोपस्थ गर्भावस्था (Ovarian pregnancy) कहते हैं । ये दोनों अवस्थाएँ भयानक होती हैं । क्योंकि ये स्थान गर्भवृद्धि के लिए योग्य न होने के कारण अकाल में विदीर्ण होकर रक्तस्राव होता है और उसी से रोगी की मृत्यु हो जाती है । शुक्राणु और बीज का संयोग—शरीर की प्रत्येक कोशा में न्यष्टि होती है । उस न्यष्टि में कुछ रंगद्रव्य होता है, उसे अश्लिषण (Chromatin) कहते हैं । कोशाविभाजन के समय यह रंगद्रव्य कई सूत्रों में विभक्त होता है । इनको पिन्ड्रसूत्र (Chromosomes) या रंगवस्तु (Chromatin body) कहते हैं । प्रत्येक जाति के प्राणियों में इन सूत्रों की संख्या निश्चित होती है । मनुष्य जाति में इनकी संख्या ४८ होती है । स्त्रीबीज पक होने के समय उसमें कई बार विभजन होकर न्यष्टिगत सूत्रों की संख्या २४ हो जाती है और बाकी का हिस्सा उसके ऊपर के आवरण में (Zona pellucida) मिलकर नष्ट हो जाता है । शुक्राणु पक होने के समय भी इसी प्रकार का विभजन होकर उसकी न्यष्टि में भी २४ सूत्र रह जाते हैं । यह न्यष्टि शुक्राणु के सिर और जीवा में ही रह जाती है, पुच्छ में नहीं होती । इन पिन्ड्रसूत्रों या क्रोमोसोमों के द्वारा व्यक्ति के गुणदोष सन्तति में आ जाते हैं । प्राचीन परिभाषा के अनुसार इन पिन्ड्रसूत्रों को बीज का बीजभाग कह

सकते हैं, जिसमें व्यक्ति के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म चित्र मिलता है—यस्य यस्य ह्यज्ञातव्यस्य नीचे बीजमग उप-ततो भवति, नस्य तस्याज्ञातव्यस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपजायात् । (चरक, शारीर ३) । मनुष्यदीर्घ हि प्रत्यग बीजमगमनुदायात्मक एतदृशमन्यवसतुदायरूपपुरुषजननम् । (चक्रपाणिदत्त) । कुछ थोड़े फर्क से आधुनिक विद्वान् भी चक्रपाणिदत्त के अनुसार ही बीजगत शरीररचना के सम्बन्ध में लिखते हैं—

Each chromo some contains a certain number of genes. They occur in pairs a set for black eyes, some for fair skin and a number of them for crooked nose *Riddle of sex.*

आदिवलप्रवृत्त या कुलज (Hereditary) रोगों में शुक्रक्रोणित में जो दोष होता है, वह इन क्रोमोसोम में ही रहता है और इन्हीं के द्वारा संतति में प्रवेश करता है। दोषों के अनुसार व्यक्ति के गुण भी इन्हीं के द्वारा संतति में जाते हैं। प्रथम विभाग में पृष्ठ १४८, १४९ और आगे चौथे सूत्र के वक्तव्य में 'जीव क्या है ?' देखो। इस तरह विभजन के द्वारा एक हुए स्त्रीबीज के पास कई शुक्राणु पहुँच सकते हैं, परन्तु केवल एक जो सद्य से सफल होता है, भीतर प्रवेश कर सकता है। उसका सिर उपर के आवरण में से भीतर घुस जाता है और बीज के केन्द्र के साथ मिल जाता है। उसकी पूँछ सिर से अलग होकर बाह्य आवरण में घिरने हो जाती है। इस तरह २४ शुक्राणु के और २४ स्त्रीबीज के विन्ध्यसूत्र संयुक्त होकर पूर्ववत् ४८ विन्ध्यसूत्रों का एक जीव बनता है, जिसमें माता के और पिता के सम्पूर्ण गुण-दोष आ जाते हैं और यही गर्भ है। संक्षेप में शुक्रक्रोणित ससर्ग से दोनों विन्ध्यसूत्रों का संयोग अभिप्रैत है। विन्ध्यसूत्रों की संख्या में कदापि वृद्धि नहीं होती है।

गर्भाग्रमनुप्रपद्यते—एवं दोनों का संयोग होने पर गर्भ की प्रारम्भिक कोशा विभक्त होने लगती है और एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह इस तरह वृद्धि शुरू होती है। इस वृद्धि के साथ साथ धीरे धीरे गर्भाशय की ओर मार्ग तय करता है और प्रायः पाँच से दस दिन में गर्भाशय में आग्रय लेता है। हाराणचन्द्र 'अनु' का गर्भाशय के एक विशिष्ट भाग के साथ सम्बन्ध समझते हैं— गर्भाशयमन्वित्स्तनुर्भागेर्ध्वे वसप्रचनीयः । गर्भाशयस्यापिशेषो यो वास्तुशीवमवर्तमित्येत्नय, वदयति हि 'तस्यास्तुनीये त्वावने गर्भं शय्या प्रतिष्ठिता' इति । प्रपद्यते प्राप्नोति ॥ यह कथन भी ठीक है, क्योंकि बीजवाहिनी से आया हुआ गर्भ गर्भाशय के सिरवर में जाने स्त्रीय आवर्त में (Fundus of the uterus) में स्थित जाता है।

कभी कभी गर्भ बीजवाहिनी में अधिक दिनों तक रहता है। इसके कारण अभी तक ठीक मात्रास नहीं हुए हैं। अधिक दिन रहने पर उसमें स्थिररुके का अंग (Leopold mass) उत्पन्न होता है और यह यहाँ स्थिरकर पधित होता है। इस अवस्था को टालिकागर्भावस्था (Tubal Pregnancy) कहते हैं। भौतिक और बीजकोषस्य गर्भावस्थाओं के अनुसार यह अवस्था भी खतरनाक होती है। गर्भधारण

के लिए अनेक बार मैनुपुनर्कर्म की आवश्यकता क्यों ?— मनुष्यों में यह हमेशा देखा जाता है कि स्त्री और पुरुष दोनों प्रजोत्पादनयोग्य होते हुए भी एक बार समागम करके अपने उदरय में सफल नहीं होते। उनको महीने में कई बार और इस प्रकार कई महीनों तक समागम करना पड़ता है, तब जाकर गर्भधारणा होती है। इसके सम्बन्ध में चरकाचार्य लिखते हैं—यथोक्त विधि नोपसकृत्वा शरीरयो स्त्रीपुरषयोर्मिश्रीगवमापन्नयोः शुक्र शोणितेन सह संयोग समेषा-न्यापन्नमन्यापन्नेन योनावनुपहवायामप्रदुष्टे गर्भाशये गर्भमभिनिर्वर्तयत्येकतेन । यथा—निर्मले वाससि सुपरिकल्पिते रजनसमुदित-गुणमुपनिपातादेव रागमभिनिर्वर्तयति, तद्वत् ॥ (शारीर ८) योनिप्रदेशोष्णतनसोऽभिनापाच्छुक्राद्युष्णहारविहारदोषात् । अत्राप योगाद्दसकचयार्थं चिराद्दिन्दति स प्रजाऽपि ॥ (शारीर २) । पुरुषस्यानुपवर्तनेरसः कियथाशुद्रह्योनिशोणितगर्भाशयाय यथा भवति समगं कर्तुवाक्ये, यदा चानयोःसायुक्तौ ससर्गं शुक्र-शोणितससर्गमनगर्भाशयगत जीवोऽन्यकामति तदा गर्भोऽभिनिर-वर्तते ॥ (शारीर ३) । इन उद्धरणों के अनुसार उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह होता है कि एकान्तेन गर्भधारणा के लिए जो शर्तें आवश्यक होती हैं, वे प्रायः पूरी न होने के कारण अनेक समागम निष्फल होते हैं और जब शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब समागम सफल होता है। इसलिए इन शर्तों का विचार कुछ विचार के साथ किया जाता है। (१) ऋतुवाल—महीने में कुछ दिन ऐसे होते हैं कि उन दिनों में समागम करने पर गर्भधारणा की संभावना अधिक होती है, उनको ऋतुकाल कहते हैं—अथवा गर्भधारणयोग्यवाचभोपलक्षणं चाल ऋतु ॥ (विज्ञानेश्वर) । इसका अधिक विवरण इसी अध्याय के ६ सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। इन दिनों के अतिरिक्त दिनों में किया हुआ समागम प्रायः निष्फल होता है। समागम करने पर भी गर्भधारणाप्रतिबन्धक (Birth Control) को उपाय होते हैं, उनमें ऋतुकालातिरिक्त दिनों में समागम करना एक उपाय होता है—

Women desirous to avoid pregnancy must beware of the Ides of the pre and early postmenstrual period *The Riddle of sex*
 अपर्यत् ऋतुकाल (Genetic period) और अनुत्काल (Agnostic period) ये जो दो भेद किये गये हैं, वे ठीक हैं। (२) बीज की अनुपस्थिति—ऋतुकाल में गर्भधारणा होने का मुख्य कारण यह है कि उन दिनों में बीजकोष से बीज बाहर निकलता है। कभी कभी बीज बाहर निकलने पर भी बीजवाहिनी में न आकर उदरशुद्धा में नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में ऋतुकाल में भी गर्भधारणा नहीं हो सकती। (३) योनि गर्भाशय की वृद्धि—योनि गर्भाशय वृद्ध होने पर उनकी खेपट तथा तथा उनके प्रायः शुक्राणुओं के अनु-कूल होते हैं। जब इनमें कुछ दोष उत्पन्न होता है, तब इनका प्रायः शुक्राणुओं के लिए घातक होता है, जिससे उत्पन्न शुक्राणु भी योनि में प्रविष्ट होने पर नष्ट या म्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए गर्भाशय और मार्ग की वृद्धि की महत्ता वर्णन की है—Alterations of the secretions from vagina, cervix, uterus and tubes endangers the life of the spermatozoa *Riddle of Sex* (५) की धी रफ्य—

गर्भधारणा होने के लिए स्त्री के मन में अपत्य होने की प्रवृत्ति इच्छा होनी चाहिए। इसलिए आयुर्वेद में स्थान स्थान पर प्रजामिच्छन्ती, पुत्राशिषां कर्म, गुणवत्पुत्रार्थी, पुत्रमिच्छन्ती, इत्यादि अपत्य की आतुरतादर्शक शब्द प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार की आतुरता जब मन में होती है, तब 'तदर्थ्याभिनिवृत्ता-कर कर्म' सफल होता है। चानटे वेल्डे गर्भधारणा के मानसिक स्वास्थ्य (Mental Hygiene of conception) के अन्त में लिखते हैं—

In this sense, I desire of every woman that she should experience her longing for a child not only with every fibre of her body but also with every impulse of her soul. *Ideal Birth.*

अपत्य के लिए जब इच्छा करके समागम किया जाता है, तब जरूर अपत्य उत्पन्न होता है। प्रतिदिन स्त्रीपुरुष जो समागम करते हैं, वह अधिकतर मैथुन से केवल आनन्द प्राप्त करने के लिए होता है। स्त्रियों की दृष्टि से अगर विचार किया जाय तो मैथुन सफल होने से स्त्रियाँ बहुत दिनों तक के लिए फँस जाती हैं, बार बार जल्दी फँसने से उनकी जिम्मेदारी बढ़ती है और स्वास्थ्य खराब होता है; इसलिए भावतः उनमें मैथुन की इच्छा कम होती है। ऐसी वस्था में पुरुष जब खुशी की ज्वरदस्ती से उसके साथ मागम करता है, तब उसका मन न मैथुन में होता है, न ह अपत्य की इच्छा करती है। इसलिए गर्भधारणा नहीं होती—विमना गर्भं न धत्ते, विगुण्यां वा प्रजां जनयति। (चरक, षोडशब्रह्म)। अर्थात् तन्मना होने से मैथुन में आनन्द प्राप्त होता है, आनन्द के साथ उसके गर्भाशय से क्षारीय स्राव स्रवता है, जो पुरुष के शुक्राणुओं के लिए फायदेमन्द होता है। इस स्राव के सम्बन्ध में द्वितीय अध्याय के ३८वें लोक का चर्कण देखो। यदि आनन्द प्राप्त न होने के कारण गर्भाशय से क्षारीय स्राव न निकले तो योनि के स्राव में जो अम्ल होता है, उससे शुक्राणु नष्ट या खराब हो जाते हैं—

The vaginal secretion is slightly acid, when mixed with spermatoc fluid and uterine discharge it becomes slightly alkaline—the medium most suitable for pre-ervation of the sperm cells. *Riddle of the Sex.*

मानसिकदृष्ट्या भी तन्मय होकर आनन्द प्राप्त होने से गर्भधारणा होती है और गर्भ भी उत्तम प्रकार का होता है—

I have made mention above of the importance of the woman's orgasm for the high value of the offspring *Ideal Birth.*

(५) स्त्री की मनःस्थिति—काम, क्रोध, भीति इत्यादि विकारों से यदि स्त्री का मन मैथुन के समय तथा उसके पूर्व और पश्चात् विगड़ना हुआ हो तो गर्भ का आधान ठीक नहीं हो सकता है, क्योंकि इन विकारों से अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों के स्राव (Hormones of the ductless glands) विकृत हो जाते हैं, जिससे स्त्रीबीज फलित होने पर भी गर्भाशय में नहीं टिकता है—नत्राशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्ता क्रुद्धा न गर्भं धत्ते-विगुण्यां-वा प्रजां-जनयति।

(चरक)। इसके उल्टे 'मौमनस्यं गर्भधारणानाम्'। (चरक)।

Since the firmness of the settlement of the fertilized ovum in the uterine mucous membrane is dependent on the vitellus; further, since the nature of this organ with internal secretion is influenced by the frame of the mind, the psychological equilibrium, it seems comprehensible that a fertilized ovum in consequence of the disturbances of this kind may be expelled soon after its embedding or also at some other later date. In the former case, we have a menstrual period delayed for a few days. *Ideal Birth.*

(६) स्त्री की कामशान्ति—मैथुन के समय स्त्री और पुरुष दोनों को ही सुख होता है, परन्तु दोनों की कामशान्ति का तत्त्व भिन्न है। पुरुषों में कामशान्ति कुछ जल्दी होती है और उसके लिए शुक्रोत्सर्ग जैसी एक स्वाभाविक घटना रक्खी गई है। स्त्रियों में इस प्रकार की कोई घटना नहीं है, जिससे उनकी कामशान्ति आप से आप हो जाय। स्त्रियों में कामशान्ति एक मानसिक अवस्था है, जिसके लिए पुरुष को समागम के प्रारम्भ से कोशिश करनी पड़ती है। यदि इस प्रकार का प्रयत्न न किया जाय तो उनकी शान्ति मुश्किल से होती है और वे असंतुष्ट रह जाती हैं। इसी दृष्टि से लिखा है—जीवामष्टगुणः कामः ॥ वात्स्यायन कामसूत्र में भी लिखा है कि प्रारम्भ से सुम्ननादि द्वारा स्त्री की कामेच्छा पूरी करने की कोशिश की जावे और जब उनकी कामेच्छा पूरी होने को आवे, तब पुरुष अपनी पूरी कर लेवे। स्त्री की कामेच्छा पूरी न होने से गर्भधारण नहीं होता—जातेरभेदाद् दम्पत्योः सदृशं सुखमिष्यते। तस्मान्तथोपचर्या की यथाश्रे प्राप्तुयाद्रतिम् ॥ चिरवेगे नायके स्त्रियोऽनुरव्यन्ते। शीघ्र-वगत्य भावमनासाधावसानेऽभ्यस्यन्त्यो भवन्ति। नह्यसत्यां भाव-प्राप्तां गर्भसम्भव इति वाग्भवीयाः ॥२१॥ आधुनिक विज्ञान भी इस तत्त्व को मानता है—

The sexual gratification of women is even a part of the act of fecundation, for her share in that act is not purely passive. Mathew Duncan placed stress on this need of sexual pleasure in the women in order to ensure fecundation. *Psychoogy of sex by H. Ellis.* In the female the complete orgasm satisfying the desire is not generally consummated so rapidly as in the male, with whom seminal ejaculation is accomplished in a few minutes or even less. The culminating point in the female orgasm occurs seightly after that of the male, and is said to be marked by the expulsion of mucus through the os uteri. The mucus is then partly withdrawn into the uterus along with the semen, coition sometimes takes place without the orgasm in the female being completed or even without its occurring at all, but this is abnormal and such coitions are

apt to be sterile, probably because the orgasm may be an essential factor in bringing about ovulation (or release of the ova). *Sexual Physiology by Marshall*

गर्भधारणा के लिए कामशान्ति की आवश्यकता इस लिए होती है कि उसमे स्त्री के वीजकोष से वीज (आतं व) स्वतन्त्र होने में सहायता होती है। खरगोद, विष्ठी इत्यादि मनुष्यतर प्राणियों में मैथुन के समय ही वीज कोष से स्वतंत्र होते हैं। मनुष्यों में यद्यपि इस प्रकार की आवश्यकता नहीं होती तथापि मैथुन और कामशान्ति वीजोत्सर्ग में बद्ध सहायता करते हैं। इस विषय का कुछ विवरण दूसरे अध्याय के 'एचिण्डो यैषाशिमामिन् प्रविशीयते' इस (३७) के श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। (७) मैथुन का आसन— वीर्यग्रहण के लिए वह आसन उत्तम होता है, जिनमें योनि में उत्सर्गित हुआ शुक्र आसानी से गर्भाशय की ओर जा सके। जिन आसनों में इसके लिए कठिनाई होती है, उन आसनों में मैथुन करने से प्रायः गर्भधारणा नहीं होती, यह अनुभवसिद्ध है। आयुर्वेद में इसलिये, बतलाया है कि गर्भधारणा के लिए अनुकूल आसन स्त्री की उत्तम स्थिति याने चित लेटना है। इसी स्थिति में वीर्य निकलने के पश्चात् उसका ग्रहण करने के लिए स्त्री को शिथिल अवस्था में और योनि नीचकर पड़ा रहना और सो जाना चाहिए— उत्तमा तमना योषिर्निष्ठैश्च सुवस्थितैः ॥ (अष्टांगहृदय)। तस्मात्तुत्तान वीज गृह्णीयात् । तथा यथास्थानमेव निष्ठान्नि दोषा ॥ (अष्टांगसंग्रह) । न च युञ्ज्या पाशना वा संवेन ।

If an unsuitable posture be assumed during intercourse, the woman may remain sterile *Laws of Sexual Philosophy*

अर्थात् मैथुन में आसन ग्रहण करने से या उत्तम अवस्था में वीर्य निकलने पर एकदम रुका हो जाने से तथा पश्चात् योनि प्रचालन करने से सब वीर्य बाहर चला जाता है और गर्भधारणा नहीं होती। (८) पुरुष की मन स्थिति— ऊपर अव्याशिता, सुधिता इत्यादि स्त्री के लिए जो दोष वर्णन किये हैं, वे पुरुष के लिए भी लागू हैं—पुरुषोऽप्येव षडंगेन । अर्थात् क्रुद्ध, भीत या अन्य विकारों से युक्त पुरुष स्त्री में गर्भ का आधान नहीं कर सकता। अथ सर्वदोष बहिर्गो क्रापुण्यो रुच्येवावात्मा ॥ (धरक)। इसका अविम-प्राय यह है कि पुरुष कितना ही स्वस्थ क्यों न हो यदि मैथुन के पूर्व तथा मैथुन के समय वह शरीर से और मन से अत्यन्त भ्रान्त हुआ हो या क्रोध, शोक, भय आदि से व्याप्त हुआ हो तो उसके शुक्र में कुछ ऐसा दोष उत्पन्न हो जाता है कि वह शुक्र गर्भ का आधान नहीं कर सकता— पुरुषोऽप्येवादिना पूर्वं मैथुनात्प्रागनुपगतैरनुसंवायुक्त, तथाप्युक्तो नेत्येनैव तु मैथुनमनभयेति शुक्रयोः वागीनामदृष्टव्येनैः । मैथुनमनये हि हेम्यानिन शुक्रदृष्टि ममाव्ये ॥ (धरकानिदित्त) । पाश्चात्य पण्डितों का भी कथन है कि पुरुष के शुक्र में शुक्राणुओं की उपस्थिति एक भी नहीं होती। एक ही पुरुष में शारीरिक और मानसिक स्वाभाविकता के अनुसार शुक्राणु कभी कम होते हैं, कभी अधिक होते हैं और कभी होते ही नहीं—

After physical or mental exhaustion, strenu

ous intercourse, or following invalidating disease, the ejaculation may be free from sperm cells. *The Riddle of Sex.*

(९) शिरोत्वन् ठीक न होना—गर्भधारणा के लिए पुरुष का वीर्य गर्भाशयमुख के ऊपर या आसपास गिरना आवश्यक है। यह कार्य शिश्न का उत्थान अच्छी तरह होने से हो सकता है। शारीरिक या मानसिक थकावट, किसी काम की चिन्ता, क्रोध इत्यादि से शिश्नोत्थान ठीक नहीं होता परन्तु आदत के कारण जब पुरुष समागम करता है, तब वीर्य भगद्वार के आसपास गिर जाता है और शुक्राणु नहीं जा सकते।

इस तरह से अयोग्यकाल, स्त्रीवीज का अभाव, स्त्री की अनिच्छा, मैथुन के समय कामवेग का अभाव तथा मानसिक वैपरीत्य, योनि का दुष्टलाव, वीर्य में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति, शिश्नोत्थान ठीक न होने से, अयोग्य स्थान में वीर्यस्पर्श इत्यादि अनेक कारणों से प्रतिदिन का स्त्री-पुरुषों का संयोग वन्ध्य हो जाता है। यदि उपर्युक्त नियमों में अनुसार संयोग होगा तो 'वन्ध्य एव संयोग स्यादाव्य' कामन ॥ (अष्टांगहृदय) ।

क्षेत्रज्ञो वेद्ययिता स्मष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्मष्टा गन्ता साक्षा घ्राता वक्ता यः कोऽस्ति रयैवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिर्भ्रिद्योयते दैवसगा दक्षयोऽप्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्जत् सत्तरजस्तमोभिर्देवासुरैरपरैश्च भावैरायुनाऽभिप्रेर्यमाणः, गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥ ४ ॥

(जीव पर्याय और उसका गर्भ में अवतरण—) क्षेत्रज्ञ, वेद्ययिता, स्मष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता पुरुष स्मष्टा, गन्ता, साक्षा, घ्राता, वक्ता इत्यादि पर्याय वाचक नामों से (श्रुतियों से) जो पुकारा जाता है वह (क्षेत्रज्ञ स्वयं) अक्षय, अचिन्त्य (और) अध्वय (होते हुए भी) दैव के सग से (सूक्ष्म) भूत, सर्व रज तम, दैव भासुर या अन्य भाव इन से युक्त प्राण से प्रेरित हुआ गर्भाशय में प्रविष्ट होकर तत्काल (शुक्र आतं व के संयोग में) अवस्थान करता है ॥ ४ ॥

वन्ध्य—पिड़ले सूय मे गर्भ की उत्पत्ति का विषय भौतिक दृष्टि से याने आधुनिक विज्ञान (Modern Science) की दृष्टि से किया गया है। भारतीय दर्शनशास्त्र की दृष्टि से शुक्र और आतं व महाभूतात्मक अतएव अचेतन है। उनमें चैतन्य प्राप्त होने के लिए चेतनावात्त आत्मा या पुरुष का उनके साथ संयोग होना आवश्यक है। इसलिये गर्भ की व्याख्या में शुक्र, सोजित और आत्मा तीनों का निर्णय निरपवाद किया जाता है—पुरुषोऽपि त्रीणोऽसौ योगे तु सत् कुञ्जिते गर्भसृष्टा मरति ॥ यथा सशरीरे शुक्रोऽपि त्रीणोऽसौ संयोगेऽप्रभव न भवति, तथा सशरीरेऽसति ॥ (धरक) । अतः प्रथम गुणवर्णनात्मक आत्मा के पर्याय नाम लिखे हैं। धरक—शरीर रूपी चेतन का ज्ञाना—यदं गते ही तेष धर निष्कर्मिणीयते । एतयो वेति तं मद्रु एतत् इति मद्रु ॥ (भाष्यवृत्ता १११) । किया शरीर रूप चेतन में बद्ध हुआ

वा मा—आत्मा जेवना रच्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः । तेरेव तु विनि-
 मुक्तः परमात्मैस्तु प्रकृतः ॥ (महाभारत) । वेदयिता—सुख-
 दुःखादि का अनुभव करने वाला—पुरुषः सुरादुःखानां भोक्तृत्वं
 हेतुश्च्यते । पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ॥
 (भगवद्गीता १३।२१) । अत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः
 पुरुषः ॥ (सांख्यकारिका ५६) । जीवसंश्लोऽन्वरात्मन्यः सहजः
 सर्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्वं सुखदुःखं च जन्मसु ॥ (मनुस्मृति
 १२।१३) । ननुसो ज्ञापयिता ॥ (डल्हन) । स्पष्टा, प्राता, द्रष्टा,
 श्रोता, रसयिता—पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा मिलने वाले ज्ञान
 का ज्ञाता । यद्यपि नेत्र रूप को देखते हैं तथापि रूप का ज्ञान
 आत्मा को होता है, नेत्र को नहीं—आत्माऽः करणैर्गोणा-
 व्जानं तस्य प्रवर्तते । (चरक) । किंवा इन्द्रियों के द्वारा कार्य
 करने वाला याने कर्ता, ज्ञापक—कर्ता हि करणैर्गुणैः कारणं
 सर्वकारणम् ॥ (चरक) । पुरुषः—पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः ।
 लिङ्ग शरीर में जो निवास करता है । द्रष्टा—शरीर में
 चैतन्य उत्पन्न करने वाला—चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता
 निरच्यते । शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ॥ (चरक) ।
 गन्ता—एक देह से दूसरे देह में गमन करने वाला—
 देशदेशान्तरं याति किमिदच्छाश्वनोऽन्यथः ॥ साक्षी—ज्ञानवान्
 होने के कारण आत्मा साक्षी कहलाता है—ऽः साक्षीत्युच्यते
 गणः, साक्षी त्वात्मा यतः स्थलः । (चरक) । किंवा ज्ञानवान्
 होने के कारण तटस्थ के समान सुखदुःखादि से विचलित
 न होने वाला—निर्विकारः परन्वत्मा, द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥
 (चरक) । द्रष्टा साक्षी, तेन यनियथा परमज्ञानः साक्षी सन् जगत्तः
 क्रियाः सर्वाः पश्यन् रागद्वेषादिना युज्यते, तथाऽऽत्मापि सुख-
 दुःखापुषतममानोऽपि न रागादिना युज्यते । (चक्रपाणिदत्त) ।
 धाता—पंचमहाभूतात्मक शरीर को धारण करने वाला ।
 वक्ता—बोलने वाला । यह उपलक्षण है, इससे पाँचों कर्म-
 इन्द्रियों का कर्ता आत्मा है, यह अर्थ समझना चाहिए—
 एतेन कर्मैन्द्रियाणामपि वचनादानविहरणोरसगादेश्चाप्ययमेव हेतुः ।
 (डल्हन) । दैवसंगात्—प्रारब्ध कर्म का फल भोगने के
 सिवाय जीव का छुटकारा नहीं होता, यह वेदान्तशास्त्र का
 मत है—शरीरारम्भकं कर्म योगिनोऽयोगिनोऽपि च । विना फलो-
 पभोगेन नैव नश्यत्यसंशयम् ॥ वर्तमानशरीरेण संपन्नं कर्म
 देहिनः । इह वाऽमुत्र वाऽश्नत्य ददाति स्वफलं शुक् ॥ प्रारब्धशेषं
 विच्छिन्नं पुनर्देहान्तरेण तु । भुङ्क्ते देही ततो भुङ्क्ते तल्लक्ष्यति
 कः पुमान् ? ॥ (पराशर) । भोगेन द्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥
 (वेदान्तसूत्र) । कभी यह फल एक जन्म में समाप्त
 होता है, कभी अनेक जन्म की आवश्यकता होती है—
 अवश्यमनुभोक्तव्यं प्रारब्धस्य फलं जनैः । देहेनैकेन वाऽन्येन युग-
 पदा क्रमेण वा ॥ (पराशर) । दैव से एक या अनेक पूर्व
 जन्म के प्रारब्ध कर्म का बोध होता है, जिसके फल जीव को
 वर्तमान जन्म में भोगने पड़ते हैं—दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तु ।
 दैवमात्मकृतं विधात् कर्म यत् पूर्वदैहिकम् ॥ (चरक) । उस
 पूर्वदैहिक कर्म के फलरूप संग या बंधन के कारण । आत्मा
 उपर्युक्त गुणों से युक्त होने पर भी अपने पूर्वकर्मों में फँसने
 के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करता है—
 क्षेत्रज्ञा नित्याश्च तिर्यग्योनिमानुपदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम् ॥
 (सुश्रुत, शा० १) । पूर्वकर्म की कल्पना आधुनिक पाश्चात्य
 पण्डित भी मानते हैं—

The individual never being other than what he has made himself in the course of his evolution by the immense series of representations he has gone through, it follows that every thing that is within his field of consciousness is his own doing, the fruit of his own efforts, his own sufferings and his own joys. Every act, even every desire and inclination, has an inevitable reaction in one or other of his existences. *Gustave Geley. From the Unconscious to the Conscious.*

अचिन्त्य—जो मन और बुद्धि की चिन्तनशक्ति के बाहर
 होता है—मनसस्तु परा बुद्धिर्गुणैः उदेः परतस्तु सः । (गीता) ।
 यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ भूतात्मना सह—
 भूतात्मा के साथ । वेदान्त के अनुसार पंचतन्मात्रा या
 'देहवीजभूत सूक्ष्म' को भूतात्मा कहते हैं—योऽस्यात्मनः
 कारयिता न चैतर्था प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतारभोच्यते
 गुणैः ॥ (मनुस्मृति) । यः पुनरेषु व्यापारान् करोति शरीराख्यः
 स पृथिव्यादिभूतारब्धत्वाद् भूतात्मैवेति पण्डितैरच्यते । (कुल्लुक
 भट्ट) । वेदान्तसूत्र में भी लिखा है—तदन्तरप्रतिपत्ती रंहति
 संपरिष्वक्तः (३।१।११) । तदन्तरप्रतिपत्ती देहान्तरप्रतिपत्ती देहवीजै-
 र्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम् ॥ (शांकरभाष्य) ।
 सांख्यशास्त्रानुसार भूतात्मा से 'लिङ्गशरीर' का बोध होता
 है । यह लिङ्गशरीर अठारह तत्त्वों का बनता है—महदादि-
 सूक्ष्मपर्यन्तम् । (सांख्यकारिका) । महदहकारैकादशेन्द्रिय-
 पञ्चतन्मात्रपर्यन्तम् । एषां समुदायः सूक्ष्मं शरीरम् ॥ (सांख्य-
 तत्वकौमुदी) । चरक में भी लिखा है—भूतैश्चतुर्भिः सहितः
 सुप्तसमैर्नोजयो देहसुपैति देहात् । (शा० २) । इस सूक्ष्म
 शरीर का आकार व्यवहार के लिए अंगुष्ठमात्र माना जाता
 है—ततः सत्यवतः काथात् पाशवदं वयस्रतन् । अंगुष्ठमात्रं पुरुषं
 निश्चकपं नलाधमः ॥ (महाभारत) । अन्वक्षम्—(१) तत्काल,
 अल्पकाल में । तत्क्षणमेव न क्षणान्तरे । (डल्हन) । इसका
 संबंध गर्भोत्पत्ति के समय भूतग्रहण के साथ निम्न चरक
 वचनानुसार हो सकता है—तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो
 गुणग्रहणाय प्रवर्तते । यथा—प्रलयात्यये सिद्धभूतान्यन्तरभूत
 आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततर-
 गुणान् धातुन् वाय्वादिकांश्चतुरः, तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः
 पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातुन्
 वाय्वादिकांश्चतुरः । सर्वमपि तु खल्वेतदगुणोपादानमगुणा कालेन
 भवति ॥ (शा० ४) । (२) हाराणचन्द्र अक्ष से इन्द्रिय
 समक्षते हैं—अन्वक्षमित्यनुः सहार्थं कर्मप्रवचनीयः, अक्षैरिन्द्रियैः
 सहैत्यर्थः ॥ भावः—सांख्यशास्त्रानुसार सत्त्व रज तम इन
 गुणों के कारण बुद्धि में जो विविध स्थित्यन्तर होते
 हैं, उनको 'भाव' कहते हैं, और सत्त्वादि के न्यूनाधिक
 प्रमाण के अनुसार इन भावों की संख्या भी अनेक होती है ।
 ये भाव पुष्प में सुवास या वस्त्र में रंग के समान लिङ्ग
 शरीर में रहते हैं और इन भावों के अनुसार देव, मनुष्य
 या पशुयोनि में जीव भ्रमण करता है—संसरति निरुपभोगं
 भावैरधिवासितं लिङ्गम् । (सांख्यकारिका) । इस कारिका
 पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्या-
 वैराग्यैश्वर्यानिश्वर्याणि भावाः, तदन्विता बुद्धिः, तदन्वितं च

यस्य शरीरमिति तदपि भावैरधिवासितम् । यथा द्युर्भिमन्वय
 कुमुदमन्वकादस्य तदाभोदवासित भवति । तस्माद्भावरिवासित
 भात्ससरति ॥ (साख्यतत्त्वकौमुदी) । इसके सिवाय कल्ल-
 बुद्धुदादि गर्भ के, वाक्ययौवनादि बाल के जो स्थित्यन्तर
 होते हैं, वे भी 'भाव' ही कहलाते हैं, परन्तु ये शारीरिक हैं ।
 इस तरह शारीरिक और बौद्धिक दो प्रकार के भाव होते हैं—
 दृढ करुणाप्रियण वागाप्रियणश्च कल्लत्वाया । (साख्यकारिका) ।
 यहाँ बौद्धिक भावों से संबंध है, क्योंकि वे नित्य हैं और
 आत्मा के साथ एक देह से दूसरे देह में जाते हैं, और इन्हीं
 के कारण उच्च नीच यानि में जीव जन्म लेता है । शारीरिक
 भाव प्रत्येक जन्म के भिन्न भिन्न होते हैं और मृत्यु के साथ
 मिट जाते हैं । सत्वरजसमोर्भोदैवासुरैरपेश भावै—सर्व के
 कारण धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार देवासुर भाव
 उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव ब्रह्म, प्राजापय, ऐन्द्र,
 पृत्र, गान्धर्व, याच, राक्षस और पैशाच इत्य अष्टविध
 देवासुर योनि में जन्म लेता है । तम के कारण अधर्म,
 अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य ये चार तैर्यग्भाव उत्पन्न होते हैं,
 जिनके कारण जीव पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर
 इन तैर्यग्योनियों में जन्म लेता है । रजोयुक्त दोनों के मिश्रण
 से धर्माधर्मादि अष्टविध देवासुर और पाशव (अपर) भाव
 उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव मनुष्ययोनि में जन्म
 प्रकृत करता है—उद्धिषमो ज्ञान विरागैश्वर्यम् । सात्त्विकमे
 तदप्य ताम्रसमरजसिद्रियस्यम् ॥ अष्टविधयो वैवर्तैयग्योनश्च पञ्चधा
 भवति । मातृपुत्रयोर्कविष समास्तौ भौतिक सर्ग ॥ ऊर्ध्वं तस्व
 विशालस्त्वमो विशालश्च मूलन सग । मध्ये रजो विशालो
 मृग्यादिस्त्वन्वपयन्त । (साख्यकारिका) । मनुष्य योनि में
 सर्व रज तम तीनों गुण उपस्थित रहते हैं (प्राय रज का
 प्राधान्य मनुष्ययोनि में मानते हैं), दैविक भाव होते हैं,
 पाशविक भाव भी होते हैं और सुख तथा दुःख भी
 रहता है । यह कार्य धर्माधर्मादि अष्टविध भावों से
 होता है । अतः अष्टविध भावों को प्रदर्शित करने के लिए
 सत्वरजसमोर्भोदैवासुरैरपेश यह शब्द प्रयोग किया गया है ।
 साख्यशास्त्रानुसार जीव इन भावों से अधिवासित
 होने के कारण बार बार जन्म लेता है, वेदान्तशास्त्रानुसार
 जीव प्राक्तन कर्मों (दैवसग) से अधिवासित होने के कारण
 बार बार जन्म लेता है । अर्थात् 'भाव' और 'कर्म' पर्याय
 वाची शब्द हैं । सुश्रुतसंहिता में सांख्य और वेदान्त दोनों
 का काफी परिचय मिलता है । इसलिए जीव के जन्ममहण
 के कारण बतलाने के लिए दोनों शास्त्रों के शब्द यहाँ
 (दैवसग और भाव) प्रयुक्त किये हैं, जैसे कि आजकल के
 अँग्रेजी लिखे पढ़े पण्डित व्याख्यान वा लेख में एक ही
 कल्पना को कल्पना ही प्रकृत करने के लिए देशी और अँग्रेजी शब्द
 प्रयोग में लाते हैं ।
 ब्रह्मणाचार्य भाव से 'मन' समझते हैं, और देवासुरादि
 भावों का संबंध चीथे अध्याय में सात्त्विक, राजस और
 तामस काय के जो प्रकार वर्णन किये हैं, उन्हीं के साथ
 करते हैं—मन त्रिविधः । देवासुरैरपेश भावैर्वायुना प्रेर्यमय
 भाव मत्स्य मन दत्यय । तेन देवादीनां सप्तानां सप्तमि सरिष्वे
 भावे, चण्डप्रादीनां षण्णां ऋग्भि राजसैर्भावे, पशूनादीनामपेश
 त्रिभिस्तामसैर्भावे । सत्त्वस्य च मन पर्यायस्य प्रेरयत्त दन्वान्दरे

मतिपावितम् । तदुक्त चरके—'अस्ति छन्दु सत्त्वमुपपादिय यस्मिन्
 रश्क शरीर्याभिसन्वजाति इति । इस तरह यदि भाव रं
 मन समझा जाय तो ये मन के भेद दैवसग याने पूर्वक
 के कारण ही होते हैं—मनसो मनस्त इति । पूज्यमन्ववधिं
 यादुस्मन, इह जन्मयपि तादृगेव मनो भवति । उक्त चाप्यत्र—
 'जन्म जन्म यदभ्यस्त दानमभ्ययन तप । तनैवाभ्यासयोगेन
 तदैवाभ्यस्तये पुन ॥ इति । अत्रापि च मनउत्पत्ती वमो मज्जानामिदि
 बोधय्म् । तेन कर्मवशादेव मनोभेो भवति ॥ (चक्रपाणिदत्त
 चरक, शारीर २।३६) । वायुना—मैथुन के समय हृप से
 उद्दीपित होकर जो वायु शुक्र को पेंचती है, उसी वायु से
 प्रेरित हुआ । गर्भाशयमनुप्रविशयवावतिष्ठे—गर्भाशयमनु
 प्रविश्य छोटितोरसो सक्षिपतेष्ववतिष्ठते । (प्रथम अध्याय
 का १३वाँ सूत्र देखो) । शुक्रशोणित संयोग गर्भाशय में
 जाने के पश्चात् उसमें जीव या आत्मा प्रवेश करने पर गर्भ
 उत्पन्न होता है यह गर्भोत्पत्ति की दार्शनिक कल्पना है और
 इसका उल्लेख पीछे तीसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है ।
 अर्ब प्रश्न यह है कि जीव गर्भाशय में ही शुक्रशोणित के
 साथ क्यों मिलता है, बाहर क्यों नहीं मिलता ? इस
 प्रश्न का दार्शनिक समाधान यह है कि जीव अपने पूर्वकर्मों
 के अनुसार सुख दुःख भोगने के लिए शुक्रशोणित संयोग
 में अर्थात्पत्ति होता (प्रथम अध्याय सूत्र १७ देखो) है ।
 यह सुख दुःख भोगने का कार्य शुक्रशोणित संयोग वर
 कर 'शरीर' (१ वाँ अध्याय सूत्र २ देखो) बनने पर ही हो
 सकता है । गर्भाशय को छोड़ कर अन्य स्थान में रहे हुए
 शुक्रशोणित संयोग को परिवर्धित होकर शरीर बनने का
 अवसर ही नहीं (पिछले सूत्र के वक्तव्य में और्ध्व
 चीजकोपस्थ और नलिकागत गर्भधारणा देखो) मिल
 सकता । इस लिए उन स्थानों में रहे हुए शुक्रशोणित
 संसर्ग में जीव का प्रवेश व्यर्थ होता है और गर्भाशय
 में पहुँचे हुए शुक्रशोणित संसर्ग को यथाकाल बढ़ने के
 लिए अवसर मिलने के कारण जीव का प्रवेश सफल होता है
 इस लिए जीव गर्भाशय में ही उसमें प्रवेश किया करता है ।
 जीव जिसके जरिये गर्भाशय में प्रवेश करता है—यहाँ
 गर्भोत्पत्ति के लिए आत्मा की आवश्यकता होती है तथा
 केवल आत्मा स्वयं शुद्ध बुद्ध निष्क्रिय, ज्ञानी होने व
 कारण उसको जन्म लेने की कोई जरूरत नहीं होती ।
 जब वह वासनाभिहित हो जाता है, तब जन्ममरण के
 चेर में पड़ता है । यह आत्मा बुद्धि, अहंकार, मग दश
 इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र इन सबों के साथ समन करता
 है—भगोर्भ्रयेत्सोरत्तमध्वमरूपेत्तन्मा कदाचन विद्युक्त्वम् । न वसता
 देव मनोभ्रमिण्यां न चाप्यहृद्भारविकारोपे ॥ (चरक) । इस
 समूह को 'लिङ्गशरीर' 'अतिवाहिक शरीर' या सचेत में
 'जीव' कहते हैं । शुक्रशोणित के संयोग में मिलने वाली
 यही तीसरी चीज है, जिसके सिवाय गर्भ नहीं उत्पन्न होता—
 यद्यपि शुक्ररजसो कारणे तथापि यदेवातिवाहिक वृत्तमभूत् रूप
 शरीर प्राप्नुयत्, तेन ते शरीर जनयत्, नान्यथा । यत् शुक्र
 शोणितमातिवाहिकशरीरनिरेष्य गर्भ जनयेत्, दण्डप्रत्यक्षि
 जीवाधिष्ठाने जनयेत्, न तु जनयति, तस्मान्मा मस्यपुत्रसम्भूयते
 कीमृपासुशुक्रशोणितयुक्तप्रसंजमेति । (चक्रपाणिदत्त) । यह

जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए गर्भाशय में प्रवेश करते समय इसका दर्शन नहीं होता—तेजो यथाकारश्मीनां स्फटिकेन तिरस्कन्तम् । नेत्रेण दृश्यते गच्छत्सत्त्वे गर्भाशयं तथा ॥ (अष्टांग-हृदय) । परन्तु दिव्यदृष्टि से इसका भी दर्शन हो सकता है—कर्मात्मकत्वात् तत्र तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् । (चरक) । यह जीव शुक्र के समान हर्षोदीरित वायु से प्रेरित होता है। इसी जीव से भौतिकदृष्ट्या भी अपत्य उत्पन्न होता है। इसी लिए 'आत्मा पुत्रः', 'आत्मजः', 'श्रद्धा-दत्तात् संभवसि हृदयादभिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदां शतम् ॥' इत्यादि वाक्प्रचार प्रचलित हैं। इससे यह अनुमान कर सकते हैं कि जीव पुरुष के वीर्य में ही अधिष्ठित होकर उसी के साथ गर्भाशय में प्रवेश करता है। चरकसंहिता में पुरुष के वीर्य का वर्णन भी इसी प्रकार मिलता है—नया सह तथाभूतया यदा पुमानन्यापन्नवीजो मिश्रीभावं गच्छति, तदा तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽद्वादद्वाद्वत्तु संभवति । स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभित्पत्स्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यान्वेनाभिसंसर्गमेति । (शारीर ४) । यहाँ 'अधिष्ठितश्च' से 'जीवाधिष्ठितश्च' समझना चाहिए । योगवासिष्ठ (३।५५) में जीव रेत में अधिष्ठित होकर एक देह से दूसरे देह में प्रवेश करता है, यह स्पष्ट लिखा है—नस्मिन् देहे शरीरभूते वाते चानिलतां गते । चेतनं वासनायुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठति । 'जीव' इत्युच्यते तस्य नामाण्योर्वासनावतः । इतोऽयमहमादिष्टः स्वर्गफलभोजने । गच्छान्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥ तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् । रेतसामधि-तिष्ठन्ति गर्भजातिक्रमोचिते ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि जीव शुक्र में उपस्थित रहता है, शुक्र के साथ पुरुष के शरीर से वायु द्वारा बाहर आता है और शुक्र के साथ गर्भाशय में भी प्रवेश करता है ।

जीव क्या है ?—वेदान्तशास्त्रानुसार जीव की कल्पना बहुत उच्च प्रकार की है, परन्तु इतनी उच्च कल्पना का यहाँ विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैद्यकशास्त्र में जीव से कोई सिद्ध अर्थ निकलता है या नहीं, जो ग्रहण करने पर जीव के अधिकांश कार्यों को भली भाँति प्रदर्शित कर सके, इसी दृष्टि से इसका उत्तर देने का यहाँ प्रयत्न किया गया है और इसी दृष्टि से इस अर्थ की ओर देखना चाहिए । जीव अतिसूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्म-चक्षु से अदृश्य परन्तु दिव्यचक्षु से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला, वीर्य के साथ वायु से बाहर आने वाला, वीर्य में जिसके होने से गर्भ होता है, न होने से गर्भ नहीं होता ऐसा पदार्थ है, संक्षेप में यह वीर्य का बीज है । योगवासिष्ठ (३।५५) में जीव को मनुष्य का बीज कहा है—संयुक्त-रणस्त्वेवं बीजनां याल्यसौ (जीवः) नरे । तद्वीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि ॥ आशापाशशतवद्धा वासनाभावधारिणः ।

वायात्कामुपायान्ति वृत्ताद् वृत्तमिवाण्डजाः ॥ इससे यह स्पष्ट है कि वैद्यकशास्त्र में शुक्रगत गर्भोत्पादक बीज को 'जीव' कह सकते हैं। अब आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार शुक्रगत गर्भोत्पादक अंग को [स्पर्मटोझुआ (Spermatozoa) कहते हैं। इसी का निर्देश शुक्राणु करके पीछे किया गया है। यह शुक्राणु जीव के समान अतिसूक्ष्म, अणु-

स्वरूप, चर्मचक्षु से अदृश्य परन्तु दिव्यचक्षु (सूक्ष्मदर्शक यन्त्र Microscope) से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला, वीर्य के साथ वायु से बाहर आने वाला, जिसकी उपस्थिति पर शुक्र की गर्भोत्पादक शक्ति होती है, जिसकी अनुपस्थिति पर वीर्य की गर्भोत्पादक शक्ति जाती रहती है, ऐसा पदार्थ है। विशेष विवरण के लिए प्रथम खण्ड में ८६ पृष्ठ देखो। इस तरह दोनों में पूर्ण अभेद होता है। अब जीव के वासना, संस्कार, गुणदोष इत्यादि आनुपञ्जिक धर्मों का विचार करना है। ये धर्म जीव के साथ रहते हैं और जिस देह में जीव अवस्थान करता है, उस देह में प्रकट होते हैं। पूर्वजन्म, पुनर्जन्म इनकी सिद्धि इन धर्मों के ऊपर ही की जाती है। अब शुक्राणुओं का इस दृष्टि से विचार किया जाय तो यह सिद्ध हुआ है कि उसकी न्यष्टि में कुछ पित्र्यसूत्र (Chromosome) होते हैं, जो कुलज शारीरिक और मानसिक गुणदोषों को अपने साथ ले जाते हैं, याने ये कुलजप्रवृत्ति (Heredity) के वाहक होते हैं। इस कुलज-प्रवृत्ति का विवरण पूर्वजन्म के संस्कार अर्थात् जीव के आनुपञ्जिक धर्मों पर ही किया जाता है—

The self seeking for rebirth obtains embodiment in the frame offering the necessary conditions. The physical body derived from the parents according to the laws of heredity is appropriated by the conscious self. Sir Radhakrishnan 'Idealistic View of Life.' We appear in the world not as clear slates for the writing of environment and circumstance, but as slates already inscribed. For example, we inherit talents. "An eye for beauty, a taste for music, which are not common qualities of the species but individual variations. We can not believe that the rise of the self with a definite nature is simply fortuitous" Therefore, we must presuppose a past for the self, in which the individual inheritance which it brings with it into the world has been built up. Radhakrishnan's arguments for rebirth summed up by Joad in counter attack from the East.

अर्थात् मनुष्य की बुद्धि, वासना, मन, स्वास्थ्य, रोग इत्यादि शारीरिक और मानसिक विकार जो प्राचीन कल्पना के अनुसार जीव के आनुपञ्जिक धर्मों पर निर्भर होते हैं आधुनिक कल्पना के अनुसार शुक्राणु गत पित्र्यसूत्रों पर निर्भर होते हैं। इसलिए वैद्यकशास्त्र में जीव के लिए आर्तव-सयोगी शुक्राणु समझने से प्रायः सभी व्यावहारिक बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसके साथ साथ यह भेद भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन कल्पना के अनुसार जीव का संसरण केवल पुरुष के द्वारा होता है, परन्तु आधुनिक कल्पना के अनुसार पुरुष के समान स्त्री में भी बीज (Ova) होता है और उस बीज में भी माता के संस्कारवह पित्र्यसूत्र होते हैं, और किसी व्यक्ति में जो पूर्व संस्कार दिखाई देते हैं, वे माता पिता के संयुक्त संस्कार से बनते हैं ।

तत्र शुक्रयादुल्यात् पुमान्, अर्थात् यथादुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयानिपुंसकामिति ॥ ५ ॥

(गर्भ में लिङ्गभेद के कारण—) शुक्रांतव के संयोग में (तत्र) शुक्रयादुल्य से उरुय, भातववादुल्य से स्त्री और दोनों की समता से नपुंसक पैदा होता है ॥ ६ ॥

वक्ष्य— इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि शुक्र और आतव के संयोग के समय में शुक्र और आतव की स्थिति के अनुसार गर्भ का लिङ्ग निश्चित होता है। चरक में भी लिखा है—एवमनिर्वर्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुषत्वे हेतु पूर्वशुक्र । यथा हि दीपमनुपनात् स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते त्रीदिवीं त्रीदिव्ययो वा यत्नर तथा त्रीपुरुषगवपि यथोक्त हेतुविभागमनुविधीयते । पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी स्त्रीपुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही मत है—

The theory, which is supported by an enormous amount of evidence, postulates that sex is definitely determined at fertilization. *Halliburton's Physiology* The sex of the future embryo is determined at the time of fertilization *Manual of Embryology* by Frazer

अब प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है ? तीसरे सूत्र के वक्ष्य में यह बताया गया है कि शुक्राणु और स्त्रीबीज में पित्र्यसूत्रों की संख्या ४८ होती है और पक्ष होते समय विभजन के कारण इनकी संख्या आधी २४ हो जाती है। अधिक अन्येषण से यह सिद्ध हुआ है कि इनमें कुछ लिङ्गसूत्र (Sex chromosomes) होते हैं। स्त्रीबीज में इनकी संख्या सम या व्यवहार के लिए दो समस्त सकते हैं, जिससे विभजन के द्वारा पक्ष हुए प्रत्येक स्त्रीबीज में स्त्रीत्व वाहक सूत्र (X chromosome) आ जाता है। शुक्राणु में पुंस्त्वजनक Y सूत्र एक होता है, जिसका विभाग विभजन के समय नहीं होता। परिणाम यह होता है कि विभजन के पक्ष हुए शुक्राणुओं में आधे शुक्राणु पुंस्त्वजनक सूत्रयुक्त होते हैं और आधे पुंस्त्वविरहित होते हैं। व्यवहार के लिए यों कह सकते हैं कि धीरे धीरे आधे शुक्राणु प्रभविष्णु (Dominant) होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर उत्पन्न होने वाले गर्भ में पुंस्त्व पैदा कर सकते हैं, और आधे निर्वल होते हैं जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर होने वाले गर्भ में पुंस्त्व पैदा नहीं कर सकते, अर्थात् स्त्रीबीज चलवात् होकर गर्भ स्त्री होता है। कुछ वैज्ञानिक शुक्राणुओं में पित्र्यसूत्रों की संख्या ४४ मानते हैं जिससे विभजन के द्वारा पक्ष होकर जब ये धीरे धीरे आते हैं, तब आधे २४ सूत्र युक्त और आधे २३ सूत्रयुक्त होते हैं। २३ सूत्रयुक्त शुक्राणु निर्वल होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर अपना पुंस्त्व प्रकट नहीं कर सकते। २४ सूत्रयुक्त शुक्राणु सबल होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर अपना पुंस्त्व प्रकट कर सकते हैं। इस उत्पत्ति के अनुसार गर्भ में स्त्रीत्व या पुंस्त्व उत्पन्न होना शुक्राणु के प्रकार के ऊपर निर्भर होता है। अब योनि में प्युत शुक्र में दोनों प्रकार के शुक्राणु समसंख्या में होते हैं और सभी स्त्रीबीज के साथ मिलने के लिए भीतर की ओर दौड़ते हैं। इस पुंस्त्व में किस प्रकार का शुक्राणु सब से पहले भीतर घुसकर स्त्रीबीज के

साथ संयुक्त होगा, यह एक देवयोग (Chance) है। इस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं चल सकता। इसलिये साङ्गधर में लिखा है—अभिपुत्रे रजस व-या, पुत्र शुक्राधिकं भवेत् । नपुंसम समावेन, यथेच्छा पारमेस्वरी ॥ अ पर पारमेस्वरी इच्छा, अष्टस्य बलवत्त्वात् अमानरम् । (गृहार्थ-दीपिका) । पाश्चात्य शास्त्र भी स्त्रीपुरुष की उत्पत्ति में देवयोग ही प्रथम मानते हैं—

Sex is inherited The germcells transmit sex according to the mendelian laws. (But) it is a matter of chance which sex is favoured by Nature. *Aiddle of Sex*

इस सूत्र में पुत्र या कन्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो उत्पत्ति वर्णन की है, वह सर्वमान्य है—रक्तं कन्या सधियेन, पुत्रं शुक्रेण (अधिकतः) । (चरक) । पितृ रेणोऽतिरेकात् पुत्रो, मातृ रेणोऽतिरेकात् स्त्री, उभयोर्वैजुल्यत्वात् नपुंसको भवति । (गर्भोपनिषद्) पुमान्पुंसोऽधिके शुके स्त्री भवत्यधिके त्रिया । समेषुमान्पुंसियौ वा स्त्रीगोऽप्ये च विपर्वेत् । (मनुस्मृति) । वार्त्तां च वारणाजुविधापितृसात्सभागान् प्रतिपद्यते । तत एव च शुक्रस्य बाहुल्यात् पुमानानवस्य बाहुल्यात् स्त्री तयो साम्येन नपुंसकम् । (अष्टांगसम्प्रद) । गर्भे हि वारणस्य स्वरूपमनु गच्छति, तथा च तिलेभ्यस्तिथ्या एव नप-त्वेन माया । अत एव च वारणाजुविधापितृशब्दे पुंसास्यस्य शुक्रस्य बाहुल्यात् पुमान् जल्पते । (इन्द्रु) । वाग्भट और इन्द्रु क कथन का यह स्पष्ट अर्थ है कि शुक्र में पुंस्कारक और आतव में स्त्रीकारक शक्ति होती है और यह कथन आधुनिक वैज्ञानिकों के लिङ्गसूत्रों Y Chromosome or X chromosome के साथ के साथ मिलता है ।

शुक्राहुल्य—बाहुल्य के कई अर्थ हो सकते हैं । (१) राशि की अधिकता—मनु, शुक्राहुल्यात् पुमान्, इति वसमाहुत्मा यत्र आतवस्यैव बाहुल्यमुक्तम्, 'आतव' चतुरंजलिपत्रात्, शुक्रं तु प्रसूतिमात्रम्—इति, नैव, यावत् आतवस्यैव गर्भात्त्वावस्थित मलरहितं गर्भजननं तावदेवाग्रहम्, शब्दा स्वमानापेक्षया शुक्रोऽपिनीयोर्गोऽहुल्यमलस्य आधिपत्यम् । (इच्छण) । (२) कार्यकर शक्ति की अधिकता—कार्यकर शक्ति से यहाँ शुक्र या आतव की गर्भ जनक शक्ति अभिप्रेत नहीं है, पुंस्त्व या स्त्रीत्वकारक शक्ति अभिप्रेत है क्योंकि गर्भधारणा होने के पश्चात् का यह प्रश्न है—अन्ये (वाच्यार्थे) एव भवन्ति शुक्रतैवोन्मूलनाधि-समस्त नीत्येव भवति । (इच्छण) । शुक्रस्य बाहुल्याद्दुःखोत्पत्तिर्भवत्यत्वाच्च । पुरतो हि बलवदस्य कोर्योऽभिपुत्र्य पुत्रमस्य वारणां याति । (कार्यवत्) । इसी तरह अल्पता से शक्ति की अल्पता, (अल्पकर शक्ति की अल्पता या अभाव इन्का बोध होता है—नवाधिपत्य कारणस्याऽभावात् । (अव्यवत्) । इनमें से राशि की अधिकता की अप्रयोजकता स्वयं इच्छण की भी मात्स्य हुई है और गर्भजनन तथा स्त्रीपुरुष भेदजनन की दृष्टि से भी राशि का कुछ भी महत्व नहीं है। इसलिए बाहुल्य से शुक्रबीज की पुंस्त्वकारक शक्ति की अधिकता समझनी चाहिए और अल्पता से पुंस्त्वकारक शक्ति की अल्पता या अभाव समझना चाहिए इस अर्थ के अनुसार आधुनिक उत्पत्ति का विचार करने पर दोनों के साथ में मेल हो जाता है। अब शुक्राणु पुंस्त्व (वायु क्रोमोसोम) युक्त होता है

गने शुक्रायाहुल्य होता है, तब पुत्र पैदा होता है । जब शुक्राणु उससे विरहित होता है याने शुक्राल्पता और पर्याय से आर्तवाधिक्य होता है, तब कन्या होती है ।

आर्तवाहुल्य—शुक्रायाहुल्य के समान इससे भी स्त्री-बीज की गर्भ में स्त्रीत्वजनक शक्ति समझनी चाहिए । यह आहुल्य शुक्राणु में पुंस्त्वजनक शक्ति के अभाव में हो सकता है, इस बात का उल्लेख ऊपर किया गया है । कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि स्त्रीबीजों में भी स्त्रीत्वजनक और पुंस्त्वजनक दो प्रकार के बीज स्वभाव से ही हुआ करते हैं । यदि स्त्रीत्वजनक (Female determinant) बीज से गर्भ पैदा हो तो कन्या पैदा होगी और यदि पुंस्त्वजनक (Male determinant) बीज से गर्भ पैदा होगा तो पुत्र होगा । मनुष्येतर प्राणियों के बीज की परीक्षा करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि दोनों प्रकार के बीजों के रासायनिक संगठन में फर्क होता है । मनुष्यों में इस प्रकार की परीक्षा असम्भव है, परन्तु उसके साथ साथ यह मालूम हुआ है कि दक्षिण बीजकोप से पैदा होने वाले बीज पुत्रजनक और वाम बीजकोप से पैदा होने वाले बीज कन्याजनक होते हैं, अर्थात् वामकोप के बीज प्रबल और दक्षिणकोप के बीज अल्पबल होते हैं । यदि दैवयोग से वामकोप के बीज से शुक्राणु का संयोग हुआ तो कन्या होगी । पुत्र और कन्या की उत्पत्ति की इस विचारसरणि को ओटोशोनर का मत (Otto Schöner's theory) कहते हैं । कन्या या पुत्र की उत्पत्ति के लिए निम्न प्रकार से इस मत का फायदा उठा सकते हैं । यदि स्त्री प्रसूत होकर पुत्र हुआ हो तो वह दक्षिण बीजकोप के बीज से हुआ है । प्रसूतकाल के पश्चात् जब फिर आर्तवदर्शन होगा, तब उस समय बीज वामकोप से निकलेगा । उसके बाद दक्षिण से, फिर वाम से । इस तरह स्त्रियों का बीज पर्याय से निकला करता है । इस नियम के अनुसार प्रसूति के समय से मासिक धर्म की तिथियाँ लिखकर रखने पर प्रत्येक मासिक धर्म का संबंध कन्या या पुत्र के साथ है, इसका निर्णय होता है और तदनुसार स्त्रीपुरुष समागम कर सकते हैं ।

इन मतों के अतिरिक्त और कई मत कन्या और पुत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन काल में प्रचलित थे और आधुनिक काल में भी वैज्ञानिकों में प्रचलित हैं । उनका संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

शरीरस्वास्थ्य और आहार—शुक्राधिक्य और आर्तवाल्पता इत्यादि से कुछ लोग शुक्राधार पुरुष और आर्तवाधार स्त्री इनकी पुष्टता और कृगता समझते थे, और पुत्रोत्पादन के लिए पुरुष को पौष्टिक आहार-विहार और स्त्री को लघु आहार-विहार दिया करते थे—स्त्रियाः शुक्रेऽधिके स्त्री स्यात् पुमान् पुंतेऽधिके भवेत् । तस्मान्छुक्रवृद्धयर्थं वृष्यं स्निग्धं च सेवयेत् ॥ वाजीकरण के सम्बन्ध में पुरुषों की अर्थात् पर्याय से शुक्र को पुष्ट करके पुत्रोत्पादन का भी हेतु था—वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान् । तदायत्तौ हि धर्माथौ प्रीतिश्च यश्च एव च । पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रयाः । (चरक) । वृष्यप्रयोगजनितः पुत्रो धर्मादीन् पित्रुः संपादयतीत्यर्थः । (चक्रपाणिदत्त) । ततः पुष्पदर्शने प्रथमदिवसात् मृष्टि ब्रह्मचारिणी श्रल्पं कर्शन्वर्षमश्नीयात् । (अष्टांगसंग्रह) ।

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मयां मूलं च वर्जयेत् । सुस्थ इन्द्री सञ्जुष्यं लक्षणं जनयेत् पुमान् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । इसकी टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—एवमुक्तेन प्रकारेण स्त्रियं गच्छन् क्षामां गच्छेत् । क्षामता च तस्मिन् काले रजस्वला-मतेनैव भवति । अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थ-मत्याऽस्निग्धभोजनादिना । (मिताश्रय) । पुत्रोत्पादन के लिए पुरुष का पौष्टिक आहार सहायता करता है या नहीं, इस विषय में पाश्चात्य वैज्ञानिक निश्चिति से नहीं कह सकते हैं परन्तु गर्भोत्पादन के समय स्त्री की क्षामता पुत्रोत्पत्ति में सहायता करती है, यह उनका भी मत है—

The measures which aim at altering the momentary condition are more important in practice. In this case it is thus a question of physical condition shortly before and during the sexual union which is to lead to the desired child. For this purpose, the woman who hopes to give birth to a son can have short measure in food. *Ideal Birth.*

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य तथा अपत्योत्पादन की इच्छा इत्यादि में यदि पुरुष स्त्री से प्रबल हो तो पुत्र होगा, यदि स्त्री प्रबल हो तो कन्या होगी—

The sex of the child is determined by the relative vigour of the parents. The father, from maturity, force of will, or superior strength of the procreative function may give the masculine development, or the mother, from similar causes; may give the feminine. *Esoteric Anthropology by Dr. Nicholas.*

पुरुष का ब्रह्मचर्य—पुत्रोत्पत्ति के लिए जो समागम होता है, उसमें पुरुष को ब्रह्मचर्य पालन का उपदेश होता है—मासं ब्रह्मचारी (पीछे दूसरे अध्याय का २२वां सूत्र देखो) । इस ब्रह्मचर्य से अपत्य पुमान् और उत्तम गुणान्वित होता है, इस बात का समर्थन आधुनिक वैज्ञानिक भी करते हैं—

Various considerations make the demand for a certain abstinence before copulation seem well founded. This may be traced not only to the improvement of the ova and spermatozoa but also to the increase in the sexual power of attraction. Thus if the man has been continent during menstruation, or best of all, for a few days longer, and then after very strong sexual exigence undertakes copulation with the desire for a boy, then the probability is certainly greater...for achieving the birth of a boy. *Ideal Birth.*

समागम का काल—आयुर्वेद और धर्मशास्त्र में आर्तवस्राव बंद होने के बाद आठ से बारह दिन गर्भधारणा के लिए योग्य बतलाये गये हैं । उनमें से तम दिन पुत्र के लिए और विषम दिन कन्या के लिए (द्वितीय अध्याय का २२वां सूत्र देखो) योग्य माने गये हैं (आगे १२वां श्लोक देखो) । सीमेक

(Siegel) नामक शास्त्रज्ञ ने अपने अनुभव पर यह नियम बनाया है कि पहले नौ दिन से समागम करने पर गर्भधारणा हो जाय तो पुत्र होते हैं; दस से चौदह दिन में गर्भधारणा होने पर पुत्र और कन्या सम संख्या में होते हैं, उसके बाद तेईसवें दिन तक कन्याएँ होती हैं, और अन्तिम दिनों में गर्भधारणा नहीं होती या होने पर पुत्र होता है। यह नियम निरपवाद नहीं है, परन्तु इससे यह जरूर मान्य होता है कि प्रारम्भिक दस बारह दिनों में पुत्र होने की सम्भावना बहुत अधिक होती है। यहाँ सम और विषम रात्रि का जो नियम दिया है, उस पर ज्यादा जोर देने की जरूरत नहीं क्योंकि यदि मल्लचर्च, खाद्य पेयादि बातों पर पुनोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान दिया जाय तो विषम दिनों में पुत्र उत्पन्न हो सकता है। 'पुत्रान् पुंसोऽधिके शुक्र' इस श्लोक की मनुस्मृति की टीका में कुबज्जकमह लिखते हैं—पुत्रो बीजेऽधिकेऽपुत्रमास्वपि पुत्रो जायते। श्रीबीजोऽधिके शुक्रमास्वपि दुदितैव। अथो वृथाधारानि निन बीजाधिक्यं भार्यायाश्चारलापनादिना बीजाल्पत्वमवगम्यायुग्मा स्वपि पुत्रार्थिना, ग त्वमिति वक्षितम् ॥ अथ समागमकाल का और कन्या-पुत्र की उत्पत्ति का क्या संबंध है? यद्यपि इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देना कठिन है तथापि स्त्रीबीज की पक्कापक्वता के साथ उसका संबंध माना जाता है। स्त्रीबीज आतंवरुद्धन के बाद बारहवें दिन पक्क होकर कोष के बाहर आता है। परन्तु मैथुन के कारण वह इस काल के पहिले ही बाहर आ जाता है, इस बात का उल्लेख पीछे 'विसर्पति आठव नार्थास्तथा पुसा समागमे (अध्याय २ श्लोक ३८) इस श्लोक के तथा इस अध्याय के तीसरे सूत्र के वक्ष्य में किया गया है। जो उचित काल के पूर्व मैथुन के कारण बाहर आता है, वह अपक्व (Premature) होता है याने बल में अल्प होता है, जिससे उससे होने वाला गर्भ ही बनता है। जब योग्य काल में बाहर आये हुए याने परिपक्व बीज से गर्भ बनता है, तब बलाधिक्य के कारण कन्या होती है। जब महीने के आखिर के दिनों में समागम होता है तब बीज अतिपक्व (Over mature) याने दुर्बल होने के कारण पुत्र होता है या बीज नष्ट होने के कारण गर्भधारणा नहीं होती। अरुणदत्त अथ एव च शुक्रस्य बाहुल्याज्जायते पुमान् (शारीर १५) इस श्लोक की टीका में पुत्र और कन्या की उत्पत्ति के संबंध में निम्न श्लोक देते हैं—एवादिना दूकम्—स्त्रीपुत्रयो दुसवोगे यथादौ विद्वेदपुमान्। शुक्रं तत पुमान् बीरो षड्ते वलवान् इव ॥ अथ वेदनिना पूव विद्वेदकस्यपुमान् ॥ ततो रूपानिवा न वा जायते इवसदृश ॥ इस श्लोक का अर्थ यदि स्त्रीलोक के मतानुसार निम्न प्रकार से किया जाय तो पुत्र और कन्या की उत्पत्ति की उत्पत्ति ठीक समझने में आती है और जिस तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए यह श्लोक दिया गया है, उस तत्त्व का समर्थन होता है। यथा—स्त्री पुरुष के समागम के समय यदि पुरुष का शुक्र प्रथम उत्सर्गित हो और समागम की उपेक्षा से पश्चात् स्त्री का बीज उत्सर्गित हो तो वह बीज अर्धपक्व अतएव अल्पबल होने के कारण पुत्र उत्पन्न होता है। यदि समागम के समय स्त्रीबीज पहिले उत्सर्गित हुआ हो और पश्चात् शुक्र उत्सर्गित

हो तो बीज परिपक्व अतएव प्रबल होने के कारण कन्या उत्पन्न होती है। यदि इस प्रकार से अर्थ न किया जाय तो इस श्लोक का कुछ भी अर्थ नहीं निकलता।

कन्य मार्ग—पहिले यह बताया जा चुका है कि शुक्र में सवल और निर्बल दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं। सवल से पुत्र और निर्बल से कन्या उत्पन्न होती है। ये यदि एक दूसरे से प्र्यक किये जायें तो इन्होंने के अनुसार पुत्र या कन्या उत्पन्न करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यह प्र्यक् करने का काम बहुत कठिन है तथापि शास्त्रज्ञों की यह राय है कि पुत्रवकारक शुक्राणु दूसरे प्रकार के शुक्राणुओं से अधिक चपल, सवल और कठिनाईपूर्ण के साथ सरलता से मुकाबला करने वाले होते हैं। इसलिए भीतर पहुँचने के रास्ते में कठिनाईपूर्ण होने पर भी यदि गर्भ धारणा हो जाय तो अधिकतर पुत्र उत्पन्न होता है। किराँ में प्रथम चार पुत्र अधिक होते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि उनका अपत्यमार्ग संकट और अशुभ होने के कारण अधिकतर पुत्रस्वजनक शुक्राणु भीतर पहुँच सकते हैं। शुक्रोत्सर्ग गर्भाशयद्वार के पास करने की अपेक्षा योनिद्वार के पास करने से शुक्राणुओं को अधिक लम्बा मार्ग तय करना पड़ता है, जिससे अधिक पुत्र उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। अपत्यमार्ग की चारीयप्रतिक्रिया भी उनके मार्ग में अड़बट उत्पन्न करती है। मनुस्मृति के प्रारम्भिक दिनों में अधिक पुत्र उत्पन्न होने के कारण हैं, उनमें उस समय अपत्यमार्ग की चारीय प्रतिक्रिया एक कारण माना जाता है। यदि अपत्यमार्ग की चारीय प्रतिक्रिया न हो तो मैथुन के समय शिरनाम पर जरा सा चारामुद्गच्छारीय (सोदा वायकाबॉनेट) घुसक देने से काम हो जाता है।

उपशुक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद ने शुक्राणुद्वयार्थ पुमान्, आर्तवबाहुल्यार्थ स्त्री यह पुत्र-कन्या की उत्पत्ति के संबंध में जो बाहुल्य का नियम बताया है, वह विचकल ठीक है और इसी की आधुनिक परिभाषा में प्रमुख का नियम (Law of dominance) कहते हैं और इसी के आधार पर गर्भ में लिङ्गनिर्णय होता है—

That sex is inherited pursuant to the law of dominance and in accordance with the mendellans rules *Riddle of Sex*

यह प्राक्वय कसे होता है तथा कैसे किया जा सकता है, इस विषय का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण किसी गणिनी स्त्री में पुत्र या कन्या होगी इसका उत्तर नहीं दे सकते, न किसी पुत्रार्थी स्त्री को निश्चित भाग बता सकते हैं। वैज्ञानिक केवल पिछले अनुभव और हिसाब किताब के आधार पर समाप्त्यता सूचित कर सकते हैं—

While we know something about the mechanism of heredity, we know little indeed of the forces controlling it, so as to be able to make its statutory laws apply in each individual case. What we can do is to consult statistics and find averages *Riddle of Sex*.

दैनिक उपाय—पुत्र या कन्या की उत्पत्ति में मानवी उपायों

की इतनी संदिग्धता होने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से पुत्रीयविधि (द्वितीय अध्याय के २८वें श्लोक का वक्तव्य देखो), समागम के समय शुभ नक्षत्रों की उपस्थिति 'महा वृद्धस्पति-त्रिंशुः सोमः सर्वस्तथाऽभिनी । भगोऽथ मित्रावरुणी वीरं दधतु मे सुवमा' इत्यादि मन्त्रों का पठन आदि अनेक वैवी उपाय प्रयुक्त होते थे। इन उपायों की सहेतुकता विज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए विज्ञानवादी तथा नास्तिक इन कर्मों पर विश्वास नहीं करते हैं। विश्वास या भ्रमात्मक मन का एक बड़ा धर्म है, जिससे मनोबल बढ़ता है और संसार में जो चाहे वह चीज उससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है—ब्रह्मयोग्यं पुरुषो यो यच्छुद्धः स एव सः । (गीता)। जिनका इन उपायों पर विश्वास नहीं है, उनके लिए इनसे कुछ भी फायदा नहीं हो सकता परन्तु जिनका विश्वास है, उनके मन को इनसे शान्ति मिलती है और उस शान्ति का परिणाम इच्छितार्थ प्राप्त होने में होता है। इच्छित अपत्य प्राप्त करने के लिए जो वैवी उपाय प्रयुक्त होते हैं, उनके सम्बन्ध में 'वानदे वेवदे' जैसे सुप्रसिद्ध जर्मन शास्त्र के विचार बहुत ही ऊँचे उदार और विचारणीय हैं—

I do not presume to judge the numerous theories of this kind (Ancient incantation ceremonies and superstitious rites) in which, sometimes, under all kinds of mysterious overgrowths, there lies hidden a true observation of nature; and I leave to each individual the belief which gives him most satisfaction or makes him happy. Finally, there is much in the world which has an effect without exact science being able to compute it in figures or by mechanism. Besides, it can hardly be maintained that astrology, for example, stands on weaker foundations than the compensating tendency, etc. *Ideal Birth.*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पुत्र या कन्या प्राप्त करने के लिए कोई भी एक उपाय पर्याप्त नहीं है, अनेक उपायों का संयोग करना चाहिए, क्योंकि गर्भ का लिङ्गनिर्णय भी वास्तविक अनेक कारणों के सहयोग से होता है। इसलिए निम्न उपायों को अङ्गीकार करने से पुत्र उत्पन्न होने की सम्भाव्यता बढ़ती है—

जिस महीने में दक्षिण कोप से वीज का उत्सर्ग होगा, उस महीने का निर्णय करके उस महीने के ऋतुकाल के प्रारम्भिक नौ दिनों में समागम करो। समागम से पूर्व आठ दस रोज तक ब्रह्मचर्य धारण करो और स्त्री के लिए अल्पाहार रखो। समागम के पूर्व तथा समागम के समय पुत्र की इच्छा मन में धारण करो, तथा शुक्र का उत्सर्ग गर्भद्वार के पास न करके योनिद्वार के पास करो। यदि योनि में कुछ अम्लता हो तो मैथुन के समय शिरन पर जरा सा चारातु इयङ्गारीय (सोडावाइकार्ब) छिड़को। यह सब कुछ करने पर भी पुत्रोत्पत्ति का वादा नहीं किया जा सकता, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए।

पुंसवनविधि का औचित्य—शुक्र और आर्तव के बलाबल पर गर्भ के आधान के समय उसके लिङ्ग का भी आधान होता है, यह आयुर्वेद का मत आज के विज्ञान से भी सिद्ध हुआ है।

इसका उल्लेख इस वक्तव्य के प्रारम्भ में किया गया है। ऐसी अवस्था में जब कि गर्भ के लिङ्ग का निर्णय हुआ है, लिङ्गपरिवर्तन का प्रयत्न अस्वाभाविक, अयुक्तियुक्त अतएव निरर्थक मालूम पड़ता है। यह शक्य प्राचीन ऋषियों के सामने थी और उसका उत्तर भी आचार्यों ने ऐसा उत्तम दिया कि जो पुंसवनविधि का औचित्य सिद्ध करके हर एक काम के लिए भूत भविष्य वर्तमान काल में मार्गदर्शक हो जाता है—तत्र यदि प्राक्कृतेन कर्मणा स्त्रीगर्भः कर्तुमाक्षिस्तदा पुरुषप्रयत्ने सत्यपि पुंगर्भः कर्तुं न शक्यते। तस्मात्पुंसवनमनर्थकमेवेत्याशंवाह। (अरुणदत्त)। इस आशङ्का को सामने रखकर वाग्भटाचार्य उत्तर देते हैं—वली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्तते। (अष्टांगहृदय)। इसका अभिप्राय यह है कि यदि बलवान् प्रयत्न किया जाय तो देवदत्त लिङ्ग में भी परिवर्तन कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान का भी यही मत है—

We may not know exactly, what sex is; but we do know that it is mutable, with the possibility of one sex being changed into another sex. *Psychology of Sex.* In man and all classes of animals with separate sexes it is true that sex appears to be fixed.....Nevertheless.....there is the possibility of an artificial change of sex which can be effected even in individuals fairly far or already completely developed in the direction of one sex. *Ideal Birth.*

निम्न श्रेणी के प्राणियों में लिङ्गपरिवर्तन के प्रयोगों में आज भी सफलता मिल गई है, और मनुष्यों में यद्यपि आज पूरी सफलता नहीं मिली तथापि भविष्य में, जो बहुत दूर नहीं है, पूरी सफलता मिलने की आशा है। यह परिवर्तन कैसे हो सकता है, इसका विचार अब नपुंसक के विवरण में किया जायगा।

साम्यादुभयोरनपुंसकम्—नपुंसक के कई अर्थ होते हैं।

(१) पंढ—तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स ऽ भवत्यपुमान् पुमान् ॥ (चरक)। स पुमान् स्त्रीपु पुरुषव्यापारकरणासमर्थत्वात् अपुमान् भवति। (चक्रपाणिदत्त)। इसको इम्पोटेंट (Impotent) कहते हैं। नपुंसकता के जन्मोत्तर कारणों का विचार पीछे २ अध्याय के ४७वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। कभी कभी नपुंसकता घृणों का अभाव, घृणों की ठीक छुट्टि न होना या उदरगुहा में दोनों की स्थिति इत्यादि सहज कारणों से होती है। वातिकपंढ (Anorchism) इस प्रकार का विकार है—नाश्वन्निदोषाद् वृषयो तु यस्य नाशं गती वातिकपण्डकः सः । (चरक)। (२) स्त्रीव, हिजड़ा (Eunuch, castrate)—इनके घृण वचपन में निकाल दिये जाते हैं, जिससे इनका पुरुषत्व नष्ट होता है। कभी कभी यौवन प्राप्त होने के पूर्व घृण का अन्तःत्वाव नष्ट होता है, इससे नपुंसक राक्षस (Eunuchoid gigantism) उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकारों में पुरुषत्व की कमी होती है, परन्तु उसमें स्त्रीत्व का अंश नहीं होता है। (३) द्विलिङ्गी या स्त्रीपुंसलिङ्गी—जिसमें दोनों के लिङ्ग मिलते हैं, ऐसे व्यक्ति। कुछ टीकाकार नपुंसक से (नपुमान् न स्त्री) जिसमें के लिङ्ग नहीं मिलते, ऐसे व्यक्ति समझते हैं—

पशु तु शुभ्रतंत्रयो साम्यं तुल्यतर मरति एगान् एषी पुमान्
 आत्येऽपि तु द्विद्वयानिद्विज हीर पयो जायते। (अरण्यदत्त)।
 खीपुसल्लिगी खीपुसल्लिगीपाणनसिवाचसुपुपरिल्लिगीपुसु ।
 धानि तु खीपुसल्लिगीपाणनसिवाचसुपुपरिल्लिगीपुसु
 चार्य न समभवति। समानपाणानि लिङ्गाणि वृद्धेन शुभ्रेण
 रजेन वा जन्मनि, इह ममरतशुभ्रकारभेन मारत्य यतरद्विद्विजि
 गोपरत्पञ्जादित्रिवेपल्लिगीमवन्म। (चक्रपाणिदत्त)। परतु
 यह अर्थ टीक नहीं है क्योंकि 'कारणानुविधावित्कार' कार्याणां
 तत्त्वरूपना' इस श्याय से अथ शुक्र और आर्तव दोनों
 कारण मौजूद हैं, तब उनके लक्षण गर्भ में न मिलना
 असम्भव है। इसके विवाय जिसमें स्त्री-पुरुष के कुछ भी
 लक्षण न मिलें और आकृति मनुष्य की हो ऐसे व्यक्ति
 मिलते नहीं; जिसमें दोनों के स्वामिश्र लक्षण हों, ऐसा
 व्यक्ति कभी कभी मिल सकता है और उसकी
 स्वामिश्रलिङ्गी (Hermaphrodite) और उस स्थिति
 को स्वामिश्रलिंगावस्था (hermaphroditism) कहते हैं।
 नपुंसक से यहाँ स्वामिश्रलिङ्गी व्यक्ति अभिप्रेत है। जिस
 व्यक्ति में वृषण तथा बीजकोष और दोनों के बाह्यव्यंजन
 मिलते हैं, उसको यथार्थ (True) नपुंसक कहते हैं।
 आयुर्वेद के अनुसार शुक्रलिंगित के बल की टीक साम्या
 वस्था से एसी स्त्रीया प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। परंतु
 समाश्रयता (Probability) को दृष्टि से दोनों की टीक
 साम्यावस्था होना बहुत ही कठिन है। इसलिये यथार्थ
 नपुंसक उत्पन्न होना भी बहुत कठिन है। पाश्चात्य चिकित्सा
 का कथन है कि संसार के साहित्य में अब तक केवल बारह
 यथार्थ नपुंसकों का पता मिलता है—

In the worlds literature there are on record
 but twelve true hermaphrodites. *Medical
 Annual 1935* Upto 1914, only five cases of
 unmistakable hermaphroditism have been
 reported Since then a few more have been
 added Altogether, there are about twelve such
 cases on record *Riddle of Sex*

साम्यावस्था टीक न होने से एक लिंग की अचिन्ता
 और दूसरे लिंग की कुछ कमी हो ऐसे व्यक्ति देखने में
 अधिक मिलते हैं और इस प्रकार को अयथार्थ Pseudo,
 spurious) नपुंसक कहते हैं। लिङ्गाधिकता के अनुसार
 अयथार्थ नपुंसकता के दो भेद किये जाते हैं। (१) जिसमें
 वृषण होता है परंतु जिसके बाह्य अण्डणों में दोनों का
 मिश्रण होता है, उसे पुंस्त्रीलिङ्गी (Androgynoid)
 और उस अवस्था को पुंस्त्रीलिंगता (Androgyne) कहते
 हैं। चरक में ७५पुत्रिका वा एणपुत्रिका नामक एक सप्तम
 पुरुषव्यापत्ति वर्णन की है—यदा तस्य बीजे सौम्यागावयव
 पुरुषवराणां न शरीरबीजभागात्तानेकेदेश प्रवेशमापयते तदा
 पुंमयादिभूयिष्ठपुरुष एणपुत्रिक नाम जनयति ता पुंम
 व्यापदमाचक्षते। (शां० ४)। यह व्यापत्ति अन्तोगामी
 मालूम पड़ती है। (२) जिसमें बीजकोष होता है, जो
 सुश्रवणया स्त्री है परंतु जिसमें पुरुष के भी बाह्य अंगज
 मिलते हैं, उसे स्त्रीपुंसलिङ्गी (Gynandroid) और उस
 अवस्था को स्त्रीपुंसलिङ्गी (Gynandry) कहते हैं। चरक में

शान्ता या वार्ता नामक एक स्त्रीव्यापत्ति वर्णन की।
 यह इस प्रकार की मालूम पड़ती है—यदा तस्या ज्योति
 गर्भाशयबीजभागात्तानेकेदेश प्रवेशमापयते, तदा स्याद्वा
 भूयिष्ठामस्त्रिय वार्ता नाम जनयति, ता स्त्रीव्याप
 माचक्षते (शां० ४)। वार्ताव्यापत्तिनेयंवापेच्छदा पर मरति न
 म्भ्यादस्त्रियमिति मुच्यते। (चक्रपाणिदत्त)। इसका कारण
 यह है कि दोनों के शरीर में लिङ्गानुसार अल्लिगीक प्रती
 उपस्थित रहने से 'अन्तवेच्छदा पर मरति', परंतु बाह्यज
 नेन्द्रिय विकृत होने से व्यापत्तिसामर्थ्य नहीं होता। संक्षे
 में स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षण उपस्थित होने से जिसके
 न पुरुष न स्त्री (न पुमान् न स्त्री) कह सकते हैं, ऐसे
 व्यक्ति, यह नपुंसक का अर्थ है।

नपुंसक क्यों होता है?—इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व
 गर्भ की वृद्धि गर्भाशय में किस प्रकार से होती है, इस
 विषय का विचार आवश्यक है। शुक्र और पोषित का
 संयोग होने पर जो जीव उत्पन्न होता है, उसकी वृद्धि
 उसी लिंग से शुरू होती है, परन्तु छठे सप्ताह तक उत्पन्न
 न स्त्री के लक्षण मिलते हैं न पुरुष के, याने यह जीव
 पुरुषत्व विरहित (Neuter) होता है। इस अवस्था को
 अन्तवेच्छदावस्था कहते हैं, इसका उल्लेख पीछे दूसरे अध्याय
 के ३३वें श्लोक के बक्ष्य में किया गया है। इस अवस्था
 के पश्चात् जननेन्द्रिय के स्थान में दोनों के लिए साधारण
 (Wolfian body) नामक एक अंग उत्पन्न होता है।
 उसके साथ साथ या कुछ पीछे दोनों लिङ्गों की प्रथियां
 (स्त्रम रूप में वृषण और बीजकोष) भी उत्पन्न होती
 हैं। फिर धीरे धीरे शुक्र या आर्तव के प्रावह्य के अनुसार
 'भूयसाव्य हि जीयते' इस श्याय से एक प्रथि का नाम
 होकर दूसरी प्रथि जोर पकड़ती है और गर्भ स्त्री वा
 पुरुष होता है। संक्षेप में प्रथम उभयसाधारणावस्था और
 पश्चात् एकसाधारणावस्था होकर स्त्री या पुरुष उत्पन्न
 होता है। कुछ गर्भवैज्ञानिक उभयसाधारणावस्था साम्य
 नहीं करते हैं। उनका कथन है कि प्राग्भ से गर्भ में स्त्री
 या पुरुष के स्त्रम चिह्न उपस्थित रहते हैं—

It must be recognized that there is in this n
 idea of there being a 'neuter' or general phase
 in which the characters of men and women are
 grafted, nor is there any reason for looking at
 woman as a modified man, or vice versa. As
 far as cellular structure is concerned, the indi
 vidual must be formed in concept on either male
 or female *Manual of Embryology by Fraser*

एकसाधारणावस्था, याने स्त्रीत्व या पुरुषत्व, सर्वांक
 में अन्तःछावी प्रथियों के समूहविशेष से उत्पन्न होती है।
 वृषणाधिष्ठित अन्तःछावी प्रथिसमूह जिसमें काम करता है
 वह पुरुष, और बीजकोषाधिष्ठित अन्तःछावी प्रथिसमूह
 जिसमें काम करता है वह स्त्री होती है। अन्तःछावी
 प्रथियों में पूर्व विष्णुटी मुख्यतया तथा थायमस, थायराइड,
 अधिवृक्क इत्यादि कई प्रथियां का लिंगोत्पत्ति में विशेष संलग्न
 आता है। इसका उल्लेख द्वितीय अध्याय में ४७वें श्लोक के
 बक्ष्य में किया गया है। इन प्रथियों के अतिवाग, अयोग और

मिथ्यायोग से गर्भ में शारीरिक, मानसिक और लैङ्गिक वैपरीत्य आ जाता है। आहार, विहार, मानसिक स्थिति, जलवायु इत्यादि का भी परिणाम इन ग्रंथियों के ऊपर होता है। इस तरह प्रथम उभयसाधारणावस्था, बीच में उभयसाधारणलिङ्गग्रंथियुक्तावस्था और अन्त में अन्य अन्तःस्रावी ग्रंथियों की सहायता से एक प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथि की वृद्धि और अन्य प्रकार की लिङ्गग्रंथि का नाश इस क्रम से गर्भावस्था में पुरुष या स्त्री उत्पन्न होती है। यदि तीसरी अवस्था के प्रारम्भ से ही दोनों प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथियों का कार्य धरावर जारी रहे तो यथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है और यदि एक प्रकार की ग्रंथि का कुछ नाश होने के बाद दोनों का कार्य जारी रहे तो अयथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार का अस्वाभाविक क्रम क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर आज का विज्ञान नहीं दे सकता—

We are still in the dark concerning the inner mechanism of those malformations. We are at a loss to account for the underlying condition which is responsible for the sudden shift from a predestined direction into a series of developmental adventures. *Riddle of Sex.*

आयुर्वेद के अनुसार बीजों की समयलता, उपतप्तता और माता के आहार/विहार/दि के दोष इस अवस्था के कारण होते हैं—बीजारसमांशानुपतप्तबीजावलीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः । बीजारसमांशकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः ॥ (चरक, शा० २) । गर्भ में लिङ्गपरिवर्तन या मनचाहा लिङ्ग स्थापन कैसे हो सकता है?—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ में यद्यपि आधान के समय से शुक्र या आर्तव के प्रावलय के अनुसार पुरुष या स्त्री बनने की प्रवृत्ति होती है तथापि वह दुर्बल होती है; आगे जाकर उसकी पुष्टि पुरुषकर या स्त्रीकर ग्रंथियों द्वारा होकर गर्भ पुरुष या स्त्री बनता है। यदि माता-पिता पुत्र की इच्छा करें तो प्रारम्भ से ही गर्भ के ऊपर पुरुषकर ग्रंथियों द्वारा परिणाम करने से पुत्र उत्पन्न हो सकता है। यदि गर्भ स्त्री हो तो स्त्रीकर ग्रंथियों का नाश करने से और पुरुषकर ग्रंथियों का उपयोग करने से लिङ्गपरिवर्तन हो सकता है। यह कार्य माता के ऊपर आहार, विहार, विशिष्ट जलवायु, ओषधियाँ, ग्रंथियों के सत्व (Hormones) इत्यादि का उपयोग करके उसके शरीर के परिवर्तन (Metabolism) में घटावड़ी करने से होता है। पुत्र उत्पन्न करने के लिए माता को अमुक प्रकार का आहार-विहार, अमुक प्रकार की जलवायु (Climate), अमुक ओषधियाँ, अमुक ग्रंथियों के सत्व अमुक मात्रा में प्रदान करना इत्यादि का निश्चित सूत्र अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं और निम्न श्रेणी के प्राणियों में इन उपायों द्वारा सफलता मिल रही है। मनुष्यों के ऊपर मनमाने प्रयोग करने में कुछ जिम्मेदारी होने के कारण सावधानता से प्रयोग हो रहे हैं और भविष्य में उन प्रयोगों से निश्चित लाभ होने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

लिङ्गपरिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रों का यह कथन

है कि उभयसाधारण अवस्था (Bisexual Phase) के पश्चात् गर्भ में थोड़ी देर के लिए पुरुषावस्था प्राप्त होती है; जिसमें उसमें वृषणग्रंथि उत्पन्न होती है और यदि पुरुष ही उत्पन्न होने वाला हो तो यही अवस्था आगे बढ़कर जननेन्द्रिय के पिण्ड (Genital ridge) बढ़कर वहाँ शिरानादि वर्धित होते हैं; यदि स्त्री उत्पन्न होने वाली हो तो वृषण के स्थान में बीजकोप बनता है, और जननेन्द्रिय के पिण्ड शोषित होकर भग, योनि, गर्भाशयादि अंग वर्धित होते हैं। इसलिए लिङ्गपरिवर्तन स्त्री में ही हो सकता है, याने गर्भ को पुरुष बना सकते हैं—

Therefore, sex reversal can only occur in the female a deduction with which all experience concurs. *Medical Annual. Page 130, 1935.*

इसका अभिप्राय यह है कि लिङ्गपरिवर्तन के लिए केवल 'पुंसवनविधि' सम्भवनीय है।

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अष्टघात-चाऽप्यस्तोत्येके भाषन्ते ॥ ६ ॥

(ऋतुकाल की मर्यादा—) जिसमें आर्तवदर्शन होता है, ऐसा ऋतुकाल बारह दिन का होता है। कई (आचार्य) कहते हैं कि आर्तवस्राव न होने वाली भी (ऋतुमती) होती है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—ऋतु—ऋतुकाल, गर्भधारणा के लिए योग्य काल। गर्भधारणा स्त्री में बीजोत्सर्ग के ऊपर निर्भर होती है, आर्तवस्राव के ऊपर नहीं। ऋतुकाल में बीजकोप से पक्षबीज का उत्सर्ग होता है। इसलिए ऋतुकाल को बीजोत्सर्ग काल भी (Ovulation time) कहते हैं। आयुर्वेद में गर्भोत्पत्ति की तुलना अंकुरोत्पत्ति के साथ (दूसरा अध्याय श्लोक ३४ और उसका वक्तव्य देखो) की जाती है। अंकुरोत्पत्ति के लिए जैसे अनुकूल काल की आवश्यकता होती है, वैसे ही गर्भोत्पत्ति के लिए भी अनुकूल काल की आवश्यकता होती है; और जैसे वह काल ऋतु कहलाता है, वैसे गर्भोत्पत्ति का अनुकूल काल भी ऋतुकाल कहने का विवाज पड़ गया है—
आर्तवदर्शनं च शरदाऽतुसाधर्म्यादृशुब्दोच्यते । यथा ऋताबु-
स्तानि बीजानि प्ररोहन्ति, तथाऽऽर्तवदर्शनाख्येऽपि ऋतो शुक्ररूपं
बीजमुत्सृजति ऋतुसाधर्म्यम् ॥ (चक्रपाणिदत्त, शारीर ३) ।
ऋतुबीजकालमवेचेत शत्याहुर्महर्षयः ॥ (काश्यपसंहिता, जाति-
सूत्रीय शारीराध्याय) । दृष्टार्तवः—दृष्टमातवं यस्मिन् । जिसमें
आर्तवदर्शन हुआ है, ऐसा । अष्टघातवः—जिसमें मासिक
आर्तवस्राव नहीं हुआ है, ऐसी ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य
स्त्री । द्वादशरात्रम्—चारह दिन । अन्य दैहकग्रन्थों में
तथा स्मृतिग्रन्थों में ऋतुकाल की अवधि सोलह दिन की
वताई गई है—ऋतुकालं तु षोडशरात्रं यावत्, यदुक्तं हारीते—
'षोडश दिवसा ऋतुकालः' इति । (चक्रपाणिदत्त, शारीर २) ।
तदुक्तं हारीते—'षोडश दिवसान्यृतुकालः' इति । विदेहेऽप्युक्तम्—
'कीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि' इति । (मधुकोपव्याख्या, प्रवर
निदान) । आर्तवस्रावदिवसादृतुः षोडशरात्रयः । गर्भग्रहण-
योग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ (भावप्रकाश) । ऋतुः स्वाभा-
विकः कीर्णं रात्रयः षोडश स्मृताः । (मनुस्मृति, ३।४६) । षोडश-
तुर्निशाः कीणाम् । (याज्ञवल्क्यस्मृति १।०९) । ये षोडश
दिन आर्तवदर्शन-दिन से गिने जाते हैं—स च (ऋतुः) ।

धरा तु शुक्रार्दवयो साम्यं तुल्यत्वं भवति तदा न स्त्री पुमान्
 चायनेऽपि तु लिङ्गद्वयाभिहितं द्वौव पदो भावते । (अरण्यदत्त) ।
 स्त्रीपुंसलिङ्गौ स्त्रीपुंससाधारणानामिकाचक्षुरारिभिश्च युक्त ।
 धर्मिणो तु स्त्रीपुंसयोःसाधारणानुरस्यवजनसदनसमप्रचयीनि धानि
 धारय न समभवति । असाधारणानि लिङ्गानि बृहतेन शुक्रेण
 रज्जेन वा उन्मयि, इह समरसशुक्रारस्येन नास्त्वदतरद्विरिति
 नोपसध्वनादिविधेयलिङ्गमवन्म् । (चक्रपाणिदत्त) । परन्तु
 यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि 'वारणानुविधायित्वात् वार्धार्ण
 तत्स्वरूपता' इति न्याय से अथ शुक्र और आतव्य दोनों
 कारण मौजूद हैं, तब उनके लक्षण गर्भ में न मिलना
 असमभव है । इसके सिवाय जिसमें स्त्री-पुरुष के कुछ भी
 लक्षण न मिलें और आकृति मनुष्य की हो ऐसे व्यक्ति
 मिलते नहीं । जिसमें दोनों के ध्यामिष लक्षण हों, ऐसा
 व्यक्ति कभी कभी मिल सकता है और उसको
 ध्यामिषलिङ्गी (Hermaphrodite) और उस स्थिति
 को ध्यामिषलिङ्गावस्था (hermaphroditism) कहते हैं ।
 नपुंसक से यहाँ ध्यामिषलिङ्गी व्यक्ति अभिप्रेत है । जिस
 व्यक्ति में वृषण तथा बीजकोष और दोनों के बाह्यव्यंजन
 मिलते हैं, उसको यथार्थ (True) नपुंसक कहते हैं ।
 आयुर्वेद के अनुसार शुक्रशोणित के बल की ठीक साम्या
 वस्था से पत्नी तृतीया प्रकृति उत्पन्न हो सकती है । परंतु
 समाश्रयता (Probability) की दृष्टि से दोनों की ठीक
 साम्यावस्था होना बहुत ही कठिन है । इसलिए यथार्थ
 नपुंसक उत्पन्न होना भी बहुत कठिन है । पाश्चात्य डाक्टरों
 का कथन है कि संसार के साहित्य में अब तक केवल बारह
 यथार्थ नपुंसकों का पता मिलता है—

In the world's literature there are on record
 but twelve true hermaphrodites. *Medical
 Annual 1935* Upto 1914, only five cases of
 unmistakable hermaphroditism have been
 reported. Since then a few more have been
 added. Altogether, there are about twelve such
 cases on record. *Riddle of Sex*

साम्यावस्था ठीक न होने से एक लिङ्ग की अधिकता
 और दूसरे लिङ्ग की कुछ कमी हो ऐसे व्यक्ति देखने में
 अधिक मिलते हैं और इस प्रकार को अयथार्थ Pseudo,
 spurious) नपुंसक कहते हैं । लिङ्गाधिकता के अनुसार
 अयथार्थ नपुंसकता के दो भेद किये जाते हैं । (१) जिसमें
 वृषण होता है परन्तु जिसके बाह्य व्यंजनों में दोनों का
 मिश्रण होता है, उसे पृष्ठीलिङ्गी (Androgynoid)
 और उस अवस्था को पृष्ठीलिङ्गता (Androgyny) कहते
 हैं । चरक में नृपयुत्रिका या वृणपुत्रिका नामक एक सहज
 पुरुषव्यापत्ति वर्णन की है—यदा तस्या नीचे बीजभागावयव
 पुरुषकरणात् च यौनबीजभागात्तद्वेद प्रदोषभापयते तदा
 पुरुषाकृतिभूयिष्ठपुरुष एतदुत्रिक नाम जनयति, वा पुरुष
 व्यापन्नाचयते ॥ (शा० ४) । यह व्यापत्ति अन्धोगानी
 मादम पदनी है । (२) जिसमें बीजकोष होता है, जो
 शुभ्रतया स्त्री है परन्तु जिसमें पुरुष के भी बाह्य व्यंजन
 मिलते हैं, उसे स्त्रीपुंसलिङ्गी (Gynandroid) और उस
 अवस्था को स्त्रीपुंसलिङ्गी (Gynandry) कहते हैं । चरक में

रान्ता या वार्ता नामक एक स्त्रीव्यापत्ति वर्णन की ।
 यह इस प्रकार की मादम पदनी है—यदा तस्या योनि
 गर्भाशयबीजभागात्तद्वेद प्रदोषभापयते, तदा स्पर्श
 भूयिष्ठमभिय वार्ता नाम जनयति, तां स्त्रीव्यापन्नावयते
 (शा० ४) । वार्तापुत्रिकयोर्वायवेच्छा पर भवति न
 भव्यापन्नाभ्यमिति ब्रूवते । (चक्रपाणिदत्त) । इसका प्रारंभ
 यह है कि दोनों के धारी में लिङ्गापुंवार हेतुिक क्रम
 उपस्थित रहने से 'व्यवायेच्छा पर भवति', परन्तु बाह्य
 नेन्द्रिय विकृत होने से व्यवायसामर्थ्य नहीं होता । ऐसे
 में स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षण उपस्थित होने से जिनके
 न पुरुष न स्त्री (न पुमान् न स्त्री) कह सकते हैं, ऐसे
 व्यक्ति, यह नपुंसक का अर्थ है ।

नपुंसक क्यों होगा है ।—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये
 गर्भ की वृद्धि गर्भाशय में किस प्रकार से होती है, इस
 विषय का विचार आवश्यक है । शुक्र और शोणित का
 संयोग होने पर जो जीव उत्पन्न होता है, उसकी वृद्धि
 उसी षण से शुरू होती है, परन्तु छत्रे सप्ताह तक गर्भ
 न स्त्री के लक्षण मिलते हैं न पुरुष के, याने वह शून्य
 पुरुषत्व विरहित (Neuter) होता है । इस अवस्था को
 अयथार्थवस्था कहते हैं, इसका उल्लेख पीछे दूसरे अध्याय
 के ३३वें श्लोक के बन्धन में किया गया है । इस अवस्था
 के पश्चात् जननेन्द्रिय के स्थान में दोनों के लिए साधारण
 (Wolfian body) नामक एक अणु उत्पन्न होता है ।
 उसके साथ साथ या कुछ पीछे दोनों लिङ्गों की प्रथियाँ
 (सूचक रूप में वृषण और बीजकोष) भी उत्पन्न होती
 हैं । फिर धीरे धीरे शुक्र या आतव्य के मानव्य के अनुसार
 'मूयसाव्यं हि जीयते' इत्य न्याय से एक प्रथि का नाश
 होकर दूसरी प्रथि जोर पकड़ती है और गर्भ स्त्री या
 पुरुष होता है । सदैव में प्रथम उभयसाधारणवस्था और
 पश्चात् एकसाधारणवस्था होकर स्त्री या पुरुष उत्पन्न
 होता है । कुछ गर्भवैज्ञानिक उभयसाधारणवस्था मान्य
 नहीं करते हैं । उनका कथन है कि प्रारम्भ से गर्भ में स्त्री
 या पुरुष के सूचक चिह्न उपस्थित रहते हैं—

It must be recognized that there is in this no
 idea of there being a 'neuter' or general basis
 in which the characters of men and women are
 grafted, nor is there any reversal of looking on
 woman as a modified man, or vice versa. So
 far as cellular structure is concerned, the fetal
 vital must be from inception either male
 or female. *Manual of Embryology by Frazer*

एकसाधारणवस्था, याने शून्य या पुरुषत्व, व्यक्ति
 में अन्तःस्थी प्रथियों के समूहविधेय से उत्पन्न होती है ।
 वृषणाधिकित अन्तःस्थी प्रथिसमूह जिसमें काम करता है
 वह पुरुष, और बीजकोषाधिकित अन्तःस्थी प्रथिसमूह
 जिसमें काम करता है वह स्त्री होती है । अन्तःस्थी
 प्रथियों में पूर्व विप्युत्तरी मुख्यतया तथा धायमल, थापराइड,
 अचिपक इत्यादि कई प्रथियों का लिंगोत्पत्ति में विशेष संयम
 आता है । इसका उल्लेख द्वितीय अध्याय में ४०वें श्लोक के
 बन्धन में किया गया है । इन प्रथियों के अतिव्यय, लयों और

मिव्यायोग से गर्भ में शारीरिक, मानसिक और लैङ्गिक वैपरीत्य आ जाता है। आहार, विहार, मानसिक स्थिति, जलवायु इत्यादि का भी परिणाम इन ग्रंथियों के ऊपर होता है। इस तरह प्रथम उभयसाधारणावस्था, वीच में उभयसाधारणलिङ्गग्रन्थियुक्तावस्था और अन्त में अन्य अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों की सहायता से एक प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथि की वृद्धि और अन्य प्रकार की लिङ्गग्रन्थि का नाश इस क्रम से गर्भावस्था में पुरुष या स्त्री उत्पन्न होती है। यदि तीसरी अवस्था के प्रारम्भ से ही दोनों प्रकार की लिङ्ग-ग्रन्थियों का कार्य परापर जारी रहे तो यथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है और यदि एक प्रकार की ग्रन्थि का कुछ नाश होने के बाद दोनों का कार्य जारी रहे तो अयथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार का अस्वामाविक क्रम क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर आज का विज्ञान नहीं सकता—

We are still in the dark concerning the inner mechanism of those malformations. We are at a loss to account for the underlying condition which is responsible for the sudden shift from a predestined direction into a series of developmental adventures. *Riddle of Sex.*

आयुर्वेद के अनुसार बीजों की समबलता, उपतप्तता और माता के आहार/विहारादि के दोष इस अवस्था के कारण होते हैं—बीजात्समांशादुपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरताः । बीजात्मकर्मांशकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः ॥ (चरक, शा० २) । गर्भ में लिङ्गपरिवर्तन या मनचाहा लिङ्ग स्थापन कैसे हो सकता है?—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ में यद्यपि आधान के समय से शुक्र या आर्तव के प्रावलय के अनुसार पुरुष या स्त्री बनने की प्रवृत्ति होती है तथापि वह दुर्बल होती है; आगे जाकर उसकी पुष्टि पुरुषकर या स्त्रीकर ग्रंथियों द्वारा होकर गर्भ पुरुष या स्त्री बनता है। यदि माता-पिता पुत्र की इच्छा करें तो प्रारम्भ से ही गर्भ के ऊपर पुरुषकर ग्रंथियों द्वारा परिणाम करने से पुत्र उत्पन्न हो सकता है। यदि गर्भ स्त्री हो तो गीकर ग्रंथियों का नाश करने से और पुरुषकर ग्रंथियों का उपयोग करने से लिङ्गपरिवर्तन हो सकता है। यह कार्य माता के ऊपर आहार, विहार, विशिष्ट जलवायु, ओषधियाँ, ग्रंथियों के सत्व Hormones) इत्यादि का उपयोग करके उसके शरीर के परिवर्तन (Metabolism) में घटाव देकर से होता है। पुत्र उत्पन्न करने के लिए माता को अमुक प्रकार का आहार-विहार, अमुक प्रकार की जलवायु (Climate), अमुक ओषधियाँ, अमुक ग्रंथियों के सत्व अमुक मात्रा में प्रदान करना इत्यादि का निश्चित सूत्र अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं और निम्न श्रेणि के प्राणियों में इन उपायों द्वारा सफलता मिल रही है। मनुष्यों के ऊपर मनमाने प्रयोग करने में कुछ जिम्मेदारी होने के कारण सावधानता से प्रयोग हो रहे हैं और भविष्य में उन प्रयोगों से निश्चित लाभ होने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

लिङ्गपरिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रों का यह कथन

है कि उभयसाधारण अवस्था (Bisexual Phase) के पश्चात् गर्भ में थोड़ी देर के लिए पुरुषावस्था प्राप्त होती है, जिसमें उसमें घृणग्रन्थि उत्पन्न होती है और यदि पुरुष ही उत्पन्न होने वाला हो तो यही अवस्था आगे बढ़कर जननेन्द्रिय के पिण्ड (Genital ridge) बढ़कर वहाँ शिरनादि वर्धित होते हैं; यदि स्त्री उत्पन्न होने वाली हो तो घृण के स्थान में धीजकोप बनता है, और जननेन्द्रिय के पिण्ड शोषित होकर भग, योनि, गर्भाशयादि अंग वर्धित होते हैं। इसलिए लिङ्गपरिवर्तन स्त्री में ही हो सकता है, याने गर्भ को पुरुष बना सकते हैं—

Therefore, sex reversal can only occur in the female a deduction with which all experience concurs. *Medical Annual. Page 130, 1935.*

इसका अभिप्राय यह है कि लिङ्गपरिवर्तन के लिए केवल 'पुंसवनविधि' सम्भवनीय है।

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तव-चाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते ॥ ६ ॥

(ऋतुकाल की मर्यादा—) जिसमें आर्तवदर्शन होता है, ऐसा ऋतुकाल चारह दिन का होता है। कई (आचार्य) कहते हैं कि आर्तवस्त्राव न होने वाली भी (ऋतुमती) होती है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—ऋतु—ऋतुकाल, गर्भधारणा के लिए योग्य काल। गर्भधारणा स्त्री में धीजोत्सर्ग के ऊपर निर्भर होती है, आर्तवस्त्राव के ऊपर नहीं। ऋतुकाल में धीजकोप से पक्कीज का उत्सर्ग होता है। इसलिए ऋतुकाल की धीजोत्सर्ग काल भी (Ovulation time) कहते हैं। आयुर्वेद में गर्भोत्पत्ति की तुलना अंकुरोत्पत्ति के साथ (दूसरा अध्याय श्लोक ३४ और उसका वक्तव्य देखो) की जाती है। अंकुरोत्पत्ति के लिए जैसे अनुकूल काल की आवश्यकता होती है, वैसे ही गर्भोत्पत्ति के लिए भी अनुकूल काल की आवश्यकता होती है; और जैसे वह काल ऋतु कहलाता है, वैसे गर्भोत्पत्ति का अनुकूल काल भी ऋतुकाल कहने का रिवाज पड़ गया है— आर्तवदर्शन च शरदाद्युत्साधर्माद्युत्सर्गश्चेत्तुच्यते । यथा ऋतावसानि वीजानि प्ररोहन्ति, तथाऽऽर्तवदर्शनाख्येऽपि ऋतौ शुक्ररूपं बीजमुत्पत्तिं ऋतुसाधर्म्यम् । (चक्रपाणिदत्त, शारीर ३) । ऋतुधीजकालमवेक्षते श्याहुर्महर्षयः ॥ (माध्यमसंहिता, जाति-सूत्रीय शारीराध्याय) । दृष्टार्तवः—दृष्टमातवं यस्मिन् । जिसमें आर्तवदर्शन हुआ है, ऐसा । अदृष्टार्तव—जिसमें मासिक आर्तवस्त्राव नहीं हुआ है, ऐसी ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री । द्वादशरात्रम्—चारह दिन । अन्य वैद्यकग्रन्थों में तथा स्मृतिग्रन्थों में ऋतुकाल की अवधि सोलह दिन की बताई गई है—ऋतुकालं तु षोडशरात्रं यावत्, यदुक्तं हारीते— 'षोडश दिवसा ऋतुकालः' इति । (चक्रपाणिदत्त, शारीर २) । तदुक्तं हारीते—'षोडश दिवसान्यृतुकालः' इति । विदेहेऽप्युक्तम्— 'स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशरात्राणि' इति । (मधुकोपन्याख्या, प्रदर निदान) । आर्तवस्त्रावदिवसाद्युत्सर्गः षोडशरात्रयः । गर्भग्रहण-योग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ (भाष्यप्रकाश) । ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः । (मनुस्मृति ३।१७९) । षोडश-तुनिशाः स्त्रीणाम् । (याज्ञवल्क्यस्मृति १।७९) । ये षोडश दिन आर्तवदर्शन-दिन से गिने जाते हैं—स च (ऋतुः)

रजोदर्शनदिवसागम्य षोडशहोरात्र । (विज्ञानेरवर, याज्ञ-
वल्क्य १।१६) । सुभ्रुत में ऋतुकाल जो चारह दिनों का
बतलाया है, वैसा ही अशतागमग्रह (भारी १) और अष्टाग
हृदय (भारी १) में बताया गया है। वहाँ पर टीका में
इन्दु और अष्टयुक्त ऋतुकाल का प्रारम्भ आर्यवदर्शन
दिन से गिनने के लिए कहते हैं—नाभि भगवान् वदर्शनादारभ्य
द्वादशरात्रम् । (इन्दु) । ऋतुर्नात्ममृति यावद् द्वाप्य रात्रय
स्तावदुत्तमिनि । परन्तु यदि अन्य वैषक ग्रंथों के तथा स्मृति
ग्रंथों के ऋतुकाल से और आधुनिक मत (भाग्य का खैरोजी
वचन देखो) से समन्वय करना हो तो ऋतुकाल का प्रारम्भ
ऋतुस्तल दिन से याने चौथे दिन से मानना ही उचित
है। दलहण लिखते हैं—द्वादशमिति षोडशदिनेषु मध्ये भाग्य
दिनत्रयमन्तिमं च षोडश येनिसोचदिनं न गणनीयम् । इस
दलहण के मत का यही अर्थ होता है। इसलिये जब ऋतुकाल
षोडश दिन हो, तब उसका प्रारम्भ आर्यवदर्शन दिन से
और जब द्वादश दिन हो, तब उसका प्रारम्भ चौथे दिन
से गिनना चाहिये। कारयपसंहिता में ऋतुकाल का प्रारम्भ
चौथे दिन ही से बताया गया है—रजस्वलायाश्चैव प्रथमेऽग्नि
गर्भे प्रापनेन च वातगर्भमाचरते विक्रमं वायुप्रभिनोज्ज्वलानाम्,
द्वितीयेऽग्निं वेदं ससते श्ववने वा तृतीयेऽग्निं सृष्टिकालेन विषये
न वा दीर्घावुर्भवति हीनाग्रह जायते । एवं कर्षंस्तुर्वायुश्च
ब्राह्मणोनाम्, एकादशश्च चित्रियाया, दशाह वैदयानां, नवरात्र
मिनरासाम् । (जातिस्थीय शारीराध्याय) ।

ऋतुकाल की आधुनिक मर्यादा—ऋतुकाल में बीज एक
होकर कोष के बाहर आता है। जिस दिन वह बाहर आता
है, उस दिन के आसपास दो तीन दिनों में समागम करने
से गर्भधारणा होने की सम्भावना सबसे अधिक होती है।
बीजोत्सर्ग का प्रत्यक्ष न होने से उसके निश्चित दिन के
सम्बन्ध में पाश्चात्य चिकित्सकों में भी बहुत मतभेद
दिखाई देते हैं। परन्तु उनका भी मत आयुर्वेद के मत के
साथ बहुत कुछ मिलता है—

This evidence then points to the conclusion
that ovulation is most frequent from the sixth to the
thirteenth day after the beginning of men-
struation. This time would correspond more
or less to a post-menstrual oestrous period. More-
over Mall, as a result of a study of thirty six cases
of early human embryos, has come to the conclu-
sion that fertile coition is most likely to occur
between the fourth and thirteenth day after the
appearance of the menstrual discharge. (Sexual
Physiology by Marshall)

बीजोत्सर्ग का दिन स्त्री की प्रकृति, शारीरिक और
मानसिक स्वास्थ्य, पुरुषसमामग (२ अध्याय का ३८वाँ
श्लोक और उसका बहुरूप दोशो) इत्यादि से बदलता
रहता है। जिस दिन बीजोत्सर्ग होता है, उस दिन स्त्री के
शरीर का ताप कुछ बढ़ता है तथा उदरगुहा में गर्भाशय
के पार्श्व में कुछ पीसा भी होती है। इन लक्षणों से
बीजोत्सर्ग दिन का पता कभी कभी चल जाता है। इन
लक्षणों से यदि अनेक स्त्रियों में अनेक बार बीजोत्सर्ग

की मर्यादा निश्चित की जाय तो उसमें कुछ भिन्नता पाई
जाती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि वैषक और धर्मशास्त्र
में ऋतुकाल की सोलह दिन की जो मर्यादा बतलाई है,
वह किसी एक व्यक्ति की न होकर आधुनिक परिभाषा के
अनुसार औसत (Average) माध्यम होती है, क्योंकि
पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अनुसार औसत निकालने पर भी
यह सोलह के लगभग ही आ जाती है।

ऋतुकाल के पश्चात् गर्भधारणा की समावना—यद्यपि ऋ-
काल में समागम करने से गर्भधारणा होने की अधिक-
अधिक समावना होती है, तथापि ऋतुकाल के बाहर
गर्भधारणा हो सकती है, क्योंकि बीजवाहिनी में बी-
ज कुछ दिनों तक गर्भजननयोग्य अवस्था में रह सकता है
तथा बीजोत्सर्ग का काल भी विद्विषित हो सकता है, ऐसे
शास्त्रों की राय है—

I, along with many other gynaecologists, am
of opinion on grounds of experience that, gene-
rally speaking, sexual intercourse in human
beings may lead to conception at any time
because I assume that both the ovum and sper-
matozoa which have penetrated into the inner
female sexual organs have a comparatively long
duration of life. Ovulation can be delayed as
a result of other influence. Ideal Birth

गर्भधारणा के लिए आर्यवदर्शन आवश्यक है।—साधारण
तथा यह माना जाता है कि गर्भधारणा आर्यवदर्शन के
सिवाय नहीं हो सकती, याने आर्यवदर्शन गर्भधारणा के
लिए एक आवश्यक घटना है। एक दृष्टि से यह कल्पना
ठीक है, क्योंकि निम्नानुषेव प्रतिशत स्त्रियों में इसी प्रकार
से गर्भधारणा हुआ करती है। परन्तु वास्तव में गर्भधारणा
के लिए आर्यवदर्शन कोई आवश्यक घटना नहीं है। यदि
स्त्री के शरीर में बीजोत्सर्ग हुआ हो और पुरुषसमामग
भी उस समय हुआ हो तो बिना आर्यवदर्शन के गर्भधारणा
हो सकती है। इस तरह से कई बार विवाहित स्त्री सयामी
होने पर बिना आर्यवदर्शन के गर्भिणी होती है। धर्मशास्त्र
में इसका स्पष्ट बचन है—वधवाद्वास्तव्यं यदि पुण्य बहिर्न
दि । अत्रपुण्य भवत्येव पनसोऽनुवराणिवत् । अत्रस्वत्र
प्रजुर्वीर्यं स्त्रीस्य बुद्धिमान् नर ॥ (करयववचन) । प्रसूता
स्त्री फिर से आर्यवदर्शन होने के पूर्व पुनः गर्भ धारण
करती है, और पाण्डुरोगी स्त्री नष्टात्वा होने पर भी गर्भधा-
रणा कर सकती है—

It must be remembered that pregnancy may
occur before patient has menstruated. Disease of
Women By Bland-sutton and Giles Fertilization
of the ovum may occur before menstruation has
started, during a period of amenorrhoea and ev-
en after the menopause. Ten Teacher's Medicine
हूरी लिए लिखा है—अधुर्वाग्भार्यस्योत्सर्गो भवति । अर्थात्
समग्र में वाग्मदाचार्य वपयुक्त सभी मतमतान्तरों का निर्देश
करते हैं—ऋतुस्तु दृष्टान्तो द्वादशरात्र भवति । षोडशरात्र

सित्यन्ते । शुद्धयोनिगर्भाशयार्तवाया मासमपि केचिद् । तद्द-
ष्टार्तवोऽप्यस्तीत्यपरे । (शा० १) ।

आर्तवदर्शन और वीजोत्सर्ग का सम्बन्ध—आर्तवव्हाव और वीजोत्सर्ग ये दोनों स्त्रीशरीरान्तर्गत घटनायें प्रजोत्पत्ति के लिए पर्याय से नियत समय पर हुवा करती हैं; अर्थात् इनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है । परन्तु इनमें वीजोत्सर्ग प्रधान और आर्तवव्हाव तदनुपक्षी होता है । जब कोप से वीज उत्सर्गित होता है, तब उसके पुट में रक्त भरता है और थोड़ी देर के बाद उस स्थान पर घन बनता है । इस घनयुक्त पुट को वीजकिणपुट (Corpus luteum) कहते हैं । इस किणपुट से एक विशेष पदार्थ बनता है, जिसको प्रोजेस्टिन (Progesterin) कहते हैं । यह पदार्थ रक्त में मिलकर गर्भाशय के अन्तरावरण को उत्तेजित करके उसकी वृद्धि करता है । इस पदार्थ के सिवाय वीज-कोप से ओस्ट्रिन (Oestrin) नामक पदार्थ बनता है, जो प्रोजेस्टिन के साथ गर्भाशय के अन्तःस्तर की वृद्धि में सहायता करता है । इस प्रकार के परिवर्धित नवीन अन्तःस्तर के बिना गर्भ संलग्न नहीं हो सकता है । यदि समागम से गर्भधारणा हुई हो तो वह गर्भ धीरे धीरे वीजवाहिनी से गर्भाशय में आता है और उसमें संलग्न होता है । यदि गर्भ-धारणा नहीं हुई तो वीजकिणपुट का रस्य होकर उससे प्रोजेस्टिन नहीं बनता, जिससे गर्भाशय का वर्धित अन्तःस्तर नष्ट होकर गर्भाशय से अलग होता है और रक्त के साथ बाहर निकलता है । यही आर्तवव्हाव है । संक्षेप में आर्तवव्हाव उसके पूर्वकाल में गर्भधारणा न होने का तथा नवीन गर्भ के लिए गर्भाशय सज्ज करने की पूर्व आयोजना का निदर्शक है । आर्तवदर्शन और वीजोत्सर्ग का कार्यकारण भाव की दृष्टि से यद्यपि सम्बन्ध होता है, तथापि ये दोनों स्वतन्त्र भी होते हैं; क्योंकि कई बार बिना आर्तवदर्शन के वीजोत्सर्ग होता है और कई बार आर्तवदर्शन होने पर भी वीजोत्सर्ग नहीं होता । व्यवहार में कई स्त्रियाँ देखने में आती हैं, जिनमें बिना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हुआ करती है । इस तरह आर्तवव्हाव और वीजोत्सर्ग में अभ्य-भिचारी सम्बन्ध न होने के कारण कुछ शास्त्रज्ञ दोनों घटनाओं का कारण एक स्वाभाविक कालचक्र (Cyclical Theory) मानते हैं (प्रथम खण्ड ३१४ पृष्ठ भी देखो) ।

There is probably a menstruation causing cycle in the interstitial cells as there is in those producing ova. *Halliburton's Physiology.*

आर्तवदर्शन क्यों होता है?—जब आर्तवदर्शन के सिवाय गर्भधारणा हो सकती है तब प्रतिमास आर्तवव्हाव क्यों होता है? इस प्रश्न का ठीक उत्तर देना बहुत कठिन है, परन्तु जब स्त्रियों में आर्तवव्हाव मिलता है, तब उससे निम्न फायदे व्यावहारिक दृष्टि से मालूम पड़ते हैं, चाहे उसके कुछ उच्च कार्य शरीर में हों या न हों । (१) इसके प्रारम्भ से यौवनावस्था का प्रारम्भ का आरंभ इसकी निष्पत्ति से यौवनावस्था की निष्पत्ति का ज्ञान सहज में हो जाता है । (२) प्रतिमास मासिक धर्म ठीक होने से साधारणतया स्त्री के शरीर के दोष बह जाते हैं और स्त्री का स्वास्थ्य ठीक रहता है—

रजःप्रवेकाधारीणां मासि मासि विशुद्धयति । सर्वं शरीरं दोषाश्च । (तन्त्रान्तर, सह्यणटीका) । आधुनिक विद्वानों की भी मासिक धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना है—

Menstruation is nature's washday; the poorest blood in the circulation is thrown out, for menstrual blood possesses none of the vital properties peculiar to that which escapes when haemorrhage occurs. *Laws of Sexual Physiology by Chandra.*

(३) योग्य आयु में रजोदर्शन न होने से स्त्री के स्त्रीत्व की कमी का या उसके स्वास्थ्य की खराबी का ज्ञान हो जाता है । वैसे ही जिसमें रजोदर्शन ठीक समय पर प्रतिमास हो रहा है, उसमें समय पर रजोदर्शन न होने से उसके भी स्वास्थ्य की खराबी का अनुमान किया जा सकता है । (४) आर्तवदर्शन से गर्भाधान के लिए तथा गर्भाधान रोकने के लिए योग्यकाल का बोध होता है । (५) आर्तवव्हाव से स्त्री के अपर्यमार्ग की स्थिति तथा प्रतिक्रिया शुक्राणुओं के प्रवेश के लिए याने गर्भाधान के लिए अनुकूल होती है । (६) समागम करने के पश्चात् आर्तवदर्शन बन्द होने से गर्भाधान का ज्ञान हो जाता है । साधारण जनता के लिए स्त्री की सगर्भावस्था का ज्ञान होने का यही मुख्य लक्षण होता है । (७) प्रसवकाल निश्चित करने के अनेक साधन (आगे १२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं । परन्तु इन सब साधनों में रजोदर्शन के आधार पर प्रसवकाल निश्चित करने का मार्ग सब से सहल और सब के लिए सुगम होता है । साधारणतया मानवी गर्भावस्था की अवधि (आगे ३३वाँ सूत्र तथा उसका वक्तव्य देखो) २८० दिनों की होती है । अंग्रेजी पञ्चाङ्ग के अनुसार यह अवधि नौ मास ७ दिन की और भारत वर्ष के चान्द्रवर्ष के अनुसार नौ मास पन्द्रह दिन की होती है । नीचे दोनों के अनुसार प्रसवकाल निश्चित करने की सारणियाँ दी जाती हैं ।

अंग्रेजी महीनों के अनुसार

| आर्तवदर्शन मास और तारीख | | | प्रसवकाल मास और तारीख | | |
|-------------------------|-------|---|-----------------------|-----------|---|
| जनवरी | तारीख | अ | अक्टूबर | ७ + तारीख | अ |
| फरवरी | तारीख | आ | नवम्बर | ७ + तारीख | आ |
| मार्च | तारीख | इ | दिसम्बर | ५ + तारीख | इ |
| अप्रैल | तारीख | ई | जनवरी | ४ + तारीख | ई |
| मई | तारीख | उ | फरवरी | ४ + तारीख | उ |
| जून | तारीख | ऊ | मार्च | ७ + तारीख | ऊ |
| जुलाई | तारीख | ए | अप्रैल | ६ + तारीख | ए |
| अगस्त | तारीख | ऐ | मई | ७ + तारीख | ऐ |
| सितम्बर | तारीख | ओ | जून | ७ + तारीख | ओ |
| अक्टूबर | तारीख | औ | जुलाई | ७ + तारीख | औ |
| नवम्बर | तारीख | क | अगस्त | ७ + तारीख | क |
| दिसम्बर | तारीख | ख | सितम्बर | ६ + तारीख | ख |

मान लीजिए कि गर्भावस्था के पूर्व आर्तवदर्शन

२० जनवरी को हुआ था तो प्रसवकाल २० अक्टूबर के करीब होगा ।

संवत् और शालिवाहनशक के अनुसार प्रसवकाल निर्णय करने में एक सरलता यह होती है कि जिस तिथि पर लग्नमावस्या का पूर्वकालीन आर्तवदर्शन होता है, उसी तिथि पर प्रसव का काल आता है । शक का मास क्षमावास्यान्त और संवत् का योगिमान्त होने के कारण मासों के कृष्णपक्ष के नाम बदल जाते हैं । इसलिए प्रसव तिथिनिर्णय के दोनों के कोष्ठक पृथक् पृथक् दिये जाते हैं ।

शकानुसार प्रसवतिथिनिर्णय कोष्ठक

| आर्तवदर्शन का मास और पक्ष | | प्रसव का मास और पक्ष | |
|---------------------------|-----------|----------------------|-----------|
| वैश्र | शुक्लपक्ष | पौष | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | माघ | शुक्लपक्ष |
| वैशाख | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | फाल्गुन | शुक्लपक्ष |
| ज्येष्ठ | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | चैत्र | शुक्लपक्ष |
| आषाढ़ | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | वैशाख | शुक्लपक्ष |
| श्रावण | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | ज्येष्ठ | शुक्लपक्ष |
| भाद्र | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | आषाढ़ | शुक्लपक्ष |
| आश्विन | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | श्रावण | शुक्लपक्ष |
| कार्तिक | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | भाद्रपद | शुक्लपक्ष |
| मार्गशीर्ष | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | आश्विन | शुक्लपक्ष |
| पौष | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | कार्तिक | शुक्लपक्ष |
| माघ | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | मार्गशीर्ष | शुक्लपक्ष |
| फाल्गुन | शुक्लपक्ष | " | कृष्णपक्ष |
| " | कृष्णपक्ष | पौष | शुक्लपक्ष |

विक्रम संवत् के अनुसार प्रसवतिथिनिर्णय कोष्ठक

| आर्तवदर्शन का मास और पक्ष | | प्रसव का मास और पक्ष | |
|---------------------------|-----------|----------------------|-----------|
| वैश्र | शुक्लपक्ष | माघ | कृष्णपक्ष |
| वैशाख | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | फाल्गुन | कृष्णपक्ष |
| ज्येष्ठ | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | चैत्र | कृष्णपक्ष |
| आषाढ़ | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | वैशाख | कृष्णपक्ष |
| श्रावण | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | ज्येष्ठ | कृष्णपक्ष |
| भाद्रपद | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | आषाढ़ | कृष्णपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| आश्विन | कृष्णपक्ष | श्रावण | कृष्णपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| कार्तिक | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | भाद्रपद | कृष्णपक्ष |
| मार्गशीर्ष | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | आश्विन | कृष्णपक्ष |
| पौष | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | कार्तिक | कृष्णपक्ष |
| माघ | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | मार्गशीर्ष | कृष्णपक्ष |
| फाल्गुन | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |
| " | शुक्लपक्ष | पौष | कृष्णपक्ष |
| चैत्र | कृष्णपक्ष | " | शुक्लपक्ष |

इस सारणी के अनुसार प्रसवतिथिनिर्णय शक की सारणी के अनुसार ही किया जाता है । यदि बोध में अधिक मास हो या अधिक मास के शुक्लपक्ष में आर्तवदर्शन की तिथि हो तो प्रसव के महीने में एक महीना कम करना चाहिए । यदि अधिक मास के कृष्णपक्ष में आर्तवदर्शन की तिथि हो तो इस सारणी के अनुसार ही महीना होता है । उसमें कर्म नहीं होता ।

भ्रमन्ति वाच्य—

पौनःप्रसवप्रथमां प्रश्निन्नात्ममुखाद्रिजाम् ।
 नरकामां प्रियकथां स्त्रस्तपुत्रयोः मूर्धजाम् ॥ ७ ॥
 स्फुरद्भुजपुत्रधोखिनाभ्यूरुजघनस्त्रिचमम् ।
 हर्षोत्सुक्यपरं चापि त्रिचाहनुमतीमिति ॥ ८ ॥

(अनुमती के लक्षण—) जिसका मुख पुत्र और प्रसव हो; जिसका शरीर, मुख तथा शीत हरेरपुत्र हो; जो पुत्र की इच्छा करती हो; जो प्रेमकथाओं में दिलचस्पी लेती हो; जिसकी कुपि, आँसू और बाल विपिठ हो; जिसकी भुजाएँ, सन, भोजि, नाभि, ऊरु, गुदांग और निरुग्ध में स्फुरण होता हो; और जो (भगवताम के टिप्प) हर्ष तथा औत्सुक्य से भरी हुई हो, उसे अनुमता मानना चाहिए ॥ ७ ॥ ८ ॥
 अथप्य—इह शोके में अनुमती के शब्दे गर्भधारण

मान लीजिए कि किसी स्त्री को कार्तिक शुक्लपक्षमी को आर्तवदर्शन हुआ, उसके बाद गर्भधारणा के कारण हुआ नहीं तो उसकी प्रसवतिथि श्रावण कृष्णपक्षमी होगी । यदि आर्तवदर्शन का समय अधिक हो या बोध में अधिक समय का ज्ञाप्य तो प्रसव के महीने में एक महीना कम करना चाहिए । जैसे, ऊपर के उदाहरण में यदि बोध में अधिक मास का ज्ञाप्य हो आश्विन कृष्णपक्षमी के बरूके प्रसवतिथि आषाढ़ कृष्णपक्षमी होगी ।

योग्य पूर्ण जवान स्त्री के लक्षण वर्णन किये हैं। स्त्री में जव
यम रजोदर्शन होता है, तब भी वह ऋतुयुक्त होती है
रन्तु उसको ऋतुमती नहीं कह सकते हैं। उस आयु में
उसका शरीर अपरिपूर्णवीर्य, अपरिपक्व अतएव गर्भधारण
योग्य नहीं होता—नस्मात् अत्यन्तकालायां गर्भाधानं न कारयेत् ।
उस समय से उसकी कली खिलने लगती है, उसमें स्त्रीत्व
आने लगता है और ज्यों ज्यों स्त्रीत्व बढ़ता है त्यों त्यों चेहरा
पुष्ट प्रसन्न और लज्जायुक्त होता है, स्तन मोटे और कठिन
होते जाते हैं, नितम्ब की वृद्धि होती है, गुहांग पर बाल
जमने लगते हैं और गर्भाशय की वृद्धि होती है। शरीर
की इस वृद्धि के साथ साथ उसके मन में भी काफी परि-
वर्तन होता है। वह लज्जायुक्त होती है, पुरुष की ओर उसका
मन आकर्षित होता है, उसकी संगत सोहवत करने
की इच्छा होती है, कामुक बातों में अधिक प्रेम उत्पन्न होता
है और शरीर के कामकटिबन्धों (जैसे स्तन, जवन) में
स्फुरण उत्पन्न होता है। यह सब कार्य वीजकोष के अन्तः-
सार से होता है। वह द्रव्य रक्त के द्वारा स्त्री के समस्त
शरीर में फैलकर उसको पूर्ण स्त्री तथा गर्भधारण का भार ग्रहण
करने योग्य बनाता है—नारीणां रजसि चोपचीयमाने शनैः
शनैः स्तनगर्भाशययोन्मिद्विर्भवति । प्रथम भाग पृष्ठ ८२
और ११६ देखो । इन्हण्णाचार्य ये लक्षण अष्टभारतव
ऋतुमती के मानते हैं—अष्टधार्तवाया ऋतुमत्या लक्षणमाह—
पीनेरवादि । परन्तु इस तरह मानने की कोई जरूरत नहीं
है। ये लक्षण पूर्ण नौजवान स्त्री के हैं, चाहे उसमें
आर्तव दृष्ट हो या अष्टदृष्ट हो। अब ये जो जवानी के लक्षण
हैं, वे आर्तवदर्शन के पश्चात् और भी जोर पकड़ते हैं।
प्रक्षिन्नात्ममुखद्विजाम्—प्रक्षिन्नाः प्रकर्षेण क्लेदमापन्ना आत्मादयो
यस्याः, आत्मा देहः । (इन्हण्ण) । कामातुर मन का परि-
णाम शरीर के हर एक पुर्ज पर होता है। ग्रथियाँ उत्तेजित
होकर उनसे अधिक स्राव होता है, स्वेदग्रथियों से पसीना
निकलकर समस्त शरीर छेदित हो जाता है, लालाग्रथियों
से लाला स्रवती है, जिससे मुख तथा दाँत लालाच्छिन्न हो
जाते हैं, मूत्रग्रथियों (घृक्षां) से मूत्र अधिक घनता है,
जिससे वार वार मूत्रत्याग करने की जरूरत होती है,
इत्यादि। यहाँ 'प्रक्षिन्नात्ममुखद्विजा' से इसी घटना का
संक्षेप में वर्णन किया है। गीतगोविन्द में कामातुरता से
स्वेद उत्पन्न होने का उल्लेख है—त त्वां पश्यति कम्पते पुल-
कयत्यानंदनि स्वियति । नरकामां प्रियकथाम्—आर्तवस्राव के
पश्चात् स्त्री में कामवासना बहुत बढ़ती है, जिससे वह
यदि विवाहित हो तो पतिसमागम की इच्छा करती है
और यदि अविवाहित हो तो पुरुष की इच्छा करती है या
पुरुषों के साथ बातचीत करने में या कामुक विषयों के
सम्बन्ध में बातचीत करने में आनन्द मानती है—

During or immediately following menstruation, sexual ardour is at its highest peak. Women who may not be easily approachable otherwise or who may be frigid by nature, will warm up under the stimulus of menstruation and exhibit more than habitual interest in sexual matters. They show less resistance and respond more

readily to masculine overtures. *Riddle of Sex.*

नरे पुंसि कामोऽभिलापो यस्यास्ताम् । प्रियकरेण सह कथायां
प्रेमकथायां वा अभिलापो यस्यास्तां प्रियकथाकाममित्यर्थः ॥ स्फुर-
दुग्जकुच इत्यादि—कामेच्छा (Sexual impulse) उत्पन्न
होने पर समस्त शरीर में एक प्रकार की उत्तेजना पैदा होती
है। उसी का एक परिणाम पसीना आने में होता है, और
उसी से स्तनादि स्थानों में स्फुरण होता है। ये कामुक
स्थान हैं और स्फुरण के कारण स्त्री इन स्थानों को पुरुष
के अंगों के साथ रगड़ना चाहती है। इन स्थानों को मैथुन
के समय गुदगुदाने से, मलने से स्त्री को आनन्द आता है
और वह जल्दी उभर आती है। भुज से यहाँ बाहु समझने
की अपेक्षा भुजकोटर याने बगल कक्षा (Arm-pit) समझना
उचित है, क्योंकि कक्षा कामकटिबन्ध है। विशेष विवरण
के लिए दूसरे अध्याय के ७७वें श्लोक के वक्तव्य में 'स्पर्शा'
देखो। हर्षस्तुत्यपरा—पुरुषसमागम के लिए हर्ष और
उत्साह से पूर्ण ।

इन श्लोकों में शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनु-
सार ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री की व्याख्या
वर्णन की है। चक्र में जननेन्द्रिय की स्थिति के अनुसार
ऋतुमती की व्याख्या वर्णन की है—गते पुराणे रजसि नवे
चावस्थिते शुद्धतनातां क्षियमन्यापन्नयोनिशोषितगर्भाशयाऋतुमती-
माचक्षमां ॥ (शा० ४) । गर्भधारणा के लिए योनि गर्भा-
शय के स्वास्थ्य के अतिरिक्त गर्भाशय के अन्तःस्तर की
विशेष स्थिति की भी आवश्यकता होती है। गर्भ गर्भाशय
में घिराजमान होने के लिए उसे नये सिंहासन की आव-
श्यकता होती है, इसलिए गर्भाशय में एक मासिक चक्र
यौवन के प्रारम्भ से यौवन के अन्त तक जारी रहता है,
जिसके द्वारा प्रतिमास गर्भाशय में गर्भ के लिए नया
आसन बनता है। यदि गर्भ का आगमन नहीं हुआ तो वह
पुराना आसन नष्ट होकर फिर से नया आसन बनता है,
और इस तरह गर्भ के आगमन तक यह चक्र जारी रहता
है। यदि गर्भ का आगमन हुआ तो नये आसन पर वह
स्थिर होता है और उसके अवस्थान के समय तक तथा
उसके पश्चात् कुछ काल तक यह चक्र बन्द रहता है।
पश्चात् फिर से नये गर्भ के लिए जारी होता है। इस चक्र
की तीन अवस्थाएँ हैं। (१) आर्तवपूर्व अवस्था—गर्भाधान
न होने के कारण इस अवस्था में पुराने अन्तःस्तर का नाश
करने की पूर्ण तैयारी होती है। इसमें योनि गर्भाशय में
रक्ताधिक्य होता है, श्रोणि में भारीपन खिंचावट और गरमी
भाल्लम होती है, रक्ताधिक्य के कारण गर्भाशय के अन्तःस्तर
की रक्तवाहिनियाँ फूलती हैं, कुछ फूटती हैं और अन्तःस्तर के
नीचे रक्त कई जगह इकट्ठा होता है। इसकी अवधि पाँच
छः दिन की होती है। (२) आर्तव की अवस्था—रक्तभार
अधिक बढ़ने से अन्तःस्तर कई जगह टूट जाता है और रक्त
के साथ बाहर निकल आता है। यही पुराना रज या
आर्तव है। इसकी अवधि ३-५ दिन की होती है। (३)
आर्तवोत्तर अवस्था—इस अवस्था में टूटी हुई रक्तवाहिनियाँ
शुद्धी हैं, टूटा हुआ अन्तःस्तर फिर से नया बनना शुरू
होता है और थोड़ी देर के बाद गर्भाशय में नवीन रक्त
और नवीन अन्तःस्तर पूर्णतया बन जाता है, जिसके ऊपर

गर्भ संलभ हो सकता है। इसी आर्तवोत्तर अवस्था (Post-menstrual Period) में गर्भधारणा की अधिक सम्भावना होती है। चरक के ऋतुमती के लक्षण में गर्भाशयान्तर्गत इन परिवर्तनों के अनुसार 'गते पुराणे रजसि नने चावस्थिते' इस शब्दसमूह का अर्थ करना चाहिए।

नियतं दिवसेऽतः सङ्कुचरयन्मुञ्जं यथा।

ऋतौ व्यताते नार्यास्तु योनिः सप्रियते तथा ॥६॥

(ऋतु के पश्चात् गर्भाशय की स्थिति—) जैसे कि दिवस के समाप्त होने पर कमल निश्चित से सङ्कुचित हो जाता है, वैसे ही ऋतु के समाप्त होने पर स्त्री की योनि (निश्चित से) सङ्कुचित हो जाती है ॥ ६ ॥

वक्ष्यम्—इस श्लोक का अर्थमात्र यह है कि ऋतुकाल में गर्भाशय का मुख विस्तृत होता है, जिससे उस काल में योनि में गिरा हुआ शुक्र भीतर जाकर गर्भधारणा होती है। ऋतुकाल के पश्चात् गर्भाशय-मुख सङ्कुचित हो जाता है, जिससे उस समय योनि में गिरा हुआ शुक्र कठिनता से भीतर जा सकता है और इसलिए प्रायः ऋतुकाल समाप्त होने पर गर्भधारणा नहीं हो सकती—पक्ष सञ्कोच-भाववि द्विनेऽतीते यथा तथा। ऋगावलीने योनिः सा शुक्र नातः प्रतीच्छति ॥ (अष्टांगहृदय)। आयुर्वेद के अनुसार यह नियम निरपवाद नहीं है, क्योंकि 'शुक्रयोनिगर्भाशयार्त-वाया मासमात्रं केचित्' इस प्रकार मास भर भी गर्भधारणा हो सकती है। अर्थात् गर्भाशय का मुख पूर्णतया बंद नहीं होता। अष्टांगहृदयटीकाकार अरुणदत्त 'मासेनोपचित रक्तम्' (शां ३१२३) इस श्लोक की टीका में लिखते हैं कि—विद्युत्तविद्युत्मुखत्वं हि योगेर्भ्रमर्भ्रमर्भ्रमर्भ्रस्तव वायोः क्रियावतः वा न सहायस्यायतम्। मासेनोपचित रक्तश्री वायुयौनि-मुवान्दुरे प्रेरयेत्। तदा योनिमुखं विवृतं सपथे। इसका अर्थ यह होता है कि आर्तवछाव के दिनों में गर्भाशय का मुख विवृत हो जाता है। पश्चात् दापटों का भी यही कथन है—

During menstruation there is a slight spontaneous dilatation of the cervical canal, attaining its maximum on the third and fourth days. Her man quoted in *Bland-stilton and Oates, Diseases of Women*

यह विद्युत् धीरे धीरे कम होती है और दूसरे आर्तव छाव के पूर्व गर्भाशय का मार्ग सञ्कोच के कारण संकुच हो जाता है। पाश्चात् दापट भी इस बात को मानते हैं कि महीने के आखिरी दिनों में गर्भाशय का मार्ग शुक्र के लिए कठिनाइयों से भरा रहता है—

In cases where very great obstacles have to be overcome, that is, in conception, near the time of menstruation, *Ideal Birth*.

योनि—गर्भाशय, विशेष करके उसका मुख (आगे पाँचव अध्याय के २९वें श्लोक का वक्ष्य देखो)। यहाँ पर कमल का जो दशागत विषा है, उससे यह अर्थ निकलता है कि आर्तवकाल में गर्भाशय विकसित पाने कुछ बढ़ा होता है—

During menstrua ion the organ (Uterus) is

enlarged, and more vascular, its surfaces rounder, the external orifice is rounded, etc. *Greys Anatomy*.

मासेनोपचितं काले धमनोभ्यां तदार्तवम्।

ईपृक्पुष्पं विगन्धं च वायुर्यौनिमुखं नयेत् ॥ १० ॥

(आर्तवस्वरूप और धमनयुक्त—) दो धमनियों के द्वारा महीना भर में एकट्ठा हुआ किंचित् कृष्णवर्ण और विगन्धवह आर्तव (अपान) वायु (योग्य) समय पर योनिमुख की ओर ले जाती है ॥ १० ॥

वक्ष्यम्—आर्तव कैसे उपचित होता है, इसका विवरण पिछले श्लोक के वक्ष्य में किया गया है। इसके विनाय आर्तव के प्रशस्त लक्षणों का विचार दूसरे अध्याय के १०वें श्लोक के वक्ष्य में किया गया है। काल—योग्य काल। यह काल प्रायः स्त्री में और स्वास्थ्य के अनुसार बदलता रहता है। धमनोभ्याम्—गर्भाशय को रक्त कर् रतीक्ष्ण पहुँचाने वाली दो रक्तवाही धमनियाँ होती हैं उनको गर्भाशयधमनी (Uterine artery) कहते हैं इनके द्वारा। इन्हीं का उल्लेख ९वें अध्याय के छठे सूत्र में किया गया है। धमनी से यहाँ बीजवाहिनी (Follopian tubes) अभिप्रेत नहीं है। विगन्धम्—विनिष्ट गन्ध विवृतगन्ध वा। रक्त योनि में थोड़ी देर रहने से कुछ सड़ जाता है, जिससे उसमें एक प्रकार की गन्ध आती है—

The menstrual discharge has also some odour due to slight decomposition, which takes place during its passage through the vagina. *Crosen*.

वायु—आर्तव को बाहर फेंकने का काम अपान वायु का है (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१३ देखो)। वायुमटाचार्य का इस श्लोक का पाठान्तर अर्थ की दृष्टि से अधिक प्रशस्त है—मासेनोपचित रक्तं धमनीभ्यामूर्तौ पुनः। ईपृक्पुष्पं विगन्धं च वायुर्यौनिमुखान्दुदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)।

तदपार्द्धं द्वादशात् काले वर्तमानमसुकं पुनः।

जरापकशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ ११ ॥

(छियाँ का आर्तवकाल—) वह आर्तवसोणित बारह वर्ष (की अवस्था) से प्रारंभ होकर फिर पञ्चादशवस्था से परिवर्ध शरीर चाटी छियाँ की ५० वर्ष (की आयु) में नष्ट होता है ॥ ११ ॥

वक्ष्यम्—इस श्लोक में छियाँ के आर्तवकाल (Menstrual life) की मर्यादा वर्णन की है। रजोदर्शन और रजोनिवृत्ति (Menopause) की वह मर्यादा प्रायिक है, जो प्रायःक व्यक्ति में उसके रहनसहन, स्वास्थ्य इत्यादि के अनुसार बदल सकती है—दरअन्ति प्रायिधमेदि। एवारश-वापिश्चामपि क्षीणं रजस्यर्थाचर्यनात्। पंचाशतः श्यपमित्यना-प्येवैव चित्त्वम्। (अरुणदत्त)। रजोदर्शन के काल के संबंध का विचार प्रथम खण्ड के ७वें पृष्ठ पर किया गया है। रजोनिवृत्ति के काल की मर्यादा में भी रजोदर्शन के काल के अनुसार जाति, जलवायु, रहनसहन, गर्भधारणा इत्यादि के अनुसार फर्क होता है। विधवा छियाँ में, पतिमृत कम मिलने वाली छियाँ में, अधिक परिधम करनेवाली छियाँ में

में रजोनिघृत्ति जल्दी होती है। विवाहित, अधिक सन्तति वाली स्त्रियों में, आलसी स्त्रियों में देर से रजोनिघृत्ति होती है। रजोनिघृत्ति पैंतालीस से पन्नास साल की आयु में होती है, परन्तु कभी तीस साल की आयु में और कभी ५५ साल की आयु तक भी बढ़ सकती है। पूर्ण रजोनिघृत्ति अकस्मात् भी हो सकती है, परन्तु प्रायः उसके पूर्व कुछ बाल मासिक धर्म में गड़बड़ी हो जाया करती है। जैसे कि, दीपज्योति नष्ट होने के पूर्व कुछ काल तक न्यूनाधिक हुआ करती है, जैसे ही आर्तव पूर्ण निघृत्त होने के पूर्व कुछ महीनों से कुछ साल तक न्यूनाधिक राशि में और अनियमित हुआ करता है।

आर्तव निवृत्तिकालिक परिवर्तन—रजोदर्शन के समय जैसे स्त्री में स्तन, गर्भाशय घृद्ध्यादि गर्भधारण के लिए उचित परिवर्तन होते हैं, वैसे ही रजोनिघृत्ति के समय गर्भधारण प्रतिबन्ध के लिए योग्य परिवर्तन होते हैं। वीज-ग्रथियों से वीजोत्सर्ग बन्द हो जाता है। इस अवस्था को क्लैमेटोरिक Climacteric कहते हैं। गर्भाशय, योनि तथा वीज ग्रथियाँ सिकुड़ने लगती हैं। इस तरह आभ्यन्तरीय परिवर्तनों के साथ स्तनों का सिकुड़ना, दाढ़ी, और मूँछों के स्थान में कुछ बाल निकल आना, आवाज बदलना, शरीर स्थूल या पतला होना, चेहरे की कोमलता नष्ट होकर उम्रता पैदा होना इत्यादि बाह्य परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से स्त्री का स्त्रीत्व नष्ट होता है। इन शारीरिक परिवर्तनों के साथ मानसिक परिवर्तन भी होते हैं। वीज-कोष का अन्तःस्राव बन्द होने पर थायराइड तथा अधिवृक्क ग्रथियों का अन्तःस्राव अधिक मात्रा में रक्त में आता है, जिससे खुशमिजाज स्त्री तेजमिजाज, चिढ़चिढ़ी, बेचैन हो जाती है। कुछ उद्विग्नचित्त तथा अव्यवस्थितचित्त होती हैं और कभी कभी पागल की सी तरह बन जाती हैं। इसके सिवाय चक्कर आना, शरीर में कंप, निद्रानाश, गरम मालूम होना, मृगी, स्तन, उदर इत्यादि अंगों में पीड़ा होना, दिल में धड़कन, पेट फूलना, मलावरोध, ऊर्ध्ववात, अरोचक इत्यादि अनेक लक्षण भी होते हैं। संक्षेप में रजो-निघृत्ति स्त्री के लिए बड़ा महत्व का संक्रमकाल होता है। कुछ स्त्रियों में, विशेष करके अविवाहित स्त्रियों में, कुछ भी तकलीफ नहीं होती है, तथा नियमित रूप से चला हुआ मासिक धर्म अकस्मात् बन्द हो जाता है। साधारणतया रजोनिघृत्ति के साथ साथ गर्भधारणशक्ति की भी निघृत्ति होती है, परन्तु कभी कभी उसके पश्चात् भी गर्भधारण हो सकती है।

युग्मेपु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽचला ।

पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं ब्रजेत् ॥ १२ ॥

(समविषमदिनसमागम का फल—) (ऋतुकाल के) सम दिनों में (समागम करने से) पुत्र (और) विषम दिनों में कन्या होती है, (ये नियम आचार्यों से) वणित हैं। इसलिए (ब्रह्मचर्यादि से) शुचि होकर अपत्य की इच्छा करने वाला पुरुष (पुत्र या कन्या की इच्छा के अनुसार) ऋतुकाल के सम या विषम दिनों में स्त्री से समागम करे ॥ १२ ॥

वक्तव्य—समविषमदिनसमागम का फल दूसरे

अध्याय के २९-३१वें सूत्र में बताया गया है। पुत्र और कन्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध का यह मत 'शुक्राहुल्यात् पुमान्, आर्तववाहुल्यात् स्त्री' इस मत के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि विदेह का मत है कि सम दिनों में स्त्रीबीज बलवत्तर होने से पुत्र होता है, विषम दिनों में स्त्रीबीज कमजोर होने से कन्या होती है—युग्मेपु तु दिनेष्वासां भवत्यपतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा पुमांसं प्रसूयते ॥ अयुग्मेपु दिनेष्वासां भवेद्बहुतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते ॥ पुत्र और कन्या की उत्पत्ति में कुछ पाश्चात्य पण्डित स्त्रीबीज कारण मानते हैं। उसी स्वरूप का विदेह का यही मत है। परन्तु यह नियम नहीं है, क्योंकि आहार-विहार के द्वारा शुक्रप्राबल्य किया जाय तो समागम से पुत्र ही होगा, चाहे वह दिन सम हो या विषम हो। पाँचवें श्लोक के वक्तव्य में 'समागमकाल' भी देखो। पुष्पकाल—ऋतुकाल। भविष्य में होने वाले फल का पूर्वरूप जैसे पुष्प होता है, वैसे ही भविष्य में होने वाले गर्भ का पूर्वरूप आर्तव होता है, इसलिए आर्तव को आलंकारिक भाषा में 'पुष्प' कहते हैं—शुद्धं च रक्तं पुष्पसंज्ञं गर्भाख्यस्य फलस्य भविष्यतोऽभिव्यञ्जकत्वात् । (अरुणदत्त)। अँग्रेजी में भी आर्तव के लिए पुष्प (Flower) कहने का रिवाज है—

Menstruation, called also menses, period, monthly flow and flowers, is known in man and monkeys. Exceptional cases of flowers at the age of seven to eight have been noted. *Riddle of Sex.*

परन्तु जैसे पुष्प और फल का व्यभिचारी सम्बन्ध होता है—अप्येवं तु भवेत्पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत् । फलं चापि भवेत् किञ्चिदस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ (चरक), वैसे ही आर्तव और गर्भ का भी व्यभिचारी सम्बन्ध होता है—एवं चापि भवेत् पुष्पं गर्भेनाननुबन्धि यत् । गर्भश्चापि भवेत्तद्वदस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि—श्रमो ग्लानिः पिपासा सकथिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनिः ॥ १३ ॥

सद्योगृहीतगर्भा स्त्री के लक्षण—श्रम, ग्लानि, तृषा, टाँगों में थकावट, शुक्र और आर्तव का रुक जाना, तथा योनि का स्फुरण ॥ १३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जो लक्षण वर्णन किये हैं, उन्हें केवल गर्भिणी स्वयं अनुभव कर सकती है, अर्थात् इनके ज्ञान के लिए वैद्य को गर्भिणी के कथन पर विश्वास करना पड़ता है, वह स्वयं इनकी परीक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार के लक्षणों को आत्मप्रत्यय (Subjective) कहते हैं। सगर्भावस्था का निदान करने के लिए इनके ऊपर प्रथमगर्भा स्त्री स्वयं ज्यादा भरोसा नहीं कर सकती, परन्तु यदि वह इनके ऊपर प्रत्येक बार बारीकी से ध्यान दे तो ये उसको गर्भावस्था की निश्चित सूचना दे सकते हैं। वैद्य के लिए ये लक्षण निरर्थक हैं, परन्तु जब अन्य लक्षणों के साथ मिलते हैं तब समर्थन की दृष्टि से इनका उपयोग होता है। सद्योगृहीतगर्भा—इसकी अवधि निश्चित करना कठिन है, तथापि समागम के बाद दो चार दिन से उसके बाद का मासिक धर्म टलने के समय तक (शोणितयोरवबन्धः)

याने कम से कम चार और अधिक से अधिक छः सप्ताह की अवधि 'सप्ता' से समझनी चाहिए। अष्टांगसमूह और अष्टांगहृदय में सुधृत के अनुसार गर्भिणीलक्षण के दो विभाग किये हैं—प्रथम गर्भा। सप्तोद्गीर्णगर्भायाश्च लिप्ता, क्रमेण तु व्यक्तगर्भायाः। इससे यह स्पष्ट है कि प्रथम समूह अव्यक्त गर्भा की के लक्षणों का है, याने गर्भ के आधान से जब तक गर्भ स्त्री या पुरुष की दृष्टि से अव्यक्त रहता है, तब तक का है। यह अव्यक्त गर्भावस्था छः सप्ताह की होती है। इसका उल्लेख पीठे २ अध्याय के ३३वें सूत्र के चतुर्थ में किया गया है, इसलिये ये लक्षण प्रथम छः सप्ताह तक के समझने चाहिए। ये सब लक्षण प्रारम्भिक हैं और अनातंत्र के सिवाय बाकी सब अस्थायी स्वरूप के होते हैं। क्वचित् हृदय स्पन्दन आखिर तक होता है।

प्रमो स्तानि सन्धिसदन्तम्—शुक्र और शोणित का संयोग होने पर स्त्री के शरीर में विद्युत्संयोगजन्य स्तब्धता (Shock) के समान कुछ स्तब्धता आ जाती है। इसके सिवाय उस नये जीव की परवरिश के लिये शरीर की कुछ शक्ति खर्च होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि शुरू शुरू में स्त्री को थकावट महसूस होती है। इस स्थिति को दर्शाने के लिये उपर्युक्त तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनके सिवाय 'धीरवचन, गरिमा, सद्गा, अगसाद्' ये शरक और अष्टांगसमूह के शब्द भी इसी थकावट को दर्शाने के लिये ही प्रयुक्त हुए हैं।

शुक्रशोणितयोरवचनम्—शुक्र च शोणितं च शुक्रशोणिते सयोरवचनम् अप्रवृत्तिः। शुक्रशोणितयोर्योनैरसोऽप्यत्र प्रवेष्टव्यम् । (भावप्रकाश)। शुक्रावचनम्—स्त्री के गर्भाशय से जो एक प्रकार का चिपचिपा छाव होता है, वह छाव गर्भधारणा होने के कारण बंद हो जाता है। यहाँ तककि उसकी अप्रवृत्ति से स्त्री को गर्भाशयमुख में एक प्रकार की खुरकी महसूस होती है। शोणितावचनम्—मासिक धर्म का यह होना (Amenorrhoea)। गर्भ का आधान होने पर यीन किणुपुट (Corpus luteum) का चय नहीं होता, वह धीरे धीरे बढ़ता है। इसलिये आर्तव का छाव नहीं होता। जिन स्त्रियों में मासिक धर्म नियमपूर्वक होता है, उनसे यह लक्षण विशेष महत्त्व का है। जिनमें मासिक धर्म बसे ही अनियमित रहता है, तथा जिनमें पाण्डुरोग, हृद्रोग, रक्तचय (Chlorosis) इत्यादि मासिक धर्म में गड़बड़ी पैदा करने वाले रोग उपरिष्ठ हैं, उन स्त्रियों में इस लक्षण पर विशेष जोर नहीं दे सकते। स्त्री में मासिक धर्म पहले पहले शुरू होने के पश्चात् कुछ मास के लिये उसका छाव अनियमित है या बंद रहता है। अविवाहित स्त्रियों में समागम के बाद गर्भस्थिति के डर से कभी कभी मासिक धर्म बंद होता है। कुछ स्त्रियों में रजोनिवृत्ति अस्थायी में होती है। शोणितावचनम् से गर्भस्थिति का विज्ञान करते समय इन सब गुणों पर ध्यान देना चाहिए। गर्भस्थिति हो जाने पर भी क्वचित् शोणितछाव की प्रवृत्ति (२ अध्याय के २२वें श्लोक का चतुर्थ देखो) प्रथम तीन मासों में देखी जाती है। इन विषय के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि क्वचित् गर्भस्थिति होने पर प्रारम्भिक महीनों में मासिक धर्म हो सकता है, तथापि

प्रायः होता नहीं। कभी कभी जो रक्तछाव होता है वह मासिक धर्म का रक्तछाव नहीं होता, क्योंकि वह उसके समय पर नहीं होता, तथा उसकी राशि, अवधि और संगठन मासिक छाव से भिन्न होती है। इसलिये गर्भधारणा के लक्षण मिलने पर भी यदि गर्भाशय से रक्तछाव होता हो तो उसको मासिक धर्म न समझकर भावी गर्भपात का पूर्वरूप (१० अध्याय का ६वाँ सूत्र और चतुर्थ देखो) मानना चाहिए और उसी दृष्टि से रोगी की परीक्षा करके गर्भपात टालने की कोशिश करनी चाहिए। स्फुरण च योने—नेत्र, बाहु इत्यादि में जिस प्रकार की अनेच्छिक गति कभी कभी होती है, उसी प्रकार की गति योनि में भी होती है। इस प्रकार की गति को स्फुरण (Throbbing) कहते हैं—स्फूर्तिभगे नयेत् । (भावप्रकाश)। जैसे अन्य स्थानों का स्फुरण किसी घटनाविशेष का सूचक होता है—शान्तिमिदं मात्रप्रपद स्फुरति च बाहु कुन फनमिहास्य। अथवा भवितव्यमार्ना द्राणि भवन्ति सर्वत्र ॥ (शाकुन्तल), वैसे ही योनि का स्फुरण गर्भाधान रूप घटना का सूचक होता है। कुछ लोग इससे योनिगत स्पन्दन (Vaginal pulsation) समझते हैं, परन्तु यह अर्थ गलत है। इसका कारण यह है कि स्फुरण वातिक (Nervous) है, जो गर्भाधान के पूर्व या उस समय में हो सकता है, परन्तु योनिगत स्पन्दन योनि में रक्त धिक्च के कारण होता है। यह अवस्था चौथे महीने में होती है और उसी समय यह स्पन्दन योनि में अगुलि प्रवेश कराने से प्रतीत होता है। स्फुरण स्वप्रत्यय है, स्पन्दन परप्रत्यय है।

इन लक्षणों के सिवा शरक और चांगमट अपने प्रयोग में निम्न अधिक लक्षण देते हैं।

हृदयस्पन्दन—विडिल में धडकन (Palpitations)। इसी लक्षण का निर्देश अष्टांगहृदय में 'हृदयव्यथा' करके किया गया है। यह लक्षण प्रारम्भ से अन्त तक हो सकता है, परन्तु इससे डरने का कारण नहीं होता, क्योंकि यह हृदय के वास्तविक विकार से न होकर प्रारम्भ में हृत्तास वमनादि पचनसहायन की खराबी के कारण, भय में हृदयवृद्धि और उसकी क्षीणगति के कारण और अन्त में बढ़े हुए गर्भाशय के दबाव के कारण होता है। सर्भाशयत्वा में गर्भाशय, गर्भ, स्तन इत्यादि अंगों की वृद्धि होती है। इनकी वृद्धि का दबाव पड़ने के कारण, रक्तनिरीध (Blood pressure) बढ़ने के कारण, रक्त की राशि बढ़ने के कारण हृदय को अधिक काम करना पड़ता है, जिससे उसकी गति तेज होती है तथा उसकी आकारवृद्धि भी हो जाती है। जब हृदय अविष्टृत होता है तब तो यह गर्भाशय के अधिक काम को मन में होश सकता है, परन्तु जब यह पहले ही विष्टृत, वितोषयता कपाटों की खराबी से (Valvular disease) रहता है तब विष्टृतिम्युनाधिकता के अनुसार गर्भाशय में, प्रसूति के समय में या प्रसूति के पश्चात् जबाब देता है और माता की मृत्यु हो जाती है।

स्त्री प्रसव—कामवासना की वृत्ति और मन का सतोष—प्राप्तव्यविश्रमा रतानपिशापना शरीरधीरता वा । (हनु)। गर्भधारणा होने से स्त्रियों की कामवासना स्वभाव से ही कम हो जाती है—

Sudden wanting of the sex urge has been sugg

ested as an early sign of pregnancy. *Middle of Sex.*

क्याँत जो अपत्यायी स्त्री है, उसमें ये लक्षण मिल सकते हैं। जो शरीरसुख चाहती है उसमें न वृत्ति हो सकती है, न मन प्रसन्न हो सकता है, परन्तु कभी कभी मन विगड़ जाता है और वह चिचिपी, तेजसिजाज घनती है—निष्ठाविका, हलासः, आस्यसंतवणम्, अनप्राप्तितापः, छदिः, श्रोत्रकः, अन्तःकामिता च विशेष्येय । (चरक) । गर्भस्थिति होने पर पचनसंस्थान में उथलपुथल होने से मुँह में पानी भरना, जीचिलना, भूल नष्ट होना, मिट्टी सङ्घे पदार्थ इत्यादि खाने की इच्छा होना ये लक्षण होते हैं। निष्ठाविका, आस्यसंतवण, छदि, हलास इनको प्रातरस्वास्थ्य (Morning sickness) कहते हैं। यह अवस्था प्रातःकाल उठने पर मालूम होती है। श्रोत्रक, अन्तःकामिता—स्वाभाविक स्वाद्य द्रव्यों के लिए शरुचि और मिट्टी, भस्म, चूना, सङ्घे पदार्थ इन अस्वाभाविक पदार्थों के लिए अभिलाषा। इस लक्षण को दोहड़ (Pica या Longings) कहते हैं। ये सब लक्षण द्वितीय मास में उत्पन्न होते हैं। कभी बहुत जल्दी मिट जाते हैं और कभी दो तीन महीनों तक जारी रहते हैं। इसलिये इन लक्षणों का निर्देश स्वतन्त्र गर्भा के लक्षणों में भी मिलता है। नीचे अंग्रेज प्रयंकार का जी उद्धरण दिया है, यह उपर्युक्त आयुर्वेद के सूत्र का गोया उल्टा मालूम होता है।

There are two sets of symptoms or signs of pregnancy. One is subjective and the other is of more tangible character. To the first category belongs a certain feeling of tiredness, dizziness, heart palpitation nausea and vomiting (morning sickness), a sickening dislike of ordinary foods, and a longing for spices and indigestible ingredients. These symptoms may appear quite early in pregnancy. As a matter of fact, they may form the first suspicion of having 'been caught.' *Middle of Sex.*

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा ।

अक्षिपवमणिं चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः ॥१४॥

अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्भिजते शुभात् ।

प्रलेकः सदन चापि गभिण्या लिङ्गमुच्यते ॥१५॥

(व्यक्तगर्भा स्त्री के लक्षण—) विशेषतया उसके दोनों स्तनों पर कालापन (आ जाता है), (शरीर पर) रोमराजियों का उद्भव (होता है), आँसुओं के पलकों का बन्द होना ॥ १४ ॥ विना कारण घमन, शुभ गन्धों से उद्देग, मुख में लालासाव और थकावट ये गभिणी के लक्षण होते हैं ॥ १५ ॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में व्यक्तगर्भा स्त्री के अर्थात् दूसरे महीने के अन्त से होने वाले (पीछे १३ वें सूत्र के वक्तव्य का प्रारम्भिक भाग देखो) लक्षण वर्णन किये हैं। स्तनयोः कृष्णमुखता—गर्भाधान होने के छूटे सप्ताह के बाद स्तनों की ओर अधिक रक्त जाने लगता है। यह रक्ताधिकता संपूर्ण गर्भावस्था में तथा प्रसूति के पश्चात् दूध पिलाने के काल में बराबर जारी रहती है—धमन्यः संवृत-

द्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः । तासामेव प्रजावानां गभिणीनां च ताः पुनः । स्वभावादेव विवृता जायन्ते ॥ (निदान, अध्याय १०) । इस रक्ताधिक्य का परिणाम स्तनगत दुग्धग्रन्थियों और नालियों की छुट्टि में जाने पर्याय से स्तनों की पुष्टता में होता है—स्तनों पीनी। (अष्टांगहृदय) । तस्माद्गभिण्याः पीनीभवत्पयोधरा भवन्ति ॥ (शारीर ४२३) । प्रसूति के पश्चात् इसी रक्ताधिक्य का परिणाम स्तनयोःपत्ति में होता है (आगे १० वें अध्याय के १३ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) । रक्तपुष्टि और पुष्टता के कारण स्तनों में गुदगुदी के समान कुछ खास संवेदना मालूम होती है, तथा स्तनों पर फूली हुई सिराओं का जाल भी दिखाई देता है। तीसरे महीने के आखिर से स्तनों को दवाने से एक गाढ़ा द्रव निकलने लगता है और यही द्रव उत्तरोत्तर अधिकाधिक होता है। इसको स्तन्य कहते हैं—स्तनी सतन्योः । (अष्टांगहृदय) । इस गाढ़े द्रव को वास्तव में पीयूष (खीस Colostrum) कहते हैं (आगे १० वें अध्याय के १४ वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । कार्ण्यम्—तीसरे महीने के प्रारम्भ से चूचुक मोटे होते हैं, उनके चारों ओर का मण्डल (Areola) उभर आता है और कुछ काला पड़ जाता है—स्तनमण्डलयोश्च कार्ण्यम् । (चरक) । स्तनमण्डलकृष्णत्वम् । (कारयप-संहिता) । चूचुक और मण्डल दोनों मिल कर बन्दर के काले मुँह की तरह स्तनों के मुत्त के समान दिखाई देते हैं, इसलिये लिखा है—स्तनयोः कृष्णमुखता । इसके सिवा मण्डल में जो नन्हीं नन्हीं ग्रन्थियाँ होती हैं, वे (Montgomery's follicles) भी उभर आती हैं। प्रथम गर्भावस्था में मोटी होने पर वे सदा के। ए वैंसी ही रहा करती हैं। चूचुकमण्डल का कालापन गर्भपुष्टि के साथ अधिकाधिक हो जाता है तथा उसमें कुछ चमकीलापन भी आ जाता है—दिनेषु गच्छन्तु निवान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् । (रघुवंश ३१८) । पांचवें और छठे महीने में कभी कभी स्तनमण्डल के बाहर भी कुछ कालापन आ जाता है। यह एक सा नहीं होता; कहीं अधिक कहीं कम होने से छत्तेदार (Mottled or honey combed) दिखाई देता है। इस मण्डल को द्वितीयक (Secondary) और चूचुकमण्डल को प्राथमिक (Primary) कहते हैं।

स्तन और गर्भाशय में गाढ़ा सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं। गर्भाशय में गर्भ का आधान होने पर स्तनों में उपर्युक्त परिवर्तन प्रारम्भ होते हैं। ये परिवर्तन कैसे होते हैं, इनके सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान नहीं है। तथापि यह माना जाता है कि गर्भ की अपरा और वीजकोष के अन्तःस्त्राव से प्रोजेस्टिन (Progesterin) और ओस्ट्रिन (Oestrin) नामक (आगे ३९ वें सूत्र के वक्तव्य में अपरा के कार्य देखो तथा १० वें अध्याय के १३ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) पदा बनते हैं, जो रक्त के द्वारा स्तनों में प्राप्त होकर उपर्युक्त परिवर्तन कराते हैं। अष्टांगसम्ग्रह के निम्न वचन में तथा चौथे अध्याय के ३३ वें सूत्र में (उसका वक्तव्य देखो) यही सम्बन्ध पर्याय से बताया गया है—जराशुशेषं चोर्ध्वमसूक्तं प्रतिपद्यते । तस्मात् पीनकपोलपयोधरता कृष्णोष्ठचूचुकत्वं च । ये स्तनगत परिवर्तन गर्भावस्था के निश्चयात्मक लक्षण नहीं हैं, क्योंकि वीजकोष के अर्बुद (Ovarian tumour), रक्त-

गुल्म (Uterine fibroids) और मिथ्या गर्भावस्था (Pseudo-cystis) में भी ये मिलते हैं—स्नानमण्डलकृष्णव रोमरानि सदोद्भवा । गभिलोरूपमन्वयक भजते सर्वमेव तु ॥ विपाकपाण्डु कारधानि भवन्त्यन्वयधियानि तु ॥ इत्येव लक्षणं स्त्रीणां रक्तगुणम प्रचक्षते ॥ (कार्यवसंहिता, गुल्मचिकित्सिताध्याय) तथापि इन लोगों में स्तनगत सिराजाल प्राय नहीं होता । इसलिये कुछ चिकित्सक स्तनगत सिराजाल को अन्य परिवर्तनों की अपेक्षा गर्भावस्था का सूचक मानते हैं । रोमरानुद्गम—श्रिया नाभिरथो रोमरानि प्रादुर्भवति । (इन्दु) । गर्भावस्था में बालों की वृद्धि होती है, जिससे गुच्छांग के केश अधिक लम्बे और कुटिल हो जाते हैं—योनिरोम्वां सलुनन्म् । (अष्टांगसंग्रह) । Changes in the skin are seen during pregnancy in several directions Increased growth of hair Ten Teacher's Midwifery

अनामनश्चन्द्रयति इत्यादि—इसके मिश्राय 'ब्रह्मप्रणयन मखानचेतु भावेतु । ये स्य लक्षणं दूसरे महीने में शुरू होते हैं और चौथे, पाँचवें महीने तक जारी रहते हैं । इसलिये इनका निर्देश यहाँ किया गया है । ये स्य लक्षणं गर्भं स्थापना के कारण मरिचिकार्थस्थान में उत्पन्न हुई खलबली के परिणाम हैं । गन्धादुद्दिजते शुभात्—यह केवल उपलक्षण है (स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वैतरप्रतिपादकत्वम्) । इस लिये रूप, रस, वाग्द, स्पर्श इनके सम्बन्ध में भी वैपरीत्य आ जाता है । इसी लक्षण का सामान्य निर्देश चरक और अष्टांगसंग्रह में 'ब्रह्मप्रणयनमुचावचेतु भावेतु' करके किया गया है । उचावचेतु इति उचनीचेतु मक्षशीयत्वेन कृतेषु चाकृतेषु चेत्यर्थः । (चक्रपाणिदत्त) । तेषु तेष्वनुत्कोषपि स्वकल्पितेषु नानाविधेषुचावचेतुभिनयिते । भावेष्वाहारविहारभयपयोमिथ्यमिलाप इति । (इन्दु) । इसका अभिप्राय केवल यही है कि गर्भिणी की इन्द्रियार्थं अभिलाषा में कुछ असाधारण वैपरीत्य आ जाता है—

The above symptoms may be associated with disturbances of sense organs, affecting taste, smell and sight Riddle of New

इस विषय का कुछ अधिक विवरण आगे २५ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है ।

इन लक्षणों के अतिरिक्त गर्भस्थिति के और कई लक्षण माता में दिखाई देते हैं । इनका सचेप में विवरण यहाँ दिया जाता है ।

गर्भस्पर्शनप्रतीति—इसको फक्काव (Quaking) कहते हैं । इसका अभिप्राय है माता को गर्भ की हल चल का ज्ञान होना । यह लक्षण सर्वप्रथम चौथे महीने के आखिर से पाँचवें महीने के मध्य तक होता है । साधा रणतया गर्भस्पर्शन की प्रथमप्रतीति का काल १० वें सप्ताह माना जाता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि गर्भ में प्रथमस्पर्शन इस समय होता है । स्पर्शन इससे बहुत पहले शुरू होता है—तस्मात्तन (चतुर्थमासमात्र) प्रभुनि गर्भं स्पर्शते । (चरक) । स्पर्शते चचरति । (चक्रपाणिदत्त) । तस्याश्चतुर्थे भूमि चतसरादभिम्रायं करोति । (मिताचारा) । अर्थात् गर्भ में हलचल चौथे महीने से शुरू होती है, परन्तु उस समय गर्भमातृ उदरमाथीर से स्पर्श न करने क

कारण तथा गर्भ के स्पर्शन बहुत हलके होने के कारण माता को उसका ज्ञान नहीं होता । पाश्चात्य पश्चिंतों का भी यही कथन है कि गर्भस्पर्शन की प्रथमप्रतीति से बहुत समय पहले कि उसी समय गर्भ में प्रथम स्पर्शन शुरू होता है—

This means—the first time that the mother is able to appreciate foetal movement. This does not mean first foetal movements Ten Teacher's Midwifery

अनुभवहीन प्रथमप्रसवा की Primipara) गर्भस्पर्शन को ठीक नहीं समझ सकती, परन्तु अनेकप्रसवा स्त्री (Multi-para) इसको ठीक समझ सकती है । आन्त्र की गति तथा आन्त्रगत वायु से भी गर्भगति के समान संवेदना हो सकती है, इस बात का ध्यान रखना चाहिए । जब आर्तवदर्शन के काल का ठीक स्मरण नहीं होता अथवा जब आर्तव दर्शन के मिश्राय गर्भधारणा होती है, जैसे कि प्राय प्रसूति के बाद हुआ करती है, तब गर्भस्पर्शन प्रतीतिकाल का उपयोग प्रसवकालनिर्णय के लिये किया जाता है । जिस सप्ताह में गर्भस्पर्शन प्रथम प्रतीत हो, उसके चयापन सप्ताह के बाद प्रसवकाल होता है, यह नियम है ।

वाष्पम्, कालापन Pignosity—स्तनों के कालापन का उल्लेख ऊपर किया गया है । स्तनों के आंतरिक शरीर के अन्य अंगों पर भी कुछ कालापन आ जाता है । चेहरे पर, आँखों के नीचे, नासापात्रिक के आसपास और होंठों पर कालापन आ जाता है—श्लेष्मो स्तनमण्डलकोश वाष्पम् (चरक) । धगल के आसपास भी कुछ कालापन आता है उदर पर भगस्थि से नाभि तक, कश्चित् कौडीप्रदेश तक एव अभित रेखा (Linea nigra) धनती है । उपासे में भी कर्म कमी कालापन आ जाता है । यह कारण प्रत्येक स्त्री में एक सा नहीं होता, किन्तु में कम, किसी में अधिक होता है । उदर और स्तनों का कालापन प्रसूति के पश्चात् भी पूर्णतया नष्ट नहीं होता ।

उदरवृद्धि—गर्भाधान होने पर पहले दो महीने में गर्भासय भोगिगुहा में नीचे खला जाता है, जिससे उदर कुछ सपाट या निम्न हो जाता है । गर्भ की अधिक वृद्धि होने पर गर्भासय भोगिगुहा में रह नहीं सकता, धीरे धीरे ऊपर चढ़ता है, जिससे उदर भी धीरे धीरे श्वे महीने के अन्त तक बढ़ता जाता है । दसवें महीने में फिर कुछ कम हो जाता है ।

उदर पर किङ्किताभिति—गर्भासय के बढ़ने के कारण उदर की त्वचा तनने से उपवस्था फट जाती है, जिससे उदर पर दरारें मी पद्म होती हैं । इन्हें किङ्किट कहते हैं—गर्भयोतोडिना दोषास्तस्मिन् इदमभिमिना । वण्डु विदाह कुर्वन् गभियाम् किङ्किताभि च ॥ (अष्टांगसंग्रह) । किङ्किट सधर्मविदरणम् । (चक्रपाणिदत्त) । अस्सनीनोदरं भवित्रिशेषे रेखाकारास्तस्मात् प्रायो ये जानन्ते वै किङ्किटसर्गा ॥ (अष्टांगसंग्रह) । उदरमाथीर अत्यधिक तनने के कारण किङ्किट उत्पन्न होते हैं, इसलिये आखिर के तीन महीनों में दिमाईं देते हैं । गर्भावस्था के सिवाय जलादर, बीजकाप कोष्ठ Ovarian cyst इत्यादि उदरवृद्धजनक रोगों में भी किङ्किट उत्पन्न होते हैं । जैसे कि अष्टांगसंग्रह ने कहा है उदर क सिवाय

ऊरु और अतिवृद्धि के कारण स्तनों पर भी किक्लिस उत्पन्न होता है । इसको गर्भरेखा (Stria gravidarum या Lineae gravidarum) कहते हैं ।

The stretching of the skin of the breasts sometimes produces stria like those seen on the abdomen. *Ten Teacher's Midwifery.*

किक्लिस नाभि-भगास्थि रेखा के दोनों ओर समानान्तर समकेन्द्र वृद्धि रेखाएँ होती हैं । इनकी संप्राप्ति जैसे कि चक्रपाणिदत्त ने बतलाई है, वैसे ही होती है—

They are produced by the tearing apart of the subepidermal elastic fibres. *Gellets Midwifery.*

प्रथम गर्भावस्था में जब ये रेखाएँ पहली बार बनती हैं तब गुलाबी या वैंगनी रंग की होती हैं, परन्तु पीछे सफेद हो जाती हैं, और एक बार बनने पर पुनः लुप्त नहीं होतीं । इनके श्वेत वर्ण के कारण यह (Lineae Ibcantes) श्वेत रेखाएँ भी कहलाती हैं । इनकी उपस्थिति भूत गर्भावस्था का एक लक्षण है । नाभि—जलोदर में नाभि में जो परिवर्तन (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३५९ देखो) होते हैं, वे ही परिवर्तन गर्भवृद्धि के कारण नाभि में होते हैं । प्रथम तीन महीने में नाभि गहरी होती है, परन्तु उसके बाद वह धीरे धीरे क्रम से उथली, सपाट और बाहर की ओर निकली हुई होती है । गर्भाशयवृद्धि—गर्भस्थिति का यह एक प्रधान लक्षण है ।

गर्भ के बिना अन्य किसी भी कारण से गर्भाशय क्रम से नहीं बढ़ता । प्रथम तीन महीने में गर्भाशय बढ़ने पर भी श्रोणिगुहा में छिपा रहता है । चौथे महीने के अन्त में उसका किनारा भगास्थि और नाभि के बीच में आता है । पाँचवें महीने के अन्त में नाभि के नीचे दो अंगुल, छठे महीने के अन्त में नाभि के बराबर, सातवें महीने के अन्त में नाभि से तीन अंगुल ऊपर, आठवें महीने के अन्त में नाभि और उरःफलकाग्रपत्र (Uteriform cartilage) के बीच में, नौवें महीने के अन्त में उरःफलकाग्रपत्र तक और दसवें महीने में गर्भाशय कुछ नीचे उतर आता है और कुक्षि में कुछ शिथिलता आ जाती है—शिथिलकुक्षिता । (अष्टांगसंग्रह) । उस समय गर्भाशय का ऊपर का किनारा आठवें महीने के बराबर होता है (पाँचवें अध्याय के ५१ वें श्लोक का वक्तव्य तथा १० वें अध्याय का ५ वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो) । जब मासिक धर्म की तारीख याद नहीं होती, तब इस क्रम-वृद्धि का उपयोग गर्भस्थिति का काल तथा प्रसवकाल निश्चित करने के लिए किया जाता है । एलिस मेकेडोनवड ने यह नियम बनाया है कि भगास्थि से गर्भाशय के ऊपर के किनारे तक सेन्टीमीटर में जो नाप मिलता है, उसको साढ़े तीन से भाग देने पर जो फल मिलता है, वह गर्भस्थिति का मासिक काल बताता है । जैसे, यदि गर्भाशय भगास्थि से १७.५ सेन्टीमीटर ऊँचा हो तो गर्भधारणा के पश्चात् पूरे पाँच महीने व्यतीत हुए हैं, ऐसा समझना चाहिए । पादशोफ, सिराकुटिलता—गर्भाशयवृद्धि के कारण श्रोणिगुहा के भीतरी सिराओं के ऊपर दबाव पड़ता है, जिससे रक्तप्रवाह में कुछ बाधा उत्पन्न होती है, सिराओं में रक्त सञ्चित होता है और सिराएँ कुटिल (Varicose) हो जाती हैं । यह परिणाम विशेष करके गुदा की सिराओं में

होकर अशं. उत्पन्न होता है—गर्भवृद्धिप्रपीडनात् । जायन्ते-शोसि । (अष्टांगसंग्रह) । सगर्भावस्था में मलाबरोध प्रायः होता है, इससे अशोषपत्ति में सहायता होती है । इसके सिवाय योनिद्वार और पैरों की सिराएँ भी कभी कुटिल हो जाती हैं । गर्भावस्था में गर्भ, गर्भाशय, स्तन इत्यादि अङ्गों की वृद्धि के लिए माता के शरीर में रक्त को राशि अधिक होती है । परन्तु उस रक्त में लाल कणों की कमी और जल की अधिकता (जलरक्तता Hydraemia) होती है, जिससे पैरों पर कुछ सूजन आ जाती है—श्वयथुः पादयो-रीपत् । (चरक) । रक्तकणों की कमी के कारण शरीर पर कुछ पाण्डुता भी आ जाती है—मुखेन सालक्ष्यत लोभ्र-पाण्डुना । तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ (रघुवंश ३२) ।

क्षामता—शरीर का काश्यं (अष्टांगहृदय) । गर्भावस्था के प्रारम्भिक महीनों में वमन, भूख ठीक न लगना, गर्भवृद्धिभार इत्यादि कारणों से माता कुछ कृश हो जाती है । कुछ स्त्रियों में यह कृशता बहुत ही अधिक हो जाती है, परन्तु आगे जाकर यह कृशता दूर हो जाती है और स्त्री पहले से भी अधिक पुष्ट और सुन्दर दिखाई देती है—शरीरसादादसमभ्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोभ्रपाण्डुना । तनु-प्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथा प्रचीयमानावयवा रराज सा । पुराणपत्राप-गमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ (रघुवंश ३) । यह प्रचीयमानावयवता मुख, ग्रीवा, स्तन, उदर, ऊरु, नितम्ब इत्यादि में चरवी का सञ्चय होने से उत्पन्न होती है ।

Whilst a certain emaciation not infrequently occurs in the first months, after the middle of pregnancy the figure becomes fuller, the appearance more blooming the conformation of the body stouter and the gait heavier. *Ideal Birth.*

योनि में परिवर्तन—(१) गर्भस्थिति के कारण गर्भाशय के अनुसार योनि में भी रक्तसञ्चार अधिक हो जाता है तथा गर्भाशय के भार के कारण उसके रक्तसञ्चार में कुछ बाधा भी उत्पन्न होती है । गर्भाशयभार और अधिक रक्तसञ्चार के कारण योनि की भीतरी रक्वा वैंगनी रंग की हो जाती है । यह रंगपरिवर्तन तीसरे महीने से शुरू होकर पाँचवें महीने तक अधिक से अधिक होता है और प्रसवकाल तक रहता है । रक्तगुल्म (Fibroids) बीजकोपग्रथि इत्यादि विकारों में यर्षाप योनि में रंगपरिवर्तन होता है तथापि गर्भस्थिति में सबसे अधिक होता है । इसलिए योनि का रंगपरिवर्तन गर्भस्थितिसमर्थक लक्षण माना जाता है । (२) गर्भस्थिति के कारण योनि शिथिल, ढीली, चौड़ी भी होती है—योन्वाक्षाटालत्वमिति । (चरक) । चाटालत्वं विवृतत्वम् । (चक्रपाणिदत्त) ।

The tissues of the vagina become relaxed, loose and hanging in folds. *Ten Teacher's Midwifery.*

इस विघृति का उपयोग आगे जाकर प्रसूति के लिए होता है । (३) रक्तसञ्चार अधिक होने के कारण योनि में अंगुलियों को प्रविष्ट करने पर स्पन्दन (Vaginal pulsation)

प्रसन्न होता है। आयुर्वेद के 'स्वर्गं न लेने' (शरक) ह्य लक्षण का यह अर्थ नहीं है। (४) गर्भावस्था में योनि में याव अधिक रहता है। यह याव योनि की दीवाल और गर्भाशयप्रतीका से आता है। यह रवेनवर्ग, घिरघिगा, कुत्र गात्रा और प्रतिभिया में अश्ल होता है। ह्य अश्ल प्रतिभिया के कारण अण्डमार्ग में विकारी जीवाणु नहीं रह सकते। (५) हेगर या घिः। Hezar's Sign — यह चिह्न गर्भाशय के छत्रे ससाह से दमवें ससाह तक मिलता है, और इस तथ पर निर्भर होता है कि गर्भ ह्य समय में गर्भाशय के ऊपर के हिस्से में रहता है और गर्भाशयशरीर का निचला हिस्सा अत्यन्त मृदु होता है और प्रीता कुछ कड़ी हाती है। सचेप में तीनों अंग स्वर्ग में भिन्न धनता के मादम होते हैं। इस चिह्न को अनुभव करने के लिए एक हाथ की दो अंगुलियाँ योनि के भीतर गर्भाशयप्रतीका के ऊपर रखनी चाहिए, और ऊपर से दूसरे हाथ की अंगुलियों द्वारा गर्भाशय और उसका निचला हिस्सा टटोलना चाहिए। इससे ऊपर का हिस्सा गोल और स्थितस्थापक, नीचे का हिस्सा, जहाँ दोनों हाथों की अंगुलियाँ बिलकुल मिली हुई ही प्रतीत होती है, अथवा तन्म; और प्रीता का भाग कुछ कठिन मादम होगा। इन तीन बातों पर हेगर का चिह्न निर्भर होता है, केवल मध्यभाग की अतिमृदुता पर नहीं। गर्भावस्था के प्रारम्भक काल में उमका निष करने के लिए हेगर का चिह्न एक महत्त्व का साधन है। अथ तक वर्णन किये हुए लक्षण गर्भ के कारण माता के शरीर में उत्पन्न हुए परिवर्तनों पर निर्भर होते हैं। ये परिवर्तन अन्य कारणों से हो सकते हैं। इसलिए उपयुक्त लक्षण गर्भावस्था के सिवाय अन्य अवस्था में भी मिलते हैं। जने, पाण्डुरोग राजयक्ष्मा में अनातर्व, अग्रमांघ में अरोचक, छुदि ह्यादि; जल द्र में उदरउद्वि, पादशोथ, अर्श ह्यादि; रक्तगुहम में गर्भाशयवृद्धि। कुछ लक्षण गर्भ के अस्तित्व की सिद्धि पर निर्भर होते हैं। इनका विचार आगे ३२ वें सूत्र क वक्ष्य में किया गया है।

तदा प्रभृति व्ययायं व्यायानमनितर्पणमतिकर्शन दिगास्त्वन गतिजागरण शोक यानारोहण भय मुःफट्टकासन चैकान्ततः स्नेहादिभ्रिया शोणत मोक्षण चाचक्षे वगदिधारण च न सेवेन ॥ १८ ॥

(गमिणीव्ययवृत्त) तब से (गमिणी स्त्री) मधुन, व्यायाम, अतिनर्पण, अतिकहन, दिन में सोना, रात को जगना, शोक, यानों पर सवारी करना, सीने, उकड़ खेना इनको कदापि भी और स्नेहाद क्रिया, रणमाचण और वेगविधारण इनको अकाल में सेवन न करे ॥ १६ ॥

वक्ष्य—इस सूत्र में गमिणी का स्वस्ववृत्त Hygiene of pregnancy सचेप में वर्णन किया है। तदा प्रभृति—जब उपयुक्त 'ध्रमे स्थानि' ह्यादि लक्षणों से स्त्री की लगभग वस्था का निश्चय हो जाय, तब से। व्यायाम—आयुर्वेद और धर्मशास्त्र का यह एक साधारण नियम है कि आतवदशन के पश्चात् शत्रुकाल में स्त्रीसमागम करना चाहिए—शत्रु

बान्धनगामी रयात्। (मनु)। अर्थात् यदि किसी कारण से आतवदशन न हो तो स्त्रीसमागम न करना चाहिए, यह उपयुक्त नियम से अनुमान होता है। स्त्री में गीन अनातर्व (Secondary amenorrhoea) ब्याधि या लगभगवस्था के कारण होता है। ब्याधितावस्था में समागम करने से उमकी ब्याधि बढ़ती है, दुर्बलता बढ़ती है, और उभी में यदि लगभगारण हो जाय तो माता की ब्याधि से गर्भ का नाश और गर्भ के कारण माता की ब्याधि की वृद्धि इस तरह दोनों का नाश होता है। यदि स्वस्थ स्त्री गमिणी होने पर उनसे समागम किया जाय तो गर्भ को हानि पहुँचने की बहुत कुछ सम्भावना होती है, जिससे गर्भपान, मृदुगमता Mal presentation of the fetus मृदुगम मृदुगम न में मधुन एक कारण है। प्रथमलक्षण १४ ३१० (ह्यो) ह्यादि आधित्या उत्पन्न होती हैं, और इनके कारण माता का स्वास्थ्य गिर जाता है। इसलिए गमिणी और ब्याधित स्त्री ब्यवाय क लिए निषिद्ध मानी गई है—या ब्याधिप्रतीकानाम्। गमिणी नोपिवात् प्रमदा मः। गमिण्यां गर्भ-पीन स्वात् ब्याधिगारां वलचपः। (सुश्रुत)। आम तौर से गर्भवती स्त्री को भी मधुन की इच्छा नहीं होती, इस बात का उल्लेख पीछे १३ वें सूत्र के वक्ष्य में 'दृष्टि' लक्षण के विवरण में किया गया है। इसलिए गमिणी स्त्री के साथ समागम कदापि न करना चाहिए—

If the menses do not appear, it is a sign that conception has taken place and the expectant mother must therefore avoid from all approach through the whole period of pregnancy and nursing. Every time a husband excites in his wife the sexual passion, he robs his child of some portion of its vitality, and her of some of the strength she needs. *Eastern Obstetrics* by Dr. Nicholas

परन्तु सात डेर सात के लिए ब्रह्मचर्य पालन पुरुष के लिए कठिन होता है और कश्चित् स्त्री को भी अभ्यास से मधुनेच्छा हाती है। इसलिए यदि स्त्री को पीदा न हो तो उसकी इच्छा होने पर कभी कभी सावधानी से ७ वें ८ वें मास तक मधुन कर लिया जाय, ऐसी पाश्चात्य शास्त्रज्ञों की राय है—

There is no harm in sexual relations during gestation, provided the special condition of the female partner is respected. Violence and over-indulgence is a menace to mother and fetus. In some under-developed individuals abortion may follow in occurrence in early pregnancy. *Riddle of Sex*

सावधानीपूर्वक सुश्रुत के अनुसार एकान्त ब्यवायनिषेध न करके 'ब्याधिव्याय स्वजेद' (अष्टांगहृदय) ऐसा मध्यम एक बताते हैं, और स्मृति में छ महीनों तक ब्यवाय करने से धर्महानि नहीं हाती, ऐसा स्पष्ट लिखा है—व्यायान् कान्ते त्वो मुखिणोवै वै सिवत्। अन्तजननान्दुःखमेव धर्मो न हीदते ॥ (अश्वस्तृति)। गर्भवती स्त्री के साथ एकान्त ब्यवायनिषेध न करने के लिए पाश्चात्य शास्त्रज्ञ और

एक युक्ति बताते हैं । यह यह है कि योजन में गिरा हुआ पुरुष का शुक्र यहाँ से हमेशा शोषित होता है और रक्त में मिलकर स्त्री के शरीर को पुष्ट करने में सहायता करता है । गर्भवती अवस्था में यह शोषण और भी अधिक होता है और स्त्री के तथा गर्भ के पोषण में सहायता करता है—

If a woman is pregnant a stronger absorption of the substances introduced into the vagina takes place. Since the spermium, a chemical compound contained in the semen, has a favourable invigorating effect on the organism, the influence of the absorption of semen may be favourable to both mother and child. And this influence must, as a rule, be recognised as desirable. *Ideal Birth.*

इस विवरण का तात्पर्य यह है कि यदि स्त्री का स्वास्थ्य ठीक न हो, उसकी हृच्छा न हो, मैथुनकर्म में उसे शारीरिक पीड़ा होती हो तो मैथुन एकान्तता: वर्ज्य करना चाहिए । इसकी विपरीत अवस्था में सावधानी से कभी कभी मैथुन करने में आपत्ति नहीं है । अतिमैथुन और अन्निस दो महीनों में मैथुन सर्वथा वर्ज्य करना चाहिए । **वर्ज्यः—** म्यायाम से यहाँ दौड़ना, नाचना, कूटना, फंदना, जियमें शारीरिक हलचल अकस्मात् करनी पड़े ऐसे कर्म, जियमें थकावट हो, हाँफनी हो, दिल में धक्कन हो, गर्भ में फटकाव उत्पन्न हो, अधिक देर तक खड़े रहने की आवश्यकता हो, ऐसे द्वाद्दग अनुचित शारीरिक कर्म अभिप्रेत हैं—**मागानुचिञ्चन्याथामनेऽस्थ्याः । (चरक) ।** सम नवः शरणाथ श्रेताः । (अष्टांगसंग्रह) । मामूली घर के काम-काज करना, चलना फिरना, खुली स्वच्छ हवा में टहलना इस प्रकार के हलकें शारीरिक परिश्रम स्वास्थ्य के लिए फायदेमन्द होते हैं । इनसे शरीर में स्फूर्ति होती है, पेशियों कार्यक्षम होकर प्रकृति में ऋष्ट नहीं होता । गर्भिणी स्त्री को आलसी होकर रहना ठीक नहीं है । अतिवर्ज्यमितिर्गर्भकर्म—इसका अभिप्राय यह है कि गर्भिणी स्त्री अतिमात्रा में तथा अल्पमात्रा में आहार सेवन न करे । अपने ओर गर्भ के पोषण के लिए आवश्यक जितना आहार चाहिए, उतना ही सेवन करे—**मोहनं शीतमात्रं तु न वलीपनार्थसं । अतिमात्रं पुनः सर्वानामुद्योषान् प्रक्षोषयेत् ॥ (अष्टांगहृदय) ।** गर्भिणी का आहार-संबंधी विशेष विवरण दूसरे अध्याय के दूसरे तीसरे सूत्र तथा उसके वक्तव्य में किया गया है । शोकं भयम्—इससे शोक, क्रोध, असूया, ईर्ष्या, भय, उद्वेग, त्रास, चित्तसंशोभ इत्यादि मानसिक विकार अभिप्रेत हैं । इसका मतलब यह है कि गर्भिणी स्त्री ऐसे कर्म न करे, ऐसी बातें न सुने न करे, ऐसे दृश्य न देखे कि जिससे उसके चित्त में उपर्युक्त विकार उत्पन्न हो जायँ—**दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, क्रोधभयसंकराश्च भावान् परिहरेत् । (सुश्रुत, शा० १०) ।** इन मानसिक विकारों का गर्भ के ऊपर प्रत्यक्ष क्या परिणाम होता है, इसका निश्चित उत्तर देना आज भी कठिन है । परंतु आयुर्वेद के अनुसार पाश्चात्य पण्डितों का भी कथन है कि सगर्भावस्था में स्त्री का मन और मस्तिष्क अनवस्थित होता है, जिससे क्रोध शोकादि अवस्थाओं का डरा

असर उसके शरीर पर जल्दी होकर गर्भ के ऊपर भी होता है; इसलिए इन मानसिक विकारों से गर्भवती स्त्री दूर रहे—

A pregnant woman should be shielded as far as possible from all worry and excitement. *Ten Teacher's Midwifery.* A pregnant woman should never be told tales of horror, and the tales of difficult labour are especially to be avoided. The connection between shock and fear, sudden change in the adrenalin content of the blood is known to us, we further know that a constant exchange of matter between the maternal blood and that of the child takes place. And therefore we can very well imagine that in this way the child feels the reaction of what occurs in the mother. *Ideal Birth.*

यानावरोधकम्—जिस यान या वाहन से संशोभ (Joking) उत्पन्न होता है, उस यान या वाहन पर चढ़ना—**अनिनाश-संशोभनाशनाशम् । (अष्टांगसंग्रह) ।** अनिनाश-संशोभनाशनाशम् । (चरक) जैसे, घोड़ा, बंगलाड़ी स्वयं संशोभी होते हैं, इसलिए इन पर न चढ़ना चाहिए, चाहे रास्ता ठीक हो या गराव हो । साईकल, मोटर स्वयं संशोभी नहीं हैं और उत्तम पथी सड़क पर कुछ भी संशोभ पैदा नहीं होता, इसलिए इन पर सवारी करने में हरजा नहीं है । परंतु जय सराव सड़क होती है तब उन पर घोड़े या बंगलाड़ी से भी अधिक शोभ उत्पन्न होता है; इसलिए सराव सड़क पर इन पर सवारी नहीं करनी चाहिए । मनुष्यवाहन पालकी या म्यान पर सवारी करने में कभी भी आपत्ति नहीं होती । आखिरी दिनों में यानावरोधन न करना हां प्रशस्त होता है । **उत्कट-कामनः—**उत्कटाग्निसमायोगः प्राणोत्कटकामनम् । परे और सपिय के बल घटना (अवसवियकासन) या उकट घटना (*Ukating*) । इस तरह घटने से भगपीठ (मूलाधारपीठ, *Pituitary*) पर तनाव पड़ता है, जिससे भगद्वार विवृत होता है । इसके साथ साथ उदरप्राचीर पर भी दबाव पड़ता है, जिससे गर्भ के ऊपर दबाव आ जाता है । इससे गभपात होने की संभावना होती है । उत्कटकासन के साथ विपमासन और कठिनासन भी वर्ज्य करने चाहिए । **उत्कट-विपमासनासनम् । (अष्टांगसंग्रह) ।** उत्कट-विपमासनासनम् । (चरक) । **कदापि भी, सदैव ।** इसका समन्ध व्यव्याय से लेकर उत्कटकासन तक प्रत्येक के साथ है । अर्थात् व्यव्यायदे विषय गर्भिणी के लिए एकान्ताहितकर होते हैं, इसलिए इनका सेवन कदापि न करना चाहिए । **श्र्वाले—**इसका समन्ध स्नेहादे क्रिया और शोणितमाचण के साथ जरूर है तथा वेगावधारण के साथ भी हो सकता है । वैसे ? इसका उत्तर नीचे वेगा-विधारण में देखो । स्नेहादिकार्य गर्भिणी के लिए निषिद्ध हैं, परंतु एकान्ततः निषिद्ध नहीं हैं, क्योंकि ये अधिकतर चिकित्सा करने के उपाय हैं, और जब गर्भिणी ऐसे रोगों से पीड़ित हो कि जिनमें इनके सिवाय चिकित्सा में सफलता नहीं मिल सकती, तब स्रुतता से और सावधानता से स्नेहादे क्रियाओं का उपयोग करना पड़ता है । इसलिए

अकाले का अभिप्राय 'अनात्ययिके काले', 'अविषोपसर्गे काले, जैसे, स्वेदनिषेध में—गमिणीं पुष्पिणां स्नातां (न स्वेदेदे) शूद्राः आत्ययिके गदे। (अष्टांगहृदय)। वमननिषेध में—अवम्या गमिणी। ऋते विषराजतीर्षविस्र्वाऽप्यवहारतः। (अष्टांगहृदय)। विद्यावणनिषेध में—यदिपिप्लानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिके च सिराऽप्यधनमप्रतिषिद्धम्। (सुश्रुत)। इत्यादि। स्नेहादिश्रिया श्रोत्रिनोषणं च—स्नेहः, स्वेदः, वमनः, विरेचनः, आस्थापनः, अनुवासनः, शिरोविरेचनः, धूमपान और रक्तमोक्षण। स्नेहादि श्रियानिषेध के सम्बन्ध में चरक में विज्ञेय विवरण दिया है—व्याधीक्षात्वा शूद्रमुधुरशिशिरस्र्वाः शूद्रमात्रप्रारोपेणआहारोपकारेणचरेद। न चास्या वमनविरेचन-धियोविरेचनानि प्रयोक्वेद। न रक्तमवसेचयेद। सर्वकालं च नास्थापनमनुवातनं वा दुर्वादिन्यत्राप्यविकारद्वेषैः। अष्टम मास-मुपादाय वमनादिसापेधे पुनर्विकारेण्वात्ययिके शूद्रभिर्बंसनादिभि-स्र्वाऽंकारिमिर्वाणेषारः स्यात्। पूर्णमिव तैलपात्रमस्योमयगाऽ-न्तर्बन्दी भवत्युपचर्या। (शारीर ८)। आयुषिक व्याधि के लिए संश्रान्तर में तीक्ष्ण क्रियाओं का उपयोग करके र्क्षा का रक्षण करने के लिए लिखा है—रत्यनात्ययिके -व्याधी, विधि-रात्ययिके पुनः। तीक्ष्णैरपि क्रियायोगैः खिय यत्नेन घालयेद। (अष्टांगसंग्रह)। वेगविधारण—मलमूत्रादि के आवेगों को रोकना। इनके वेगों को कदापि न रोकना चाहिए, अन्यथा विविध रोग उत्पन्न होते हैं—अप्रक्षोषं च भवाना प्रवृत्तानां स्वभावतः। न वेगान् पारयेत् प्राणो वातारोनां निव्री-च्युः॥ (सुश्रुत)। यद्यपि आयुर्वेद में इस प्रकार का नियम है, तथापि आयुर्वेद मनुष्यसम्बन्धी शास्त्र होने के कारण, मनुष्य सामाजिक और धार्मिक प्राणी (धर्मो हि देवानामपिरो विश्वः। (A Social and religious animal है, जो अन्य प्राणियों के समान मलमूत्र का आवेग आते ही उनका उत्सर्ग नहीं कर सकता, इस बात का भी ध्यान रखना है। इसलिए जहाँ वेगविधारण का निषेध होता है, वहाँ ही अनुक्त सामाजिक और धार्मिक कर्मों के काल में वेगोत्सर्ग का निषेध मिलता है—न वेगोऽप्यवर्षे स्यात्; न वायवनि-सन्निचनोमार्वादिशुद्धमितुक्त निष्प्रविशवाणवर्षोऽप्यानुसृजेत्, न क्वाचनमवमृषेज्ज वनवति नात्रशने, न जपरोमाप्यधनयनि-नहनश्रियाम् इत्यप्यमिहाकन मुञ्चेत्। (चरक)। अर्थात् अकाले वेगविधारण का अभिप्राय यह है कि इन कर्मों के समय के अतिरिक्त समय में वेगविधारण न करना चाहिए। इन कर्मों के समय भी यदि किसी काम का वेग उत्पन्न हो जाय तो र्क्षा पुरमन निकालकर उसका उत्सर्ग कर ले। इस सूत्र में गमिणी के स्वरचक्षुष का निषेधार्थक वर्णन किया है, विषयार्थक वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं। गर्भधारणा का निष्पन्न होने पर श्री कल्पयन्ते ते रते; त्रिगणे धारि को अधिक आयाय न हो, ऐसे हृल्ले काम करे; उचित मात्रा में हृल्लका पीष्टिक आहार सेवन करे; केवल राग को कारी निद्रा सेवन करे; मन शास्त्र, प्रपञ्च और सगुह रश्मि; सगरी करता हो तो शूद्रपान पर अन्तर्गी गच्छ पर करे; रोग उत्पन्न होने पर यदि आचरणक हो तो वमन-विरेचनदि कर्म के लिए शूद्र मुकुमार भोजनियों को सेवन करे और जहाँ तक हो सके मलमूत्रादि का वेग जाने पर वही कर्म प्रयत्न करे। गर्भिणी के स्वरचक्षुष का पुत्र अर्थात्

विवरण १० वें अध्याय के २-३ सूत्र में और उसके वक्ष्य में किया गया है।
 दोषाभिघातैर्गमिण्या यो यो भागः प्रपञ्चयेत्।
 स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपाठ्यते ॥१८॥
 दोषरूप अभिघातों के कारण गमिणी स्त्री का जो जो भाग (अंग) पीडित होता है, उस गर्भस्थ बालक का वही वही भाग पीडित हो जाता करता है ॥ १० ॥
 वक्ष्य—इस श्लोक में पूर्वोक्त श्ववायव्यायामादि सेवन न करने का हेतु वर्णन किया है। दोषाभिघातः—व्यायाम श्ववायादि पूर्वोक्त निषिद्ध आहार-विहार रूप दोषों के अभिघातों से। जैसे—श्ववायशीला दुर्बुधमहोर्क श्रेण वा, शोकरिता भीनमपचिमपस्यायुषं वा, अभिघातौ परोप-नापिननीभूँ श्रेणं वा, इत्यादि। (चरक)। किंवा, निषिद्ध आहार-विहार के कारण प्रकृषित वातादि दोषों के अभिघातों से—मातुस्नवाहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः सस्नानवर्षेन्द्रियवैकानि ॥ (चरक)। किंवा, आहार-विहार दोष और पतन प्रहारादि अभिघात याने निज और आगन्तु कारणों से। यो यो भागः प्रपञ्चयेत् शयादि—माता के जिस अंग में विकार होता है, गर्भस्थ शिशु के उसी अंग में विकार होता है। इस मत का समर्थन करना यद्यपि बहुत कठिन है, तथापि माता के शारीरिक और मानसिक दोषों का पुरा अंतर गर्भस्थ शिशु पर होता है, हममें कोई सन्देह नहीं है—माता व गर्भ प्रथमं वारणं, येन आसेनात् प्रयुति प्रवृ-पन्त मातुरेव गुणदोषावनुविदधानि गर्भः। (चरमाण्डूच)।
 All the mother takes of food and drink, medicines and poisons from such things as tobacco and alcohol, exercises an influence on the child's body, than does it not seem, following a law of logic, that likewise the psychical fare exercises an influence on the mind of the unborn child To be sure, we can not prove this, but there are many things between heaven and earth which we can not prove—and they therefore less true Ideal Birth
 इसलिये पथ्यकर आहार-विहार का सेवन करके स्त्री अपना और गर्भस्थ शिशु का स्वास्थ्य बनाये रखने की कोशिश करे—स्नानादिआहारविहारान् प्रशस्तमप्यमिच्छन्ती को विशेष बर्नयेत्। मातृवाचात् आत्माननुषन्धेदिनायामहार-विहारव्याप्तिः। (चरक)। प्रथमपक्ष १५१ भी देखो।
 तत्र प्रथमे मांसं वत्सल जायते ॥ १८ ॥
 (प्रथम मांस में गर्भ का स्वरूप—) प्रथम मांस में (गर्भ) कल्प बनता है ॥ १८ ॥
 वक्ष्य—सुश्रुताग्नि का संयोग होने के पश्चात् सर्वगम्यपूर्ण बालक बनने के समय तक मातापुत्राय उत्तरोत्तर गर्भ में क्या क्या परिवर्तन होते हैं, उनका वर्णन यहाँ से हो रहा है। इस सूत्र में पहले सर्गि के गर्भ का स्वरूप वर्णन किया है। अन्य प्रणियों में प्रथम मांस के गर्भ का स्वरूप—न सर्वप्रपण् गर्भसमापनः प्रथमे सपे सवृष्यः सर्वप्रपण्पुत्रः (वर्णनी) १२१. वीट्क्ये महादन्तचरिदः सव-मृत्पुत्रावसरः। (चरक)। कल्पः प्रथमे सर्गि सत्कार

जली भवेत् । (अष्टांगहृदय) । प्रथमे मासि संछेदेभूतो धातु-
मूर्च्छितः । (याज्ञवल्क्यस्मृति) । ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं
जलं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, ऋषभासाभ्यन्तरे पिण्डो
वति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति । (गर्भोपनिषद्) ।

गर्भाधान के न्यूनाधिक काल के पश्चात् शस्त्रक्रिया के
कारण या गर्भविच्छ्युति के कारण प्राप्त हुए अनेक गर्भों का
ह्रास और आभ्यन्तर निरीक्षण करके मासानुमासिक गर्भवृद्धिक्रम
पश्चात् शास्त्रज्ञों ने निश्चित किया है। भारतीय महर्षियों ने
प्रायः इसी प्रकार से और दिव्यदृष्टि से इस विषय का ज्ञान
प्राप्त किया होगा। पाश्चात्य देशों में आज जो सब से अल्पका-
लीन गर्भ निरीक्षण के लिए मिलते हैं, वे ब्राइस और टीचर
Bryce-Teacher's ovum, पीटर (Peter), ग्राफ फॉन
Graf Von Spee इत्यादि के हैं। इनका काल पन्द्रह से
बीस दिनों का माना जाता है। अर्थात् इसके पूर्वकालिक गर्भ-
वृद्धि का जो वर्णन पाश्चात्य ग्रंथों में मिलता है, वह काल्पनिक
होता है। काल्पनिक का अर्थ मनमानी कल्पना के अनुसार
कल्पनाया हुआ ऐसा नहीं है, परन्तु अन्य प्राणियों में गर्भ की
इसी स्थिति को प्रत्यक्ष करके आधार पर उपकल्पित
(Hypothetical) ऐसा है। संज्ञेय में मनुष्य में शुक्रशोणित-
संयोग तथा संयोग के पश्चात् पन्द्रह बीस रोज तक गर्भ में जो
कुछ भी परिवर्तन होते हैं, वे अब तक दृष्टिगम्य नहीं हुए हैं।

स्त्रीबीज में शुक्राणु (जीवात्मा) का प्रवेश होने के
समय से उसमें विशेष परिवर्तन प्रारम्भ होकर उसका
अन्तिम परिणाम बालकोत्पत्ति में होता है—गलाग्रशत-
भागस्य शतथा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय
कल्पते ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्) । शुक्र और स्त्रीबीज का
संयोग बीजवाहिनी में प्रायः होता है। स्त्रीबीज आकार में
१/४ मिलिमीटर के लगभग) गोल और एक कोशा
(सेल) का होता है। शुक्राणु से संयुक्त होने पर उसमें विभ-
न प्रारम्भ होता है। विभजन के द्वारा मूल एक कोशा से दो
कोशाएँ बन जाती हैं। फिर दो से चार, चार से आठ, आठ
से सोलह, सोलह से बत्तीस इस तरह सेल संख्यावृद्धि का
संलसिला जारी होता है, जिससे एक छोटा सा गोल ठोस
कोशासमूह बन जाता है। इसमें बाहरी कोशाएँ आकार में
थोड़ी और भीतरी बड़ी होती हैं। इस कोशासमूह को
कलल या कलन *Motula* कहते हैं। कलल के संबंध में यह
ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि प्रारम्भिक एक कोशा के
स्थान में इसमें अनेक कोशाएँ होती हैं, तथापि इसका परिमाण
प्रारम्भिक एक कोशा से मोटा नहीं होता, कुछ छोटा ही
हो सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि कलल वास्तविक
वृद्धि की अवस्था नहीं है। वृद्धि पूर्व अवस्था है, जिसमें
जीव की वृद्धि के लिए उचित कोशाएँ बनाई जाती हैं। कलल
ठीक बनने पर उसमें एक खोखला स्थान बनना शुरू होता
है, और धीरे धीरे इस स्थान में तरल इकट्ठा होकर इसके
दबाव से बाहरी कोशाएँ भीतरी कोशाओं से अलग हो जाती
हैं। इस अवस्था को बुद्बुद (*Blastula*) कहते हैं। तरल
अधिक इकट्ठा होने से बुद्बुद का परिमाण वास्तव में बढ़ने
लगता है। इसकी बाहरी कोशाएँ अधिकांश स्थान में इकट्ठी
या दोहरी होती हैं, परन्तु एक स्थान में बाकी सब कोशाएँ
इकट्ठा रहती हैं। ये अन्तःसेलसमूह (*Inner cell mass*)

कहलाती हैं। बाहरी कोशाएँ गर्भपोषण के काम में आती हैं,
इसलिए पोषक (*Troph blast*) कहलाती हैं; और भीतरी
कोशाएँ गर्भवृद्धि के काम में आती हैं। इस तरह एक तरफ
कलल बनने का काम जारी रहता है और दूसरी तरफ जीव
गर्भाशय की ओर मार्ग तय करता है। शास्त्रज्ञों की राय है
कि गर्भाशय तक मार्ग तय करने के लिए साधारणतया
एक सप्ताह लगता है और इस सप्ताह की अवधि में
कलल पूर्णतया बन जाता है—उत्साहात् कलली भवेत् ।
इस प्रवास में जीव का पोषण बीजवाहिनीगत खाव से
होता है। कलल की बाहरी कोशाओं में पाचन और प्रचूषण
की शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे यह कार्य होता है। गर्भाशय
के भीतर पहुँचने पर ये बाह्य कोशाएँ अन्तःस्तर के पृष्ठभाग में
अपनी पाचकशक्ति के द्वारा एक छेद बनाती हैं, जिसमें से
होकर गर्भ अन्तःस्तर की मोटाई के बीच में सुचित रहता है।
जिस छेद में से गर्भ अन्दर जाता है, वह छेद पीछे बन्द हो
जाता है। इसके बाद गर्भ का पोषण अच्छी तरह से होने के
कारण उसकी वृद्धि तेजी से होती है। पोषण का विचार आगे
४०वें सूत्र में किया गया है।

इस तरह गर्भाशय के भीतर तेजी से वृद्धि प्रारम्भ होने पर
चतुर्थ सप्ताह के अन्त में गर्भ की लम्बाई लगभग ३ इंच
होती है। उसका एक सिरा मोटा होता है जहाँ सिर बनता
है, दूसरा पुच्छ के समान नोकीला होता है। गर्भ गोलार्द्ध
में इस तरह मुड़ा रहता है कि दोनों सिरे आपस में मिल
जाते हैं। मोटे सिरे में मस्तिष्क, आँखें, कान, नाक इनका
सूत्रपात होता है; मुख के स्थान पर दरार दिखाई देती है।
मध्यभाग में हृदय और यकृतदि अंगों का सूत्रपात होता
है। शाखाओं के स्थान में छोटे छोटे उभार दीख पड़ते हैं।
यह गर्भ देखने में मानवी नहीं होता है। इसलिए लिखा
है—अव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताद्भावयवः । (चरक) । विद्य-
मानाविद्यमानाद्भ्रूप्रत्यङ्ग इत्यर्थः । अज्ञानां च बीजरूपतया स्थितत्वेन
सत्त्वम्, अव्यक्तभावाच्चासत्त्वम् । (चक्रपाणिदत्त) ।

द्वितीये शतोष्मानिलरभिप्रपच्यमानानां महा-
भूतानां सघाता घनः संजायते; यदि पिण्डः पुमान्,
स्त्र चेत् पेशी, नपुंसकं चेद्वर्जुदमिति ॥ १६ ॥

(द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप—) दूसरे में शीत
(कफ), ऊष्मा (पित्त) और वायु से परिपक्व महाभूतों
का संघात (गर्भ) घन हो जाता है। यदि (यह गर्भ
आकार में) पिण्ड हो तो पुरुष, पेशी हो तो स्त्री, अर्बुद
हो तो नपुंसक ॥ १६ ॥

वक्तव्य—दूसरे महीने के अन्त में गर्भ की लम्बाई डेढ़
इंच के लगभग होती है। उसका सामान्य स्वरूप मनुष्य के
समान दीख पड़ता है। नासिका, कान, और पलक ठीक बनते
हैं। शाखाएँ लम्बी होती हैं और अँगुलियों का बनना शुरू होता
है। नीचे का सिरा, जो पुच्छ के समान दिखाई देता था, प्रायः
नष्ट हो जाता है। गर्भ के शरीर की बक्रता कुछ कम हो जाती
है, जिससे शिर ऊँचा होता है। आन्त्र का भाग जो नाल में
गया था, अब उदर में आता है। नाल में एंठन पड़ने लगती है।
कुछ तरुणास्थियों में अस्थिभवन का कार्य शुरू होता है। छठे
सप्ताह तक गर्भ का स्वरूप स्त्रीत्व या पुरुषत्व से विरहित याने

अप्यक्त होता है (दूसरे अध्याय के ३३वें सूत्र का वक्तव्य देखो), परन्तु उसके बाद जननेन्द्रिय के स्थान में स्त्री या पुरुष के लिप्युचित परिवर्तन शुरू होते हैं। आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में दूसरे महीने के गर्भवृद्धिक्रम में इस विषय का केवल निर्देश मिलता है।

तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्घर्तन्ते ऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च मृत्ना भवति ॥ २० ॥

(तीसरे महीने में गर्भ का स्वरूप—) तीसरे में दो हाथ, दो पैर और सिर, इनकी पाँच पिण्डकाएँ निकल आती हैं और अंग-प्रत्यंग विभाग सूक्ष्म होता है ॥ २० ॥

वक्ष्य—तीसरे महीने के गर्भ का तन्त्रान्तर में स्वरूप— तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गान्यथाश्रयैः यौगपद्येनाभिवर्तन्ते । (चरक) । तृतीये पञ्चमा प्रवेदन्ति, तथैवा सन्धिनी बाहू शिरश्च । सञ्चामदिप्रवेदकालमेव च सर्वमङ्गान्यवेन्द्रियाणि युगपत्समवन्ति, अन्यत्र जननेन्द्रियसंज्ञेत्येवो दन्नादिभ्यः । क्रमेण तु स्फुटीभवन्ति । (अष्टांगसंग्रह) । व्यक्तभवति मासिदस्य तृतीये गात्रपञ्चकम् । मूर्धा द्वे सन्धिनी बाहू सर्ववृत्ताङ्गजम् च । सममेव च मूर्धपैशानं च युगपद् लगे । (अष्टांगहृदय) । अंग-प्रत्यंगविभाग—आला-अलसो मूर्दोरन्तरोऽप्यङ्गानि, चिकुजनासौहृदप्रवणाङ्गुलिषाण्डिप्रमृ-तीनि प्रत्यङ्गानि । (बृहहण) । सप्तमी भवति—ये सव अङ्ग-प्रत्यंग सूक्ष्म रूप में उपपन्न होते हैं।

तीसरे महीने के अन्त में गर्भ की छन्वाई ३ इञ्च के लगभग होती है। घड़ से सिर प्रीवा द्वारा विभक्त होता है। हाथ पैरों की अंगुलियों पर सूक्ष्म रूप में नख उत्पन्न होते हैं तथा अंगुलियाँ अलग अलग दिखाई देती हैं। शरीर की अनेक अस्थियों में अस्थिविकास केन्द्र उत्पन्न होते हैं। बाह्य जननेन्द्रियाँ स्पष्ट होती हैं, जिमसे पुत्र या कन्या के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता। सवेप में गर्भ के अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि यहां तक सूक्ष्म होती है कि वह मानवी गर्भ है इसकी पहचान सहज ही में हो सकती है।

चतुर्थे स ऽङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भहृदयप्रत्यङ्गविभागाद्यतनाधानुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात् । तस्मान्नरगात्, तस्मान्नमध्वनुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियाण्यु करोति, द्विहृदयां च नारा दौहदिनामाचक्षते ॥ २१ ॥

(चतुर्थमास में गर्भ का स्वरूप तथा माता की द्विहृदयता—) चौथे महीने में सर्वाँ अंग-प्रत्यंग विभाग (पहले की अपेक्षा) अधिक स्पष्ट हो जाता है; गर्भहृदय प्रप्यक्त होने से घेतना धातु भी अभिव्यक्त हो जाता है, क्या? हृदय उसका स्थान होने से, इसलिये चौथे महीने में (सर्वप्रथम शब्दरूपार्थ) इन्द्रियों के विषयों में गर्भ (माता के द्वारा) अपनी हृदया प्रकट करता है। दो हृदयपुच्छ की दो दौहदिनी बहने हैं ॥ २१ ॥

वक्ष्य—महर्षिचरकभाष्य—गर्भ का हृदय प्रकट होकर होने के कारण। हृदय से वहाँ हृत्तमचालक पुच्छ (110-115) अभिव्यक्त है। आयुर्वेद के अनुसार हृत्ती हृदय में घेतना का अधिभाग होता है। इस विषय का विशेष विवरण चौथे अध्याय के '४ वें चतुर्थाध्यायस्य प्रथमोऽध्यायः' का ३३ वें श्लोक के वक्ष्य में किया गया है। गुण-पुच्छादि का स्थान जो हृदय वह कार्यक्रम बनने के कारण गर्भ में गुण-पुच्छ की मातृपुच्छ उत्पन्न होती है और गुण-पुच्छ के कारण

गर्भ माता के उदर में हाथ-पैर हिलाता है तथा हृदय के द्वारा अपनी हृच्छार्जों का प्रभाव, माता के हृदय पर, डालता है, क्योंकि ये दोनों आपस में सम्बन्धित होते हैं—एव यत्कालमेवेन्द्रियाणि सविद्यन्ते वृत्तकालमेव वेतसि वेदनानिर्वन्धं प्राप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भं स्पन्दते, प्रार्थवते च नन्मान्तरानुभूत यद् किञ्चिद् । तस्मादिव सुखदुःखसन्वाद्य सुखोत्पादादन्तर्गुणपरिश्रारार्थं च स्पन्दते चलति । मातृहृदय गमनदशेन सम हृदयवद्य भवति । (चक्रपाणिदत्त) यद्यपि इस महीने में गर्भ चलन-बलन करता है, तथापि उसका ज्ञान न माता को होता है, न उदर पर रखते हुए परीक्षाएँ हाथ की जाती हैं। परन्तु यदि श्रवणालिना द्वारा परीक्षा की जाय तो गर्भचलनस्वरूप (strange) सुनाई देता है। गर्भ के माथे पर तथा शरीर के अंगों पर रोम निकलने लगते हैं। लिङ्ग स्पष्ट हो जाता है। चेहरा श्यामाविक हो जाता है। गर्भ की कुल छन्वाई ६। इञ्च के लगभग होती है।

दौहद्विमाननात् कुञ्ज कुण्डि यञ्ज जड वामनं विहृतात्तमनन्तं चानारा सुन जनयन्ति तस्मात् सा यद्यच्छेत् तत्तस्यै दापेत्, लन्धगैरदा हि वीर्यधन्तं शिरायुष च पुत्रं जनयति ॥ २२ ॥

भवन्ति चात्र— इन्द्रियाण्यस्तु य न यान् सा भोक्तृविद्युति गभिर्यो । गर्भायाचभयात् तास्तान् भिगगाहृत्य दापेत् ॥ २३ ॥ सा प्रातदौहदा पुत्र जनयेत् गुणान्वितम् । श्रलन्ध्वद्वा गर्भे लभेतास्त्रिंशं च भयम् ॥ २४ ॥ येपु येपिन्दित्र्याण्येषु दौहदे वै विमानना । प्रजायेत सुनस्या तं गतिं मित्तां मित्तमन्धेन्द्रिये ॥ २ ॥

(दौहद परण का महत्व—) दौहद की उपेक्षा करने से (स्त्री) कुबड़े, पदले, लंगड़े, जड़ (मन्दबुद्धि, जडमति), पीने, खराब आँसों के अथवा अंग पुत्र को उपपन्न करती है। इसलिये वह जिस जिस पदार्थ की हृदया करे, वह पदार्थ उसको प्रदान करे। दौहद की प्राप्ति होने से (स्त्री) वीर्यवान् और दीर्घायु पुत्र को पैदा करती है ॥२३॥

यहाँ पर श्लोक है कि—गर्भगो स्त्री इन्द्रियों के जिन जिन विषयों का उपयोग करना चाहे, गर्भगोश के भय से वैध उन उन पदार्थों को लाकर उसको दिलावे ॥२३॥ दौहद की प्राप्ति होने पर स्त्री गुणवान् पुत्र उत्पन्न करती है। दौहद की प्राप्ति जिसको न हुई है, ऐसी स्त्री का अपने या गर्भ (के विषय) में (कुपु विचार पैदा हो जाय, पैसा) भय प्राप्त होता है । २४ ॥ जिन जिन इन्द्रियों के विषयों में दौहद में उपेक्षा होती है, उन उन (विषयों के) इन्द्रियों में पुत्र में विकार उत्पन्न होता है ॥ २५ ॥

वक्ष्य—तस्मान्नमानना गर्भगया में माता के मन में जो विशेष वागनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनको तिरस्कार बुद्धि से देवना अर्थात् उनकी पूर्ति न करना। तस्मान्नरम-स्तपन्निपेदे— एव तस्यै र्द्वारा र्द्वारा २ २५ । (बृहहण) । जैसे, किसी को देने की हृदया माता को हुई हो और उसकी पूर्ति न की जाय तो अत्यन्त भी आँसो म पीदा होने की संभावना होती है।

स्त्री के मन में गर्भरहित के कारण शब्द शब्दादि इन्द्रियाणों के सम्बन्ध में जो विशेष या अश्यामाविक

वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे दौहद (Longings चा Pica) कहलाती हैं। यद्यपि दौहद का मुख्यकाल चौथा महीना चहारा चलाया गया है तथापि उसका प्रारम्भ दूसरे महीने से ही होता है। इस लिए दूसरे महीने से पाँचवें महीने के प्रारम्भ तक दौहदकाल होता है—अन्ये तु पक्षत्रयाव प्रभृत्साधनमानानादीहृत्प्रयत्नः । (अष्टांगहृदय) । दौहद को दौहद, दोगद और दाएल भी कहते हैं—दुर्बिद्या दौहद-तद्वन्न शरी । उक्त सा दोहदुःखशीलतां यदेव वने तदपदपदा-इत् । (रघुवंश) । पृथा यस्मि दोहदं सन्निवृत्तमिनाधारणम् । प्राचीनकाल में भारतवर्ष के अनुसार यूरोप के शास्त्रज्ञ दौहद को काफी महत्त्व देते थे, परन्तु आधुनिक काल में वे सगर्भावस्थानिदान के लिए दौहद को विशेष महत्त्व ही देते ।

दोहद और गर्भ का सम्बन्ध—स्त्री गर्भिणी होने पर सके मस्तिष्कस्थान, मन और स्वभाव में फर्क हो जाता जिससे अकामतः चमन, उद्वेगता, चिदचिदापन, रीति-रोपिना, मानसिक दीर्घत्व, इन्द्रियायों की स्वाभाविक गतिरुचि में वैपरीत्य, निद्रानाश, स्वप्नदर्शन इत्यादि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं । ये सब लक्षण गर्भ के कारण ही उत्पन्न होते हैं, इस विषय में आयुर्वेद और पाश्चात्य वैद्यक ना ऐकमत्य है । परन्तु आयुर्वेद दौहदलक्षणों का सम्बन्ध गर्भ के मन के साथ जोड़ता है, और केवल भौतिक शास्त्रों पर विश्वास करने वाला पाश्चात्य वैद्यक इनका सम्बन्ध गर्भजन्य विष, अन्तःस्त्री प्रन्थियों के कार्य की न्यूनाधिकता और मस्तिष्ककार्य की अस्थिरता इनके साथ जोड़ता है । दौहद का कारण गर्भ का मन हो या गर्भजन्य अन्य पदार्थ हो, इस विषय में आयुर्वेद और पाश्चात्य वैद्यक का ऐकमत्य है कि सगर्भावस्था में स्त्री का मन या मस्तिष्क अस्थिर स्थिति में होता है, जिससे वह जरा सी बात पर चिगड़ कर गर्भ में विकार उत्पन्न कर सकता है । इसलिए सगर्भावस्था में स्त्री के मन में जो जो हृच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति यदि पथ्यकर हो तो पूर्णतया, यदि अपथ्यकर हो तो पथ्यकर के साथ मिलाकर अल्पतया करके माता को प्रसन्नचित्त रखना बहुत ही आवश्यक है । यदि हृच्छा गर्भोपघातकर हो तो उसकी पूर्ति न करना ही उचित है, इसका ध्यान रखना उचित है—ना यथादृच्छतत्तदस्य दृष्टादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावः । । नानाया तु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात् प्रार्थनाविनयनाधुम् । (चरक) । देयमप्यहितं तस्यै हितो-पहितम-पकम् । (अष्टांगहृदय) । श्रद्धाविघात में जरा सी बात के लिए स्त्री के मन पर बड़ा भारी परिणाम हो सकता है, जो आगे जाकर दोनों को हानि पहुंचा सकता है—प्रार्थनासाधारणादि वायुः प्रकृति १५८ : शरीरमनुचरन् गर्भस्थापथमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात् । (चरक) । इच्छाविघातश्च मनःक्षोभकरभयादिवद्रात-प्रक्षोभको भवति । (चक्रपाणिदत्त) ।

The whole organism is in a state of strain, and slight causes suffice to move it either in the direction of abnormal depression and melancholia, or in the direction of excessive exhilaration. The mental condition and surroundings of the pregnant woman are of importance, inasmuch as they

largely influence her physical well being and hence that of the foetus. A pregnant woman should, as far as possible, be sheltered from all influences which tend to give rise to excitement, annoyance or depression. *Jellie's Midwifery.*

इसलिए दौहदोत्पत्ति की आयुर्वेद की उपपत्ति यद्यपि कुछ दूरान्वित मान्य होती है तथापि उसके अनुसार माता की वासनाओं को पूर्ण करके उसको प्रसन्नचित्त रखने में किसी प्रकार का नुकसान नहीं है, बल्कि दोनों को ही फायदा है—

In adhering to this theory, we shall certainly not take a wrong path, but may preserve the mother, and probably the child too, from much trouble and deep affliction, may give it on the other hand, perhaps a big plus for life. In any case, it is also to be borne in mind that the mental peace, the happy confident frame of mind, pleasant diversion may like will not favourably on the child. *Ideal Birth.*

इस विषय का कुछ विवरण प्रथम विभाग में पृष्ठ १५०, १५१ पर भी किया गया है, उसे देखो ।

अब इसके बाद दौहदविशेषता के अनुसार पुत्रस्वभाव विशेषता के कुछ उदाहरण दिग्दर्शन के लिए दिये जाते हैं—

राजसःदर्शने यस्या दौ द जायते स्त्रियाः ।

अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥ २६ ॥

राजा के दर्शन में जिस स्त्री का दौहद (मन) होता है, वह द्रव्यवान् और महापुण्यवान् पुत्र को जन्म देती है ॥ २६ ॥

दुकूलपट्टकौशेयभृण्णादिपु दौहदात् ।

अलङ्कारैःपिणं पुत्र ललित सा प्रसूयते ॥ २७ ॥

दुकूलपट्ट (मलमल के समान महीन पतला कपड़ा), कौशेय (रेशमी वस्त्र), अलङ्कार इत्यादि में (गर्भवती स्त्री का) दौहद होने से वह अलङ्कारप्रिय और सुन्दर (रूपवान्) पुत्र को जन्म देती है ॥ २७ ॥

आश्रमे सयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते ।

देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम् ॥ २८ ॥

आश्रम में (निवास करने का जिसका दौहद होता है, वह) जितेन्द्रिय और धर्मात्मा-पुत्र को जन्म देती है । तथा देवताप्रतिमा में (जिसका दौहद होता है, वह) पार्षदोपम (पुत्र) को जन्म देती है ॥ २८ ॥

वक्तव्य—आश्रमे—यस्याः आश्रमे तपस्विनासपिष्ठाने श्रद्धा भवेत् सा स्वभूतं जनयेत् । (डल्हन) । श्रीसीतादेवी को मुनियों के आश्रम में निवास करने की इच्छा कुश की गर्भावस्था में हुई थी—प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्थूह्या-लुखे । (रघुवंश) । पार्षदोपमम—पार्षदेषु सभापुरुषेषु उपमा यस्य स तथा तं सम्भवसम् । (डल्हन) । सज्जन मनुष्य, जिसका देवदर्शनादि धर्मकर्मों में प्रेम हो, ऐसा । पार्षदा रुद्रानु-चराः—‘रुद्रैर्वलाढ्यैश्चमादिरुद्रैः स पार्षदैरभ्यरमापुपूरे’ इति पुरा-णम् । (हाराणचन्द्र) ।

दर्शने व्यालजातानां हिंसाशीलं प्रसूयते ॥ २६ ॥

(सिंह ध्यात्र सपं इत्यादि) हिंस्र जाति के दर्शन में (दोहद होने से स्त्री) भ्रू उत्र को जन्म देती है ॥ २९ ॥
 गोधामांसाऽशने पुत्रं सुपुंस्तु धारणात्मकम् ।

गवां मांसे त वलिनं सर्वाऽशसह तथा ॥ ३० ॥

गोह का मांस खाने में (दोहद होने से) पुत्र निद्रालु और धारणात्मक होता है । गोमांस (खाने) में (दोहद होने से पुत्र) बलवान् तथा सर्व प्रकार के कष्टों को सहन करने वाला होता है ॥ ३० ॥

वक्तव्य—धारणात्मक—उल्लेख धारणा से मेधा ग्रन्थ्यादि धारणाशक्ति समझते हैं—धारणात्मक हृदयगृहीतवस्तुनामो-चकम् । यह धारणाशक्ति गोधा में वहाँ तक होती है, यह कहना बहुत कठिन है । परन्तु दूसरी एक शक्ति गोधा में होती है, जिससे वह पत्थर, चट्टान, पहाड़ इत्यादि को जबरदस्त पकड़ती है । यहाँ तक कि उसके कमर में करी भुरई रस्ती की सहायता से मनुष्य ऊपर चढ़ सकता है । मराठी भाषा में गोधा को 'घोरपक' कहते हैं । मराठी सैनिक शत्रु के किले पर गोधा की सहायता से चढ़ते थे, और अचानक हमला करके किला सर करते थे । सिंहगढ़ सर करने के समय की नरवीर ताना जी की कथा इसके सम्बन्ध में महादूर है । जिन्होंने सर्वप्रथम गोधा इसी इस धारणाशक्ति का उपयोग किले पर चढ़ने के लिए किया, उनके वंशज महाराष्ट्र में 'घोरपदे' नाम से प्रसिद्ध हैं । जंगली लोग, नाडीवैद्य, हकीम गोधा के मांस और तेल का प्रयोग कमजोरी में करते हैं और घरक तथा सुश्रुत में गोधा बलवर्धक बतलाई है—गवपित्तप्रशमनी बृहती बल विधिनी इससे धारणात्मक का अर्थ बलवान् करना ही उचित है माहिषे दाहंदाच्छूरं रक्षात् लोमसयुतम् ।

वाराहमांसान् र प्राणं शूरं जनयेत् सुतम् ॥ ३१ ॥

भंस (के मांस) में दोहद होने से डाल आँसों वाला और लोमशुक तथा सूत्र के मांस में (दोहद होने से स्त्री) निद्रालु और पुत्र पुत्र को उत्पन्न करती है ॥ ३१ ॥

मार्गाद्विभ्रान्तजघालं सदा वनचर सुतम् ।

शुगमाद्विभ्रान्तसं नियमं त च तत्तियत् ॥ ३२ ॥

शुगमास (में दोहद होने) से अत्यन्त तेजी से दौबने वाला तथा हमेशा जंगल में घूमने वाला, घुमर (के मांस) से चञ्चलचित्त और तित्तिर (के मांस में दोहद होने) से दर-पोक पुत्र को (स्त्री उत्पन्न करती है) ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—गांढ—शुगमांस के अतिरिक्त प्रवास करना या शिकार खेलना भी मार्ग के अर्थ हो सकते हैं । इन अर्थों के अनुसार प्रयास करने में या शिकार खेलने में जिनका दोहद हो, उनसे । विभ्रान्त—जिनकी टांगों कापी बलवान् हों, अर्थात् जो अपनी टांगों के बल पर सब कुछ फिर दौड़ सकता हो ।

इन विविध दोहदों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के दोहद हो सकते हैं । उनमें अर्थ निकालने के लिए संप्रद श्लोक दिया जाता है—

अनाऽनुपु या नाऱी समभिध्याति दौहदम् ।

शार ताचारदा सेः ना समान जनधिष्याति ॥ ३३ ॥

इन से अतिरिक्त अब तक न बतलाये हुए (विषयों) में (जब) स्त्री दोहद का चिन्तन करती है, तब (उस विषय के) शरीर, आचार और शील के समान पुत्र को उत्पन्न करती है ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—प्राचीन काल के भारतीयों में जिस प्रकार की वृत्ति प्रायः हुजा करती थी, उसके अनुसार ही ऊपर के श्लोकों में दोहद के उदाहरण दिये गये हैं । इस प्रकार की वृत्ति आधुनिक भारतीयों में प्रायः नष्ट हो गई है । इसलिए उपर्युक्त प्रकार का दोहद आधुनिक भारतीय स्त्रियों में मिलना असम्भव है ।

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भयितव्यं पुनर्भवेत् ।

यथा तथा वैषयोमाद् दौहदं जनयेद्भूदि ॥ ३४ ॥

(विविध दोहदों की उत्पत्ति—) जैसे (कि पू जन्माश्रित) कर्म से भरित प्राणी का भवितव्य पुनर्जन्म में होता है, वैसे ही पूर्वकर्म से (माता के) हृदय (मन) दोहद उत्पन्न होता है ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि गर्भ जीव का भवितव्य जिस पूर्वकर्म के कारण बनता है, उस पूर्वकर्म के कारण माता के मन में दोहद उत्पन्न होता । याने दोहद का प्रेरक गर्भस्थ जीव का पूर्वकर्म है । भवितव्य-संचित कर्म की प्रेरणा से पुनर्जन्म में या भवितव्य में व कुण्डी भी निश्चित से होता है, वह भवितव्य बदलाता है पूर्वकर्म के अनुसार पुनर्जन्म में जीव का स्वभाव, शरीर आहार-विहार में अभिरुचि, शारीरिक और मानसिक संगत होता है—ये वा वै यानि कर्माणि प्राश्नुह्यं प्रतिपदिरे । एतये प्रतिपद्यन्ते स्यमानाः पुनः पुनः ॥ (महाभारत) । पूर्वक का फल जीव टाल नहीं सकता—ऐहिक प्राचन वापि क यद्विषय स्फुरद् । पोशेऽसौ परे वशे न वदाचन निष्पन्नः (योगवासिष्ठ) । प्रारब्धकर्मणा भोगारव चय । जब जी का स्वभाव, आहार-विहार में अभिरुचि इत्यादि पूर्वकर्म के कारण उत्पन्न होते हैं और जब माता का दोहद हुन्हीं बात को बतलाता है, तब दोनों का कारण एक ही होना चाहिए वैषयोमाद् कर्मयोगात् । इस विषय का विवरण पीछे चौथे सू के 'वैषयोमाद्' के वक्तव्य में किया गया है । जीव के भवितव्य के संबंध में वेदान्तशास्त्रक कर्मावधारक का जो नियम है, उस आधुनिक पाश्चात्य पण्डित भी कुण्डी मानने लगे हैं—

All things, whether visible or invisible are subservient to, and fall within the scope of the infinite and eternal law of causation. All the varying conditions of life as they obtain in the world to day, are the result of this law reaction on human conduct. Man can choose what cause he shall set in operation, but he can not change the nature of effects. He can decide what thoughts he shall think and what deeds he shall do; but he has no power over the result of those thoughts and deeds, these are regulated by the overruling law. Man has all power to act, but his power ends with the act committed. The result of the act can not be altered, annulled or

escaped; it is irrevokable. *Jam's Allen Book of Meditations.*

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति ॥ ३५ ॥

(पाँचवें महीने का गर्भ—) पाँचवें (महाने) में (पहिले की अपेक्षा गर्भ का) मन अधिक प्रबुद्ध हो जाता है ॥३५॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में पाँचवें महीने का स्वरूप—पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः । (चरक) । पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति मांसशोणितोपचयश्च । (अष्टांगसंग्रह) । पञ्चमे पृष्ठवंशो भवति । (गर्भोपनिषद्) ।

पाँचवें महीने में गर्भ की लम्बाई दस इञ्च होती है । लंबाई में इतनी वृद्धि दूसरे किसी महीने में नहीं होती है । यह लंबाई अधिकतर टांगों में होती है । शिर अब भी शेष शरीर के मुकाबले कुछ बड़ा होता है । आन्त्र में कुछ मल इकट्ठा होने लगता है । यकृत अच्छी तरह बन जाता है । शरीर पर बाल अधिक लंबे होते हैं । गर्भ का चलन-बलन जोर से होता है । गर्भ का तोल पहले से दुगुना याने आधा सेर होता है । उसके सर्वशरीर पर एक चिकना पदार्थ (Vernix Caseosa) बनने लगता है; उससे गर्भ की त्वचा की रक्षा गर्भोदक से होती है ।

पीछे १३-१५ सूत्र में गर्भिणी के जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे केवल गर्भ की उपस्थिति पर निर्भर न होने के कारण पूर्णतया विश्वसनीय नहीं होते । इस महीने से गर्भ के कुछ आस लक्षण मिलते हैं, जिनके ऊपर सगर्भावस्था का निर्णय करने के लिए विश्वास किया जा सकता है । ये लक्षण निम्न हैं—गर्भहृत्स्पन्दन, गर्भ के अंगों का ज्ञान और गर्भ की तितियाँ । इनमें से गर्भहृत्स्पन्दन इस महीने में मिलता है । गर्भहृत्स्पन्दन (Fœtal heart sounds)—गर्भ का हृदय चौथे महीने में व्यक्त होता है और तभी से उसका संकोच-विकास का कार्य जारी होता है परंतु उसकी आवाज उस समय सुनाई नहीं देती । साधारणतया १८ वें सप्ताह से गर्भहृत्स्पन्दन सुनाई देता है । ये शब्द तकिया के नीचे रखी हुई घड़ी के शब्द के समान होते हैं । इनकी संख्या प्रति मिनट १२० से १६० तक और औसत १४० होती है, याने माता की हृदयगति से दुगुनी होती है । गर्भहृत्स्पन्दन उदरप्राचीर के साथ कान लगाने से, या एकनलिका अथवा द्विनलिका (Single or binaural) श्रवणयन्त्र से सुनाई देते हैं । कुछ लोगों का यह कथन है कि पुराने ढंग का काठ का बनाया हुआ एकनलिका श्रवणयन्त्र इस काम के लिए बेहतर होता है । कुछ भी हो, श्रवण करते समय यन्त्र को उदर-प्राचीर पर न्यूनाधिक दबाकर सुनने की कोशिश करनी चाहिए, क्योंकि कभी कभी हल्के दबाव से शब्द अच्छे सुनाई देते हैं, कभी कभी अधिक दबाव से अच्छे सुनाई देते हैं ।

गर्भहृत्स्पन्दन से फायदे—(१) गर्भहृत्स्पन्दन मिलने से स्त्री की सगर्भावस्था का निःसंदिग्धता से निर्णय होता है ।

(२) इनके सुनने से गर्भ की गति (Presentation) का ज्ञान होता है । प्रथम जब कि गर्भोदक काफी होता है, तब गर्भ का हृदय नाभि के नीचे मध्यरेखा में सुनाई देता है । परन्तु आगे जाकर यदि गर्भ की शिरोगति (Vertex) हो तो शब्द नीचे नाभि और जवनकपालपूरुध्वकूट के बीच

में सुनाई देता है । यदि जघनगति हो तो नाभि के ऊपर खींची हुई इसी रेखा पर सुनाई देता है ।

(३) गर्भ के आसन (Position) का ज्ञान होता है । गर्भ के अंगविशेष का माता की शरीरमध्यरेखा के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे गर्भ का आसन कहते हैं । शिर और जघन गति में गर्भ का पृष्ठ आसन का निर्णायक होता है । पृष्ठ आगे और वामपार्श्व में होने से प्रथम आसन (First position), आगे और दक्षिणपार्श्व में होने से द्वितीय आसन, पीछे और दक्षिणपार्श्व में होने से तृतीय आसन और पीछे तथा वामपार्श्व में होने से चतुर्थ आसन होता है । इस प्रकार प्रत्येक गति के चार आसन होते हैं और प्रत्येक आसन में गर्भहृत्स्पन्दन की अत्यधिक तीव्रता एक विशिष्ट स्थान में पाई जाती है, जिसके अनुसार गर्भ का आसन मालूम होता है ।

(४) गर्भ का साधारण स्वास्थ्य और लिङ्ग—कुछ शास्त्रज्ञों का कथन है कि गर्भ के हृदय की गति उसकी वृद्धि के व्यस्त (Inverso) प्रमाण में होती है, याने गर्भ की वृद्धि यदि ठीक ठीक हुई हो तो हृदय की गति कुछ कम होती है और यदि वृद्धि ठीक न हुई हो तो गति कुछ अधिक हुआ करती है । वैसे ही पुमान् गर्भ के हृदय की गति स्त्रीगर्भ के हृदय की गति की अपेक्षा कुछ कम होती है । अर्थात् दोनों में फर्क बहुत कम (१३९ पुरुष, १३६ स्त्री) होने से निश्चिति से लिङ्गनिर्णय करना कठिन है, तथापि कुछ सहायता मिल सकती है ।

(५) यमल का निर्णय—माता के उदर में गर्भ एक है या दो हैं, इसका निर्णय करने के जो अनेक उपाय हैं उनमें गर्भहृदय-शब्दश्रवण एक उत्तम उपाय है । यदि एक समय सुनने वाले दो व्यक्तियों को दो भिन्न स्थानों में दो गर्भहृदय सुनाई दें जिनकी गति (प्रति मिनट स्पन्दनसंख्या) माता की हृदयगति से तथा एक दूसरे से भिन्न हो, और यही स्थिति अनेक बार श्रवण करने पर भी मिल जाय तो यमल की उपस्थिति निश्चिति से समझनी चाहिए ।

(६) गर्भ की आपत्तियों का ज्ञान—प्रायः अपनी गतियों के कारण तथा माता की ज्वरयुक्त अवस्था में गर्भ की हृदय की गति तेज हो जाती है, और गर्भाशय संकोच से, अपरा (Placenta) और नाल पर दबाव पड़ने से तथा गर्भ के मस्तिष्क पर दबाव पड़ने से हृदयगति मन्द हो जाती है । यदि हृदयगति १०० से कम और १६० से अधिक बार हो तो गर्भ आपत्ति में है, ऐसा जानना चाहिए । प्रसव के समय गर्भहृदयश्रवण एक बहुत उपयोगी कार्य है, और यदि प्रसव में विलम्ब न हो और गर्भहृदयगति १०० से कम हो तो कृत्रिम-रीत्या गर्भ को तुरन्त बाहर निकालने की कोशिश करनी चाहिए ।

(७) गर्भमृत्यु का ज्ञान—गर्भहृदय के शब्द सुनने के पश्चात् अनेक बार प्रयत्न करने पर भी यदि फिर से वे न सुनाई दें तो गर्भ की मृत्यु की कल्पना की जा सकती है—गर्भास्पन्दन-भावना प्रणालिः श्यावपाण्डुता । भवत्युच्छ्वासपूर्तिर्त्वं शूलं चान्तमृते शिशौ ॥

गर्भाशय का आकुञ्चन—यह लक्षण इस महीने से मिलता है । उसको 'श्राक्स्टन हिवस' का लक्षण कहते हैं । इसमें गर्भाशय के ऊपर उदर की दीवाल पर सपाट हथेली रखने

से गर्भाशय में आकुञ्चन की प्रतीति होती है। आकुञ्चन के समय गर्भाशय कुछ कठिन हो जाता है। यह आकुञ्चन प्रायः प्रति पाँच मिनट पर होता है, परन्तु कभी इसमें कम कभी अधिक समय पर भी होता है। यह लक्षण गर्भाशय के अर्बुद में मिल सकता है, परन्तु साधारणतया इसकी उपस्थिति गर्भावस्था की सूचक मानी जाती है।

पष्टे बुद्धिः ॥ ३६ ॥

छठे महीने में बुद्धि (अधिक प्रवृत्त होती है) ॥ ३६ ॥

वक्रव्य—तन्त्रान्तर में छठे महीने का स्वरूप—
बड़े मांसि गर्भस्य बलवर्षोपचये मवरयधिकमन्वेभ्यो मासेभ्यः।
(चरक)। षष्ठे केशरोमनत्तरिण्यकारो यमिन्द्रजानि बलवर्षोपचयश्च। (अष्टांगसंग्रह)। षष्ठे मासे मुखनासिकादिभोज्याणि भवन्ति। (गर्भोपनिषद्)।

इस महीने में गर्भ की लम्बाई एक फुट के करीब और वजन एक सेर के लगभग होता है। त्वचा में सलबट्टे होती हैं और उसके नीचे चरबी का सञ्चय होने लगता है। शू और पथम वनने लगते हैं। शिर के बाल और स्थानों की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं।

इस महीने से गर्भस्य शिशु के क्वचरणानि अंगों का ठीक परिज्ञान हो जाता है। माता के उदर को टटोलने से गर्भ के भिन्न भिन्न अंगों का पता चल जाता है। इसके सिवाय उदर पर हाथ रखने से गर्भ की गतियाँ प्रतीत होती हैं। यदि गर्भ गतिहीन हो तो उदर पर जरा सा घक्का देने से गर्भ में गति उत्पन्न होती है। पतली दीवार वाली बियों में ये गतियाँ क्वचित् दीर्घ पड़ती हैं।

अब तक गर्भावस्था के अनेक लक्षण वर्णन किये गये हैं। गर्भावस्था का निदान करने की दृष्टि से प्रत्येक लक्षण की महत्ता पृथक् पृथक् होती है। इसलिये नीचे उनकी सारणी दी जाती है।

गर्भिणीनिदानसहायक सारणी

| लक्षण | प्रतीतिवर्णन | महत्ता |
|--|---|--------------------------------------|
| (अ) १ गर्भदृश्यवृद्धन २ गर्भ के अंग ३ गर्भ की गतियाँ | अठारहवें सप्ताह के पश्चात् अन्तिम चार मास अन्तिम तीन या चार मास | निश्चितिदर्शक " " |
| (आ) १ स्तनगत परिवर्तन २ योनि वैषम्य ३ हेमर का लक्षण ४ गर्भाशयवृद्धि ५ गर्भाशय का आकुञ्चन | दूसरे महीने के पश्चात् " " " चौथे महीने के पश्चात् | सम्भाव्यता दर्शक " " " " |
| (इ) १ हीडलक्षण २ मुत्र और उदर के वर्ण में फल ३ उदरवृद्धि | दूसरे महीने के पश्चात् चौथे महीने के पश्चात् " " | साध्यतादर्शक " " " |

स्तनमे स्वर्गाङ्गप्रयङ्गपिमाणाः प्रत्यन्तरः ॥ ३७ ॥

सातवें में सर्वाङ्गों और प्रस्रवों का विभाग और भी अधिक स्पष्ट होगा है ॥ ३७ ॥

वक्रव्य—तन्त्रान्तर में वर्णन—मममे मामि गर्भः सर्वे-माँवेत्पायते। (चरक)। सप्तमे स्वर्गाङ्गमपूर्वता। (अष्टांगसंग्रह)। सर्वैः सर्वाङ्गसपूर्णां भावेः पुप्यति सप्तमे। (अष्टांगसंग्रह)।

इस महीने में गर्भ की लम्बाई १४ इंच और भार ११ सेर के लगभग होता है। त्वचा के नीचे चरबी अधिक जम जाती है, जिससे उसकी सलबट्टे कम होती हैं। पथम अलग हो जाते हैं। आँवों के ऊपर की त्वचा नष्ट होने लगती है। वृषण उदरगुहा में से वंक्षणसुरगा (Inguinal canal) में पहुँचते हैं। सचेप में जीवन के लिए म-अंग-प्रस्रवों की कम से कम जितनी वृद्धि होनी आवश्यक है, उतनी वृद्धि इस महीने के अन्त में होती है—नेत्र सर्वेः जन्मजीवनमृगोर्वावेनाङ्गैश्च सपूर्णां भवतीत्यवनिष्ठते। (अष्टांगसंग्रह) इसलिये यदि किसी कारण से इस मास के अन्त में बालक का जन्म हो जाय और उसका उचित पालन किया जा तो वह जीवित रह सकता है। इय दृष्टि से गर्भोपनिषद् में इस महीने के गर्भ का वर्णन बहुत ही सूचित किया है—मममे मासे जीवने सद्युक्तो भवति। इसका तात्पर्य यह है कि जीवनवश्यक सब अंग-प्रस्रवों में युक्त हो जाने के कारण जीने योग्य हो जाता है। पाश्चात्य लोगों का भी कथन है कि इस महीने के अन्तमें बालक जीवनक्षम Viable हो जाता है परन्तु अकार-प्रसव होने के कारण बालक दीर्घायु तथा उत्तम स्वास्थ्ययुक्त नहीं होता—उवा चाऽस्मिन् (मममे) मास गर्भो ज्ञानो जीवन्-पालप्रसवत्वात् तथा दीर्घजीविन्स्वादिक् स्यात्। (अष्टांगसंग्रह)।

At seven months, every part has increased in volume and perfect on. This is reckoned as the epoch of viability, or the period in which the foetus if expelled from the uterus, is capable of independent existence. *Eastern Anthropology*

अष्टमेऽस्थिराग्नेयस्योजः, तत्र जातश्च जीवे-चिरोजस्त्वान्न मृतं भागवत्, ततो धरिा मांसोद्दम-मममै दापयेत् ॥ ३८ ॥

आठवें महीने में (माता और बालक दोनों का) अोज अस्थिर होता है, उस समय यदि जन्म हो जाय तो भोज्य-राहित्य और नैकतभाग्य के कारण बालक जीवित नहीं रहता। अतः उस निश्चिति के लिए मांस और ओद्दम की बलि देनी चाहिये ॥ ३८ ॥

वक्रव्य—भोज्य—इसका विवरण प्रथम खण्ड के १४ पृष्ठ पर किया गया है। अन्वर्तमान—इसका कारण यह है कि इस महीने में गर्भ से माता के शरीर में और माता से गर्भ के शरीर में भोज्य का निरन्तर आना जाता होता रहता है—मममे मामि ममम मद्दने मममम माता रमहारिणीभिः सशक्तिनीभिर्मुद्गुद्गुद्गेभ्य पररपन्नं प्रादन्तने गर्भ-रसापूर्णांस्वात्। (चरक)। इसका परिणाम यह होता है कि कभी गर्भ भोज्ययुक्त होता है और कभी भोज्यविरहित होता है। न भोज्य—यदि भोज्यविरहित हो तो जीवित नहीं रहता; यदि भोज्ययुक्त हो तो जीवित रह सकता है। आठवें महीने का बालक कदापि जीवित नहीं रह सकता, यह इसका तात्पर्य नहीं है—न मद्दतीर नं

ओजसि यदि गर्भं प्रसूते तदा स जातो विनश्यति, यदा गर्भशरीरं प्राप्ते ओजसि गर्भो निष्कामति तदा ओजसः सञ्जावाज्जातो जीवति । (इन्द्रु) । अनेनोजःस्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति । (विज्ञानेश्वर) । अर्थात् आठवें महीने में जन्म लेने पर जीवित रहना या न रहना ओज की उपस्थिति पर निर्भर होता है । नैर्ऋतभाग वाच—आठवें महीने का गर्भ मरने का यह दूसरा कारण है । नैर्ऋतः—राक्षस, भूत या रजनीचर । कुछ लोगों का यह मत है कि आठवें महीने में गर्भ का जन्म होने पर मृत्यु का कारण ओजोराहित्य न होकर निशाचरों की वक्रदृष्टि है । यदि उनको मांसोदन की वलि न दी जाय तो ये गर्भ का नाश करते हैं । अतः इनको गर्भवती स्त्री आठवें महीने में स्नानादियुक्त होकर मांसोदन का वलिदान करे । अप्रत्यक्षतया ये रजनीचर गर्भ के शरीर का नहीं, उसके ओज का ही हरण करते हैं—ओजोशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमित्म् । (चरक) । इसलिए गर्भमृत्यु का कारण ओजोराहित्य ही समझना चाहिए । आधुनिक दृष्टि से यों कह सकते हैं कि सातवें तथा आठवें महीने में गर्भ का जन्म होने पर यद्यपि उसके वचने की संभावना हो सकती है तथापि उसमें ओजोराहित्य होने के कारण जीवशक्ति (Viability) कम रहती है, जिससे वह किसी न किसी व्याधिरूप आपत्ति से मर जाता है—नन्मात्तदा गभस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजतोऽनवस्थितत्वात् । (चरक) ।

Children born at this period (eighth month) are less active than those born at full term, but can sometimes be reared if carefully attended *Jellet's Midwifery.*

आठवें और नौवें महीने के गर्भ का वर्णन आयुर्वेद में इसलिए नहीं किया गया है कि इन दो महीनों में गर्भ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता । उसके अंग-प्रत्यंग सुपरिपक्व हो जाते हैं ।

From this period up to nine months there is mere increase of size and action. *Esoteric Anthropology.*

परन्तु गर्भोपनिषद् में इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है—अष्टमे मासे सर्वलक्षणमन्पूर्णा भवति । अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णा भवति ॥ एक बात का यहाँ जरूर निर्देश करना चाहिए कि सातवें महीने के अन्त तक घृषण वद्वंशसुरंगा में होते हैं । आठवें महीने में वे अपने उचित स्थान (घृषण कोष) में आ जाते हैं ।

नवमदशमेकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति ॥ ३६ ॥

(प्रसवकाल—) नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें में से किसी महीने में (गर्भ का स्वाभाविक) प्रसव होता है । इसके अनन्तर (यदि गर्भ उदर में रहे तो प्रसव) विकारी हो जाता है ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में कालप्रसव और कालातीत प्रसव की मर्यादा बताई गई है । सुश्रुत और वाग्भट के अनुसार यह मर्यादा चार महीने की होती है । चरक के

अनुसार केवल दो महीनों की होती है—तस्मिन्नेकदिवसांति-क्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान्मासात् ॥ एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कुर्वी स्थानं गभस्य । इस मतभेद को तथा मर्यादा के अन्तर को देखकर यह कहना पड़ता है कि प्रचीन ऋषियों को प्रसव का काल निश्चित मालूम नहीं था, अथवा कालप्रसव का निश्चित समय मालूम करना कठिन है, अथवा कालप्रसव का निश्चित समय, जो सब स्त्रियों में लागू हो, नहीं हो सकता । पाश्चात्य देशों में प्रसूतिशास्त्रज्ञों ने प्रसवकाल निश्चित करने के बारे में बहुत कुछ अन्वेषण किया । प्रसवकाल निश्चित करने के दो उपाय हैं—स्त्रीपुरुषसंयोग से या रजोदर्शन से । डॉ० रीड ने ४० स्त्रियों में पुरुषसंयोग के दिन से प्रसव तक के दिनों की गिनती की, तो उसको २६० से २९४ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि मालूम हुई । दूसरे डॉ० सिम्पसन ने रजोदर्शन दिन से ७८२ स्त्रियों में प्रसवकाल की अवधि निश्चित करने की कोशिश की, तो उसको ३२२ से ३२६ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि मालूम हुई । डॉ० रार्सींग ने एक ही स्त्री में तीन बार प्रसवकाल की मर्यादा पहली बार २७७ दिनों की, दूसरी बार ३२९ दिनों की और तीसरी बार २८५ दिनों की देखी । इंग्लैंड के हाजस आफ लार्डस में 'गार्डनर पीअरेज केस' में गर्भावस्था की अधिक से अधिक मर्यादा निश्चित करने की जरूरत पड़ी । उस समय सारे यूरोप के प्रसिद्ध प्रसूतिशास्त्रज्ञ गवाही देने के लिए आये थे । उनमें से कुछ लोगों ने अधिक से अधिक मर्यादा चारह महीने की या ४८ सप्ताह की बतलाई । इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसवकाल की निश्चित एक मर्यादा नहीं हो सकती, प्रत्येक स्त्री में तथा कभी कभी प्रत्येक गर्भावस्था में प्रसवकाल की मर्यादा भिन्न भिन्न होती है । इसलिए सुश्रुताचार्य ने कम से कम और अधिक से अधिक प्रसवकाल की जो मर्यादा बतलाई है, वह आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों की मर्यादा के साथ पूर्णतया मिलती है—

Moreover, prolonged gestation is a not very uncommon occurrence, with parturition at the 320th or ever 331st day and twelve month pregnancies are not unknown. On the other hand well developed children may be born as early as the 24th day *Introduction to Sexual Physiology by Marshall.*

प्रसवकाल में अनिश्चय क्यों रहता है ?—इस अनिश्चय के निम्न कारण प्रधान हैं । (१) शुक्र और शोणित के संयोग का काल निश्चय से मालूम न होना—यह देखा गया है कि पुरुषसंयोग के पश्चात् तीन सप्ताह के लगभग शुक्राणु वीजवाहिनी में सजीव रह सकते हैं । अर्थात् समागम के दिन वीज और शुक्राणु का संयोग हो सकता है, या बीस रोज के बाद हो सकता है । इस तरह समागम के दिन से गिनती करने में अधिक से अधिक बीस रोज का फर्क हो सकता है । (२) गर्भधारणा होने पर रजोदर्शन होना—कुछ स्त्रियों में शुक्रशोणितसंयोग होने के पश्चात् भी एक आध बार रजोदर्शन होता है । अर्थात्

सारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामु-
पस्नेहो जीवयति ॥ ४० ॥

(गर्भ का पोषण—) माता की रसवह नाडी में गर्भ की नाभिनाडी बँधी हुई होती है; यह नाभिनाडी माता के बाहर रस चौर्य उसको पहुँचानी है। उस उपश्लेह में गर्भ की अभिवृद्धि होती है। गर्भाधान के समय ने अपरिणत अंगप्रत्यंगविभागयुक्त (गर्भ) को सर्वशरीरावयवानुसारी रसवह तिर्यग्गामी धमनियों का उपश्लेह जीवन देता है ॥४०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भाशयस्थ गर्भ का पोषण माता से कैसे होता है, इसका वर्णन किया है। पोषण की दृष्टि से गर्भाशय के दो काल होते हैं। प्रथम काल अपरा और नाभिनाडी बनने के पूर्व का याने प्रारम्भिक तीन महीनों का, और दूसरा इनके बनने के पश्चात् का याने अन्तिम सात महीनों का होता है। शुक्रशोणितसंयोग के पश्चात् एक सप्ताह तक गर्भ बीजयाहिनी में ही होता है। वहाँ पर वृद्धि होकर उसके ऊपर पोषक और प्रचूपक एक स्तर (Trophoblast) (पीछे १८ वें सूत्र का वक्तव्य देखो) बनता है। इस स्तर के द्वारा गर्भ बीजयाहिनीगत उपस्नेह या उपश्लेह को ग्रहण करता है। वहाँ पर इस का भ्रूण कार्य नहीं होता। गर्भाशय में प्रवेश करने पर यह स्तर गर्भाशय की श्लेष्मल कला का कुछ अंग नष्ट करता है, जिसमें से होकर गर्भ भीतर प्रवेश करता है और पश्चात् यह छिद्र बन्द हो जाता है। इस अवस्था में गर्भ के चारों ओर श्लेष्मल कला की केशिकाओं से निकला हुआ रक्त तथा रक्तस भर रहता है और गर्भ के ऊपर की पोषक कोशाएँ उसमें से अपने लिए योग्य त्वाद्य द्रव्य को ग्रहण करती हैं। धीरे धीरे गर्भ के पोषक आवरण के चारों ओर से रसांकुर (Villi) निकलने लगते हैं। इनके कारण गर्भावरण और गर्भाशय की श्लेष्मल कला के बीच में काफी अवकाश (Chorion-Decidua space) उत्पन्न होता है। इस अवकाश में गर्भाशय की रक्तवाहिनियों से रक्त का संचार होता है। इस तरह गर्भ के चारों ओर इस अवकाश में रक्त की छोटी छोटी अश्लेष्मल झीलें बन जाती हैं। प्रारंभ में इन झीलों में केवल केशिकाओं से रक्त आया जाया करता है, परन्तु जब गर्भावरण के रसांकुर शाखाप्रशाखायुक्त और लम्बे हो जाते हैं, तब स्थान स्थान की धमनिकाओं और सिराओं को भी खाते हैं जिससे इन झीलों में धमनियों से रक्त आता है और सिराओं से चला जाता है। गर्भ के संपूर्ण आवरण के रसांकुर इन झीलों में जो रक्त आता है, उससे गर्भ का पोषण करते हैं। यह अवस्था छः सप्ताह तक होती है। इसके बाद वास्तविक अपरा बनने का काम जब शुरू होता है, तब गर्भावरण के समस्त रसांकुर सिकुड़ने लगते हैं और अन्त में पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। केवल जिस स्थान पर अपरा (Placenta) बनती है, उसी स्थान के रसांकुर बढ़ते रहते हैं और छः सप्ताह में अपरा पूर्ण बन जाती है। इसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा के स्थान के रसांकुरों से होता है, संपूर्ण शरीर के अंकुरों से नहीं। एवं अधिक से अधिक गर्भाधान से तीन महीनों तक गर्भ का पोषण संपूर्ण आवरण के रसांकुरों से होता है। उस समय तक अपरा और नाभिनाडी पूर्णतया बन जाती है। उसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा में होने वाले आवरणों के रसांकुरों से नाभिनाडी के द्वारा होता है।

असंज्ञावाहप्रत्यंगविभागम्—यह गर्भ का विशेषण है। यद्यपि अंग-प्रत्यंग से गर्भ के हस्तपादादि अङ्ग-प्रत्यङ्गों का बोध हो सकता है, तथापि पूर्व संदर्भ (Context) के अनुसार अंग-प्रत्यङ्गप्रतिभाग से अपरा और नाभिनाडी की पूर्ण रचना समझनी चाहिए। इससे 'अपरा और नाभिनाडी जिसकी पूर्ण नहीं बनी है, ऐसे गर्भ को' यह शब्दका अर्थ होता है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—'तो व्यक्तीभवदप्रत्यङ्ग-स्यास्य नाम्नां प्रतिवक्ष्य नाडी, नाट्यानपरा। नर्वशीरावयवानु-सारिणीनां रसवहानां धमनीनाम्—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अपरा और नाभिनाडी बनने के समय तक गर्भ के सर्वशरीर के चारों ओर माता की रसवह धमनियों से जो रस आता है, उससे उसका पोषण होता है। जब अपरा बन जाती है, तब केवल अपरानुसारी माता की रसवह धम-नियों से उसका पोषण होता है। इस सूत्र का तात्पर्य संक्षेप में और स्पष्ट शब्दों में निम्न प्रकार से प्रदर्शित कर सकते हैं—असंज्ञापरानाभिनाडीप्रतिभागनानिर्णय प्रवृत्ति सर्व-शरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति । असंज्ञापरानाभिनाडीप्रतिभागनाप्रसवापरानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥ मातस्तु षड् रसवहायां नाट्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिवक्ष्य—गर्भाशय को रक्त की रसीद गर्भाशय और बीजकोष की (Uterine and ovarian) धमनियों से मिलती है। गर्भाधान होने पर ये धमनियाँ काफी मोटी और पितृत्वात् हो जाती हैं। इनकी शाखा-प्रशाखाओं से निकला हुआ रक्त गर्भ के चारों ओर स्थान-स्थान पर इकट्ठा होता है और गर्भावरण के रसांकुर उस रक्त में से गर्भ के लिए पोषकरस ग्रहण करते हैं। जब अपरा बन जाती है, तब केवल अपरा के स्थान की शाखा-प्रशाखाएँ रहती हैं; बाकी शाखाएँ तथा गर्भके रसांकुर सच नष्ट हो जाते हैं। दूसरे गर्भ की नाभि से जो नाडी बनती है, वह भी अपरा में प्रतिवद्ध हो जाती है। इस तरह माता की रसवह नाडी और बालक की नाभिनाडी आपस में अपरा के द्वारा मिलती है। एक का रक्त दूसरे में सीधा प्रवेश नहीं करता। माता के और गर्भ के रक्त के बीच में रक्तवाहिनियों की पतली दीवाल और गर्भ का वाह्यावरण रहता है। इन दोनों से निर्मित पदां इतना सूक्ष्म होता है कि रक्त में घुले हुए पदार्थ एक तरफ से दूसरी तरफ उसमें से जा सकते हैं। जब तक गर्भ गर्भाशय में होता है, तब तक पोषण श्वासप्रश्वास और मलोत्सर्ग अपरा के द्वारा ही होता है। इसलिए माता के रक्त से पोषणद्रव्य और प्राणवायु गर्भ की ओर और गर्भ के रक्त से रक्तस्थ मल और प्रांगार द्विजारेय CO₂ माता की ओर इस पद में से चले जाते हैं। संक्षेप में पोषण, श्वसन और मलोत्स-र्जन ये अपरा के तीन कार्य हैं। इन तीन कार्यों के सिवा माता के रक्तगत विष और जीवाणुओं से गर्भ की रक्षा करना तथा अपने अन्तःस्राव (Internal secretion) से गर्भवृद्धयर्थ गर्भाशय और स्तनों की वृद्धि कराना ये भी और दो कार्य अपरा के होते हैं (पीछे १९वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। अपरा की उत्पत्ति और गनावट गर्भाधान के समय से गर्भाशय की अन्तःकला मोटी होने लगती है और चार पाँच महीने के बाद वह दसगुना मोटी हो जाती है। उसका बाहरी भाग अधिक ठोस होता है और भीतरी (गर्भा-शय की पेशी के साथ लगा हुआ) कुछ शिथिल होता है।

इस रचना के अनुसार अन्त कला की निविडस्तर (Stratum Compactum) और विरलस्तर (Stratum spongiosum) करके दो तह बनती है। वीजवाहिनी में से आया हुआ गर्भ निविडस्तर को खाकर विरलस्तर में प्रवेश करता है। गर्भ के प्रवेश से अन्त कला के तीन हिस्से बनते हैं। जो हिस्सा गर्भ और गन्धाशयपेदी के बीच में होता है, वह मूलकला (Loida Mass) कहलाता है, जो गर्भ के चारों ओर (मूलकला को छोड़कर) होता है वह पिधानकला (Lactifera Cuticularis) कहलाता है, और जो शेष गर्भाशय के ऊपर होता है वह पतनकला (Decidua Vera) कहलाता है। गर्भावस्था के प्रारम्भिक छः सप्ताह तक गर्भ के चारों ओर पिधानकला और मूलकला में माता की रसवह धमनियों से जो रस आता है, उसको गर्भ अपने सम्पूर्ण शरीर के आवरण के रसाकुलों से चूसकर बरता है। उसके पश्चात् गर्भाशय की अन्त कला की वृद्धि केवल मूलकला के स्थान पर होती रहती है, गर्भावरण के रसांकुर भी वहीं पर वर्धित और शाखा-प्रशाखायुक्त होते हैं। कुछ रसांकुर मूलकला में भरी भोजित चिपटे रहते हैं और कुछ केवल गर्भावरण और मूलकला के बीच में खून से भरी झीलों में निमज्जित रहते हैं। मूलकला के स्थान के अनिरीक गर्भावरण में जो रसांकुर होते हैं, वे धीरे धीरे सिकुड़ने लगते हैं और तीन महीने के पश्चात् गर्भ मोटा होने के कारण जब पिधानकला पतनकला से मिल जाती है, तब वे पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं और पिधानकला भी नष्ट हो जाती है। प्रारम्भ में गर्भावरण के रसाकुलों में वाहिनियाँ नहीं होतीं परन्तु धीरे धीरे वह बनने लगतीं और पूर्ण प्रगल्भ रसांकुर में एक छोटी सिरा और धमनी होती है। इनमें बालक का रक्त संचार करता है। माता के और बालक के रक्त में केवल एक पतला परदा होता है। सर्वेषु मूलकला और उसके सामने के गर्भावरण के रसाकुलों की वृद्धि से अपरा बनती है। यह वृद्धि मोटाई और गहराई दोनों दिशा में होती है। अपरा की एक ओर मूलकला होती है, दूसरी ओर गर्भावरण होता है, दोनों के बीच में रक्ताशय होता है, जिसमें माता की गर्भाशय की धमनियों की शाखा प्रशाखाओं ने रक्त आता है और छोटी सिराओं से चला जाता है और जिसमें गर्भावरण के रसांकुर सदैव निमज्जित रहकर पोषक द्रव्य का प्रचूषण और त्याग्य द्रव्य का उत्सर्जन करने रहते हैं। पूर्ण प्रगल्भ अपरा का व्यास ८-९ इंच होता है, मध्य में उसकी मोटाई एक इंच के लगभग होती है परिसर पतला होता है और तोल ४०-६० तोले के लगभग रहता है। अपरा गर्भाशय की मुन्नी Fundus में चिपने रहती है। गर्भ की ओर उसका जो शृष्ठ भाग होता है, वह गर्भ के अन्तरावरण या उरुच (Amnion) से जाच्छादित होने के कारण चिकना और मुलायम होता है और उसमें से नाभिनाडी की धमनियों और सिराओं की शाखा प्रशाखाएँ दीर्घ पकती हैं। गर्भाशय की ओर का भाग निम्नोन्नत और खुरदरा होता है। गर्भाशय में अपरा की मोटाई में छेद करने से गर्भ से गर्भाशय की ओर निम्न स्तर मिलते हैं—(१) गर्भ का अन्तरावरण। (२) जरायु या बाह्यावरण (Chorion)। (३) बाह्यावरण के रसांकुर और उनके बीच का अवकाश जिसमें माता का रक्त संचार करता

है। (४) गर्भाशय की अन्त-कला का हिस्सा। (५) गर्भाशय की पेदी।

नाभिनाडी—नाभिनाडी गर्भ की नाभि से अपरा के मध्य तक होती है। इसकी लम्बाई साधारणतया १८-२० इंच होती है। कभी कभी नाभिनाडी का अभाव होता है, याने नाभि सीधी अपरा से लगी रहती है। यह श्वसत्या प्रायः नाभिगत आम्ब्रवृद्धि (Umbilical hernia) में हुआ करती है। कभी कभी यह बहुत लम्बी होती है। एक बालक में इसकी लम्बाई ६३॥ इंच मिली थी। नाडी की लम्बाई कम होने से बालक के बाहर निकलने में कठिनाई होती है, या बालक बाहर निकलते समय वह टूट जाती है या अपने साथ जर्जरस्ती से अपरा को खींच लेती है। इसमें माता और बालक को खतरा होता है। नाडी अधिक लम्बी होने से गर्भ के शरीर या गले पर उसके आवेष्टन पढ़ने का डर रहता है। ये आवेष्टन अधिकतर गले के ऊपर ही होते हैं। गले के ऊपर या हाथ पैरों के ऊपर नाडी के आवेष्टन से गर्भ की श्वापु हो सकती है या आवेष्टित अंग की ठीक वृद्धि नहीं होती। यदि ये आवेष्टन सग न हों तो कोई बुरा परिणाम नहीं होता। आवेष्टन लम्बी नाडी को छोटा बनाने का एक स्वाभाविक तरीका है। अधिक आवेष्टन से नाडी छूटी हो जाती है और छूटी नाडी के सब दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार का आवेष्टन (Clog) अनेक गर्भों में दिखाई देता है। चर्चिल नामक प्रसवचिकित्सक को १९० प्रसूतियों में से ५२ में नाडी के आवेष्टन मिले। आयुर्वेद में नाडी के कण्ठावेष्टन का उल्लेख मिलता है और यह घटना आपत्तिजनक बानी गई है और उसका कारण माता का उत्तानशयन करने लाया गया है—उत्तानशयनाशिम्या पुन गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडा कण्ठानु इत्यति। (चरक, शा० ८)। आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में इसका कोई कारण नहीं बतलाया जाता है। नाभिनाडी में दो धमनियाँ, एक सिरा और कुछ लसदार पदार्थ (Wharton's Jelly) होता है, और इन सबके ऊपर अन्तरावरण का गिलाफ चढ़ा रहता है। नाभि नाडी में बाईं से दाईं ओर स्पैल्लो भी होती है। नाभिनाडीगत सिरा अपरा के रक्तावकाशों से शुद्ध रक्त गर्भ की ओर ले जाती है और धमनियां गर्भ से अशुद्ध रक्त अपरा की ओर ले जाती हैं।

गर्भस्थ रक्तसंचरण (Foetal circulation)—अष्टांग-सप्रह में गर्भ के रक्तसंचरण का क्रम निम्न प्रकार से वर्णन किया है—नपरात् प्रश्रुत गर्भाशयोपलक्षोपरन्दी वननम्। ततो न्यचीभवदङ्गप्रवहस्यास्य नाभ्यां प्रतिवह्य नाभौ, नाभ्यामपरा, स्वा मानुहृदयम्। ततो मानुहृदयवादाहारसो भसनाम हृदय-मानोऽपराशुपेत। तत मनाश्रानिम्। तत्रह स पुनर्गर्भस्थ पदाशये स्वनाशानिनात पच्यमान प्रमदावाङ्गुयाम्नातापिष्टिसर सपघते ॥ अपरा से शुद्ध रक्त नाभिसिरा द्वारा नाभि में से होकर यकृत में प्रवेश करता है। उसमें से कुछ रक्त सीधा सेतु सिरा (Ductus venosus) से अथवा महासिरा में प्रविष्ट होता है। बाकी रक्तविहारिणी महासिरा में प्रवेश करके समस्त यकृत में संचार करके अथवा महासिरा में मिलता है। अथवा महासिरा का रक्त दक्षिणागल्लिन्द में जाकर शुक्तिचिद्र (Foramen ovale) द्वारा सीधा वामागल्लिन्द में से वामा-

निलय में आता है और महाधमनी के द्वारा समस्त शरीर में परन्तु विशेष करके मस्तिष्क और सिर में संचार करता है। उत्तरा महासिरा के द्वारा आया हुआ रक्त भी दक्षिणालिन्द में आता है, परन्तु वह अधरा महासिरा के रक्त से संमिश्र न होकर दक्षिणनिलय में जाकर, वहाँ से फुफ्फुसाभिगा धमनी के द्वारा फुफ्फुस में जाकर वामानिलय में फुफ्फुससिराओं से आता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि रक्त फुफ्फुस में विशेषण के लिए नहीं जाता, फुफ्फुसपोषण के लिए जाता है। अधिक रक्त फुफ्फुसाभिगा धमनी से सेतुधमनी (Duc. u. a. b. 105) द्वारा महाधमनी में प्रविष्ट होकर समस्त शरीर में परिभ्रमण करता है। इस तरह समस्त शरीर में परिभ्रमण करके उत्तरा और अधरा महासिरा द्वारा हृदय में आता है और शरीरगत रक्तपरिभ्रमण जारी रहता है। परन्तु अधोशाखा में आये हुए रक्त का कुछ हिस्सा आभ्यन्तरीय अधिश्रोणिकाधमनियों की दो शाखाओं द्वारा नाभिधमनियों में आकर अपरा में शुद्ध होने के लिए जाता है और शुद्ध हुआ रक्त नाभिसिरा द्वारा फिर गर्भ में प्रवेश करता है। इस तरह गर्भ का रक्तपरिभ्रमण होता है। गर्भस्थ रक्तसंवहन की विशेषताएँ—गर्भावस्था में फुफ्फुस बेकाम होता है, उसका कार्य अपरा करती है। सबसे विशुद्ध रक्त यकृत को मिलता है। गर्भस्थ बालक में यकृत एक बहुत महत्व का अंग है। इसी में माता से जो पोषकरस आता है, उसका परिवर्तन रक्त में होता है। 'स खल्वप्यो रसो यकृतप्लीहानी प्राप्य रागमुपैति' (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७७) यह कथन गर्भ के संबंध में पूर्णतया सत्य है। इसके सिवाय जन्मोत्तर चरितवर्तनकाल में दूध में लोहे की कमी होने के कारण शरीर को हानि न पहुँचे, इसलिए गर्भस्थ बालक माता के आहाररस से अधिक लोहे का ग्रहण करके उसको यकृत में संचित करता है। इनके कारण गर्भ का यकृत बहुत बड़ा होता है। जवान मनुष्य में यकृत का भार शरीर के भार का १/६ वाँ अंश होता है। परन्तु गर्भ में वह १/३ वाँ अंश होता है। सिर और ऊर्ध्व शाखाओं को कुछ कम शुद्ध रक्त मिलता है और उदरविभाग तथा अधोशाखाओं को सब से अशुद्ध रक्त मिलता है। इसलिए अधोशाखा की धमनियों से दो धमनियाँ रक्त को शुद्ध करने के लिए अपरा की ओर जाती हैं। वही नाभिनाडी की धमनियाँ हैं। इनके सिवाय रक्तपरिभ्रमण मार्ग की कुछ रचनाविशेषताएँ भी होती हैं। (१) सेतुधमनी—इससे नाभिसिरा द्वारा आया हुआ रक्त सीधा अधरा महासिरा में जाता है। (२) सेतुधमनी—इससे दक्षिणनिलय का रक्त सीधा महाधमनी में चला जाता है। (३) शुक्तिच्छिद्र—इससे अधरा महासिरा का आया हुआ रक्त दक्षिणालिन्द से सीधा वामालिन्द में चला जाता है। (४) अधिश्रोणिका धमनियाँ—इससे गर्भ का रक्त शुद्ध होने के लिए अपरा की ओर जाता है। ये ही धमनियाँ नाभि के बाहर आने पर नाभिधमनियाँ कहलाती हैं। गर्भ का जन्म होने के दो से पाँच रोज के भीतर शुक्तिच्छिद्र के सिवाय बाकी मार्ग बंद हो जाते हैं। इस तरह माता का रक्तसंवहन स्वतन्त्र होता है, गर्भ का भी स्वतन्त्र होता है। दोनों के रक्त का संयोग

(संमिश्रण नहीं) अपरा में होता है। वहाँ माता अपने शुद्ध रक्त से अपरा की पतली दीवाल के द्वारा गर्भ को पोषकद्रव्य और प्राणवायु दान करती है और गर्भ के अशुद्ध रक्त से प्रांगार द्विजारेय (कार्वन डायोक्साईड) और मल का प्रतिग्रहण करती है। माता और गर्भ के रक्त का मिश्रण नहीं होता, इसका स्पष्ट निर्देश 'उपस्नेह' शब्द से होता है—पूर्णासरःसलि-लोपस्नेहस्तीरजातकन्दम्वकं जीवयति तद्वत् प्राणधारणं करोतीत्यर्थः। (दल्लहण)। आनिपेकात् प्रभृति—आ समन्ततो भावेन निषेचन-मानिषेको योनौ शुक्रस्य निषेचनं तत्प्रभृति गर्भाधानं मर्यादीकृत्य इत्यर्थः। (दल्लहण)। त्रियेगतानां धमनीनाम्—नौवें अध्याय में वर्णन की हुई धमनियों का।

गर्भस्थ खलु संभवतः पूर्वं शिः संभवतीत्याह शौनकः शिरोमूलान्वात्प्रधानेन्द्रियाणाम्, हृदयमिति कृतवीर्यं बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्, नाभिरिति पाराशर्यस्ततो हि वर्धते देहो देहिनः पाणिपादमिति मार्कण्डेयस्तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्थ, मध्यशरीरमिति सुभृत्गौतमस्तन्नवत्त्वात् सर्वगात्रसंभवस्य ॥४१॥

प्रधान इन्द्रियाँ शिरोमूल होने से शौनक ऋषि का मत है कि उत्पन्न होने वाले गर्भ का सब से प्रथम शिर उत्पन्न होता है। बुद्धि और मन का स्थान होने से हृदय (सब से प्रथम उत्पन्न होता है), यह कृतवीर्य का मत है। प्राणी के शरीर की वृद्धि नाभिद्वारा होती है अतः नाभि (प्रथम उत्पन्न होती है), यह पाराशर्य का मत है। गर्भ की चेष्टाओं का मूल होने से पाणिपाद (प्रथम उत्पन्न होते हैं), यह मार्कण्डेय का मत है। संपूर्ण गात्रों की उत्पत्ति वहाँ पर निबद्ध होने से मध्यशरीर (धड़, अन्तराधि प्रथम उत्पन्न होता है), यह सुभृत् गौतम का मत है ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भावस्था में सब से प्रथम गर्भ के किस अङ्ग की उत्पत्ति होती है, इसके संबंध में प्राचीन काल में जो मतमतान्तर प्रचलित थे, उनका संग्रह किया है। इनके अतिरिक्त चरक में निम्न अधिक मत दिये हैं—पश्वा-शयगुदमिति भद्रशौनको मास्ताधिष्ठानत्वात् । इन्द्रियाणीति जनको वैदेहः तान्मन्य बुद्धयधिष्ठानानोति कृत्वा ॥ गर्भ के अंग-प्रत्यङ्गों की उत्पत्ति के संबंध में विविध आचार्यों के इस मतमतान्तर को देखकर अंधों के द्वारा हाथी के संबंध में प्रदर्शित किये हुए मतमतान्तर की याद आती है। इन आचार्यों ने केवल एक एक अंग के एक एक कार्य को महत्व देकर उसके अनुसार अपना मत प्रदर्शित किया। यहाँ अंधा शब्द का प्रयोग निरादर प्रदर्शित करने के लिए नहीं किया गया है, वस्तुस्थिति प्रदर्शनार्थ प्रयुक्त किया है। चरक में मतप्रदर्शन के समय एक आचार्य कहते हैं—'परोक्षत्वाच्चित्यमित्ता मारीचः कश्यपः । सम्भवतः—'उत्पन्न होने वाले गर्भ का' (विशेषण) अथवा 'प्रायशः, कदाचित्' (अव्यय) । प्रधानेन्द्रियाणाम्—ज्ञानेन्द्रियाणाम् । ततो हि वर्धते देहो देहिनः—नाभि के द्वारा माता का आहाररस गर्भ के शरीर में जाकर उसकी वृद्धि होती है, इसलिए ।

तत्तु न सम्यक्, सर्वान्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत्

उत्तरत्र—चतुर्थ अध्याय के अन्त में ८० वें श्लोक से सत्त्व के लक्षणों का विचार किया गया है। मेधा—धीर्धारखावती मेधा । (अमरकोष) । आत्मज—मातृजादि शब्दों में 'ज' उत्पत्ति बोधक होता है। परन्तु आत्मा के बारे में यह अर्थ असम्भव है क्योंकि आत्मा निर्विकार होता है। इसलिए आत्मज से 'आत्म-सन्निकर्षजन्य' समझना चाहिए।

इस सूत्र में गर्भोत्पत्ति की सामग्री के साथ उसके प्रत्येक घटक से गर्भशरीर में उत्पन्न होने वाले अंगों और भावों का वर्णन किया है। इस विषय का विशेष विवरण चरक शारीर के तीसरे अध्याय में किया गया है। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उपर्युक्त सामग्री में से कोई भी एक या दो द्रव्य गर्भोत्पत्ति करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। सब भाव एक समय में उपस्थित होने से गर्भोत्पत्ति होती है—सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—समुदितेभ्य इति वचनात् प्रत्येक मात्रादीनामित्तरकारणनिरपेक्षाणां गर्भकारणत्वं निषेधयति। इस विषय के अन्त में चरकाचार्य लिखते हैं—यवसयं नानाविधानामेषां गर्भकारणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः, यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा वा रथो नानारथाद्गसमुदायात् ॥ (शारीर ३)। ऐसी अवस्था में इस सूत्र में सामग्री के प्रत्येक घटक के सामने जो भाव निर्दिष्ट किये हैं, उनके सम्बन्ध में 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से यह समझना चाहिए कि अमुक भावों की उत्पत्ति में अमुक घटक प्रधान है और शेष अप्रधान हैं। अब प्रत्येक के सामने वर्णन किये हुए भावों का विचार किया जाय तो मातृज और पितृज भावों का वर्गीकरण कहाँ तक ठीक है इसके सम्बन्ध में कुछ सन्देह हो जाता है। इसके सम्बन्ध में इतना कथन पर्याप्त है कि यह वर्गीकरण गुणाधार पर किया गया है—वृद्धनि मातृजानि, स्थिराणि पितृजानि ॥

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिणाक्षिमहत्त्वं च, पूर्वं च दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति वाहुल्याच्च पुत्रामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति स्वप्नेषु चोपलभते पयोत्पलकुमुदाप्रातकादीनि पुत्रामान्येषु प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्यां, यस्याः पार्श्वद्वयसुश्रुतं पुरस्ताच्चिर्गतमुदरं प्रागभिहितलक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्, यस्या मध्ये निम्नं द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति ॥ ४४ ॥

(गर्भ के स्त्रीपुंनपुंसकलक्षण—) उसमें जिसके दक्षिण स्तन में प्रथम दूध दिखाई दे; दक्षिण आँख भारी हो; (चलते समय) जो दाहिने पैर को प्रथम उठाकर चलना प्रारम्भ करती है; जिसका दोहद अधिकतर पुँसिल्ली द्रव्यों में होता है; स्वप्न में जो पद्म, उत्पल, कुमुद, आन्नातक इत्यादि पुंनामक द्रव्यों को देखती है; जो प्रसन्न मुखवर्ण होती है उसे कहना चाहिए कि वह पुत्र को उत्पन्न करेगी। इससे विपरीत हो तो (कहना चाहिए कि वह) कन्या को (उत्पन्न करेगी)। जिसके दोनों पार्श्व ऊँचे हों, पेट आगे को (मध्य में) सपाट हो और पूर्वोक्त लक्षण हों उसका (गर्भ) नपुंसक समझना चाहिए। जिसका

उदर बीच में दवा हुआ द्रोणी के आकार का है, वह युग्म (दो बच्चों) को जन्म देती है (ऐसा जानना चाहिए) ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति—जत्र या दक्षिणं पादं पूर्व-मभिसरति । (अष्टांगसंग्रह) । पयोत्पलकुमुद—कमल के विविध प्रकार (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७३ देखो)। विपर्यये—इसके विरुद्ध लक्षण होने पर। जैसे दक्षिण के बदले वाम, पुत्राम के बदले स्त्रीनाम इत्यादि। मध्ये निम्नम्—गर्भाशय में दो बालक होने के कारण दोनों के मध्य का भाग कुछ निम्न होता है, परन्तु यह मध्यनिम्नता दृष्टिगम्य न होकर स्पर्शलभ्य होती है। द्रोणीभूतम्—पानी भरने के लिए लकड़ी या पत्थर का जो बड़ा पात्र बनाया जाता है, वह द्रोणी कहलाता है। यहाँ पर द्रोणी से पेट के अधिक बड़े होने से अभिप्राय है। यह देखा गया है कि जब उदर में दो गर्भ होते हैं तब नाभि के पास उदर की परिधि (Girth) एक गर्भ की अपेक्षा दो से चार इंच तक अधिक होती है।

इस सूत्र में गर्भलिङ्गसूचक जो लक्षण वर्णन किये हैं, उनका गर्भलिङ्ग के साथ कार्यकारणभाव की दृष्टि से (Physiologically) कोई संबंध नहीं है। इसलिए ये लक्षण प्रत्येक गर्भवती स्त्री में नहीं मिल सकते और यदि मिल जायें तो भी संपूर्ण गर्भावस्था में एक-से नहीं हो सकते। अतः इनके ऊपर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। ये लक्षण अधिकतर दौहद की जाति के हैं, जो श्रद्धायुक्त गर्भवती स्त्री में कभी कभी मिल सकते हैं और जिनकी उत्पत्ति का तत्त्व दौहदोत्पत्ति के समान (पीछे इस अध्याय में २६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हो सकता है। आधुनिक काल में भी गर्भलिङ्गनिर्णय के संबंध में कुछ विचार किया गया है, परन्तु अभी तक इसमें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई है। तथापि निम्न तीन नियम, जो गर्भ तथा तज्जन्य शरीरपरिवर्तन पर निर्भर होते हैं, मार्गदर्शक हो सकते हैं।

(१) स्त्रीगर्भ की अपेक्षा पुरुषगर्भ का भार अधिक होता है। यह फर्क प्रथमप्रसवा (Primiparae) स्त्री की अपेक्षा बहु-प्रसवा (Multiparae) स्त्री में अधिक होता है। (२) स्त्री-गर्भ की अपेक्षा पुरुषगर्भ के हृदय की गति कुछ कम होती है। (३) सगर्भावस्था में स्त्री के शरीर से सूत्रद्वारा न्यासर्ग (Hormone, प्रणालीहीन ग्रंथियों से उत्पन्न होने वाले पदार्थ) अधिक मात्रा में उत्सर्गित होते हैं। उनकी राशि के अनुसार भी स्त्री या पुरुष का निर्णय (Hormonic diagnosis) करने की कोशिश की जाती है।

गर्भ के लिङ्गनिर्णय में जैसी कठिनाई होती है, वैसी कठिनाई युग्मनिर्णय में नहीं होती। युग्म का निदान निम्न चार पद्धतियों से किया जाता है। (१) परिधिमपन—इसका उल्लेख ऊपर द्रोणीभूत की टिप्पणी में किया गया है। (२) स्पर्शन—उदरविभाग पर ट्योलने से दो गर्भों के दो सिर, कभी दोनों नीचे की ओर, कभी एक नीचे और एक ऊपर, दो पीठ और शाखाओं की अधिकता प्रतीत होती है तथा दोनों के बीच में प्रणाली रहती है। इसी के उपलक्ष्य में इस सूत्र में 'मध्ये निम्नम्' शब्द प्रयोग किया गया है। (३) श्रवण—चतुर्थ मास के पश्चात् गर्भवती स्त्री के उदर पर कान लगाने से या श्रवणनलिका से गर्भहृदय के स्पन्द सुनाई देते हैं। उदर में दो गर्भ होने से दो हृदय के स्पन्द

सुनाई दे सकते हैं। इसलिये यदि दो सुननेवाले माता के उदरविभाग के दो स्वतन्त्र स्थानों पर एक समय में दो स्वतन्त्र हृदयों को सुनकर उनकी स्पन्दनसंख्या गिन सके और यदि प्रत्येक हृदय की गतिसंख्या दूसरे की तथा माता के हृदय की गतिसंख्या में भिन्न हो तो युग्म का निदान हो जाता है। युग्मनिदान का यह मार्ग बहुत विश्वसनीय और सरल है। (४) एच-किरण (Radiography) — एच-किरणों के द्वारा देखने से या चित्र खींचने से भी युग्मनिदान हो जाता है। जब दोनों गर्भ दो पाशों में होते हैं तब निदान में विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु जब एक पीछे और दूसरा आगे की ओर होता है, तब निदान में कठिनाई हो जाती है।

भवान्त चान्—

देवताप्राज्ञपरमः शोचाचारहिते रताः ।

महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान् ॥ ४५ ॥

देवता-प्राज्ञपरायण, (शास्त्र) शुद्ध और हितकर आचार में रत (माता या माता-पिता) गुणवान् संतान को जन्म देते हैं और विपरीत (आचारयुक्त) गुणहीन (संतान) को (उत्पन्न करते हैं) ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—शोचाचारहिते रता—शोचाचारे हितान्वारे च रताः। शोचाचार—धर्मशास्त्र में जो आचार बताये गये हैं, उनके अनुसार व्यवहार। हितान्तर—आयुर्वेद में जो स्वास्थ्यकर आचार बताये गये हैं, उनके अनुसार व्यवहार। महागुण और निर्गुण—गुण से यहाँ पर शारीरिक और मानसिक गुणों का बोध होता है। महागुण जीव वह है, जिसके शरीर में कोई ब्यग न हो तथा मन में कोई मानसिक दोष न हो (प्रथमखण्ड पृष्ठ ८ तथा ३५० देखो)। इससे विपरीत शारीर-व्यगयुक्त और मानसिक दोषयुक्त निर्गुण होता है।

इस श्लोक में यह बताया गया है कि जब माता-पिता सदाचार और हितान्तर के अनुसार व्यवहार रखते हैं, तब उनके संतान धीनाङ्गुरन्यायेन सब दृष्टि से गुणवान् होते हैं—यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम् । (महाभारत, दान्तिपर्व)। यथा बीज तथाकुर । परन्तु यह नियम सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में निरपवाद नहीं है। संसार में कई बार यह देखा जाता है कि माता-पिता सच्चील, सदाचारी और गुणवान् होते हुए भी उनके सन्तान कभी शारीरिक ब्यगों से युक्त, कभी मानसिक दोषों से युक्त और कभी दोनों से युक्त दिखाई देते हैं। यदि केवल माता-पिता के गुणावगुण के ऊपर सन्तान के गुणावगुण निर्भर होते तो इस तरह का हरय बन्दाधि नहीं दिखाई देता। परन्तु इसमें माता-पिता के गुणावगुण के अतिरिक्त और एक कारण होता है, जिसका निर्देश नीचे सार्ध श्लोक में करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्गुत्तिः २-भाजादेव जायते ।

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्गुत्तो ये भवन्ति गुणागुणाः ॥

ते ते गर्भस्य शिक्षेया धर्माधर्मनिमित्तजाः ॥ ४६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भावकाशिन-
शारीर नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गों की निष्पत्ति स्वभाव से ही होती है।

(परन्तु) अङ्गप्रत्यङ्गों की निष्पत्ति में जो गुणावगुण होते हैं,

वे गर्भ के (पूर्वजन्म के) धर्माधर्म के कारण समझने चाहिये ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—अङ्गप्रत्यङ्ग—हाथ-पैर, धड़ और सिर ये छ अंग और इनके भीतरी हृदय, यष्टु, प्लीहा इत्यादि अवयव प्रत्यङ्ग होते हैं। इनमें मन, बुद्धि इत्यादि मानसिक गुणों का भी समावेश होता है। निर्गुत्तिः—अङ्गप्रयोगितसंयोग होने के पश्चात् उपर्युक्त शारीरगत सपूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गों का सुव्यवस्था होना, यथाकाल और यथोचित उनकी वृद्धि होना और योग्य समय पर प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वरूप जैसा होना चाहिये, वैसा बनना इसको निर्गुत्ति (Growth and development) कह सकते हैं। रत्नभाषा—इसका विवरण पीछे प्रथम अध्याय में हो चुका है। जैसे, पानी नीचे की ओर बहता है, अग्निज्वाला ऊपर की ओर उठती है इनको किसी के मार्गदर्शित्व की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही संयुक्त अङ्गप्रयोगित को विविध अङ्गों की निष्पत्ति के लिए किसी के मार्गदर्शित्व की आवश्यकता नहीं होती। गुणागुण—बनापट और कार्य की दृष्टि से जो अङ्ग जैसा होना चाहिये, वैसा होना उसका गुण, इससे विपरीत अवगुण। जैसे, हृदय में चार कोष्ठ होना, कोष्ठों के कपाटयुक्त द्वार होना, गर्भावस्था में दो अलिम्बों की दीवाल में शुक्तिचिह्न (Foran on ovale) का होना, जन्म के पश्चात् दस दिन के भीतर उमका बन्द होना इत्यादि हृदय के गुण हैं। इससे विपरीत, जैसे शुक्तिचिह्न का बन्द न होना इत्यादि, अवगुण होते हैं। महास्रोत (Alimentary canal) एक बड़ा अङ्ग जिसमें कई प्रत्यङ्ग होते हैं। महास्रोत का मुख से गुदा तक का मार्ग अनवरत होना, सब प्रत्यङ्ग यथास्थान होकर उनकी रचना ठीक होना ये महास्रोत के गुण हैं। ओष्ठ खण्डित होना (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४०९ देखो), ताळु में विदार (Cleft palate), गुदनलिका की अनिच्छिद्रता (Imperforate anus) इत्यादि उसके अवगुण होते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि निर्गुत्ति के अवगुणों से यहाँ पर सहज या जातन दो' (Congenital malformations Developments errors) अभिप्रेत हैं।

इस श्लोक का संक्षेप में तात्पर्य यह है कि मनुष्य या अन्य प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि में स्वभाव से बन्द नियमावगुणों का काम करता है, नियम के विरुद्ध काम उसके कदापि नहीं होता। आधुनिक काल में जो स्वभाव के अवगुण (Freaks of nature) कहलाते हैं, वे वास्तव में स्वभाव के नहीं होते हैं, परन्तु जिनमें ये अवगुण दिखाई देते हैं उसके पूर्वजन्म के कर्म के फल होते हैं, चाहे ये अवगुण मनुष्यों में हों या मनुष्यतर प्राणियों में हों, क्योंकि जैसे एक ही आत्मा अपने पूर्वजन्म से उष्ण या शीत योनि में प्रवेश करता है, वैसे धर्माधर्म का फल भोगने के लिए अव्यङ्ग या सम्बन्ध शरीर को पाता है।

इति भास्कररामेणा गोविन्दरायणेन विरचितायामसुश्रुतसंह-
दीपिकायां सुश्रुतभाष्यटीकायां शारीरस्थाने गर्भावकाशिन-

शारीर नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो गर्भव्याकरणं नाम शारीरं व्याख्या-
स्यामः । यद्यो च भगवान् पन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अथ एतके वाद् गर्भव्याकरणं नाम च शारीरं वा व्याख्यानं
करते है, जैसे कि भगवान् पन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

पञ्चरूप—आकार—विस्तार करना—आयुर्वेदे (स्वच्छे)
आयुर्वेदे प्रो (स्त्रीप्रो) में आकार—गर्भव्याकरण—विस्तार
अध्याय में गर्भ की उत्पत्ति और वृद्धिक्रम वर्णन किया है । इस
अध्याय में गर्भ के अर्धों का विस्तार से वर्णन किया गया है,
इसलिए यह अध्याय गर्भव्याकरण कहलाता है ।

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि
भूतारमेनि प्राणः ॥ २ ॥

(शरीर के जीवनीय तत्व—) अग्नि, कर्क, वायु, सत्व,
रज, तम, (नेत्रादि) पांच (ज्ञान की) इन्द्रियाँ और
पुरुष ये प्राण हैं ॥ २ ॥

पञ्चरूप—अग्नि—अग्नि—अग्नि—शरीर—विस्तार—पांचः
पञ्चभूतानिः शुभामुमि कर्कः । (चरक) । सोमः—
कर्म—सोम च शरीरं विस्तारयतिः रजिपद्विभिः शुभामुमि
कर्कः । (चरक) । भूताना—अपने शुभामुम कर्म के
कारण पञ्चभूतानामक शरीर में अवस्थित हुआ पुरुष,
कर्मात् कर्मपुरुष—भूते भूते अवस्थितः आत्मा भूताना ।
वृत्तिय अध्याय के चतुर्थ सूत्र के अन्वय में भूताना हेतु ।
भूताना—जीवन्मूर्ति भावाः प्राणनाद् भावाः । पञ्चभूतानामक
चतु शरीर में जीवन या चैनन्यता के लक्षण जिनके कारण
उत्पन्न होते हैं, वे तत्त्व प्राण कहलाते हैं । यद्यपि पान्चव में
पुरुष चैनन्यता का कारण है, तथापि वह स्वयं उन लक्षणों
को उत्पन्न नहीं कर सकता, उसको वृद्ध कारणों की आवश्यकता
होनी है—आभासः कर्मयोगात् प्राणं तत्र प्रवर्तते । कर्मा-
नामपेक्षयाद्योगात् न वर्तते ॥ नैऋत प्रवर्तते कर्तुं भूताना नास्तु-
ते कर्मन् । संयोगात्तत्र सर्वं तन्मूर्ति भावाः मिच्छन् । (चरक,
शारीर १) । चैनन्यता के लक्षण (Signs of life) प्रथम
अध्याय के ३८ वें सूत्र में आत्मा के लिङ्ग करके दिये गये हैं ।
आधुनिक काल में जीवन के पांच लक्षण माने गये हैं । (१)
उदात्तता—(Irregularity) —घात उत्तेजना या आघात से
उदात्त होकर उसके प्रतीकार के लिए या शरीररक्षा के लिए
उचित परिवर्तन करने की शक्ति । (२) सात्विककरणः (Assim-
ilation) ;—चाय पेय पदार्थों को सेवन करके उनको हजम
करना । (३) वर्धन—दिन-प्रतिदिन शरीर की वृद्धि करना ।
(४) प्रजोत्पादन—अपने समान जीवधारियों को जन्म देना ।
(५) मलोत्सर्जन—शरीरगत त्याज्य पदार्थों का उत्सर्ग करना ।
ये लक्षण सब जीवधारियों के लिए लागू हैं । आयुर्वेद शास्त्र
मनुष्यों के लिए होने के कारण जीवन के दिये हुए लक्षण मनुष्य-
प्राणी का अधिक स्थूल रखके दिये गये हैं । तथापि उनसे भी
आधुनिक पाँचों का अर्थ निकलता है । यहाँ पर जो चारह प्राण
दिये गये हैं, उनमें त्रिदोष सात्विककरण, मलोत्सर्जन, वर्धन
हृत्वादि के द्वारा, त्रिगुण सुख-दुःखादि के द्वारा शरीर में
चैतन्य का प्रदर्शन करते हैं । पञ्चबुद्धीन्द्रियाँ विषयोपलब्धि
के द्वारा वही कार्य करती हैं ।

तस्य सत्वैर्वप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपन्व्य-
मानस्य चौरस्येव सन्तानिकाः सप्त इत्येव भवन्ति ।
तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्ववर्णानघमा-
सयति पञ्चविधो च द्वायां प्रकाशयति, सा प्रोद्देर-
ष्टादशभागप्रमाणा, सिन्धुपत्रकण्टकाधिष्ठानाः द्वि-
तीया लोहिता नाम, प्रोद्देरष्टादशभागप्रमाणा, ति-
लमालकान्यचन्द्रव्यङ्गाधिष्ठानाः तृतीया श्वेता नाम,
प्रोद्देरष्टादशभागप्रमाणा, चर्ममूलाजगलीमशका-
धिष्ठानाः चतुर्थी ताम्रा नाम प्रोद्देरष्टादशभागप्रमाणा,
विष्वक्शिलासकुष्ठाधिष्ठानाः पञ्चमी धेदिनी नाम,
प्रोद्देरष्टादशभागप्रमाणा, कुष्ठविसर्पाधिष्ठानाः षष्ठी
रोहिणी नाम, प्रोद्देरष्टादशभागप्रमाणा, ग्रन्थवपन्यर्गुदशोपद्-
मलणष्टाधिष्ठानाः सप्तमी मांसधरा नाम, प्रोद्दे-
ष्टव्यप्रमाणा, भगन्दरविद्रव्यदोऽधिष्ठाना । यदेतत्
प्रमाणं तिदिष्टं तन्मांसलोपवकाशेषु, न ललाटे
मूत्रमाहृत्यादिषु यतो वध्यरवुदरेषु—प्रोद्देरष्टादशभागप्रमाणा
प्रोद्देरष्टादशभागप्रमाणा तिदिष्टं ॥ ३ ॥

(स्वचा—) इस प्रकार (भूताना में अधिष्ठित होने
पर) प्रवृत्त हुए चौर पश्चात् द्विवेगों से पकने हुए उभय
शुक्रसोमिण की सत्व स्वचाएँ बनती हैं, जैसे दूध की
मलाई । उनमें प्रथम अवभासिनी नामक (स्वचा) है,
जो सब वर्णों को प्रकट करती है और पाँचों प्रकार की
द्वाया को प्रकाशित करती है । गूठ (स्वचा मोटाई में)
मीहि (धान्य) के अन्तर्द्वय भाग के प्रमाण की है (और)
निष्प तथा पत्रकण्टक का अधिष्ठान होती है । दूसरी
लोहिता नामक है, जो मीहि के सोरहवें भाग के प्रमाण
की और तिलमालक, न्यस्प और प्याह की अधिष्ठात्री है ।
तीमरी श्वेता नामक है, जो मीहि के चारहवें भाग के
प्रमाण की और चर्ममूला, अजगली और मशक की अधिष्ठात्री
है । चौथी ताम्रा नामक है, जो मीहि के आठवें भाग के प्रमाण
की और विविध प्रकार के किलास और कुष्ठों की अधिष्ठात्री है ।
पाँचवीं धेदिनी नामक है, जो मीहि के पाँचवें भाग के प्रमाण
की और कुष्ठ तथा विसर्प की अधिष्ठात्री है । छठी रोहिणी
नामक है, जो मीहि के प्रमाण की है और जो ग्रंथि, अपची,
अर्बुद, स्त्रीपद, गलगण्ड की अधिष्ठात्री है । सातवीं मांसधरा
नामक है जो दो मीहि के प्रमाण की और भगन्दर, विद्रधि और
अर्श की अधिष्ठात्री होती है । यह जो प्रमाण बताया गया है
वह मांसल स्थानों का है; रज्जव अंगुल्यादि सूक्ष्म स्थानों का
नहीं । इसलिये उदररोग (चिकित्सा) में कहते हैं कि मीहि-
मुख शस्त्र से अंगुष्ठ की चौड़ाई के बराबर वेधन करे ॥ ३ ॥

यत्तच्च—यं प्रवृत्तस्य—शुक्र और शोणित का संयोग
होने पर उसमें जय पुरुष प्रवेश करता है, तब आने
गर्भाभिनिवृत्ति की ओर वह प्रवृत्त होता है । इसलिये
भूताना के संयुक्त होने के पश्चात् सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ
उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त हुए । अभिप्रपन्थमानस्य चौरस्येव
सन्तानिकाः—अग्नि के द्वारा परिष्कृत किये जाते हुए दूध के
षष्ठ भाग पर जैसे मलाई की कई तहें बनती जाती हैं और

पूर्णपक्ष दूध के ऊपर हन सब तहों से मोटी मलाई बनती है, वैसे ही त्रिदोषों के विरोधतया पित्त के द्वारा परिपक्व (वर्धित) होते हुए गर्भ के पृष्ठ भाग पर त्वचा की कई तहें बन जाती हैं और सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ के शरीर पर ये सब तहें मिलकर त्वचा बनती है। तब त्वचा—सम्पूर्ण शरीर को बाहर से आवृत करने वाला अंग त्वचा है। एता एतन् शरीरसकलत्वं विदन्ति । (चरक)। इस अर्थ से त्वचा को Common Integument कहते हैं। यहाँ पर जो सात त्वचाएँ वर्णन की गई हैं, वे सात स्वतन्त्र त्वचाएँ न होकर एक त्वचा के सात स्तर (Layers of skin) हैं। इन स्तरों का क्रम बाहर से भीतर की ओर है, अर्थात् अवभासिनी बाहर की और मांसधरा सत से भीतर की है। चरक और अष्टांगसम्प्रदाय में छः त्वचाएँ वर्णित हैं—शरीरे पद् त्वचा । (चरक, शा० ७)। तत्राचूज पच्यमानस्य चीरस्तेन सन्नामिना पद् त्वचो भवन्ति । (अष्टांगसम्प्रदाय, शा० २)। उनका भी क्रम बाहर से भीतर की ओर है और इस क्रम के अनुसार सुश्रुतोक मांसधरा स्तर को चरकाचार्य त्वचा में समाविष्ट नहीं करते हैं, ऐसा मालूम होता है। यह अनुमान हनुडु की टीका के आधार पर किया गया है—यद्यो तु मांसधरा । (अष्टांगसम्प्रदाय)। यद्यै सर्वांगामन्तर्मांसतन्ना, सा प्राणानन्दर वरथाऽवतत्वावनिष्ठिनि । (हनुडु)। यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो त्वचा के छः स्तर होते हैं। इसलिये चरक का कथन टीका है। सुश्रुत में मांसधरा त्वचा का त्वचा में जो समावेश किया गया है, उसका भी कारण है जिमका विवरण आगे किया गया है। अवभासिनी—यह त्वचा सब से बाहर की है। चरक में यही त्वचा उदकधरा बतलाई है। इसका कारण यह है कि इसके होने से शरीरका रस तथा लसिका बाहर नहीं जा सकती और इसके छिड़ जाने से निकलने लगती है—नासार्थ प्रथमा देहम् उदक विमर्दि येन अहिरात्रंतामावदः । (हनुडु)। पञ्चविधा द्वावा—प्रथमखण्ड पृष्ठ १८१ देखो। विधम्—एक प्रकार का छद्म कुष्ठ। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४३ देखो। पश्चिमी कण्टक—एक छद्म रोग। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३६० देखो। विलकलकादि—ये छद्म रोग हैं। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३९० देखो। यवदंश—छद्म कुष्ठ का एक प्रकार। अजगदीमशक—छद्मरोग। निलास—सपेद कोढ़। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४४ देखो। कुष्ठ—इससे चौथी त्वचा के अधिष्ठान में त्वरोग (Skin diseases) और पंचवीं त्वचा में कोढ़ (Leprosy) समझना चाहिये। प्र-ध्वपची हस्यादि—कुष्ठ प्रथियाँ (जैसे, Nebeoscosis) प्रथमखण्ड पृष्ठ ३०७ देखो। कुष्ठ अर्जुद (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३८० देखो) तथा श्लिषद (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३८९ देखो) ये रोग त्वचा में होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। अपनी त्वचा के नीचे स्थित स्तर (Subcutaneous tissue) में होने वाली लसिका प्रथियों का रोग है (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३०८ देखो)। गणपण्ड—थायराइड नामक ग्रिवा मध्य स्थित ग्रंथि या यह रोग है। यह ग्रंथि त्वचा से बहुत दूर होती है। त्वचा और हृद्य ग्रंथि के दरमियान पेशियाँ (मांस) आती हैं। अब तक प्रथम छः त्वचाओं में जिन रोगों का उल्लेख किया गया है वे सब रोग, अपनी और गलण्ड को छोड़कर, त्वचा में ही उत्पन्न होते हैं, यह बात

आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के अनुसार भी सिद्ध है। यदेतन्प्रमाण निर्दिष्टम्—प्रत्येक त्वचा का तथा सानों त्वचाओं का प्रमाण। सानों त्वचाओं की कुल मोटाई इन्हण के अनुसार २ 1/2 यव होती है—शरीरपर यव, प्रत्येक शरीर विस्तारस्य विंशतिमाणा. परिवर्त्यनीया., ते चाष्टादशमाणा भव-मासिन्या. प्रमाणम्, यव वक्ष्यमाणेष्वपि विंशतिभागेषु गोदशप्रयत्नो भागा बोद्धव्या ॥ इस प्रकार से त्वचा की मोटाई वास्तविक मोटाई से बहुत अधिक होती है, इसलिये 'मीहिरयादुत-भागप्रमाणा' इसका अर्थ इन्हण के अनुसार ३ 1/2 यव ऐसा न करके १ 1/2 यव ऐसा किया गया है। इससे सानों स्तरों की मोटाई साढ़े तीन यव (३ 1/2) के लगभग होती है। यह मोटाई सब जगह एक सी नहीं होती। यहाँ पर निर्दिष्ट किया हुआ प्रमाण उच्चतम मर्यादा का है। मांसके त्वचाके श्रेणु—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) जहाँ त्वचा अधिक मांसल याने स्थूल (Thick) है, ऐसे अवकाशों याने स्थानों में। यह साधारण अर्थ है। (२) मांसधरा त्वचा से आवृष्ट अवकाशों याने रिक्त स्थानों में, जैसे कोढ़ या उदरगुहा। यह दूसरा अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत है, क्योंकि उसी का उदाहरण आगे दिया है। यतो वक्ष्यत्युदरेणु—चिकित्सास्थान के १४वें अध्याय के अन्त में उदरगुहागत जल निकालने के शक्यत्व में। अगुधोदरप्रमाणवगमादम्—त्वचा की मोटाई की ऊपर जो उच्चतम मर्यादा निर्दिष्ट की गई है, उसको सिद्ध करने के लिये यह उदाहरण दिया गया है। जल निकालने के लिये जहाँ पर वेध किया जाता है, वह स्थान नामिके नीचे बाईं ओर चार अंगुल पर होता है—अथो नामैवांमन अतुरगुणमपहाय रोमराज्या त्रीदिसुखेन इत्यादि। उस स्थान का जल तक छेद लिया जाय तो बाहर से भीतर की ओर निम्न भाग सुख्यतया मिलते हैं, त्वचा और उदरप्राचीर की पेशियाँ। त्वचा में उपयत्वा (Subcutaneous tissue) का और पेशियों में उदरकला का समावेश कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सुश्रुत में उदरगुहा का आगे का आवरण केवल त्वचा से निर्मित माना जाता है—अगुधोदर प्रमाणमिति, अथेनैतदुक्त भवन्ति—नासान् त्वचां समुदायेनागुधोदर प्रमाणमस्ति, अगुधोदर विंशतिविंशतिभागेषु प्रमाणम् ॥ (इन्हण)। इसका प्रत्यय सरोमणचिकित्सा में मिलता है—त्वचोऽनीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा। कोष्ठे प्रतिष्ठित शल्य कुण्डिकानुदरमाय ॥ (चिकित्सा २)। यहाँ पर केवल त्वचा (त्वच) मत। इन्हण) पार करने से शक्य कोष्ठ में प्रवेष्ट करता है, यह स्पष्ट लिखा है। आधुनिक काल में प्रत्यक्षीकृत त्वचा वी नवावट—सुक्ष्मदर्शक के द्वारा त्वचा का परीक्षण करने पर उसमें बाहर से भीतर की ओर निम्न स्तर मिलते हैं। (१) शार्श वा कठिन स्तर (Horny layer)—यह स्तर अधिच्छदीय कोशिकाओं (एपिथेली-अल सेल) की कई तहों से बनता है। इसकी कोशाएँ सब से बाहर होने से पीडन और दबाव के कारण कठिन या सींग के समान होती हैं। यह अवस्था वीरों के त-उओं में, हथेलियों में, विशेषतया अंगुलियों की जड़ों के पास के घट्टों में सहज ही में दिखाई देती है। इसलिये यह स्तर शार्श या कठिन कहलाता है। जहाँ पर अधिक पीडन होता है, यहाँ पर इसकी मोटाई काफी बढ़ती है। (२) त्वच स्तर (Stratum lucid)

mm)-इसमें स्वच्छ कोशाएँ होती हैं। इसकी मोटाई बहुत नहीं होती। (३) कणमय स्तर (Stratum granulosum)- इसमें कणयुक्त कोशाओं की दो तीन तहें होती हैं। ये सेलें चपटी और कठिन स्तर तथा माल्पीघिअन स्तर की कोशाओं के बीच की (संक्रमणावस्थिक Transitional) होती हैं। (४) वर्णमय स्तर (Malpighian layer)-यह स्तर कोशाओं की कई तहों से बनता है। ऊपर के स्तर इस स्तर की कोशाओं से बनते हैं। सब से ऊपर के स्तर की कोशाओं का नाश होने पर उनके स्थान पर नीचे की कोशाएँ चली जाती हैं। नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते समय कोशाओं में इस प्रकार का परिवर्तन होता है कि वे कठिन हो जाया करती हैं। ये चारों स्तर मिलकर बाह्य त्वक् (अधिचर्म Epidermis) बनती है। वर्णयुक्त लोगों की त्वचा में वर्णक या रंग द्रव्य होता है, जिसके कारण वे काले या पीले या साँवले दिखाई देते हैं। वर्णक की अधिक राशि माल्पीघिअन स्तर में होती है और उत्तरोत्तर कम होती जाती है परन्तु सब से बाहर के कठिन स्तर में भी रंगद्रव्य होता है और उसमें रंगद्रव्य की न्यूनाधिकता के कारण मनुष्य का वर्ण गोरा या साँवला या काला दिखाई देता है। रंगद्रव्य के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसकी उत्पत्ति चौथे स्तर की कोशाओं में होती है, और वहाँ से ये रंग के साथ सब से ऊपर के स्तर में चलती हैं। इस स्थानान्तर में उनमें कुछ परिवर्तन भी होता है जिससे ये कठिन होती हैं तथा उनकी रंगद्रव्य की राशि कम हो जाती है। चौथे स्तर में रंगद्रव्य अधिक होने से त्वचा का वर्ण अधिक गहरा होगा और कम होने से फीका होगा। परन्तु वर्ण का हमें जो ज्ञान होता है, वह सब से बाहर के स्तर के द्वारा ही होता है। बाह्यत्वचा के इन चार स्तरों में रक्तवाहिनियाँ नहीं होतीं। इनका पोषण लसिका द्वारा होता है। नाड़ियों के तन्तुक (Nervo fibrils) वर्णमय स्तर की सेलों के बीच में फैले हुए रहते हैं। (५) अंकुरमय स्तर (Papillary layer)- इस स्तर में नन्हें नन्हें अंकुर या कंगूरे (Papillae) होते हैं। ये अंकुर तान्त्व धातु, रक्तवाहिनियाँ, स्पर्शपिण्ड (Tactile corpuscles) और नाड़ियों के तन्तुकों से बनते हैं। हथेलियों और तलुओं में ये अंकुर मोटे, अधिक संख्या में और एक लकीर में होते हैं। इनके कारण समान्तर मुण्डरें बन जाती हैं। इनके ऊपर ऊपर के स्तर ढले रहते हैं, जिसके कारण बाह्य त्वक् में भी मुण्डरें उत्पन्न होती हैं। अँगुलियों के शंखकादि चिह्न इन्हीं के कारण उत्पन्न होते हैं। आजकल यह बात सिद्ध हो गई है कि एक मनुष्य के हस्ताक्षर दूसरे मनुष्य के हस्ताक्षरों से मिल सकते हैं, परन्तु अँगुलियों के छाप नहीं मिल सकते। अतः मनुष्यों की पहचान करने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। (६) जालिमय स्तर (Reticular layer)-इस स्तर में जालि के समान तन्तु फैले रहते हैं। इसमें रोमकूप, स्वेदग्रंथि, तैलग्रंथि और कुछ मांसतन्तु भी होते हैं। ये मांसतन्तु रोमकूपों से संबंधित होते हैं। इनके सिवाय वृषण, दिशन और स्तनों की त्वचा में भी मांसतन्तु होते हैं। इस स्तर के नीचे उपत्वचा होती है और उसी में मेद, रक्तवाहिनियाँ और लसिकावाहिनियाँ अवस्थित होकर ऊपर के स्तरों को पोषित करती हैं। अंकुरमय और जालिमय स्तर; मिलकर अन्तस्त्वक्

(Dermis) होती है। इसकी मोटाई ऊपर के चारों स्तरों (चर्दिस्त्वक्) की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। प्राचीन और अर्वाचीन स्तरों का संबंध-जैसे जब दो लेवक एक ही वस्तु का वर्णन करते हैं, तब उस वर्णन में कुछ भिन्नता होने पर भी कुछ समता या साम्य स्थल होना अनिवार्य होता है। वैसे ही दो लेवकों के द्वारा यहाँ पर वर्णित त्वचा के विवरण में कुछ भिन्नता होने पर भी कुछ समता होना अनिवार्य है। भिन्नता दृष्टिभिन्नता और साधनभिन्नता के कारण और एकता वस्तु-एष्य के कारण होती है। अतः प्राचीन और अर्वाचीन वर्णन में कहीं तक भिन्नता है और कहीं तक एकता है इसका विचार किया जायगा। संख्या-चरक और चाग्भट के अनुसार त्वचा के छः और सुश्रुत के अनुसार सात स्तर होते हैं। आधुनिक सूक्ष्म शारीर के अनुसार त्वचा के छः स्तर होते हैं। इसलिए संख्या की दृष्टि से चरक का मत ग्राह्य समझना चाहिए। सुश्रुत ने जो मांसधरा नामक स्तर वर्णन किया है, वह स्तर चरक और चाग्भट ने नहीं दिया है अर्थात् यही स्तर त्वचा के बाहर का मालम होता है और उसके निम्न कारण हैं। (१) इसके नाम से यह स्तर मांसमय याने पेशीमय (Muscular) मालम होता है। (२) जो उदाहरण दिया है, उसका विश्लेषण करने पर यही बात स्पष्ट होती है। (३) मांसधरा त्वचा की मोटाई बहुत अधिक है। इतनी अधिक मोटाई त्वचा के किसी भी स्तर की नहीं हो सकती। (४) इस स्तर में जिन रोगों का अधिष्ठान बताया गया है, वे रोग आयुर्वेद में मांसजन्य बतलाये गये हैं-प्रकृषिता दोषाः-प्रदूष्य गुद-कलांमांसप्ररोहाजनयति। (सुश्रुत, नि० २)। वायुः प्रकृषितो गुदममितोऽगुले द्रनकुले वा मांसशोषिते प्रदूष्य पिटकां जनयति। (भगन्दरनिदान ४)। ये दोनों रोग यद्यपि मांस में नहीं होते तथापि त्वचा में भी नहीं होते और मांसल स्तर के साथ घनिष्ठ संबंध रखते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। संक्षेप में मांसधरा स्तर त्वचा के बाहर का है और एक विशेष उद्देश्य से (उदरवेधन की दृष्टि से) उसका समावेश सुश्रुत में त्वचा के स्तरों में किया गया है। स्तरों का समन्वय-प्राचीन और अर्वाचीन वर्णन के अनुसार जब स्तरों की संख्या समान हो चुकी है तथा क्रम भी एक है, तब क्रम के अनुसार एक स्तर दूसरे का पर्याय मानने में कोई खास आपत्ति नहीं हो सकती। तथापि यही कार्य प्राचीन स्तरों के लक्षणों की तुलना अर्वाचीन स्तरों के साथ करके किया जाता है। पाँचवीं त्वचा का नाम वेदिनी है। संवेदना का कार्य इस त्वचा से अधिक होने के कारण इसका यह नाम रखा गया होगा। आधुनिक खोज के अनुसार स्पर्शपिण्ड तथा नाड़ियों के तन्तुक अंकुरमय स्तर में होने के कारण संवेदना का कार्य इसी स्तर से होता है। दग्ध में जब इसके ऊपर के सब स्तर जल जाते हैं और इसको भी कुछ हानि पहुँचती है (तीसरी अवस्था का दग्ध, प्रथमखण्ड पृष्ठ ६६ देखो), तब अत्यन्त तीव्र स्वरूप की वेदना होती है। इस स्तर में होने वाले जो रोग बताये गये हैं, वे भी इसी स्तर में होते हैं। कुछ के संबंध में लिखा है-

In the earliest skin lesions infiltration of the papillary layer of the corium produces erythe-

matous patches etc Tropical medicine by Rogers and Megaw

वियर्ष के संबंध में लिखा है—microscopic examination of the skin of the affected part shows that the cutis and subcutaneous tissues are swollen, etc Taylor's Practice of medicine

इससे यह स्पष्ट होगा कि वेदिनी त्वचा को Papillary layer का पर्याय मानने में कोई आपत्ति नहीं है। रोहिणी त्वचा वेदिनी के नीचे होने के कारण उसकी Reticular layer समझ सकते हैं। इसमें रक्त की अधिकता के कारण (गूदा समरिथना सिग्धा रोहिण्य रुद्ध शोथिवम्) तथा त्वचा झिल जाने पर या जल जाने पर इसी स्तर से रोहित या रोपित होने के कारण इसका रोहिणी नाम सार्थ है। इसी स्तर में उपत्वचा (Subcutaneous tissue) का भी समावेश करना चाहिए। चौथा स्तर ताम्रा का है। इसमें श्वेतकुष्ठ का अधिष्ठान बताया गया है। श्वेतकुष्ठ तब होता है, जब त्वचागत रंगद्रव्य की उत्पत्ति बंद हो जाती है (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४४ देखो)। इस रंग का मुख्य स्थान वर्णमय स्तर है। इसलिये ताम्रा स्तर Malpighian layer का पर्याय माना जा सकता है। प्रथम त्वचा अवभासिनी नामक है। इसी से मनुष्य के वर्ण का ज्ञान होता है। यद्यपि रंगद्रव्य सत्र से अधिक माल्पी-घिन्नन स्तर में होता है तथापि तत्रत रंगद्रव्य का प्रत्यक्ष उसके ऊपर के स्तर अपारदर्शक होने के कारण नहीं हो सकता। सत्र से बाहर की त्वचा में रंगद्रव्य की जो कुछ भी राशि होती है, उसी से मनुष्य के वर्ण का ज्ञान होता है। इसके सिवाय उदकधारण का उसका जो धर्म वर्णन किया है, वह भी उसकी कठिनता के कारण स्पष्ट होता है। इसलिये अवभासिनी से Horney layer समझना चाहिए। बाकी स्तर बाकी के पर्याय समझने चाहिए, जैसे—लोहिता Stratum luoidum का, और श्वेता Stratum granulosum का। अब भिन्नता जो माल्डम होती है, वह प्रत्येक स्तर की मोटाई में है। वास्तव में अवभासिनी की मोटाई नीचे के तीनों स्तरों की संयुक्त मोटाई से अधिक होनी चाहिए, परन्तु यहाँ पर वह सब से कम बतलाई है। मोटाई का यह प्रश्न अगर छोड़ दिया जाय तो त्वचा की प्राचीन सूक्ष्म रचना आधुनिक प्रत्यक्ष सूक्ष्म रचना के साथ बहुत कुछ मिलती जुलती है।

| | |
|---|---------------------------------------|
| त्वचा के प्राचीन और अर्वाचीन स्तरों का तुलनात्मक कोडक | |
| १ अवभासिनी Horney layer | } बाह्य त्वचा Ep dermis अधिचर्म |
| २ लोहिता Stratum luoidum | |
| ३ श्वता Stratum granulosum | |
| ४ ताम्रा Malpighian layer | |
| ५ वेदिनी Papillary layer | } अन्तस्त्वचा Dermis चर्म |
| ६ रोहिणी Reticular layer | |

७ मातृपरा Subcutaneous tissue and muscle
कविराज गजनाथ सेन जी त्वचा के स्तरों के संबंध में प्रत्यक्षशारीर म दो स्थानों में दो मत प्रदर्शित करते हैं—

प्रायस्तु स्रग्मदृष्टया क्षौरस्यैव सञ्चारिण्य सप्त पञ्चा त्वचो मन्थने ।
वायु प्रथमा भवभासिनी नाम, तस्या बाह्यत्वभागेनाऽभेद ।
अपरास्तान्तु अन्तस्त्वभागेऽनुभवेत् ॥ (प्रत्यक्षशारीरप्रस्तावना) ।
इसका मतलब यह है कि प्राचीन अवभासिनी स्तर में आधुनिक चार स्तर समाविष्ट होते हैं और शेष पाँच प्राचीन स्तर आधुनिक शेष दो स्तरों में समाविष्ट होते हैं। फिर प्रत्यक्षशारीर के तीसरे विभाग के इन्द्रिय वर्णन में लिखते हैं—पार्श्व मतेन तु अन्तरत्वच (तत्रशब्दात्तद्विधायाः) पंचधा षोडा वा विभाग । तत्र सुश्रुतमते वा लोहिना नाम (चरकमतेः सधरा), सैव अक्षुरिषोनि सुवचम् । या तु द्रव्यस्य पचनी वेदिनी नाम सैव चरकस्य षष्ठो (यस्यां द्विपार्श्वे ताभ्यधि, अत्र इव तम प्रविशति) वामभ्रमस्य च प्राणधरा । सैव जानिन्या, तत्रा व्याधा वा, प्रतिभ्रा प्रतिभाति, नागोपधानानां श्वदाग्निःशदि सतितायां तत्रैव बाहुल्यमर्थनात् । या तु सुभ्रतस्य मांसधरा, साऽपि स्वकश्याय्य ष्व, रोममूलकगनानामवर्षिधाना वा मांस तन्ना वव सद्भावात् । अणुगतं प्राचीनविभागोक्ताना त्वचं इष्टतामजस्थेन न्यारथानन्तु तु शरभेत् चरकसुश्रुतारिपु तत्रैव रूपवर्णनाभावात् ॥ इसका अभिप्राय यह है कि सुश्रुत की लोहिता त्वचा, जो चरक की सधरा त्वचा के बराबर है, आधुनिक अक्षुरिषय स्तर (Papillary layer) को प्रतिनिधि है और सुश्रुत की वेदिनी जाटिम्य (Reticular) स्तर की प्रतिनिधि है। बाकी स्तरों का वर्णन सूक्ष्म न होने के कारण ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता। इस तरह संपूर्ण शरीर को ढँकने वाली बाह्य त्वचा का वर्णन करने अब शरीरान्तर्गत विविध अंगों को ढँकने वाली या उनको एक दूसरे से पृथक् करने वाली आभ्यन्तरीय त्वचाओं (कलाओं) का वर्णन करते हैं—

कलाः खलपि सप्त सभर्षान्त धात्वाद्ययान्तर मर्यादाः ॥४॥

भैवत्तथात्र—
यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ।
तथा धातुहि मासेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥५॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छेधान् सन्तताश्च जरायुणां ।
श्लेष्मणा वेष्टिताश्चापि कलाभागास्तु तान् विदुः ॥६॥

(कलासरया और स्वरूप—) धातुओं के अवस्थान प्रदेशों के दरमियान मर्यादायुक्त कलाएँ भी सात ही होती हैं ॥४॥ जैसे काष्ठ को छिलने से सार भाग दिखाई देता है, वैसे ही मांस (आवरक्य पदार्थ) को छिलकर निकालने से धातु दिखाई देती है ॥५॥ (आचार्य) इन कलाभागों को स्नायु (तन्तुओं) से प्रतिष्ठित, जरायु (सद्य आवरण) से व्याप्त और श्लेष्मा से निर्मित समझते हैं ॥६॥

वक्ष्य—बीधे सूत्र में कलाओं की संख्या और व्याख्या वर्णन की है। पाँचवें श्लोक में कलाओं की विशेष तथा रक्तधरा कला की अन्तर्निगूढता बतलाई है। छठे श्लोक में कलाओं का स्वरूप वर्णन किया गया है। खल—यह

१ मन्ति २ भवन्ति ३ भवन्ति ४ धात्वाद्ययान्तर ५ अथ य क्पेदस्त्वधितिष्ठति । देशोष्मणा विपकस्तु सा कलेत्यधि पीयते इति कविराजिक पाठ

अव्यय निश्चयार्थ या नियमार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रयोग से यह अर्थ निकलता है कि त्वचाओं की संख्या सात है इसलिए कलाओं की संख्या सात नहीं बतलाई गई है, परन्तु वास्तव में ही उनकी संख्या सात है, न इससे कम है न अधिक है। कलाओं के नाम देखकर उनमें मूत्रधरा कला नहीं है, मज्जाधरा कला नहीं है इत्यादि शङ्का उत्पन्न हो सकती है। इसके निराकरण के लिए 'खलु' शब्द प्रयुक्त हुआ है। धात्वाशयान्तरमर्यादाः—इधतीति धातवो रसरक्तमांसादयः, कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि स्वकर्मणा दधतीति धातवः, तेषामाशया अवस्थानप्रदेना धात्वाशयाः. तेषामन्तरेण मर्यादाः सीमाभूता इत्यर्थः ॥ (ढल्हण) । अष्टांगसंग्रहटीकाकार इन्दु धातु और आशय पृथक् पृथक् मानते हैं—धातूनां रक्तादीनामाशया यानि स्रोतासि तेषां द्वयोर्धात्वाशययोर्मध्ये यः क्लेश इत्यादि ॥ (इन्दु) । इस तरह यद्यपि अर्थ करने में कुछ भिन्नता मालूम होती है तथापि कला की व्याख्या में कोई विशेष फर्क नहीं होता। दोनों का मतलब यह है कि कला शरीर के धातुओं में या आशयों में पृथक्त्व या विभिन्नता करने वाला शरीरस्थ एक उपांग है। तथा धातुहि मांसिपु—यहाँ पर धातु से रक्तधातु का बोध होता है—वृत्ताद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत् । मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते ॥ तथापि उससे सब धातु अभिप्रेत हैं। मांस से यद्यपि मांस का बोध होता है तथापि वह काष्ठ का प्रतिनिधि होने से उससे आवरण का अर्थ अभिप्रेत है याने वह पर्याय से कला के लिए प्रयुक्त हुआ है। संक्षेप में इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जैसे वृत्त का सार याने धारक पोषक पदार्थ देखने के लिए ऊपर का काष्ठ या आवरण निकालना पड़ता है और निकालने के बाद उसका दर्शन होता है, वैसे ही शरीर के धारक पोषक पदार्थों को देखने के लिए उनके ऊपर का आवरण निकालना पड़ता है और निकालने के बाद उनका दर्शन होता है। अर्थात् शरीर के सभी धातुओं के ऊपर आवरण होता है और यही आवरण कला कहलाते हैं। स्नायुमिश्र इत्यादि—इस श्लोक में प्रतिच्छन्न, सन्तत और वेष्टित ये जो तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे पृथक् होने पर भी एक ही अर्थ प्रदर्शित करते हैं और वह है निर्मिति । कलारूप जो आवरण हैं वे स्नायुओं से, जरायुसदृश जाल से या श्लेष्मा से निर्मित हैं याने स्नायु, जरायु और श्लेष्मा ये कला के उपादान कारण हैं। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कला में तीनों उपस्थित ह। कोई कला श्लेष्मा से, कोई स्नायुओं से, कोई जरायु से और कोई इनके मिश्रण से निर्मित होती है। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार स्नायुप्रतिच्छन्न को Fibrous, जरायुसंतत को Serous और श्लेष्मा से वेष्टित को Mucous कह सकते हैं। संक्षेप में शरीर में जो विविध कलाएँ होती हैं, उनका स्वरूप स्नायवीय, जरायु सम या श्लेष्मल होता है। विदुः—आचार्या इत्याध्याहार्यम् ।

अब इसके बाद सात कलाओं के नाम तथा कर्म बतलाये जाते हैं—

तासां प्रथमा मांसधरा नाम; यस्यां मांसे

सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति । ७॥

भवति चात्र—

यथा विसृष्टानि विवर्धन्ते समन्ततः ।

भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ॥८॥

(मांसधरा कला—) इन कलाओं में प्रथमा मांसधरा नामक कला है, जिस मांसधरा के मांस में सिरास्नायु धमनी स्रोतसों की शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं ॥७॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, कीचड़ युक्त जल में स्थित कमलनाल के तन्तु भूमि में (अधिष्ठान करके कीचड़ में) चारों ओर फैलते हैं, वैसे ही (मांसधरा कला का आधार करके तद्गत) मांस में सिरादि फैलते हैं ॥८॥

वक्तव्य—यस्यां मांसे—यस्यां कलायामधिष्ठिते मांसे सिरादीनां प्रताना विस्तारा भवन्ति । (ढल्हण) । भूमौ—भूम्यामिवाधिष्ठाय । (इन्दु) । यथा इत्यादि—सातवें सूत्र का अर्थ विसृष्टानि के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है—यहाँ पर विसृष्टानि सिरा प्रतानों के लिए, पङ्कोदक मांस के लिए और भूमि मांसधरा कला के लिए हैं। तथा मांसे सिरादयः—इसका अर्थ 'यस्यां मांसे' के समान है। ढल्हणाचार्य लिखते हैं—यथा प्रथमकलायां मांसस्थाः सिरादयो भवन्ति । इसका अर्थ 'मांसस्थ सिरादि मांसधरा में फैलते हैं' ऐसा हो सकता है। परन्तु यह अर्थ पूर्व अर्थ का विरोधी है। (हाराणचंद्र) । 'यस्यां मांसे' के स्थान में 'यस्यां मांसगतानाम्' ऐसा पाठ देते हैं। इस पाठ का अर्थ यह होता है कि सिरादि के प्रतान मांसधरा कला में होते हैं। परन्तु कला अल्प होने से तथा 'यथा हि सारः काष्ठेषु' इस दृष्टान्त से सिरादि का विस्तार कला की अपेक्षा तदधिष्ठित मांस में होना उचित मालूम पड़ता है और प्रत्यक्षतया भी स्थिति वैसी ही है, इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं है।

द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्थाभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीहोश्च भवति ॥९॥

भवति चात्र—

वृत्ताद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत् ।

मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते ॥१०॥

(रक्तधरा कला—) दूसरी रक्तधरा नामक है, वह मांस के भीतर होती है; उसमें विशेषतया सिराओं में, और यकृत तथा प्लीहा में रक्त होता है ॥ ९ ॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, दूधवाले वृत्त को प्रहार करने से दूध निकालता है, वैसे ही (मांस पर) क्षत करने से मांस से तुरन्त रक्त निकलता है ॥ १० ॥

वक्तव्य—मांसस्थाभ्यन्तरतः—मांस में जो रक्त रहता है, वह मांसधरा कला में रहता है। शरीर में रक्त का परिभ्रमण बन्द नालियों में से होता है। ये नालियाँ तीन प्रकार की हैं—१ धमनी (Artery), २ सिरा (Vein), और स्रोतसु या केशिका (Capillary) । मांस तक रक्त धमनी द्वारा आता है, मांस से रक्त सिरा द्वारा चला जाता है और मांस के तन्तु तन्तुओं में रक्त केशिकाओं द्वारा फैलता है। अर्थात् मांस के भीतर जो रक्त होता है, उसका आधार केशिकाएँ

होती हैं। विशेषतः इत्यादि—विशेष स्थानों में सिरा, यकृत और शीशा तीनों का उल्लेख किया है—विशेषतः सिरा की शक्ति (अष्टागमग्रह)। सिरा से यहाँ पर रक्तवह नालियाँ याने धमनी और सिरा अभिमत हैं। यकृतकीशोध—इन दो अङ्गों का विशेष उल्लेख करने का एक कारण रक्तोत्पत्ति के साथ उनका सम्बन्ध (प्रथमखण्ड शृष्ट ७७ देखो) है। इसका विचार जागे कला के अर्थ के सम्बन्ध में किया जायगा। दूसरा कारण यह है कि शरीर के अन्य अङ्गों की अपेक्षा इन अङ्गों में रक्त की अधिक राशि रहती है, याने वे अङ्ग रक्त के भाण्डार होते हैं—

The spleen acts as a store house of blood. The power of acting as a store house of blood is probably shared by a number of abdominal organs, e.g The intestine and liver *Hallsburton's Physiology*

इन अंगों में रक्त केवल कोशिकाओं में नहीं, बड़े बड़े शोणितानुकासों (Binosoias) में रहता है। चीरीण—चीरी घृच वे हैं जिनके ऊपर आघात या चूत करने से दूध के सफेद रस बहने लगता है, जैसे—गूदर, चट इत्यादि। प्रत्येक घृच के ऊपर चूत करने से उससे रस निकलता है, परन्तु वह पानी के समान होने से उसकी ओर जल्दी ध्यान आकर्षित नहीं होता। चीरी घृच पर जरा सा चूत करने से उससे सफेद रस बहने लगता है जिससे उसकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित होता है और इसलिए चीरी घृच का दृष्टान्त दिया है। चण्ड—रक्तधरा कला में चूत करने से या होने से, रक्तधरा कीला विदीर्ण होने से।

तृतीया भेदोपरा नाम, भेदो हि सर्वाभूतानामुद-रस्यमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति ॥ ११ ॥

भवति चात्र—

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः। अथेतरेषु सर्वेषु सरक्त मेद उच्यते।

शुद्धमांसस्य यः स्नेह सा घसा परिकीर्तिता ॥ १२ ॥

(भेदोपरा कला—) तीसरी भेदोपरा नामक कला है, मेद सब प्राणियों के उदर में तथा छोटी हड्डियों में होता है, और बड़ी हड्डियों में मज्जा होती है ॥ ११ ॥ यहाँ पर श्लोक है—विशेष करके बड़ी हड्डियों के मध्य का आश्रय करके मज्जा होती है और इतर (छोटी) सब हड्डियों में (जो मेद होता है, वह) सरक्त मेद कहलाता है। शुद्ध मांस का जो स्नेह होता है, वह घसा कहलाता है ॥ १२ ॥

वक्तव्य—उदरस्य मनुष्यशरीर में चरबी का न्यूनानुषिक सञ्चय हमेशा रहता है। जब मनुष्य स्थूल होने लगता है, तब यही सचय अधिक होता है। यद्यपि स्थूल मनुष्य के प्रत्येक अंग में चरबी अधिक इकट्ठा होती है, तथापि उसकी अधिक राशि उदर, चूतक और स्तनप्रदेश में होती है—भेदोपराश्रितशुद्धमांसचरबीरस्युदरस्तन। अणुशेषवने शरीरो भरोदतिरनु उच्यते ॥ (चरक, सू०)। सर्व शरीर में यह संघय अधिकतर खचा के नीचे की घातु (Sub-Subcutaneous tissue) में होता है। उदर में इस स्थान के अतिरिक्त उदरगुहा में उदरावरण के (Peritoneum) एक

हिस्से में भी चरबी इकट्ठा होता है। यह हिस्सा वषा (चरबी) का बहन करने के कारण वषावहन (Omentum) कहलाता है—यथायथ बोधानि—शुद्धान् च स्थूलान् च, वषावहन वेति। (चरक, शा० ७)। वषावहन मेद स्थान वैलवर्तिका। (चक्रपाणिदत्त)। इस तरह उदर में चरबी का सब से अधिक संघय होने के कारण उदर का उल्लेख यहाँ किया गया है। मेद, मज्जा और वसा—चारहवें श्लोक में इनका आपस में भेद प्रदर्शित किया है। मनुष्यशरीर में स्नेह (चरबी) मज्जा में (Bone marrow), खचा के नीचे, मांस में और उदर के भीतर वषावहन में उपस्थित रहता है। मज्जा के दो भेद होते हैं—एक पीत मज्जा और दूसरी रक्त मज्जा। आयुर्वेद में शरीरगत स्नेह (चरबी) के लिए मज्जा, वसा, मेद और रक्तमेद इस तरह चार शब्द प्रयुक्त होते हैं। बड़ी हड्डियों में मज्जा होती है, वह मज्जा पीली होती है, इसलिए मज्जा को Yellow marrow कहना चाहिए। छोटी हड्डियों में लाल मज्जा होती है, इसलिए सरक्त मेद से Red marrow समझना चाहिए। शुद्ध मांस अर्थात् केवल मांस का जो स्नेह है वह घसा है, इसलिए घसा से Fat content of the flesh समझना चाहिए। अथ मेद जो रहा है, उससे वषावहन और खचा के नीचे की चरबी समझ सकते हैं। रासायनिक दृष्टि से विचार किया जाय तो मेद और वसा शुद्ध चरबी के रूप में होते हैं, पीली मज्जा में चरबी का प्रमाण बहुत होता है और सरक्त मेद या लाल मज्जा में चरबी बहुत कम होती है। आयुर्वेद में चतुर्विध स्नेह होता है—शरीरगत वसा मज्जा स्नेहोऽयुक्तश्चतुर्विधः। इसमें मेद का उल्लेख नहीं है, अतः उसका समावेश वसा में किया जाता है। यहाँ पर उदरस्थ मेद के साथ छोटी हड्डियों में भीतर के मेद का जो सम्बन्ध जोड़ दिया है वह वस्तुतः ठीक नहीं है। उदर का मेद शुद्ध चरबी है और छोटी हड्डियों में रक्तमज्जा में चरबी अल्पव्य होती है और उसमें रक्त के लाल कण जिनसे उत्पन्न होते हैं वे एरिथ्रोसोइट (Erythro blasts) होते हैं, और इन्हीं के कारण उसमें रक्तमा आ जात है। श्लोक में इसके लिए सरक्त मेद जो नाम दिया है वह पत्र दृष्टि से ठीक है।

चतुर्थी श्लेष्मधरा नाम, सर्वसन्धिषु प्राणभृता भवति ॥ १३ ॥

भवति चात्र—

श्लेष्मान्त्यके यथा ह्ये चक्रं साधु प्रवर्तते।

सन्धयः साधु वर्तन्ते सन्निष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥ १४ ॥

(श्लेष्मधरा कला—) चौथी श्लेष्मधरा नामक कला है, जो प्राणियों के सब जोड़ों में होती है ॥ १३ ॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, अणु के ऊपर तैल लगाने से पहिया अच्छी तरह चलता है, वैसे ही (श्लेष्मधरा कला से निकले हुए) श्लेष्मा से स्थिर सन्धियाँ अच्छी तरह (सुचने का) काम करती हैं ॥ १४ ॥

वक्तव्य—साधु वर्तन्ते—अणु पर तैल लगाने से वाक में आवाज कम होती है, अणु और चाक में घर्षण कम होता है, अणु कम घिसता है, अधिक काळ तक जाने उसकी पूर्ण आयु तक काम देता है और गाड़ी लीचने में कम कष्ट लगता है तथा गाड़ी अधिक तेजी से चलती है। साधु

वर्तते—श्लेष्मधरा कला से निकला हुआ श्लेष्मा जोड़ों के भीतरी अंगों पर लिप्त होने से जोड़ों में गति के समय आवाज नहीं होती, घर्षण नहीं होता, उष्णता नहीं पैदा होती, अंग कम घिसते हैं, अधिक काल तक काम देते हैं, उनको मोढ़ने में कम कष्ट होता है और प्राणी तेजी से चल फिर सकता है या हरकत कर सकता है। सर्वसन्धयः—शरीर में दो प्रकार की संधियाँ होती हैं—स्थिर और चेष्टावान्—संधयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च । (सुश्रुत) । जो स्थिर हैं उनमें गति नहीं होती। इसलिये सर्वसंधियोंसे सर्वचेष्टावान् संधियों को ग्रहण करना चाहिए।

चेष्टावान् संधियों को खोलने से उनके ऊपर एक आटो-पिका (Capsulo मिलती है, जिसके भीतरी पृष्ठभाग पर एक पतली चमकदार झिल्ली (Synovial membrane) लगी रहती है। इस झिल्ली से एक चिपचिपा सा तरल (Synovial fluid) निकलता है, जो जोड़ में काम करने वाले सभी उपांगों को तर रखता है और वही काम देता है, जो यन्त्रों में या चक्रों में रोगन देता है।

पञ्चमी पुरीपधरा नाम; याऽन्तःकोष्ठे मलमभि-
विभजते पकाशयस्था ॥ १५ ॥

भवति चात्र—

यकृत्समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता ।

उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥ १६ ॥

(मलधरा कला—) पाँचवीं पुरीपधरा नामक कला है जो कोष्ठ के अन्दर पकाशय में स्थित हुई मल को पृथक् करती है ॥ १५ ॥ यहाँ पर श्लोक है—यकृत् और कोष्ठ (स्य अंगों) के समीपवर्ती आँतों में समाश्रित हुई मलधरा कला उण्डुकस्थित मल को (जल से) विभक्त करती है ॥ १६ ॥

वक्तव्य—अन्त्राणि—इससे स्थूल और छद्म दोनों का ही बोध हो सकता है तथापि मलविभजन का काम केवल स्थूलान्त्र में होने के कारण 'अन्त्राणि' से स्थूलान्त्र का ग्रहण करना चाहिए। उण्डुकस्थं विभजते मलम्—मुखद्वारा सेवन किये हुए अन्न का पाचन तथा साल्म्यभाग का प्रचूषण छद्मान्त्र में होता है। जब तक साल्म्यभाग और मलभाग एकत्र रहता है, तब तक उस द्रव को मल नहीं कह सकते हैं। छद्मान्त्र के अन्त तक साल्म्यभाग का प्रायः सव अंश प्रचूषित होता है और स्थूलान्त्र में केवल मल और जल ये दो ही भाग आते हैं। ऐसी अवस्था में स्थूलान्त्र का कार्य केवल मलस्थित जल को प्रचूषित करने का होता है। यदि स्थूलान्त्र के प्रारम्भ से गुद तक मल उचित समय में पहुँच जाय तो २० प्रतिशत जल का शोषण हो जाता है। यदि मलावरोध के कारण अधिक देर तक मल आँत में रह जाय तो इससे अधिक पानी का प्रचूषण होकर मल कड़ा हो जाता है और उसकी गाँठें बनती हैं। संक्षेप में उण्डुक में पहुँचे हुए मल का विभाग जल से किया जाता है और यह कार्य स्थूलान्त्र के अन्तरावरण से होता है। उण्डुक—पाँचवें अध्याय के छठे सूत्र का वक्तव्य देखो।

पष्ठो पित्तधरा नाम या चतुर्विधमन्नपानमुपभु-
क्तमामाशयात् प्रच्युतं पकाशयोर्पास्थितं धारयति ॥ १७ ॥

भवति चात्र—

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम् ।

तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥ १८ ॥

(पित्तधरा कला—) छठी पित्तधरा नामक कला है, जो आमाशय से निकलकर पकाशय की ओर जाने के लिए आये हुए उपभुक्त चारों प्रकार के अन्नपान को धारण करती है ॥ १७ ॥ यहाँ पर श्लोक है—मनुष्यों के आँतों में पहुँचा हुआ अशित, खादित, पीत और लीढ (चारों प्रकार का उपभुक्त) अन्न उचित काल में पित्त के तेज (क्रिया) से जीर्ण हो जाता है (तथा) शोषित (भी हो जाता है) ॥ १८ ॥

वक्तव्य—चतुर्विधम्—अशित, खादित, पीत और लीढ। पीत—दूध, पानक इत्यादि पीने के पदार्थ।—लीढ—कुछ गाढ़े पदार्थ जिनके लिए चाटने की आवश्यकता होती है। यथा—श्रीखण्ड, रवदी, अनेक प्रकार के पाक और अक्लेह। अशित—पूरी, भात इत्यादि पदार्थ जिनके लिए कुछ चर्बण की आवश्यकता होती है। खादित—लड्डू, मोदक तथा अन्य कठिन पदार्थ जिनके लिए अधिक चर्बण की आवश्यकता होती है। कोष्ठ—इसमें वृक्षगुहा और उदरगुहा में होने वाले सभी अंगों का समावेश होता है—स्थानान्यामासिपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत, चि०)। यद्यपि कोष्ठ की व्याप्ति इतनी अधिक है तथापि उसके प्रयोग के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह प्रायः एक अंग के लिए प्रयुक्त होता है और उस अंग का निश्चय संदर्भ के अनुसार कर लेना चाहिए। यहाँ पर कोष्ठ से छद्मान्त्र अभिप्रेत है। तज्जीर्यति इत्यादि—चतुर्विधमन्नं पित्ततेजसा यथाकालं जीर्यति शोषितं च भवति। जीर्यति—पाचक रसों के कार्य से सेवन किये हुए पदार्थों का अनेक अणुयौगिकों में विश्लेषण होने की क्रिया को जरण या पचन (Digestion) कहते हैं। पित्ततेजसा—पाचक रसों की क्रिया से। पित्त अग्नि रूप होने के कारण तेज शब्द का प्रयोग किया गया है। शोषित—जब अन्न छोटे छोटे यौगिकों में विश्लेषित होता है, तब उसका शोषण (Absorption) आन्त्र की दीवाल के श्लेष्मल स्तर से होता है। यथाकालम्—उचित काल में। साधारणतया सेवन किया हुआ अन्न पाचित और शोषित होकर मल के रूप में स्थूलान्त्र में साढ़े चार घण्टे के बाद आता है। अर्थात् पाचन और शोषण के लिए साढ़े चार घण्टे का औसत काल होता है। आयुर्वेद में पाचन और शोषण का काल ३-६ घंटे का बताया है—याममध्ये न भोक्तव्यं यामद्युग्मं न लब्धयेत्। याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामद्युग्माद्वलङ्घयः ॥ (योगरत्नाकर)। पित्तधरा कला का वर्णन अष्टांगसंग्रह में बहुत स्पष्टतया किया है—पष्ठी पित्तधरा नाम पकामाशय-मध्यस्था। सा ह्यन्तरग्नेरधिष्ठानतयाऽऽमाशयात् पकाशयोन्मुख-मन्नं वलेन विधाय पित्ततेजसा शोषयति पचति पक्वं च विसृजति। दोषाधिष्ठिता तु दीर्घल्यादाममेव। ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणीसंज्ञा। बलं च तस्याः पित्तमेवाग्न्यभिधानमतः साऽग्निनो-पस्तन्क्षोपष्टंहितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति ॥ (शा० १)। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पित्तधराकला की मर्यादा आमाशय से पकाशय तक होती है। इसके पश्चात् मलधरा कला की मर्यादा प्रारंभ होती है। कुछ लोग मलधरा

कला की व्याप्ति स्थूलान्तर और सूक्ष्मान्तर दोनों में समझने हैं परन्तु यह मन ठीक नहीं है। दोनों का क्षेत्र और कार्य निश्च है और एक का क्षेत्र समाप्त होने के बाद दूसरे का क्षेत्र प्रारम्भ होता है।

सप्तमी शुक्रघरा नाम; या सर्वप्राणानां सर्व-शरीरव्यापिनी ॥ १६ ॥

भवन्ति चात्र—

यथा पयसि सपिस्तु गूढश्चेत्तुनसे यथा ।

शरीरेषु तथा शुक्र नूला विद्यद्भिन्नपरः ॥ २० ॥

द्रव्यज्वले दक्षिणे पश्यं वस्त्रिन्द्रारस्य चाण्पयः ।

मूत्रस्रोतःन्याच्छुक्रं पुष्टस्य प्रवर्तते ॥ २१ ॥

हृत्प्रग्नेदेहाश्रित शुक्र प्रसन्नमनसस्तथा ।

स्त्रीषु व्यापन्नश्चापि हर्षात्तत् सप्रवर्तते ॥ २२ ॥

(शुक्रघरा कला—) सातवीं शुक्रघरा नामक कला है जो सब प्राणियों के सब शरीर भर व्याप्त रहती है ॥ १९ ॥ यहाँ अर श्लोक है—वैद्य का जानना चाहिए कि जैसे (सर्पों) दूध में घी और ऊब के रस में शुक्र (व्याप्त) होता है, वैसे ही मनुष्यों के शरीर में शुक्र (व्याप्त) रहता है ॥ २० ॥ वस्त्रि (मूत्राशय) द्वार के नीचे दो अंगुल दक्षिण (और बाय) पार्श्व में (स्थित) शुक्रघरा कला में संचित) पुरुष का शुक्र मूत्रमार्ग के रास्ते से (बाहर) निकलता है ॥ २ ॥ प्रसन्नमन तथा खीसग करने वाले (पुरुष) का सर्वशरीरव्यापी शुक्र (स्त्रीमगजन्म) हर्ष के कारण (शुक्रघरा कला से) फँका जाता है ॥ २२ ॥

वक्ष्यते—प्रथम श्लोक में शुक्र का सर्वशरीरव्यापित्व पृष्ठान्तों के साथ वर्णन किया गया है इसलिए कि श्वेत्सूत्र में वजित शुक्रघरा कला का सर्वशरीरव्यापित्व सहज ही निम्न हो जाय। परंतु व्यावहारिक दृष्टि से इसकी अनुपयोगिता को देखकर दूसरे श्लोक में उसका वास्तविक स्थान तथा तत्स्थान से शुक्रका बाहर निकलने का मार्ग बताया गया है, और तीसरे श्लोक में शुक्रघरा कला से शुक्र बाहर आने के कारण बताया गया है। सर्वशरीर व्यापिनी—शुक्र के सर्वशरीरव्यापित्व के सचच में प्रथम श्लोक के १०-२३वें पृष्ठ पर विस्तृत विवरण किया गया है, उसको देखो। दक्षिणे पश्यं—शुक्र इकट्ठा होने का स्थान केवल एक दक्षिण पार्श्व में नहीं है, बायमार्ग में भी है। इसलिए महामहोपाध्याय गणनाय सेन जी प्रत्यक्षशरीर में (पृष्ठ ७२ प्रस्तावना) 'हृद्यज्वले दक्षिणे वामे' पसा पाठ सूचित करते हैं और यह ठीक है। मूत्राशय के पिछले भाग के दोनों पार्श्वों में दो थैलियाँ और दो प्रणालियाँ होती हैं। थैली की भीतर की ओर प्रणाली होती है। थैली को शुक्राशय Vesiculae seminales और प्रणाली को शुक्रप्रणाली (Vas deferens) कहते हैं। शुक्रप्रणाली का अन्य शुक्राशय के नीचे वाले मोड़के निर में होता है। जहाँ पर शुक्राशय और शुक्रप्रणाली मिलती हैं, वहाँ से एक नली का प्रारम्भ होता है। इस नली को शुक्रस्रोत (Ejaculatory duct) कहते हैं। यह सब प्रत्येक पार्श्व में एक स्वतन्त्र होता है।

मूत्रस्रोत-पवाद-मूत्रस्रोत (Urethra) एवं पय, तत्सात्। दोनों पार्श्वों के शुक्रस्रोत अण्डोलाग्रि (Prostate) के भीतर शुक्रघर उद्वृत मूत्रस्रोत (Prostatic portion of the urethra) में संचित हैं। वहाँ से आगे मूत्र का और शुक्र का एक ही मार्ग होता है। अर्थात् सप्रवर्तते—शुक्रवर्तन के कारणों का तथा शुक्र का विचार प्रथमतः के ३०५ पृष्ठ पर किया गया है।

कलाया—अब तक कलाओं का सर्वसाधारण विवरण किया गया है। अब कला वास्तव में क्या है। उसमें शरीरगत किस वस्तु का बोध होता है इसका विचार कर्तव्य है। सश्रुत में कला के कई अर्थ होते हैं—कला स्वाम्भूतश्चैव शिलादानधामाके। शोडशाशे च चन्द्रस्य कलादानमानयो ॥ (मेदिनीकोष)। ये अर्थ वैद्यक में अपस्तुत हैं। आयुर्वेद में कला के मुख्य तीन अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख द्रव्यगोचर्य 'पुरुष' कोडशकलः (उधरतन्त्र, अ० १६) इस श्लोक की टीका में करते हैं—प्रबंके कलाग्रन्थेन पञ्चभूतानि एकार्थे-द्रिवायोति शोडशविभार इति व्याचष्टे, परमेष्वायुर्वेदे प्रभाषी-कृतम्। अन्वे तु कलाग्रन्थमदप्रत्वेकवामन्ति—शिरोग्रोवा पापिपारपादशृणोरसालीस्यद्वानि, चिदुक्तनासोर्गुरुबुधपाहुशुद्ध निपाधिगुल्फः प्रत्यङ्गानि। स्वधन्वरन्त्वाभिप्रायानुवर्तिभिर-वाचै कनश्चन्दो शुण्वाको पठित। ते च सर्वभूतिन्मातारी रोक्तुक्तु-शेषेकोद्वैग्यपत्नादीन् शोडशप्राणानाचष्टे। चतुर्षु पदेषु चतुर्षु मेव चरन्नाचल्योत्पन्न, एवं चोत्पन्न शोडशपुण्ड्रि-व्यादानयन्ति ॥ इनमें से विकार का विचार करने का कारण नहीं है क्योंकि ये विकार शरीर के नहीं हैं, प्रकृत के हैं और आयुर्वेद के जिम विभाग में कला शब्द का प्रयोग हुआ है उस विभाग का शारीरिक विकारों से भी कोई संबंध नहीं है। इसलिए कला का अर्थ विकार नहीं हो सकता है। कला का दूसरा अर्थ अन्न-प्रत्यङ्ग है। शरीर-सत्याव्याकरण नामक पाँचवें अध्याय में कला का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है—अत्र पर प्रद्वर्तमाने ७६वें श्लोके—उरस्य पुन सत्पान—त्वच क्ता पात्रशो मला दोष दृष्टस्वीहानी प्रपुसु—'त्वच सत्र, कला सत, आशयः सत—वेति समास'। 'विस्वापोऽत्र ऊर्ध्व—त्वपोमिह'इहा कला पात्रशो मला—शुक्रो च ॥ जिस परम्परा में यहाँ पर कलाओं का उल्लेख किया गया है, उस परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यकृत, प्लीहा, हृदय इत्यादि शरीरगत अवयवों के समान कला भी शरीरगत एक अवयव है जो श्वेतिकेद्वेद करने के पत्रात् अन्य अगों के समान प्रत्यङ्ग किया जा सकता है और उसकी सख्या भी निश्चित की जा सकती है। कलाओं की मोटाई (Diameter) के सचच में निम्न सूत्र मिलते हैं—स्वत्वत्वात्कनसद । (अष्टांगसंग्रह, शरीर ५)। स्वत्वत्वात्कनसद । (इन्दु)। अन्वत्वेन कानामसिद्धं सपिन् भेद । (दृढवर्दीका)। सोम्या न्यासान्मगन न सहस चतुर्विधोभवति । (हाराणचन्द्र-टीका)। इन सूत्रों के आधार पर ५० गणपर शास्त्री जोशी अपने 'आयुर्वेदीय शारीर' में लिखते हैं—

It is therefore obvious that the Kala is not be exceedingly minute and invisible to the naked eye, as are the various cells in the human

body. Uharak also has clearly stated that. 'शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुरागत, अविस्तीर्यतात्, अतीन्द्रियत्वात्' । (चरक, पा० ७) ।

इसका अभिप्राय यह है कि शरीर की सेलों के समान कलाएँ भी सूक्ष्म, अव्यक्त, परमाणु स्वरूप होती हैं, जैसे कि चरकाचार्य 'शरीरावयवास्तु' वचन से कहते हैं । चरक के जिस वचन के आधार पर शास्त्री जी कलाओं का सूक्ष्मत्व और अतीन्द्रियत्व सिद्ध करना चाहते हैं वह वचन कलाओं की सूक्ष्मता और अतीन्द्रियता निम्न कारणों से सिद्ध करने में व्यर्थ मालूम होता है । (१) संपूर्ण चरक में कलाओं का निर्देश कहीं भी नहीं मिलता, अर्थात् जिस अध्याय में यह वचन दिया गया है, उस अध्याय में कलाओं का निर्देश नहीं है यह कहने की आवश्यकता नहीं है । इसलिए यह वचन कलाओं की दृष्टि से अप्रस्तुत और गैरलागू है । (२) चरक के जिस अध्याय में यह वचन मिलता है, वह अध्याय (शरीरसंख्याशारीर) सुश्रुत के शरीरसंख्या-प्याकरण शारीर के टकर का है । इसलिए यदि उसमें सुश्रुत के क्रमानुसार त्वचा के नीचे कलाओं का समावेश है ऐसा मान भी लिया जाय तब इस वचन से कलाओं का सूक्ष्मत्व सिद्ध न होकर उनका स्थूलत्व सिद्ध होता है, क्योंकि इस वचन के पूर्व निम्न वचन मिलता है—'शरीरावयवसंख्या यथास्थूलभेदेनावयवानां निर्दिष्टा । इन दोनों वचनों का समन्वय करने से यह अर्थ होता है कि 'अब तक शरीरावयवों की जो संख्या बतलाई गई है, वह उनके स्थूल रूप के आधार पर बतलाई है । यदि उनके परमाणुओं का विचार किया जाय तो ये अवयव अपरिसंख्येय हो जाते हैं' । यदि ये वचन कलाओं के लिए लागू करने हों तो उनका अर्थ निम्न प्रकार से हो सकता है—'कलाओं की जो सात संख्या बतलाई है वह उनके स्थूल स्वरूप के आधार पर है, यदि उनके परमाणुओं (सेलों) का विचार किया जाय तो कलाएँ अपरिसंख्येय हो जायँगी, क्योंकि कलाओं के परमाणु अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय और अतिबहु होते हैं' । (३) कलाओं की संख्या नियमित रूप से सात होती है—कलाः पत्वपि सप्त संभवन्ति । इस संख्या से यह स्पष्ट होता है कि कला इन्द्रियग्राह्य अवयव है और उसकी परिगणना निश्चित से हो सकती है । इन सब बातों का विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि कला शरीरगत एक स्थूल अवयव है और शास्त्रीजी का कथन कला के संबंध में अयथार्थ है, परन्तु कलाओं के परमाणुओं (सेलों) के संबंध में ठीक मालूम पड़ता है । अब कलाओं के सम्बन्ध में जो चार सूत्र ऊपर दिये गये हैं, उनका विचार किया जायगा । संस्कृत में अल्प और स्वल्प ये दोनों शब्द परमाणुस्वरूप सूक्ष्म पदार्थों के लिए प्रयुक्त न होकर स्थूल पदार्थों का थोड़ा परिमाण बताने के लिए प्रयुक्त होते हैं—स्तीकाल्य-छुल्लभाः । (अमरकोष) । कलाओं के लिए स्वल्प या अल्प शब्द सापेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है । अन्य अवयवों के मुकाबले में कला पतली और छोटी होने से वह अल्प या स्वल्प कहलाती है । तीसरे सूत्र में डल्हणाचार्य कला के लिए अव्यक्त शब्द का प्रयोग करते हैं । यह शब्दप्रयोग 'यथा हि सारः काष्ठेषु' इस श्लोक की टीका में

मिलता है—'वासामन्तःस्थितरेनाप्रत्यज्ञाणामनित्वं प्रत्युपमानं प्रमाणं निर्दिशन्नाह—भवत् इत्यादि । एतेन कलासाधितपृथ-ग्भातूपतम्भकार्येणव्यक्तमेव कलानामस्तित्वं साधितं भवेत् ॥ हमसे यह स्पष्ट होगा कि कला की अव्यक्तता यह अन्तर्निगूढ होने के कारण है, सूक्ष्मता के कारण नहीं है । जीवितावस्था में कला की अन्तर्निगूढता के कारण उसकी अव्यक्तता उसके कार्य के द्वारा व्यक्त की जाती है, यही डल्हणाचार्य के वचन का फलितार्थ है । इसमें कला की सूक्ष्मता का तनिक भी संबंध नहीं है । हाराणचन्द्र का वचन मांसधरा कला के संबंध में है, साधारण नहीं है । इसके सिवाय उस वचन का अर्थ यह नहीं होता कि वह कदापि चञ्चुर्विपयी नहीं होती । यदि विचार करके उसकी खोज की जाय, उसके लिए प्रयत्न किया जाय तो वह चञ्चुर्विपयी हो सकती है । इस तरह कलाओं की सूक्ष्मता और अतीन्द्रियता सिद्ध करने के लिए शास्त्रीजी ने जो जो प्रमाण पेश किये हैं, वे सब सूक्ष्मता को सिद्ध न करके कलाओं की स्थूलता को सिद्ध करते हैं । स्वरूप और प्राकार—इसका सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस अध्याय में और जिस क्रम में कलाओं का विचार हुआ है, उसके ऊपर ध्यान देना परमावश्यक है । इसके सुवावयोध के लिए प्रासाद का दृष्टान्त दिया जाता है । जैसे किन्नी प्रासाद का वर्णन करते समय उसके प्राकार का वर्णन प्रथम होता है, पश्चात् उसके व्यवधान भित्तियों (Partition walls) का वर्णन होता है, पश्चात् उन प्राचीरों से बने हुए सभागृह, खानगृह, शयनगृह, भाण्डार-गृह इत्यादि विविध गृहों का वर्णन होता है, वैसे ही गर्भव्याकरण और शरीरसंख्याव्याकरण इन अध्यायों में शरीर रूप प्रासाद का वर्णन किया है, जिसमें प्राकार के स्थान में प्रथम त्वचा का, अन्तःप्राचीरों के स्थान में कलाओं का और पश्चात् अन्तर्गृहों के स्थान में विविध आशयों और अवयवों का वर्णन किया गया है । इस दृष्टान्त को सामने रखकर यदि 'धारवागयान्तरमर्यादा' इस शब्द प्रयोग के ऊपर ध्यान दिया जाय तो उसका अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी । संक्षेप में, कला त्वचा के समान आवरण करने वाला शरीर का अवयव है, परन्तु त्वचा बाहर होती है, कला भीतर अतएव अव्यक्त होती है; त्वचा मोटी और विस्तृत (सर्वशरीरव्यापी) होती है-कला तनु और स्वल्प (एकध अंग को व्यापने वाली) होती है । आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार कला Membrane, Fascia serosa के स्वरूप की होती है । यदि उसकी रचना का विचार किया जाय तो वह चायवीय (Fibrous membrane), जरायुसम (Serous membrane) और श्लेष्मल (Mucous membrane) हो सकती है—लायुभिश्च प्रोच्छिन्नान् संनवाश्च जरायुणा । श्लेष्मणावेषिन्नाश्चापि कलाभागास्तु तान् विदुः ॥ इस अर्थ से सातों कलाओं का भाषान्तर निम्न प्रकार से होता है—

१ मांसधरा कला—Deep fascia, Intermuscular septa.

२ रक्तधरा कला—Endothelial lining of the blood vessels and sinuses in the liver and spleen.

- ४ स्नेहघरा कला—Synovial membrane
 ५ पुरीषघरा कला—Mucous membrane of the colon and rectum
 ६ पित्तघरा कला—Mucous membrane of the small intestine.
 ७ शुक्रघरा कला—Mucous membrane of the vesiculae seminales, vas deferentia, etc

उप, सपुण या निर्गुण—कला का एक अर्थ गुण (Quality) भी है और डॉ० ग० द० जापटे कला का अर्थ गुण करते हैं—

This biologically active quality of one Dhatu or Ashaya giving birth to one of another sort, is termed by the ancients as Kala. In ordinary language it means a quality. *Some Anatomical Concepts*

इस दृष्टि से 'धातुशाशयान्तरमर्यादा' इसका अर्थ (अन्यो धातुषोचन्तरम्, अन्य आशय आशयान्तरम्, तस्य मर्यादा)—एक धातु से दूसरा धातु और एक आशय से दूसरा आशय उत्पन्न होने का गुण किया जाता है। परन्तु गुण किसी आधार के सिवा नहीं मिल सकते हैं—अथवा वदविनो, उपउपिनो, कर्मवर्तवो, सामान्यसामान्यवो सदैववस्थानम् । ननुवदनादीन् विरहव्यायव्यायव वसतन्वन्वो । (चक्रपाणिदत्त) । इस समवायसंबंध से गुणगुणिनो रमेदाभाव माना जाता है। यदि कला का अर्थ गुण करना हो तो उपर्युक्त तर्कों के अनुसार कला में एक धातु से अन्य धातु उत्पन्न करने का गुण जिसमें हो ऐसा शरीरगत अवयव का बोध होता है। संक्षेप में कला सपुण है या निर्गुण इतना ही प्रश्न सामने आता है। निर्गुण में केवल धारण (Merely holding) करने का बोध होता है और सपुण में धारण के अतिरिक्त कला के जो कोई विशेष कार्य होते हैं, उनका बोध होता है। उपर कलाओं के जो अर्थों की पर्याय नाम दिए हैं, वे महामहोपाध्याय गणनाथ सेन समत हैं। आपके मतानुसार कला निर्गुण याने केवल रक्तमासादि धारक होती है—कथा नाम धातुर्देविरोच, धतुभया विपक, नक्ष्य मासो धातुर्नापि धातुनिर्मापक, कोदस्य वररोग्दत्ताद । कला नाम स्नेहमर्यामपराच्छ्रय धारोवन्विविधो रसादिधातु धारणमात्रात् । च धातुनिर्माणार्थेपि रूचिश्चिरम् ॥ (स्वभाष्यकविमार्ग) । इस मत के समर्थनार्थ दो आधार दिए गये हैं—ननु कलेषु धातुकारणेषु न पूर्ववद्वर्तां नाधुचरधातुर्ना प्रप्रेति । (इन्द्र) । ननु रसान्तर रक्त, तसो मास, नक्ष्य प्रायेर मासधर षड्विधा तसो रक्षरैरिति । उच्यते—योषे क्रमोऽन ननु धारो नक्ष्य दम्भमित्युच्यते कला निर्दिष्टा । (बह्वण) । प्रथम इन्द्र के वचन का तात्पर्य यह है कि कला स्वयं पूर्वधातु या उत्तरधातु में परिवर्तित नहीं होती। बह्वण के वचन का तात्पर्य यह है कि धातुक्रम के अनुसार कलाओं का क्रम इसलिए नहीं मिलता है कि कला स्वयं धातुपर्यन्त में भाग नहीं लेती, धारण में लेती है। यह कथन विलुक्त सत्य है, परन्तु कला स्वयं जो कितनी रक्त दूसरी किसी चीज को या विचार काम को नहीं करती, यह अर्थ उपर्युक्त दोनों वचनों से नहीं

मिलता है। कलाओं में विशेष गुण (धारण के सिवा) होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है और यदि उपर्युक्त अर्थों की पर्याय टीका हो तो यही बात माननी पड़ेगी। इसके लिए कुछ उदाहरण लिये जाते हैं। शुक्रघरा कला—इसमें शुक्राशय, शुक्रवह सोतन और शुक्रप्रणालियों की सिद्दी समाविष्ट है। इसके सम्बन्ध में आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान बताता है कि वह कला शुक्र के तरल भाग को उत्पन्न करती है—

The semen ejaculated through the penis is the secretory product of the testes, epididymis, vesiculae seminales, and other accessory glands. *Marshall's Introduction to Sexual Physiology* The vas efferentia and epididymis are lined by columnar cells, some of which are ciliated, while others are devoid of cilia, and probably possess secretory functions. *Halliburton, a Physiology* स्नेहघरा कला—इसके सम्बन्ध में भी ऐसा ही मत है—It (synovial membrane) is composed of a thin, delicate connective tissue, with branched tissue corpuscles. Its secretion is thick, viscid, and glairy, like the white of an egg and hence termed synovia. *Grey's Anatomy*

कविराजजी इसमें यह भेद बताते हैं कि यह धातु स्नेहघरा कला का न होकर तत्रत प्रथियों का होता है—न च शक्यं स्वर्गं चि स्वचर रतेभ्योत्तदकल कलाप्रदेरिति । नलापुतेभ्यो प्रथिभ्य एव सपिपु तदुत्तरनेमया सम्भव । निर्दिष्टसुचारात् । परन्तु इस तरह का सूक्ष्म भेद करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे प्रथियों भी इस कला की होती हैं। उपर्युक्त प्रे के वचन में उनका इसलिए स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया गया है। इसके सिवाय किसी कला (मेन्ब्रेन) को श्लेष्मल (सायनोवियल) कहना, फिर भी उसमें स्नेह (सायनोविया) उत्पन्न करने की शक्ति का हन्कार करना यह एक विशिष्ट संबंध मालूम होता है। विषय कला—इससे सुद्वान्न का अन्तरावरण लिया जाता है। आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि इसमें अम्लानाशय और वृहत् के पाचक रसों को उत्तेजित और धारण करने की, पाचन अथ के सत्व्य भाग को सोपित करने की तथा आन्त्ररस (Suocas entericus) नामक पाचक रस (जिसको पित्त कह सकते हैं) उत्पन्न करने की शक्ति होती है। आन्त्ररस उत्पन्न करने की शक्ति के सबंध में भी श्लेष्मघरा कला के समान आशय किया जा सकता है कि यह रस आन्त्र की विषेय प्रथियों से (Crypts of Lieberkubn) उत्पन्न होता है। इसके संबंध में भी यही उत्तर दिया जा सकता है कि वे प्रथियों कला की ही होती हैं तथा दोनों का अन्तरावरण एक प्रकार की सेलें से बनता है—

Contained within or belonging to the mucous membrane are the following structures—circular folds, villi, intestinal glands, etc *Grey's Anatomy* इसमें विलिंगिंग शब्द महत्व का है। आन्त्ररस की रचना और प्रथियों की रचना—Abasement membrane, supporting a single layer of epithe-

lial cells, which throughout the intestine are columnar in character. Their (Glands) wall are thin, consisting of a basement membrane lined by columnar epithelium. *Grey's Anatomy.*

इससे यह स्पष्ट होगा कि आन्तरिक कला से होता है, इसको मानने में कोई वैज्ञानिक आपत्ति नहीं कर सकता है। रक्तधरा कला—रक्तधरा कला में यकृत और प्लीहा का विशेष उल्लेख किया गया है। आयुर्वेद में रक्तोत्पत्ति का संबन्ध यकृत और प्लीहा के साथ माना जाता है—स खत्वाप्यो रसो यकृतप्लीहानौ प्राप्य राग-मुपैति। विशेष विवरण के लिए प्रथम खण्ड पृष्ठ ७७ देखो। इसलिए रक्तधरा कला में यकृतप्लीहा का निर्देश करते समय रक्तधरा कला का कुछ सम्बन्ध रक्तोत्पत्ति के साथ सूचित करने का ग्रंथकार का उद्देश्य होना असंभवनीय बात नहीं है। आधुनिक सूक्ष्म शरीर से यह सिद्ध हुआ है कि यकृत और प्लीहा की केशिकाओं और शोणितकेशिकाओं का आस्तरण (जो रक्तधरा कला में समाविष्ट है) विशेष प्रकार की कोशिकाओं से बनता है जो जालिकान्तःच्छदीय कोशाणु (Reticuloendothelial cells) कहलाती हैं—

Others (R. E. cells) are sessile, for example the stellate cells of Kupffer, which constitute an imperfect lining for the hepatic capillaries. Other sessile components of the reticulo-endothelial system are the endothelium of the lymph sinuses and splenic sinuses, etc. *Halliburton's Physiology.*

इन के जो अनेक कार्य हैं, उनमें रक्तोत्पत्ति एक कार्य है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक यकृत और प्लीहा यह काम करती हैं। पश्चात् रक्तोत्पत्ति का कार्य रक्त-मज्जा में चला जाता है।

In the foetus the liver and spleen take part in blood formation, but in the adult it is confined to the red bone marrow. *Halliburton's Physiology.*

मलधरा कला—मलधरा कला मलधारण के कार्य के अतिरिक्त जलशोषण का और घुकों के द्वारा अनुत्सृष्ट्य लवणों के उत्सर्जन का कार्य करती है—

The functions of the large intestine are mechanical, absorptive and excretory. The mechanical functions of the large intestine comprise the storage of faeces, and their evacuation at due intervals. The large intestine absorbs chiefly water. *Halliburton's Physiology.*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि कलाएँ केवल गुण (Quality) नहीं हैं, धातुत्पादक सूक्ष्म अवयव (Formative elements) पं० गंगाधरशास्त्री जोशी) नहीं हैं, केवल धातुओं के आधार (Mechanical supporters) नहीं हैं, परंतु विशेषगुण-युक्त आवरण (Membranes with special functions) हैं।

गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्तमान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद्गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते; ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं-चोपचीयमानमप-

रेत्यभिधीयते; शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद् गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति २३

गर्भवती स्त्रियों के आर्तववह स्रोतों के माग गर्भ के द्वारा बंद हो जाते हैं। इसलिए (गर्भाधान के बाद) गर्भवती स्त्रियों में आर्तव (स्राव) नहीं दिखाई देता। तब नीचे की ओर बंद हुआ (इसलिए लौटकर) ऊपर की ओर आया हुआ और उत्तर काल में परिवर्धित हुआ वही आर्तव अपरा कहलाता है। शेष आर्तव और भी ऊपर आकर स्तनों में प्राप्त हो जाता है। इसलिए गर्भिणी के स्तन मोटे और उन्नत हो जाते हैं ॥ २३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का अनार्तव, अपरा की उत्पत्ति और स्तनों की पीनोन्नतता; इनकी उपपत्ति बतलाई गई है। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए यह उपपत्ति लौकिक परिभाषा में बताई गई है, तथा वतानों की पद्धति बड़ी रोचक और सूचक है। वर्तमान्यवरुध्यन्ते गर्भेण—गर्भाधान होने पर आर्तवस्राव आप से आप कैसे बंद होता है, इसका ठीक उत्तर देना आज भी बहुत कठिन है। परन्तु एक बात निश्चित है कि गर्भ ही के कारण आर्तवस्राव बंद होता है। आर्तवस्राव का घनिष्ठ संबंध वीजकोष (Ovary) के साथ होता है। इस वीजकोष में दो रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। एक का नाम है ओस्ट्रिन (Oestrin) और दूसरे का है प्रोजेस्टिन (Progesterin)। ओस्ट्रिन वीजकोष की आन्तरिक (Interstitial) सेलों से बनता है और इसके प्रभाव से गर्भाशय की श्लेष्मल कला का नाश होकर आर्तव का स्राव होता है। दूसरा पदार्थ प्रोजेस्टिन पक्षव्रीज बाहर पड़ने के बाद उसके स्थान में जो पीतपिण्ड (Corpus luteum) बनता है, उसमें निर्माण होता है। यह द्रव्य गर्भाशय की श्लेष्मल कला को गर्भग्रहण योग्य बनाता है तथा स्तनों को भी परिपुष्ट करता है। जब गर्भग्रहण योग्य गर्भाशय में गर्भ नहीं आता, तब ओस्ट्रिन अपना नाशक कार्य करके आर्तवस्राव उत्पन्न करता है। उसका नाशक कार्य समाप्त होने पर प्रोजेस्टिन अपना रचनात्मक कार्य करता है। इस तरह ये दोनों द्रव्य परस्परविरोधी होने पर भी प्रति मास नियत परन्तु भिन्न समय पर कार्य करके शोणितोत्पत्ति का चक्र जारी रखते हैं। शोणितोत्पत्ति के चक्र में गर्भाशय के भीतर चार अवस्थाएँ होती हैं। प्रथमावस्था प्रोजेस्टिन के कारण होती है। इसमें गर्भाशय की श्लेष्मल कला काफी मोटी होती है, तद्वत् रक्तवाहिनियाँ तथा ग्रंथियाँ बढ़ती हैं। संक्षेप में, गर्भ के आगमन और ग्रहण की सब तैयारी होती है। जब गर्भ नहीं बनता है, तब ओस्ट्रिन के परिणाम से रक्तवाहिनियाँ, ग्रंथियाँ और कला स्थान स्थान पर विदीर्ण होकर ये सब मिलकर नीचे की ओर निकलते हैं और यही आर्तव शोणित होता है। यह दूसरी अवस्था है। जब पुरुष के साथ सहवास करने के पश्चात् शुक्राणु का स्त्रीबीज से संयोग होकर वह सफल (Fertilized) होता है और उसके ग्रहण के लिए बनाई हुई श्लेष्मल कला पर वह चिपट जाता है, तब प्रोजेस्टिन का कार्य प्रतिमास की तरह बंद न होकर जारी रहता है और ओस्ट्रिन कार्य प्रतिमास की तरह न होकर बंद रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय की जिस श्लेष्मल कला और रक्तवाहिनियों से आर्तवशोणित बनता है वह गर्भ उस के ऊपर चिपट जाने

से नहीं बनता। संवेग में गर्भ अपनी उपस्थिति से और स्केमल कला की मोटाई के कारण आंतर का मार्ग बंद करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं (९ वें अध्याय के २२वें सूत्र का अर्थ भी देखें)। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि गर्भ आंतरवशोणित को बनने के पश्चात् नहीं रोचना, परन्तु आंतर बनने ही नहीं देता। इसलिये लिखा है—उत्सर्ग्यं पृथी गर्भाद्या मातृव न इत्यने। तस्मात् के पश्चात् अष्टांगसंग्रह में 'एतः परम्' लिखा है। यह दार्द्र्यप्रयोग यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि कल्पना को अधिक स्पष्ट कर देता है। गर्भ का आधान होने पर केवल उस भाग के लिए नहीं, जब तक गर्भ गर्भाशय में होता है तब तक आंतर का दर्शन नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। इसलिये इन्द्र अपनी टीका में लिखते हैं—एषु कदाचिद् इत्यने शब्देऽत्र। गर्भधारणा होने के पश्चात् जो शोणित-भाव होता है वह गर्भाधान, बीजव्राहिनी में गर्भधारणा, अपरा का गर्भाशय से अलग होना इत्यादि वैकारिक कारणों से होता है, अवैकारिक शोणितभाव कदापि नहीं होता। यदि किसी स्त्री में गर्भधारणा के पश्चात् प्रतिमास शोणितदर्शन होता तो वह उसमें दूसरे गर्भाशय की उपस्थिति का सूचक (Double uterus) समझना चाहिए। संवेग में इन्द्र ने जो लिखा है, यह ठीक है—

Rarely will one be deceived who regards a woman menstruating regularly, with all the characters of menstruation, while trusting the contrary opinion, he is exposed to frequent errors. *Edits. used in Jellie's Midwifery.*

अथ प्रसिद्धतन्त्रांगत्वं—स्वस्थानस्थितम्। प्रतिमास की तरह आंतर उत्पन्न होने पर स्वस्थान में आने के लिए उसमें किस प्रकार की गतिरियाँ उत्पन्न होती हैं इसका यह दार्द्र्य चित्र है, वास्तविक गति का वर्णन नहीं है। अत्र—अविष्यकाल में, उत्तरकाल में। हाराणचन्द्र इसका अर्थ दूसरा महीना करते हैं—प्रसर्गशीलनं त्रितीयमासिकञ्चैवेत्यत्र। गर्भाधान के समय से तीसरे महीने के अन्त तक अपरा की उपचीय-मानावस्था होती है और पश्चात् वह पूर्ण उपचित होता है। इसलिये 'अपरम' से अविष्यकाल मानना अधिक उचित है। अपरा—जरायु या अपरा। गर्भ का कोष जिसमें गर्भ गर्भाशय में रहता है। इस कोष के दो भाग होते हैं। एक भाग बहुत पतला और विस्तृत होता है, जो चारों ओर से गर्भ को आच्छाद करता है। यह गर्भवस्त्र (Foetal membrane.) कहलाता है। दूसरा भाग इस आवरण के बाहर उसके एक हिस्से में विद्यता हुआ होता है। यह आकार में दीर्घ गोल, व्यास में ६-७ इंच, बीच में एक इंच स्थूल और परिसर में पतला, चत्रन में एक से डेढ़ चौण्ड (दो से तीन पाव) होता है। आवरण की तरफ का इसका पृष्ठभाग चिकना और गर्भाशय की तरफ का पृष्ठभाग सरदरा होता है। इसके प्लेन्टा (Placenta) कहते हैं। इसके मध्य में गर्भनाडी लगी रहती है। अपरा से वास्तव में दोनों (Placenta and membranes) का बोध होता है—अपराजउपजन्तवान्वाभ्यानी कुर्वे। (मुभूत)। वर्यायु सनु अपराया प्ररतनार्थं कर्मैपि कियन्ताये। (चरक)। अथ प्रदृश्या न वेरयत पति तव। (घामट)। परन्तु कभी

भी अपरा हाथ केवल प्लेन्टा के लिए भी प्रयुक्त होता है—नाम्नां द्रव्यं नाहो प्रसक्तं, नास्यां चापरा, अपरा पत्यं मायुः प्रसक्तं इत्ये, मातृद्वयं द्रव्यं तावपराभिस्यत्वादे तिरामिः संरयदमानतमिः। (चरक)। अपरा गर्भस्य नाभिनाडी-प्रविष्टा 'अपरा' इति लोके ख्याता। (चक्रपाणिद्वय)। जरायु नाम भी अपरा के समान दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु अधिकतर उससे केवल आवरणों का बोध होता है—जरायुा मुखे ख्यन्ते। (मुभूत)। गर्भरोहनमप्युक्तं जरायु (उदयन)। अतः निम्न परिभाषा की दृष्टि से अपरा Placenta के लिए और जरायु Membranes के लिए विशेष करके ehorion के लिए प्रयुक्त करना उचित है।

अपरा की यहाँ पर जो निरुक्ति बतलाई गई है, उससे यह मादम होता है कि अपरा शोणित से उत्पन्न हुई है। यह कथन कुछ अंश तक सत्य है। यदि अपरा का छेद किया जाय तो उसमें दो भाग दिखाई देते हैं। गर्भाशय की तरफ जो भाग होता है वह गर्भाशयज अपरा Placenta uterina) और गर्भ की तरफ जो होता है वह गर्भज अमरा (Placenta foetalis), कहलाता है। गर्भज भाग में आवरण और उनके रसांडुरः Villi) आते हैं और गर्भाशयज भाग में स्केमल कला का हिस्सा Decidua paralis) और शोणित-तावकास, जिनमें माता का रक्त रहता है, होते हैं। गर्भज भाग गर्भ से और गर्भाशयज भाग शोणित से बनता है। यदि गर्भावस्था के प्रारम्भ का विचार किया जाय तो यह कथन अधिक सत्य होता है क्योंकि उस समय गर्भाशयज भाग अधिक होता है—

During the constructive stage the uterus undergoes growth, glandular development and hyperaemia. The changes in a general way are described as being very similar to those which occur at the commencement of pregnancy. *Marsh all's Introduction to Sexual Physiology.*

शैश्व—जरायुशैश्व। (अष्टांगसंग्रह)। अपरा की उपचिति के लिए आवश्यक शोणित व्यय होने पर बच्चा हुआ। हाराणचन्द्र 'शैश्व' से तीसरे महीने के बाद का आंतरव-शेष स्त्रीदासिनासिक्तम्। वास्तव में आंतर का और स्तनपृष्ठ का कोई संबंध नहीं है। जो द्रव्य (प्रोवेस्टन) गर्भाशय को गर्भप्रपण योग्य बनाता है तथा गर्भाधान होने पर गर्भाशय में उसके पोषण के लिए आवश्यक परिवर्तन करने में सहायता करता है, वही द्रव्य गर्भजन्म के पश्चात् उसके पोषण के लिए स्तनों की भी वृद्धि करता है। परन्तु स्तनों का कार्य जन्म के पश्चात् होने से उस द्रव्य का प्रथम कार्य गर्भाशय पर होता है और पश्चात् स्तन पर होता है। अपरा की पूर्णवृद्धि तीसरे महीने के अन्त तक हो जाती है और स्तनजाल परिवर्तन तीसरे महीने से प्रारंभ होते हैं, जो प्रसवकाल तक जारी रहते हैं। इनका विवरण तीसरे अध्याय के १७वें सूत्र के वचन्य में किया गया है। इसलिये शैश्व का अर्थ अपरा की उपचिति होने के पश्चात् काल का, देना समझना चाहिए।

गर्भस्य यकृतलोहानौ शोणितजौ, शोणितकेन-प्रमथः पुनःपुनः शोणितकिङ्कप्रमथ उच्छुक्तः ॥२४॥

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः ।
 तं पच्यमानं पित्तेन वायुध्वाप्यनुधावति ॥२५॥
 ततोऽस्थान्त्राणि जायन्ते गुदं वस्तिश्च देहिनः ।
 उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुष्मसारवत् ॥२६॥
 कफशोणितमांसानां सारा जिह्वा प्रजायते ।
 यथार्थमूपमणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् ॥२७॥
 अनुप्रविश्य पिशितं पेशीविभजते तथा ।
 मेदसः स्नेहमादाय सिरास्नायुत्वमाप्नुयात् ॥२८॥
 सिराणां तु मृदुः पक्वः स्नायूनां च ततः खरः ।
 आशय्याभ्यासयोगेन करोत्याशयसंभवम् ॥२९॥

रक्तमेदःप्रसादाद्वृक्षौः मांसासृक्कफमेदःप्रसादा-
 द्बुधुपणौः शोणितकफप्रसादजं हृदयं, यथाश्रया हि
 धमन्यः प्राणमहाः तस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फु-
 सश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च; तद्बृहदयं विशेषेण
 चेतनास्थानम्, अतस्तस्मिस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिन
 स्वपन्ति ॥३०॥

भवति चात्र—

पुण्डरीकेण सदृश हृदयं स्यादधोमुखम् ।
 जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥३१॥

गर्भ के यकृत् और प्लीहा रक्त से, फुफ्फुस रक्त के फेन
 से, और उण्डुक रक्त के मल से बनते हैं ॥२४॥ रक्त और
 कफ का जो सारतम भाग होता है, पित्त के द्वारा पकते
 समय उसमें वायु भी आ जाती है ॥२५॥ तब उससे आन्त्र,
 गुद, वस्ति की उत्पत्ति होती है । (अग्नि पर रखकर)
 धाँकने से (उत्पन्न होने वाले) सोने के सार भाग के
 समान उदर में (पित्त और वात के द्वारा) पकाये जाते
 हुए ॥२६॥ कफ, रक्त और मांस का सार भाम जिह्वा उत्पन्न
 होती है । पित्त से युक्त वायु प्रयोजन के अनुसार स्रोतों को
 विदीर्ण करती है (उत्पन्न करती है) ॥२७॥ उसी तरह
 (पित्तयुक्त वायु) मांस में प्रवेश करके उसे पेशियों में
 विभक्त करती है । और मेद का स्नेह भाग पृथक् करके
 (मांस को) सिरा और स्नायुओं में परिवर्तित करती है
 ॥२८॥ (सिरा और स्नायु में फर्क इतना ही है कि उत्पत्ति
 के समय) सिराओं का पाक मृदु होता है और स्नायुओं का
 खर होता है । (वैसे ही वायु मांस में) अवस्थान करके
 और वार वार परिश्रम करके आशयों की उत्पत्ति करता है
 ॥२९॥ रक्त और मेद के प्रसाद से दोनों घृक्; मांस, रक्त, कफ
 और मेद इनके प्रसाद से घृषण (उत्पन्न होते हैं); रक्त
 और कफ के प्रसाद से हृदय (बनता है), जिसके आश्रय
 में प्राणवहा धमनियाँ होती हैं; हृदय के नीचे बाईं ओर
 प्लीहा और फुफ्फुस, (नीचे) दाहिनी ओर यकृत् क्लोम
 (और फुफ्फुस) होता है । यह हृदय विशेष करके चैतन्य
 स्थान है । इसलिए इसके तम द्वारा आच्छादित होने पर
 संपूर्ण प्राणी सो जाते हैं ॥३०॥ यहाँ पर श्लोक है—
 अधोमुखकमल (कलिका) के समान हृदय (आकार में)
 होता है; जागरूक (मनुष्य वा प्राणी) का हृदय विकसित

रहता है और निद्रित (प्राणी या मनुष्य) का संकुचित
 हो जाता है ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—फुफ्फुसः—फेफड़ा (Lungs) । आयुर्वेद में
 फुफ्फुस का उल्लेख एकवचन में होता है । वास्तव में
 फेफड़े दो होते हैं—एक दाईं ओर और एक बाईं ओर ।
 परंतु ये दोनों फेफड़े कण्ठनलिका की शाखाओं से थापस में
 इतने निगदित होते हैं कि दोनों एक कहे जा सकते हैं ।
 आयुर्वेद में फुफ्फुस का वर्णन बहुत संक्षेप में मिलता है—
 हृदयनाटिकालयः फुफ्फुसः । (इलहण) । उदानवायोराधारः
 फुफ्फुसः प्रोच्यते पृषेः । (शार्ङ्गधर) । उदानवायोः कण्ठस्थित-
 वायोराधारः । (शार्ङ्गधरदीपिका) । इस वर्णन से भी यह
 निश्चय हो सकता है कि फुफ्फुस वही अंग है, जो पाश्चात्य
 परिभाषा में लंग्ज कहलाता है । चरक में 'द्वौ श्लेष्मभुवौ'
 (शा० ७) करके दो अंग उरोविभाग में वर्णन किये हैं ।
 इसकी टिप्पणी में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—'श्लेष्मभुवौ
 कण्ठस्य पाद्वर्धयोर्व्यवस्थितौ कठिनी भागौ । इसमें कठिन शब्द
 फुफ्फुस के वर्णन के साथ नहीं मिलता । परंतु इस शब्द के
 ऊपर अधिक जोर देने का कारण नहीं है । शरीर के जो
 छपन प्रत्यंग वर्णन किये हैं, उनमें जिस सिलसिले में
 इनका उल्लेख आया है, उससे 'श्लेष्मभुवौ' फुफ्फुस के लिए
 प्रयुक्त हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है । फुफ्फुस शंक्वाकार
 होता है, जिसका नीचे का भाग मोटा और अधिक चौड़ा
 और ऊपर का भाग पतला और नोकीला होता है । यह
 ऊपर का भाग शिखर (Apex) कहलाता है और गरदन की
 ओर अक्षकास्थि के पीछे रहता है । नीचे का भाग उदरगुहा
 की ओर महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के ऊपर स्थित
 होता है । फुफ्फुस ऊपर से चिकने और चमकीले होते हैं
 और उन पर कुछ चित्तियाँ पड़ी रहती हैं । ये बहुत मृदु
 और स्थितिस्थापक होते हैं, जिसके कारण स्पर्श करने और
 दवाने पर ये मुलायम और स्पंज के समान मालूम होते हैं ।
 काटने पर उनमें स्पंज की भाँति अस्वल्प छिद्र दिखाई देते
 हैं । ये सब छिद्र वायु से भरे रहने के कारण फुफ्फुस जल
 से हलके होते हैं और पानी में तैरते हैं । गर्भावस्था में
 फुफ्फुस का रंग गहरा लाल, बालकों में गुलाबी और
 प्रौढ मनुष्यों में स्लेट का सा नीलापन लिये भूरा सा होता
 है । काटने पर इससे झगदार लाल तरल निकलता है ।
 यहाँ पर फुफ्फुस की उत्पत्ति के संबंध में जो कल्पना की
 गई है वह शक्तिच्छेद करके फुफ्फुस के उपर्युक्त लक्षणों का
 अभ्यास करके की गई है, ऐसा मालूम पड़ता है । इन
 फुफ्फुसों में श्वास द्वारा प्राणवायु (वातावरण की अधिक
 आक्सिजन याने विष्णुपदामृत युक्त वायु) प्रवेश करती है
 और वहाँ पर रक्त की शुद्धि करके अधिक कार्बन डायोक्साइड
 युक्त वायु में परिवर्तित होती है । यही वायु प्रश्वास के साथ
 कण्ठ-नासिका से बाहर आती है और इसी की सहायता से
 मनुष्य स्वरयन्त्र के द्वारा बोलना, गाना इत्यादि ध्वनि के
 कार्य करता है—वायुओं वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् ।
 उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः । तेन भापितगीवादिविशेषोऽ-
 भिप्रवर्तते । (सुश्रुत) । तत्र प्राणः कण्ठोरश्वरः । उदान उरस्यवस्थितः
 कण्ठनासिकानामिचरो वाक्प्रवृत्तिः । (अष्टांगसंग्रह) । नाभिचर
 शब्द का अभिप्राय यह नहीं है कि वायु नाभिप्रदेश में
 भी संचार करता है, परन्तु श्वास-प्रश्वास के समय नाभि के

१ तत्रास्य मध्यमानस्य ध्मायमानस्य रक्तमवत । जिह्वा संजायते
 सौमी यथा वैदयते रसान्, २-तस्य वामतः.

आसपास का भाग भी हिलता है, इसलिए वायु नाभिचर या नाभिस्य कहलाता है। निम्नमें नाभि की गति अधिक होती है, वह नाभिवक्षत्र (Abdomino-thoracic) श्वसन कहलाता है और निम्नमें नाभि की गति कम और वक्ष की अधिक होती है वह वक्षनाभिचर (Thoracico-abdominal) श्वसन कहलाता है। प्रथम प्रकार स्वामाधिकगौर से लिगनिरपेक्ष वालकों में और प्रौढ पुरुषों में तथा दूसरा प्रकार प्रौढ स्त्रियों में मिलता है। प्राणवायु शरीर को जीवन देने का भी कार्य करता है—प्राणाश्वापवनवने (सुसुप्त)। नाभिस्य प्राणपवन स्रष्टा हृत्पन्नान्तरम्। ऋण्डाऽभिभिनिर्वाति पितृ विष्णुऽदानुत्तम्॥ पीता चामरपीड्य पुनरपयति वेगम्। प्रोपयन् देवमचिन् वीर्यवष्टराननम्॥ (शाङ्गधर)। उपयुक्त विवरण से यह बात साफ होगी कि आयुर्वेद में, यद्यपि स्पष्ट शब्दों में नहीं तथापि अस्यष्ट रीति से, फुफ्फुस का सवध श्वास प्रश्वाम तथा रक्तशुद्धि के माध्य (अध्याय में प्राणवह श्वेतसू देखते) जोड़ दिया गया है। प्राणवायु से अनेक वस्तुएं (हरय या अहरय, रक्त या अरक्त) उपलब्ध हो सकती हैं, परन्तु उनमें 'आक्सीजन (Oxygen) या तपुक्तवायु' यह एक वस्तु है, इसमें संदेह नहीं। जैसे ही उदान वायु से अनेक वस्तुएं उपलब्ध हो सकती हैं, परन्तु उनमें फुफ्फुसगत परिवर्तित (अधिक कार्बन डायोक्साइड CO₂, युक्त) वायु एक वस्तु है, इसमें भी कोई संदेह नहीं और इसी दृष्टि से फुफ्फुस उदान वायु का आधार माना गया है—उदानवायोराधार पुष्कम् प्रोच्यते उभे। (शाङ्गधर)। घृष्टी—मुक्तिगेनकी। (दन्तण)। घृष्ट सदैव द्विवचन में प्रयुक्त होता है और गोलाकार कोष्ठस्य अंग है। इसके सिवाय शरीर की दृष्टि से (Anatomically) घृष्टों का अधिक वर्णन आयुर्वेद में नहीं मिलता। परन्तु इतना भी वर्णन शरीरदृष्टया इसका निश्चय करने के लिए पर्याप्त है। आज कल जिम्को मुर्दा या मूत्रपिण्ड (Kidney) कहते हैं, वही घृष्ट है। घृष्ट शरीर में दो होते हैं—एक दाहिना और दूसरा बायाँ। ये उदर में पिडली दीवार से लगे हुए शरीर की दाहिनी और बाईं ओर रहते हैं। घृष्ट का आकार लोचिये के बीज के समान होता है। उसकी लम्बाई ३ इंच, चौड़ाई २ १/२ इंच, और मोटाई ३ इंच होती है। ये लम्बाई में रीढ़ के दोनों तरफ रहते हैं। रीढ़ की ओर का किनारा लोचिये के काले तिल वाले किनारे की भाँति वीच में दना हुआ होता है और दूसरा किनारा बाहर की ओर गोल होता है। घृष्ट में असक्य पतली पतली और लम्बी नालियाँ होती हैं। इन नालियों का एक मिरा गुच्छेदार होता है और दूसरा सिरा धन्य नालियों के साथ मिलता है। इस तरह बड़ी बड़ी नालियाँ की वनावट होती है। ये बड़ी नालियाँ अलिन्द (Pelvis) में इकट्ठा होती हैं। वहाँ से मूत्रप्रणाली निकलकर उसी तरफ बलि के एक कोने में मिलती है। इसी प्रकार दूसरे घृष्ट से भी दूसरी प्रणाली बनकर बलि में मिलती है। घृष्टों में महापयनी से दो शाखाएँ आती हैं, जो उनके भीतर अन्तम सूक्ष्म प्रशाखाओं में विभक्त होती हैं। इनका अन्तम सिरा मूत्रनलिका के गुच्छेदार सिरों में मिलता है। वहाँ से छोटी छोटी सिराएँ उत्पन्न होती हैं, जो आपस में मिलकर बड़ी बनती हैं। अन्त में सय सिराओं से एक बड़ी सिरा

बनती है, जो अधरा महासिरा में मिल जाती है। चमनी के द्वारा घृष्टों में आई हुई उच्च अशुद्धियाँ (यूरिया, यूरिक अम्ल, फास्फेट) तथा जल छुनकर नालियों में चली जाती है और रक्त शुद्ध होकर सिरा द्वारा वापस चला जाता है। घृष्टों का कार्य—घृष्टों में मूत्रोत्पत्ति होती है। असक्य नालियों से जो मूत्र बनता है, वह घृष्टालिन्द में इकट्ठा होकर मूत्रप्रणालियों (Vreters) द्वारा बलि में पहुँचाता है। आयुर्वेद में घृष्टों का संवध मूत्रोत्पत्ति के साथ एक स्थान को छोड़कर और कहीं भी नहीं बतलाया गया है। जिस स्थान में दोनों का कुछ अस्पष्ट संवध लिखा है, वह स्थान अष्टांगसमूह में निम्न प्रकार से मिलता है—समाश्रया क्मनादसकफानपितृष्वकवामूत्राभारः। तेषु सप्त प्रविबद्धानि चोष्णानि हरयवकृद्युक्त्वापुष्पमोक्षवृक्षान्दारीनि। (शा० ५)। विशेष विवरण के लिए ग्रन्थकार की 'आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कल्पना' नामक अंग्रेजी पुस्तिका देखो। श्वर—दिश के दोनों तरफ नीचे लटकने वाले पिण्ड (Testicle or testes) रूप में कहलाते हैं। घृष्टप्रणालियों में भी घृष्ट के समान छोटी छोटी पतली नालियाँ होती हैं। इनकी संख्या ८००-९०० के लगभग होती है। ये नालियाँ बहुत मुड़ी हुई होती हैं। कई नालियाँ आपस में मिलकर २०-२५ बड़ी नालियाँ बनती हैं, जो ग्रंथि के बाहर निकलती हैं। इन्हीं नालियों से अधिघृष्टनिका Epididymis का मिरा बनता है। वहाँ पर इन नालि के सयोग से एक बड़ी नाली बन जाती है, जो शुक्रप्रणाल कहलाती है यह प्रणाली बहुत मोड़ खाकर और गेंदलित मार्कर अण्ड के पिडले किनारे के नीचे भाग तक पहुँचता है। इसी से अधिघृष्टनिका का शरीर और नीचे का भाग बनता है। यही शुक्रप्रणाली और मोटी होकर तथा ऊप को मुड़कर अधिघृष्टनिका के पार्श्व से लगी हुई उपर चढ़ती है और घृष्टणरस्य के साथ उदर में प्रविष्ट होकर शुक्राशय के नीचे के भाग में उसके साथ मिलती है। घृष्टप्रणालि के भीतरी असक्य नालियों में वीर्य का मुख अवयव शुक्राणु (Spermatozoa) बनते हैं और वहाँ। आकर अधिघृष्टनिका की नालियों में इकट्ठा होते हैं। आयुर्वेद में घृष्टण के इस कार्य का स्पष्ट परिचय मिलता है चरक के स्रोतविमान में लिखा है—शुक्रवदाना स्रोत वृष्यो मूत्रम्। (विमान ५)। वीर्यवाहिराभारी श्वर पोश्वाक्वी। (शाङ्गधर)। यहाँ तर शुक्रजह स्रोतसू व वीर्यवाही सिरा से (Tubuli seminiferi) अभिप्रेत हैं। घृष्ट और घृष्टण दोनों नालीदार ग्रंथियाँ हैं और दोनों का ही कार्य अन्तम सूक्ष्म है, जो सूक्ष्मदर्शक के सिवा नहीं समझा जा सकता। ऐसी अवस्था में घृष्टणों के कार्य का स्पष्ट परिचय मिलता है और घृष्टों के कार्य का नहीं मिलता इसका कारण क्या है? इसका कारण स्थानभिन्नता मान्य होता है। घृष्ट उदरगुहा के भीतर होने के कारण उसके विकार के या अपघात के परिणाम देखने का अवसा नहीं मिलता था, जिनके सबब से उसके सम्बन्ध में केवल कल्पना के सिवा ज्ञान प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं था। घृष्टण शरीर के बाहर का और हरय अंग होने के कारण उसके विकारों का तथा अपघातों का परिणाम देखने का अवसर प्राप्त होता था और उनकर देखकर घृष्टणों के कार्य

का ज्ञान प्राप्त हो गया था । क्लैव्य के जो अनेक कारण बताये गये हैं उनमें शस्त्र, चार, अग्नि और वृषण का दूट जाना इत्यादि कारण मिलते हैं । शस्त्र, चार और अग्नि का सम्बन्ध वृषण के साथ समझना चाहिए, शरीर के अन्य अङ्गों पर नहीं—शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रचाराग्निभिस्तथा । (चरक, विमान ५) । चिन्ताशोकाद्विस्त्रम्भाच्चक्षराग्निभिर्भ्रमात् । दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः । शुक्रं सृष्टयन्त्याशु केचित् क्लैव्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजमद्भ्रजयोद्भवे । वदन्ति शोफसच्छेदाद् वृषणोत्पाटेन च । (चरक, चिं० ३०) । हृदय—शरीर का वह अवयव जो अपने संकोच-विकास से रक्त को सदैव गतिमान् रखता है । संचेप में हृदय रक्तपरिचालक यन्त्र याने उदंच (Pump) है । इसको अंग्रेजी में (Heart) कहते हैं और यह शब्द हृत् या हादम इन संस्कृत शब्दों से निकला हुआ मालूम पड़ता है । यह अनैच्छिक मांस से निर्मित अंग है । अनैच्छिक कहने का कारण यह है कि उसके संकोच-विकास पर मनुष्यों की इच्छा का पूर्ण अधिकार नहीं है । मानसिक क्रोधादि अवस्थाओं का कुछ असर होता है । यह अङ्ग वक्ष के वामपार्श्व में अवस्थित है । इसकी दाहिनी ओर दाहिना और बाईं ओर बायाँ फुफ्फुस रहता है । उसके सामने उरःफलक और बाईं ओर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पसलियाँ होती हैं । उसके पीछे अन्नलिका और बृहद्धमनी और इनके पीछे रीढ़ होती है । नीचे महाप्राचीरा पेशी होती है, जिस पर हृदय आश्रय लेता है और महाप्राचीरा के नीचे उदरगुहा में हृदय की बाईं ओर प्लीहा और दाहिनी ओर यकृत होता है । इसके ऊपर से समस्त शरीर को रक्त पहुँचाने वाली बृहद्धमनी निकलती है । इसके सिवा फुफ्फुस को जाने वाली और उससे आने वाली रक्तवाहिनियाँ उत्तरा और अधरा महासिरा भी निकलती हैं । संचेप में, समस्त शरीर को प्राण देने वाली वाहिनियाँ हृदय से सम्बन्धित रहती हैं । हृदय के संकोच-विकास से इन वाहिनियों के द्वारा संपूर्ण शरीर को रक्त की रसीद पहुँचती है और शरीर के परमाणु (Cells) सजीव (चैतन्ययुक्त) रहते जाते हैं । हृदय का यही सम्बन्ध और कार्य इस सूत्र में संचेप में वर्णित हुआ है । धमन्यः प्राणवहाः—शरीर की धातुओं का धारणपोषण तब होता है, जब उनको प्राणवायुयुक्त रक्त (Oxygenated blood) मिलता है । प्राणवायुयुक्त रक्त हृदय से निकलने वाली रक्तवाहिनियों में से बहता है । इस प्रकार की वाहिनी को धमनी (Artery) कहते हैं—ध्मानाद्धमन्यः । (चरक, सू० ३०) । धमनी कहने का कारण तद्वत् स्पन्दन है । चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मानात् पूरणाद्ब्रह्मिन रसादिनेत्यर्थः । इसका अभिप्राय यह है कि धमनियों में जो स्पन्दन होता है, वह वार वार रस या रक्त के पूरण से होता है । स्पन्दन एक प्रकार की गति है और गति वायु के सिवा नहीं हो सकती, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक स्पन्दन के समय वायु धमनी में रक्त के साथ जाता है, यह भी एक धमनीस्पन्दन के संबंध में आयुर्वेद का मत है । परंतु यह वायु हव / Air न होकर 'तन्त्र-यन्त्र धर' तत्त्व है, जो शरीर में अत्याहत संचार करके शरीर को स्वस्थ रखता है—अव्याहतगतित्वस्य स्थानस्थः प्रकृती स्थितः । वायुः स्यात् सोऽधिकं

जीवेद्वीवरोगः समाः शतम् ॥ (चरक) । आर्टरी शब्द का मूल अर्थ वायु (Air) वाहिनी है क्योंकि प्राचीन ग्रीक लोग आर्टरी को वातपूर्ण समझते हैं । आधुनिक काल में 'हृदय से निकलने वाली रक्तवाहिनी' यह इसका अर्थ निश्चित किया गया है । आयुर्वेद में भी धमनी शब्द प्रायः इसी अर्थ से (आगे नौवें अध्याय को देखो) प्रयुक्त होता है और इसीलिए यहाँ पर लिखा है—यदाश्रयाः । सिराएँ (Veins) और धमनियाँ दोनों ही हृदय के साथ संबंध रखती हैं, परन्तु दोनों का हृदय के साथ संबंध भिन्न प्रकार का है । धमनियों की दृष्टि से हृदय आश्रय है । आश्रय वह कहलाता है जो धारण, पोषण या रक्षण द्वारा आश्रितों का कार्य चलाता है—विनाश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः । हृदय ओज का स्थान होने से धमनी ओजोवह होती है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश । ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ (चरक) । प्राण का स्थान हृदय होने से धमनियाँ प्राणवह भी कहलाती हैं—धमन्यः प्राणवहाः । रस का स्थान होने से धमनियाँ रसवाहिनी भी होती हैं—तस्य (रसस्य) च हृदयं स्थानम्, स हृदयाच्चतुर्विंशति धमनीरनु-प्रविश्य । (सुश्रुत) । हृदय संकोच-विकास का स्थान होने के कारण संकोच-विकास का भी ग्रहण धमनियों से होता है—रसस्याद्गुप्फमूले या धमनी जीवसाक्षिणी । (शाङ्गधर) । संचेप में ओज, प्राण, रस, स्पन्द इत्यादि सब बातों के लिए धमनियाँ हृदय की आश्रित होती हैं । सिराएँ हृदय-संबंधित होने पर भी उससे किसी चीज का ग्रहण नहीं करतीं, परन्तु हृदय को ही रक्त की रसीद पहुँचाती हैं—हृदो रसः निःसरति तत एव च सर्वतः । सिराभिर्हृदयं चैति तस्माद् हृत्प्रभवाः सिराः ॥ (भेलसंहिता) । अर्थात् हृदय रक्त के लिए सिराश्रयी होता है, सिराएँ हृदयाश्रयी नहीं होती हैं । इसलिए यहाँ पर 'यदाश्रय' शब्दप्रयोग से जो रक्तवाहिनी प्रदर्शित की गई है, वह आधुनिक परिभाषा के अनुसार आर्टरी है । तस्याधो वामत इत्यादि—इस सूत्र में हृदयसमीप-वर्ती अंगों का उसके साथ स्थानिक संबंध बतलाया गया है । इसमें फुफ्फुस केवल एक तरफ लिखा है, परन्तु वास्तव में वह दोनों तरफ है । इस प्रमाद को दूर करने के लिए गणनाथसेन प्रत्यक्षशरीर की प्रस्तावना में निम्न पाठ सूचित करते हैं—यत्तु 'हृदयस्याधो प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणतो यकृच्च छोम च' इति सौश्रुतः पाठस्तत्र प्रमाद एव दरी-दृश्यते । 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा, दक्षिणतो यकृत्, उभयतः छोम फुफ्फुसौ च' इति तु साधेयान् पाठः, अन्यथा न केनापि कथमपि शक्यं समाधातुम् ॥ अष्टांगहृदय के शारीरस्थान के तीसरे अध्याय के दसवें श्लोक की टीका में अरुणदत्त निम्न श्लोक हृदय के संबंध में लिखते हैं—अपरक्तप्रसादात् स्याद् हृदयं स्थानमोजसः । तस्य दक्षिणतः छोमयकृत्फुफ्फुसमास्थितम् ॥ इस श्लोक के अनुसार दक्षिण-पार्श्व में भी फुफ्फुस होना चाहिए और यदि इसके अनुसार प्राचीन पाठ निम्न प्रकार से परिवर्तित किया जाय—तस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् छोम फुफ्फुसश्च—तो प्राचीन आधार के अनुसार पाठ होकर वह प्रत्यक्ष विरोधी भी नहीं होता । यह प्रमाद लेखक के शारीर अज्ञान का परिणाम है । उसने वामपार्श्व में फुफ्फुस लिखा, फिर फुफ्फुस के वास्तविक स्वरूप का ठीक ज्ञान न होने के

कारण दक्षिणपार्श्व में कुम्भुम लिखने की उसे आवश्यकता नहीं मालूम हुई और वही पाठ भागे चलकर रूढ़ हो गया। परंतु उपर्युक्त श्लोक में प्राचीन वास्तविक पाठ मिलता है, उसी के अनुसार पाठ्यदि करना उचित है। उदर और वक्ष दोनों मिलकर बोट्ट होता है। दोनों के बीच में महामाचीरा पेसी स्थित है, जो उदरगुहा को वक्षगुहा से पृथक् करती है। हृदय और कुम्भुम वक्षगुहा में हैं और महामाचीरा पर उनका नीचे का पृष्ठभाग स्थित होता है। पृष्ठ और डीहा उदरगुहा में स्थित हैं और उनका ऊपर का पृष्ठभाग महामाचीरा के साथ लगा हुआ है। क्लोम—इसके अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता पाई जाती है। कुछ लोग इसको अग्न्याशय (Pecorus) कुछ कण्ठनाडी (Trachea) और कुछ पित्ताशय (Gall bladder) समझते हैं। प्रत्येक अर्थ के लिए कुछ न कुछ साक्ष्य प्रमाण मिलते हैं। एक मत से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। परंतु निम्न कारणों से क्लोम का अर्थ पित्ताशय करना अधिक उचित मालूम होता है। (१) इसकी उत्पत्ति रक्त के किट्ट से मानी गई है—यस्तु शोणितञ्च किट्टस्त्वग्नाड्योम च जायते ॥ (२) यष्ट्व का और क्लोम का उल्लेख साथ साथ होता है—क्लोम च यष्ट्व। विद्वधि के लक्षणों में भी दोनों की समानता बताई गई है—पासो वक्रुनि वृष्णा च विपासा होमनेऽधिक ॥ (३) इसका स्थान यष्ट्व के नीचे बताया गया है—होम फाल रण्डा(यक्रा) ॥ पल्ताद स्थित दक्षिणपार्श्वे तिलकमिति प्रसिद्धम् ॥ (दहहण)। तिल तु शोणितकिट्टप्रभव दक्षिणाश्रित यष्ट्वसमीपे क्लोमसदृश भवति ॥ (आठमल्ल, शार्ङ्गभरदीपिका)। (४) क्लोम हमेशा दक्षिणपार्श्व में बतलाया गया है। अग्न्याशय विच्छेपे भागे हृदयात् क्लोम निष्ठति ॥ कण्ठनाडी मध्य में होती है और अग्न्याशय मध्य में होकर दोनों पार्श्वों में फैलता है। (५) क्लोम के लिए तिलक शब्द भी पर्याय से प्रयुक्त होता है। यदि यष्ट्व का नीचे का पृष्ठभाग देखा जाय तो पित्ताशय की आकृति काले तिल के समान यष्ट्व पर प्रतीत होती है। तिल से छ्दापन, तिलाकार और कालापन इन बातों का बोध होता है—

The gall-bladder is a conical or pearshaped (तिलाकृति) musculo membranous sac lodged in a fossa on the under surface of the right lobe of the liver Grey's Anatomy

इसका गोलकार भी अस्यादत्त ने अपनी टीका में वर्णन किया है—सग्ननाद्यो प्रधामानाद्रक्तदेहोमपाचितात्। किञ्चि कुम्भुमसदृशत्वात् तान्ने होमसदृशम् ॥ (६) क्लोम एक ऐसा अंग बताया गया है कि जो उदराभ्यान् होने पर हृदय, वक्षत्, डीहा, कुम्भुम इनके साथ अपना स्थान कुछ बदल सकता है—यत्र मोक्षयुक्तो गर्भो नृनो वस्तिरिवावत् ॥ तेनाष्टया नावास्तु कुञ्जिरानवन्ने भृशम् ॥ उत्तिध्वन्त इवाह्वानि पूयवसिध्व निपते ॥ क्लोम प्नीहा यक्षुचैव कुम्भुस हृदय तथा ॥ गर्भेण पीडित भोगदूर्ध्वं प्रकामति विषया ॥ (दहहणटीका, मूलरामनिदान)। तद्वद्वयं द्विदोषेण वेनानारथानम्—जिसकी उत्पत्ति बताई गई है, जिससे प्राणवह घमनियों निकलती हैं, जिसके दोनों तरफ कुम्भुम होता है, दाहिनी ओर नीचे यष्ट्व और क्लोम होता है और बाईं ओर नीचे डीहा होती है वही हृदय

अन्य चेतनास्थानों की अपेक्षा अधिक महत्व का चेतना स्थान है। शरीर को जिससे चैतन्य प्राप्त होता है, ऐसा स्थान किंचा जिससे चैतन्य (Life) का ज्ञान प्राप्त होता है, ऐसा स्थान चेतनास्थान कहा जा सकता है। हृदय ओज का स्थान है, प्राण का स्थान है और चैतन्य का भी स्थान है—इति प्राणः। प्राणप्रवर्धनोऽष्टौ विदोषो हृदयाश्रिता ॥ तपरस्योजस स्थानं तत्र चैतन्यसमृद्धः (चरक)। अतः हृत् हृदय से समस्त शरीर के समस्त धातुओं को, अंग प्राणों को प्राणयुक्त, ओजयुक्त, चैतन्ययुक्त जीवरक्त मिलता है। अतः हृत् की कारण सपूर्ण शरीर भी चैतन्ययुक्त हो जाता है। हृदय का एकपक्ष संकोच बन्द होने से याने हिनया एक दो सेकेण्ड काम न करने से अर्धों के सामने चिन्तागिरियाँ आती हैं, चकर आता है, पैरों में कमजोरी आ जाती है, श्लुत्सु का दर मालूम होता है, सचेप में शरीर से प्राण चले जा रहे हैं ऐसा अनुभव होता है और जब हृदय सदा के लिए बंद (Heart-failure) होता है तब मस्तिष्कादि अन्य महत्व के अंग कार्यरत और प्राकृत होने पर भी शरीर से चैतन्य नष्ट होता है और कितनी कोशिश क्यों न की जाय, ज्ञान वापस नहीं आती है। इन सब बातों का विचार करके आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक हृदय को प्राणादि का स्थान (आश्रय) मानने लगे और अन्य अंगों के अपेक्षा उसको अधिक महत्व देने लगे—तस्योपशता मूर्ध्नाय भेदान्तरस्य मूर्च्छति। यदि तत् स्पर्शविशान धारि तत्तत्र रुञ्जितम् ॥ तत् परस्योजस स्थानं तत्र चैतन्यसमृद्धः। हृदय महदर्थं तस्मादुक्त चिकित्सकैः ॥ (चरक, सू० ३०)। यदि चैतन्य के अस्तित्व की दृष्टि से (Signs of life or vital functions) विचार किया जाय तब भी हृदय ही सबसे महत्व का होता है। स्वस्थावस्था में इस धातु की जाँच करने का कारण नहीं होता, परन्तु रोगी की श्लुत्सु होने पर या सूतसम जन्म लिए हुए बालक में चैतन्य के सर्वथ में जाँच करके श्लुत्सु का निर्णय करने के कई प्रसंग आते हैं। चैतन्याभाव का पता शरीर ठंडा पड़ने से—निष्पीभ्यां शीतोभावः। (चरक)। श्वास प्रश्वास का कार्य बंद होजाने से, आँखों की स्थिति से—यत्र चक्षुषी प्रकृतिरिदानी, विकृतिपुक्तं स्वार्णं तदा पराश्रितं विधात्। (चरक)। सर्वसाधारण शरीर के रूप से तथा हृदय और घमनियों के स्पन्दभाव से—सतत स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनं, तस्य वैभन्द्ये परिशुश्यमाने (मन्ये गणयार्थंयते भन्यो)। (चक्रपाणि) ॥ (Carotid arteries) न स्पन्द्यानां परामृतिरि विधात्। (चरक, इन्द्रिय ३)। मालूम होजाता है। इन सब लक्षणों में चैतन्याभाव की दृष्टि से सबसे अधिक विश्वासयोग्य लक्षण हृदय और घमनियों का अस्पन्दन है। हृदय का स्पन्दन या अस्पन्दन स्पष्टन से, भ्रवण से और आधुनिक काल में च किरणों से (Fluorescent screen) मालूम होता है। ये पद्धतियाँ उत्तरोत्तर अधिक विश्वासयोग्य होती हैं। कई बार यह देखा गया है कि भ्रवण द्वारा अस्पन्दन सुनने में न आने के कारण श्लुत्सु का प्रमाणपत्र प्राप्त हुए नवजात बालक तथा रोगी कुछ घंटों के बाद फिर से जिंदा होगये हैं। भ्रवणयन्त्र से न सुनने पर भी भीतर हृदय का स्पन्दन अवलंबित रहने के कारण इस प्रकार की विचित्र घटनाएँ

कभी कभी हुआ करती हैं। कभी कभी पानी में डूबने से या अन्य आकस्मिक घटना से जब मनुष्य की मृत्यु होजाती है तब हृदय के भीतर उपषुक्की (Adrenalin) की सुई देने से मनुष्य कई वार वच जाता है। यदि हृदय के स्पन्दन का खुद विचार किया जाय तो आधुनिक खोज से यह मालूम हुआ है कि हृदय में स्पन्दन की उत्पत्ति आपसे आप होती है, केवल इसका नियन्त्रण नाड़ियों के द्वारा होता है। तब (हृदय) संकोच विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः । (उमाहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्)—

The property of rhythmical contraction resides in muscular tissue itself, though during life it is normally controlled and regulated by its nerves. This is expressed by saying that cardiac rhythm is myogenic not neurogenic. *Halliburton's Physiology*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुवद में हृदय चैतन्य स्थान माना गया है वह विलकुल ठीक है। चैतन्य स्थान के संबंध का कुछ अधिक विवरण आगे ३३ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है उसको भी देखो। पुण्डरीकेण—इस श्लोकार्ध में हृदय का स्वरूप संक्षेप में वर्णन किया गया है। तन्त्रान्तरों में हृदय का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णन किया है—कफरक्तप्रसादात्स्याद्भृदयं स्थान-भोजसः । मांसपेशीचयोरक्तपञ्चाकारमधोमुखम् ॥ (अरुणदत्त उद्धृत श्लोक) । प्रसन्नाभ्यां कफासृग्भ्यां हृदयं पंजाऽऽकृति । सुपिरं स्यादधोवक्त्रं यत्कृत्नोडान्तरस्थितम् ॥ (टोडरानन्द) । कमलमुकुलाकारमधोमुखम् । (इत्तहण) । इस वर्णन के अनुसार हृदय अधोमुख रक्तकमल-कलिका के समान नीचे की ओर नोकिला और ऊपर मोटा मांसपेशी से निर्मित एक पोला धंग होता है। यह वर्णन बहुत सुन्दर है। समीपवर्ती अंगों से इसका संबंध ऊपर वर्णन किया है। अब भीतरी कोष्ठों का कुछ वर्णन दिया जायगा। हृदय के भीतर एक खड़ी दीवाल होती है जिससे उसके दक्षिण और वाम करके दो विभाग होते हैं। इन विभागों का अपास में कोई संबंध नहीं होता। फिर प्रत्येक विभाग आड़ी दीवाल से दो भागों में विभक्त होता है। इस दीवाल में कीवाड़ होते हैं जिनके द्वारा ऊपर का विभाग नीचे के विभाग से संबंध रखता है। परंतु ये कीवाड़ (कपाट valves) इस प्रकार लगे रहते हैं कि ऊपर के विभाग से आया हुआ रक्त नीचे के विभाग में जा सकता है, परंतु नीचे के विभाग का रक्त ऊपर के विभाग में नहीं जा सकता। ऊपर के विभाग को अलिन्द (Auricle) और नीचे के विभाग को निलय (Ventricle) कहते हैं। इस प्रकार दक्षिण अलिन्द और निलय तथा वाम अलिन्द और निलय करके हृदय के चार कोष्ठ होते हैं। दक्षिण के विभागों के बीच में जो कीवाड़ होता है वह त्रिपत्रक (Tricuspid) और वाम विभागों के बीच में जो होता है वह द्विपत्रक (Bicuspid or mitral) कपाट कहलाता है। दक्षिणालिन्द में अधरा और ऊर्ध्वा महासिराओं के द्वारा समस्त शरीर का अशुद्ध रक्त आता है। वहाँ से रक्त त्रिपत्रक कपाट के द्वारा दक्षिण निलय में जाता है। वहाँ से फुफ्फुसीया धमनी द्वारा, जिसकी दो फुफ्फुसों के

लिए दो शाखाएँ होती हैं, रक्त फुफ्फुस में जाता है। फुफ्फुसीया धमनीद्वार के ऊपर तीन अर्धचंद्राकार कपाट होते हैं जिससे रक्त लौट नहीं सकता। फुफ्फुस में शुद्ध हुआ रक्त प्रत्येक फुफ्फुस से दो सिराओं द्वारा वाम अलिन्द में जाकर वहाँ से द्विपत्रक कपाट में से होकर वाम निलय में जाता है। फिर वहाँ से बृहत् धमनी में जाकर समस्त शरीर में फैलता है और शरीर का पोषण करता है बृहत् धमनीद्वार के ऊपर भी तीन अर्धचंद्राकार कपाट (Semilunar valves) होते हैं जिससे रक्त लौटकर वामनिलय में नहीं आ सकता। रक्त का शरीर में परिभ्रमण हृदय के संकोच विकास से होता है। प्रथम दोनों अलिन्द संकुचित होते हैं जिससे तद्गत रक्त दोनों निलयों में चला जाता है। पश्चात् दोनों निलय संकुचित होते हैं जिससे तद्गत रक्त फुफ्फुस में और शरीर में चला जाता है। संकोच के पश्चात् प्रत्येक में विकास या विस्फार होता है जिस समय ये भाग रक्त से भर जाते हैं। वाम निलय की दीवाल सबसे अधिक मोटी होती है क्योंकि उसको संकोच से रक्त समस्त शरीर में फैकने का कार्य करना पड़ता है। हृदय की संकोच विकास की गति आयु के अनुसार बदलती रहती है। इसके सिवाय गति बदलने के और भी कारण होते हैं जिनका विचार आगे की टिप्पणी में किया गया है। जितना शरीर छोटा होता है उतनी गति अधिक होती है। नीचे वयानुसार गति बतलाई गई है।

| जन्म के पूर्व | प्रति मिनट १५० |
|------------------------|----------------|
| जन्म के पश्चात् तुरन्त | १४०—१२० |
| प्रथम वर्ष में | १३०—११५ |
| द्वितीय वर्ष में | ११५—१०० |
| सातवें वर्ष में | ९०—८५ |
| चौदहवें वर्ष में | ८५—८० |
| जवानी में | ८०—७० |
| वृद्धावस्था में | ७०—६० |

नाडीज्ञानतरंगिणी में नाडी की गति प्रायः इसी क्रम से वर्णित है। सुखस्मरणार्थ नीचे श्लोक दिये जाते हैं। एक मिनट में ढाई पल होते हैं; इसलिए श्लोक में वर्णित संख्या को ढाईगुना करने से प्रति मिनट संख्या मिल जाती है। शिशोर्हि जन्मकालतः पलावधि प्रकम्पते । धरारसेपुवारकं (५६) निरन्तरं शिशुप्रिये ॥ पलादारभ्यवर्षान्तं पलैकेन च नाडिका । नेत्रेपुष्टव (५२) श्वलति मत्तकुञ्जरगामिनी ॥ अर्धदद्वद्वयं नाडी पलैकेन प्रवेपते । वेदाग्निवारं (४४) लोलाक्षिचलत्कुण्टलशालिनी ॥ वर्षद्वयात्त्रिवर्षान्तं पलैकेन च तन्तुकी । खवेदद्वव (४०) श्वलति पीनोचुंगपयोधरे ॥ त्रिवर्षात्सप्तवर्षान्तं षट्त्रिंशद्धारकं प्रिये । कम्पते च पलैकेन जीविताशा प्रियंवदे ॥ सप्तमान्मनुवर्षान्तं वेदाग्निवार-कंधरा । यतश्च त्रिंशद्घर्षान्तं द्वात्रिंशद्धारमेवहि ॥ त्रिंशद्घर्षात्सप्तारभ्य खशरान्दान्तमेव च । खाग्निवारान् (३०) विशालाक्षि जीवितशा प्रकम्पते ॥ शतार्धवर्षादारभ्याशीतिवर्षान्तमेव च । चतुर्विंशति वारान्वै कम्पते धमनी प्रिये ॥ दाहिने और बायें निलय की समाई ११-११। छटांक रक्त के लगभग होती है, इसलिए इतना रक्त प्रत्येक संकोच के समय बाहर फेंका जाता है। इस हिसाब से प्रति मिनट निलय ४-६ सेर रक्त बाहर फेंकते हैं। जाग्रत इत्यादि—इस श्लोकार्ध में हृदय में जाग्रतावस्था

में और निद्रितावस्था में क्या फर्क होता है उसका संचित स्वरूप वर्णन किया है। हृदय प्राण, ओज, रस इनका स्थान है जो इनको अपनी गति से शरीर के संपूर्ण धातुओं को देकर उनका धारण और पोषण करता है। ये सब वस्तुएँ रक्त के द्वारा संपूर्ण धातुओं को मिलती हैं। शरीर के भंग प्रत्यग तथा धातुएँ जब काम करती हैं तब उनको अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। दिन प्रायः काम करने के लिये परमेश्वर रूप भगवान् सूर्यनारायण ने बनाया है और रात्रि आराम पर्वीय से निद्रा लेने के लिये बनाई है। प्रायः कहने का कारण यह है कि कुछ लोग अपनी प्रकृति से और कुछ लाचार होकर रात्रिचर बनते हैं और दिन में आराम निद्रा सेवन करते हैं—महोदधि विभक्तते यदा मनुष्य दैविके। रात्रि रमयाव भुवानां चेष्टावै कर्माणाम् ॥ (मनु १)। दिन में मनुष्य कितना ही आलसी क्यों न हो कुछ न कुछ किये बगैर नहीं रह सकता—नहि कश्चिद् ज्यमपि जातु दिवस्यमभङ्गत्। कावते द्वावश कर्म सर्वं प्रकृतिवैगुण्ये ॥ नहि देह धना शक्य त्वमनु कर्माण्यशेषत् ॥ (भगवद्गीता)। घटना, फिरना, बैठना, खड़े होना, खाना, पीना, विचार करना इत्यादि कार्य ऐसे हैं कि जिनके बगैर सुस्त से सुस्त मनुष्य का भी गुजर नहीं हो सकता। उद्योगी, परिश्रमी, शीकीन लोग अपनी हृच्छा से और गरीब लाचार होकर बहुत अधिक काम करते हैं। प्रत्येक काम के लिये उसकी न्यूनाधिकता के अनुसार न्यूनाधिक रक्त की आवश्यकता होती है। यह सब रक्त हृदय के संकोच विकास से मिलता है। दिन में कार्य करते समय हृदय को एक स्वाभाविक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। मनुष्य दिन में प्रायः बैठता या खड़ा होता है। इससे शरीर का आधा हिस्सा हृदय के नीचे और आधा हिस्सा उसके ऊपर होता है। अर्थात् रक्त-संचालन में उसको गुरुत्वाकर्षण (Gravity) के विरुद्ध काम करना पड़ता है। रात के समय कायिक वाचिक मानसिक सब पेश्चिक कर्म बंद होते हैं जिसके कारण हृदय को शरीर के विविध भागों को कम से कम रक्त पहुंचाने का काम करना पड़ता है। इसके सिवाय शरीर का ऊपर का तथा नीचे का हिस्सा हृदय समतल (Level) के बराबर होने के कारण उसको गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध भी काम नहीं करना पड़ता है। सुषुप में, हृदय को रात में अधिक से अधिक आराम और दिन में अधिक कष्ट होता है। हृदय के कार्य के ऊपर निम्न बातों का असर होता है—नय लिङ्ग, प्रकृति (Temperament), वातावरण का निपीड (Pressure) तथा ताप (Temperature), आसन (Posture), अज्वलेवन, व्यायाम और काल, जैसे पूर्वाह्न, अपराह्न, मध्यरात्रि इत्यादि। सुधुत के बचन का तात्पर्य यह है कि अहोरात्र में जो दिन और रात होते हैं उनके रात में हृदय संकुचित और दिन में विकसित होता है। इस दृष्टि से यदि उपर्युक्त बातों का विचार किया जाय तो यय लिङ्ग और वायुभार ये तीन दिनरात में नहीं बदलते, बाकी सब बदलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हृदय को रात की अपेक्षा दिन में कई गुना अधिक काम करना पड़ता है, याने कई गुना अधिक रक्त बाहर फेंकना पड़ता है। आधुनिक खोज से यह मान्य हुआ है कि दिन में आराम के समय हृदय एक

मिनिट में ४-५ प्रस्य (पौने पाँच से साढ़े छः सेर) रक्त बाहर फेंकता है और अत्यंत बड़े परिश्रम के समय ३० प्रस्य (३३ सेर) से अधिक रक्त बाहर फेंक सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि बड़े परिश्रम के समय इसका काम ६-७ गुना अधिक होता है, और यदि रात के आराम का विचार किया जाय तो दसगुना तक बढ़ सकता है। यह कार्य हृदय की गति बढ़ने से या प्रत्येक समय बाहर फेंकने की राशि के बढ़ने से हो सकता है। रक्त की राशि तब बढ़ सकती है जब हृदय की समाई (धारणा शक्ति) बढ़ जायगी। यदि हृदय की गति काम के अनुसार बढ़ेगी तो उसकी समाई बढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। यदि हृदय की समाई काम के अनुसार बढ़ेगी तो उसकी गति बढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। परंतु व्यवहार में यह देखा जाता है कि काम के अनुसार हृदय की गति नहीं बढ़ती। जैसे, जब पाँच या छः गुना काम होता है उस समय हृदय की गति ३५० या ४५० नहीं होती, उससे बहुत कम होती है। साधारणतया हृदय की गति ४७०-५०० या दुगुनी और क्वचित् त्रिगुनी होती है, इससे अधिक नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि हृदय अधिक काम की पूर्ति अर्थात् गति बढ़ाकर और अशांत समाई बढ़ाकर करता है। जब समाई बढ़ती है तब आकार बढ़ना भी क्रमप्राप्त है और समाई कम होने पर आकार कम होना भी वैसा ही क्रमप्राप्त है। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि रात में काम अवश्य होने के कारण हृदय की गति तथा समाई बहुत कम होती है जिससे उसका आकार भी छोटा याने संकुचित रहता है। दिन में काम अधिक होने के कारण उसकी गति तथा समाई बढ़ जाती है, जिससे उसका आकार भी बढ़ जाता है, याने विकसित होता है। हृदय के संकोच विकास का मतलब उसके आकार से है, गति से नहीं है यह ध्यान रखना चाहिये। काम के समय हृदय का आकार बढ़ता (विकसित होता) है और काम समाप्त होने पर वह घट जाता है। हृदय के स्वाभाविक संकोच (Systole) और विकास (Diastole) से इस संकोच विकास (Contraction and dilation) का कोई सबंध नहीं है—

It is probable that dilation of the heart occurs normally during muscular exercise, the effect of this being to increase the output of blood at each beat. It is however, quite certain from X-ray evidence that immediately after exercise the heart normally contracts down so as to become slightly smaller than its resting size. Taylor's *Practical of Medicine*

हृदय के ऊपर एक आवरण है जो परिहृदय (Pericardium) कहलाता है। इस आवरण की दो तरफें होती हैं। एक तह हृदय के ऊपर लगी रहती है। इस तह में लछकीले तन्तु रहते हैं। दूसरी तह प्रथम तह से स्वतन्त्र होती है। इस तह में वायुसम तन्तु होते हैं जो तनाव बढ़ने पर भी नहीं बढ़ते हैं। इस आवरण के जो अनेक कार्य होते हैं उनमें एक कार्य यह होता है कि परिश्रम के समय हृदय का अति विकसित (Over distended) होने से रोकना—

It has been shown by Biljoma, however, that the pericardium plays an important part in limiting the size of the heart and in preventing it from being overdistended in exercise. *Halliburton's Physiology.*

आयुवद के अनुसार हृदय सदैव कमलकलिका के समान रहता है, कदापि भी कमलपुष्पवत् खिलता नहीं है। फर्क इतना ही होता है कि दिन में उसका आकार कुछ बढ़ता है और रात में कुछ कम होता है और इसी अर्थ से विकास और संकोच ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

चौबीसवें सूत्र से तीसवें सूत्र के पूर्वार्ध तक गर्भ शरीर के विविध अंग कैसे उत्पन्न होते हैं इसका संचित विवरण किया है। यह विवरण कुछ आनुमानिक और कुछ तात्त्विक है। यह ध्यान में रखकर उसकी ओर देखना चाहिये। आनुमानिक इसलिए है कि, स्वप्नसार, मृदुपाक, खरपाक, क्षीरस्य सन्तानिका इत्यादि दैनिक भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने की घटनाओं को देखकर उस प्रकार की घटनाएँ शरीर में भी होती होंगी, इस प्रकार का अनुमान इस विवरण में है। तात्त्विक इसलिए है कि, पंचमहाभूतों से विविध पदार्थ उत्पन्न होने की जो एक विशेष उपपत्ति है उस उपपत्ति का भी इसमें आधार है। यह उपपत्ति पाँचवें अध्याय में निम्न प्रकार से वर्णित है—
तं चेतनावस्थितं वायुविभजति, तेज एवं पचति, आपः कुंदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति। द्रव्योत्पत्ति के संबंध में यही उपपत्ति चक्र में वर्णित है—रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः चितिस्तथा । निवृत्ती च विशेषे च प्रत्ययाः खादयन्त्ययः ॥ (सू. १) । गर्भवृद्धि की दृष्टि से पाँचभौतिक उपपत्ति का विवरण इस प्रकार का होता है। गर्भ का प्रारम्भ संयुक्त शुक्रशोणित से होता है और माता के रस से प्रारम्भ में जो केवल एक अत्यंत सूक्ष्म बिन्दु (Cell) था वही अनेक प्रकार के छोटे बड़े अंगप्रत्यंगयुक्त बालक बन जाता है—शलाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विधेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्) । इस गर्भावक्रान्ति के मुख्य तीन अंग होते हैं—वृद्धि, विविधता और विभक्ति। वृद्धि में आकार की और संख्या की बढ़ोतरी का समावेश होता है। इसी वृद्धि के कारण मांस संघात उत्पन्न होता है। यह कार्य वायु और आकाश से होता है। विविधता में विविध धातुओं और उपधातुओं की तथा त्वचा कला इत्यादि उपाङ्गों की उत्पत्ति का समावेश होता है। संक्षेप में रूपान्तर प्राप्ति इससे अभिप्रेत होती है। यह कार्य पित्त या तेज के प्रभाव से होता है। एक वस्तु से विविध वस्तुओं की उत्पत्ति पाक-भेद होती है, जैसे आँच-भेद से भूमिगत तेल से बेसिलीन, पेट्रोल, केरोसीन इत्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं—सिराणां च मृदुःपाकः स्नायुनां च ततः खरः । विभक्ति में आकार-भेद, एक दूसरे से पृथक्त्व, आशय, धमनी सिरा स्नोतस तथा अन्य नालीदार अवयवों की उत्पत्ति का समावेश होता है। यह कार्य वायु से होता है। गर्भावक्रान्ति के तीनों अंग प्रारंभ से अन्त तक साथ साथ होते रहते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप नौ महीने के पश्चात् सर्वांग परिपूर्ण बालक बन जाता है। अब शरीर के विविध अंगों, उपांगों और धातुओं

का विशेष आकार, विशेष स्थानों में अवस्थिति तथा विशेष कार्य कैसे पैदा होते हैं ? इसका कारण आयुर्वेद स्वभाव वताता है—अंगप्रत्यंगनिवृत्तिः स्वभावादेव जायते । सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवो । तलेष्वसंभवो यश्च रोम्यामित्त्वं स्वभावतः ॥ (सुश्रुत) । संक्षेप में माता का रस और शुक्र-शोणित इन चीजों से, तेजवायु और आकाश इनकी सहायता से, स्वभाव के अनुसार गर्भ की वृद्धि होती है यह आयुर्वेदिक गर्भविज्ञान का सूत्र है।

आधुनिक काल में मनुष्येतर प्राणियों के भिन्न-भिन्न कालीन गर्भों का तथा मनुष्यों के विभिन्न कालीन उपलब्ध हुए गर्भों का सूक्ष्मदर्शक की सहायता से परीक्षण करके इस विषय का ज्ञान प्राप्त किया गया है। आधुनिक कालिक गर्भविज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणमूल, अत्यंत विस्तृत और अत्यन्त सूक्ष्म है। इसमें भी वृद्धि, विविधता और विभक्ति ये जो तीन अंग उपर वर्णन किये हैं उनका विवरण आता है, परन्तु उनके कारणों का विचार नहीं आता है। इस विषय का कुछ विवरण तीसरे अध्याय के १८वें सूत्र से गर्भ के मासानुमासिक में किया गया है। इससे अधिक विवरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आधुनिक काल में गर्भविज्ञान एक स्वतन्त्र और विस्तृत शास्त्र बन गया है।

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनां भिस्पृशति । तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्रेष्ठा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले; तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्व-भूयिष्ठानामधःशत्रे, क्षीणश्रेष्णामनिलबहुत्तानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति ॥३२॥

(निद्रा के प्रकार—) वैष्णवी (होती हुई भी) निद्रा को (आचार्य) तामसी कहते हैं। यह निद्रा स्वभाव से ही संपूर्ण प्राणियों को (रात में) अपने वश में लाती है। जब (हृदयस्थित) संज्ञावह स्रोतों में तमोभूयिष्ठ कफ पहुँच जाता है तब बोध (संज्ञा) का नाश करने वाली तामसा नामक निद्रा होती है, वह (शरीर का) लय होने के समय होती है। तमप्रधान (लोगों) को दिन और रात (दोनों समय निद्रा) होती है। रजःप्रधान (लोगों) को नियम विरहित (निद्रा होती है), सत्त्व-प्रधान (लोगों) को आधी रात के समय (होती है) और क्षीणकफ वातभूयिष्ठ शारीरिक तथा मानसिक रोगों से पीड़ितों को (ठीक) नहीं होती है, वह वैकारिकी निद्रा है ॥३२॥

वक्तव्य—तु—विरोध दर्शनार्थ इसका प्रयोग किया है। निद्रा विष्णु की माया होने के कारण वैष्णवी कहलाती है। विष्णु जैसे सृष्टि का धारक पोषक होता है वैसे निद्रा भी शरीर की धारक पोषक होती है—आहारशयनब्रह्मचर्य-युक्त्या प्रयोजितैः । शरीरं धायते नित्यमागारमिव धारयैः ॥ निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्यं वलाबलम् । वृषता क्षीयता ज्ञान-मशानं जीवितं न च ॥ (अष्टांगहृदय) । निद्रा विष्णु की माया और शरीर की धारण करने वाली होने पर भी पाप्मा

कहलाती है। पाप्मा—पापी। निद्रा तम से उत्पन्न हुई है और तम निद्रा, प्रमाद, पाप इत्यादि का मूल है, इसलिए निद्रा पाप्मा कहलाती है—'मत्तवज्ञानत्र विद्धि मोहनं सर्व-देहिनाम् । प्रमादानस्य निद्रा मित्तत्रिभ्यानि भारत ॥ (भगवद्गीता १४) । तोषादित्येन्द्रमहासोमोऽथा लोमनीय । यहाँ पर पाप्मा शब्द निद्रा का उत्पत्तिबोधक और गुणबोधक अतएव उसका विशेषण है। इसका अभिप्राय यह है कि निद्रा कितनी ही शरीरघातक क्यों न हो यह पापमूलक होती है। इसका कारण दलहणाचार्य 'इरल्लगुमभ्यापार-निरोधात्' बतलाते हैं। चरक और अष्टांगसंग्रह में निद्रा के कारण के अनुसार सात प्रकार वर्णन किये हैं। उसमें तमोभव निद्रा पाप्मा कहलाती है—'तमोभवामाहुः प्रत्य मृतम् । (चरक) । स्वभावतः—इसमें 'रात्री' शब्द अभ्याहृत समस्तना चाहिये। रात में तमप्रधानता होने के कारण स्वभाव से ही निद्रा आती है—'गद्युत्थात्तमो (रात्री निद्रा प्रायेण जायते । (अष्टांगसंग्रह) । रात्रिः स्वप्नाय-भूतानाम् । (मनु) । रात में जो निद्रा आती है यही चरक और अष्टांगसंग्रह में काल स्वभाव प्रभवता बतलायी है और उसी से प्राणिनों का घाशन होता है—'क्षालत्वभावप्रभवता मया वा वा भूतानां प्रवदन्ति तज्जाः । (चरक) । जैसे तम से तमोगुण समझा जाता है, वैसे ही अंधेरा भी समझा जाता है। रात में स्वभाविक अंधेरा होने से नींद भी आती है। अंधेरा नींद की एक स्वभाविक अनुकूल स्थिति होती है। जब नींद नहीं आती तब रोसानी कम करने से नींद आने में सहायता होती है। संशयदानि क्षोत्राणि—चरक और सुश्रुत म सोतों के जो विविधप्रकार वर्णन किये हैं उनमें सजावह क्षोत्रों का उल्लेख नहीं है। परन्तु सजावह क्षोत्र नादी या घमनीय है शब्द प्रयोग में कई बार आते हैं—'यदा तु रक्षणादीनि रससञ्चारादि च । पृथक्पृथक् समस्ता वा क्षोत्राणि कुपिता मयाः ॥ (चरक, सूत्र २६) । सजावहक्षोत्र नादीषु पिहित्वास्वनिद्रादिभिः । तमोऽप्युपैति सदा सुषुप्तौ च व्योऽह्यम् ॥ (सुश्रुत, उत्तर ४६) । सजावहेषु क्षोत्र द्व दोष-व्याहारेण मानवः । रतेस्तम परीतेषु मूले आतेन वेनसा ॥ (सुश्रुत-उ. ६१) । दलहणाचार्य सुश्रुत के इन विचनों की टीका में सजावह क्षोत्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं करते हैं। चक्रपाणिदत्त चरक (इन्द्रियस्थान अध्याय ६) की टीका में इसका अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं—'सजावहानीय सजावहेतुमनोवहानि, मनोवहानि क्षोत्राणि यद्यपि पृथक्कोक्तानि तथापि 'मनसः कैल-मेवद शरीरमयनम' स्वभिभावान् सर्वशरीरक्षोत्राणि गृह्णन्ते, विशेषतः तु हृदयादिस्थानमनससजावहानि दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते ॥ इसका मतलब हुआ हृदयस्थित सजावह धमनियों—Blood vessels of the heart carrying sensation आधुनिक परिभाषा के अनुसार सजावह क्षोत्रों को Blood-vessels of the brain कह सकते हैं। धमनी—यद्यपि तमोमूलक होने के कारण निद्रा धमनी होती है, तथापि यहाँ पर निद्रा की एक विशेष अवस्था (प्रकार) का यह नाम है। मनवरोषिनी—जिसमें एक बार सजावह या बेहोशी होने पर फिरसे संज्ञाप्राप्ति नहीं होती है। प्रत्ययवत्ते—सर्ग के प्रारंभ में जब प्रजापति का दिन प्रारम्भ होता है तब प्रथम अध्याय के तीसरे सूत्र में वज्रित हुप उत्पत्तिक्रम के अनुसार अव्यक्त से संपूर्ण व्यक्त महापद

की सृष्टि होती है और कल्प के अन्त में जब प्रजापति की रात्रि प्रारंभ होकर यह निद्रा सेवन करते छाते हैं तब उत्पत्तिक्रम के विरुद्धक्रम से संपूर्ण व्यक्त महापद अव्यक्त में लीन होजाता है, अर्थात् उसका पूर्णनाश होजाता है। कल्प के अन्त में महापद के नाश के लिए प्रलय शब्द प्रयुक्त होता है—यरा स देशे जागति तदेदं चेत्ते जनयः । यदा श्रापति शान्ताया तदा सर्वं निर्गमति ॥ (मनु, १, ९२) । अव्यक्तप्रत्ययः सर्गः प्रमत्तव्यहरागने । रज्ज्वागने प्रतीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके (भगवद्गीता, ८, १८) । मृगप्रामः स एवाय भूत्वा भूत्वा प्रतीयते । राज्ज्वागनेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागने (१९) । सिद्धमहापदव्याय के अनुसार शरीर के भी व्यक्तभाव जब अव्यक्त में लीन होते हैं तब उसका भी नाश होता है, इसलिए मनुष्य शरीर की सृष्टि से प्रलय का अर्थ मृत्यु होता है—यदा सत्ते प्रहृते तु प्रत्यं याति देहहृत् । ततोऽतमविदा लोच नमनान्प्रतिवपन्ते ॥ (भगवद्गीता १४, १४) । अनिमित्तम् निद्रा का कोई कारण उपस्थित न होने पर भी रज्जोभूति लोगों को निद्रा आती है। निद्रा का कारण दूर होने लिए एक विशिष्टकाल की आवश्यकता होती है। जिस निर्निमित्त निद्रा आती है उसकी निद्रा विशिष्टकाल त रहने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। अर्थात् अनैतिक निद्रा किसी समय में दिन में या रात में आती और अल्पकाल तक रहती है। संक्षेप में अनिमित्त से नियम विहित समस्तना चाहिए। अर्थात्—मन्यरात्रि के ३ प्रहर। रात के नौ बजे से सुषुप्त के तीन बजे तक। निद्रा लिए यही उत्तम काल होता है और धर्मशास्त्र में भी यह काल बताया है—'प्रयोगेऽभिनी दानो वेदान्प्रथमेन तौ नयेत् प्रहरद्वयं ध्यायानो हि महामुष्या कल्पते ॥ (दृष्टस्मृति) । नैव-इसमें मुख्यतया निद्रा का अभाव आता है। साधारणतय शारीरिक और मानसिक विकारों से पीड़ित होने पर निद्र कम होती है, परन्तु जब उनमें क्रम की चीजता और वाद् की अधिकता होती है तब निद्रा और भी कम होजाती है। क्योंकि वायु निद्रा-नाश का प्रधान कारण है—'त एव च विशेषा निद्रानाशस्य हेतवः । कार्यवानो विकाराश्च प्रकृतिबाधुरेव च ॥ (चरक, सूत्र २१) । विकारप्रहणेनैव वाते लभ्ये पुनर्वतप्रहर्य विशेषेण वातोनिद्राप्रहारकत्वप्रतिपादनार्थम् । (चक्रपाणिदत्त) । नैव से जैसे अभाव का बोध होता है वैसे अशरता वा और अप्राशस्त्य का भी बोध होता है, क्योंकि प्रत्येक शारीरिक और मानसिक विकार में निद्रा का पूरा अभाव न होकर उसकी अल्पता और अप्राशस्ति जरूर हो जाती है। इस सूत्र में निद्रा के तीन प्रकार बताये गये हैं—तामसी, स्वाभाविक और वैकारिक। चरक और चाण्डर में निद्रा के सात प्रकार वर्णित हैं—'तमोभवा क्षेमसमुद्रया च मन्मथरीरप्रसमनवा च । आगन्तुरी व्यापनुवर्तिनी च रात्रिरभाव-प्रभवता च निद्रा ॥ परंतु ये प्रकार अशिर में स्वाभाविक, वैकारिक और तामस इन तीनों में ही समाविष्ट किये गये हैं—'रात्रिरभावप्रभवता मया वा वा भूतानां प्रभवन्ति तज्जा । तमोभवामाहुः प्रत्य मृतम् मूल श्रेय पुनर्वाधिपु निर्दिशन्ति ॥ (चरक, सू. २१) । (१) तामसी निद्रा—इसका वर्णन 'तत्र यदा' से 'प्रलय काले' तक है। वास्तव में यह निद्रा न होकर मृत्यु-पूर्वकालीन गंभीर सजावह की स्थिति है। यदि इसकी संज्ञाप्ति, लक्षण और काल का विचार किया जाय तो यह

स्थिति चरकोक्त संन्यास के साथ मिलती है—यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च । पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥ मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः । प्रति- हत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याथयस्तदा ॥ मदमूर्च्छाय संन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः ॥ यथोत्तरं वलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ वाग्देहमनसां चैष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः । संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनसंश्रिताः ॥ स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः । प्राणैर्वियुज्यते शोभ्रं सुभ्रत्वा सद्यः फलाः क्रियाः ॥ (चरक, सूत्र २४) । चरक और वाग्भट में जो तमोभवा निद्रा है उसके लक्षण वहाँ पर वर्णित नहीं हैं, इसलिए तमोभवा निद्रा के संबंध में उनकी क्या कल्पना थी इसके समझने का कोई साधन नहीं है। परन्तु सुश्रुतोक्त तामसी निद्रा चरकोक्त संन्यास के साथ मिलती है इसमें कोई संदेह नहीं है। पाश्चात्य परिभाषा में कोमा (Coma) की जो व्याख्या मिलती है उसको देखकर तामसी निद्रा को कोमा कह सकते हैं—

Coma is a state of unnatural, heavy, deep and prolonged sleep, often accompanied by slow stertorous or irregular breathing and frequently ending in death. *Index of differential Diagnosis* by Herbert French

इस व्याख्या में अनवबोधन, मृत्यु की संभवनीयता और निद्रा का एक प्रकार ये सुश्रुतोक्त तीनों लक्षण आते हैं यह चिन्त्य है। (२) स्वामाविक निद्रा—इसका वर्णन 'तमोभूयिष्ठानां' से 'अर्धरात्रे' तक किया गया है। यहाँ पर त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनुसार निद्रा के समय में जो जो फर्क होता है वह बताया गया है। सत्वभूयिष्ठ मनुष्यों के लिए निद्रा का जो काल बतलाया गया है वही वास्तविक काल है। निद्रा का काल वय, व्यवसाय, अभ्यास और प्रकृति के अनुसार बदलता है। बचपन में एक महीने के बालक के लिए २१ घंटे तक, छः महीने के लिए १८ घंटे तक, एक साल के लिए १६ घंटे तक, चार साल के लिए १२ घंटे तक और बारह साल के लिए १० घंटे तक नींद की आवश्यकता होती है। इसके बाद जवानी में नींद का काल पुरुषों के लिए सात और स्त्रियों के लिए आठ घंटे का होता है। वृद्धावस्था में निद्रा इससे भी कम हो जाती है। शारीरिक और मानसिक अधिक परिश्रम करने वालों के लिए अधिक और कम करने वालों के लिए कम निद्रा की आवश्यकता होती है। अभ्यास (Habit) से मनुष्य निद्रा का काल बहुत कम या बहुत अधिक कर सकता है—आहारो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं तु वर्धते । कफ प्रकृति मनुष्य को अधिक, वात प्रकृति को कम और पित्त प्रकृति को मध्यम निद्रा की आवश्यकता होती है—अल्पपित्तबलजीवितनिद्राः । वातिकाः । आर्यां निद्राखुर्वीर्यवृद्धः कृन्धः । श्लेष्मलः । (अष्टांगहृदय) । वय के अनुसार निद्रा के काल में जो फर्क ऊपर बताया गया है वह प्रकृति भेद के अनुसार होता है ऐसा आयुर्वेद का मत है क्योंकि बचपन में श्लेष्मा, जवानी में पित्त और वृद्धाप में वात की अधिकता होती है—नाले विवर्धते श्लेष्मां, मध्यमे पित्तमेव च । भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वैद्ये योजयेत् ॥ (सुश्रुत) । वयोऽश्वेरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् । (अष्टांगहृदय) वैकारिकी निद्रा—यह निद्रा अनिद्रा के बराबर

है। इसको अंग्रेजी में इन्सोमनिया (Insomnia) कहते हैं। इसमें अपने वय, व्यवसाय, अभ्यास, प्रकृति इत्यादि के अनुसार उचित काल तक नींद न आने से पूर्ण अनिद्रा तक सब दोषों का समावेश होता है। इसके कारणों का विचार आगे ४३वें श्लोक में किया गया है।

भवन्ति चात्र—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम् । तमोभिभूते तस्मिन्स्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥३३॥ निद्राहेतुस्तमः, सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते ।

स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते ॥३४॥ (निद्रा का स्थान और हेतु—) यहाँ पर श्लोक हैं। हे सुश्रुत ! प्राणियों के (शरीर में) चेतना का स्थान हृदय (पहिले ही) कहा गया है। उसके तम द्वारा अभिभूत होने पर निद्रा प्राणी में प्रवेश करती है ॥ ३३ ॥ निद्रा का कारण तम और (निद्रा से) प्रबोधित होने का कारण सत्त्व कहा जाता है। अथवा स्वभाव ही (निद्रा का) अधिक महत्त्व का कारण कहा जा (सक)ता है ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—भवन्तिचात्र— भवति चात्र, भवतश्चात्र और भवन्तिचात्र इस प्रकार के शब्द प्रयोग गद्य के पश्चात् आने वाले एक, दो या अनेक श्लोकों के पूर्व चरक, सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह में दिखाई देते हैं। इन प्रयोगों के संबंध में भिन्न भिन्न ग्रंथकारों के भिन्न भिन्न मत हैं। (१) चरकाचार्य स्वयं कहते हैं कि गद्योक्त जो अर्थ फिर से श्लोकों द्वारा दिया जाता है वह पूर्वोक्तार्थ स्पष्टीकरणार्थ और सुख-ग्रहणार्थ दिया जाता है—गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनु-गीयते । तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विस्तं तत्र गृह्यते ॥ (निदान ० १) । (२) चक्रपाणिदत्त इसी श्लोक की टीका में लिखते हैं—

तद्व्यक्तिव्यवसायार्थमित्यत्र तद्व्यक्तिर्गद्योक्तार्थस्य व्यक्तिः प्रसन्नतेति यावत्, व्यवसायोऽध्यवसायो ग्रहणमित्यर्थः, यस्मात् पूर्वोक्तार्थ-स्पष्टीकरणार्थं पुनः श्लोकेनाभिधानं, तस्मात् प्रयोजनान्तरयुक्तत्वात् पुनरुक्तिदोष इति भावः । गद्योक्तापेक्षया श्लोकाभिधानं सुखग्रहणं भवतीति लोकप्रसिद्धमेव । अन्यस्थान में भी चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—भवन्ति चात्रेति, तन्वकारस्य समयोऽयं, यत् पूर्वव्याख्यातार्थ-संग्रहार्थं यदा श्लोकेन वक्तुमारभते तदा 'भवति चात्र' इति करोति ॥ (चरक, सूत्र, ५) । (३) डल्हणाचार्य सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय के 'शारीराणां विकाराणामपे वर्गश्चतुर्विधः' इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—इदानीं गद्यविस्तरेण प्रतिपादितमर्थं श्लोकैः प्रकटीकुर्वन्नाह—भवन्ति चात्र श्लोका इत्यादि । यद्यपि सुश्रुते भवन्ति चात्रेति विनाऽपि श्लोका भवन्ति, तथाऽपि अत्र मन्दमतीनां गद्यपद्यभेदकथनाय भवन्ति चात्र श्लोका इति कृतं; अन्ये तु वेदादिधर्मसंवादाद्यर्थमिति वदन्ति ॥ (४) इन्द्र अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान के चौथे अध्याय के 'हेमन्ते शिशिरे चान्यं विसर्गादानयोर्वलम्' । इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—भवति चात्रेति पद्यारम्भे तन्व रीतिः ॥ इन वचनों का अभिप्राय यही होता है कि प्रायः गद्य के पश्चात् पद्य प्रारंभ करते समय ग्रंथकार इसका प्रयोग किया करते हैं। श्लोकों में प्रायः गद्योक्त अर्थ संक्षेप में दिया जाता है जिससे उसका स्मरण सुख से होजाय। कुछ लोगों का मत है कि इससे अन्य ग्रंथकारों के आधार वचन दिये जाते हैं। यहाँ पर जो दो श्लोक दिये हैं वे गद्य के पश्चात् आये हैं—

और उनमें गद्योक्त अर्थ ही संक्षेप में दिया गया है। अतः—
 ये श्लोक अन्य किसी ग्रंथ से उद्धृत किये गये हैं या अपने
 पुष्टार्थ अन्य किसी ग्रन्थ का मत प्रदर्शित करने के लिए
 बनावये गये हैं ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।
 अगर योही देर के लिए ये श्लोक अन्य प्राचीन ग्रंथों से
 उद्धृत किये गये हैं ऐसा मान लिया जाय तो भी इनका
 अभिप्राय पूर्वाक्त गद्यार्थ से विसंवादी नहीं है। 'हृदयं
 चेतनास्थानम्' इस श्लोक में हृदय का अर्थ करने की दृष्टि से
 भवति चात्र इसका इनना उद्घोषित किया गया है। हृदय
 चेतनास्थानम्—यह वही हृदय है जो रक्त और कफ के
 प्रसाद से उत्पन्न हुआ है, प्राणवह धमनियाँ जिससे
 संबंधित हैं, जिसके दोनों ओर पुष्पुस और नीचे ग्रीहा
 और यक्ष्म है और विशेष करके चेतनास्थान माना गया है।
 संक्षेप में यह रक्तपरिचालक, सुषिर, मांसपेशीमय, अघो-
 मुख कमलकलिकाकार यन्त्र है जिमको अंग्रेजी में हार्ट
 (Heart) कहते हैं। परंतु महामहोपाध्याय कविराज
 मीरणा सेन इस श्लोकगत हृदय को मस्तिष्क (Brain)
 और जिस गणगत अर्थ के स्पष्टीकरणार्थ तथा मुखस्मरणार्थ
 यह श्लोक दिया गया है उस गद्य (सूत्र ३०) गत हृदय को
 हार्ट समझते हैं। प्रत्यक्ष शरीर के तीसरे विभाग में तीसरे
 पृष्ठ पर 'तत्र च साक्षोपाह्वानमस्तिष्क सहस्रपद्मस्तसाहृदयवाद् सहस्र-
 रमिति सर्वज्ञानप्रयत्नाकरं मन्वन्ते योगिनः।' इस प्रकार मस्तिष्क
 का वर्णन करके पाद टिप्पणी में लिखते हैं—'यसुवैद्यके—
 'उद्देशनिवास हृदय प्रहृष' इत्यादि विश्वप्रथम वचनम्—उत्-
 मस्तिष्कमूलस्थितसाक्षात्कारमूलसहस्रहृदयानिप्रायेण । योगिनो हि
 यत् चक्रनिरूपणे मस्तिष्कमूलस्थानाश्चात्रमुपक्रम्य 'सहस्रपादशरिते
 निवसति च मनः सूरमरूप प्रसिद्धम्' इति स्पष्टमाहुः । न च
 मनोविरहिता सुद्विस्तितः । इतिशब्द—'यथोऽन्तर्हृदय आवाश-
 स्तस्मिन्नर्थं पुरुषो मनोमयः' इति (तैत्तिरीय उपनिषद्, पृष्ठ
 अनु०) । यच्च सुश्रुतद्वेषेन 'हृदयं चेतनास्थानमिति' प्राचीन-
 वचन, तदपि पठदमिप्रायिकमेव, 'आयतस्वदिवसति' इत्यादि
 निर्देशादिति दिक् । न च मासमयमेव हृदयत्र तद्विरिवाच्यं, तदि-
 न कथमपि तादृशसंज्ञानामिधेयं भवितुमर्हति, असमवात् । और
 प्रत्यक्ष शरीर की प्रस्तावना में लिखते हैं—'यत् 'हृदयस्यापो
 वामनः स्वीदा कुम्भपुंसश्च दक्षिणो यक्ष्मं होम च' इति सुश्रुत
 पाठः, तत्र किंपिकरप्रसाद एव दीर्घइत्ये । 'हृदयस्यापो वामत
 ग्रीहा, दक्षिणो यक्ष्म, उभयतः होमकुम्भुसी च' इति तु सापी-
 यान् पाठः । अन्यथा न केनापि वयमपि शक्यं समाधातुम् ॥
 परंतु इस प्रकार हृदय का अर्थ गद्य में हार्ट (दिल) और
 उसी गद्य के अनुवाद के लिए बनाये गये श्लोक में मेन
 (मस्तिष्क) समझना न युक्तियुक्त है, न कथ्य है, न उचित
 है और न आवश्यक है, परंतु सर्वथैव दोषावह है। हृदय
 का अर्थ या तो मस्तिष्क होगा या दिल होगा, दो अर्थ
 कदापि भी नहीं हो सकते हैं। परंतु निम्न कारणों से
 आयुर्वेद में निरपवाद हृदय से हार्ट ही समझना चाहिये—
 (१) आयुर्वेद में हृदय सर्वदा एक वचन में आता है—
 'हृदयं पुन सुवचनम्—एव एवा भावधेो मना घोषा दक्षुष्णानो
 पुष्पुस लक्ष्णो हृदयमस्यया । (सुश्रुत) । इसका अभिप्राय
 यह है कि शरीर में हृदय केवल एक है। (२) शरीर के जो
 चार शाखाएँ, सिर और मध्य करके लुः अंग होते हैं उनमें

से मध्य में (कोष्ठ में) हृदय होता है—पद्मरस कोष्ठाज्ञानि,
 तथया—नामिथ हृदयं च होम च यक्ष्म ग्रीहा च इत्यादि । (चरक
 शा० ७) । स्थानान्मानाधिपकाना मूलस्थ रक्षिस्थ च । हृदुष्णः
 पुष्पुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते । (सुश्रुत, चि० २) । पद्मरस
 कोष्ठाज्ञानि, तथया—नामिथ हृदयं च होम च यक्ष्म ग्रीहा च
 इत्यादि । (मेघसंहिता, सा. अ. ७) । तेषु सप्तसु प्रविष्टानि
 कोष्ठाज्ञानि हृदययक्ष्मोहृदुष्ण कुलोष्णवृकान्नादीनि । (अष्टांग
 संग्रह, शा० ४) । नामिथः प्राणपवनः सृष्टा हृदयमजान्तरम् ।
 वृष्ठाद्विभिर्निर्वाति पातु विष्णुपदावुत्तम् ॥ (शाङ्गधर) ।
 नामिः ग्रीहा यक्ष्म होम हृदुष्णो युरवस्थयः । सुदान्ममय च एव
 नामपकादायोववा ॥ (कोष्ठांगानि । कारयप संहिता) । (३)
 रक्तमलकलिका के समान अघोमुख और अन्तःसुषिर
 मांसपेशीमय हृदय का स्वरूप वर्णन किया गया है। यह
 स्वरूप मेन की अपेक्षा हार्ट के स्वरूप के साथ पूर्णतया मिल
 जाता है। (४) कोष्ठस्थ अन्य उपाह्वों के साथ उसका जो संबंध
 वर्णन किया है और जिसके पाठ में गणनाथ सेन जी ने
 उपर्युक्त परिवर्तन सूचित किया है उस संबंध से भी हृदय
 से हार्ट का ही बोध होता है, मस्तिष्क का नहीं। (६) मनों
 में हृदय के अनिरिक्त सिर तथा सिरगत अन्य मनों का
 उल्लेख मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि हृदय सिर
 में नहीं है—'रौषोवाकनान्वाहुः प्राणा येपु प्रविष्टिनाः । शशो
 ममंत्रयं । (हृदयवस्तिपिरांसि । अक्षपाणिदत्त) । कण्ठोरक
 शुक्लोभी युदम् ॥ (च क, सूत्र, २९) । नत्र शाखास्तिन्मो
 ममंत्र्यं स्वन्धाश्रितानि गरीवासि, शाखाना तदाश्रितत्वाद् । स्वन्धा-
 श्रितेन्मोऽसि हृदस्तिशिरांसि । (चरक, सिद्धि ९) । श्रुत्वाका-
 न्यधिपतिः । शशो कण्ठशिरोयुदम् । हृदयं वलि । नामी च इति
 सघोहवानि तु । (सुश्रुत शा० ६) । सतोत्तरं ममंशतं यदुक्तं
 शरीरसंख्यामधिकृत्य तेषु । ममांसि श्लि हृदयं शिख्य प्रथम-
 भूतान्युपयो वरति ॥ चेतनास्थानम्—इस शब्द प्रयोग
 के कारण हृदय का अर्थ मस्तिष्क किया गया है। चेतना
 स्थान का साधारण अर्थ पीछे ३० वें सूत्र के 'विशेषचेतना-
 स्थान' ह्य पद की टिप्पणी में किया गया है। इस के विशेष
 अर्थ का विवरण यहाँ पर किया जाता है। पंचमहाभूतात्मक
 शरीर अचेतन होता है। पुरुष या आत्मा के कारण उसमें
 चेतना उत्पन्न होती है। आत्मा चेतना का सम्वाधिकारण
 होता है, इसलिए चेतना शब्द से आत्मा का अर्थ होता है।
 उसका जो स्थान वह चेतना स्थान—चेतनाशब्देनात्मा
 स्थाने चेतनामनादिकारणत्वाद्, तस्य स्थानं चेतनास्थानम् ।
 इसका अभिप्राय यह हुआ कि आत्मा का निवास स्थान
 हृदय है। यह केवल कल्पना नहीं है, उपनिषदों में आत्मा
 का स्थान हृदय ही बताया गया है और हृदय में निवास
 करने के कारण हृदय का एक अर्थ आत्मा भी होता है—
 अयोरणोयान्महो मदीयान्मात्मायन्मोनिदिहो युरायान् ।
 (कठोपनिषद् १, २) । अथुदमात्रः पुरुषोऽन्तरामा सदा जवानां
 हृदये सनिविष्ट । (२, ६) । इति बोध आत्मा । (अग्नेोपनिषद्
 ३, ६) । मनोमयः प्राणशरीरस्य प्रविष्टिरोऽन्ते हृदय सनिवाय ।
 (सुषुप्तकोपनिषद् २) । स यत्पुषोऽन्तर्हृदयं आरायः । तस्मि-
 न्नय पुरुषो मनोमय ॥ (तैत्तिरीयोपनिषद् १, ६) । एव म
 आत्मा-हृदयेऽपीयान् मोर्देवां यवाहा सर्षपादा इयामावाद् इत्याना-
 वदन्नुवादा एव म आत्माऽन्तर्हृदये अप्यापान् पृथिव्या आवायान्म-

रिक्ताज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः । (छांदोग्योपनिषद् ४, १४) । स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्धृदयम् । (छांदोग्योपनिषद् ८, ३) । ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता में भी आत्मा का स्थान हृदय ही दिया है—श्रवस्थितिर्वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि । (ब्रह्मसूत्र २-३-२४) । ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । (भगवद्गीता १८-६७) । स्मृति में भी हृदय आत्मा का स्थान दिया है—अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् । ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ (याज्ञवल्क्य ३-१११) । जिस हृदय में आत्मा रहता है उसका स्वरूप भगवान् श्रीशंकराचार्य 'हृदि ह्येष आत्मा' इस प्रश्नोपनिषद् के वचन की टीका में लिखते हैं—हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयावकाश एष आत्माऽऽत्मना संयुक्तो लिङ्गमात्मा । (छांदोग्योपनिषद् के ८, ६-७) के भाष्य में श्री शंकराचार्य लिखते हैं—हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य संबन्धिनो नाह्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिसृताः । (बृहदारण्यकोपनिषद् २-१-१९) के भाष्य में आचार्य लिखते हैं—हृदयं नाम मांसपिण्डस्तस्मान्मांसपिण्डात् पुण्डरीकाकारात् । इन वचनों से यह सिद्ध होगा कि योगियों का हृदय भले ही सिर में (मस्तिष्क में) हो, वेदान्तशास्त्र के अनुसार आयुर्वेद का हृदय, जैसे कि यहाँ पर वर्णन हुआ है पुण्डरीकाकार और मांसपिण्डमय होता है । अर्थात् आत्मा कोष्ठस्थ हृदय में होता है । आत्मा का अधिष्ठान हृदय में होने के कारण आत्मा के लक्षण याने चैतन्य के लक्षण—इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः । बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः । (चरक. शा. १) ।—भी हृदय के ऊपर ही आरोपित होते हैं । यही कारण है कि आयुर्वेद में कोष्ठस्थ हृदय मन बुद्धि अहङ्कार का अर्थात् चैतन्य का स्थान माना जाता है—अथ दशमहामूलाः समासक्ता महाफलाः । महत्कार्यंश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः ॥ षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥ प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते । गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ तस्योपधा-तान्मुच्छ्रायं भेदान्मरणाच्छ्रुति । यदि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्र संश्रितम् ॥ तत्परस्थीजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः । हृदयं महदथश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥ (चरक, सूत्र ३०) । दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम् । (चरक, उन्माद निदान) । दोषाः प्रकुपिता रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठमायतनं हृदयमुपसृत्य पर्यवतिष्ठन्ते । (चरक, अपस्मार निदान) । रसात्वादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् । प्रधानस्थीजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥ अति पीतेन मधेन विहतेनौजसा च तत् । हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥ (चरक, मदात्यय चिकित्सित) । तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य । स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ (चरक, उन्माद चिकित्सित) । धमनीभिः श्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि । संपीड्यमानो व्यथते मूढो आतितेन चेतसा ॥ (चरक, अपस्मार चिकित्सित) । तत्र हृदये दश धमन्यः प्राणोपासौ मनोबुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामपरा इव प्रतिष्ठितानि । (चरक, त्रिमूर्त्यासिद्धि) । स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्थामाशयद्वारं सत्त्व-रजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव मरणम् ।

(सुश्रुत, मर्मशारीर) । द्वारमाशयस्य च । सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम् । (अष्टाङ्गहृदय, शा. ४) । तच्च सत्त्वादीनां सत्त्वरजस्तमसां तथा विज्ञानस्येन्द्रियाणां चार्थपंचकस्य तथाऽऽत्मनश्चेतसो धाम स्थानम् । (अरुणदत्त) । देहिनां हृदयं देहे सुखदुःख-प्रकाशकम् । तत्संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥ (उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्) । हृदयं चैतनास्थानं तज्जातु सुखदुःखयोः तत्संकोचविकासाम्भ्यां जीवितज्ञा प्रकंपते । (नाडीज्ञानतरंगिणी) । गर्भं वृद्धि के समय गर्भ के किस अंग की प्रथम उत्पत्ति होती है इस विषय के वादविवाद के समय प्रत्येक ऋषि शरीर के प्रत्येक अंग के विशिष्ट गुणों को सामने रखकर उसी की प्रथम उत्पत्ति बतलाते थे । इस गुण-प्रदर्शन में हृदय बुद्धि मन और चेतना का स्थान ही बताया गया है—हृदय (पूर्वमभिनवर्तते) मिति काकायनो बाल्हीक-भिषक्, चेतनाधिष्ठानत्वात् । (चरक, शा. ६) । हृदय (पूर्व संभवति) मिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मेनसश्च स्थानत्वात् । (सुश्रुत, शा. ३) । गर्भ की मासानुमासिक वृद्धि में चौथे महीने में हृदय की प्रगल्भता बतलाई गई है और उसी से माता में दौहद उत्पन्न होता है, क्योंकि हृदय इच्छा सुखदुःखादि का स्थान होने के कारण गर्भ में पूर्वकर्मानुसार कुछ इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं जो माता के द्वारा प्रकट होती हैं और वही दौहद होता है—चतुर्थे गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनापातुरभिष्यक्तो भवति, कस्मात् ? तत्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्य-भिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारी दौहदिनीमाचक्षते । (सुश्रुत, शा. ३) । द्विहृदयस्य भावाद् द्वैहृदय्यं, मातृहृदयं गर्भ-हृदयेन संबद्धं हृदयद्वयं भवति । (चक्रपाणिदत्त) । गर्भ के हृदय का और माता के हृदय का संबंध जिस प्रकार वर्णन किया गया है उससे हृदय का अर्थ मस्तिष्क न होकर हार्ट (heart) ही होता है । आगमोऽपि हृदयं मनसः स्थानमौजसश्चित्ति तस्य च । मांसपेशीचयोरक्तपेशाकारमधोमुखम् ॥ योगिनो यत्र पश्यन्ति सम्यग्ज्योतिः समाहिताः । रसो यः स्यद्धातं यातः स तत्रैवाव-तिष्ठते । ततो व्यानेन विक्षिप्तः क्लृप्तं देहं प्रपथते ॥ (अरुणदत्त, अष्टाङ्गहृदय सूत्र, १२) । और भी कई वचन मिल सकते हैं, परन्तु इतने वचन हृदय का मन बुद्धि इत्यादि से साहचर्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं । अब तक हृदय का विचार किया गया । इसके बाद शिर और मस्तिष्क का विचार किया जाता है । 'सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्' इस व्यावहारिक उक्ति के अनुसार आयुर्वेद में शिर एक प्रधान अंग माना जाता है, परन्तु यह प्राधान्य शिर इन्द्रियों का अधिष्ठान होने के कारण दिया गया है, मस्तिष्क का महत्त्व समझ कर नहीं । यह ध्यान में रखना चाहिये—प्राणाः प्राण-भूतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च । यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्त्व-दिभीयते ॥ (चरक, सूत्र १७) । शिरः पूर्वमभिनवर्तते कुत्ता-विति कुमारशिरा भारद्वाजः पश्यति, सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठान-मिति कृत्वा । (चरक, शा. ६) । शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रिय-प्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गर्भस्यः संश्रिताणि । (चरक; सिद्धि ९) । गर्भस्य खलु संभवतः पूर्व शिरः संभवति इत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वात्प्रधानेन्द्रियाणाम् । (सुश्रुत, शा. ३) । सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संस्थिताः । तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥ (अष्टाङ्गसंग्रह, उत्तरस्थान २९) । अब यदि मस्तिष्क या मस्तुलुंग (Brain) का विचार किया जाय

तो इसका उल्लेख बहुत कम होता है और जहाँ पर होता है वहाँ पर आधुनिक शारीर कार्य विज्ञान (Physiology) के अनुसार जितने महत्व के साथ उसका उल्लेख होना चाहिये वैसा नहीं होना—मस्तिष्कवर्षाभ्रजि । (चरक, शा ७) । मस्तिष्क शिरस्थो मज्जा । मस्तिष्क शिरोगनरुहे ॥ (चक्रपाणिदत्त) । अदन्तकशिरसो नस्य मस्तुल्लङ्घेऽवनिधने । (चरक) । मस्तुल्लङ्घानां मिने कषाये मधुमपिपी । दत्त्वा ततो निद्रन्भीयात् सप्ताहं च प्रवेदं धृत्वा ॥ (सुश्रुत, चि ३) । शिरमोऽपहृते शल्ये वाचर्विंशं त्रिदशैव । वालस्यामात्तया मस्तुल्लङ्घ त्रयात् सत्रैव ॥ द्यादेन ततो वायुस्तस्मादेऽमुषाचरेत् । (सुश्रुत, चि २) । मस्तुल्लङ्घमिति शिरसो बलाधानं स्थानघ्नानकारं मस्तुल्लङ्घमुच्यते । (दृग्दृष्ट) । मेनेहि तस्यायुःरेऽवस्थिपु च सरक्त भवति । तदेव च शिरमि कषाणप्रविच्छन्नं मस्तिष्कस्थं मस्तुल्लङ्घस्य च । (अष्टांगसंग्रह, शा ५) । मस्तुल्लङ्घलोऽपेदे मस्तिष्कानन्य औक्मान् । (अष्टांगसंग्रह, उत्तर ३१) । मस्तुल्लङ्घवाचस्य वायुस्तावस्थि नामयेत् । (सुश्रुत, शा १०) । मस्तुल्लो विलीन घृतात्तारा मस्तनमब्जा । (दृग्दृष्ट) । मस्तुल्लङ्घ सर्वेपी ह्न वचनों को देखकर एक बात साफ होरी कि इसके स्वरूप का तथा कार्यों का विवरण कहीं नहीं वर्णित है, केवल मस्तुल्लङ्घ कपालस्थियों के भीतर का स्नेह है इतना ही अर्थ निकलता है ।

अत्र महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन हृदय को हार्ट समझने की दृष्टि से जो तीन विराध चलता है उनका संक्षेप में फिर से विचार किया जाता है । प्रथम विरोध यह है कि हृदय बुद्धि का स्थान कहा गया है इसलिए वह हृदय हार्ट न होकर मन होना चाहिए । इसका उत्तर यह है कि आयुर्वेद हार्ट में ही बुद्धि का स्थान मानता है—इत्यमिनि कुवीर्गे ब्रह्मेमनस्य स्थानतः ॥ (सुश्रुत) । यहाँ पर शिर का उल्लेख करने के बाद हृदय का उल्लेख आया है, इसलिए यह हृदय मस्तिष्कहृदय नहीं हो सकता । दूसरा विरोध सकोच विकास का है । इसका उत्तर यह है कि निद्रितावस्था में सकोच और नाद्रितावस्था में विकास हार्ट का भी होता है और इसकी सत्यता आयुर्वेद खोज से (३) में श्लोक का बक्ष्य देखो) भी सिद्ध होती है । तीसरा विरोध यह है कि मासमय अंग में इस प्रकार के गुण असंभव हैं । इसका उत्तर यह है कि आत्मा जिम हृदय में रहता है वह मासमय पिण्ड है, इसका साथ ही शरीरकाचाये देते हैं, इसलिए इसमें कोई असंभवनीयता नहीं है । संक्षेप में आधुनिक कल्पना के अनुसार यद्यपि बुद्धि और मन का स्थान हृदय मानने में दोष होता है, तथापि आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के अनुसार कोई दोष नहीं है । जिम स्थान में हृदय की मर्यादा नहीं बताई गई है ऐसे स्थान में आधुनिक कल्पना के अनुसार हृदय से मस्तिष्क समझ सकते हैं, परंतु जहाँ पर हृदय की मर्यादा निश्चित है (जैसे—मस्तिष्कमिधम इत्यं हृत्तोर बोधमध्यायम्) वहाँ पर उसमें मस्तिष्क नहीं समझ सकते । अतः आयुर्वेद में हृदय से हमेशा हार्ट समझना ही उचित है ।

मन का स्थान—हृदय में मन का स्थान होता है इसकी सिद्धता ऊपर चरक सुश्रुतादि के जो वचन प्रमाण दिये हैं उनसे ही सुकी है । परंतु मेल्संहिता में मन का स्थान शिर

वताया है—शिरस्तावन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपर मन । तत्रस्थं वद्वि विषयानिन्द्रियाणां रसायिकात् ॥ समीपस्थान् विज्ञानाति श्रीन् भावांश्च नियच्छति । तमन प्रभवद्वापि सर्वेन्द्रियस्य वनम् ॥ कारणं सर्वेन्द्रियोनां चित्तं हृदयमस्तिष्कम् । त्रिषयाहोतसार्थं च चित्तं सर्वस्य वारणम् ॥ (मेल्संहिता, उन्मादाधिक्रियमित) परंतु यह स्थान चरकादि के विरुद्ध नहीं है । चरक में शिर सर्वे इन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है, मन एक इन्द्रिय है और विशेष करके बुद्धीन्द्रिय है—यन्निद्रियप्रमाणम् । (चरक) । मनं यद्यानिन्द्रियाणि प्रकृतिरस्थानि कथयति । (भगवद्गीता) । मन अणु, एक और सर्व शरीरकर है जो जहाँ पर जरूरत होती है वहाँ पर खट से पहुँच कर इन्द्रियाओं के ग्रहण करने में सहायता करता है—ग्रानायौगपयायिक मन । (न्यायदर्शन ३-२-१९) । न तुगपनेक क्रियोपलब्धे ॥ ६० ॥ अज्ञानचक्रदशनवचदुपलभिरागुमचारार्थ ॥ ६१ ॥ यथोक्तैस्तुलाचायु ॥ ६२ ॥ मनं पुर सराधि वेन्द्रियाण्ययं ग्रहणसमर्थमिति भवति । (चरक सूत्र ८) । नवदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वगुणैनां केवल चेतनवचचरुती रमयनभूमिभिधानभूत च ॥ (चरक, विमान २) । इसका अभिप्राय यह है कि केशवनादि संज्ञाहीन शरीर के उपार्यों को छोड़कर मन सपूर्ण शरीर में संचार करके सज्ञा या ज्ञान प्राप्त करता है । शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे बढ़ा साधन शिर है क्योंकि वहाँ पर सब इन्द्रियों उपस्थित रहती हैं, इसलिए मन भी वहाँ पर अधिक उपस्थित रहता है इसमें कोई संद्वेह नहीं और इसी दृष्टि से मन का स्थान शिर बताया गया है । संक्षेप में मन का मूलस्थान हृदय, उसका काम करने का मुख्य स्थान (Office head quarter) शिर और उसका हलका संपूर्ण शरीर होता है । हृदय में रहकर मन अपना काम नहीं कर सकता । वह वहाँ से मनोवह सातसों के द्वारा समस्त शरीर में तथा शिर में जाकर हृदयस्थ आत्मा को इन्द्रियायों का ज्ञान कराता है । जब पुरुष इन्द्रियायों के ज्ञान से परावृत्त होना चाहता है तब मन को हृदय में लेजने की आवश्यकता होती है—अवधारणोप सभय मनो हृदि निरुध्य च । मूर्धन्यां प्रायतमन प्रायसास्थितो योगवाच्यम् ॥ १२ ॥ ॐ हृत्वेराह्वरं मद्रा वाहरेन्नामनुस्मरन् । य प्रयाति त्वन्न देहं स वानि परमां गतेम् ॥ (भगवद्गीता ८-१३) । इस विन्मूत विचरण का तात्पर्य यह है कि हृदय में आत्मा का निवास होने के कारण आयुर्वेद हृदय को ही मन और बुद्धि का स्थान मानता है और हृदय से निकले हुए सज्ञावह, चेतनावह या मनोवह स्त्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर को तैत्तन्य प्राप्त होता है तथा दायों के द्वारा हृदय तथा सज्ञावह स्त्रोतसों की बुद्धि होने से सज्ञा के मन के तथा चेतना के विकार उत्पन्न होते हैं । यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो सब जगद मूल का अर्थ नुसंगतिक होता है, एक ही शब्द के दो अर्थ करने की आवश्यकता नहीं होती । आधुनिक कल्पना के साथ मिलने वाली तथा भारतीय अन्य शास्त्र संमल वचस्य और शिरस्य दो हृदय मानने की कल्पना आयुर्वेदसंगत नहीं है । आयुर्वेद में केवल चरकस्य एक हृदय होता है और यही बुद्धि और मन का अधिष्ठान माना गया है । दो हृदयों का प्रतिवृत्त सिद्धान्त आयुर्वेदसंगत

मानने से अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होते हैं । इसका एक उदाहरण यहाँ पर देखने के लिए मिला है । दूसरा उदाहरण चरक के अथंशमहामूलोय अध्याय के कुछ श्लोकों में मिलता है । धमनी का अर्थ आर्टरी (Artery) होता है । इसको सिद्ध करने के लिए गणनाथ सेन जी 'वेन मूलेन महदा महामूला मता दश । योजेवहा शरीरंरिगन् विभ्यन्ते समन्ततः ॥' इत्यादि श्लोक उद्धृत करते हैं (संज्ञा-पंचकविमर्श पृष्ठ १५) । परंतु यह अर्थ तब ठीक हो सकता है जब 'मूल' का अर्थ हार्ट हो । अर्थात् यहाँ पर आप 'मूल' का अर्थ हार्ट मानने के लिए तैयार हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । जहाँ पर आप 'उद्रेनिगतः' पढ़कर हृदय की वेन समझने के लिए तैयार हुए, यहाँ पर 'पठद्गन्तं विज्ञानमिन्द्रियायर्थपंचकम् । आत्मा च सगुणक्षेत्रवित्त्वं च हृदि संविद्यन् ॥' इतना स्पष्ट वर्णन पढ़कर भी आप हृदय को हार्ट मानने के लिए कैसे तैयार हुए हैं यह समझ में नहीं आता है । अनवस्था प्रसंग के तीसरे उदाहरण के लिए सातवें अध्याय के १६वें श्लोक का वक्तव्य देखो ।

निद्रांतुः—इस श्लोक में नींद कैसे आती है और कैसे खुलती है इसकी उपपत्ति बतलायी है । यह उपपत्ति दर्शन शास्त्रानुसार है । इसको ध्यान में रखना चाहिए । समस्त संसार त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है और पुरुष भी त्रेगुणों में फँस जाने के कारण पंचमहाभूतात्मक शरीर के पिंजरे में बद्ध हुए हैं—*नर्यं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः । निबन्धन्नि महाबाहो देहं देहिनमव्ययम् ॥ (भगवद्गीता १४-५)* । इसी कारण से कुछ आचार्य निर्गुण पुरुष को भी त्रिगुणात्मक मानते हैं । प्रथम अध्याय का १वाँ सूत्र देखो । इस प्रकार त्रिगुणात्मक पुरुष के निवास करने के कारण हृदय त्रिगुणों का भी स्थान माना गया है—*तत्त्वादिभाम हृदयं स्थानाः बोध-मध्यगन् ॥ (अष्टांगहृदय, शा० ४)* । ये गुण हमेशा आपस में मिले हुए रहते हैं । सत्त्व का परिणाम प्रकाश, निर्मलता, अनालस्य और तम का आलस्य निद्रा होता है—*त्रय सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशःसनामयन् । तमरत्त्वधानजं विद्धि मोहं सर्वदेहिनाम् ॥ प्रमादालस्यनिद्रामिस्तत्रियथापि भारत ॥ (भगवद्गीता १४)* । जब हृदय तम से आघृत होता है तब नींद आती है और जब तम कम होकर सत्त्व प्रबल होता है तब नींद खुल जाती है । इस तरह परस्पर विरोधी गुणों के क्रमिक प्रभाव से नींद और जागरण की अवस्था उत्पन्न होती है । लौकिक दृष्टि से यदि सत्त्व और तम की ओर देखा जाय तो तम से अंधेरा और समलता और सत्त्व से प्रकाश और निर्मलता का बोध होता है । प्रकाश को इन्द्रियायों की उपस्थिति का उपलक्षण समझ सकते हैं । अंधेरा इन्द्रियायों का अभाव समझ सकते हैं । जब अंधेरा, प्राशान्तगृह इत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद आती है और जब प्रकाश, शोरगुल इत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद खुलती है । संचेप में तम से बाह्य उत्तेजक पदार्थों (अर्थों) की अनुपस्थिति और सत्त्व से उनकी उपस्थिति समझ सकते हैं ।

इस दार्शनिक उपपत्ति के सिवा आयुर्वेद में निद्रा की और दो उपपत्तियाँ मिलती हैं । एक के अनुसार संज्ञावह स्रोतसों का कफ से अवरुद्ध होना निद्रा का कारण होता है ।

दूसरे के अनुसार इन्द्रियों की तथा मन की इन्द्रियायों से उपरति निद्रा का कारण होती है । यह उपरति ऐच्छिक या अनेच्छिक दोनों प्रकार की हो सकती है । परंतु प्रायः उपरति धकायट के कारण, अतएव अनेच्छिक होती है, इसलिए उसी का निर्देश किया गया है । यदि कोई मनुष्य अपने इच्छात्रल से जय चाहे तब उपरति की अवस्था उत्पन्न कर सके तो उसको उसी समय नींद आ जाती है । नेपोलियन योनापार्ट रणाङ्गण पर जरा-सी फुरसत मिलने पर उतनी ही नींद लेता था । आयुर्वेद में इस तरह नींद के चार कारण माने गये हैं—(१) तम (२) कफ (३) तम और कफ, तथा (४) उपरति—*श्लेष्माशुष्पु योनास्तु श्रमा-दुपरेतेषु च । इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्राप्रतिनि देहिनाम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ६)* । यदा तु मनसि ह्यस्ति कर्मात्मानः ह्यनाश्रिताः । प्रियेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ (चरक, सूत्र २१) । निद्रा इत्येवमयोगदा ॥ (सुश्रुत) । योगशास्त्र में निद्रा उपरति की ही स्थिति मानी गई है—*अभावप्रत्ययात्संवनात्तिनिद्रा । (योगसूत्र १-१०)* ।

स्वभाव एव वा हेतुः—प्राणियों को निद्रा प्रतिदिन रात को एक विशिष्ट समय पर आती है तथा विशिष्ट समय पर चली जाती है । निद्रा के समय तम का प्राबल्य होता हो और बोधन के समय सत्त्व का प्राबल्य होता हो, परंतु नियत समय पर इनका अस्तोदय क्यों होता है ? यह प्रश्न प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के सामने खड़ा हो सकता है और आयुर्वेद के ऋषियों के भी सामने खड़ा हो गया था और उसी के उत्तर में ऋषियों ने बताया कि तम और सत्त्व निद्रा और बोधन के भले ही कारण हों, परंतु इनसे बढ़कर कारण शरीर का स्वभाव है जो नियत समय पर तम के द्वारा नींद और सत्त्व के द्वारा प्रबोधन उत्पन्न करता है । आयुर्वेदिक काल में नींद के संबंध में अन्वेषण करके वैज्ञानिक इसी स्वरूप का मत प्रदर्शित करते हैं—*Natural sleep is the normal manifestation of one stage in the rhythmical activity of nerve cells. Halliburton's Physiology.* स्वभाव दुरतिक्रम होता है वैसी निद्रा भी दुरतिक्रम होती है, चाहे मनुष्य उसको टालने की कितनी भी कोशिश क्यों न करे । अमेरिका के क्लैटमन (Klotman) और उसके साथियों ने निद्रा न लेने से शरीर पर क्या परिणाम होता है उसकी जाँच २-५ दिन तक निद्रा न लेकर की । तब उनको यह मालूम हुआ कि शरीर के तापक्रम, मूत्र, रक्त, रक्तभार, पचन, भूख इत्यादि बातों में कोई भी खास खराबी नहीं होती है । अगर यह बात सत्य है और इसमें कोई संदेह नहीं तो कौन बुद्धिमान मनुष्य अपनी आधी जिन्दगी नींद में खराब करेगा ? रात में आधी आयु व्यर्थ में नष्ट होती है, यह बात प्राचीन काल से लोगों के मन में खटकती है—*आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्री तदर्धं गतम् । (भर्तृहरि)* । तब भी आयुर्वेदिक वैज्ञानिक क्लैटमन का उपर्युक्त आधार मिलने पर निद्रा को पूर्णतया छोड़कर अपनी आधी आयु का सदुपयोग करने का विचार मनुष्य कार्यरूप में परिणत नहीं कर सकते । इसका कारण अन्न-सेवन करना जैसे शरीर का एक स्वभाव है वैसे ही निद्रा-सेवन एक स्वभाव है और अन्न-सेवन से जैसी शरीर की पुष्टि होती

है वैसी निद्रा से भी शरीर की पुष्टि होती है—देववृषो यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नं सुषुप्ते मनः । स्वप्नाहारसमुपे च स्यौत्थ्यकार्ये विरोधव ॥ निद्रास्य सुप्त दुष्ये पुष्टिः कार्ये बलावलम् । वृषतः क्षीयता शानमशान जीवितं न च ॥ (चरक, सूत्र २१) । अन्न के सिवा मनुष्य जितने दिन गुजरान कर सकता है उतने ही दिन के लगभग (३-४ सप्ताह) मनुष्य निद्रा सेवन न करके भी गुजरान कर सकता है, परन्तु वह उसके सिवा रह नहीं सकता—Man can exist without sleep for about the same time that he can do without food, viz, three to four weeks but he cannot live without it System of Clinical medicine by Saovil. इन सब बातों का विचार करके सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में निद्रा का समावेश स्वाभाविक व्याधियों में किया गया है—स्वाभाविकान्तु दुःस्विपाशाजराभ्युत्थनिद्राप्रभृतय ॥

निद्रा की प्रक्रिया के संबंध में आधुनिक खोज—निद्रा स्वभाव से होती है, परन्तु किस प्रकार से होती है इसका ज्ञान, बहुत कुछ खोज करने पर भी, अल्प है । प्रथम-गुहा (Third ventricle) के तल के धूसर भाग में और कंदाचरीय भाग (Hypothalamus) में निद्रा से संबंध रखने वाला कुछ अंश होता है जिसमें खराबी होने से निद्रा तथा तन्द्रा बढ़ती है । प्रत्यक्ष निद्रा उत्पन्न होने की दृष्टि से निद्रा से तन्द्रा तथा वैद्यक में प्रचलित है । (१) होवेल नामक अमेरिकन शास्त्रज्ञ का मत है कि मस्तिष्क में रक्त की कमी और अन्य अंगों में रक्त की अधिकता होने से निद्रा उत्पन्न होती है । भोजन के पश्चात् पचनसंस्थान में रक्ताधिक्य होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से ही भोजनोत्तर मनुष्य को कुछ तन्द्रा या निद्रा मालूम होती है । जागृतियों के दिनों में रात को ओरवे के लिए काफी गरम कपड़ान होने से निद्रा नहीं आती, क्योंकि त्वचा की रक्तवाहिनियाँ सिक्कने से मस्तिष्क में रक्ताधिक्य हो जाता है । प्रतिदिन रात को खचागत रक्तवाहिनियाँ विलुप्त होती हैं जिससे मस्तिष्क में रक्त की कमी होकर नींद आती है । इसमें कोई संदेह नहीं कि यह अवस्था नींद में होती है, परंतु इससे नींद आती है या नींद के कारण मस्तिष्क में रक्त कम होता है यह प्रश्न फिर भी हल नहीं होता । (२) कुछ शास्त्रज्ञों का यह मत है कि जाग्रतावस्था में शरीर में ऐसे रासायनिक द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो उचित मात्रा में संचित होकर मस्तिष्क पर निद्रा का प्रभाव डालते हैं । जैसे ही निद्रितावस्था में ऐसे द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो निद्रा छोड़ने का कार्य करते हैं । (३) कुछ तन्त्रज्ञों का कथन है कि जाग्रतावस्था में मस्तिष्कगत नाडीवन्दों (Neurons) के अचतन्तु (Dendrites) आपस में भली भक्ति मिले रहते हैं जिससे आपस में संसहन होता है जिसका परिणाम संशय है । निद्रितावस्था में ये अचतन्तु सिक्ककर गॉटदार होते हैं जिससे इनका आपस में संबंध टूट जाता है और एक से दूसरे में संसहन नहीं होता । इसका परिणाम संशयानाश में होता है । जो इस उपपत्ति के पक्ष में हैं उनका कथन है कि सिक्कने के कारण निद्रा उत्पन्न होती है । कुछ लोगो का कथन है कि निद्रा के कारण सिक्कन होती है । (४) पावलोव (Pavlov) नामक सुप्रसिद्ध

रशियन वैज्ञानिक का मत है कि निद्रा सांकेतिक निरोधन (Conditioned inhibition) का परिणाम है । प्राणियों के शरीर में कई सहज प्रतिचेप त्रियाएँ (Inborn reflexes) होती हैं । अर्धदर्शन से लालाघ्राव उन्हीं में से एक क्रिया है । यदि किसी वृत्ते को नियत समय पर घटिकावादन के साथ अन्न दिया जाय तो कुछ घटिकावादन रूप संकेत का साथ अन्न के साथ जोड़ देता है जिससे कुछ दिनों के पश्चात् खाली घटिकावादन होने पर उसे लालाघ्राव होने लगता है । यह कार्य जन्मोत्तर होता है और संकेत के अनुसार होता है इसलिए सांकेतिक प्रतिचेप कहलाता है । यह वृत्ते को कोई दूसरी सूचना बताई जाय जिससे वह अन्न भोजन का संकेत समझ सके और उस संकेत का उपयोग अन्न आने के संकेत के पश्चात् किया जाय तो कुछ काल तक लालाघ्रावरूप प्रतिचेप क्रिया का निरोधन (Inhibition) होता है । यह निरोधन का कार्य भी संकेत के अनुसार होता है इसलिए इसको सांकेतिक निरोधन कहते हैं । प्रतिचेप तथा निरोधन ये दोनों ही कार्य मस्तिष्क के धूसर वस्तु में होते हैं । प्रत्येक कार्य का स्थान भिन्न भिन्न होता है । एक स्थान में निरोधन का कार्य प्रारंभ होने पर वह अन्य स्थानों पर भी प्रविकिरण (Irradiation) के द्वारा फैलता है । पावलोव का अभिप्राय है कि रात्रि के समय, विस्तार इत्यादि निद्रानुकूल संकेतों का निरोधक परिणाम मस्तिष्क के ऊपर होकर प्राणी को आप से आप नींद आ जाती है । ये सब मतमतान्तर एक दृष्टि से ठीक हैं, परंतु इनसे निद्रा के कारणों का और प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान नहीं होता । कुछ भी हो, निद्रा एक शरीर का स्वाभाविक धर्म है और उससे शरीर के हर एक पुत्रों को अधिक से अधिक आराम मिलता है ये आधुनिक के सिद्धान्त आधुनिक खोज से भी अविचलित रहे हैं । इसमें कोई संदेह नहीं—देव विप्रमते यस्मात्समात्रिद्रा प्रकाशिता । देववृषी यथाऽऽहारस्तथा निद्रा समासत ॥ (आश्रयसंहिता) ।

पूर्वदेहानुभूतान्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः ।

रजोयुक्तन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥ ३५ ॥

सोये हुए (मनुष्य) का स्वामी जीवात्मा पूर्वकाल में वेद से अनुभव किये हुए शुभाशुभ विषयों का प्रहण रजोयुक्त मन के द्वारा करता है ॥३५॥

वचस्प—हृदय शोक में स्वप्न की उपपत्ति वर्णन की गई है । पूर्वदेहानुभूत—पूर्वजन्म के वेद से अनुभव किये हुए तथा इस जन्म में स्वप्नदर्शनकाल के पूर्व हरी वेद से अनुभव किये हुए—पूर्वदेहानुभूतितरयादि । एषन्नेपनचक्षणम्, अन्नोन्नेतापि देहेनानुभूतात् ॥ (दृशहण) । ये सब अनुभव पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्रह्यशील और मन से कल्पित या प्रापित हृदय प्रकार के होते हैं । स्वप्न में जो अनुभव आते हैं वे स्मृति के रूप में आते हैं—प्रभुभूतियथासमोव स्मृति । (योगसूत्र ३-११) । पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो विषय ग्रह्यशील होते हैं उनको अनुभूत कह सकते हैं, परंतु जो मन से कल्पित या प्रापित होते हैं वे विषय वासना के रूप से रहते हैं और उन्हीं की अनुभूति स्वप्न में होती है । बहुतेरे रजय यामनावदना के कारण उत्पन्न होते हैं, चाहे

वे वासनाएँ इस जन्म की हैं। चाहे पूर्वजन्म की हों—
जीवी यज्ञसनापक्षतदेवान्तः प्रपश्यति ॥ (योगवासिष्ठ ४-१७-
२६) । स्वपतः—स्वपतः शरीरव्येत्यर्थाः ॥ शूत्रात्मा—पञ्चमहा-
भूतात्मक शरीर में बद्ध हुआ आत्मा जो क्षेत्रज्ञ कण्डलाता
है । रजोयुक्तेन मनसा—ऊपर निद्रा की उपपत्ति बतलाई
गई है । उसमें निद्रा का कारण तम बतलाया गया है ।
मन जब तमोयुक्त होता है तब उसमें अकार्यकरत्व आ
जाता है । सृष्टि के प्रारंभ में स्व तम से आप्रत था ।
तमावृत होने के कारण समस्त सृष्टि प्रसुप्त याने अकार्यकर
थी—आनोदिरं मनोमृतमप्रज्ञावमलक्षणां । अप्रवृत्तमविशिष्यं
प्रसुप्तमिव सर्वतः । (मनु १-५) । प्रसुप्तमिव सर्वतः । रजकार्यात्म-
मित्यर्थः ॥ (कुल्लुकभट्ट) । रजः प्रवर्तक होने के कारण जब मन
उसके साथ मिलता है तब वह कार्यक्षम होता है और
नाना प्रकार के स्वप्न मनोप्य देखता है । यही अर्थ दूसरी
परिभाषा में अगर कहना हो तो यों कह सकते हैं कि जब
मन इन्द्रियों के साथ प्रसुप्त याने अकार्यकर होता है तब
स्वप्न नहीं होते, परंतु जब केवल इन्द्रियाँ प्रसुप्त होती हैं
और मन नहीं होता तब स्वप्न होते हैं—सर्वेन्द्रियसुप्तानी
मनोऽनुपगतं यदा । विषयोभ्यस्त्वदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति ॥
(अष्टांगसंग्रह सूत्र ९) । स्वप्न की इस उपपत्ति से यह स्पष्ट
होगा कि स्वप्न विरहित निद्रा से जिनना आराम शरीर को
मिल सकता है उतना स्वप्नयुक्त निद्रा से नहीं मिल सकता ।
भगवान् शंकराचार्य भी स्वप्न की उपपत्ति इसी प्रकार की
ताते हैं—इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपगतं यदि । संयते विषयानेव
द्वेषात् स्वप्नदर्शनम् ॥

रणानां तु वैकल्ये तमसाऽभिप्रचक्षिते ।

प्रस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥३६॥

तम द्वारा इन्द्रियों की विकलता बढ़ने पर न सोता
आ भी जीवात्मा सोता हुआ सा कहा जाता है ॥३६॥

वक्तव्य—आत्मा स्वयं निर्विकार होने के कारण उसके
पर न तम का प्रभाव पड़ता है तथा न उसमें निद्रा
की विकृति उत्पन्न हो सकती है । परन्तु व्यवहार में आत्मा
सोता है इस प्रकार की परिभाषा व्यवहृत होती है । यह
परिभाषा एक दृष्टि से ठीक है यह कहने का इस श्लोक का
उद्देश्य है । आत्मा जब शरीर में बद्ध होता है तब उसका
ज्ञान तथा बोध इन्द्रियों के ऊपर निर्भर होता है । जब
इन्द्रियाँ नहीं होती तब आत्मा को ज्ञान नहीं होता, जब
इन्द्रियाँ विकृत होती हैं तब आत्मा को ठीक ज्ञान नहीं
होता । वैसे ही जब इन्द्रियाँ तम द्वारा आवृत होती हैं
तब आत्मा प्रसुप्त हो जाता है—आत्मा यः करणयोगाद्ज्ञानं
तस्य प्रवर्तते । करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥ पश्यतोऽपि
यथाऽऽदर्शं संछिद्ये नास्ति दर्शनम् । यद्वज्जले वा कणुपे चेतस्यु-
पहतं तथा ॥ (चरक, शा. १) कारणम्—मन और इन्द्रियाँ—
करणानि मनोऽद्विर्द्विकर्मिन्द्रियाणि च । (चरक, शा० १) ।

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिपिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्,
प्रतिपिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्शितक्षतक्षीणमद्य-
नित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदः-
स्वेदकफरसरक्तक्षोणानामजोर्णिनां च सुहृत् दिवा-

स्वपनमप्रतिपिद्धम् । रात्रावपि जागरितवतां जाग-
रितकालादधर्मिष्यते दिवास्वपनम् । विकृतिर्हि
दिवास्वप्नो नाम; तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोष-
प्रकोपश्च, तत्रप्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्याय शिरो-
गौरैवाङ्गमर्दारोचकज्वरग्नितदौर्वल्यानि भवन्ति;
रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवो-
पद्रवा भवन्ति ॥३७॥

(दिवास्वप्न और रात्रिजागरण)—ग्रीष्म ऋतु के
अतिरिक्त सब ऋतुओं में दिन में सोना (वैद्यक शास्त्र-
नुसार) निषिद्ध है । परन्तु निषिद्ध ऋतुओं में भी
बाल, वृद्ध, स्त्रीसंग के कारण थके हुए, क्षतयुक्त,
दुर्बल, मद्य नित्य सेवन करनेवाले, गाड़ी में बैठने से,
(घोड़ा हाथी इत्यादि पर) सवारी करने से, प्रवास करने
से, काम करने से थके हुए, भोजन न किये हुए, मेद,
स्वेद, कफ, रस और रक्त जिनमें क्षीण हो गया हो और
अपचन से पीड़ित इनको दिन में एक सुहृत् भर नींद लेना
निषिद्ध नहीं है । रात में भी जो (कारणवश) जागरित
रहे उनके लिए प्रजागरकाल से आधा काल दूसरे दिन
सोना उचित होता है । दिन में सोना विकृति है, दिन में
सोने से अधर्म और सर्व दोषों का प्रकोप होता है,
दोषों के प्रकोप से खाँसी, श्वास, सर्दी, सर में भारीपन,
शरीर में पीड़ा, अरोचक, ज्वर और अग्नि की मन्दता
(ये विकार) होते हैं; रात को भी जागरण करने वालों
को वात और पित्त के कारण उन्हीं के समान उपद्रव
(उत्पन्न) होते हैं ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—ग्रीष्मादन्यत्र—गर्मियों के दिनों में जरा-सा
परिश्रम करने पर अधिक थकावट होती है, दिन बड़े
और रात छोटी होती हैं जिनसे दिन भर के परिश्रम
के लिए जितना विश्राम रात में निद्रा के रूप में मिलना
चाहिए उतना नहीं मिलता । इसलिये दिन में निद्रा-
सेवन की विधि बतलाई गई है—ग्रीष्मे त्वादानरुचायां वर्षमाने च
मादते । रात्रीणां चातिसान्नेपादिवत्स्वप्नः प्रशस्यते ॥ (चरक सू०
२१) । लोकाशिनः—स्त्रियाँ और कर्शित याने दुर्बल अथवा स्त्री
संग से कर्शित इस तरह इसके दो अर्थ हो सकते हैं । स्त्रियों के
लिए दोपहर की निद्रा इसलिये विहित है कि घर की स्त्रियाँ
रात को सबके पीछे सोती हैं और सबसे पहले उठती हैं, तथा
उनको शारीरिक परिश्रम भी बहुत करना पड़ता है जिसके
कारण रात में मिलने वाली निद्रा उनके लिए पर्याप्त नहीं होती ।
क्षतक्षीण—क्षत याने व्रणयुक्त तथा क्षीण याने धातुक्षय-
युक्त—इया एव हि ते शेषाः प्रत्येक धातुसंक्षयात् ॥ (सुश्रुत
उत्तर ४१) । किं वा क्षतक्षीण नामक जो उरःक्षत करके
रोग होता है उससे पीड़ित । ये अर्थमेद चरक के निम्न,
श्लोक के आर पर किये गये हैं—गीताध्ययनमद्यक्षीकर्म-
भाराध्वकर्शिताः । अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽवलाः ॥
(सूत्र, २१) । यानवाहन—यान और वाहन का वास्तविक
अर्थ एक है, परन्तु चूँकि ये दो शब्द पृथक् पृथक् प्रयुक्त हुए
हैं इसलिये इनका पार्थक्य निम्न प्रकार से कर सकते हैं ।

यान से गाड़ी और वाहन से स्वयं चलने वाले प्राणी, जिनके ऊपर सवारों की जाती है—समत सकते हैं । अंग्रेजी में भी आजकल Ride or Drive ये दो शब्द ऐसे ही भिन्नार्थ में प्रयुक्त होते हैं । इसलिये यान से Drive और वाहन से Ride समझना चाहिए । परिश्रवण—इसका सबसे यान, वाहन, अथवा कर्म इन प्रत्येक शब्दों के साथ है । अनुकृतत्वात्—जिनके लिये दिवा-निद्रा विहित है उनको भी भोजन के उपरान्त नींद लेना उचित नहीं है—भोजनान्तरादिवाचकत्वात् पाषाणमपि जीयति । भोजनान्ते दिवास्वापादानपिचरफोद्व ॥ (योगरत्नाकर) । मुक्त्वा स्वप्न न सेवेन सुषोष्यसुविज्ञो मयेव ॥ (हारीतसंहिता) । इनसे पचन में खराबी हो जाती है । यह नियम दिवा निद्रा तथा रात्रिनिद्रा दोनों के लिये लागू है । इसी लिये रात्रि के प्रथम प्रहर में भोजन करके दूसरे प्रहर में नींद लेने का आदेश किया है—रात्रौ तु भोजन कुर्वात् प्रथमे प्रहरान्तरे ॥ (योगरत्नाकर) । यहाँ पर हम तरह भोजनोत्तर दिवा निद्रा का निषेध किया है और अन्य कई स्थानों में भोजनोत्तर दिवाशयन की विधि बताई है—मुक्त्वा रात्र्यन्तरेण यावदभ्रुवो गच्छः । तत्र पादशन यत्वा धामपार्श्वेन सदिसिद्धे ॥ (सुधृत सूत्र ३६) । अत्रो पवित्रात्स्वप्ना गयानस्य तु पुष्ट्या । आसुध्रमसमाशयस्य मूलार्थवति भावः ॥ (योगरत्नाकर) । भोजन के पश्चात् आराम करने की बहुत आवश्यकता होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है । क्योंकि उस समय शरीरगत रक्त की रात्रि पचन स्थान की ओर अधिक आकर मस्तिष्क तथा त्वचा की ओर कम होती है । उस समय रक्तवह स्थान के ऊपर अधिक भार न पड़ना चाहिए । भोजनोत्तर आराम, चहलकदमी करने से, बैचने से या शयन से हो सकता है । शयन से अधिक आराम मिलता है, इसलिये भोजनोत्तर शयन या संवेश की विधि बताई गई है । इस शयन से निद्रा का बोध नहीं ले सकते क्योंकि निद्रा भोजनोत्तर निषिद्ध है । इसलिये शयन से उस आसन का बोध लेना चाहिए जिसमें आराम हो तथा दिवा निद्रा के दोष न हों । इस प्रकार के आसन को आसीन प्रचलापित कहते हैं—अरुचमन्-मिथ्यन्दि ह्यासीनप्रचलापितम् ॥ (चरक सूत्र २१) । इसका अर्थियाय है बैस बैस या लेटे लेटे करके बद्धते रहना । प्रतिदिन भोजन के पश्चात् आराम करने का यही आसन है और यही शरीर की पुष्टि करता है—आसीनप्रचनस्वप्नो-न्निमित्तमिदं इत्यम् ॥ (चरनाद) । सुधृत—अद्वयतीक्ष्ण मिनट—विश्वसुधृतमभोगम् ॥ (सुधृत) । रात्रावपि—एकाध रात को कारणवश जागना पड़े तो जिनने घंटे जागरण होजाय उससे आधे घंटे दूसरे दिन निद्रा लेनी चाहिए । परंतु यह निद्रा भी भोजन के पूर्व लेना जरूरी है—भनान्तरादिवाचकत्वात् प्रातः स्वप्नारुक्तत्वात् ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र ७) । जागरितत्वान्नाद—यह जागरित काल प्रकृतिसंगोप और अभ्यासयोगोप होता है । एक मनुष्य प्रकृति और अभ्यास के कारण स्वल्पनिद्रा और दूसरा बहुनिद्रा होता है । वे दो मनुष्य जब रात को श्वारद बचे तक जागरित रहेंगे तब स्वल्पनिद्रा को दूसरे दिन, दिन में सोने की आवश्यकता नहीं होगी और

बहुनिद्रा को होगी । इससे यह स्पष्ट होगा कि जागरित काल घड़ी के ऊपर न होकर प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन कितनी निद्रा लेता है उस (सात्म्यनिद्रा) के ऊपर होगा । सात्म्यनिद्रा का काल आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार आयुर्वेद में ६-९ घंटे का माना जाता है । जिसका सात्म्य निद्राकाल नौ घंटा है उसको अगर रात को दो घंटा जागरण हुआ तो उसको दूसरे दिन भोजन के पूर्व एक घण्टा निद्रासेवन करना चाहिए—प्रोडसमद्वेदी पालानत्रिदशैश्च सात्म्येणो यामद्वय तत्र वा निशि निद्रा भवेत् ॥ असात्म्या व्यागारार्थेन स्वप्न इत्येते । असात्म्यमद्वेषेनैतद् घोचरति । न सर्वस्य रात्रावसुप्तस्य जागरणस्यापार्थेन दिवास्वप्न इत्येते, किं तर्हि यो यावन्त कानमुच्यन्त स्वपिति तरमात्वात्तावावन्त ताल जागृयात् तात्रोत्थेनासी स्वप्न्यात् । क्वचिद्दि स्वल्पनिद्रा-स्वप्नान्तो भवन्ति ॥ (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय सूत्र ७-६२) । विकृतिविद्विवास्वप्नो नाम—यहाँ पर विकृति शब्द शारीरिक विकार के लिये नहीं प्रयुक्त हुआ है । पहले बताया जा चुका है कि भगवान् सूर्यनारायण के द्वारा दिवस के दिन और रात्रि करके दो विभाग हुए हैं जिनमें दिन कर्म के लिये और रात्रि निद्रा या आराम के लिये होती है । यदि संसार के पशु पक्षियों की ओर देखा जाय तो ये ही होते ही अपना काम प्रारंभ करते हैं और रात होते ही अपना काम छोड़कर आराम करते हैं । अर्थात् दिन में कर्म और रात में निद्रा, यह प्रकृति (Nature) है, और दिन में निद्रा और रात्रि में प्रजागर विकृति (Against Nature) है । सर्वदोषप्रसोपणम्—सर्वदोष से यद्यपि तीनों दोषों का बोध होता है, तथापि कफ और पित्त का प्रकोप अधिक समझना चाहिए । दिवास्वाप स्निग्ध होता है और रात्रि-जागरण रूच होता है—रात्रौ जागरण रूच रिन्धं प्रत्येक दिवा ॥ (चरक, सूत्र २१) । इसलिये दिवा निद्रा से कफ का प्रकोप सबसे अधिक और पित्त का उससे कम, वात का नहीं के बराबर होता है । रात्रि का जागरण रूच होने से उससे वात का प्रकोप सबसे अधिक और पित्त का उससे कम, कफ का नहीं के बराबर होता है । दिवा निद्रा से दोष प्रकोप के संबंध में अष्टांगसमूह में लिखा है—दीपं यासुचयादानरीक्षराम्यल्पभावन । दिवास्वप्नो हि नो-यमिन्वपि-पित्तको वि स ॥ (सूत्र ७) । रात्रिजागरण का परिणाम वात-पित्त प्रकोप में होता है इसका निर्देश यहीं पर सूत्र में किया गया है । त एवोपद्रवा—दिवास्वप्न से जो विकार ऊपर बताये गये हैं वे ही विकार रात्रि जागरण से नहीं हो सकते क्योंकि दोष-प्रकोप-भिन्नता है । अतः 'त एव आसवासोदय एव यद्दृश्यते वा अर्थ अनुचित मान्य होता है । अष्टांगहृदय के अनुसार रात्रि प्रजागरण से निम्न रोग होते हैं—निद्रानाशारम्भद्विरोगीरुचिभ्रमका । आरभ्य श्लान्तिभाषणित-व-शरीरोगाद्यनाशः ॥ (सूत्र ७) । इसमें आसवास प्रतिशयाद्य ये रोग नहीं हैं । इसके आधार पर त एव का अर्थ उन्हीं के समान (तेषामिव) करना चाहिए ।

मघन्ति चात्र—

तरमात्र जागृयात्प्राप्नो दिवास्वप्नं च घर्जयेत् ।
हात्या दोषकराप्रैस्ते सुधः स्वप्नं मितं घरेत् ॥ ३८ ॥

शरीरः सुमना रोषं बलवर्णान्वितो मृगः ।
 नानिभृत्कृशः श्रममान नरो जीवेत् स्वमाः शनम् ॥२६॥
 यहाँ पर श्लोक है। इसके लिए रात को जागरण न करे
 तथा दिन में निद्रा न लेना करे। सुखिमान (सुख)
 इन दोनों की शोषजनक समता (रात में ही) उचित
 मात्रा में मोड़ को लेना करे ॥ २६ ॥ इस प्रकार (रात्रि में
 उचित निद्रा लेना करने) में मनुष्य शरीर, प्रत्यक्षित
 रूप के समान बल और वर्ण में सुख, न बहुत मोटा न
 बहुत पतला, (एवं सुखिनिद्राशरीर) सर्वसुख होकर
 नौ धर्म तक जाता है ॥ २६ ॥

वक्तव्य— ॥ २—अपनी आर्यव्यवस्था के अनुसार
 उचित दो से तीन घंटे। १९:—इसका अर्थ शुद्ध या
 नरिभोजनसुख किया गया है; परन्तु यहाँ पर यह अर्थ
 उचित नहीं मान्य होता। मृग का अर्थ मोड़ के समान
 बलवान् मनुष्य भी होता है, जैसे—शुद्धि की वृद्धिः
 आर्यव्यवस्थाः । (सुखेन १), और यही अर्थ यहाँ पर
 अधिक सुख है। इस शब्द में 'मृग इति शरीरान्वितः' ऐसा
 अन्वय करना चाहिए।

निद्रा स्वाभ्यासकृता येस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा ।
 (दिवा रात्रौ च ये निरर्थं स्वप्नजागरणोचिताः ।)
 न तेषां स्वपतां दापो जाग्रतां वाऽपि जायते ॥२७॥

दिन में अथवा रात में निद्रा को जिन्होंने साम्य पर
 रखा है तथा जो दिवास्वप्न और रात्रिजागरण के समेता
 के आदी हो गये हैं उनको (दिन में) सोने से अथवा
 (रात को) जागने से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता ॥ २७ ॥

वक्तव्य— यह २७—यहाँ पर यदि वा कोई अर्थ नहीं
 है। अथवा निरर्थक 'अथवा' अर्थ होता है—निद्रा
 नीतिनिपुण यः वा स्वप्नः । (भृशहरि) । रात्रौ च यदि वा
 दिवा—दिन में रात में जब जी चाहे तब तथा जब आवश्यकता
 पड़े तब, संशय में वक्त वक्त। प्रथम श्लोकार्थ के
 अनुसार जो लोग होते हैं उनको निद्रा का कोई नियत समय
 नहीं होता। अनुक्रम से बदलने वाली आठ आठ घंटे की काम
 करने की पारी जिनकी होती है वे लोग इस वर्ग में आते
 हैं। दूसरे श्लोकार्थ के अनुसार जो लोग होते हैं उनको
 हमेशा रात में काम करना पड़ता है। स्वप्नजागरणोचिताः—
 स्वप्नजागरणसम्यक्ताः । अभ्यास के कारण जो साम्य होता है
 वह ओकस्रात्म्य कहलाता है—उपशेते यदीचिन्तादोक्त-
 सारान्यं तदुच्यते । (चरक सूत्र ६) । श्रीशिरसादभ्यासादित्यर्थः ।
 अपथ्यमपि हि निरन्तराभ्यासाद्विषमिवाशीविषस्य नोपगतकं
 भवतीति भावः । (चक्रपाणिदृष्टीका) । सात्त्विकीकृत अकाल-
 शयन ओकस्रात्म्य का उदाहरण है और अभ्यास से विकृति
 को प्रकृति (Natura) हो जाती है। अंग्रेजी में भी कहते
 हैं—Habit is second nature.

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि ।
 संभक्त्यभिघाताद्य प्रत्यनोकैः प्रशाम्यति ॥ २१ ॥
 (निद्रानाश के कारण)—निद्रा का नाश वात से,
 पित्त से, मानसिक अभिघात से, क्षय से और अभिघात से
 होता है। विरुद्धचिकित्सा करने से वह शान्त होता है ॥ २१ ॥
 वक्तव्य—इस श्लोक में निद्रानाश के सामान्य कारण

तथा उलकी सामान्य चिकित्सा यत्पर्याप्त है। शान्त—वात-
 वृद्धि या मानसिक विकार के कारण। सय मानिक रोगों से
 निद्रानाश नहीं होता। मानिक विकार का एक मुख्य लक्षण
 जो वेदना या शूल, यह जिन विकारों में होता है, वे सय
 विकार निद्रानाश उत्पन्न करते हैं। जैसे, पादशूल, विण्ड-
 कोहेटन (Cramps) मृगमौ (मृगशीर्षक) शूल, शूल-
 शूलः । चक्रपाणिद्वय । (Solastica), सुदाति, जेफ-
 स्तम्भ (Cordeo), उदायन Platonice in the stomach
 (intestine), पशतोद, कर्णशूल, अक्षिशूल, प्रसृभेद,
 मृगशूल, शिरोशूल, आरंभक (Convulsions), टिकका
 (चरक, सूत्र २०), सुती, प्रतिहती, मृगशूल, शासकशूल,
 पुरीषकृष्ट इत्यादि मानिक विकार। इनके सिवा आधुनिक
 परिभाषा के अनुसार मरिगण्ड के रोग, जैसे—किरगी
 मनिप्रपिठुनि, मनिप्रशोय इत्यादि विकार। विषय—
 स्वर, ओष, ज्योष, दाह, अन्तर्दाह (Inflammation) इत्यादि
 पित्त विकारों से। मरुतपाप—चिन्ता, क्रोध, भक्ति,
 विचारप्रवणता, उन्माद, पागलपन, दुःख इत्यादि मानसिक
 (Psychical) कारणों से। शयन—शरीर के शय में जाने
 शीघ्रत्व में अथवा राजयस्या से। शिवापथ—नय, दशन,
 पतन, दहन इत्यादि से तथा नाना प्रकार के शस्त्रों के आघात
 से घाट, घाव, भग्न इत्यादि के कारण। अभिघात से संशय
 में आगन्तु कारण समझना चाहिए। अभिघात में नींद न
 आने का मुख्य कारण वेदना या पीड़ा ही होती है। चरक
 में निद्रानाश के निम्न कारण दिये हैं—साम्य निरमर्शन
 विरुद्धवर्तनं मयम् । निद्रा कोषलथा पूरी स्वादानो रसमोद-
 नम् ॥ स्वपशोऽनुना शय्या मर्शोऽर्थं लोपः । निद्राप्रसंग-
 दिनं वारयति मनुजिनाम् ॥ एत एव च विविधा निद्रानाशम
 कथ्यः । कार्यकालो विकारश्च प्रकृति संसृज च ॥ (सूत्र २१) ।
 इसके अनुसार अतीमार, प्रवाहिका, जुकाम, बहुत छुँके
 आना, आघात, जियमें बहुत रक्तस्राव हुआ हो, अत्यधिक
 शारीरिक परिश्रम, भूख, विस्तार टीक शूल न होना, वेदना
 जियमें हो ऐसे सय विकार (विकारो व्याधिः शूलदिः) से
 निद्रानाश के कारण होते हैं। प्रत्यनोकैः—कारणविपरीत
 चिकित्सा करने से। अर्थात् वेदनाहर, मनःशान्तिकर तथा
 रोगनिवारक उपायों से।

निद्रानाशोऽभ्यङ्गयोगो मृद्धि तैलनिषेधणम् ।
 गात्रस्योद्धर्तनं चैव हितं संवाहनानि च ॥ २२ ॥
 शालिगोधूमपिष्टाद्यभक्ष्यैरेक्षयसंस्कृतैः ।
 भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः ॥ २३ ॥
 रसंघिल्लेशयानां च विष्किराणां तथैव च ।
 द्राक्षासितेजुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्नृशि ॥ २४ ॥
 शयनाशनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च ।
 निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यान्यपि बुद्धिमान् ॥ २५ ॥

(निद्रानाश की चिकित्सा—) निद्रानाश में (शरीर
 पर) अभ्यङ्ग का उपयोग, सिर पर तैल लगायना, शरीर पर
 उबटन मलना और मालिश करना हितकर हैं ॥२२॥ (गुड़,
 शर्करा इत्यादि) ईसके पदार्थों द्वारा संस्कृत चावल, गेहूँ
 के पिष्टाद्य के भक्ष्य पदार्थों का मधुर तथा दूध और मांस-

रसादि से स्निग्ध भोजन (हितकर होता है) ॥१२३॥ वैसे ही विल में रहने वाले और यंत्र कर खाने वाले प्राणियों के मांसरसों से (स्निग्ध भोजन भी हितकर होता है) । रात को द्राक्षा खीरे तथा उन्म के अन्य द्रव्यों का उपयोग (हितकर) होता है ॥ १२४ ॥ निद्रानाश में बुद्धिमान् पुरुष विह्वाना, आमन (खट्या, तक्षत, पलग इत्यादि तथा कहीं जाना हो तो पालकी आदि) यान तथा अन्य (वस्त्र प्रावरणादि) को भी मन को सुख देने वाले और मृत्यु करे ॥ १२५ ॥

वक्तव्य—अभ्यययोगे श्वाभीर—इसमें सिर से पैर तक तैल का अभ्यास और मालिहा का उपाय बताया गया है । मूत्रि तैननिषेवणम्—इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति मूत्रमवति चामनम् । निद्रातामः सुप्त च स्थान्मूत्रि तैननिषेवणम् ॥ (चरक, सूत्र ५) । अभ्यङ्ग योग, उद्धर्तन इत्यादि निद्रानाश में वायु-प्रकोप प्रधान होता है और अभ्यङ्ग तथा उद्धर्तन वातशामक होते हैं जिससे निद्रानाश का कारण दूर होकर नींद आती है । इसके सिवाय मर्दन से त्वचा तथा दाख्वाओं की रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर इन बंगों में रक्त की राशि अधिक होकर मस्तिक में कम हो जाती है । इससे भी निद्रा में सहायता होती है—अथश्लेष्मिके वायु स्थाने न त्वगाश्रितम् । त्वक्ष्य परमेष्म्यहस्त-रक्षात् शीतनेत्रम् ॥ (चरक, सूत्र ५) । उद्धर्तन वातहरं कफमेदो-विलापनम् । स्थिरकरपद्मद्वाना त्वक्प्रमादकर परम् । सिरामुन विविक्तत्वं त्वक्स्थरदाश्रितं तैनम् ॥ (सुषुप्त, चि० २४) । मनोऽ—मनोनुहूल । अन्यान्पि—इसमें प्रावरण, निद्रा-गृह इत्यादि बातों का बोध लेना चाहिए । वस्त्र प्रावरण गर्मियों के दिनों में हलके और जाड़े के दिनों में गरम और मोटे होने चाहिए । गर्मियों में कमरा हवादार और जाड़े में निवान और गरम हो तथा कमरे में प्रकाश न हो, आसपास शोरगुल न हो । स्वप्ने में निद्रा के समय सब विषय मनोनुहूल हों, इन्द्रियों को किसी प्रकार की तबदीली न हो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए—प्रशते ह्रभी देशे मुना शब्धा यथोचिते । मनोनुहू वा विषयानिर्मुनिः कृत्स्नयता । निद्रा मनोऽनुमत्य स्वं कानं नापि बर्ते ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ६) । वाग्मटाचार्य के इन श्लोकों में शयनामतादि बाह्य कारणों का जैसे विचार किया गया है, वैसे मानसिक कारणों का भी विचार 'निर्मुनि', कृत्स्नयता और संतोषयति' इनमें किया गया है । प्रत्येक व्यक्ति का अपने देह, धर्म, समाज, स्वामी, बुद्धय इत्यादि के प्रति कुछ कर्तव्य होता है और प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति को इस कर्तव्य का पालन करना पड़ना है । यदि प्रतिदिन रात को सोने के समय मनुष्य अपने को इस बात का विचार दे सके कि उसने आज के कर्तव्य का पालन यथातक और यथाशक्ति किया है तो एक प्रकार की कृत्स्नयता होती है । और भी कई कारणों को पूर्ण करने से कृत्स्नयता होती है । इस कृत्स्नयता के कारण मन निर्भ्रं और संतोषयत होता है और नींद आती है । मंचंयं में नींद आने के लिए शरीर स्वस्थ, बाह्य परिस्थिति प्रशान्त और मन संतोषयत होना चाहिए और इनमें से किसी बात की कमी हो तो उसको दूर करने की कोशिश करनी चाहिए ।

निद्रान्तियोगे यमनं हितं रंतीोऽनाति च ।

१ बनेकदाकेके कु कुचर्य ।

सुप्तं रक्तमोक्षं मनोव्याकुलनानि च ॥१२६॥
(अतिनिद्रा की चिकित्सा—) निद्रा की अधिकता में वमन, (विरेचन, यस्ति, शितोविरेचन ये) संशोधन, लडन, रक्तमोक्षण तथा मन की शान्ति नष्ट करने वाले उपाय हितकर होते हैं ॥१२६॥

कफमेदोविपातानां रात्रौ जागरणं हितम् ।
दिवास्वप्नश्च लृश्लहिकाजोर्णतिसारिरायाम् ॥१२७॥
(रात्रिजागरण और दिवास्वप्न के लिए बोध—)
कफ, मेद और विप इनसे पीढ़ितों के लिए रात्रिजागरण और उषा, शूल, ह्रिहा, अजीर्ण और अतीसार से पीढ़ितों के लिए दिवास्वप्न हितकर होता है ॥१२७॥

इन्द्रियायैष्वंस्प्रसिप्तौर्षं जृम्भयं ह्रमः ।
निद्रातंस्वेष्यं यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥१२८॥

(तन्द्रा—) इन्द्रियों के (शब्दस्पर्शादि) अर्थों का ग्रहण न होना, (शरीर में) शारीरपन, जैमाई लेना, यकावट और निद्रा से पीढ़ित हुए के समान वेधा ये जिसके होते हैं उसको तन्द्रा है ऐसा समझना चाहिए ॥१२८॥

वक्तव्य—इन्द्रियायैषु—इन्द्रियायां । अन्धाराव, तथास-प्राप्तिरप्रवर्तयते । (दह्लण) । इससे संज्ञानाश का बोध होता है । ईहा—वेधा या कर्म । तन्द्रा—यह वैचारिक संज्ञानाश की अवस्था है । निद्रा से इसका भेद निम्न प्रकार से होता है—यं निद्राया प्रबोधितस्य इमाभावः, तन्द्राया तु प्रबोधितोऽपि डाम्पति, अत्र पशव हनग्रहणम् । (दह्लण) । अष्टांगसंग्रह में तन्द्रा का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णित है—नकोज्यो बायुन दूषो धमनीः सतिरथ्य तु । कुर्षोऽ सदापदां तन्द्रा दासया मोहकारिणीम् ॥ कर्मोचिते विनिर्मुने परिवर्तिताशके । भवत्स्वप्न नयने ह्युते मुक्तिपद्मयोः । अर्धशिरात्ता माध्या न सा साय्वा दनः परम् ॥ (सूत्र ९) । इससे तन्द्रा के निम्न लक्षण मालूम होते हैं । रोगी श्वास्त और बेहोश रहता है, जगने की कोशिश करने पर कुछ सचेत होता है परंतु फिर से बेहोश होता है तथा रोगी दाख्वावस्था में होता है और मर भी जाता है । इन लक्षणों का विचार करने पर तन्द्रा को अंग्रेजी के stupor या Lethargy का पर्याय समझना चाहिए । It is a condition of deeper sleep from which the patient can be aroused, distinguishing it from coma, from which the patient can not be aroused. Symptom Diagnosis by Barton and Yater. तन्द्रा का यह विशेष अर्थ है जो संदर्भ के अनुसार करना चाहिए । तन्द्रा का सामान्य अर्थ निद्रावैता, मुस्ती, आलस्य (Drowsiness, Sleepiness) होता है ।

इससे यह स्पष्ट होगा कि तन्द्रा संन्यास या ठामसी निद्रा का हल्का स्वरूप है और उन्हीं विकारों में मिलता है जिनमें संन्यास पैदा होता है । संन्यास निम्न विकारों में मिलता है—आन्त्रिक अर, आमवातअर, कालमेदअर (Black water fever), वात विषमअर, कुशुम्प पाक (म्युमोनिया), मस्तिष्का इत्यादि सांघातिक ज्वरों के अन्त में, सर्व प्रकार के मस्तिष्कावरणशोथ (meningitis), तन्दिक मस्तिष्क शोथ (Encephalitis lethargica), मस्तिष्क का अर्बुद या

विद्रधि, मूत्रविपमयता (Uraemia) मधुमेह की अन्तिमावस्था, वैनाशिकपाण्डुरोग (Pernicious anaemia), मस्तिष्काघात, सिर पर आघात, मस्तिष्क में रक्तस्राव या रक्त का जम जाना Embolism , पचाघात, लू लगना (Heat stroke), अत्यधिक रक्तस्राव इत्यादि ।

पीतवैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः

यं मुञ्चति सनेत्राश्च स जम्भ इति संज्ञितः ॥४६॥

(जम्भा—) उद्वेष्टन के साथ मुख फैलाया हुआ (मनुष्य) वायु के एक उच्छ्वास को लेकर आँखों से पानी के साथ जो (निश्वास) बाहर फँकता है वह जम्भा कहलाता है ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में जँभाई के कर्म का शब्द चित्र वर्णन किया है । जँभाई श्वासप्रश्वास का एक विशिष्ट स्वरूप है जो रक्त में प्रां-द्विजारेय (CO₂) की अधिकता होने से उत्पन्न आया करता है । रक्त की खराबी दूर करने के लिए इसमें उच्छ्वास के समय वायु की अधिक राशि ग्रहण की जाती है । संक्षेप में जम्भा स्वाभाविक अनैच्छिक (Involuntary) और गम्भीर प्रश्वासन का एक प्रकार है जिसमें साँस मुख द्वारा ग्रहण की जाती है ।

जम्भा—यह संख्यावाचक विशेषण इयत्तादर्शन के लिए प्रयुक्त न होकर असाधारणतादर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसका अभिप्राय यह है कि साधारण श्वास-प्रश्वास के समय जिस तरह से और जितनी लंबी साँस ली जाती है उससे भिन्न तरह की और अधिक लंबी साँस जँभाई में ली जाती है । उद्वेष्टन्—यहाँ पर जँभाई के जितने लक्षण दिये हैं उनमें यह लक्षण सबसे महत्त्व का है । मनुष्य मुख खोल कर और आँखों से पानी के साथ लंबी साँस ले सकता है परन्तु वह कर्म जँभाई नहीं कहा जा सकता । जब उसमें उद्वेष्टन होगा तब वह जँभाई होगी । हाराणचन्द्र उद्वेष्टन का अर्थ 'पृष्टनः शिरो व्याक्षिपन्' ऐसा करते हैं, परन्तु यह अर्थ अर्थ ठीक नहीं मालूम होता । आयुर्वेद में उद्वेष्टन का अर्थ इस प्रकार कहीं नहीं होता । साधारणतया उद्वेष्टन शब्द पीड़ा या ष्ठन या ष्ठनजन्य पीड़ा (Cramps) इस अर्थ से प्रयुक्त होता है—उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च । जम्भाहोद्वेष्टन-श्वासा श्वेया पत्रविषेण तु ॥ (सुश्रुत, कल्प २) । तत्र दर्वीकर-विषेण हिक्कावायोर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तास्त्राश्च वातवेदना भवन्ति ।

(कल्प ४) । हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्नग्भः सिरायामोऽस्थिपर्वश्क् । घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रे श्यावता वातिके विषे ॥ (चरक चि. २३) पादयोः सुप्रता, पिण्डिकयोर्द्वेष्टनं जानुनोः कंबलानां च संधीनां विश्लेषणम् ; इति वातज्वरस्य लिङ्गानि स्युः ॥ (ज्वर निदान) । उद्वेष्टन पेशियों की सख्त सिकुड़न (Contraction) से होता है । यह सिकुड़न अनैच्छिक (Involuntary) होती है । उसके ऊपर मनुष्य की इच्छा का कुछ भी अधिकार या असर नहीं होता । यहाँ पर भी उद्वेष्टन का यही अर्थ है । शरीर में सिराज (Venous) रक्त अधिक होने पर उसकी शुद्धि के लिए जँभाई आती है । उसके आने न आने के ऊपर मनुष्य अपना अधिकार नहीं चला सकता है । जँभाई के समय नीचे का जबड़ा अधिक से अधिक खुलता है यहाँ तक कि कभी कभी हनुसंधि विश्लेष (Dislocation of the lower jaw) हो जाता है । यह कार्य नीचे का जबड़ा खोलने वाली पेशी की सख्त सिकुड़न से होता है । अर्थात् यह एक प्रकार का उद्वेष्टन है, और इसी दृष्टि से यहाँ पर यह शब्द

प्रयुक्त हुआ है । शाङ्गधर में इसलिए 'विदीर्ण वदन' शब्द प्रयुक्त किया गया है—चैतन्यशिथिलत्वाद्यः पीतवैकश्वासमुद्वेष्टम् । विदीर्णवदनः श्वासं जम्भा सा कथ्यते बुधैः ॥ मुख कितना खोले कितना न खोले इसके ऊपर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं चल सकता और वह इतना अधिक खुलता है कि समाज में बुरा मालूम होता है । इसलिए आयुर्वेद में समाज में अनापृत मुख रखकर जँभाई लेना निषिद्ध माना गया है—नासंघृत-मुखः कुर्यात्कुत्सितः स्वविजम्भणम् ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र २) । संक्षेप में 'नीचे का जबड़ा खोलने वाली पेशी की अनैच्छिक और अत्यधिक सिकुड़न से जिसका मुख खुला हुआ है' यह 'उद्वेष्टन् विवृताननः' का अर्थ है ।

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः ।

क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रवाधकः ॥ ५० ॥

(क्लम—) साँस की कठिनाई (Dyspnea) न होकर विना परिश्रम के शरीर में जो थकावट (Feeling of tiredness) बढ़ती है और जो इन्द्रियों से (शब्द स्पर्शादि) विषयों के ग्रहण में कठिनाई उत्पन्न करती है वह (थकावट की अवस्था) क्लम (Asthenia) समझना चाहिए ॥ ५० ॥

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलता ।

शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालयस्यमुच्यते ॥५१॥

(आलस्य—) बलवान् मनुष्य की सुख में आसक्ति, दुःख में द्वेष और भीति तथा काम करने में अनुत्साह इसको आलस्य कहते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—सुखस्पर्शप्रसंगित्वं—सुख, अनुकूल वेदना; स्पर्श, इन्द्रियार्थों का उपलक्षण जिससे स्पर्श के साथ शब्द रूप रस और गन्ध इन अर्थों का भी ग्रहण होता है । प्रसंगित्वमासक्तिः । मृदुशयन, मुलायम मलमल के वस्त्र, सुगंधित द्रव्य, रुचिकर मधुर भोज्य पदार्थ, श्रुतिमधुर-गान; नयनमनोहर वस्तुओं को देखना इत्यादि अनुकूल संवेदना उत्पन्न करने वाले पदार्थों के संबंध में आसक्ति । दुःखद्वेषणलोलता—प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करने वाले विषयों के संबंध में द्वेष तथा डर । शक्तस्य—इसका संबंध केवल अनुत्साह से न होकर सुखस्पर्श प्रसंगित्व और दुःखद्वेषणलोलता इनके साथ भी है । शक्त का अर्थ है स्वस्थ या नीरोग मनुष्य । अनुत्साह—काम करने में मन न लगाना । हौसले के साथ काम न करना । आलसी आदमी भी काम करता है, क्योंकि काम किये वगैरे किसी का नहीं चल सकता । परन्तु उस काम में उसका दिल नहीं होता और वह जहाँ तक हो सके उसे अधूरा करता है तथा करने की टालमटोल करता है । कर्मसु—कर्तव्य कर्मों में । स्वास्थ्य, धर्म, समाज, कुटुम्ब इनके प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य होता है उन कर्तव्यकर्मों में अनुत्साह । जिसमें उसकी आसक्ति होती है, उसमें अनुत्साह नहीं होता । आलस्य—यह कोई वैकारिक अवस्था नहीं है । प्रकृति का परिणाम है ।

उत्कृत्तश्याजं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ट्वनेरितम् ।

हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्कृत्तेशं विनिदिशेत् ॥५२॥

(उत्कृत्तेशं—) अन्न (आमाशय में) उपतप्त होकर वाहर न निकले, प्रसेक (मुख में पानी भरना) और

धीन (पानी को सूखने की प्रवृत्ति) को प्रेरित करे तथा हृदय (प्रदेरा) पीडित ह् जावे उसे उत्कलेश कहते हैं ॥५२॥

वक्ष्य—रज—इसमें Heart burn कहते हैं । पचन-संस्थान की विवृति का यह एक लक्षण है । इसमें आमाशय में उदर्नारिक (हेट्टिकोरिक) जल की अधिकता या उसकी कमी होने पर दुर्गंधक, घृतिक (स्यारिटिक ब्यूटिक) इत्यादि सेन्द्रिय अर्णों की उत्पत्ति होती है । ये अम्ल हृदय प्रदेरा में उत्कलेश करते हैं, हृदय में कुछ भी श्वाशी नहीं होती । आमाशय हृदय के समीप है । उसका उपर का द्वार हार्दिक द्वार (Ardacritico) कहलाता है । आमाशय के अम्ल इस द्वार को श्लेष्मक बुद्ध उपर आ जाते हैं । इससे हृदय में पीडा मालूम होती है, वास्तव में नहीं होती । यह हृदयोत्कलेश अम्लपित्त, आमाशय का व्रण, अभिस्तरण, (Dilatation), जीर्णशोथ इन विकारों में तथा अपचन अजीर्ण / Dyspepsia में उत्पन्न होता है ।

वपश्रे मधुरता तन्द्रा इदयोद्वष्टन्नं भ्रमः ।

न चा त्रमभिकाङ्क्षेत् स्लानि तस्य चिन्दिशेत् ॥५३॥

(स्लानि—) मुह का स्वाद मीठा, तन्द्रा, हृदय में पीडा, भ्रम (धर आना) और अध सेवन में अनिच्छा (ये लक्षण नियमों हैं) उसमें स्लानि (है, ऐसा) समझना चाहिए ॥ ५३ ॥

वक्ष्य—इस श्लोक में तीव्र अपचन (Acute dyspepsia or gastritis) के लक्षण वर्णन किये हैं । यह विकृति प्राय अद्यदान या अत्यदान से उत्पन्न होती है । हृदयोत्कलेश—यह वही हृदयोत्कलेश है जो पीठे के श्लोक में वर्णित है । स्लानि—एक प्रकार की कमजोरी Depression या Ignor ।

आर्द्रचर्मा जलकं वाहि यो ना मभिमन्यते ।

तथा गुरु शिरोऽन्यथा गीर्णं तद्विनिदिशत् ॥ ५४ ॥

(गीरव—) कोई (अनुपय जब अपने) शरीर को गीले चमड़े से छिपे ला और तिर को अत्यन्त भारी समझता है (तब) वह गीरव जानना चाहिए ॥ ५४ ॥

मूर्च्छा पित्ततमगाया रज पिनातिलाद्भ्रम ।

तमोऽतकफात्तन्द्रा, निद्रा श्लामतमोभवा ॥ ५५ ॥

(मूर्च्छादि की संज्ञा—) मूर्च्छा पित्त और तम प्रधान होती है, भ्रम रज, पित्त और वात से होता है तन्द्रा तम और कफ से होती है और निद्रा कफ और तम से होती है ॥ ५५ ॥

वक्ष्य—इस श्लोक में मूर्च्छा, तन्द्रा, भ्रम और निद्रा इनकी संज्ञा संज्ञा वर्णन की है । मूर्च्छा—इसकी चरकोक संज्ञा पित्ते ३२३ सूत्र के वक्ष्य के अन्त में तामसी निद्रा की टिप्पणी में दी गई है । मूर्च्छा और संन्यास दोनों में भी सजाता होता है तथा दोनों की संज्ञा में बहुत कुछ समता होती है, इसलिए चरक में दोनों का विचार एक साथ किया गया है । संन्यास का विचार पीठ साम्यी निद्रा में तथा तन्द्रा में किया गया है । मूर्च्छा (यव जेवा फासिगसि) एकाएक आती है जो भी देर के टिप्प रहती है और प्रायः आप से आप टिक हो जाती है—नेत्र मूर्च्छाया हृदयेषु देहनात् ॥ २४५ ॥ २४५ के पश्चात् १ मर्दानो नोपेविता ॥ (चरक, सू. २४) । मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से मूर्च्छा आती है । दरपोक और वातिक

(Nervous) प्रकृति के जवान स्त्री-पुरुषों में भीति, दुःख, क्रोध विरह, आनन्द, भयानक दृश्य, दाखकर्म इत्यादि मानसिक उत्तेजनाओं से तथा अत्यन्त गरम और जनसंकुल स्थान में रहने से मूर्च्छा उत्पन्न (१ अध्याय के २४५ सूत्र का पक्ष्य भी देखो) होती है । इसके सिवाय अतिपरिग्रम शोयानिद्रा-काठीन दीर्घत्व, अनदान, मनो पर आघात (जैसे वृषण), आघात के कारण अत्यधिक रक्तवाय, शरीर के भीतरी अर्णों में (Internal) रक्तलाव, विविध प्रकार के शूल (जैसे घृक्षूल, पित्तामरी शूल, हृक्षूल इत्यादि), विविध प्रकार के रक्तच्यव या पाण्डुरोग, एकाएक उठकर बैठना या खड़े होना, उदरगुहागत भार कम होना (जैसे जलोदर में जल निकालने के बाद या प्रसूति के बाद होता है) और हृदय के विकार ये भी मूर्च्छा के कारण होते हैं । मस्तिष्क में रक्त की कमी निम्न तीन प्रकार से होती है । (१) रक्तलाव आन्वन्दीय या वाद्य । (२) वाहिनोन्मत्तवशात् (Vasomotor paralysis)—शरीर में स्वतन्त्र नाडी-

मण्डल द्वारा रक्तवाहिनियों का नियन्त्रण इस प्रकार से होता है कि जहाँ पर अधिक रक्त की आवश्यकता होती है वहाँ पर रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर अन्य स्थानों की संकुचित होती हैं । जैसे, भोजन के पश्चात् पचन-संस्थान में अधिक रक्त की आवश्यकता होती है तब उदर में रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर त्वचा तथा मस्तिष्क की संकुचित होती हैं जिससे सर्दी और सुस्ती मादम होती है । जब इस नियन्त्रणसंस्थान का घात, दीर्घत्व या अस्थैय हो जाता है तब आवश्यकतानुसार शरीर में रक्त का विभजन नहीं होता और रक्त शरीर में कहीं पर इकट्ठा होता है । मूर्च्छा प्रायः इस प्रकार की विकृति से होती है । (३) हृदय की कमजोरी—हृदय अपनी विकृति से या अन्य कारण से कमजोर होने पर मस्तिष्क में रक्तविक्षेप करने में असमर्थ होता है । इसमें भी मूर्च्छा आ जाती है । रक्तच्यवी, शोयानिद्रा, हृक्षणी, उपवासी, थके हुए इनमें उठने या खड़े होने पर जो मूर्च्छा आती है वह इस प्रकार से आती है । मानसिक शोधादि विकारों से तथा विविध भयकर या शृणाजनक दृश्य देखने पर जो मूर्च्छा आती है, वह दूस्ते प्रकार से आती है । इसमें मूर्च्छा का दर नहीं होता । वा मूर्च्छा हृदय की विकृति से आती है, उससे शूल्य होने का दर रहता है । नम—चक्रवर्णमवो गात्र भूमौ पतति सर्वदा । अमरोप श्वि द्यो दे रज पिनातिलाभव ॥ (साधवनिदान) । भ्रम (Vertigo) विकार हमेशा कान के कान्ताक (Labyrinth) की वा श्रुतिनाडी की तुल्यकामिया दाया (Vestibular nerve) की विकृति से या अनुमस्तिष्क (Cerebellum) की विकृति से होता है ।

गर्भस्य खलु रस नामिच्छा मारुताभाननिमिच्छा च परिचुद्धिर्भति ॥ ५६ ॥

भवति चात्र—

तस्यान्तरेण नामेस्तु ज्योति स्थ न भूय रमृतम् । तदाधमति घातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ ५७ ॥ ऊष्णसा सहितेष्वपि दारप्यस्य मारुत । ऊर्ध्वं तिर्यग्धस्ताश्च श्रोतास्यापि यथा तथा ॥ ५८ ॥

(गर्भवृद्धि के कारण—) सच पूछिए तो गर्भ की परिवृद्धि (माता के आहार) रस के कारण तथा वायु के आध्मान के कारण होती है ॥ ५६ ॥ यहाँ पर श्लोक हैं—गर्भ की नाभि के भीतर (उदरगुहा में) अग्नि का स्थान निश्चय से होता है । वायु (उस स्थान की) अग्नि को प्रध्मापन से प्रदीप्त करती है, जिससे शरीर परिवर्धित होता है ॥ ५७ ॥ (उस ज्योतिःस्थान की) अग्नि से संयुक्त हुई वायु (गर्भ के मांसल पिण्ड में प्रध्मापन से) जैसी जैसी ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में स्रोतसों को विदारण (करके उत्पन्न) करती है, वैसे वैसे (उस गर्भ की वृद्धि होती है) ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—प्रथम सूत्र में गर्भवृद्धि के दो कारण बताये हैं । इनमें माता का आहाररस गर्भवृद्धिरूप इमारत का मसाला है । जैसे, माता का शरीर उसके आहार पर पारवर्धित होता है वैसे ही उसके शरीर पर वाँदे की तरह लगा हुआ गर्भ उसी के आहाररस पर परिवर्धित होता है । इसलिए रस गर्भशरीर का उपादान कारण है । वायु और उसके साथ पित्त या तेज ये उस आहाररस से गर्भशरीर में विविध अंग, विविध धातु उत्पन्न करते हैं, इसलिए ये निमित्त कारण हैं । अन्तरेण नाभस्तु—उदर त्वचा के मध्य में जो निम्नमध्य भाग होता है और जहाँ पर गर्भ की नाल लगी रहती है वह स्थान नाभि (Umbilicus) है, उसके मध्य में । इसका मतलब यह नहीं है कि नाभि का जो एक या दो वर्ग इंच क्षेत्र होता है, उसमें ज्योतिःस्थान होता है । नाभि केवल नाड़ी के लिए प्रवेशद्वार है । नाभि के पीछे उदरगुहा में जहाँ पर यकृत, प्लीहा, हृदय, आमाशय इत्यादि पित्त के स्थान होते हैं वहाँ पर । ज्योतिःस्थान—अग्नि या तेज अर्थात् पित्त का स्थान । शरीर में उष्णता रूप जो शक्ति होती है, उसे अग्नि या ज्योति कहते हैं । इसका स्थान नाभि और हृदय के मध्य में होता है—ने व्यापिनोऽपि हृत्नाभ्योरधोमध्योर्ध्व-संश्रयाः । (अष्टांगहृदय) । तदाधमति इत्यादि—वायु ज्योतिःस्थान के पित्त को प्रज्वलित करती है । पित्त के द्वारा आहाररस का पचन होकर उसका परिवर्तन शरीर के विविध धातुओं में होकर गर्भ का पिण्ड बनता है । परन्तु पित्त या अग्नि स्वयं पक्षु है, वायु की सहायता के बिना वह कुछ नहीं कर सकता—नमीरणो नोदधिता भवेति व्यादिश्यते केन हुनाशनस्य । (कुमारसम्भव ३) । पित्तं पक्षु कफः पक्षुः पक्षुवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ (शाङ्गधर) । स्रोताग्नि—शरीरगत धातुओं का वृद्धि स्रोतसों के बिना नहीं हो सकती है । कुछ आचार्य, पुरुष को स्रोतसों का समुदाय मानते हैं—सर्वं हि भावा पुरुषे नान्तरंण स्रोतास्यभिनिर्वन्ते । अपि चैके स्रोतसामेव समुद्र्यं पुरुष-मिच्छन्ति ॥ (चरक, विमान ५) । अर्थात् समस्त शरीर में स्रोतसों की उत्पत्ति गर्भवृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है । ये स्रोतस वायु पित्त के साथ मिलकर गर्भ के मांसपिण्ड में प्रधमन के द्वारा उत्पन्न करती है । जैसे उष्णता से पिघले हुए काँचपिण्ड में वायु के प्रधमन से नालियाँ अवकाश इत्यादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही पित्त के द्वारा पाचित हुए गर्भपिण्ड में वायु के प्रधमन से ऊपर, नीचे, इधर-उधर स्रोतस बन जाते हैं । यथा तथा—गर्भवृद्धि की दृष्टि से यदि इस शब्द-समूह का विचार किया जाय और जो

विचार यहाँ पर सन्दर्भ के अनुसार अधिक प्रशस्त है तो इसका अर्थ निम्न प्रकार से होता है—अग्नियुक्त वायु गर्भ-शरीर में इधर उधर जैसी जैसी स्रोतसों का विदारण करती जाती है वैसे वैसे गर्भ की अधिकाधिक वृद्धि होती है । यदि स्रोतसों की उत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो इसका अर्थ निम्न प्रकार का होता है—अग्नि-युक्त वायु गर्भशरीर में इधर उधर प्रधमन के द्वारा जैसे विदार उत्पन्न करती है, वैसे छोटे मोटे स्रोतस उत्पन्न होते हैं । रसनिमित्ता मास्ताध्माननिमित्ता—गर्भ की वृद्धि नाभि-नाड़ी के द्वारा होती है—नास्तु खलु रसवहायां नाभ्यां गर्भ-नाभिनाड़ी प्रतिवद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति, तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति । यदि नाभिनाड़ी की रचना की दृष्टि से उपर्युक्त वचन का अर्थ करना हो तो रसनिमित्ता से सिरा (Vein) और मास्ताध्माननिमित्ता से धमनी (Artery) ये दोनों नाभिनाड़ी में होते हैं, यह स्पष्ट होता है । सर्वैप में नाभिनाड़ी में सिरा और धमनी दोनों ही होते हैं । दृष्टिश्च रोमपाश्च न चधन्ते कदाचन । ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥ ५६ ॥ शरीरे चीयमाणेऽपि वर्धते द्वाविमौ सदा । स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशावित् स्थितिः ॥ ५७ ॥

दृष्टि और रोमरूप कभी भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते । मनुष्यों के ये अंग अचल होते हैं, ऐसा धन्वन्तरि का मत है ॥ ५९ ॥ शरीर के चीण होते हुए भी नख और केश ये दोनों स्वभाव को कारण करके सदा वर्धते ही रहते हैं, ऐसी (वास्तविक) स्थिति है ॥ ६० ॥

वक्तव्य—दृष्टि—इसके तीन अर्थ हो सकते हैं । (१) दृग्गोचर क्षेत्र (Sight) । (२) दृष्टिमण्डल (Point)—कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिशिरादाः ॥ (३) दृष्टिवितान (Retina) जिसके ऊपर प्रकाशकिरण पड़ने से बालु वस्तु का ज्ञान होता है । रामकृपाः—Ha tibi oculus । न चधन्ते—जन्म के पश्चात् शरीर की वृद्धि होते हुए भी इनकी वृद्धि नहीं होती । ये अंग मोटाई में जन्मकालीन रहते हैं । जन्म के समय बालक की लम्बाई १५-२० इंच के लगभग होती है, जो जवानी में ४-५ गुना हो जाती है । वज़न ६ पौण्ड के करीब होता है, जो पच्चीसगुना अधिक हो जाता है । यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो दृष्टि और रोमरूप ध्रुव निश्चल मालूम होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा—स्वभावं कारणं कृत्वा । शरीर का लय होने पर भी शरीरगत नखों और केशों की वृद्धि हाना यह एक आश्चर्य-जनक बात मालूम होती है । अर्थात् इसका कारण स्वभाव के सिवा और कोई नहीं हो सकता ।

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक्, द्विशाः, समस्तैश्च ॥ ६१ ॥

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः ।

प्रकृतिर्जायते तेन तस्या श्रे लक्षणं शृणु ॥ ६२ ॥

(प्रकृति—) सात प्रकृतियाँ होती हैं—पृथक् पृथक् दोषों से (तीन), दो दोषों से (तीन) और सब दोषों

से (एक) ॥ ६१ ॥ शुक्र और शोणित के संयोग में जो दोष प्रबल होता है, उसी से (पुरुष की) प्रकृति उत्पन्न होती है ।
 मुहसे उसके लक्षण सुनो ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—दोषैः पृथक्—वातप्रकृति, पित्तप्रकृति और कफप्रकृति । दिग्—वातपित्तप्रकृति, वातकफप्रकृति और पित्तकफप्रकृति । समन्त—वातपित्तकफप्रकृति । त्रिदोषज प्रकृति में तीनों दोष समप्रबल होते हैं, इसलिए उसको समप्रकृति कहते हैं । और प्रकार की प्रकृतियों में एक या दो दोषों का प्राबल्य होता है इसलिए त्रिदोषज प्रकृति स्वस्थ, और एक या दो दोषज प्रकृति अस्वस्थ होती है—
 समपिचानिलकफा केचिद्भूमिमानवा । इदमनो वातला केचिपि पित्तला श्लेष्मलास्तथा ॥ वैशामनातुरा पूर्वं, वातलाया सदातुरा । दोषानुशयिवा शेषं देहप्रकृतिश्च्ये ॥ (चरक, सूत्र ७) । दोषज प्रकृति के मनुष्य यद्यपि देखने में स्वस्थ होते हैं, परन्तु उनको अपने स्वास्थ्य रक्षण के लिए परहेज रखना पड़ता है—शरीरा वातलादीना मुख्य स्वास्थ्य गान्ति, कि तदि उपचारस्वस्था एते इति दर्शयति । (चक्रपाणिदत्त) । इन दोषज प्रकृतियों में कफप्रकृति श्रेष्ठ, पित्तप्रकृति मध्यम, वातप्रकृति कनिष्ठ और त्रिदोषज प्रकृतियाँ निच होती हैं—
 तैश्च त्रिषु प्रकृतयो हीनमप्योत्तमा पृथक् । समभातु समस्ताद्बु श्रेष्ठानिवा त्रिदोषजा ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र १)

अब यहाँ पर सुधुताचार्य प्रकृति के सात भेद बताते हैं । इनमें से समप्रकृति के संबंध में कुछ आचार्यों का कथन है कि उस प्रकार की प्रकृति असम्भवनीय है क्योंकि मनुष्य का आहार हमेशा विषम होता है और आहार विषम होने के कारण शरीरगत त्रिदोष भी विषम हो जाते हैं—उत्र केचिराद्—न समवातपित्तश्लेष्मायो जन्तव सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वा मनुष्याणाम्, तस्माच्च वातप्रकृतय केचिद्, केचिद् पित्तप्रकृतय, केचिद् पुन श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति ॥ (चरक, विमान ६) । विषमाहारोपयोगित्वादि नय पुरुष-स्तुलाधारधूमिवाहारमुपशुंके, तेनावयमत्र वागदिश्वन्यनसोऽपि दोषो विकृतो भवतीति भाव ॥ (चक्रपाणिदत्तटीका) । इस पर आत्रेयजी का कथन है कि, मनुष्य स्वस्थ होते हैं और स्वास्थ्य त्रिदोषसाम्य के सिवा नहीं हो सकता । इसलिए समप्रकृति होती है, परंतु प्रकृति के जो अन्य भेद बतलाये गये हैं उनके लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं है क्योंकि दोषाधिक्य होने के कारण वह विकृति है । अब वातप्रकृति कहने की अपेक्षा वातल, पित्तल इत्यादि कहना उचित है—नचानुपपन्न कस्मात्कारणात् । समवातपित्तश्लेष्माय हारोगमिच्छन्ति भिन्न । यत प्रकृतिधा-रोधम्, आरोग्यार्था च भेदप्रवृत्ति सा चेत्कारणा, तस्मात् सन्ति समवातपित्तश्लेष्माय । न च तद् सन्ति वातप्रकृतय, श्लेष्मप्रकृतय, पित्तप्रकृतयो वा । तस्य तस्य विलोकोक्त्याभिव्याज, ना सा दोष प्रकृतिश्च्ये मनुष्याणाम्, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्वल्पमुपपद्यते, तस्मान्नेता प्रकृतय सन्ति, सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाश्च, अकृतिविस्थासु ते शेषा । ते शनातुरास्तस्मान्तीर्याणां विषमाम् ॥ (चरक, विमान ६) । शुक्रशोणितसंयोगे—प्रकृति की उत्पत्ति का यह एक कारण है । पुरुष का शुक्र और स्त्री का शोणित, जिनके संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है, वात-पित्तकफ-शुक्र होते हैं । प्रत्येक में दोषों की कुछ न्यूनाधिकता हो सकती है । जब दोनों का संयोग (Jusio) होता है

तब दोनों के भीतरी त्रिदोषों का भी संयोग होकर वात वात में, पित्त पित्त में, और कफ कफ में मिलकर गर्भ का त्रिदोष बनता है । इस त्रिदोष में संयोगवशा तीनों की जब समता होगी तब समप्रकृति बनेगी और गर्भ की वृद्धि तथा प्रकृति भी यथोचित और स्वस्थ रहेगी । परंतु इस प्रकार समता होना बहुत कठिन काम है, प्रायः कोई न कोई दोष प्रबल हो जाता है और उसी के अनुसार वातल, पित्तल इत्यादि प्रकृतियाँ बन जाती हैं । जब दो दोषों की प्रबलता होती है, तब त्रिदोषज प्रकृतियाँ बनती हैं । उक्त—यद् उक्तता स्यात् के पश्चात् उत्पन्न होने वाली है । माता में या पिता में एक आध दोष की उक्तता होने से बालक में उसकी उक्तता होना आवश्यक नहीं है । यदि पिता में वात की उक्तता है और माता में उसकी क्षीणता है तब बालक में न वात की उक्तता मिलेगी, न क्षीणता मिलेगी परंतु समता होगी । यदि माता में और पिता में वात की उक्तता हो तो बालक में वात की उक्तता माता पिता से भी अधिक होगी । सचेप में, गर्भ-प्रकृति में दोष की जो उक्तता होती है वह पिता माता के शुक्रशोणित-गत त्रिदोषों के पृथक् पृथक् परिमाण के जोड़ का परिणाम होता है । पाश्चात्य वैद्यक में माता पिता से प्राप्त रोगों के संबंध में इसी प्रकार की कल्पना होती है—The tendency to disease in one parent may either be neutralised by opposing characters in the other parent, or it may be reinforced if identical peculiarities exist on both sides Manual of Pathology by Green प्रकृति—त्रिदोषसाम्य (Normality) यह जो प्रकृति का अर्थ (साम्य प्रकृतिश्च्यते) है वह यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है । प्रकृति शरीरस्वरूपम् । (अष्टांगदत्त) । प्रकृतिमिति स्वभावम् । (चक्रपाणिदत्त) । स्वभाव या शरीर-स्वरूप यह अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत है । स्वभाव आदिवल-प्रवृत्त (Hereditary) होता है । प्रकृति के लिए अभेजी में Nature, character या Temperament कहते हैं । आयुर्वेद के अनुसार अभेजी में भी नेचर के Nervous (वातिक), Lymphatic (श्लेष्मल) और Sanguine (पित्तल) करके विभाग किये जाते हैं । यहाँ पर प्रकृति की उत्पत्ति का एक कारण दिया है । चरक और अष्टांग-हृदय में और भी कारण दिये हैं जिनका विचार भागे ७०-७२वें श्लोकों के वक्तव्य में किया जायगा ।

तत्र यः प्रजागरूकः शतद्वयी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्पनायौ गान्धर्वचित्तः स्तुतितकरचरणोऽप्यरूढ श्मश्रुतलक्षेणः क्रोधा दन्तनलखादी च भवति ॥६३॥

अधृतिरहृदसोऽहृदः हृत्तन्त्रः
 कृशापरुषो धमनीततः प्रलापी ।
 हृतगतविरटनोऽजबस्थितात्मा
 वियति च गच्छति सश्रमेण सुप्तः ॥६४॥
 अव्यवस्थितमतिभ्रलदधि-
 मन्दरत्नजनसचयमित्रः ।
 किंचिद्वेद्य विलपत्यनिन्द
 मारुतप्रतिरेप मनुष्यः ॥६५॥

वातिकाभ्राजगोमायुशशाखूपृशुनां तथा ।

गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥ ६६ ॥

(वातप्रकृति के लक्षण—) इन प्रकृतियों में जो प्रजा-
गरूक, शीत का द्वेष करने वाला, क्रूर, चोर (दूसरे का)
मत्सर करने वाला, असभ्य (अशिष्ट, गँवार), संगीतप्रेमी,
जिसके हाथ पैर फटे रहते हों ऐसा, जिसकी दाढ़ी (मुँछें)
नख और केश अत्यन्त रूक्ष हों ऐसा, तेजमिजाज, (क्रोध
से या नींद में) दाँतों को कटकटाने वाला तथा नाखूनों को
दाँतों से खाने वाला होता है ॥ ६३ ॥ धैर्यरहित, जिसकी मैत्री
दृढ़ (टिकाऊ और गाढ़ी) न हो ऐसा, कृतघ्न, क्रूर (पतले
शरीर का), रूक्ष शरीर का, जिसका शरीर (उभरी हुई)
सिराओं से भरा हो ऐसा, वातुली (चक्रवादी), तेजी से
चलने वाला, (हमेशा) भटकने वाला, चञ्चलचित्त और
सोने पर नींद ठीक न आने के कारण जो आकाश में संचार
करने के स्वप्न देखता है ॥ ६४ ॥ अस्थिरबुद्धि, चञ्चलदृष्टि,
जिसके पास सोना चाँदी रत्न अल्प हों तथा जिसके मित्र थोड़े
हों, जो असम्बद्ध ही कुछ चकता हो वह मनुष्य वातप्रकृति
होता है ॥ ६५ ॥ वातिक मनुष्य चक्रो, गीदड़, खरगोश,
चूहा, ऊँट, कुत्ता तथा गीध, कौआ, गधा इत्यादि के
स्वभाव के (समान स्वभाव में) कहे जाते हैं ॥ ६६ ॥

वक्तव्य—प्रजागरूकः—जिसको नींद बहुत कम आती
हो या जो नींद में भी बढ़ा सावधान होता हो। दुर्भगः—
धननोरमाकारः । (दरहण) । शीतद्वेषी—वायु स्वयं शीत
होने के कारण वातिक मनुष्य शीत से डरता है तथा वह
उसको सहन नहीं कर सकता—शैत्यात् शीतासहिष्णवः ।
(चरक, विमान ८) । गान्धर्वचित्तः—गन्धर्वों की कला जो
संगीत, उसमें दिलचस्पी लेने वाला । धमनीवतः—सिरासंतत-
गात्रः । धमनी शब्द यहाँ पर सिरा (Vein) के अर्थ में प्रयुक्त
हुवा है । आगे ९ वें अध्याय के दूसरे सूत्र का वक्तव्य भी
देखो । अन्यवस्थितमतिः—सारासार विचार करके पश्चात्
विनिश्चय करना यह बुद्धि का कार्य होता है । इस प्रकार
का विनिश्चयात्मक काम करने में जिसकी बुद्धि असमर्थ है,
ऐसा मनुष्य । अनूकैः—अनूकें स्वभावः स्वरूपवेदानुकरणम् ।
(अरुणदत्त) । वातिक मनुष्य के स्वभाव में अजादि
प्राणियों के स्वभावों का संमिश्रण मिलता है, यह अन्तिम
श्लोक का अभिप्राय है । इन लक्षणों के सिवाय अष्टांगहृदय
में निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—नास्तिक, अधिक भोजन
करने वाले, मधुराम्लपट्टण्यसाल्म्यकांक्षी । नेत्राणि वैषां खर-
धुराणि घृताल्पचारुणि घृतोपमानि । उन्मीलितानीव भवन्ति
सुष्ठे ॥ चरक में निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—रौक्ष्याद्वातला
रूपापचित्वाल्पशरीराः प्रततरुद्धन्नामसन्नसक्तज्वरस्वराः, शीघ्र-
त्वाच्छीघ्रसमारम्भोभविकाराः शीघ्रत्रासरागविरागाः श्रुतग्राहि-
षोऽल्पस्त्वयश्च, प्रायेणाल्पवलाश्वाल्पायुषश्वाल्पापत्याश्वाल्पसाधनाश्वा-
ल्पधनाश्च भवन्ति ॥ (विमान, अ० ८) ।

स्त्रेदने दुर्गन्धः पोतशियलाङ्गस्ताम्रनखनयनता-
लुजिह्वैष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो घलिपलितखालित्य-
जुष्टो बहुभुगुणद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यमवलो
मध्यमायुश्च भवति ॥ ६७ ॥

मेधावी निपुणमतिविगृह्य वक्ता

तेजस्वी समितिपु दुर्निवारवीर्यः ।

सुप्तः सन् कनकपलाशक्रणिकारान्
संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ॥ ६८ ॥
न भयात् प्रणमेदन्तेष्वमृदुः

प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः ।

भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः

स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥ ६९ ॥

धुजङ्गोलुकगन्धर्वयक्षमाजरीवानरैः ।

व्याघ्रर्दनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥ ७० ॥

(पित्तप्रकृति के लक्षण—) जिसे बहुत पसीना आता
हो; जिसके शरीर से दुर्गंध आती हो; जिसका शरीर
पीला और शिथिल हो; जिसके नख, नेत्र, तारु, जीभ,
होंठ, हृथेलियाँ और तलुवे ताम्रवर्ण हों; क्रूर, शरीर पर
झुरियाँ हों; बाल सफेद हों और गिर जाते हों; बहुत खाने
वाला; गरमी से द्वेष करने वाला; जो जल्दी ही क्रुद्ध
और शान्त हो जाता हो; मध्यम बल का और मध्यम
आयु वाला (मनुष्य पित्त प्रकृति का) होता है ॥ ६७ ॥ उत्तम
धारणाशक्ति का, कुशाग्रबुद्धि का, प्रतिवादी का पत्त
तोड़कर बोलने वाला, तेजस्वी, संग्राम में दुर्दमन वीर्य का
(पित्त प्रकृति का मनुष्य), सोने पर सुवर्ण, पलाश,
कर्णिकार, अग्नि, विजली, उल्कापात को देखता है ॥ ६८ ॥
भय दिखाने से द्रवता नहीं, नम्र न होने वालों के लिए
कठोर वृत्ति का, नम्र होने वालों के लिए सान्त्वना देने की
इच्छा करने वाला, जो हमेशा (फोड़े, फुन्सियाँ, मुखपाक
इत्यादि के कारण) पीड़ितमुख होता है वह संसार में
पित्तप्रकृति का होता है ॥ ६९ ॥ पैत्तिक मनुष्य (स्वभाव में)
सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, विह्वी, वन्दर, शेर, रीछ और
नेवला के स्वभाव के समान होते हैं ॥ ७० ॥

वक्तव्य—रुद्धयुक्—पित्ताधिक्य के कारण अधिक

खाने वाला—तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णानयः प्रभूताशनपानाः । (चरक) ।
उष्णद्वेषी—उष्ण सहन न करने वाला—श्रीष्ण्यात् पित्तला
भवनयुष्णासहाः । (चरक) । दुर्गन्धः—विस्त्रवात् प्रभूत-
पूतिकचास्यशिरःशरीरगन्धाः । (चरक) । मेधावी—मेधा—
अयधारणाशक्ति से युक्त—मेधाधारणेन परीक्षेत (चरक) ।
विगृह्य वक्ता—विगृह्य संभाषणप्रकृति के अनुसार सभा-समि-
तियों में भाषण करने वाला । विगृह्यसंभाषक अपने पत्त
का स्थापन और मण्डन तथा प्रतिपत्त का दूषण और
खण्डन, छल, जाति, निग्रह स्थान इन उपायों के द्वारा इस
प्रकार करता है कि प्रतिवादी हार जाता है । निग्रह के कुछ
उपाय—श्रुतहीन महता सुश्रुपठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीन पुनः
काष्ठशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमावद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्य-
दण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनैकविधेनानेकाथवाचिना, वचन-
शक्तिहीनमर्थोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपेण, अविशारदमपहंपणेन, कोपनमा-
यासनेन, मोहं विज्ञासनेन, अनवहितं नियमनेनेति । एवमेतैरुपायैः
परमवरमभिभवेच्छीघ्रम् ॥ (चरक, विमान ८) । व्यथितास्य-
गतिः—श्रीष्ण्यादुष्णमुलाः प्रभूतविष्ण्व्यक्तिलालपित्ताः । (चरक) ।
समितिपु—समिति का अर्थ यहाँ पर सभा नहीं है,
यह अर्थ ऊपर विगृह्य वक्ता में आ गया है । यहाँ
पर समिति से युद्ध संग्राम अर्थ लेना चाहिए—अथ

सपरे, मो सभाया मन्त्रिणि । (अमरकोश) । द्विनिवारणं—
 प्रारब्ध कार्य की दृष्टता देखकर भी उससे वाज न आना
 यह वीर्य का अर्थ है—तीर्थयात्रादृष्टकरावैषं वाहृत्तिमंनन ।
 (चन्द्रस्त टीका, चरक, विमान ४१८) । समर में शत्रु
 का अधिक बल देखने पर या युद्ध प्रारंभ होने के पश्चात्
 अपनी हार होने का समय आने पर घोरज न छोड़कर
 लड़ने वाला, तथा प्रमग आने पर भर मित्र के लिए तैयार
 होने वाला । इन लक्षणों के सिवा अष्टागहृदय में पित्त
 प्रकृति के निम्न लक्षण मिलते हैं—रजिनमाल्यविवेपनमण्डन-
 सुचरितं सुधिरात्रिन्यत्मनः ॥ नारीगमनमिमनोऽप्यमुक्तकाम ।
 धर्मदेवी । हनुनि विगानि चनानि चैषा तदल्पपचमापि हिम
 प्रियापि । शोभेन मयेन रवेद्य भामा राग ब्रजन्वयानु किलोचनानि ॥

दूर्वेन्द्रीररिखिशार्द्रास्त्रिकशरकाण्डानामन्य
 तमर्याः सुमगः मिश्रदर्शनो मधुरप्रियः स्तन्नो
 धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो वलवांश्चिरग्राही हृद
 वैरश्च भवति ॥५२॥

शङ्खाना स्थिरकुटितालिति नीलकेशो
 लम्भे वान् जलदमृदङ्गासिंहयोप ।

सुतः सन् सकमलहंससञ्चयाकान्
 सपश्येदपि च जलाशयान्मनोशान् ॥५३॥

रत्नान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
 स्निग्धश्चरिः सत्सगुणोपपन्नः ।

पल्लेदात्मो मानयिता गुरुणां
 देवो यत्नासत्रप्रतिमनुष्यः ॥ ५३ ॥

हृदशास्त्रमतिः स्थिरमिच्छनः
 परिगण्य चिरान् प्रदाति वटु ।

परिनिश्चितान्यपदः सतत
 गुरुमास्फुञ्च भवेत्स सदा ॥ ५४ ॥

प्रमदकृन्द्वरारौ सिंहायवगजगोवृषैः ।
 तार्यहंससमात्कः श्लेऽमप्रहनयो नराः ॥५५॥

(श्लेष्मप्रकृति के गुण—) दूर्वा, नील कमल, तरवार,
 कोमल नीम की पत्ती, सरकण्डा इनमें से किसी एक के
 वर्ण का, सुडोल, मिश्रदर्शन, मधुर पदार्थों को पसंद करने
 वाला, हृनश, घोर, सदन करने वाला, लालच से रहित,
 बलवान् और वैर को अधिक काल तक पकड़ने वाला होता
 है ॥५१॥ मन्द नेत्रों का; स्थिर ध्रुपुत्राने बहुत और काले
 केश वाला, धनतंत्र भेद्य, सुदृढ़ और सिंह के (समान
 गमरी) ध्वनि वाला (श्लेष्मप्रकृति का मनुष्य) सोने
 पर धमज हंस चक्राक युक्त सुन्दर सरोवरों को (स्वप्न में)
 देखना है ॥५२॥ नेत्रों के प्रान्त भागों में लाली होने वाला,
 (स्वप्राय के कारण क्याप्रमाण शरीर की वृद्धि होने से)
 सुदीर्घ शरीर का, स्निग्धशक्ति वाला, सत्सगुणयुक्त, क्लेश
 सदन करने वाला, (माया पिता गुरु तथा अन्य धर्मोद्भूत,
 ज्ञानवृद्ध) आदरणीय मनुष्यों का मान करने वाला मनुष्य
 कृष्णप्रकृति का जानना चाहिये ॥५३॥ यह (कृष्णप्रकृति
 का मनुष्य) शाश्वत में हृद विचार करने वाला, मिश्र और
 पत्र को स्थिर रखने वाला, बहुत देर तक सोच विचार

करके बहुत दान देने वाला, हमेशा निश्चित घात करने
 वाला तथा गुरुओं का सम्मान करने वाला होता है ॥५४॥
 कृष्णप्रकृति के मनुष्य ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, परुण, मिह,
 शेषा, हाथी, गौ, बैल, गरुड और हंस इनके समान
 स्वभाव में होते हैं ॥५५॥

वक्ष्य—निश्चिन्—तरवार । यह शस्त्र या उपलक्षण
 है । जिसके वर्ण में शस्त्र का तेज हो, ऐसा । इन्द्र—उग्र
 जानातीति कृष्ण । विरप्रादी इद्वैर्य—ये दोनों मिलकर
 अर्थ करना चाहिये—पन्ध्र न बहति इदं चिरं च वैरः ।
 (अष्टागहृदय) । One who can forgive but cannot
 forgive. अतिनालकेय—अति नील का विशेषण न समस्तकर
 केश का स्वतन्त्र विशेषण माना जाय—ननालकेय ।
 जिमके केश सख्या में बहुत और नीलापन रखे काले हैं ।
 अष्टागहृदय में श्लेष्मप्रकृति के निम्न लक्षण अधिक मिलते
 हैं—रहोरोत्तरिसमुक्तयुवध्वज । भमाभा वदनि न निन्दुर च
 जातु । सनदिरिन्द्रद्रुवयान । स्थुमिमाप्रभियोगान् विनीगे न
 चात्वेऽप्यतिरोदन । विक वषाय कडुशोषरूपमल्प स मुञ्चने
 बलवान्स्थायि । दीर्घदर्शी । शशो नंभार स्थूलवृ धमावातार्यो
 निद्राऽपीष्यत् । (शारीर ३) । शत्रुपान्नाश भवति ।
 (चरक) ।

द्वयोर्वा तिस्रूणां वाऽपि प्रकृतीनां न लक्षणैः ।
 क्षारवा संसर्गजा चैव प्रकृतीभिर्निर्दिशेत् ॥ ५६ ॥

(मिश्रप्रकृति—) दो या तीनों प्रकृतियों के लक्षणों
 से (युक्त) प्रकृतियों को माहदम करके चैव (उन्हें)
 संसर्गज (मिश्र) निर्दिष्ट करे ॥५६॥

प्रकोपो वाऽन्यभाजो वा द्वयो वा नोपजायते ।
 प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥५७॥

(प्रकृति की निश्चलता—) प्रकृतियों का प्रकोप
 अन्यभाभाव या चय स्वभाव से नहीं होता, परन्तु आयुष्य
 समाप्त होने जाने की प्रकृति का होता है ॥५७॥

वक्ष्य—प्रकोप—तरतमभेद से वृद्धि । जैसे, अना
 किसी की प्रकृति साधारण वातिक हो ता तीव्र वातिक होना ।
 अन्यभावा—विषमप्रकृति का परतन्त्र समप्रकृति में,
 वातप्रकृति का पित्त या कफप्रकृति में, एकदोषज प्रकृति का
 द्विदोषज प्रकृति में, इस प्रकार प्रकृतिन्तर होना । पर-
 तन्त्रतमभेद से कम होना । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि
 गर्भारंभ के समय प्रिदायों के निम्न संचि म गर्भ की
 प्रकृति बल जाती है, वही संचि जन्म से श्रुत्यु के
 समय तक बना रहता है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं
 होता और जब प्रकृति में फर्क होता है, तब यह
 अरिष्ट मरणसूचक चिह्न माना जाता है—गोर्वापीयवस्य
 प्रकृतेश्चिकुत्तमवत् । वशीहृद समग्रन व्यामश्रुत्तु निरोध मे ॥
 (सुश्रुत, सूत्र ३०) । फारोग्य होवे वस्य प्रकृति
 परित्यजेत । सखसा सखसा वस्य श्रुत्परी कीर्णम् ॥ (चरक,
 इन्द्रिय ३) । प्रकृति स्वभावर प्रतीकान्तरं कि वा प्र
 मानवका रणप्रकृत्यवर्णिका ॥ (चक्रवर्तिनियुक्त) । अर्थात् नियम
 मनुष्य की जो प्रकृति होती है, वह जन्म से श्रुत्यु तक
 एक-ही रहती है, उसमें परिवर्तन नहीं होता—मदः ।

वातप्रकृतिर्न भवति, वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिर्न भवति समप्रकृतिर्वा ॥ (चक्रपाणि, चरक, सूत्र ७-४०) । अत्र प्रश्न यह उद्यता है कि जिनके आधार पर मनुष्यों की प्रकृति बनती है, वे त्रिदोष तथा जिनके आधार पर मनुष्यों का स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य निर्भर होता है वे त्रिदोष, एक है या भिन्न हैं ? इसका उत्तर यह है कि प्रकृतिदर्शक और स्वास्थ्यदर्शक त्रिदोष स्वरूप की दृष्टि से यद्यपि एक हैं तथापि निम्न कारणों से शरीर में इन दो अवस्थाओं को दर्शाने वाले त्रिदोष स्वतन्त्र होते हैं । (१) प्रकृतिगत त्रिदोष माता-पिता से मनुष्य में आते हैं, अर्थात् ये त्रिदोष आदिवलप्रवृत्त (Hereditary) होते हैं । स्वास्थ्यदर्शक त्रिदोष जन्म के पश्चात् सेवन किये हुए आहार-विहार से उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये त्रिदोष जन्मोत्तर होते हैं । (२) प्रकृति के वातादि दोष गर्भारम्भ से मृत्यु के समय तक स्थिर रहते हैं । इनके स्वभाव में कोई भेद नहीं होता, जिसके कारण प्रकृति भी जीवनभर एक-सी रहती है । स्वास्थ्यदर्शक वातादि दोष आहार-विहार, दिनमान और अचमान के कारण अमेशा बदलते रहते हैं—वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् । (अष्टांगहृदय, सू० १) एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात् ॥ (सुश्रुत, सू० ६) । (३) स्वास्थ्यदर्शक दोषों की क्षयवृद्धि होकर रोग उत्पन्न होते हैं । परन्तु इनकी क्षयवृद्धि का परिणाम प्रकृतिगत दोषों पर नहीं दिखाई देता । जैसे, वात का चय किसी वातल प्रकृति के शरीर में होने पर उसमें वातक्षय के लक्षण दिखाई देते हैं, परन्तु उसकी वातल प्रकृति सम-प्रकृति नहीं होती । (४) जब किसी की प्रकृति में एक दोष का आधिक्य होता है, तब उसका स्वास्थ्य कुछ खराब होता है—वातलाघाः सदातुराः । और इनको अपना स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए जीवनभर उस दोष की दृष्टि से आहार-विहार रखकर रहना पड़ता है । परन्तु जब आहार-विहार के हीनमित्यातियोग से शरीरगत एकाध दोष वर्धित होकर रोग उत्पन्न होता है, तब उसके क्षयार्थ आहारविहारौषधियों का उचित उपयोग कुछ काल तक करने से धातुसाम्य अर्थात् आरोग्य प्राप्त हो जाता है और पश्चात् उस आहारविहारौषधि सेवन की आवश्यकता नहीं होती । (५) प्रकृतिगत वातादि दोष शरीर के उपादान कारण नहीं होते, परन्तु स्वास्थ्यजनक त्रिदोष शरीर के उपादान कारण होते हैं । चक्रपाणि चरक की टीका में इन सब बातों का समारोप निम्न प्रकार से करते हैं—‘पोषाणु-शायिना उल्लस्यत्रातादिभावितोऽव्यभिचारिणीति यावत् । देह-प्रकृतिर्देहस्वास्थ्यमिति यावत् । यत्तेनैतेषां वातलादीनां मुख्यं स्वास्थ्यं नास्ति, किन्तु हिं उपचारस्वस्था एत इति दर्शयति । ननु गर्भादीत्यनेन शुक्रदोषोपित्तजीवानां संसर्गं यथाभूता वातादयः समा विकृता वा तथाभूतैव प्रकृतिर्भवति, सा च प्रकृतिर्यावज्जीव-मनुवर्तते रिष्टं विना । तत्र यदा समप्रकृतेर्वातप्रकृतेर्वाऽऽक्षेपकादि-र्वातविकारो भवति तदा वातस्य प्रकृतिभूतस्याधिक्यं भवत्येव, यदा च वातप्रकृतेः पित्तविकारो भवति, तदा वातप्रकृतेरन्वधाभावः पित्त-प्रकृतिवत् भवति, यदा तु समप्रकृतेरन्यतरदोषचयो भवति प्राकृतरव-कर्मदानिलक्षणस्तदासौ प्रकृतिक्षयो भवति । यदुक्तं दोषक्षयलक्षणे-कर्मणः प्राकृतादानिर्बुद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम् । इति । अत्रोच्यते—

प्रकृतिसमानरोगोत्पत्तौ न प्रकृतिभूतस्य वृद्धिः, किन्तु हिं हेत्वन्तरजनि-तस्य वातादेस्तत्र विकारकारित्वम् । प्रकृतिभूतस्तु दोषस्तत्रोपदर्शको भवति । यदुक्तम्—कालदूषप्रकृतिर्दोषतुल्यो हि सन्ततम् । निष्प्रत्य-नीकः कुरुते तस्माच्छ्रेयः सुदुःसहः ॥ इति । वातप्रकृतेस्तु पित्त-विकारोत्पत्तौ वातः प्रकृतिभूतस्तथैव करचरणस्फुटनादिकं कुर्वन्नास्ते, न तस्यागन्तुना पित्तविकारेण किञ्चित् क्रियते, वातादीनां तु स्वमानात्क्षयः प्राकृतकर्मदानिलक्षणो न शुक्रशोणितसंसर्गकालजस्य प्रकृतिभूतस्य दोषस्य बीजभूतस्य क्षयमावहतीति न प्रकृतिभूतदोष-क्षयः । यदि वा, प्रकृतेः प्रकोपान्वधाभावक्षयान् न भवन्तीति प्रकृति-त्वनेति द्रुमः । तेन समप्रकृतिर्वातप्रकृतिर्न भवति, वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिर्न भवति समप्रकृतिर्वा; विकारावस्था तु हीनाधिकवात-त्वादिलक्षणा भवतीत्यर्थः ॥ (चरक, सूत्र ७।४०) ।

विषजातो यथा कीटो न विषेण विषयते । तद्वत्प्रकृतयो मर्यं शक्नुवन्ति न वाधितम् ॥ ६८ ॥

विष से उत्पन्न हुआ काड़ा जैसे (अपने शरीरगत) विष से वाधायुक्त नहीं होता, वैसे ही (शरीरगत) प्रकृतियाँ मनुष्य को वाधाएँ नहीं पहुँचा सकतीं ॥ ७८ ॥

वक्तव्य—विषजातः—विषकृमिजातः । विषैले कृमि से उत्पन्न हुआ अर्थात् विषैला कीड़ा—विषेयैव विषकृमेः । (अष्टांगहृदय, सूत्र १) । कुछ लोग अश्ववेद्यक के निम्न-श्लोकाधार पर—सर्वान् प्राणभृतो हन्ति नून कायगतं विषम् । अस्मिंश्चापि समुपपन्ना दृश्यन्ते कृमयो यथा । तथाच विषमो दोषः प्रकृतिं नातिवाधते ॥ विषजात का अर्थ ‘विषमय द्रव्य में उत्पन्न हुआ’ (Bred in a poisonous medium) ऐसा करते हैं, परन्तु यह अर्थ अनुचित है । विषयते—विषपित्तयुक्त या शारीरिक मानसिक पीडायुक्त होना । इससे मृत्यु का अर्थ अभिप्रेत नहीं है । न वाधितम्—महर्षि सुश्रुत के अनुसार दोषोत्कटता होने पर भी सातों प्रकृतियाँ (विकृतियाँ नहीं) होती हैं । इसलिए इस पदसमूह का अर्थ ‘कुछ भी पीड़ाएँ नहीं कर सकतीं’ ऐसा किया गया है । परन्तु चरकाचार्य समत्रिदोष प्रकृति के सिवा सब को आतुर समझते हैं—‘लाघाः सदातुराः । दोषानु-शयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ (चरक, सूत्र ७) । इस वचन के आधार पर इस पदसमूह का अर्थ ‘किञ्चित् या ईषत् (जरा-सी) पीडा देते हैं’ ऐसा अर्थ किया जा सकता है और इच्छणाचार्य भी अपनी टीका में ऐसा ही अर्थ करते हैं—‘वातादिहेतुजाः प्राणिकाया वातादिजेन स्फुटितकरचणा-दिकेन दोषेण स्वेदप्रौर्गन्थादिना च किञ्चिदेव वाध्यन्ते ॥ इस श्लोक का यह अर्थ, प्रकृतिगत दोषों की उत्कटता का जन्म के पश्चात् स्वास्थ्य पर क्या परिणाम होता है, इस दृष्टि से किया गया है । इस श्लोक का और एक अर्थ, गर्भारंभ पर प्रकृतिगत दोषोत्कटता का क्या परिणाम होता है, इस दृष्टि से किया जा सकता है और वही अर्थ वाग्भटाचार्य, अरुण-दत्त, इन्दु, चक्रपाणिदत्त अपने ग्रंथ में करते हैं । उसका अभिप्राय यह है । ‘विकारो धातुवैषम्य साम्यं प्रकृतिरुच्यते’ यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है, और इसी के अनुसार केवल सम-त्रिदोष शुक्रशोणित संयोग गर्भ में परिणत हो सकता है । और दोषोत्कट संयोग वैकारिक होने के कारण गर्भ में परिणत नहीं हो सकता । परन्तु यहाँ पर जो सात

प्रकार की प्रकृतियों वर्णन की गई हैं, उनमें छः प्रकृतियों में दोषोक्तता होती है। इसका अर्थ यह है कि शुक्र-दोषित संयोग में दोषोक्तता होने पर भी उसका वैचारिक परिणाम गर्भ पर बहुत कम होता है। आयुवदमिद्वान्त्वितोषी यह कार्य कैसे होता है, इसके समझने के लिए विपक्रमि का दृष्टान्त इस श्लोक में दिया गया है। इस दृष्टान्त के अनुसार भी दोषोक्तता में गर्भोत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न दो मत मिलते हैं।

(१) इसका अभिप्राय यह है कि सर्प, वृश्चिकदि विषयम प्राणियों के बीच में विषादा होने पर भी उनकी उत्पत्ति में कोई विकृति नहीं उत्पन्न होती, वैसे ही माता-पिता के शुक्रदोषित संयोग में उनकी प्रकृति से आये हुए दोषों की उल्लङ्घना से गर्भ की वृद्धि पर कुछ भी घातक परिणाम नहीं होता, केवल दोषाधिक्य के अनुसार गर्भ की प्रकृति बनती है, क्योंकि वर्य वर्य सागवय वर्य बीजे बीजमाग उपतमो भवति, तस्य तस्याद्वाध्ववस्य विदितिरूप जायते। (चरक, शा० ३) यह भी आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है—गयो तु अ यथैवाशङ्क्य समारधाणि। यथा—ननु, स्वभावतः शुक्र बीज वर्णना वा समाधातु गर्भ निपादयति, अनितादिदोषदुष्ट तु गर्भजननाय न समर्थमिति शुक्रोद्योगिशुक्रावुक्तम्, तलभमुक्तयेन दोषेण प्रकृतिरिति? उच्यते—न हि सर्वत्र बीजं दूषितं किं तर्हि बीजावयवो दूषितं, न च अवयवगतदोषेण गर्भप्रतिबन्धो जायते—मूपादिर्गर्भस्य दण्डनात्, तस्मात् एवाशो बीजस्य दुष्टो भवति तत्प्रायस्यैव गमावयस्य विकृतिरभावो वा भवति, यथा दृष्ट्या रम्भके बीजमागे दुष्टे जाल्यो गर्भो भवति न तु गर्भ एव न भवति, तथा दोषादये बीजभागे दुष्टे तत्प्रायस्यैव गर्भशरीरमागस्य सम भातोरुत्पत्त्या विकृति स्फुटितकरपर्यादितद्वया भवति न तु गर्भव्यापान। तदुक्तम्—शुद्ध स्वभावकमस्या वातायैर्दुष्टमशन। दृष्ट बीजार्थद्वीजं तत्र प्रकृतिस्तरम्।' इति। (सुश्रुत, ब्रह्मण टीका, शा० ४-६३)।

(२) इसका अभिप्राय यह है कि दोषोक्तता गर्भजन्म के समय से याने सहज होने के कारण घातक नहीं होती, जैसे विपक्रमि का विष सहज होने के कारण उसके घातक नहीं होता है—न च वाच्य प्रकृतिभूताना वातादीना दूषणात्मज्ञाना वष न शरीरवाषवत्सम्, सहजावत्सेन तथाविषयिनाशयिकारणमुत्पादते। तदुक्तं सुश्रुते—विषजानो यथा बीजो न विषेण विषयते। तद्वद प्रकृतिभिर्वसत्व्यात् स्वाज वाच्यते।' इति। (चक्रपाणि, चरक, सूत्र ४-४०)। इन दो मतों के सिवा और दो मत मिलते हैं जिनका संबंध इस श्लोक के दृष्टान्त के साथ नहीं है, परन्तु जो दोषोक्तता होने पर भी गर्भोत्पत्ति का समर्थन करते हैं। (१) ब्रह्मण का मत है कि दोषोक्तता प्राकृत और वैज्ञानिक करके दो प्रकार की होती है। प्रकृति की उत्पत्ति में प्राकृत उल्लङ्घना होती है इसलिये गर्भ का घात नहीं होता—दिग्धिवा श्लक्टा वातादय प्राक्का वैकुण्ठा, तत्र प्राक्का सप्तविधाया प्रकृतेर्दुष्ट भूता शरीरकजन्मान वैकुण्ठावर्गव्यापानका। शा० ४।१३। वाग्भटाचार्य भी अष्टांगसंग्रह (शा० ८) में अन्य आचार्यों का यही मत उद्धृत करते हैं। (२) चक्रपाणिदत्त लिखते हैं कि उल्लङ्घना हीन मध्योत्तम करके तीन प्रकार की होती है। प्रकृति के समय जो उल्लङ्घना होती है वह हीन होने के कारण गर्भ की घातक नहीं होती—वातादिप्रयो गणानेव हीन मध्योत्तमानं नानाशक्तिनात् प्रबला वातादयो विनाशयन्ति, हीनास्तु विकृतिमात्र जनयन्ति। (चरक, सू० ४-४०)।

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकों केचिदाहुः
परमदहनतोयैः कौतिलास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च तामान्
शुचिरथ चीरज्यो नामसः खैर्महद्भिः ॥७६॥

(पांच भौतिक प्रकृतियों—) कई आचार्य आयुर्वेद में मनुष्यों की प्रकृति को भौतिक (भी) कहते हैं। वायु, अग्नि और जल से तीन (प्रकृतियाँ होती हैं), परन्तु ये (ऊपर वात, पित्त और कफ प्रकृति में) वर्णित हो चुकी हैं। (वेष जो दो प्रकृतियाँ उस पर वर्णित नहीं हुई हैं उनमें से) पार्थिव (प्रकृति का मनुष्य) मत्तवृत्त और बड़े शरीर का तथा समशील होता है और नामस (प्रकृति का मनुष्य) पवित्र (आचरण का), दीर्घायु (और मुखनासादि) बड़े छिद्रों का होता है ॥ ७६ ॥

यत्कर्म—भौतिकों—आकाशादि पंच महाभूतों की उल्लङ्घना के अनुसार पार्थिव, नामस, आयु इत्यादि प्रकार की। यहाँ पर केवल पाँच प्रकार वर्णन किये हैं, परन्तु दोषों के अनुसार इनकी संमिश्र प्रकृतियाँ हो सकती हैं—अन्ये तु सा नैवयो दिशुश्चिद्व्यतुर्निर्वा भूते प्रत्ययमाणा वृथा सजाते इति वदन्ति—एकैकेन वदन्ति पंच, दश तु द्वाभ्यां, त्रिभिस्तावनी भूतेषु पञ्च चतुर्भिरेव मिश्रस्त्वेका समस्तैरपि। एकत्रिंशद्वय भूमिस्तिलस्वाहाभियवर्षान्तकाशैश्च प्रकृतींशुषैरपि पुनः प्राहुः स्य सतादपदा इति। (ब्रह्मण)।

त्रिदोष और पंच महाभूतों के अनुसार प्रकृतियों का निवरण करके अथ त्रिगुणों के अनुसार प्रकृतियों का विवरण किया जाता है। त्रिगुणों में सब उत्तम, रजस मध्यम और तम हीन होता है—उत्र शुद्धम्—उत्र स्वम्—अधोवर्गमास्थान वल्ल्याशशवात्। राजस सदोषमात्मानं रोषाशशवात्। तामसमपि सदोषमात्पात मोदाशशवात् ॥ (चरक, शा० ४)। त्रिगुणों के अनुसार भी प्रकृति के अनेक भेद होते हैं। पीछे प्रथम अध्याय के १९ वें सूत्र में त्रिगुणों के जो धर्म बताये गये हैं वे ही धर्म तद्गुणविशिष्टप्रकृति में मिलते हैं और उनके संसर्ग से मिश्रगुण प्रकृतियाँ बन जाती हैं। इसलिये यहाँ पर उनका वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ पर केवल सात्त्विकादि प्रकृति के कुछ विशेष प्रकार (Types) वर्णन किये जा रहे हैं—नेत्रा तु त्रयाणामपि सत्त्वानामिकेहस्य वेदाग्र सपरिसद्वेषे य वरतमयोःपञ्चशरीरौनिविशेनेत्यथामो यासुविधा नत्वात्पच। तस्मात् कविचित् सत्त्वभेदानुक्रमनिर्देशेन निदर्शं नाथमनुव्याख्यायाम्। (चरक, शा० ४)। अब प्रथम सात्त्विक प्रकृति के सात प्रकार वर्णन करते हैं।

शौचमास्तिन्यमभ्यासो वेदेयुः शुरुपूजनम्।
प्रियातिथिस्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥ ८० ॥

(ब्रह्मकाय के लक्षण—) पवित्रता, आस्तिकवृत्ति, वेदों का अभ्यास करना शुरुजनों का पूजन, अतिथियों का सत्कार करना और यज्ञ करना ये ब्रह्मकाय के लक्षण हैं ॥ ८० ॥

माहात्म्य शौर्यमाशा च सतत शान्तवृत्तिता।
भृत्याना भरथ चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥ ८१ ॥

(माहेन्द्रकाय के लक्षण—) धृष्टपन, शूरता, आज्ञा (करने क स्वभाव), हमेशा शाश्वतानुसार आचरण करने की वृत्ति, नौकरों का पालनपोषण (करने का शील) ये

माहेन्द्रकाय के लक्षण हैं ॥ ८१ ॥

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैतृल्यं हरिकेशता ।

प्रियवादिस्वमित्प्रेतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥ ८२ ॥

(वासुकाय के लक्षण—) ठंडे पदार्थों के सेवन में प्रेम, सहन करने की शक्ति, नेत्रों का भूरापन, केश कपिल वर्ण के होना और मधुरभाषण करने का स्वभाव ये वासुकाय के लक्षण हैं ॥ ८२ ॥

मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचया ।

महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं फायलक्षणम् ॥ ८३ ॥

(कौबेरकाय के लक्षण—) मध्यस्थता (हर एक काम में पक्षविरहित Impartial) होकर बोलना या काम करना, किं वा—हर एक बात में मध्यम मार्ग (golden mean) का अवलम्बन करने का स्वभाव, किं वा—जहाँ पर आवश्यक हो वहाँ पर मध्यस्थ (arbiator) का काम करने का स्वभाव, किं वा—सुखदुःखादि द्वन्द्वों से दूर (indiffer-ent) रहने का स्वभाव), सहिष्णुता, धनोपार्जन और संचय (करने का स्वभाव), महाप्रसवशक्तिसंपन्नता (किसी काम) के पढ़ने पर उसमें सफलता प्राप्त किये वगैरे न छोड़ना, किं वा—(अधिक प्रजोत्पत्ति की शक्ति होना) ये कौबेरकाय के लक्षण हैं ॥ ८३ ॥

गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता ।

विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥ ८४ ॥

(गान्धर्वकाय के लक्षण—) सुगन्धी पुष्पमाला (तथा तेल, इत्र इत्यादि) का शौक, नाच, गाना बजाना इत्यादि में प्रवीणता और भ्रमणशीलता ये गान्धर्व काय के लक्षण हैं ॥ ८४ ॥

प्राप्तकारो दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः ।

रागमोहमदद्वेषैर्जीर्जो याम्यसत्त्ववान् ॥ ८५ ॥

(याम्यकाय के लक्षण—) युक्त कार्य करने वाला, अश्रान्त उत्साह का (of indefatigable energy), निर्भय, (उत्तम) स्मरणशक्ति का, स्वच्छ रहने वाला, राग, मोह, मद, द्वेष इन से विमुक्त (मनुष्य) याम्यसत्त्व का होता है ॥ ८५ ॥

जपव्रतब्रह्मचर्यद्वोमाध्ययनसेविनश्च ।

ज्ञानविज्ञानसंपन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥ ८६ ॥

(ऋषिकाय के लक्षण—) जप, व्रत, ब्रह्मचर्य, होम (अग्निहोत्र), अध्ययन (स्वाध्याय) सेवन करने वाले और आत्मज्ञान और विज्ञान से संपन्न मनुष्य को ऋषिसत्त्व जानते हैं ॥ ८६ ॥

सतैते सात्त्विकाः काया, राजसांस्तु निबोध मे ॥ ८७ ॥

ये (ब्रह्मकाय से लेकर ऋषिकाय तक) सात काय सात्त्विक होते हैं । अब राजसकाय मुझसे समझ लो ॥ ८७ ॥

वक्तव्य—सात्त्विक—इन सातों में शुद्धता और कल्याणांश होने के कारण ये सात्त्विक कहलाते हैं । इनमें ब्राह्मकाय सर्वश्रेष्ठ है—इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विधात् कल्याणांशत्वात् ; तत्संयोगात् ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ (चरक)

ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं खण्डमसूयकम् ।

एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ॥ ८८ ॥

(आसुरकाय के लक्षण—) ऐश्वर्ययुक्त, भयङ्कर, शूर,

कोपी, असूयक, अकेला खाने वाला, और औदरिक इस प्रकार के सत्त्व को आसुर जानना चाहिए ॥ ८८ ॥

वक्तव्य—असूयक—दूसरे का उत्कर्ष सहन न करने का जिसका स्वभाव हो ऐसा; किं वा—दूसरे के गुणों पर भी दोषारोप करने वाला—असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि । (अमर-कोश) । एकाशी—औरों को न देकर अकेला खाने वाला । औदरिक—जिस के मन में खाने के सिवा और कोई विषय होता ही नहीं, अर्थात् पेट या घस्मर—सर्वौदरिकस्याभ्यव-हार्थमेव विषयः । (विक्रमोर्वशीय ३) ।

तीक्ष्णप्रायासिनं भीरुं खण्डं मायान्वितं तथा ।

विहाराहारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥ ८९ ॥

(सर्पकाय के लक्षण—) तीक्ष्ण (घातक), परिश्रमी, (अक्रुद्धावस्था में) डरपोक, क्रोधी, कपटी, विहार और आहार में चपल मनुष्य को सर्पसत्त्व जानते हैं ॥ ८९ ॥

वक्तव्य—भीरु—अक्रुद्धावस्था में डरपोक और क्रुद्धावस्था में शूर—जुद्धारमक्रुद्धभीरुम् । (चरक) । अक्रुद्धावस्था में सर्प की भीरुता और क्रुद्धावस्था में शूरता सुप्रसिद्ध है—आद्ये च महदालस्यं सर्पं चैव महद्भयम् । पिशुने चैव दारिद्र्यं तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ (सुभाषित) । ज्वलति चलितेन्ध-नोऽग्निर्विक्रान्तः पन्नगः फणां कुरुते । प्रायः स्वमहिमानं क्रोधात्प्रति-पद्यते जन्तुः ॥ (शाकुन्तल) । विहाराहारचपलम्—इस के बदले 'विहाराचारचपलम्' ऐसा भी पाठभेद है । यह पाठभेद अच्छा है । सर्प के चारे में आचार का कोई संबंध नहीं होता । आहार का संबंध जरूर होता है । साँप घूमने फिरने में तथा खाने में बढ़ा तेज होता है, इस में कोई संदेह नहीं है । चरक में भी सर्पकाय के वर्णन में 'विहाराहारपर' ऐसा शब्द-प्रयोग मिलता है ।

प्रवृद्धकामसेवी चाप्यज्ञाहार एव च ।

अमर्षणोऽनवस्थायं शाकुनं कायलक्षणम् ॥ ९० ॥

(शाकुनकायलक्षण—) अत्यन्त मैथुनपरायण, निरन्तर खाने वाला, असहिष्णु, चंचल चित्त वाला ये पक्षिकाय के लक्षण हैं ॥ ९० ॥

वक्तव्य—कामपरायणता, उदरपरायणता और अस-हिष्णुता इन गुणों का पता चिड़ियों या कवतूरों के ऊपर ध्यान देने से खट से लग जाता है । भर्तृहरि लिखते हैं—सिंहो बली द्विरदशकुरमांसभोजो संवत्सरेण रतिमिति किलकवारम् । पारावतः खरशिलाकण्णमात्रभोजी कामी भवत्यनुदिनं वद कोऽन हेतुः ॥ यहाँ पर पारावतशब्द व्यापकदृष्टि से पक्षिजाति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है ।

एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मवाह्यता ।

शंशमात्मस्त्वश्चापि राजसं कायलक्षणम् ॥ ९१ ॥

(राजसकाय के लक्षण—) एकान्तग्राहिता, भीषणता, असूया, अधर्माचरण, अत्यन्त आत्मश्लाघा ये राजसकाय के लक्षण हैं ॥ ९१ ॥

वक्तव्य—एकान्तग्राहिता—शत्रु अकेला होने पर उस पर आक्रमण करके पकड़ने का स्वभाव, किंवा किसी विषय का पूर्ण विचार न करके अपने मत को पकड़कर रहने का स्वभाव । असूया—परोत्कर्ष असहिष्णुता, किंवा परगुण

असहिष्णुता—अध्यातु दोषारोपो गुणेष्वपि । (अमरकोश) ।

उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा ।

खीलोलुपतर्यैर्नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ॥ ६२ ॥

(पैशाचकाय के लक्षण—) उच्छिष्टाहार सेवन (का स्वभाव), क्रोध, साहस करने का शौक, खीलपटता, निर्लज्जता ये पैशाचकाय के लक्षण हैं ॥ १२ ॥

वक्तव्य—भाहमप्रियता—चौर्य, हत्या हत्यादि पातक कर्म करने का शौक ।

असंनिभागतसं दुःखशीलमसुयुक्तम् ।

लोलुप चाप्यदातार प्रेतसस्य विदुर्नरम् ॥ ६३ ॥

(प्रेतभाव के लक्षण—) विभाग न करने वाला, आलसी, दुःख करने वाला, असुया करने वाला, लोभी, दान न करने वाला, (ऐसे) मनुष्य को प्रेतसस्य समझते हैं ॥ १३ ॥

वक्तव्य—असंनिभागत—जो अपनी कोई चीज दूसरे को देने के लिए तैयार नहीं होता है, ऐसा । प्रेत्—पिशाच जाति की एक योनि ।

पडते राजसाः कायाः, तामसांस्तु निबोध मे ॥ ६४ ॥

ये (आमुर से प्रेतकाय तक) राजस काय हैं । अब तामसकाय मुझसे श्रवण करो ॥ १४ ॥

दुर्मन्वसं मन्दा च स्वप्ने मैथुननित्यता ।

निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशावा गुणाः ॥ ६५ ॥

(पशुकाय के लक्षण—) बुद्धिहीनता, (बुद्धि की) मन्दा (किंवा कुटिलता), नींद में नित्य कामुक स्वप्न-दर्शन और निराकरिष्णुता ये पाशावी (काय के) गुण हैं ॥ १५ ॥

वक्तव्य—निराकरिष्णुता—दूसरे के रास्ते में वित्त उत्पन्न करने की प्रवृत्ति, किंवा दूसरे की चीज छीन लेने की प्रवृत्ति, किंवा स्तुतिहीनता ।

अनवस्थितता मौर्ष्यं भीरुत्वं सलिलाधिता ।

परस्परामिमर्द्धं मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥ ६६ ॥

(मत्स्यकाय के लक्षण—) चञ्चलता, मूर्खता, भीरुता, जल से डर, आपस में लटना-झगडना ये मत्स्यसत्त्व के लक्षण हैं ॥ १६ ॥

एकस्थानरतिनित्यमाहारे केयले रतः ।

घनस्पत्यो नरः सत्त्वद्रमकामार्थजतः ॥ ६७ ॥

(वानस्यकाय के लक्षण—) एक स्थान में रहने की इच्छा करने वाला, नित्य खाने पीने में लगा हुआ, सत्त्व, धर्म, काम और अर्थ इनसे विरहित मनुष्य वानस्यकाय होता है ॥ १७ ॥

वक्तव्य—मत्स्यमत्स्यमत्स्यमि—सत्त्वगुण से मोक्ष मिलता है—उद्धर्तुं गच्छति मत्स्यम् । (गीता) । इसलिए सत्त्व शब्द मोक्षपर समझना उचित है । सत्त्वादिर्वर्जित का अतिप्राय यह है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये जो मनुष्यों के चार पुरुषार्थ होते हैं इनको प्राप्त करने की आकांक्षा जिसमें न हो, ऐसा मनुष्य ।

इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता ये तामसाभत्या ।

कायानां प्रवृत्तीर्मात्रां स्वयंरूपां त्रियां चरेत् ॥ ६८ ॥

इस तरह ये तीन प्रकार के तामसकाय भी वर्णन किये हैं । (रोगियों में उपर्युक्त) कायों की प्रवृत्ति को (लक्षणों को) देखकर उसके अनुसार (वैद्य) चिकित्सा करे ॥ १८ ॥

महाप्रवृत्तयस्त्वेता रजः सत्त्वतमः कृता ।

प्रोक्तालक्षणतः सम्यग्भिषक् तांश्च विभावयेत् ॥ ६९ ॥

इति सुश्रुतमहिताया शारीरस्थाने गर्भन्यासरण शारीर

नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

सत्त्व, रज और तमोगुण से बनी हुई ये महाप्रवृत्तियाँ लक्षणों के साथ भली भाँति वर्णन की गई हैं । (चिकित्सा के समय) वैद्य इन (प्रवृत्तियों) का सूक्ष्मता से विचार (करके चिकित्सा) करे ॥ १९ ॥

इति भास्वरधर्मणा नोविदारमनेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य

दोषिनाया सुश्रुतमाषाटीनां शारीरस्थाने गर्भन्यासरण

नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः शारीरसत्त्वयाचारुणं शारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद शारीरसत्त्वव्याकरण नामक शारीर का विवरण करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य—शारीरसत्त्वव्याकरण—शारीर के संपूर्ण अंग-प्रत्यंगों की सत्त्वा का विवरण या विस्तार जिसमें किया गया है, वह अध्याय । प्रथम चार और अन्तिम पाँच अध्याय शारीरस्थान के अध्याय होने के कारण यद्यपि शारीरिक कहलाते हैं तथापि आधुनिक परिभाषा में जिसको शारीर-विज्ञान या अनाटोमी (Anatomy) कहते हैं उसका विवरण चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भिक भाग को छोड़कर और किसी अध्याय में नहीं किया गया है । अनाटोमी का योगार्थ है विच्छेदन, और स्वार्थ है शवविच्छेदन से प्राप्त हुआ शरीर के अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान । इस अध्याय में शवविच्छेदन (Dissection) का महत्त्व वर्णन करके उसके आधार पर प्राप्त हुआ शरीर के अंग-प्रत्यंगों का विवरण मिलता है, इसलिए शारीरसत्त्वव्याकरण का अंग्रेजी उल्लेख Anatomy of the body कर सकते हैं । इन अध्याय में वर्णन किया हुआ मर्त्यशरीर का ज्ञान अत्यन्त मूर्च्छित और एक दृष्टि से अपर्याप्त है, इसमें कोई सम्यह नहीं । इसका एक कारण यह है कि आयुर्वेदज्ञ ऋषि उस समय के ज्ञानविज्ञान की स्थिति के अनुसार शरीर के तत्व, आत्मा, मन इत्यादि अवान्तर विषयों को शारीरविज्ञान में अधिक महत्त्व देते थे । चरक-संहिता के शारीरस्थान के प्रारम्भिक छः अध्यायों में इन्हीं विषयों का विवरण किया गया है । सुश्रुतसंहिता के शारीर की स्थिति अनाटोमी की दृष्टि से चरक से बहुत कुछ अर्थात् है । इसलिए सुश्रुत शारीर में श्रेष्ठ (शरीरें सुश्रुत श्रेष्ठ) माना गया है । दूसरा कारण यह है कि प्राचीन काल में ग्रंथ स्वरूप में लिखने की पद्धति थी और अधिक ज्ञान देने से प्राप्त किया जाता था । भारतपर्यन्त में जब शवविच्छेदन की प्रथा जारी थी, तब आयुर्वेद के विद्यार्थियों का शारीर का ज्ञान इस ग्रंथ को पढ़कर प्राप्त हुए शारीरज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक और अर्थात् था । शवविच्छेदन की परंपरा नष्ट होने पर शारीरज्ञान भी कम हुआ तथा ग्रंथ में शारीरज्ञानभाव के कारण कई दोष भी प्रविष्ट हो गये ।

इसलिए इन ग्रंथों के आधार पर प्राचीन काल के शारीर ज्ञान की इयत्ता निश्चित करना उचित नहीं है ।

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसं-
मूर्च्छितं 'गर्भं' इत्युच्यते । तं चेतनावस्थितं वायुर्वि-
भजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथ्वी
संहन्ति, आकाशं विवर्धयति; एवं विवर्धितः स
यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकणनितम्बादिभिरङ्गैरुपे-
तस्तदा 'शरीरम्' इति संज्ञां लभते । तच्च पडङ्गं—
शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, पष्ठं शिर इति ॥२॥

(गर्भ और शरीर—) गर्भाशय में स्थित, आत्मा, प्रकृति और विकारों से युक्त शुक्र और शोणित 'गर्भ' कहलाता है । चेतनायुक्त उस गर्भ में वायु विभजन पैदा करती है, तेज पाचन करता है, जल क्लिन्नता पदा करता है, पृथिवी कठिनता करती है और आकाश आकारवृद्धि करता है । इस प्रकार परिवर्धित हुआ वह गर्भ जब हाथ, पाँव, जिह्वा, कान, नितम्ब इत्यादि अंगों से युक्त होता है तब 'शरीर' संज्ञा प्राप्त करता है । वह शरीर पडंग होता है । जैसे—चार शाखाएँ, पाँचवाँ धड़ और छठा शिर ॥२॥

वक्तव्य—आत्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितम्—पुरुष, अष्ट प्रकृ-
तियाँ और षोडश विकार इनसे अभिव्याप्त । वायुर्विभजति
इत्यादि—बालाग्रदशसहस्रांशसम सूक्ष्म जीव शरीर में
कैसे परिवर्धित होता है, इसकी प्रक्रिया इस सूत्र में
वर्णन की गई है । इसकी टीका में द्रवणाचार्य लिखते
हैं—तं वायुर्विभजति दोषातुमलाङ्गप्रत्यङ्गविभागेन, तेज एनं
पचति रूपाद्रूपान्तरैवावस्थानं प्रापयति, आपः क्लेदयन्ति, विभाग-
परिणामकारिणोरनिलानलयोः शोषणेऽप्यार्द्रतां जनयन्ति, पृथिवी
संहन्ति, अग्निः क्लिन्नमपि कठिनं मूर्ध्निमत् करोति, आकाशं विवर्धयति
अनिलानलविदारितस्रोतस्रोतसामाध्मापनेनोर्ध्वमपस्वित्यं विवर्धितमवकाश-
दानेन विवर्धयति ॥ आधुनिक परिभाषा के अनुसार इस प्रक्रिया
का वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं—संयुक्त शुक्रशो-
णित प्रारम्भ में केवल एक कोशा होती है । इस कोशा
से विभाजन के (Segmentation) द्वारा अनन्त कोशाओं
का मनुष्यशरीर बनता है । इनसे पोषक स्तर (Tropho-
blast), बाह्यस्तर (Ectoderm), मध्यस्तर (Mesode-
rm), अन्तःस्तर (Entoderm) ये स्तर उत्पन्न होते हैं ।
यह विभाजन का कार्य वायु के द्वारा होता है । पश्चात् इन
तीन स्तरों से शरीर के विविध प्रत्यंग और धातु बनते
हैं । यह कार्य तेज करता है । इनमें जल का संचय लसिका
की उत्पत्ति और आर्द्रता जल के द्वारा उत्पन्न होती है ।
उत्पन्न होने वाले विविध धातुओं और प्रत्यंगों में कठिनता
या मूर्त्तता पृथिवी के द्वारा होती है और आशय, स्रोत,
वाहिनियाँ इत्यादि शरीर के भीतर जो अवकाश या रिक्त
स्थान होते हैं वे आकाश के कारण होते हैं । हस्तपाद
इत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि जब गर्भ में इन
विविध अंगों की उत्पत्ति होकर उसको मनुष्य का आकार
प्राप्त होता है, तब । शिर—श्रीवा के साथ शिर । गर्भ और
शरीर—गर्भाधान से प्रसूति के समय तक गर्भाशय में
जो जीव होता है, उसके लिए वृद्धि के अनुसार ये दो
नाम दिये गये हैं । गर्भ तब तक कहना चाहिए, जब

तक उसमें मनुष्य का आकार प्राप्त न हुआ हो । इसकी
मर्यादा तीन महीने की होती है—तृतीये हस्तपादशिरसां
पत्र पिण्डका निर्वर्तनेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति । (सुश्रुत,
शा० ३) । इसका अभिप्राय यह है कि तीन महीने तक
गर्भाशयस्थ जीव को 'गर्भ' कहना चाहिए और चौथे
महीने से उसको 'शरीर' कहना चाहिए । व्यवहार में इस
परिभाषा का उपयोग बहुत कम होता है । प्रायः सभी
अवस्थाओं के लिए गर्भशब्द का ही प्रयोग होता है ।
अंग्रेजी में भी इस प्रकार एम्ब्रियो (Embryo) और फीटस
(Fetus) करके दो शब्द प्रचलित हैं, जिनमें एम्ब्रियो तीन
महीने तक और फीटस चौथे महीने से पश्चात् प्रयुक्त होता
है—The term foetus is usually applied to the
embryo after it has acquired something of its
final shape, that is, at about the third month,
Introduction to sexual physiology by Marshall.
जिस लक्षण के ऊपर एम्ब्रियो फीटस कहलाता है, उसी
लक्षण के आधार पर आयुर्वेद में गर्भ शरीर कहलाता है,
यह चिन्त्य है । इसलिए गर्भ का पर्याय एम्ब्रियो और
शरीर का पर्याय फीटस समझना उचित है ।

अतः परं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदरपृष्ठना-
भिललाटनासाचिवुकवस्तिग्रावा इत्येता एकैकाः ।
कर्णनेत्रभ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्फिग्जानु-
वाहुरुप्रभृतयो द्वे द्वे, विशतिरङ्गुलयः, श्रोतांसि
वक्ष्यमाणानि, एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥३॥

(प्रत्यङ्गविभाग—) इसके पश्चात् प्रत्यङ्ग कहे जाते
हैं—सिर, उदर, पीठ, नाभि, माथा, ठोड़ी, मूत्राशय,
श्रीवा ये एक एक; कान, आँख, भौंह, कनपटी, कन्धा, गाल,
काँख, स्तन, घृणण, पार्श्व, नितम्ब, घुटना, बाहु, जाँघ
इत्यादि दो दो; बीस अंगुलियाँ; आगे कहे जाने वाले स्रोतस
यह प्रत्यङ्गों का विभाग कहा गया है ॥३॥

वक्तव्य—प्रत्यङ्ग—दूसरे सूत्र में शरीर के छः बड़े
विभाग या अंग बताये गये थे । इस सूत्र में उन अंगों के
छोटे छोटे अवयव बताये जा रहे हैं । इसलिए ये छोटे
अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं—अवयवमवयवं प्रति योऽवयवस्तत्प्र-
त्यङ्गमुच्यते । (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय, शारीर ३) । ये
सब प्रत्यङ्ग शरीर बाह्यभागस्थ विभाग हैं, इसको ध्यान में
रखना चाहिए । इनसे आभ्यन्तरीय अङ्गों का बोध नहीं
होता है । अंग्रेजी में इस प्रकार के प्रत्यङ्ग Surface regions
कहलाते हैं । मस्तक—सिर का उच्च मण्डलाकार भाग, जो
टोप या पगड़ी से ढक जाता है Roof of the head ।
उदर—पेट (Stomach) के सामने का पृष्ठभाग Gastric
region । नाभि—नाभि के आसपास का कुछ विभाग
Umbilical region । ललाट—आँखों के ऊपर का केश-
मर्यादा तक का केशविरहित भाग Forehead जहाँ पर
प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य लिखा रहता है, ऐसी कल्पना है—
लिखितमपि ललाटे प्रोक्ष्यतुं कः समर्थः ॥ (हितोपदेश) ।
वस्ति—वस्तिप्रदेश Umbilical region । स्तन—स्तन,
प्रदेश Mammary region । पार्श्व—पार्श्वप्रदेश Lateral
regions । स्फिग्—नितम्बप्रदेश Gluteal region । श्रोतांसि
वक्ष्यमाणानि—स्रोतस का अर्थ नौवें अध्यायोक्त प्राणोदकान्

वाही स्रोतस किया जाता है। परन्तु यह अर्ध टोक नहीं है यहाँ पर प्रयत्नों में केवल शरीर के बाह्य भाग पर स्थित प्रयत्नों का ही उल्लेख है, भीतरी प्रयत्नों का नहीं। इसलिए ये वक्ष्यमाण स्रोतस इस प्रकार के ही होने चाहिए। इस अध्याय में आगे वीर्य सूत्र में श्रवण नयनादि वहिर्मुख स्रोतस वर्णन किये हैं। ये स्रोतस यहाँ पर अभिप्रेत हैं। स्रोतस का अर्थ द्वार या छिद्र भी होता है—नोनानि तानि विद्राणि। (राजनिघण्टु)। इसके अनुसार 'स्रोतासि वक्ष्यमाणानि' का अर्थ 'आगे इमी अध्याय के नीचे सूत्र में कहे जाने वाले शरीर के श्रवणनयनादि नवद्वार' ऐसा करना चाहिए।

तस्य पुनः संस्पृश्यानि—त्वचः फला घातयो मला दोषा यदृत्प्लीहानौ कुक्कुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कां स्रोतांसि कण्डरा जालानि वृर्चां रज्जवः सेव्यन्यः सद्वाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्ध्यः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

किर उत (प्रत्यङ्गविभाग) के गगनीय (अवयव ये हैं) त्वचाएँ, कलाएँ, धातु, मल, दोष, यकृत, झीड़ा, कुण्डुस, उण्डुक, हृदय, आशय, अन्त्र, घृऊ, स्रोतस, कण्डरा, जाल, कूर्चा, रज्जु, सेवनी, संघात, सीमन्त, अस्थियाँ, सन्धियाँ, घ्रातु, पेशियाँ, मर्म, सिराएँ, धमनियाँ और योगवह स्रोतसः॥

वक्ष्य—पिछले सूत्र में शरीर के पृष्ठभाग के विविध विभाग बतलाये गये हैं। इस सूत्र में इन विभागों के पिछे शरीर के भीतर जो अवयव मिलते हैं, उनकी गणना कर रहे हैं। पिछले सूत्र में वर्णित प्रयत्नों को बाहर से देख सकते हैं, परन्तु इस सूत्रगत अवयवों को देखने के लिए शवच्छेदन की आवश्यकता होती है। नस्य—प्रत्यङ्गविभागस्य। सस्येय—गणना करने योग्य अर्थात् नामनिर्देश करने योग्य या महत्व के योग्य। इनके अतिरिक्त शरीर में और भी अवयव हो सकते हैं। स्रोतस—इस सूत्र में स्रोतस् दो वार आये हैं। प्रथम स्रोतस् शब्द श्रवणनयनादि वहिर्मुख स्रोतसों के लिए और दूसरा योगवाही स्रोतस शब्द भीर्य अध्यायोक्त प्राणोदकवाही स्रोतसों के लिए है। योगवहानि—योगात् द्रव्यात् वहनि इति योगवहानि। योग का अर्थ यहाँ पर द्रव्य है—योगोऽर्थात्संप्राप्तौ सगन्धिभोजनव्याक्तुः। वयु स्थैर्धं प्रयोग च विष्कम्भारिपु मेघत्रे। विप्रव्यधानके द्रव्योपायमद्रनेवपि ॥ (मेदिनी)। रसरकादि धातुरूप द्रव्यों का वहन स्रोतस् करते हैं, इसलिए योगवह कहलाते हैं—ज्ञानामि खतु परि यामसापयमानाना धातुनामिवाहानि भवत्यदनाथेनः। (चरक, विमान ५)। पं० हरिप्रपञ्जी योगवाही स्रोतसों का अंग्रेजी पर्याय Autonomic (Sympathe 10) nervous system देते हैं। आगे के सूत्र में इन स्रोतसों की सख्या बार्हस बतलाई है। उससे तथा सन्दर्भ से ये धमनी व्याकरण अध्याय में वर्णित स्रोतस् हैं, इसमें सन्देह नहीं है। यहा पर जो प्राणवहादि स्रोतस् वर्णन किये हैं उनका स्वतन्त्र मादोसस्थान (Autonomic nervous system) से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उन स्रोतसों के जो अंग्रेजी पर्याय रक्षयोगसागर में दिये हैं, उनमें भी कोई नाडीसस्थान का पर्याय नहीं मिलता। इसलिए योगवह स्रोतसों से स्वतन्त्र

नाडीसस्थान समझना अत्युक्तिपुक्त मादम होता है।

त्वचः सत, कलाः सत, आशयाः सत, घातयः सत, सत सिरासतानि, पञ्च पेयीशतानि, नव स्नायुशतानि, शीष्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे सन्धि-शते, सतोत्तरे मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (पोडश कण्डराः, पोडश जालानि, पट वृर्चाः, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेव्यन्यः, चतदश सद्वाताः, चतदश सीमन्ताः, द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि) चेति न्मासः ॥ ५ ॥

(आभ्यन्तरीय अवयवों की सख्या—) त्वचाएँ सात, कलाएँ सात, आशय सात, घातु सात, सिराएँ सात सौ, पेशियाँ पाँच सौ, स्नायु नौ सौ, अस्थियाँ तीन सौ, सन्धियाँ दो सौ दस, मर्म एक सौ सात, धमनियाँ चौबीस, दोष तीन, मल तीन, स्रोतस् नौ, (कण्डराएँ सोलह, जालक सोलह, वृर्चम् छ, रज्जु चार, सेवनी सात, संघात चौदह, सीमन्त चौदह, योगवह स्रोतस् बार्हस, और अर्धो दो) इस प्रकार सङ्गित गणना है ॥ ५ ॥

वक्ष्य—पिछले सूत्र में गणना करने योग्य अवयवों के नाम देकर इस सूत्र में उनकी सख्या बताई गई है। त्रिात्रवि—स्थूल (Large) और सूद्र (Small) आन्त्र (Intestine)। आयुर्वेद में आन्त्र शब्द एकवचन और अनेक वचन में आता है। दो प्रकार का आन्त्र मादम होने पर भी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं होता है। अनेकवचन में जत्र आन्त्र का प्रयोग होता है, तब प्रायः दोनों प्रकार की अर्धो उससे अभिप्रेत होती हैं, और जब एकवचन में होता है तब सूद्रात्र या स्थूलात्र या आन्त्र का एक देश (A portion) अभिप्रेत होता है। जैसे—प्रतिममन्त्रं निष्का-न प्रोश्य दाप्यथा भवेत् ॥ (सुश्रु, वि० १)।

विस्तारोऽत ऊर्ध्व—त्वचोऽभिहितः फला घातयो मला दोषा यदृत्प्लीहानौ कुक्कुस उण्डुको हृदयं वृक्कां च ॥ ६ ॥

अब इसके पश्चात् (उन त्वचादि अवयवों का) विस्तार (पूर्वक वर्णन किया जाता है—) त्वचा, कला, धातु, मल, दोष, यकृत, झीड़ा, कुण्डुस, उण्डुक, हृदय और वृक्क इतका वर्णन हो चुका है ॥ ६ ॥

वक्ष्य—दोष, धातु और मल इनका विवरण सूत्र स्थान के १४, १५ और २१ वे अध्याय में तथा वायु का विवरण निदान के प्रथम अध्याय में किया गया है। शोष अवयवों का विवरण पिछले अध्याय में किया गया है। जिन्का विवरण बहुत सफेप से हुआ है तथा दिष्णगी में विस्तार नहीं किया गया है, उनका विवरण यहा पर किया जाता है। यदृत्प्लीहानौ—आयुर्वेद में इन दो अवयवों का प्रतिष्ठ सवन्ध माना गया है और एक इष्टि से यह टोक भी है। इसलिए ये दोनों अवयव एक साथ द्विवचन में (जैसे, यहाँ पर है) या साथ साथ (जैसे, यदृत्प्लीहा च चरक, शा० ७)। किंवा नामियदृत्प्लीहान्युदप्रपृणीनि नाम्नाणि। सुश्रुत, शा० ३।) निर्दिष्ट किये जाते हैं। यदृत्—शरीर भर में यह त्व से बड़ी ग्रथि है। इसका औसत भार

पौने दो सेर के लगभग होता है। शरीर भार के साथ इसका प्रमाण १ : : ४० होता है। गर्भावस्था में तथा नवजात बालक में यह ग्रंथि सापेक्षतया बहुत बड़ी होती है, जिससे शरीरभार के साथ इसका प्रमाण १ : : २० होता है। इसका रंग कुछ लालपन और भूरापन लिये काला (Dark reddish brown) होता है। इसके भार और रंग के कारण यकृत 'कालगण्ड' कहलाता है। यकृत उदरगुहा के ऊपर के भाग में महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के नीचे पसलियों की आड़ में रहता है। इसका अधिकांश दाहिनी ओर और काँड़ी प्रदेश में रहता है। शेष भाग दाईं ओर अमाशयिक प्रदेश में उसके सामने रहता है। यकृत के ऊपर, परन्तु महाप्राचीरा पेशी से विभक्त, दाहिना फुफ्फुस और हृदय रहता है। स्वस्थावस्था में सब का सब यकृत पसलियों की आड़ में रहता है। विकारों के कारण जब उसका आकार बढ़ता है, तब वह पसलियों के नीचे उतर आता है और स्पर्शलभ्य (Palpable) होता है। यकृत के पाँच पृष्ठ (Surface) होते हैं। दाहिना, पार्श्विक, ऊपर का, पीछे का और सामने का। ये पृष्ठ कुछ उभरे हुए होते हैं तथा महाप्राचीरा पेशी से संबद्ध रहते हैं। नीचे का पृष्ठ उत्खात (Unoven) और निम्नमध्य होता है। इसमें पाँच खात (गडहे Posno) होते हैं। एक में पित्ताशय (Gall-bladder) होता है, एक में यकृत का गोल बन्धन (Round ligament) होता है, एक में अधरा महासिरा होती है, एक में गर्भावस्था की नाभिनाड़ी का सूखा भाग (Ligamentum venosum) रहता है और एक में, जो यकृत द्वार (Porta hepatis) कहलाता है, यकृत की धमनी, सिरा, नाड़ियाँ (Nerves) और पित्तवाहिनी रहती हैं। यकृत का यह पृष्ठ अमाशय, घृक, अधिवृक और ग्रहणी इन अंगों के साथ संबंधित रहता है। अतः उनके दबाव से यकृत के इस पृष्ठभाग पर उनके निशान मिलते हैं। यकृत में चार पिण्ड (Lobes) होते हैं। इनमें दक्षिणपिण्ड सब से मोटा, वाम पिण्ड उससे छोटा और दूसरे दो पिण्ड अत्यन्त छोटे होते हैं। यकृत के कार्य—यकृत शरीर का एक बहुत महत्त्व का अवयव है। इसके द्वारा शरीर में अनेक कार्य होते हैं, जिनमें निम्न महत्त्व के हैं। (१) रक्तोत्पत्ति—गर्भावस्था में यकृत रक्तोत्पत्ति के लिए महत्त्व का अवयव होता है और इसी कारण से गर्भावस्था में उसका सापेक्ष तोल जन्मोत्तर काल की अपेक्षा दुगुना अधिक होता है। जन्म के पश्चात् यद्यपि रक्तोत्पत्ति में यकृत साधारण स्थिति में भाग नहीं लेता तथापि आवश्यकता पड़ने पर वह कार्य भी यकृत करता है। इसके सिवाय यह भी सिद्ध हुआ है कि जन्मोत्तर काल में उसमें रक्तोत्पत्ति के लिए आवश्यक एक पदार्थ संचित होता है। इस लिए सब प्रकार के रक्तक्षयों में, विशेष करके वैज्ञानिक (Pernicious) रक्तक्षय में, यकृत सेवन फायदेमन्द होता है। आयुर्वेद में यकृत रक्तोत्पत्ति का स्थान माना गया है—स खलत्राप्यो रसो यकृतप्लीहानी प्राप्य रागमुपैति । (सूत्र १४) । तस्यां (मांसधरा कला) शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृतप्लीहोश्च भवति । (शा० ४) । और उसी आधार पर उसका उपयोग रक्तपित्त में किया गया है—यकृदा भक्षयेदात्रामं पित्तसमायुतम् । (सुश्रुत, उत्तर ४५) । (२) जीवितिकि द्रव्यसंचय—यकृत में जीवितिकि

द्रव्यों (Vitamines) का भी संचय होता है। काठ, हेल्ड्रिट मछलियों के यकृत में इनकी राशि बहुत होती है जिसके कारण उनके यकृत के तैलों में ये द्रव्य अधिक मात्रा में मिलते हैं। अन्य द्रव्यों की अपेक्षा 'ए' द्रव्य यकृत में अधिक होता है। रतींधी के जो अनेक कारण हैं, उनमें 'ए' जीवनीय द्रव्याभाव एक महत्त्व का कारण है। इस रोग में 'ए' द्रव्ययुक्त पदार्थ देने से आराम होता है। यह एक आश्चर्य की तथा संतोष की बात है कि आयुर्वेद में रतींधी की चिकित्सा में यकृत सेवन का उपदेश किया गया है— तथा यकृतद्रागभवं हृदाधने विषाच्य सन्ध्युत्सर्गवासमान्वयन् । प्रयोजितं पूर्ववदाभसंशयं जयेत् त्रयाथ्यं मरुदभनायुगम् ॥ प्लीहायकृदाप्युपभक्षिते उभे प्रकल्प्य शूल्ये पृवतैलसंयुते । ते सार्प-पत्नेहसमायुतेऽप्यनं नत्ताण्यमश्वेव हृवः प्रयोजिते ॥ (सुश्रुत, उत्तर १०) । नादेन प्लीहयकृती मादिपे तैलसर्पिणा । (अष्टांग-हृदय, उत्तर १४) । (३) पित्तोत्पत्ति—यकृत में सततपित्त की उत्पत्ति रक्तगत द्रव्यों से होती रहती है। यह पित्त पाचकरस है, जो स्निग्ध पदार्थों के पाचन में अधिक उपयोगी होता है। (४) निर्विषीकरण । (Detoxifying function)—आन्त्र से जो कुछ भी विषैले पदार्थ शरीर में शोषित होते हैं, वे यकृत के द्वारा निर्विष किये जाते हैं। (५) रक्त का भाण्डार—यकृत में रक्त की बहुत राशि हमेशा संचित रहती है और आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग किया जाता है। आगे आशयों में भी देखो। (६) मधुजन का संचय और उत्पादन करना—शरीर को शक्ति प्राणोदीय (Carbohydrates) पदार्थों से मिलती है। ये पदार्थ शरीर में मधुजन (ग्लैकोजन) के रूप में संचित होते हैं और संचय तथा उत्पादन का कार्य यकृत के द्वारा होता है। (७) प्रोभूजिन और स्निग्ध पदार्थों के पाचन, साम्यीकरण और उत्सर्जन इन कार्यों में भी यकृत का बड़ा भारी भाग होता है। (८) कुछ तज्जों की यह राय है कि यकृत अन्तःस्त्रावी ग्रंथि (Endocrine gland) भी है, जो अपने अन्तःस्त्राव (Internal secretion) से अन्य ग्रंथियों को अपने काम में सहायता करती है। इनके सिवा और भी कुछ कार्य यकृत करता है। प्लीहा—यह अवयव उदरगुहा के बायें भाग के ऊपर के हिस्से में रीढ़ के पास अमाशय के पीछे और पसलियों की आड़ में रहता है। स्वस्थावस्था में यह अवयव स्पर्शलभ्य नहीं होता। इसके ऊपर महाप्राचीरा पेशी से विभक्त बायाँ फुफ्फुस होता है। इसका रंग बैंगनी होता है। इसका भार तीन छटाँक के लगभग होता है। इसकी लम्बाई ४-५ इंच होती है। इसके दो पृष्ठ होते हैं। एक पृष्ठ महाप्राचीरा के साथ संबंधित होता है, जो चिकना और उभरा हुआ रहता है। दूसरा अमाशय, घृक, स्थूलान्त्र के साथ संबंधित होता है, जिस पर इन अंगों के खात बनते हैं। वय और स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य के अनुसार प्लीहा के परिमाण में बहुत फर्क मालूम होता है। नवजात बालक में प्लीहा के भार का उसके शरीर के भार से प्रमाण १ : : ३५० होता है। युवावस्था में भी सापेक्ष प्रमाण करीब करीब इतना ही रहता है। वृद्धावस्था में इसका भार शरीररक्षय के प्रमाण से अधिक कम होता है, जिससे उसका

वाही स्रोतस क्रिया जाता है। परन्तु यह अर्ध टोन् नहीं है यहाँ पर प्रत्यङ्गों में केवल शरीर के बाह्य भाग पर स्थित प्रत्यङ्गों का ही उल्लेख है, भीतरी प्रत्यङ्गों का नहीं। इसलिए ये वक्ष्यमाण स्रोतस इस प्रकार के ही होने चाहिए। इस अध्याय में आगे नीचे सूत्र में श्रवण नयनादि बहिर्मुख स्रोतस वर्णन किये हैं। ये स्रोतस यहाँ पर अभिप्रेत हैं। स्रोतस का अर्थ द्वार या छिद्र भी होता है—स्रोताग्नि खानि विद्वाणि। (राजनिषण्टः)। इसके अनुसार 'स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि' का अर्थ 'आगे इसी अध्याय के नीचे सूत्र में कहे जाने वाले शरीर के श्रवणनयनादि नवद्वार' ऐसा करना चाहिए।

तस्य पुनः संप्रयेयानि—त्वन्नः कला घातवो मला दोषा यत्कृत्स्नीहानौ फुक्कुस उण्डुको हृदयमाशया श्रन्वाणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि वृर्चा रज्जवः सेवन्त्यः सङ्घाताः सोमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

किर उस (प्रत्यङ्गविभाग) के गगनीय (अवयव ये हैं) त्वचाए, कलाएँ, धातु, मल, दोष, यत्, शीहा, फुन्पुम्, उण्डुक, हृदय, आशय, अन्न, वृक्, स्रोतस, कण्डरा, जाल, वृर्चा, रज्जु, सेवनी, सघात, सोमन्ता, अस्थियाँ, सन्धियाँ, प्रायु, पेशियाँ, मर्म, सिराएँ, धमनियाँ और योगवह स्रोतमा।

वक्ष्य—पिड़ले सूत्र में शरीर के पृष्ठभाग के विविध विभाग बतलाये गये हैं। इस सूत्र में इन विभागों के पिड़ले शरीर के भीतर जो अवयव मिलते हैं, उनकी गणना कर रहे हैं। पिड़ले सूत्र में वर्णित प्रत्यङ्गों को बाहर से देख सकते हैं, परन्तु इस सूत्रगत अवयवों को देखने के लिए शक्येदुन की आवश्यकता होती है। तस्य—प्रत्यङ्गविभागस्य। सक्षेय—गणना करने योग्य अर्थात् नामनिर्देश करने योग्य या महत्व के योग्य। इनके अतिरिक्त शरीर में और भी अवयव हो सकते हैं। सोम—इस सूत्र में स्रोतस् दो बार आये हैं। प्रथम स्रोतस् शब्द श्रवणनयनादि बहिर्मुख स्रोतसों के लिए और दूसरा योगवाही स्रोतस शब्द नीचे अध्यायों के प्राणोदकवाही स्रोतसों के लिए है। योगवहानि—योगान् द्रव्यान् वहन्ति इति योगवहानि। योग का अर्थ यहाँ पर द्रव्य है—योगोपुर्वायंसंप्राप्ता सपत्तिभ्यान्युक्तु। वषु धीयै प्रयोग च विष्कम्भादि श्रेयसे। विष्कम्भायके द-योगावन्नदनेवपि। (मेदिनी)। रमरकादि धातुरूप द्रव्यों का वहन स्रोतस् करते हैं, इसलिए योगवह कहलाते हैं—स्रोताग्नि सत् परि याममापचमानाना भातृतामानवाहोनि मन्त्यनयानेन। (चरक, विमान ५)। ५० हरिप्रपञ्चनी योगवाही स्रोतसों का अंग्रेजी पर्याय Autonomic (Sym pathetic) nervous system होते हैं। आगे के सूत्र में इन स्रोतसों की सख्या बाईस बतलाई है। उससे तथा सन्दर्भ से वे धमनी व्याकरण अध्याय में वर्णित स्रोतस् हैं, इसमें सन्देह नहीं है। यहा पर जो प्राणवहादि स्रोतस् वर्णन किये हैं उनका स्वन्त्र नाडीसंस्थान (Autonomic Nervous system) से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उन स्रोतसों के जो अंग्रेजी पर्याय रम्ययोगान्तर में दिये हैं, उनमें भी कोई नाडीसंस्थान का पर्याय नहीं मिलता। इसलिए योगवह स्रोतसों से स्वन्त्र

नाडीसंस्थान समझना अनुचितकु मालम होता है। त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, घातवः सप्त, सप्त सिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे सन्धि-शते, सप्तोत्तरे मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (दोडश कण्डराः, दोडश जालानि, पट वृर्चा, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेवन्त्यः, चतर्दश सङ्घाताः, चतुर्दश सोमन्ताः, द्वाविंशतियोगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि) चेति समासः ॥ ५ ॥

(जाभ्यन्तरीय अवयवों की संख्या—) त्वचाएँ सात, कलाएँ सात, आशय सात, घातु सात, सिराएँ सात सौ, पेशियाँ पाँच सौ, स्नायु नी सौ, अस्थियाँ तीन सौ, संधियाँ दो सौ दस, मर्म एक सौ सात, धमनियाँ चौबीस, दोष तीन, मल तीन, स्रोतस् नौ, (कण्डराएँ सोलह, जालक सोलह, कूर्चस् छ, रज्जु चार, सेवनी सात, सघात चौदह, सोमन्त चौदह, योगवह स्रोतस् बाईस, और अर्धें दो) इस प्रकार सप्तसि गणना है ॥ ५ ॥

वक्ष्य—पिड़ले सूत्र में गणना करने योग्य अवयवों के नाम देकर इस सूत्र में उनकी सख्या बताई गई है। विशाल—स्थूल (Largo) और छुट्ट (Small) आन्त्र (Intestino)। आयुर्वेद में आन्त्र शब्द एकवचन और अनेक वचन में आता है। दो प्रकार का आन्त्र मालम होने पर भी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं होता है। अनेकवचन में जब आन्त्र का प्रयोग होता है, तब प्रायः दोनों प्रकार की बातें उससे अभिप्रेत होती हैं, और जब एकवचन में होता है तब छुट्टान्त्र या स्थूलान्त्र या आन्त्र का एक देश (A portion) अभिप्रेत होता है। जैसे—प्रमिश्रमन्त्रं निष्ठा न प्रवेष्ट नामन्या भवेत्। (सुश्रुत, चि० २)।

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहितः कला घातवो मला दोषा यत्कृत्स्नीहानौ फुक्कुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च ॥ ६ ॥

अब इसके पश्चात् (उन त्वचादि अवयवों का) विस्तार (पूर्वक वर्णन किया जाता है—) त्वचा, कला, धातु, मल, दोष, यत्, शीहा, फुन्फुस, उण्डुक, हृदय और वृक् इनका वर्णन हो चुका है ॥ ६ ॥

वक्ष्य—दोष, घातु और मल इनका विवरण सूत्र-स्थान के ११, १५ और २१ वें अध्याय में तथा घातु का विवरण निदान के प्रथम अध्याय में किया गया है। शेष अवयवों का विवरण पिड़ले अध्याय में किया गया है। जिनका विवरण बहुत संक्षेप से हुआ है तथा विषयगी में विस्तार नहीं किया गया है, उनका विवरण यहा पर किया जाता है। यत्कृत्स्नीहानौ—आयुर्वेद में इन दो अवयवों का ऋजिद सन्धय माना गया है और एक इति से यह ठीक भी है। इसलिए ये दोनों अवयव एक साथ द्विवचन में (जैसे, यहाँ पर हैं) या साथ साथ (जैसे, दहयन्तीहा च चरक, शा० ७) निर्दिष्ट किये जाते हैं। यत्कृत्स्नीहानौ। सुश्रुत, शा० ३। निर्दिष्ट किये जाते हैं। यत्कृत्स्नीहानौ शरीर भर में यह स्थ से यहाँ प्रथि है। इसका औसत भार

of carbon monoxide, haemorrhage, exercise etc, it is capable of contracting sufficiently to increase the circulating volume by 10 to 12 per cent. Spleen can modify both the volume and quality of blood in a mechanical way. Bancroft has designated this as the reservoir function of the spleen. Contraction of the spleen to one half its normal size not only increases the total blood volume considerably but also augments red cell counts by 250,000 per c. mm. *Physiology in Health and Disease by Car. j. Wiggers*. यकृत के संबंध में भी ऐसी ही स्थिति (पीछे यकृत का ९वाँ कार्य देखो) होती है । संक्षेप में शरीर के भीतर यकृत और प्लीहा के अतिरिक्त और कोई ऐसे अवयव नहीं हैं जहाँ पर रक्त संचित रहता है और जो आवश्यक समय पर शरीर को रक्त दे सकते हैं । इसलिए रक्ताशय से यकृत प्लीहा समझना अधिक उचित है । (२) रस और रक्त का अभेद मानने से हृदय भी रक्ताशय माना जा सकता है—आशय यः मारः स रस इत्युच्यते । तस्य च हृदयं स्थानम् ॥ (सुश्रुत, सूत्र १४) । आशय में उस द्रव्य का अवस्थान कुछ काल तक होना जरूरी है । हृदय में रक्त क्षण-भर भी ठहरता नहीं है । इसलिए हृदय को रक्ताशय मानना उचित प्रतीत नहीं होता । (३) हाराणचन्द्र रक्ताशय से त्वचादि अवयव मानते हैं—'शोणित्वस्थानं यकृतप्लीहानौ' इति स्थितेऽपि रक्ताशयशब्दे-नेह त्वगाद्य एवाभिप्रेक्ष्यते परिशेष्यात् 'रक्तस्थानः क्रमात् परे' इति तन्त्रान्तरीयान्त्र । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है । महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्षशरीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ७०) में इन आशयों के संबंध में पुनरुक्तिदोष बताते हैं तथा रक्ताशय से हृदय मानते हैं—आशयपदार्थाऽपानाद-र्थायकुलीभावश्च प्रतिसंदर्भकृतः प्रसङ्गात् यथा, 'तस्य पुनः संस्थानम्' इत्याद्युपक्रम्य तत्रैव 'आशयात्तु—वाताशय...' इति पुनस्तौ । इति हि हृदयफुफ्फुसान्नादिभ्यः पृथङ् न सन्ति रक्ताशयशब्देऽप्यशयपकाशयाया आशयाः क्विदपि लभ्यमानवैद्यके, प्रत्यक्षज्ञाने वेति नूनमर्थाऽज्ञानमूलोऽयं पृथङ्निर्देशः । यदि ऊपर बताये हुए दृष्टिकोण से आशयों की ओर देखा जाय तो पुनरुक्ति होने पर भी उसका दोष दूर होता है । यकृत और प्लीहा के संबंध में ऊपर जो उपलब्ध वैद्यक ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे शरीर में हृदय के अतिरिक्त रक्त का आशय होता है यह भी सिद्ध है । इसलिए रक्ताशय से यकृत प्लीहा मानने में न स्वतन्त्र विरोध है, न परतन्त्र विरोध है, न प्रत्यक्ष विरोध होता है । शार्ङ्गधर के आशय वर्णन की टीका में आढमल्ल स्पष्ट लिखते हैं—जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तम्, तस्य आशयः स्थानं तच्च प्लीहा इति प्रसिद्धं हृदयस्य वामभागाश्रितं भवति । आमाशय—आमानामज्ञानामाशयः । जठर (Stomach) जहाँ पर सेवन किया हुआ अपक अन्न रहता है । आमाशय की ऊपर और नीचे की मर्यादाएँ इस प्रकार वर्णित है—नाभिस्तान्तरं जन्तीरामाशय उदाहृतः ॥ आमाशय की नीचे की मर्यादा नाभि से भी नीचे उसके स्थायी अभिस्तरण (Dilatation) में होती है । पकाशय—जहाँ पर अन्न का पचन होता है,

वह महाक्षौत का भाग अर्थात् आन्त्र (Intestines) । इसमें स्थूल और सुद्र दोनों का समावेश होता है । पकाशय से साधारणतया स्थूलान्त्र का बोध होता है तथापि कई बार संदर्भ के अनुसार उससे दोनों आन्त्र अभिप्रेत होते हैं । यथा—परंतु पचमानस्य विदग्धरयान्त्रभावतः । आशयाच्चयमानस्य पित्तनचक्षुसुदीर्घते ॥ पकाशयं तु प्राप्तस्य शोथ्यमागस्य वहिना । परिपिष्टनपकारय वायुः स्यात् कटुभावतः । (चरक, चिकित्सा १९) । मूत्राशय—इसको वास्त भी कहते हैं (Urinary bladder) । इसका विवरण निदान स्थान के तीसरे अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ३३६-३३५ देखो) तथा छठे अध्याय के ३३ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । शोणान्त्र—स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ आशय अधिक होते हैं । यहाँ पर तथा अष्टांगहृदय और संग्रह में केवल गर्भाशय का उल्लेख है, परंतु शार्ङ्गधर में और दो स्तन्याशय बतलाये गये हैं—पुरषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारी-गामाशयास्तयः । पुरषाभ्यांशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयो मनी ॥ शार्ङ्गधर का यह कथन भी ठीक है । स्तन पुरुष और स्त्री दोनों में होने के कारण उनका उल्लेख सुश्रुत में नहीं किया होगा । परंतु पुरुषों में स्तन होने पर भी वे स्तन्याशय नहीं हो सकते केवल स्त्रियों के स्तनों में स्तन्याशय में परिवर्तित होने की शक्ति होती है । पुरुषों के स्तन आयु भर अल्प विकसित (Rudimentary) ही रहते हैं । स्त्रियों के स्तन यौवन में पदार्पण करने के समय बढ़ते हैं । जब स्त्री गर्भवती होती है, तब स्तन और भी बढ़ जाते हैं । यह वृद्धि दुग्धग्रंथियों और स्रोतसों के बढ़ने से होती है और इसी अवस्था में वे स्तन्याशय कहे जाते हैं । स्तन्याशय छाती पर दोनों तरफ दो होते हैं । ये छाती की पेशियों पर होते हैं । आकार में ये कुछ अर्धगोलाकार होते हैं । ये दूसरी पसली से छठी पसली तक और उरःफलक के किनारे से कचामध्य रेखा तक फैले रहते हैं । इनके मध्य में एक उभार होता है, जो चूचुक या स्तनघृन्त (Nipple) कहलाता है । इसमें दुग्धस्रोतों के कई छिद्र होते हैं (आगे नीचे सूत्र में देखो), जिनमें से चूसने पर दूध बाहर निकलता है । चूचुक के चारों ओर गहरे रंग का एक घेरा होता है, जो स्तनमण्डल (Aroala) कहलाता है । गर्भाशय और स्तन्याशयों का बड़ा भारी संबंध होता है । इसलिए गर्भ का आधान होने पर उनके आकार और स्वरूप में फर्क होने लगता है । इसका विवरण तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । शिशु को दूध पिलाने के समय में स्तन्याशय काफी बढ़े हो जाते हैं । प्रजोत्पादन बंद होने पर ये कुछ सिकुड़ जाते हैं । स्तनों में दुग्धोत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार स्तनरोगनिदान (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३७४, ३५५) में तथा आगे १०वें अध्याय के १३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । गर्भाशय—शरीर का वह अवयव, जिसमें गर्भ आश्रय करता है (Uterus) । इसके स्वरूप का वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है । यहाँ पर केवल उसके स्थान का कुछ विवरण किया जाता है । गर्भाशय श्रोणिगुहागत अवयव है । कुमारी में इसकी लम्बाई तीन इञ्च, चौड़ाई दो इञ्च और मोटाई एक इञ्च के लगभग होती है । प्रजाता

और शरीरभार का प्रमाण १००० हो जाता है। भोजनपचन के समय इसका परिमाण पड़ता है और भोजन का पचाव समाप्त होने पर यह अपने पूर्व परिमाण पर आ जाता है। पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने वालों की अपेक्षा अपर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने वालों अर्थात् गरीबों की प्लीहा परिमाण में छोटी होती है। लीहा के कार्य—

(१) रक्तोत्पत्ति—गर्भावस्था में यकृत के साथ प्लीहा भी रक्तोत्पत्ति का काम करती है। पश्चात् साधारण अवस्था में प्लीहा से रक्तोत्पत्ति का कार्य नहीं होता, परन्तु रक्तचय की तीव्रतास्थान में यह कार्य भी प्लीहा कर सकती है। आयुर्वेद में यकृत और प्लीहा, ह्रस्वलिपि, रंजक पित्त के स्थान माने गये हैं।

(२) रक्तसंचय—प्लीहा में सक्नेच और विकास काफी और तुरन्त होता है और विकास के समय उसमें काफी रक्त का संचय होता है। विशेष विवरण आगे आशयों में भी होगा।

(३) लाल वर्णों का नाश—जो लाल कण अपना काम करके दुर्बल हो गये हैं, उनका नाश करने का कार्य प्लीहा करती है। प्लीहा में प्रविष्ट हुए रक्त के लाल कणों में जो दुर्बल होते हैं वे वहाँ पर नष्ट होते हैं और केवल सबल कण बाहर आते हैं। सखेप में डीहा अधिकोष (बक) का काम करती है, जहाँ पर गये हुए रूप्यों की ठीक ठीक होकर नकली रूपये तोड़ दिये जाते हैं और केवल असली रूपये बाहर आते हैं।

(४) श्वसनयों की उत्पत्ति—प्लीहा में स्वेतकणों की उत्पत्ति विशेष करके (लिम्फोसाइट) लसकायाणुओं की उत्पत्ति होती है। उण्डु—आयुर्वेद में इसका वर्णन सखेप में निम्न प्रकार का मिलता है—उण्डुश्च पुण्डुश्च योश्च श्वपिभ्योयते। उण्डुश्च विभगने मल मलधरा कना ॥ (सुश्रुत)। उण्डुक पोडुलक इति लोके। चरके च पुरीषाधारश्चन्द्रोण्डुक प्रतिपादित। (दखण, सुश्रुत, भा० ४-१७)। उण्डुको मलाधारः। (इन्दु)। इससे उण्डुक के स्वरूप का निर्णय करके आयुनिक परिभाषा में उसका पर्याय देना कठिन है। तथापि निम्न प्रमाणों पर उण्डुक को सीकम (Caecum) कह सकते हैं। (१) उण्डुक का स्वरूप पोडुली के समान होता है। सीकम का अर्थ भी वही है और उसका स्वरूप भी वैसा ही है—The caecum, the commencement of the large intestine, is the large blind pouch situated below the colic valve Greye Anatomy (२) मलधरा कला में उण्डुक का स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि मलविभजन का कार्य सम्पूर्ण पकाशय में होता है तथापि उण्डुक में विशेष होता है। आयुनिक मोज से भी यही सिद्ध हुआ है कि मलरियत जल तथा अन्य पोषक द्रव्य का शोषण अधिकतर उण्डुक में ही हुआ करता है—During its passage along the large intestine, these are absorbed and most absorption appears to occur in the caecum Hallsburton's physiology उण्डुक एक पैली जैसा होता है। उसका बंद मुख अधिक चौड़ा होता है। उसके तग तथा खुले मुख से एक लची पतली नली लगी रहती है। इसको उण्डुकपुच्छ या आम्रपुच्छ (Appendix) कहते हैं। इसी में कभी कभी शोथ या विद्रधि (Appendicitis) उत्पन्न हो जाती है। सीकम के साथ आरोही वृहदन्त्र (Ascending colon) लगा रहता है। हाराणचन्द्र उण्डुक का वर्णन निम्न

प्रकार से करते हैं—उण्डुकस्तु स्थूलतुदायवोरपन्नीमामन्त्रिविधो सन्नेद्रमप्रतिबन्धिमाम्नुलोमन्त्रिविधेन कृपाद्वितयेनानुविद पार्श्वे द्रव्येयदारया प्राय यद्वृत्तितिनियाऽनुभूकियया नाख्या समे पुरी पद्विभाजने गोलो यन्त्रभेद ॥ चरकसंहिता में उण्डुक शब्द नहीं मिलता।

आशयास्तु—चाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशयः, आम्राशयः, पकाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणा गर्भाशयोऽष्टम इति ॥ ७ ॥

(आशय—) आशय तो चाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आम्राशय, पकाशय, मूत्राशय और स्त्रियों का आठवाँ गर्भाशय है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—प्राशयास्तु—इसका अभिप्राय यह है कि शरीर परिभाषिक सजाओं में आशय शब्दसामान्य जिनमें है, वे वे सात शब्द हैं। इन आशयों की न आपस में भिन्न होने की आवश्यकता है, न पूर्वोक्त अवयवों से भिन्न होने की आवश्यकता है। ऊपर चौथे सूत्र में जो सख्येय अवयव निर्दिष्ट किये हैं वे इस दृष्टि से नहीं दिये हैं कि एक बार निर्दिष्ट किया गया अवयव फिर दूसरी बार निर्दिष्ट न होने पावे। वहाँ पर शरीरस्य अवयवों का वर्गीकरण कार्यसामान्य, शब्दसामान्य और स्वरूपसामान्य के आधार पर किया गया है। जिस अवयव में कार्य-भिन्नता, स्वरूपभिन्नता और शब्दभिन्नता होती है, वह अवयव अनेक वर्णों में आ जाता है। जैसे, मर्मत्व के आधार पर किये हुए वर्ग में प्राय शरीर के सभी अवयव आ जाते हैं, जो पहले बताये जा चुके हैं। ह्रस्वलिपि वर्णन में पुनरधिकोष मानना उचित नहीं है। आशय अधिष्ठान। चाताशय—शरीर में दात दो स्थानों में हो सकता है—कुण्डुक—उपानवाधोपार कुण्डुकं प्रोच्यते सुपे। (शाश्वर)। किंच पकाशय—पकाशुयो विशेषेण वानस्थानम्। (चरक, सूत्र २०)। पका से कोलन (Colon) समझना चाहिए। वायु का स्व ऊपर उठने का होने के कारण वह पकाशय के अनुः (Transverse) विभाग में अधिक मिलता है। पित्ताशय प्रत्यप्रामाण्य के अनुसार पित्ताशय आम्राशय (पे समझना चाहिए—प्राशयाशया विशेषण पित्तवान्) (चरक)। यदि आयुनिक दृष्टिको अर्थ से देखा जाय पित्ताशय से पित्ताशय (Gall bladder) युक्त यकृत अन्व्याशय (Pancreas) समझना चाहिए, क्योंकि पा पित्त जो अन्य प्रकारों से श्रेष्ठ माना गया है वह इन ग्रन्थियों का उद्ग्रेक होता है। श्लेष्माशय—श्लेष्मा का मुख्य स्थान उर माना गया है—उत्ता सुरीविशेषेण दाम्रस्थानम् (चरक)। श्लेष्माशय स्वादुरमि। (शाश्वर)। उर उर स्थित पुण्डुक समझना उचित है। आयुर्वेद में कभी क उर द्रव्य पुण्डुक के लिए भी प्रयुक्त होता है। रक्ताशय—इससे निम्न अवयव समझ सकते हैं। (१) यकृत और प्लीहा आयुर्वेद में रक्त का स्थान माना गया है—गोविन्दस्य रथा यकृतप्लीहाशनी। (सुश्रुत, सूत्र ११)। आयुनिक दृष्टिः यदि देखा जाय तब भी यकृत प्लीहा शरीरगत रक्त साण्डार (Blood depot या Reservoir) माने गये हैं—The reservoir function of the spleen plays considerable role As a result of various influences such as psychico disturbances, inhalation

of carbon monoxide, haemorrhage, exercise etc, it is capable of contracting sufficiently to increase the circulating volume by 10 to 12 per cent. Spleen can modify both the volume and quality of blood in a mechanical way. Banoroft has designated this as the reservoir function of the spleen. Contraction of the spleen to one half its normal size not only increases the total blood volume considerably but also augments red cell counts by 250,000 per c. mm, *Physiology in Health and Disease by Car'. j. Wiggers*. यकृत के संबंध में भी ऐसी ही स्थिति (पीछे यकृत का ९वाँ कार्य देखो) होती है। संक्षेप में शरीर के भीतर यकृत और प्लीहा के अतिरिक्त और कोई ऐसे अवयव नहीं हैं जहाँ पर रक्त संचित रहता है और जो आवश्यक समय पर शरीर को रक्त दे सकते हैं। इसलिए रक्ताशय से यकृत प्लीहा समझना अधिक उचित है। (२) रस और रक्त का अभेद मानने से हृदय भी रक्ताशय माना जा सकता है—आहारस्य यः सारः स रस इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम् ॥ (सुश्रुत, सूत्र १४)। आशय में उस द्रव्य का अवस्थान कुछ काल तक होना जरूरी है। हृदय में रक्त चण-भर भी ठहरता नहीं है। इसलिए हृदय को रक्ताशय मानना उचित प्रतीत नहीं होता। (३) हाराणचन्द्र रक्ताशय से त्वचादि अवयव मानते हैं—'शोणितस्य स्थानं यकृतप्लीहानौ' इति स्थितेऽपि रक्ताशयशब्दे-नेह स्वगादय एवाभिप्रेयन्ते पारिशेष्यात् 'रक्तस्यावः क्रमात् परे' इति तन्त्रान्तरीयाच्च। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ७०) में इन आशयों के संबंध में पुनरुक्तिदोष बताते हैं तथा रक्ताशय से हृदय मानते हैं—आशयपदार्थाऽज्ञानादर्थत्याकुलीभावश्च प्रतिसंस्कृत्वकूनः प्रसङ्गाद् यथा, 'तस्य पुनः संख्यानाम्' इत्याद्युपक्रम्य तत्रैव 'आशयास्तु—वाताशय... इति' पुनरुक्ती। इह हि हृदयफुफ्फुसान्त्रादिभ्यः पृथङ् न सन्ति रक्ताशयश्लेष्माशयपकाशयाद्या आशयाः क्वचिदपि लभ्यमानवैद्यके, प्रत्यक्षदर्शने वेति नूनमर्थाऽज्ञानमूलोऽयं पृथङ्निर्देशः। यदि ऊपर बताये हुए दृष्टिकोण से आशयों की ओर देखा जाय तो पुनरुक्ति होने पर भी उसका दोष दूर होता है। यकृत और प्लीहा के संबंध में ऊपर जो उपलब्ध वैद्यक ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे शरीर में हृदय के अतिरिक्त रक्त का आशय होता है यह भी सिद्ध है। इसलिए रक्ताशय से यकृत प्लीहा मानने में न स्वतन्त्र विरोध है, न परतन्त्र विरोध है, न प्रत्यक्ष विरोध होता है। शार्ङ्गधर के आशय वर्णन की टीका में आढमल्ल स्पष्ट लिखते हैं—जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तम्, तस्य आशयः स्थानं तच्च प्लीहा इति प्रसिद्धं हृदयस्य वामभागाश्रितं भवति। आमाशय—आमानामन्नानामाशयः। जठर (Stomach) जहाँ पर सेवन किया हुआ अपक अन्न रहता है। आमाशय की ऊपर और नीचे की मर्यादाएँ इस प्रकार वर्णित हैं—तामिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय उदाहृतः ॥ आमाशय की नीचे की मर्यादा नाभि से भी नीचे उसके स्थायी अभिस्तरण (Dilatation) में होती है। पकाशय—जहाँ पर अन्न का पचन होता है,

वह महाक्षोत का भाग अर्थात् आन्त्र (Intestines)। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों का समावेश होता है। पकाशय से साधारणतया स्थूलान्त्र का बोध होता है तथापि कई वार संदर्भ के अनुसार उससे दोनों आन्त्र अभिप्रेत होते हैं। यथा—परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्चयवमानस्य पित्तमच्छुमुदीर्यते ॥ पकाशयं तु प्राप्तस्य शोथ्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपकस्य वायुः स्यात् कटुभावतः। (चरक, चिकित्सा १९)। मूत्राशय—इसको वस्ति भी कहते हैं (Urinary bladder)। इसका विवरण निदान स्थान के तीसरे अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ३३६-३३७ देखो) तथा छठे अध्याय के ३३ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। खीणाम्—स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ आशय अधिक होते हैं। यहाँ पर तथा अष्टांगहृदय और संग्रह में केवल गर्भाशय का उल्लेख है, परन्तु शार्ङ्गधर में और दो स्तन्याशय बतलाये गये हैं—पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारी-णामाशयास्त्रयः। धरागर्भाशयः प्रोक्तः स्तनी रतन्याशयौ मतौ ॥ शार्ङ्गधर का यह कथन भी ठीक है। स्तन पुरुष और स्त्री दोनों में होने के कारण उनका उल्लेख सुश्रुत में नहीं किया होगा। परन्तु पुरुषों में स्तन होने पर भी वे स्तन्याशय नहीं हो सकते केवल स्त्रियों के स्तनों में स्तन्याशय में पारवर्तित होने की शक्ति होती है। पुरुषों के स्तन आयु भर अल्प विकसित (Rudimentary) ही रहते हैं। स्त्रियों के स्तन यौवन में पदार्पण करने के समय बढ़ते हैं। जब स्त्री गर्भवती होती है, तब स्तन और भी बढ़ जाते हैं। यह वृद्धि दुग्धप्रथियों और खोतसों के बढ़ने से होती है और इसी अवस्था में वे स्तन्याशय कहे जाते हैं। स्तन्याशय छाती पर दोनों तरफ दो होते हैं। ये छाती की पेशियों पर होते हैं। आकार में ये कुछ अर्धगोलाकार होते हैं। ये दूसरी पसली से छठी पसली तक और उरःफलक के किनारे से कक्षामध्य रेखा तक फैले रहते हैं। इनके मध्य में एक उभार होता है, जो चुचुक या स्तनवृन्त (Nipple) कहलाता है। इसमें दुग्धखोतों के कई छिद्र होते हैं (आगे नौवें सूत्र में देखो), जिनमें से चूसने पर दूध बाहर निकलता है। चुचुक के चारों ओर गहरे रंग का एक घेरा होता है, जो स्तनमण्डल (Aeola) कहलाता है। गर्भाशय और स्तन्याशयों का बड़ा भारी संबंध होता है। इसलिए गर्भ का आधान होने पर उनके आकार और स्वरूप में फर्क होने लगता है। इसका विवरण तीसरे अध्याय के १९वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। शिशु को दूध पिलाने के समय में स्तन्याशय काफी बढ़े हो जाते हैं। प्रजोत्पादन बंद होने पर ये कुछ सिक्कड़ जाते हैं। स्तनों में दुग्धोत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार स्तनरोगनिदान (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३७४, ३७५) में तथा आगे १०वें अध्याय के १३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। गर्भाशय—शरीर का वह अवयव, जिसमें गर्भ आश्रय करता है (Uterus)। इसके स्वरूप का वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है। यहाँ पर केवल उसके स्थान का कुछ विवरण किया जाता है। गर्भाशय श्रोणिगुहागत अवयव है। कुमारी में इसकी लम्बाई तीन इंच, चौड़ाई दो इंच और मोटाई एक इंच के लगभग होती है। प्रजाता

खियों में इसका आकार कुछ बढ़ा हो जाता है। इसका नीचे का भाग योनि से जुड़ा रहता है, जिसमें एक द्विद्व होता है और उसी से आतं व प्रत्येक महीने में बाहर आता है। यह द्विद्व गर्भाशयमुख (Os-uteri) में होता है और इसी का उल्लेख आगे नीचे सूत्र में 'रक्तवह' श्लोत करके किया गया है। इसके दोनों तरफ दो चौड़े बंधन (Broad ligaments) होते हैं, जिनमें योजकण्ड (Ovary) और ऊपर योजवाहिनियाँ (Fallopian tube) होती हैं। गर्भाशय के सामने मूत्राशय और पीछे पकाशय का अन्तिम हिस्सा उत्तरगुद या मलाशय होता है। इसका विचार आगे १९वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

सार्वात्रिद्वगामान्यन्त्राणि पुसां, स्त्रीणामर्चन्या महीनानि ॥२॥

(आन्त्र की लम्बाई—) पुरुषों का आँते साढ़े तीन व्याम और स्त्रियों की आधा व्याम कम (लम्बी) होती है ॥८॥

वक्तव्य—आम—व्याम बाढ़े सरुयोस्तनयोस्त्रियंन रम् ॥ (अमरकोश)। दोनों हाथ दोनों कर्णों की रेखा में शरीर से दूर फैलाने पर जो अन्तर होता है, वह। यदि सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय में (प्रथम खण्ड पृष्ठ १६४) बताया है हुए प्रमाण पुरुष standard के अनुसार व्याम की लम्बाई अंगुलियों में देनी जाय तो वह १३० अंगुलियों होती है। आधुनिक नाप के अनुसार यह लम्बाई ७ फुट के करीब होती है। इससे पुरुष में आँते २४। फुट लंबी और स्त्रियों में २१ फुट लम्बी होगी। आधुनिक काल में आन्त्र की लम्बाई का प्रमाण निम्न प्रकार का दिया गया है। छुदोन्त की औसत लम्बाई साढ़े वाईस होती है। इसकी अधिक से अधिक लम्बाई बचीस फुट और कम से कम साढ़े पन्द्रह फुट होती है। स्पूलात्र की लम्बाई पाँच फुट होती है। इसमें बहुत फर्क नहीं होता है। डीवन् नामक शास्त्रज्ञ ने सौ शर्षों की आँतों का नाप करके यह औसत निकाली है। उसका कथन है कि जवानी प्राप्त होने के पश्चात् मनुष्य की आँत की लम्बाई उसका आयाम, भार और आयु के निरपेक्ष होती है। स्त्रियों के आन्त्रायाम के संवध में आधुनिक शास्त्रविदों का वचन प्राचीनों के विरुद्ध है। टीवन् का कथन है कि स्त्रियों में छोटी आँत पुरुषों की अपेक्षा एक फुट अधिक लम्बी होती है। अर्थात् सम्पूर्ण आँत पुरुष की अपेक्षा कदापि कम नहीं होगी, परंतु अधिक होगी। यह भूल कैसे हुई? इसके दो कारण हो सकते हैं। (१) प्रत्यक्ष प्रमाण—एक स्त्री की आँत एक पुरुष की आँत की अपेक्षा कम हो सकती है। यदि संयोगवशा ऐसे ही स्त्री-पुरुष की आँत देली गई होगी तो यह भूल हो सकती है। (२) अनुमान प्रमाण—स्त्रियों के शरीर के हृदय, मस्तिष्कादि सभी अंग पुरुषशरीरगत अंगों की अपेक्षा आयाम, भारादि में कम होते हैं, यह प्रत्यक्ष है। अतः उनकी आँत भी पुरुष की अपेक्षा लम्बाई में कम होगी, इस कल्पना के आधार पर यह वचन लिखा होगा।

अथएनयनयनयनप्राणगुदमेढाणि नय श्रोतासि नराणां यहिमुन्वानि, पतान्येव स्त्रीणामपराणि च श्रीणि मे स्तनयोस्त्रस्ताद्रचपदं च ॥ ६ ॥

शरीर के द्वार—) (दो) कान, (दो) आँते, मुख, (दो) नाक, गुद और शिरन ये पुरुषों के यहिमुंख नौ श्रोतस होते हैं। ये ही स्त्रियों के भी (होते हैं परंतु उनमें) और भी तीन होते हैं, दो स्तनों में और एक नीचे आतं ववह ॥१॥

वक्तव्य—राण—दो नासापुट या नासाद्वार। गुद—गुदद्वार (Anus)। मेदु—पौरुषदार्धक शिरनवाचक (Penis) यह शब्द नहीं है। इससे सूत्रद्वार अभिप्रेत है, क्योंकि यह श्रोतस स्त्रियों में भी बतलाया गया है। पुरुषों में इसी द्वार से शुक्र बाहर आता है, इसलिये शुक्रवह श्रोतस का अलग उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं रही। इे ननयो—स्तनों में जो चुचुक होते हैं, उनमें दुग्धश्रोतों के द्वार खुलते हैं, उनका उल्लेख यहाँ किया गया है। आतं वव—आतं वव गर्भाशयमुख से बाहर आता है। इसलिये आतं ववह श्रोतस से गर्भाशयद्वार (Externalos) समझना चाहिये। स्त्रियों में आतं ववहन और मूत्रवहन स्वतन्त्र मार्गों से होता है। इसलिये आतं ववह श्रोतस का स्वतन्त्र उल्लेख करने की आवश्यकता रही। श्रोतस—यह शब्द यहाँ पर नालीवाचक न होकर मुख, द्वार या द्विद्ववाचक है। शरीर की बाह्य त्वचा में जो स्वाभाविक बड़े द्वार होते हैं, वे श्रोतस से अभिप्रेत हैं। यहिमुंखानि—यदि यहाँ पर द्वार शब्द का प्रयोग होता तो यहिमुंख शब्द का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। शरीर में और भी अनेक प्रकार के श्रोतस होते हैं, जिनका स्वरूप नालीदार और जो अन्तमुंख या अन्तर्गत होते हैं। उन श्रोतसों से (९ अध्याय क ११वें सूत्र देखो) पार्श्वय करने के लिये यहिमुंख शब्द का प्रयोग किया है। नय—पुरुषों के शरीर में नौ और स्त्रियों के शरीर में बाहर द्वार होते हैं। संसार में आधी स्त्रियों और आधे पुरुष होते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी साहित्यनिर्माण पुरुषों के हाथों में होने के कारण मनुष्य-शरीर नवद्वारयुक्त वर्णन करने की प्रथा पड़ गई है—मर्ककमणि मनसा सन्धस्थातो मूल वशी। नवद्वारे पुरे देदी नैव कुर्वन्न कारदन् ॥ (भगवद्गीता ५-१३)। मनो नवद्वारनिषिद्ध इति इदि नवस्थाप्य समाधिषवन्म्। दमधर क्षेत्रविन्दे विदुस्तमा स्मानमाम् दकलोक्यन्म् ॥ (कुमारसंभव ३-२०)। आगे ६१ वें सूत्र के वक्तव्य में 'पुरुष' की टिप्पणी देखो।

पोश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयो, ताव त्यो हस्तप्रीवापुष्टेपु, तत्र हस्तपादगतानां कण्ड राणां नखाः (अग्र) प्ररोहाः, प्रीवाहृदयनियन्धिनी नामयोभागगतानां मेढं, श्रोत्रिपृष्ठनियन्धिनीनामधो भागगतानां चिम्बं, मूर्धोदयतोऽसिपिण्डादीनां च ॥१०॥

(कण्डरा और उनके प्ररोह—) श्लेष् कण्डराएँ हैं। उनमें से चार पैरों में और उतनी ही हाथ, प्रीवा और पीठ में। हाथों और पैरों में स्थित कण्डराओं के प्ररोह नल होते हैं। प्रीवा और हृदय को बाँधने वाली कण्डराओं के नीचे की ओर गये हुए प्रांत का प्ररोह मेदु है। ओष्णी और पृष्ठ को बाँधने वाली कण्डराओं के नीचे की ओर गये हुए प्रांत का प्ररोह चिम्ब है। (इन कण्डराओं के ऊपर गये हुए प्रांत के प्ररोह) मस्तक, ऊद, वच और अंतपिण्ड हैं ॥ १० ॥

वक्तव्य—कण्डरा—महत्यः क्षायकः प्रोक्ताः कण्डरास्तास्तु पोटरा । (भावप्रकाश) । (Pondosa) । पोटरा—एक एक पैर में दो, एक एक हाथ में दो, पीठ में चार और ग्रीवा में चार । प्ररोह—अग्रप्ररोह, अन्तिम भाग जिससे वे चिपट जाते हैं । नन्नाः प्ररोहाः—नखों का प्रांत, जिसमें ये निविष्ट (Insert) होते हैं । संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि हाथों और पैरों के कण्डराओं का नीचे का निवेश (Insertion) नखों के पास होता है । इसका यह अर्थ नहीं है कि इन कण्डराओं के अन्तिम भाग से नख उत्पन्न होते हैं । मेडन्—शिरानवाचक यह शब्द नहीं है, जननेन्द्रियवाचक है, जिसका अर्थ गुण्य प्रदेश (Pubic region); ग्रीवादि स्थानों की कण्डराओं का निवेश गुण्य प्रदेश में होता है । विन्न्—श्रोणिविन्न्म् । इसी को श्रोणिचक्र (Polvis) भी कहते हैं । हाराणचन्द्र 'विन्न्' के बदले विन्न्वः, पेसा पाठ लेकर उसका अर्थ सन्धिचन्द्र त्रिकास्थि करते हैं । श्रोणी और पीठ की कण्डराओं का निवेश श्रोणिचक्र में होता है । मूर्धाः श्यादि—इस अन्तिम वाक्य का अर्थ ठीक से नहीं निकलता है । हाराणचन्द्र इसका पाठ निम्न प्रकार से लेते हैं—अस्वकोऽस्रपिण्डादिगतानां च मूर्धाः । यह पाठभेद अनुचित मालूम होता है । इसलिए कि इस सूत्र में हाथ, पैर, ग्रीवा और पीठ इनकी कण्डराओं का वर्णन हो रहा है, छाती और नेत्रपिण्ड इनकी कण्डराओं का नहीं हो रहा है । दल्हणाचार्यसंमत पाठ (वही उपर दिया है) और उन्हीं का दूरान्वय करके किया हुआ अर्थ कुछ ठीक मालूम होता है और उन्हीं के अनुसार उपर अनुवाद किया है । दल्हणाचार्य लिखते हैं—मूर्धाःश्वर्चाःस्रपिण्डादीनां चेति पूर्व-वाक्यात् विन्न्वनुवर्तते, तेन मस्तकस्य यद् विन्न्वः मण्डलं तद्ग्रीवा-श्रितानां प्रायुक्तानानेव चतस्र्यानुपरिगतानां कण्डराणामग्रप्ररोहः । तथा पादागतानां चतस्र्यानुपरिगतानामग्रमण्डलमग्रप्ररोहः । तथा षष्ठगतानां चतस्र्यां कण्डराणानुपरिगतानां चोर्मण्डलम् । आदिशब्दगुहीतस्य स्तनस्य च मण्डलमग्रप्ररोहः । इत्यगतानां चतस्र्यानुपरिगतानामंसपिण्डे वाहुशिरोऽग्रप्ररोह इति । इसका तात्पर्य यह है कि ग्रीवाश्रित कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह मस्तक है । हाथों की कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह बाहुशिर है । पैरों की कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह ऊरुमण्डल (श्रोणिमण्डल) है । घृष्टाश्रित कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह वक्षमण्डल है । उपरिगत प्ररोह से उद्गम (Origin)समझ सकते हैं ।

मांससिरास्त्राद्यस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि, तानि मणिवन्धगुल्फसंश्रितानि परस्पर-निवद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति, येर्गवाक्षितमिदं शरीरम् ॥ ११ ॥

(जाल—) मांस, सिराएँ, स्नायु और अस्थियाँ इनके प्रत्येक के जाल चार चार हैं । ये मणिवन्ध और गुल्फ (टखना) में आश्रित हैं और परस्पर बंधे हुए, परस्पर जुड़े हुए और परस्पर गवाक्षित हैं । इन्हीं से यह (समस्त) शरीर गवाक्षित हुआ है ॥ ११ ॥

वक्तव्य—मणिवन्ध—मणिवन्धयतेऽत्र मणिवन्धः । जहाँ पर मणि या घड़ी या चूड़ी या वलय पहना जाता है, वह भाग ।

फलाई, पहुँचा (Wrist), 'प्रनभिस्तुलितव्यापाताक्तं शुभ्रमपिबन्धनात् कनकवलयं सस्तं सस्तं गया प्रकिसार्यते ॥ (शाकुन्तल ३) । परत्परगवाक्षितानि—ये मांस, सिराएँ, स्नायु और अस्थियाँ आपस में इस तरह अनुप्रविष्ट होती हैं कि जहाँ पर इनका संयोग होता है, वह स्थान छिद्रित हो जाता है । गवाक्षित-मिदं शरीरम्—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि दो मणि-वन्ध और दो टखने जालों के स्थान बतये गये हैं तथापि संपूर्ण शरीर जाल के समान होता है क्योंकि कि सिरा स्नाय्वादि अंग आपस में हमेशा इस तरह अनुप्रविष्ट होते हैं कि वह स्थान जालीदार हो जाता है ।

पट कुर्चाः, ते हस्तपादग्रीवामेद्वेषुः हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेद्वयोरेकैकः ॥ १२ ॥

(कुर्चा—) छः कुर्चे हैं । ये हाथ, पैर, ग्रीवा और मेडू में हैं; हाथ में दो, पाँव में दो, ग्रीवा में एक और मेडू में एक ॥ १२ ॥

वक्तव्य—कुर्चा—पेशी, स्नायु, धमनी या सिरा इनका सन्निपात जो कूँचे (Brush) के समान दिखाई देता है । कुर्चा नाम स्नायुधमनीसन्निपातात्तेवैकैकाः स्नायुसन्निपाताः पञ्चु ग्रीवाकक्षायदक्षलगामोर्वैकथ धमनीसन्निपातो मेद्रे इत्यत इत्युच्यते पठिति । (हाराणचन्द्र) ।

महत्स्यो मांसरज्जवध्वत्स्रः—पृष्टवंशामुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे वाह्ये, श्राभ्यन्तरे च द्वे ॥ १३ ॥

(मांसरज्जु—) बड़ी मांसरज्जुएँ चार हैं—पृष्टवंश के दोनों ओर पेशियों को बाँधने के लिए दो भीतर और दो बाहर ॥ १३ ॥

वक्तव्य—मांसरज्जु—रज्जुसम जिनमें तन्तुओं की रचना हो, वे मांसरज्जु हैं । इस प्रकार के मांसरज्जु पृष्टवंश के दोनों तरफ Longissimus, spinalis और Ilio-costalis इन पेशियों की रचना में दिखाई देते हैं ।

सप्त सेर्वन्यः; शिरसि विमक्ताः पञ्च, जिहा-श्रोफसोरेकैका; ताः परिहर्तव्याः शस्त्रेण ॥ १४ ॥

(सेवनी—) सात सीवन हैं; सिर में पाँच अलग अलग और जिह्वा तथा शिरन (के निचले भाग) में एक एक; (शस्त्रकर्म के समय) शस्त्र से उनको बचाना चाहिए ॥ १४ ॥

वक्तव्य—सीवन—सिलाई के द्वारा मिलाये हुए भाग के समान जो रचना होती है, वह सीवन कहलाती है । सीवन त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और अस्थियाँ इनमें मिलती हैं । शिरन की सेवनी त्वचा की, जिह्वा की श्लेष्मल त्वचा की और सिर की अस्थियों की है । अंग्रेज़ी में त्वचा तथा श्लेष्मल त्वचा की सेवनी को रधाफी या रिज (Raphé or Ridge) कहते हैं; और अस्थियों की सीवन को सूचर (Suture) कहते हैं । जिहासेवनी—यह सेवनी जिह्वा के अधस्तल पर उसके अग्र से मूल तक होती है । यह सेवनी फ्रेन्यूलम लिंग्वी (Frenum linguae) कहलाती है । शोफसेवनी—वास्तव में यह सेवनी शिरन पर नहीं होती । इसका प्रारंभ शिरन के नीचे उसके मूल से होता है और घृणकोप पर से होकर गुदद्वार तक चली जाती है । फिर गुदद्वार के उस पार से वह अनुत्रिक (Coecyx)

के अग्र तक पहुँचकर वहाँ पर समाप्त होती है। गुद्वार तक का पूर्वभाग घुण्ण सीवनी (Raphae of the Sacrotum) और पीछे का भाग गुदायुक्तिक सेवनी (Arcococcygeal raphae) कहलाता है। सिर सेवनी—यै सीवनी कपाल स्थियों के संयोग पर होती है। यदि सपूर्ण कपालस्थियों के संयोगों का विचार किया जाय तो सीवनी की संख्या बहुत अधिक होगी। यहाँ पर केवल पाँच संख्या बताई है। इससे यह मालूम होता है कि कबोटी Skull हाथ में लेने पर उसके ऊपर के भाग (Roof) पर जो सीवनी साफ साफ दिखाई देती हैं, यही यहाँ पर निर्दिष्ट हैं। ये सीवनी पाँच ही होती हैं। (१) मृदनीवनी (Frontal) या Metopon Suture—यह सीवनी पुरकपाल के मध्य में वचपन में मिलती और और आगे चलकर नष्ट होती है, परंतु कभी कभी यह जिन्दगी भर कायम रहती है। (२) पुरमीवनी (Coronal suture—यह सीवनी पुरकपाल और पार्श्वकपालों के बीच में होती है। (३) पश्चिम सीवनी (Lambdoid suture)—यह सेवनी पश्चिम कपाल और पार्श्वकपालों के बीच में होती है। (४) मध्यमीवनी (Sagittal suture)—यह सीवनी दो पार्श्वकपालों के बीच में सिर के मध्य में गुडसीवनी की रेखा में होती है। (५) पार्श्वमीवनी (Temporal या squamosal suture—यह सेवनी पुर, पार्श्व और पश्चिम कपालों के नीचे की अस्थियों के संयोग स्थान पर होती है। अस्थियों की सीवनी को सीमन्त भी कहते हैं। आगे १३वें सूत्र में देखो। सिर के सीमन्त या सीवनी बाहर से नहीं दिखाई देती—सीमन्त सीवनी यह नहिस्तत्त्व चिरसि न दृश्यते। (हस्तु)।

चतुर्दशास्थ्या सघाताः तेषां त्रयो गल्फजानु यद्गोषु, एनेनेतरसन्धिय याद् च व्याप्याती, त्रिक शिरसोरेकैकः ॥ १५ ॥

(संघात—) हड्डियों के संघ चौदह हैं। इनमें से दसना, जानु और वक्ष्य में तीन, इससे दूसरे पैर का और (दोनों हाथों) का भी व्याख्यान हो गया। त्रिक पर एक और शिर पर एक ॥ १५ ॥

वक्ष्य—सघात—प्रायः दो से अधिक अस्थियों के सम्मेलन को संघात कहते हैं। उल्ल—इसमें गुल्फसंघि तथा उसकी समीपवर्ती हड्डियाँ आती हैं। इसमें ७ हड्डियाँ पैर की कमान (Tarsal) की और २ जंघा की, इस प्रकार ९ हड्डियाँ होती हैं। जानु—इसमें जंघा की दो, ऊरु की एक और जानुकपाल एक, इस प्रकार चार हड्डियाँ होती हैं। वक्ष्य—इसमें ऊरु की एक और श्रोणि-फलक की तीन, इस तरह चार हड्डियाँ होती हैं। मगिवध—इसमें पहुँचे की आठ (Carpal bones) और अग्रवाहु की दो, इस प्रकार दस हड्डियाँ होती हैं। इतर—इसमें अग्रवाहु की दो और वाहु की एक, इस प्रकार तीन होती हैं। कथा—इसमें सिर्फ दो होती हैं। त्रिक (Saorum—यह अस्थि पृष्ठवत् के नीचे होती है। यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनती है, अर्थात् त्रिक में पाँच हड्डियाँ होती हैं। गिर—इसमें पंद्रह हड्डियाँ होती हैं। आगे १३वें श्लोक का वक्ष्य देखो।

चतुर्दशैव सीमन्ताः; ते चास्थिसङ्घातचतुर्गुणो याः, यतस्तैर्युक्ता अस्थिसङ्घाता, ये ह्यन्ताः। सीमन्तास्तु चतुर्दशदशोकेषाम् ॥ १६ ॥

(सीमन्त—) सीमन्त भी चौदह हैं। उनको अस्थि-संघात के समान ही गिनना चाहिये, क्योंकि जो अस्थि-संघान अभी कहे हैं, उन्हीं से युक्त (सीमन्त) होते हैं। वरं आचार्यों के मत से सीमन्त अदशह होते हैं ॥ १६ ॥

वक्ष्य—सोमन्त—सघाता साविता वैलु सीमन्तास्ताम् प्रचक्षते ॥ (भोज)। सीवनी और सीमन्त एक है। पक्ष्याम्—सीमन्ताद् द्विगुणा नव। (अष्टांगहृदय) तद्वत् सीमन्ता। ते तु पञ्च सिरसि इत्यष्टदश। (अष्टांगसंग्रह)। इसका अभिप्राय यह है कि सिर के एक संघात के बदले पाँच सीमन्त लेकर बाकी तरह संघात पहले की तरह लेना—सीमन्ता वत् भूमि खुलुंकादिभस्थितयवत् ॥ (अरण्यदा टीका)। इहण्णायं 'यन्सैर्युक्ता अस्थिसंघाता, ये ह्यन्ता सघातारो क्वदशदशोकेषाम्।' इस पाठ को देखकर उसका अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं—परममाह—यै शुक्ल इत्यादि। पक्ष्यामाकाशांशं मते सघात ऋदश वष्या—पूर्वोक्तचतुर्दश, श्रोत्रिवाण्डमुपयैक, वच वष्यैक, उरुो सघाने एक, अष्ट कृत्मुपयैक, परमष्टदश ॥

श्रीणि संप्रष्टीन्स्थिश्शतानि वेदवादिनो भावन्ते शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि। तेषां संधिशामस्थि शतं शाखास्तु, सप्तदशोत्तर शतं श्रोत्रिपाश्र्वशृष्ठी रस्तु, प्रीथां प्रत्यूर्ध्व त्रिपष्टिः, एषमस्थ्यां श्रीणि शतानि पूर्यन्ते ॥ १७ ॥

(अस्थि और उनकी संख्या—) वेदवादी (मुनिवारी में) ३६० हड्डियाँ (होती हैं) पसा) कहते हैं, परंतु शल्यतन्त्र में केवल ३०० (हड्डियाँ होती हैं)। इनमें से शाखाओं में १२०, श्रोणी, पार्श्व, पृष्ठ और ह्यती, इनमें ११७, श्रोणी से ऊपर ६३, इस प्रकार हड्डियों के तीन सौ पूरे होते हैं ॥ १७ ॥

वक्ष्य—वेदवादिन—वेद का अनुवाद करने वाले। अधर्ववेद में अस्थियों की संख्या ३६० बताई है—दशर प्रथमश्रुक्रमेक श्रीणि तन्धानि च उ तक्षिणेन। तन्नाहवालीणि शतानि शतुव वक्षिष सीना मविवाचला ये ॥ (१०-६-३)। इसके अनुसार याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में यही संख्या देते हैं—नव्य शोका शरीरणि षट् त्वको धारयन्ति च। पञ्चानि, तथास्थ्यां च सह षष्टया शतप्रत्यम् ॥ (३-८७)। श्रीणि संप्रष्टीनि शतान्यस्थना सह दन्तोत्पलनखेन। (चरक, शा० ७)। श्रीणि षष्टयधिकान्वधिगानि। (अष्टांगसंग्रह)। कारवपसंहिता के शरीरविषयपाराशरिध्याय में प्लवंगों की हड्डियों की जो संख्या बताई गई है, वह ठीक ठीक चरक के साथ मिलती है, अर्थात् उसके अनुसार भी हड्डियों की संख्या ३६० होती है। शल्यतन्त्रे—सुद्युतसंहिता में। सुद्युत का अनुवाद भेदसंहिता में भी किया गया है। आधुनिक पाश्चात्य शल्यचिकित्सकों के अनुसार शरीर में अस्थियों की संख्या कान की अस्थियों को छोड़कर दो सौ और उनके साथ दो सौ ती छ होती है। इस मतमें वे के निम्न कारण ही सफेद हैं। (१) अस्थि के साथ किसी प्रकार से न मिलने वाले पदार्थों को हड्डी में

गिनना । जैसे—नख । नखों का समावेश अस्थि में चरक में किया गया है, सुश्रुत में नहीं । (२) अस्थि के साथ मिलने वाले पदार्थों को, परन्तु जो वास्तव में अस्थि नहीं है, अस्थि में गिनना । जैसे—कृष्णास्थि या कार्थि (Cartilago) और दाँत । आधुनिक काल में सूक्ष्मदर्शक (आगे २२वें सूत्र का वक्तव्य देखो) द्वारा प्रत्येक वस्तु की सूक्ष्म रचना का ज्ञान होने पर ये दोनों चीजें अस्थि से पृथक् सिद्ध हुई हैं । पचास साल पहले पाश्चात्य शल्यशास्त्र भी दाँतों को अस्थियों में गिना करते थे । (३) जिनका वास्तव में स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उनका अस्तित्व मानना । जैसे—दाँतों के उल्लूखल (Sockets) । ये चरक के अनुसार स्वतन्त्र माने गये हैं, सुश्रुत में नहीं । (४) जो अस्थियाँ वास्तव में हैं नहीं, उनको भी गिनना अर्थात् काल्पनिक परिगणना । जैसे—पसलियों की संख्या प्रत्येक पार्श्व में ३६ बताई है और उनकी गणना १२ पसलियाँ, बारह अर्जुद और बारह स्थालक इस प्रकार की गई है—पार्श्व पट्ट-त्रिशदेवमेकस्मिन् । (सुश्रुत) । इसका विवरण चरक में इस प्रकार है—द्रयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पशुकाः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्जुदानि । (शारीर ७) । यहाँ पर प्रत्येक पसली के तीन भाग माने गये हैं—पसली, स्थालक और अर्जुद । इनमें अर्जुद पसली का ही भाग है, उसे पसली से अलग गिनने की आवश्यकता नहीं है । स्थालक कशेरुका (Vertebra) का भाग है, जिसे पसलियों में गिनना उचित नहीं । परन्तु यदि सुभीते के लिए या अपनी विशेष गणनापद्धति के अनुसार इनको अलग भी गिना जाय तथापि अन्तिम दो पसलियों के लिए न अर्जुद होते हैं, न स्थालक । इसलिए प्राचीन गणनापद्धति के अनुसार भी पार्श्व-अस्थियों की संख्या ७२ न होकर ६४ होगी । (५) अस्थियों के उभारों को पृथक् पृथक् अस्थि मानना । जैसे, ऊपर के पसलियों के उभार ; इसके सिवा पीठ की कशेरुकाओं के प्रवर्धन (Transverse process) । वास्तव में ये स्वतन्त्र न होकर एक होते हैं । (६) सामान्य करण (Generalization) की पद्धति । जैसे, एतेनेतरसक्थि वाहू च व्याख्यातौ । एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश । इससे यद्यपि अस्थियों की संख्या में फर्क नहीं पड़ता तथापि वास्तविक संख्या का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता । जैसे, पादकूर्चास्थियों की (Tarsal bones) संख्या करकूर्चास्थियों (Carpal bones) से वास्तव में भिन्न है, परन्तु इस सामान्य करणपद्धति से वह एक हो जाती है । प्रत्येक अंगुलि में तीन हड्डियाँ और अंगूठे में केवल दो ही होती हैं । परन्तु अंगुलियों में अंगूठे की गिनती करने के कारण उनकी कुल संख्या चौदह के बदले पन्द्रह हो जाती है । (७) अस्थियों के ऊपर के निशान देखकर उसके अनुसार एक एक अस्थि की कई अस्थियाँ मानना—जैसे, वक्षोस्थि और श्रोण्यस्थि । (८) गणना करने की पद्धति में भेद होने के कारण एक ही अंग की हड्डियों की संख्या भिन्न भिन्न होती है । जैसे, सुश्रुत में पीठ की अस्थियों की संख्या ३० और चरक में ४५ बताई है । वैसे ही सुश्रुत में सिर की अस्थियों की संख्या ४ और सुश्रुत में ६ बताई गई है । (९) उत्तरकालीन शारीरज्ञानाभाव—शवविच्छेद की प्रथा

वन्द होने के पश्चात् शारीर का प्रत्यक्ष ज्ञान मिलने का माग वन्द हो गया । इसलिए उत्तरकालीन ग्रंथकार, टीकाकार तथा पुराने ग्रंथों के लेखक शारीर के संबंध में अनुमान से अधिक काम लेने लगे । इसका परिणाम यद्यपि अस्थियों की कुल संख्या पर नहीं हुआ तथापि भिन्न भिन्न अंगों की अस्थिसंख्या पर जरूर हुआ, जिससे 'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि इति पञ्चदश' इस प्रकार के प्रमाद या विकृत पाठ-भेद ग्रंथ में प्रविष्ट हो गये । मतभिन्नता के इतने कारण होने पर भी अनस्थियों को अस्थियों में गिनना और अस्थियों के उभारों की स्वतन्त्र परिगणना करना ये ही अस्थिसंख्या-भिन्नता के मुख्य दो कारण हैं । आयुभिन्नता भी एक कारण माना जाता है । इसका विचार आगे ६९वें सूत्र के वक्तव्य के 'पुरुष' की टिप्पणी में किया गया है, उसे देखो । शाखासु—दो ऊर्ध्व और दो अधोशाखाओं की संख्या एक सौ बीस है । यह संख्या आधुनिक संख्या के साथ मिलती है । इसका तात्पर्य यह है कि शाखाओं की अस्थिगणना में एकाध अस्थि को छोड़कर और कोई भेद नहीं है । चरक में नखों का समावेश अस्थियों में करने के कारण यह संख्या कुछ अधिक (१२८) हो गई है । अष्टांगसंग्रह चरकमतानुसारी होने पर भी अंगों की संख्या में चरक से विभिन्नता रखता है । उसके अनुसार शाखाओं की अस्थिसंख्या एक सौ चालीस है—तेषां चत्वारिंशच्छतं शाखासु ॥ श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु—आधुनिक गणना के अनुसार इस विभाग की अस्थियों की संख्या केवल ५० होती है । चरक के अनुसार यह संख्या १४१ और अष्टांगसंग्रह के अनुसार १२० होती है—सर्विंशच्छतमन्तरापी ॥ श्रोवां प्रच्यूर्ध्वम्—इस विभाग में आधुनिक मतानुसार केवल ३६ अस्थियाँ होती हैं । चरक के अनुसार इसमें ९१ और अष्टांगसंग्रहानुसार १०० अस्थियाँ होती हैं—शतमूर्ध्वमिति । अव पदंगों की पृथक् पृथक् अस्थियों की गणना बताई जाती है—

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पापार्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति, त्रिशदेवमेकस्मिन् सक्थिन भवन्ति, एतेनेतरसक्थि वाहू च व्याख्यातौ ॥ १६ ॥

(शाखाओं की अस्थियाँ—) पैर की एक एक अंगुली में तीन तीन (हड्डियाँ होती हैं, इस प्रकार सब मिलकर अंगुलियों में) वे पंद्रह (होती हैं) । तल, कूर्च और गुल्फ संश्रित हड्डियाँ दस, पार्थि में एक, जङ्घा में दो, जानु में एक, ऊरु में एक; (इस प्रकार) एक टांग में तीस हड्डियाँ होती हैं । इसी से ही दूसरी टांग तथा दोनों बाहुओं (की हड्डियों) का वर्णन हो गया है ॥ १९ ॥

वक्तव्य—तानि पञ्चदश—प्रत्येक अंगुलि में तीन तीन हड्डियाँ होती हैं, परन्तु अंगूठे में तीन न होकर केवल दो ही होती हैं; अतः यह संख्या पंद्रह न होकर चौदह होनी चाहिए । परन्तु इस आक्षेप के ऊपर एक उत्तर यह हो सकता है कि अन्य अंगुलियों की जैसी गतिमर्यादा होती है, वैसी गतिमर्यादा अंगूठे के बारे में न होने के कारण उसके तल की अस्थि (शलाका) उसके साथ हिलती है ।

अतः अँगूठ की अस्थिगणना में उसकी तलस्थि उसके साथ गिनी गई है। यह समाधान बहुत ठीक और युक्ति-युक्त (रसयोगसागर, उपोद्घात पृष्ठ १०२) है, उसमें सदेह नहीं, परन्तु निम्न दो कारणों से उसका ग्रहण सुश्रुत पाठ के समर्थन के लिए नहीं किया जा सकता। (१) यदि यह विचारसरणि प्राचीन काल में भी मान्य होती तो अँगुलितल की शलाकाओं की संख्या चार होना जरूर था, परन्तु वह सरया पाँच ही बतलाई गई है—नले पादतले पञ्च शलाकाः। (दलहण)। अष्टांगसंग्रह में भी ऐसा ही वर्णन है—पदेवमकुल्या त्रीण्यस्थीनि तानि पञ्चदश। पञ्च पादशलाकाः। अस्थ्युत्त भी अष्टांगहृदय की टीका में इसी प्रकार लिखते हैं—पचपादशलाकित्रिप्रयकुल्यस्थिक्रययम्। एव पचदशैगनि शलाका पच तु स्मृता। (२) यह कारण विशेष महत्व का है क्योंकि यह सुश्रुतान्तर्गत है। अँगुलियों की संधियों का वर्णन करते समय प्रत्येक अँगुलि में तीन और अँगूठे में दो ही संधियाँ बतलाई हैं—एकैकस्या पादाङ्गुल्यां त्रयत्यय, द्वावहुषे, ते चतुर्दश। यदि अँगूठे में तीन अस्थियाँ अन्य अँगुलियों के समान होतीं तो संधियाँ भी उनके समान तीन होना जरूरी था, परन्तु दो ही संधियाँ लिखी हैं। इस लिए अँगूठे में दो ही अस्थियाँ मानना उचित है। तलवृच शुल्कप्रवितानि दश—पादतल, पादकूर्च और गुल्फ इन तीन समूह की अस्थियाँ इसमें शामिल हैं। पादतल की अस्थियाँ को शलाका भी कहते हैं। इनकी सरया पाँच होती है। यदि अँगुल्यस्थियों की संख्या पंद्रह ही रखी जाय तो इनकी सरया चार माननी पड़ेगी। पादकूर्च—इनमें पाँच अस्थियाँ होती हैं। ये बहुत छोटी छोटी हैं। गुल्फ—जपास्थियों के साथ मिलने वाली हड्डी। यह एक है। इस प्रकार ये दश और यदि पादाङ्गुलियाँ चौदह हों तो ब्यारह होती हैं। जहाया द—जपा में दो हड्डियाँ होती हैं—एक बाहर और एक भीतर। भीतर की मोटी और बाहर की पतली होती है। तानुयेकम्—घुटने के सामने होने वाली यह पतली चपटी हड्डी है। अथोशला को हड्डियों के भंयने नाम—अँगुलि की अस्थियाँ—Phalange, शलाका—Metatarsal bones, कूर्चास्थि—Tarsal bones गुल्फास्थि—Talus पाण्चरस्थि—Calcaneus, पाश्चात्य शारीर में गुल्फ और पार्श्व कूर्चास्थि (Tarsal bones) में समाविष्ट करते हैं और इस तरह पादकूर्चास्थियों की संख्या ७ होती है; अन्तर्जङ्गुस्थि—Tibia, बहिर्जङ्गुस्थि—Fibula जान्वस्थि—Patella, ऊर्वस्थि—Femur। इस प्रकार अथोशला में कुल ३० हड्डियाँ होती हैं। ऊर्ध्व शला की हड्डियाँ के नाम अँगुल्यस्थियाँ—Phalanges, हस्तशलाकाएँ—Metacarpal boneso हस्तकूर्चास्थियाँ—Carpal boneso हस्तगुल्फ—Lunate and Navicular of the carpal bones, पाश्चात्य शारीर के अनुसार हस्तकूर्चास्थियों की संख्या ८ होती है, जिसमें गुल्फ की दो अस्थियों का भी समावेश होगा है। यदि अँगुलियों की अस्थियों की संख्या पंद्रह मानी जाय तो हस्ततलकूर्च गुल्फसंश्लिष्ट अस्थियों की संख्या बाराह होनी चाहिए। यहाँ पर हाथ के लिए जो दश संख्या बतलाई गई है, यह ठीक नहीं है। पैर की जंघा के समान ऊर्ध्वशलाका का सा

भाग होता है, उसको अरबि या प्रकोष्ठ कहते हैं। इसमें भी जंघा के समान बाहर और भीतर की दो अस्थियाँ होती हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि—Ulna, वहिःप्रकोष्ठास्थि—Radius, बाह्यस्थि या प्रगण्ठास्थि—Humerus, हाथ में जान्वस्थि के समान कोई हड्डी नहीं है, परन्तु 'एतेनेतरतस्थि बाह च व्याख्याती इसके अनुसार जान्वस्थि का प्रतिनिधि कूर्चरास्थि हाथ में माना जाता है। वास्तविक वह ह्वन्तः अस्थि न होकर अन्तःप्रकोष्ठास्थि का ऊपर का सिरा है। इसके कूर्चरकूट (Olecranon) या जानुवाल के अनुसार कूर्चरकपाल कहते हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि का यह सिरा उसके साथ सोलह साल की आयु में पूर्णतया जुड़ जाता है। शालास्थियों के सम्बन्ध में हाराणचन्द्र का पाठ निम्न प्रकार का है—नेपादाद्यदशोपर शय शलाकाः। श्लैकस्या पादाङ्गुल्या त्रीणि त्रीणि, अङ्गुष्ठे द्वे, गानि चतुर्दश। तलकूर्चगुल्फ सञ्चिन्त्यनेकादश। पाण्चमिषयम्। जहृदा द्वा। एकमुराविति त्रिस द्वैकरिम्नु सञ्चिन्त मवन्ति। द्वितीयैवम्। एतेनैव जानुर्वर्षेन बाह च अरुच्यन्ते। ह्युराणचन्द्र का यह कथन भी सदेह है क्योंकि यद्यपि बाहु में जान्वस्थि की तरह कूर्चरास्थि नहीं होती तथापि हस्तकूर्चास्थियों में एक अस्थि अधिक होती है, जिससे टांग की अस्थिसरया के बराबर हाथ की अस्थि संख्या हो जाती है।

श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदमगनितत्रेषु चत्वारि त्रिकसञ्चितमेकं पात्रं पट्टात्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽथेवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टात्रिंशति, द्वे अंशरंजके ॥२०॥

(ध्व की अस्थियाँ—) श्रोणी में पाँच, इनमें से गुद भग और नितम्ब में चार, त्रिकाश्रित एक, एक पार्व में छत्तीस, दूसरे में भी इतनी ही (छत्तीस), पीठ में तीस, छाती में आठ, दो अंतःफलक ॥ २० ॥

वक्तव्य—मध्य और तिर की अस्थिगणना में बहुत निम्नता है, जिसका समन्वय करना कठिन है। श्रोण्या पञ्च—आधुनिक गणना के अनुसार दोनों तरफ दो श्रोणिफलक (Os iliopectineum or hip bone) होते हैं। प्रत्येक श्रोणिफलक तीन अस्थियों के संयोग से बनता है। उनके नाम हैं जघनकपाल (Ilium, कूटुन्दरास्थि (Ischium) और भगास्थि (Pubes)। ये तीनों अस्थियाँ आपस में जुड़ी रहती हैं, इसीलिए नयनगणना में वे एक समझी जाती हैं। अष्टांगसंग्रह में नितम्ब की हड्डियाँ दो ही बतलाई हैं—नितम्बोर्ध्वे। चरक और काश्यप संहिता में श्रोणिफलक दो ही बतलाये हैं, परन्तु भगास्थि उससे प्रथक् गिनी है—दो श्रोणिफलक एक भगास्थि। श्रोणी की पाँच हड्डियों का ठीक समर्थन करना कठिन है। त्रिंश—तीनों के संस्थानस्थान को प्रिक बटते हैं। यह शब्द अधिस्तर शृङ्खला और दोनों नितम्बास्थियों के संयोग स्थान के लिए प्रयुक्त होता है—रिचरसकनो पञ्चशलाकाय सञ्चित द्विक मन्म ॥ कभी कभी त्रिंशद्वत् शृङ्खला और अंतःफलकों की संख्या के लिए भी प्रयुक्त होता है—उत्स्थितिभारतममननां शोण्यत् सञ्चित द्वद नमनने करोति। (सुश्रुत, पृष्ठ ३३)। 'द्विसमितीयम्' मे

नीचे के त्रिकस्थान में आश्रित एक हड्डी अर्थात् त्रिकास्थि (Sacrum) समझ सकते हैं। यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनी है। इसके दोनों पार्श्वों से श्रोणिफलक जुड़े रहते हैं। नीचे गुदास्थि या अनुत्रिकास्थि (Coccyx) जुड़ी रहती है। ऊपर से कटि का अन्तिम मोहरा मिला रहता है। इसकी शक्य कुछ तिकोनी होती है और यदि गुदास्थि को इसके साथ मिलाया जाय तो पूरी तिकोनी बन जाती है। गुदास्थि—पृष्ठवंश की यह अन्तिम अस्थि है। चार छोटी छोटी अस्थियों के जुड़ जाने से यह बनती है। सपुच्छ प्राणियों में इसी से पुच्छ निकलता है तथा उनमें ये अस्थियाँ अलग अलग और अधिक संख्या में होती हैं। इसकी भी शक्य तिकोनी है। गुदद्वार के पीछे दवाने पर इसकी नोक को हम स्पर्श कर सकते हैं। श्रोणी की पाँच हड्डियों की संख्या अगर कायम करना हो तो निम्न प्रकार से कर सकते हैं— १ भगास्थि (इसमें दोनों तरफ के भगास्थियों के संयोग को पृथक् माना है), २ नितम्बास्थि, गुदास्थि और १ त्रिकास्थि। पार्श्व पट्टिशत्—पार्श्व की पसलियों (Ribs) की संख्या ३६ होती है। वास्तव में पशुकाएँ प्रत्येक पार्श्व में बारह होती हैं। परन्तु यहाँ पर उनके उभार (Tubercle) तथा स्थालक (पीठ के मोहरों के प्रवर्धन, जिनके साथ पसलियाँ मिलती हैं) अलग माने गये हैं। इसलिए उनकी संख्या तिगुनी हो गई है—पार्श्वोश्चतुर्विंशतिः पशुकाः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकावुदानि। (चरक)। स्थालकानीति पशुकाणां मूलस्थानलम्नानि, स्थालकावुदानि तु शुकामूलान्युदकाकारण्यस्थीनि। (चक्रपाणिदत्त)। पृष्ठ त्रिशत्—पृष्ठवंश (Vertebral column) के पृष्ठ और कटि विभाग की अस्थियों की अर्थात् रीढ़ के मोहरों की संख्या। इसके सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। चरक में इसकी संख्या ४२ बताई है। पशुकाओं की ३६ या ७२ संख्या के सम्बन्ध में संहिता में तथा टीका में जैसा स्पष्टीकरण मिलता है, वैसा स्पष्टीकरण पृष्ठ की संख्या के सम्बन्ध में नहीं मिलता। अतः इसके स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में प्रत्येक अपनी बुद्धि से काम लेता है। वास्तव में पृष्ठ के मोहरे १२ और कटि के २ मिलकर पीठ में १७ अस्थियाँ होती हैं। यहाँ पर जो तीस संख्या बतलाई गई है, उसके सम्बन्ध में एक पक्ष का मत है कि वास्तव में यह संख्या सम्पूर्ण पृष्ठवंश की अस्थियों की है। दूसरे का मत है कि, जैसे पशुकाओं में उनके उभार और स्थालक स्वतन्त्र गिने गये हैं, वैसे ही पृष्ठवंश में मोहरों के प्रवर्धन (Processes) अलग गिने गये हैं। इन दोनों के साथ तीसरा भी एक पक्ष सूचित किया जाय तो अग्रस्तुत नहीं होगा। वह तीसरा पक्ष इस प्रकार का है। पृष्ठवंश के मोहरे आपस में सीधे नहीं मिलाये गये हैं। उनके बीच में गणसूत्रसंतततस्थि के बलय (Intervertebral fibrocartilages) होते हैं। ये बलय काफी मोटे होते हैं। यहाँ तक कि सब मिलकर पृष्ठवंश की लम्बाई की चौथाई के लगभग हो जाते हैं। अतः यह बहुत सम्भवनीय है कि पृष्ठ की अस्थियों में इनकी गणना की गई हो। नवीन गणना के अनुसार पीठ में १७ मोहरे और १७ अन्तःकशेरुबलय अर्थात् दोनों मिलकर ३४ अस्थियाँ हो सकती हैं। श्रद्धावरसि—इसमें

उरःफलक (Sternum) और दो अक्षक (Clavicles) मिलकर तीन अस्थियाँ होती हैं। अक्षक—इसी को हँसली भी कहते हैं। यह लम्बी हड्डी है, जिसका एक सिरा उरःफलक के ऊपर के हिस्से के साथ और दूसरा सिरा अंसफलक के कूट के साथ मिला रहता है। यह हड्डी दो जगह कुछ मुड़ी हुई है। राजवत्सी—दुर्बल और कृश मनुष्यों में यह अधिक उमरी हुई दिखाई देती है क्योंकि इसके ऊपर और नीचे कुछ गढ़ा—सा बन जाता है। उरःफलक या वक्षोस्थि—यह अस्थि चपटी और लम्बी है, जो ग्रीवा के नीचे के भाग से प्रारम्भ होकर उदर के कौड़ीप्रदेश तक रहती है। इस अस्थि के तीन खण्ड होते हैं। ऊपर का चौड़ा और छोटा (Manubrium) भाग, जिसके ऊपर के सिरों में कण्ठकूप (Sternal notch) करके एक गढ़ा होता है। मध्यखण्ड लम्बा होता है। इसमें चार अस्थियाँ जुड़ी रहती हैं। तीसरा अग्रपत्र (Xiphoid process) जो कौड़ीप्रदेश में दवाने पर स्पर्शलभ्य होता है। इस तरह वक्षोस्थि में छः अस्थियाँ होती हैं। सोलह साल के पूर्व वे सब अस्थियाँ स्वतन्त्र होती हैं। इसके पश्चात् २५ साल की उमर तक मध्यखण्ड के चारों विभाग आपस में जुड़ जाते हैं। ऊपर की और नीचे की अस्थियाँ मध्य के साथ अघेड़ उमर के बाद मिलती हैं। द्वे अंसफलक—अंसफलक (Scapula) प्रत्येक पार्श्व में पीछे की ओर एक होता है। इसका आकार कुछ तिकोना होता है। यह चपटी हड्डी है, परन्तु इसमें कई उभार होते हैं। इसका चौड़ा भाग खवे में और मोटा भाग कंधे में रहता है। इस मोटे भाग में अंसपीठ (Glenoid cavity) नामक गढ़ा रहता है, जिसमें बाहु की अस्थि का सिरा मिला और बँधा रहता है। चौड़े भाग के दो पृष्ठ होते हैं। एक पसलियों के समीप का और दूसरा पिछला, जो स्पर्श किया जा सकता है। पिछले पृष्ठ पर तलवार की तरह एक टेढ़ा नीचे से ऊपर की ओर जाने वाला उभार होता है, जिसे अंसप्राचीरक (Spino) कहते हैं। कंधे की ओर इसका सबसे ऊँचा जो भाग होता है, उसे अंसकूट कहते हैं। इसी के साथ अक्षक लगा रहता है। इस अस्थि के तीन किनारे होते हैं—एक पृष्ठवंश की ओर का जो सब से लम्बा होता है, दूसरा कक्षा की ओर का और तीसरा ऊपर का होता है। कक्षा की ओर का सब से मोटा और ऊपर की ओर का सब से छोटा रहता है। ऊपर के किनारे के पास अंसतुण्ड (Coracoid process) नामक मुड़ा हुआ उभार होता है।

ग्रीवायां नव, करठनाडयां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्राणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेप्वेकैकं, पट् शिरसोति ॥ २१ ॥

(शिर और ग्रीवा की हड्डियाँ—) ग्रीवा में नौ, कण्ठनाड़ी में चार, हनु के दो, दाँत बत्तीस, नाक में तीन, तालु में एक, गण्ड, कर्ण और शङ्ख में एक एक, शिर में छः ॥२१॥

वक्तव्य—ग्रीवायां नव—ग्रीवा में वास्तव में सात मोहरे होते हैं। पहले और दूसरे मोहरों को छोड़कर बाकी मोहरे एक से होते हैं। नीचे वाले मोहरे ऊपर वालों की अपेक्षा कुछ बड़े रहते हैं। पहला मोहरा बलयाकार होता है, इसलिए यह चूवाबलया (Atlas) कहलाता है। दूसरे में

अतः अँगूठ की अस्थिगणना में उसकी तलास्थि उसके साथ गिनी गई है। यह समाधान बहुत ठीक और युक्ति-युक्त (रसयोगसागर, उपोद्घात पृष्ठ १०२) है, उसमें सदेह नहीं, परन्तु निम्न दो कारणों से उसका प्रहण सुश्रुत पाठ के समर्थन के लिए नहीं किया जा सकता। (१) यदि यह विचारसरणि प्राचीन काल में भी मान्य होती तो अँगुलितल की शलाकाओं की संख्या चार होना जरूर था, परन्तु वह संख्या पाँच ही बताई गई है—तले पादतले पद्म शलाका । (दह्लण)। अष्टांगसप्रह में भी ऐसा ही वर्णन है—प्रत्येकमङ्गुल्यं त्रीण्यस्थीनि तानि पञ्चदश । पद्म पादचतुर्णां । अष्टाङ्गत्वं भी अष्टाङ्गद्वय की टीका में इसी प्रकार लिखते हैं—पञ्चपादमखारिभिःपद्मत्र्यङ्गुल्यस्थिचतुर्णां । एव पञ्चचतुर्दशानि, शनका पंच तु स्तूना । (२) यह कारण विशेष महत्व का है क्योंकि यह सुश्रुतान्तर्गत है। अँगुलियों की संधियों का वर्णन करते समय प्रत्येक अँगुलि में तीन और अँगुठे में दो ही संधियाँ बतलाई हैं—एकैकस्या पादाङ्गुल्यां त्रयस्य, द्वात्रिंशद्भे, ते चतुर्दश । यदि अँगुठ में तीन अस्थियाँ अन्य अँगुलियों के समान होतीं तो संधियाँ भी उनके समान तीन होना जरूरी था, परन्तु दो ही सन्धियाँ लिखी हैं। इस लिए अँगुठ में दो ही अस्थियाँ मानना उचित है। वल्लुक-गुल्फसन्धितानि दश—पादतल, पादकूर्च और गुल्फ इन तीन समूह की अस्थियाँ इसमें शामिल हैं। पादतल की अस्थियों की शलाका भी बहते हैं। इनकी सत्पा पाँच होती है। यदि अँगुल्यस्थियों की संख्या पंद्रह ही रक्खी जाय तो इनकी सत्पा चार माननी पड़ेगी। पादहृत्—इनमें पाँच अस्थियाँ होती हैं। वे बहुत छोटी छोटी हैं। गुल्फ—जघास्थियों के साथ मिलने वाली हड्डी। यह एक है। इस प्रकार वे दश और यदि पादाङ्गुलियाँ चौदह हों तो ब्याह्र होती हैं। जहाया दे—जघा में दो हड्डीयाँ होती हैं—एक बाहर और एक भीतर। भीतर की मोटी और बाहर की पतली होती है। चतुर्ण्यम्—गुठने के सामने होने वाली यह पतली चपटी हड्डी है। अशोशाला की हड्डीयों के मध्ये नाम—अँगुलि की अस्थियाँ—Phalanges, शलाका—Metatarsal bones, कूर्चास्थि—Tarsal bones गुल्फास्थि—Talus पाल्प्यस्थि—Calcaneus, पाश्चात्य शारीर में गुल्फ और पाल्प कूर्चास्थि (Tarsal bones) में समाविष्ट करते हैं और इस तरह पादकूर्चास्थियों की संख्या ० होती है; अन्तर्जङ्गुस्थि—Tibia, वहिर्जङ्गुस्थि—Fibula जान्वस्थि—Patella, उर्वस्थि—Femur। इस प्रकार अशोशाला में कुल ३० हड्डीयाँ होती हैं। उर्व शलाका की हड्डीयों के नाम—अँगुल्यस्थियाँ—Phalanges हस्तशलाकाएँ—Metacarpal bones हस्तकूर्चास्थियाँ—Carpal bone हस्तगुल्फ—Lunate and Navicular of the carpal bone पाश्चात्य शारीर के अनुसार हस्तकूर्चास्थियों की संख्या ८ होती है, जिसमें गुल्फ की दो अस्थियों का भी समावेश होता है। यदि अँगुलियों की अस्थियों की संख्या पंद्रह मानी जाय तो हस्ततलकूर्च गुल्फसन्धित अस्थियों की संख्या चारह होनी चाहिए। यहाँ पर हाथ के लिए जो दश संख्या बताई गई है, वह ठीक नहीं है। पैर की जङ्गा के समान ऊर्ध्वशाला का जा

भाग होता है, उसको धरति या प्रकोष्ठ कहते हैं। इसमें भी जङ्गा के समान बाहर और भीतर की दो अस्थियाँ होती हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि—Ulna, वहिःप्रकोष्ठास्थि—Radius, पाद्मस्थि या प्रगण्ठास्थि—Humerus। हाथ में जान्वस्थि के समान कोई हड्डी नहीं है, परन्तु 'शोतेनरसस्थि बाह्व च भ्याख्याते इसके अनुसार जान्वस्थि का प्रतिनिधि कूर्च रास्थि हाथ में माना जाता है। वास्तविक वह स्वन्त्र अस्थि न होकर अन्तःप्रकोष्ठास्थि का ऊपर का सिरा है। इसकी कूर्चरूट (Olecranon) या जानुकपाल के अनुसार कूर्चरूपकाल कहते हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि का यह सिरा उसके साथ सोलह साल की आयु में पूर्णतया जुड़ जाता है। शालास्थियों के सम्बन्ध में हाराणचन्द्र का पाठ निम्न प्रकार का है—नेषामशदशोत्तर श्व शालाया । एकैकस्या पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि, त्रिंशद्भे, तानि चतुर्दश । तलकूर्चगुल्फ सन्धिवान्येकादश । पाष्प्योमैद्यम् । जहाया दे । एकमुराविति त्रिंशद्भे त्रिंशत् सन्धिं भवन्ति । द्वितीयैवेत्यम् । एतैव जानुर्वेन बाह्व च ध्यायायाः । हाराणचन्द्र का यह कथन भी सदेह है क्योंकि यद्यपि बाहु में जान्वस्थि की तरह कूर्चरास्थि नहीं होती तथापि हस्तकूर्चास्थियों में एक अस्थि अधिक होती है, जिससे टांग की अस्थिसंख्या के बराबर हाथ की अस्थि संख्या हो जाती है।

श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदमगनितमष्टैर्षु चत्वारि, त्रिकसन्धितमेक पाश्र्वे पटत्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, छात्राभ्रसि, द्वे अंससंलके ॥२०॥ (घट की अस्थियाँ—) श्रोणी में पाँच, इनमें से गुद भग और नितम्ब में चार, त्रिकोणित एक, एक पार्श्व में छत्तीस, दूसरे में भी इतनी ही (छत्तीस), पीठ में तीस, छाती में आठ, दो अंसफलक ॥ २० ॥

वक्तव्य—मध्य और सिर की अस्थिगणना में बहुत भिन्नता है, जिसका समन्वय करना कठिन है। श्रेण्यां पञ्च—आयुक्तिक गणना के अनुसार दोनों तरफ दो श्रोणिफलक (Os innominatum or hip bone) होते हैं। प्रत्येक श्रोणिफलक तीन अस्थियों के संयोग से बनता है। उनके नाम हैं जघनकपाल (Ileum, कूङ्गुन्दरास्थि (Ischium) और भगास्थि (Pubes)। वे तीनों अस्थियाँ आपस में जुड़ी रहती हैं, इसलिए नव्यगणना में वे एक समझी जाती हैं। अष्टांगसप्रह में नितम्ब की हड्डीयाँ दो ही बतलाई हैं—निगमवेदें। चरक और कार्यप संहिता में श्रोणिफलक दो ही बतलाये हैं, परन्तु भगास्थि उससे पृथक् गिनी है—दो श्रोणिफलक एक भगास्थि। श्रोणी की पाँच हड्डीयाँ का ठीक समर्थन करना कठिन है। त्रिक—तीनों के सन्धानस्थान को त्रिक कहते हैं। यह शब्द अधिकतर पृष्ठवश और दोनों नितम्बास्थियों के संयोग स्थान के लिए प्रयुक्त होता है—सिकन्धस्थाने पृष्ठवशस्थाने सन्धितान् त्रिक भवन् । कर्मी कर्मी त्रिकशब्द पृष्ठवश और अंसफलकों की सन्धि के लिए भी प्रयुक्त होता है—उर-र-मलिकसवारणमा-मयीयेषां त्रिकसन्धितेन हृदया-मलम्बन करोति । (सुश्रुत, सूत्र २१)। 'विदसन्धितवेत्यम्' से

दंत के समान एक उभार होता है, इसलिए यह दन्तपृष्ठा (Epiatrophus) कहलाता है। इसके दंत के ऊपर पहला बैठता है और दोनों नरमाङ्गी (Pivot Joint) की तरह स्थित होते हैं। इसके कारण सिर में ऊपर उधर घुमाव काफी हो सकता है। अष्टांगसंग्रह में प्रीवासियों की संख्या १३ और चरक में १५ बताई है। प्रीवा की अस्थियों के सबध में भी मतभेद है। अष्टांगशास्त्र—ये प्रायः स्वरयन्त्र की लक्षणस्थियाँ मालूम होती हैं। ये लक्षणस्थियाँ तीन अकेली और तीन दो दो करके भी होती हैं। यदि कण्ठनाडी (Larynx) के छतों का विचार किया जाय तो वे संख्या में १६-२० होते हैं। दो हथुने—इससे वाम और दक्षिण तरफ की हनु के दो विभाग समझने चाहिए। वास्तव में हनु की हड्डी एक होती है। यह हड्डी आधुनिक परिभाषा में अधोहृन्वस्थि (Mandible) कहलाती है। परंतु वचन में दो साल की उमर तक इसके दो विभाग साफ साफ दिखाई देने हैं। चरक में हनु और हनुमूलबंधन करके हनु की तीन हड्डियाँ बताई हैं। नासावा त्राणि—दोनों तरफ की नासा की दो हड्डियाँ (Nasal bones) और नासा के पर्दे की एक। इसमें Vomer और Ethmoid दोनों का सबध आता है। एक तालुनि—ये वास्तव में दो होती हैं, परंतु एक मानी गई है। चरक और कारक्यपसंहिता में ये दो ही बताई गई हैं—दो तालुके (चरक)। दो दो शोणी तालुके तथा (कारक्यपसंहिता)। गण्डकर्णोद्देश्वेवैर—एक हड्डी एक तरफ, दूध तरफ ये दू हड्डियाँ होती हैं। इनकी मर्यादा कहीं पर नहीं बताई गई है, परंतु यदि करोटी एक तरफ से देखी जाय तो इनसे निम्न अस्थियों का बोध होता है।

गण्डस्थि—इसमें Maxilla और Malar (अधोहृन्वस्थि और गण्डस्थि) का समावेश कर सकते हैं। कर्णस्थि—इससे Mastoid portion of the temporal (कर्णमूलस्थि) समझ सकते हैं। शरारस्थि—इसमें Sphenoid (जनुकास्थि) और Squama of the temporal (शास्त्रस्थि का शंखचक्र) का समावेश कर सकते हैं। पट्टिशिरसि—शिरस से यहाँ शिरपटल (Roof or vault) का अर्थ लेना चाहिए। पटल में वास्तव में चार अस्थियाँ होती हैं। पुरकपाल एक, पार्श्वकपाल दो और पश्चिम कपाल एक। चरक और कारक्यपसंहिता में सिर की चार हड्डियाँ बतलाई हैं। यहाँ पर छ कहने का कारण यह मालूम होता है कि वचन में प्रायः छ साल तक पुर और पश्चिम कपाल दो भागों में विभक्त रहता है। अतः प्रत्येक की दो दो हड्डियाँ होने से कुल संख्या छ हो जाती है। नवीन गणना के अनुसार सिर की अस्थियों में प्रीवा के मोहरों का समावेश नहीं किया जाता और मुल के साथ सिर की हड्डियाँ बार्स होती हैं। इनके अंग्रेजी तथा सध प्रचलित संस्कृत नाम दिये जाते हैं। पुरकपाल—Frontal, पार्श्वकपाल—Parietal, पश्चिमकपाल—Occipital, शंखकास्थि—temporal, जनुकास्थि—Sphenoidal, शरारस्थि—Ethmoidal, नासास्थि—Nasal, अधोहृन्वस्थि—Maxilla, अश्रुपीठास्थि—Lachrymal गण्डस्थि—Malar or zygomatic, तालुस्थि—Palatine, शुक्रिकास्थि—Inferior nasal concha, सीरिकास्थि—Vomer अथ इसके बाद चरक, सुश्रुत और नवीन अस्थि संख्या का तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है, जिससे तीनों के साम्य और वैषम्य के स्थान तुल्य ध्यान में आ जायेंगे।

अस्थिसंख्यातुलनात्मक कोष्ठक

| चरक | सुश्रुत | नवीन |
|--------------------|---------|------|
| मुख | — | — |
| पाद—अंगुलियाँ | — | — |
| ” शलाकाएँ | — | — |
| ” अधिष्ठान | — | — |
| ” गुरुक | — | — |
| ” पार्श्व | — | — |
| हस्त—अंगुलियाँ | — | — |
| ” शलाकाएँ | — | — |
| ” अधिष्ठान | — | — |
| ” मणिक | — | — |
| अन्तर्गोत्रास्थि | — | — |
| बहिर्गोत्रास्थि | — | — |
| जानुकपालिका | — | — |
| जानु | — | — |
| ऊरु, नलक | — | — |
| अन्तःप्रकोष्ठास्थि | — | — |
| बहिःप्रकोष्ठास्थि | — | — |
| कर्णस्थि | — | — |
| धातुनलक | — | — |
| | १२८ | १२० |

धद् (अन्तराध)

| चरक | सुश्रुत | नवीन | | |
|-------------------|----------|----------------|------------------|----|
| श्रोणिफलक | } श्रोणी | Os innominatum | 2 | |
| भगास्थि | | ४ | Sacrum | 1 |
| त्रिक | | १ | Coccyx | 1 |
| अनुत्रिक | | — | Thoracic, lumbar | |
| पृष्ठ की अस्थियाँ | | ३० | Vertebrae | 17 |
| पशुंक | | २४ | } Ribs | 24 |
| „ अर्युद | | २४ | | |
| „ स्थालक | | २४ | | |
| उरस की अस्थियाँ | | १४ | Sternum | 1 |
| अक्षक | | २ | Clavical | 2 |
| अंस | २ | — | — | |
| अंसफलक | २ | Scapula | 2 | |
| | १४० | | 50 | |

| | शिर, ग्रीवा | | | | |
|------------------------|-------------|---------------------------|----------|------------|---|
| ग्रीवा की अस्थियाँ | १५ | Cervical vertebra | 7 | | |
| जघु | १ | — | — | | |
| हन्वस्थि | १ | Mandible | 1 | | |
| हनुमूलबंधने | २ | — | — | | |
| शिरःकपाल | ४ | } Frontal | 1 | | |
| ताल्वस्थियाँ | २ | | | } Parietal | 2 |
| शंखास्थियाँ | २ | | | | |
| नासास्थि | } १ | Palatines | 2 | | |
| गण्डकूट | | २ | Temporal | 2 | |
| ललाट | — | Nasals | 2 | | |
| कर्णास्थियाँ | — | Malar | 2 | | |
| दाँत | ३२ | — | — | | |
| „ उल्लूखल | ३२ | — | — | | |
| जतुकादि अन्य अस्थियाँ | — | Auditory ossicles | 6 | | |
| अनिर्दिष्ट या अनिर्णीत | — | — | — | | |
| | ९२ | Sponoidal and other bones | 10 | | |
| | | | 36 | | |

पतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा—कपाल-
वचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि । तेषां जानुनितम्बां-
सगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुच-
कानि, घ्राणकर्णश्रोवाक्षिकोपेषु तरुणानि, पार्श्व-
पृष्ठोरःसु वलयानि, शोपाणि नलकसंज्ञानि ॥२२॥

(अस्थियों के प्रकार—) ये (शरीरगत अस्थियाँ)
पाँच प्रकार की होती हैं। जैसे—कपाल, रुचक, तरुण,
वलय और नलकसंज्ञक । इनमें से जानु, नितम्ब, अंस,
गण्ड, तालु, शङ्ख और सिर (पटल इन स्थानों) में
कपाल (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); दाँत तो रुचक
(संज्ञक अस्थि हैं;) घ्राण, कर्ण, ग्रीवा और अक्षिकोप में
तरुण (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); पार्श्व, पृष्ठ और उर

में वलय (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); शेष अस्थियाँ
नलकसंज्ञक होती हैं ॥२२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शरीर के भीतर मिलने वाली
सब अस्थियों के संगठन और आकार के अनुसार पाँच
प्रकार वतलाये गये हैं। कपाल—मिट्टी के घड़े का भाग,
खपड़ा या खप्पर। शरीर की कुछ हड्डियाँ इस आकार की
होती हैं, इसलिए वे कपाल कहलाती हैं। सिर के पटल
की हड्डियाँ कपाल के साथ अन्य कपालाकारी हड्डियों की
अपेक्षा अधिक मिलती जुलती हैं। इसलिए कपाल से
खोपड़ी का भी बोध होता है। कपालास्थियों को चपटी
हड्डियाँ (Flat bones) कहते हैं। जहाँ पर पेशियों
के निबंधन (Attachment) के लिए अधिक स्थान की

आवश्यकता होती है या भीतरी अंग की रक्षा करने की आवश्यकता होती है, वहाँ पर चपटी हड्डियाँ रहती हैं। चपटी हड्डियों के दोनों पृष्ठ बड़े मजबूत होते हैं और बीच में जो अवकाश रहता है, उसमें सुपिर धातु (Spongy tissue) होती है। रचन—नमक का द्रुक्का—सौरचल स्थावक मयपावथ्र तमनम् । रुचक रोचन भेरि दीपन पाचन परम् ॥ (भावप्रकाश) । सौरचल लवण के द्रुक्के के समान दिवाई देते हैं, इसलिए दाँत रचक कहलाते हैं तथा उसके समान वे मयुर भी होते हैं—सुदति रचामि ह्यु । (सुधृत, निदान १२) । रचन कहने का और भी एक कारण हो सकता है। रुचि उत्पन्न करने वाले पदार्थों को भी रचक कहते हैं। जैसे—सौरचल लवण, मानुलुंग इत्यादि । भाजन भी ज्व दाँतों के द्वारा खुर चयाया जाता है, तब रचिकर होता है। इसलिए भी दाँत रचक कहलाते होंगे। म० म० गणनाथसेन प्रयच्छारीर में रचक का अर्थ दूसरा करते हैं—रचामि रचमारुपाय ।

रुचक नाम वृद्धिवा कबही चिरयोनि भाव । वरुण—जिन हड्डियों में अस्थिभवन (Ossification) का कार्य पूर्ण नहीं हुआ है, प्सी हड्डियाँ । जन्म के समय शरीर की कुछ हड्डियाँ पूर्ण अस्थिभूत होती हैं और कुछ अपूर्ण अस्थिभूत होती हैं। अस्थिभवन होने से पूरे हड्डियों के स्थान में जो चीज होती है, वह सफेद या पीले रंग की चिकनी, चमकदार और रचकदार रहती है। इसी को कार्थिय या तर्णास्थि (Cartilage) कहते हैं। बेटे महीने के गर्भ के शरीर में कहीं भी अस्थि नहीं मिलेगी। अस्थि बनने का काम इसके बाद शुरू होता है और जवानी तक प्रायः सभी तर्णास्थियाँ परिपूर्ण अस्थि में परिवर्तित होती हैं। शरीर में कुछ तर्णास्थियाँ पसी हैं कि जो जीवन भर तरण ही तरण रहा करती हैं। जैसे—स्वयन्त्र, टेंडूबे, कान, नाक इत्यादि अंगों की । तथापि इनमें से कुछ तर्णास्थियाँ, विशेष करके स्वयन्त्र और टेंडूबे (कण्ठनाडी) की, बुढ़ापे में अस्थिभूत हो जाती हैं। आयुर्वेद में कण्ठनाडी की तर्णास्थियाँ हड्डियों में गिनने का यही कारण हो सकता है—The thyroid, cricoid and the greater part of the arytenoids consist of hyaline cartilage, and become more or less ossified as age advances. By the sixty fifth year the cartilages may be completely converted into bone Grey & Anthonn इस तरह शरीर में तर्णास्थियाँ दो प्रकार की होती हैं एक वह जो स्वभाव से ही उचित आयु में पूर्ण अस्थि बन जाती हैं और दूसरी वह जो स्वभाव से ही प्रायः तर्णावस्था में रहती हैं। वन्य—वलय या गोल आकार की। यहाँ पर हड्डियों के जो पाँच प्रकार किये गये हैं, उनमें शरीर की समस्त हड्डियाँ आ जाती हैं। रुचक प्रकार केवल दाँतों के लिए परिमित है। तरण प्रकार अस्थिबृद्धि की दृष्टि से किया गया है। शेष जो तीन प्रकार रहे हैं, उनमें आकार की दृष्टि से शरीर की समस्त अस्थियाँ आ जाती हैं। कपालास्थियाँ वे हैं जिनमें लम्बाई चौड़ाई काफी होती है, मोटाई बहुत कम होती है और जो चपटी रहती है। नलकास्थियाँ वे हैं जिनमें लम्बाई काफी होती

है, चौड़ाई और मोटाई प्रायः बराबर होती है और जो नलिका के आकार की गोल होती हैं। इन दो विभागों में जो अस्थियाँ नहीं आती वे सब वलय-विभाग में आती हैं। पाश्चात्य शरीर में आकार के अनुसार अस्थियों के चार प्रकार किये जाते हैं—१ चपटी (Flat) २ लम्बी (Long) ३ छोटी (Short), और ४ विषम (Irregular) । आयुर्वेद में आकार के अनुसार केवल तीन प्रकार होते हैं जिनमें से चपटी और लम्बी हड्डियाँ कपाल और नलका हड्डियों के साथ मिलती हैं। शेष केवल वलय प्रकार रहता है अर्थात् इस प्रकार में पाश्चात्य के विषम और छोटा ये दो प्रकार आ जाते हैं। इसलिए वलय प्रकार में Short and Irregular bones का समावेश करना चाहिए। छोटी हड्डियों में हाथ पैर की कूर्चास्थियाँ (Carpal and Tarsal bones) और विषमास्थियों में पीठ के मोहरे आ जाते हैं। वलय में, अतः, इनका समावेश करना उचित है। भावप्रकाश में इनका समावेश किया गया है—गाण्यो शशुतो पृष्ठे वयोऽनुरापायु । शब्दयोर्वलवानि श्चु ॥ आगे वलयास्थियों का जो सूत्र है, उसमें 'पाथिपावथ्रोरु वलयानि' ऐसा एक पाठभेद मिलता है। यह पाठभेद समीचीन है। इसमें पाणिपाद की कूर्चास्थियाँ अभिप्रेत हैं। हाराणसमत यही पाठ है। कुङ्क लोग इस पाठभेद को समीचीन नहीं समझते—पाथिपादवाथ्रोरुवरो सु वलयानि इति पाठस्तु न समीचीन यीश्यामुक्तेन भोजवचनेन सह विपादा प्रत्यक्ष विरोधात् । (निर्णयसागर सुधृतसंहिता पादटिप्पणी) भोज का वचन नलकास्थियों के निर्देश के लिए है इत्यपादाहुतितके कृच्छे मणिवचयो । वाङ्मनादये ५ जानीयाङ्गवचानि तु ॥ (सुधृतटीका में हृदय से उ भोजवचन) । इस वचन में कूर्च का समावेश नलकास्थि में किया है, इसलिए 'पाथिपावथ्रोरु वलयानि' यह समीचीन नहीं मान्य होता। हाथ और पैर की जो छह छोटी अस्थियाँ (Carpal and tarsal) होती हैं, उन कोई विचारी मनुष्य नलकास्थियों में नहीं गिनेगा। इस समावेश गोल अस्थियों में ही हो सकता है। इसी उपर्युक्त भोजवचन का अर्थ निम्न प्रकार का होता है हाथ पैर की अंगुलियों में (Phalanges) उनके तल (शालाकार) Meta carps and meta tarsals) प्रक (मणियन्त्र) में, दोनों याहु और जडु में नलकसर अस्थियाँ जानना चाहिए। इस प्रकार अर्थ करने से उपर्युक्त पाठभेद का तथा भोजवचन का उचित मतलब निकलता है। नलक—लम्बी और भीतर से नालीदार। इस प्रकार की अस्थियाँ शालाकारों में मिलती हैं। इसके दो भाग हो हैं—प्रात (Epiphysis) और शरीर (Diphyysis) । शरीर बेलनाकार (Cylindrical) होकर उसके मध्य में एक नाली होती है, जिसमें मज्जा (Marrow) होती है। शरीर नाली के आस पास का भाग सुपिर रहता है। इसमें मज्जा रहती है। सब से ऊपर कठिन भाग रहता है। प्रां भाग शरीर की अथेचा कुछ मोटे होते हैं क्योंकि ये दूसरी अस्थियों से सधित होते हैं तथा इनके ऊपर कायु अं पेशियों की कण्ठरापें छगी रहती हैं।

सगठन की दृष्टि से इन पाँच प्रकार के तीन भेद होंगे

हैं। अतः उनका संगठन नीचे दिया जाता है। अस्थि का संगठन—अस्थियाँ दो प्रकार के पदार्थों से बनी हैं— १ सेन्द्रिय, और २ निरिन्द्रिय या खनिज। ये दोनों पदार्थ अयस्संघात (Reinforced concrete) की तरह आपस में मिले रहते हैं। खनिज पदार्थों से अस्थियों में दृढ़ता आती है और सेन्द्रिय पदार्थों से उनमें लचक आती है। अस्थि को भट्टी में जलाने से उसके सेन्द्रिय पदार्थ जल जायँगे और वह स्पंज के समान जालीदार दिखाई देगी। इस जाली के तार खनिज पदार्थ से बनते हैं। अतः उसका लचकलीलापन नष्ट होकर वह भुरभुरी (भंगुर Friable) बन जाती है और दवाने पर उसका चूरा बन जाता है। तोल में ये खनिज पदार्थ $\frac{2}{3}$ होते हैं। इन खनिज पदार्थों में कैल्सियम फॉस्फेट सब से अधिक (५१ प्रतिशत) होता है। इसके सिवाय कैल्सियम कार्बोनेट (११ प्रतिशत), कैल्सियम ग्लोराइड, मगनेशियम फॉस्फेट, और सोडियम ग्लोराइड (खाने का नमक) ये लवण भी होते हैं। यदि अस्थि को जलमिश्र नमक के, गंधक के या शोरे के तेजाब में कुछ देर रक्खा जाय तो खनिज-पदार्थ घुल जायँगे और केवल सेन्द्रिय पदार्थ बचे रहेंगे। खनिज-पदार्थ-विरहित अस्थि तान्त्व धातु (Fibrous tissue) और कोशाओं से बनती है। यह बहुत मुलायम हो जाती है। इसको मोड़ने की कोशिश की जाय तो वह मुड़ सकती है तथा लम्बी हो तो उसमें गाँठ भी लगाई जा सकती है। जब खाद्य पेय द्रव्यों में चूने की कमी होती है या उसके सारस्वीकरण के लिए आवश्यक जीवद्रव्य 'डी' (Vitamine. D) की कमी होती है, तब हड्डी के सेन्द्रिय भाग में चूने का संचय ठीक तौर से नहीं होता और हड्डी में दृढ़ता कम होती है, जिससे वह टेढ़ी हो जाती है। इस अवस्था को अस्थिफक्क या वक्रता (Rickets) कहते हैं और यह अवस्था बच्चों में पाई जाती है (१० अध्याय के २५वें श्लोक के वक्तव्य में 'फक्क' देखो)। अस्थि की सूक्ष्म रचना—अस्थि नालियों के एक पूल (बन्दल) की तरह होती है। ये नालियाँ हावर्सियन नालियाँ (Haversian canals) कहलाती हैं। इनमें रक्तवाहिनियाँ और नाडियाँ (Nerves) होती हैं। इन नालियों के चारों ओर सूत्रों के कई घेरे होते हैं। इन घेरों के बीच में अस्थि की खास कोशाएँ होती हैं। इनकी शकल मकड़ी जैसी होती है। कोशाओं के घरों से बहुत सी सूक्ष्म नालियाँ (Canaliculi) निकली रहती हैं, जो आस पास की नालियों से ढाली रहती हैं। इन नालियों में रक्त का पोषक भाग बहता है और कोशाओं और सूत्रों का पोषण करता है। कोशाओं और सूत्रों के बीच में चूने के लवण संचित होते हैं। कास्थि या तरुणास्थि की सूक्ष्म रचना—तरुणास्थि दो प्रकार की होती है—सूत्रमय और सूत्र-विहीन। सूत्रमय में उसकी खास कोशाओं के अतिरिक्त सूत्र होते हैं। सूत्र के रंग के अनुसार इसके दो भेद किये गये हैं—पीत सूत्रमय और श्वेत सूत्रमय। पीत सूत्रमय तरुणास्थि में लचकलीलापन अधिक होता है। विशुद्ध तरुणास्थि (अस्थिभवन होने से पूर्व) केवल सेन्द्रिय द्रव्यों से बनी रहती है। बहुत सी अस्थियों की जगह पहले तरुणास्थियाँ होती हैं। धीरे धीरे इनमें अस्थिविकासकेन्द्र (Centres of

ossification) उत्पन्न होकर उनके चारों ओर अस्थि बनने का कार्य प्रारंभ होता है, जिससे चूने के तथा अन्य लवण उनमें इकट्ठे होने लगते हैं और कास्थि की कोशाओं की जगह अस्थि की कोशाएँ बनने लगती हैं। प्रत्येक अस्थि में कई केन्द्र प्रायः हुआ करते हैं। लम्बी अस्थियों में सब से पहले गात्रों में अस्थि बनना प्रारंभ होता है। किसी में एक, किसी में अनेक केन्द्र होते हैं। अस्थिविकासकेन्द्र नियत समय पर उदय हुआ करते हैं और तरुणास्थियों से अस्थियों की पूर्णता होने की आयु भी निश्चित रहती है। दाँतों की रचना और संगठन—प्रत्येक दाँत के तीन विभाग होते हैं। (१) दंताग्र या शिखर—यह वह भाग है जो श्वेत और चमकदार होता है तथा दन्तमांस से ऊपर निकला रहता है। इसी चमक (रुचकता—चमक—चमकदासु यत्र च रुचकतां गताः। शिशुपालवध १३-५३) के कारण संस्कृत में दाँत रुचक कहलाते हैं। दाँतों का यही भाग हमेशा देखने में आता है। (२) दंतशीवा—शिखर से नीचे जो किंचित् संकुचित भाग रहता है, उसको दंतशीवा कहते हैं। (३) दंतमूल—शीवा के नीचे जबड़े के गड्ढे (दंत उल्लखल) में गड़ा हुआ जो भाग होता है, वह दन्तमूल कहलाता है। कुछ दाँतों में एक, कुछ दाँतों में दो और कुछ दाँतों में तीन मूल होते हैं। दाँत का अगर व्यत्यस्त छेद लिया जाय तो उसमें तीन तर्हें मिलती हैं। सब से बाहर श्वेत और चमकदार तह होती है। यह तह केवल दंतमांस से ऊपर के हिस्से पर होती है। यह स्तर दंतवल्क या कवच (Enamel) कहलाता है। शरीर के सब पदार्थों में यह कठिनतम (निदान १६-३३) पदार्थ है। इसमें सेन्द्रिय पदार्थ अत्यल्प मात्रा में होते हैं। कुल निरिन्द्रिय पदार्थों की राशि ९६% के लगभग होती है। अस्थि में जो लवण होते हैं, वे ही लवण इसमें भी होते हैं, परंतु फर्क इतना ही होता है कि कैल्सियम फॉस्फेट की राशि अधिक (८९% के लगभग) होती है। इस कवच के नीचे जो दूसरी चीज होती है, वह दन्ती (Dentine) कहलाती है। यह भी बहुत कठिन होती है, परंतु कवच से नरम रहती है। इसका रासायनिक संगठन अस्थि के संगठन से बहुत कुछ मिलता है। दन्तमूल के सार के ऊपर कवच न होकर उसकी जगह एक और चीज होती है, जो वास्तविक अस्थि के समान होती है। इसको दन्तप्रस्तर (Crusta Petrosa or Cement) कहते हैं। सब से भीतर दाँत का खोखला भाग होता है जिसके भीतर सूक्ष्मतन्तु, रक्तवाहिनियाँ और नाडीसूत्र होते हैं। इसको दन्तमज्जा कहते हैं। रक्तवाहिनियाँ और नाडीसूत्र दन्तमूलगत एक छिद्र में से भीतर प्रवेश करते हैं। दाँत और तरुणास्थियाँ अस्थियों के साथ गिनने की पद्धति कहाँ तक युक्तियुक्त है?—दाँतों और तरुणास्थियों की सूक्ष्म रचना अस्थियों से विभिन्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सूक्ष्मरचनाविज्ञान सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के आविष्कार के पश्चात् उत्पन्न हुआ वैद्यक का एक विभाग है। इसके आधार पर अर्वाचीन काल में किये वर्गीकरण की दृष्टि से प्राचीन काल में मोटी मोटी दाँतों के आधार पर किये हुए वर्गीकरण को देखना उचित नहीं है। यदि अर्वाचीन विज्ञानसंमत कुछ अन्य पहलुओं से प्राचीन वर्गीकरण की

और देखा जाय तो यह वर्गीकरण वैज्ञानिक मालूम होता है। दाँतों का विचार हीजिए। यदि रामायनिक संगठन की दृष्टि से दाँत और अस्थि की ओर देखा जाय तो, जैसे शारीरगत अस्थियाँ कार्य-भिन्नता के कारण विविध आकार की होती हैं, कोई अधिक कठिन होती है, कोई कुछ नरम रहती है, बाहर का भाग कठिन होता है, भीतर का भाग सुपिण होता है परंतु आखिर में सब अस्थियाँ ही होती हैं, जैसे ही दाँत शरीर के बाहर अनावृत (Exposed) होने के कारण तथा चबाने के कार्य के होने के कारण कवच के कारण तथा सार में अस्थि सम और प्रस्तर में वास्तविक अस्थि के समान बनाये गये हैं, परंतु उनका रासायनिक संगठन अस्थि के समान ही होता है। अतः दाँतों को कार्य भिन्नता के कारण उत्पन्न हुआ अस्थियों का ही विशेष स्वरूप मानने में कोई असाधारण्य नहीं हो सकता—*Enamel is the hardest substance in the body. It is made up of minute prisms of the same salts as those of bone. The dentine resembles bone in chemical composition. Sheathing the portion of dentine which is beneath the level of the gum is a layer of true bone called the cement or crusta petrosa. Haiburton's Physiology* आगे १०४ अध्याय के २२वें सूत्र के वक्तव्य में दन्तान्नेद का टिप्पणी देखो।

अब तरणास्थियों का विचार हीजिए। यदि शरीरगत हनायु, सिरा, पेशियाँ इत्यादि स्रुदु (बल्ली के समान आ स्वयं खड़े नहीं हो सकते) पदार्थों को आधार या आधार देने की दृष्टि से अस्थि और तरणास्थि का विचार किया जाय तो ये दोनों भी समानरूपेण इन स्रुदु पदार्थों को आधार देते हैं। अतः शरीर के सार (Frame work) में आज भी दाँतों का वर्गीकरण एक ही होता है। इसलिये अस्थियों के साथ तरणास्थियों को गिनने के प्राचीन वर्गीकरण में कोई विशेष असाधारण्य नहीं है—*The skeleton. This is the frame work on which soft parts are built. It consists of bones and cartilages which are bound together by ligaments of fibrous tissues. Serving a similar supporting function in the body as bone, cartilage is popularly known as quiescent. Haiburton's physiology* माता-जासा की तीन दीवारें होती हैं, एक भीतर का पर्दा और दो बाहर की। इनका ऊपर का भाग कठिन होता है, जो अस्थि का बनता है। नीचे का भाग मुलायम रहता है। इसमें तरणास्थियाँ होती हैं। ये तरणास्थियाँ जीवनभर तरण रहती हैं। कर्ण-कान का जो बाह्य भाग होता है, उसके झकुकुली (Pinna) में तथा बृहत् (Extrinsic) मूत्राशय के बाहरी ऽ भाग में तरणास्थियाँ होती हैं। यह तरणास्थियाँ भी जीवनभर तरण ही रहती हैं। मीवा-मीवा प्रदेश स्थित कण्ठनाची याने टेंडुवा और स्वरयन्त्र। टेंडुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाएँ (Trachea, Bronchi and bronchioles) तथा स्वरयन्त्र ये अन्न तरणास्थियों से बने हुए हैं। टेंडुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाओं की तरणास्थियाँ

एकलेखर होती हैं। इन धृत्तों के मुँह पीठ से मुले रहते हैं। कहीं कहीं ऊपर और नीचे के झुके कुछ अंश तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। सब झुके आपस में तान्त्व धातु के द्वारा बंधे रहते हैं। स्वरयन्त्र की तरणास्थियों का विवरण पीछे २१ वें सूत्र के वक्तव्य में कुछ किया है। टेंडुवे और कण्ठनाची की तरणास्थियों में सुरापे में अस्थि-भवन की कुछ प्रवृत्ति होती है। अचिरोच-आँतों को दाकने वाली चीज, अर्थात् वस्त्र या पलक। पलकों के मध्य में तन्तुनिर्मित एक दृढ पट्टी (Tarsus) होती है, जिसके कारण पलक में कुछ दृढता आ जाती है और उसका आकार स्थिर रहता है। ये पट्टियाँ न अस्थि है, न तरणास्थि है, परन्तु तान्त्व धातु (Fibrous tissue) की बनी हैं। पार्व-शुभो सु-इसके बच्चे 'पाणिपाद' शु बलयनि' यह पाद अधिक अच्छा है। पाणिपाद से अंगुलि और तल छोड़कर हाथ पैर की शेष अस्थियाँ लेनी चाहिये, पृष्ठ से पृष्ठवंश के मोहरे तथा उनके बीच में मिलने वाली बलय-कार तरणास्थियाँ लेनी चाहिये। शेषाणि- शरीर की जो सम्पूर्ण अस्थियाँ ६, उनमें से बिनका निवेश ऊपर इस सूत्र में नहीं किया गया है ये सब, जैसे-बाहु की, अरिणी की, ऊर की, जड़ा की इत्यादि।

भवन्ति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैरथा तिष्ठन्ति भूद्वहः।
अस्थिसारैस्तथा देहा धियन्ते देहिनां धमम् ॥२३॥
तस्माच्चिरयिनप्रेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाप्।
अस्थोनि न विनश्यति साराण्येतानि देहिनाम् ॥२४॥
मांसान्यत्र निश्रयानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बन कृत्वा न शीयन्ते पतन्ति चा ॥२५॥
(अस्थियों का काय—) जैसे कि वृष (अपने शरीर के) अन्तर्गत (काष्ठरूप) सार (के सहारे) से खड़े रहते हैं, वैसे ही प्राणियों के देह निश्चित से अस्थि (रूप) सार के सहारे से धारण किये जाते हैं ॥२३॥ इसलिये प्राणियों की त्वचा मांस (तथा शरीर की अन्य अस्थिविरहित स्रुदु धातुएँ) देह से नष्ट होने पर भी हड्डियाँ नष्ट नहीं होतीं, (श्योंकि) ये प्राणियों के (शरीरों में) सार हैं ॥ २४ ॥ (प्राणियों के शरीर में) अस्थियों का अवलम्बन करके सिराओं और धातुओं के द्वारा मांस अस्थियों में बँधा रहता है; (अतएव वह) न अस्त-व्यस्त होता है; न गिरता है ॥ २५ ॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में अस्थियों का कार्य वर्णन किया है। सार—धृत्तों की दृष्टि से काष्ठरूप। अस्थिसार—*skeleton* या *Frame work of bones*। तस्माच्चिरयिनप्रेषु इत्यादि—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) मनुष्य धीमार होने पर उसकी त्वचा, पेशियाँ इत्यादि अन्न चीज और पतले हो जाते हैं, परन्तु हड्डियाँ चीज नहीं होतीं, जिससे हृद्योत्तर अवस्था में अस्थियों का मोटापन तथा शरीर की छत्र्याईं रूपपूर्व अवस्था के समान ही रहा करती है। (२) स्रुदु के पश्चात् जब शरीर रक्ता जाता है या जमीन में गाका जाता है, तब त्वचामांसदि अन्न बहुत जल्दी गल जाते हैं और उनके गल जाने के पश्चात् बहुत काल तक

हड्डियाँ ज्यों की त्यों रह जाती हैं । अत्र—अस्थियों में । सिरामिः—इस पद का अर्थ निम्न दो प्रकार से कर सकते हैं । (१) सिरा से रज्जु या कण्डरा (स्रायु का ही एक विशेष रूप) समझना । इस अर्थ से कभी कभी आयुर्वेद में सिरा शब्द का प्रयोग होता है—अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वाऽसन्धनम् । सिरास्त्वानुन्वय तत्रस्थो जनयत्यववाहुकम् ॥ (सुश्रुत, निदान १) । गृहीत्वार्थं तनोर्वायुः सिराः स्नायु-विशेष च । पञ्चमन्यतरं हन्ति सन्धिवन्धान् विमोचयन् ॥ (अष्टांग-संग्रह, निदान १५) । (२) किंवा सिरा से रक्तवाहिनी समझकर उसी में स्रायु के गुणों का अन्तर्भाव करना । मांसपेशियों में जो रक्तवाहिनियाँ होती हैं, उनमें से एकाध वाहिनी अस्थि में उसके पोषण के लिए (Nutrient artery) जाती है, तथा एकाध सिरा उसमें से बाहर निकल आती है । इन वाहिनियों का सम्बन्ध पेशीनिबन्धन के लिए माना गया हो तो उसमें आश्चर्य नहीं है । शार्ङ्गधर में स्पष्ट लिखा है—सन्धिवन्धनकारिण्यो दोषधातुवहाः सिराः ॥ इस दृष्टि से उपर्युक्त अष्टांगसंग्रह और सुश्रुत के वचन का तथा प्रस्तुत श्लोक का अर्थ कर सकते हैं । स्नायुभिः—पेशियों की कण्डराएँ, वितान तथा बंधन के काम में उपयोगी शणसूत्रसंनिभ शरीरगत धातु (Fibrous tissue in general and ligaments in particular) मांसानि—मांस शब्द यहाँ पर उपलक्षण है । इससे जैसे पेशियों का बोध होता है, वैसे शरीरगत अन्य अंगों का भी बोध होता है, जो अस्थियों के सहारे एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित हैं । अस्थियों के कार्य—(१) शरीर को खड़ा करना अर्थात् एक विशेष प्रकार की आकृति बनाना । (२) दवाव, चोट इत्यादि से त्वड्मांसादि का नाश होने पर भी अंगों की आकृति में विशेष अन्तर न आने देना । (३) शरीर के कोमल अंगों को सहारा देना अर्थात् उनकी रक्षा करना । (४) मांसपेशियों के निबन्धन से शरीर में विविध प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करना । अब संधियों का वर्णन करते हैं—

सन्धयस्तु द्विविधाश्चष्टावन्तः, स्थिराश्च ॥२६॥

शाखास्तु हन्वोः कठ्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः ।

शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥२७॥

(संधियों के प्रकार और उनके स्थान—) जोड़ दो प्रकार के होते हैं—चल और स्थिर ॥२६॥ बुद्धिमान् शाखा, ह्यु और कटि में चेष्टायुक्त संधियाँ जाने और शेष (स्थानों की) संपूर्ण संधियाँ स्थिर जाने ॥२७॥

वक्तव्य—द्विविधाः—यहाँ पर गति के विचार से प्रकार किये गये हैं । सन्धि में गति होती है या नहीं, इस दृष्टि से सन्धियाँ दो प्रकार की ही हो सकती हैं । चेष्टावन्तः—जिन संधियों में गति हो सकती है वे चेष्टावन्त या चल कहलाती हैं । जैसे—कंधा, कोहनी, कलाई, हाथ पैर की अंगुलियाँ इत्यादि । बहुत सी चल संधियों में गति भली प्रकार होती है । जैसे, हाथ पैर की संधियाँ, सिर और पृष्ठ-वंश की संधियाँ इत्यादि । कुछ चल संधियों में गति थोड़ी सी हो सकती है; जैसे, पृष्ठवंश की संधियाँ, अक्षक और स्कन्धास्थि तथा अक्षक और वक्षोस्थि इत्यादि । पाश्चात्य परिभाषा में गति की अल्पता और अधिकता के अनुसार चल संधियों के बहुचेष्ट (Diarthroses, freely movable)

और अल्पचेष्ट (Amphiarthroses, slightly movable) करके दो भेद किये गये हैं । बहुचेष्ट संधियों की संख्या बहुत अधिक है । इन संधियों में संधित होने वाली अस्थियों के सिरों के बीच में कुछ अन्तर रहता है, संधित होने वाले पृष्ठभाग पर सूत्रविहीन तरणास्थि की पतली चिकनी तह चढ़ी रहती है और उनके ऊपर एक आटोपिका (Capsule) भी रहती है । कहीं कहीं दोनों सिरों के दर्मियान संधान चक्रिका (Articular disk) भी रहती है । अल्पचल संधियों की अस्थि सिरों के दर्मियान कहीं पर संधान चक्रिकाएँ होती हैं (जैसे, पृष्ठवंश मोहरों की आपस की संधियाँ) और कहीं पर आन्तरास्थिक स्रायु (Interosseous ligament) होती हैं । अथल या स्थिर संधि—इस प्रकार की संधियों में जरा सी भी गति नहीं हो सकती क्योंकि इनका संधान इस तरह का बना रहता है कि गति असंभव होती है । इस प्रकार की संधियाँ खोपड़ी में मिलती हैं । यहाँ पर दोनों अस्थियाँ आपस में बिल्कुल जुड़ी रहती हैं, कहीं पर जोड़ने वाली चीज तरणास्थि और कहीं पर तान्त्व धातु होती है । संस्कृत भाषा के अनुसार 'अ' का अर्थ अभाव और ईप्त् दोनों प्रकार का होता है । इसलिए स्थिर या अचेष्ट संधियों में जिनमें बिल्कुल गति नहीं होती, ऐसी संधियाँ तथा जिनमें जरा-सी गति हो सकती है, ऐसी संधियाँ समाविष्ट होती हैं । यहाँ पर चेष्टावन्त और स्थिर संधियों के जो उदाहरण श्लोक में दिये हैं, उनसे यही अर्थ निकलता है कि चेष्टावन्त संधियाँ वे हैं, जिनमें बहुचेष्टा होती है; और स्थिर संधियाँ वे हैं, जिनमें बिल्कुल चेष्टा नहीं होती (अचल) तथा जिनमें जरा-सी चेष्टा हो सकती (अचल) है । संधियों की रचना—जहाँ पर जोड़ होता है, वहाँ पर कमजोरी आ जाती है तथा गति के कारण रगड़ उत्पन्न होती है । अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधित हड्डी में ये दो दोष उत्पन्न होते हैं । यदि ये दोनों दोष दूर किये जायँ तो अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधि शरीर के लिए अधिक उपयोगी हो जाती है । शरीर में ऐसा ही किया गया है । अचल संधियों के जोड़ रचनाविशेष से बिल्कुल बनेजुड़ किये गये हैं । आगे ३२वें सूत्र के वक्तव्य में तुल्यसेवनी की टिप्पणी देखो । अल्पचेष्ट और बहुचेष्ट संधियों में संधित होने वाले हड्डियों के सिरों चारों ओर से रज्जु या पृष्ठबंधनों के द्वारा इस तरह बंधे रहते हैं कि यदि एक मर्यादा से अधिक दवाव या आघात न हो, संधि में कुछ भी कमजोरी नहीं होती । ये बंधन स्नायु कहलाते हैं । इनका विशेष विवरण आगे ३४वें सूत्र से संधियों के पश्चात् किया गया है । जहाँ पर गति अधिक होती है, वहाँ पर घर्षण से बचाने के लिए संधियों में एक श्लेष्मल कला रक्खीरहती है, जिसकी कोशाओं से एक चिकनाईदार तरल निकलता रहता है । इस तरल से कला तथा अस्थियों के सिरों सदा तर रहते हैं । यह तरल वही काम देता है, जो यन्त्र में तेल । यन्त्र में तेल देने से रगड़ नहीं होती, उसके पुरजे जल्दी नहीं घिसते और गति भी अच्छी तरह होती है । वैसे ही इस तरल से संधियों में घिना रगड़ के गति भली भाँति होती है तथा अस्थियों के सिरों नहीं घिसते । जिस कला से यह तरल निकलता है,

और देखा जाय तो यह वर्गीकरण वैज्ञानिक मालूम होता है। दाँतों का विचार लीजिए। यदि रामायणिक संगठन की दृष्टि से दाँत और अस्थि की ओर देखा जाय तो, जेमे शारीरगत अस्थियों कार्य-भिन्नता के कारण विविध आकार की होती हैं, कोई अधिक कठिन होती है, कोई कुछ नरम रहती है, बाहर का भाग कठिन होता है, भीतर का भाग सुषिर होता है परंतु आरिभ में सब अस्थियाँ ही होती हैं; जैसे ही दाँत शरीर के बाहर अनावृत (Exposed) होने के कारण तथा खवाने के कार्य के होने के कारण क्वच में अधिक कठिन, सार में अस्थि सम और प्रस्तर में वास्तविक अस्थि के समान बनाये गये हैं; परंतु उनका रासायनिक संगठन अस्थि के समान ही होता है। अतः दाँतों को कार्य-भिन्नता के कारण उत्पन्न हुआ अस्थियों का ही विशेष स्वरूप मानने में कोई असामंजस्य नहीं हो सकता—Enamel is the hardest substance in the body It is made up of minute prisms of the same salts as those of bone. The dentine resembles bone in chemical composition. Sheathing the portion of dentine which is beneath the level of the gum is a layer of true bone, called the cement or crusta petrosa *Haliburton's Physiology* आगे १०४ अध्याय के २२वें सूत्र के वक्तव्य में दन्तोन्नेद को लिप्ययी देखी।

अब तरणास्थियों का विचार लीजिए। यदि शरीरगत स्नायु, सिरा, पेशियों इत्यादि स्रुद (वल्ली के समान जो स्वयं खड़े नहीं हो सकते) पदार्थों को आश्रय या आधार देने की दृष्टि से अस्थि और तरणास्थि का विचार किया जाय तो ये दोनों भी समानरूपेण इन स्रुद पदार्थों को आधार देते हैं। अतः शरीर के सार (Frame work) में आज भी दाँतों का वर्गीकरण एक ही होता है। इसलिये अस्थियों के साथ तरणास्थियों को गिनने के प्राचीन वर्गीकरण में कोई विशेष असामंजस्य नहीं है—The skeleton This is the frame work on which soft parts are built. It consists of bones and cartilages which are bound together by ligaments of fibrous tissue. Serving a similar supporting function on the body as bone, cartilage is popularly known as *quarto Haliburton's physiology* नासा—नासा की तीन दीवालें होती हैं, एक भीतर का पर्दा और दो बाहर की। इनका ऊपर का भाग कठिन होता है, जो अस्थि का बनता है। नीचे का भाग मुलायम रहता है। इसमें तरणास्थियाँ होती हैं। ये तरणास्थियाँ जीवनभर तरुण रहती हैं। कर्ण—कान का जो बाह्य भाग होता है, उसके शकृली (Pinna) में तथा बृहत् (External auditory meatus) के बाहरी भाग में तरणास्थियाँ होती हैं। यह तरणास्थियाँ भी जीवनभर तरुण ही रहती हैं। शीवा—श्रीवा प्रदेश स्थित कण्ठनाडी याने टेंडुवा और स्वरयन्त्र। टेंडुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाएँ (Trachea, Bronchi and bronchioles) तथा स्वरयन्त्र ये अङ्ग तरणास्थियों से बने हुए हैं। टेंडुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाओं की तरणास्थियाँ

धुल्लेदार होती हैं। इन धुल्लों के मुँह पीछे से जुड़े रहते हैं। कहीं कहीं ऊपर और नीचे के धुल्ले कुछ अंश तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। सब धुल्ले आपस में तान्त्रव धातु के द्वारा बंधे रहते हैं। स्वरयन्त्र की तरणास्थियों का विवरण पीछे २१ वें सूत्र के वक्तव्य में कुछ किया है। टेंडुवे और कण्ठनाडी की तरणास्थियों में बुराये में अस्थि-भवन की कुछ प्रयुक्ति होती है। अक्षिणो-अँलों को ढाकने वाली चीज अर्थात् घर्मे या पलक। पलकों के मध्य में सन्मुनिर्मित एक हड्डी (Tarsus) होती है, जिसके कारण पलक में कुछ इतना आ जाती है और उसका आकार स्थिर रहता है। ये पट्टियाँ न अस्थि हैं, न तरणास्थि हैं, परन्तु तान्त्रव धातु (Fibrous tissue) की बनी हैं। पार्श्व-पृष्ठो-सु-हृदके बड़े 'पार्श्वपादपार्श्वपृष्ठो मु वलयानि' यह पाठ अधिक अस्पष्ट है। पाणिपाद से अंगुलि और तल धोकर हाथ पैर की शेष अस्थियाँ लेनी चाहिए, पृष्ठ से पृष्ठवंश के मोहरे तथा उनके बीच में मिलने वाली वलयकार तरणास्थियाँ लेनी चाहिए। शेषाणि—शरीर की जो सम्पूर्ण अस्थियाँ ६, उनमें से जिनका निदश ऊपर इस सूत्र में नहीं किया गया है वे सब, जैसे—बाहु की, अरति की, ऊरु की, जङ्घा की इत्यादि।

भवन्ति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैथया तिष्ठन्ति भूच्छाः।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रियम् ॥२३॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वच्छासेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यति साराप्येतानि देहिनाम् ॥२४॥
मांसान्यत्र निग्दानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीयन्ते पतन्ति च ॥२५॥
(अस्थियों का काय—) जैसे कि वृक्ष (अपने शरीर के) अन्तर्गत (काष्ठरूप) मार (के सहारे) से खड़े रहते हैं, वैसे ही प्राणियों के देह निश्चित से अस्थि (रूप) सार के सहारे से धारण किये जाते हैं ॥२३॥ इसलिये प्राणियों की त्वचा मांस (तथा शरीर की अन्य अस्थिविरहित स्रुद पदार्थों) देर से नष्ट होने पर भी हड्डियाँ नष्ट नहीं होतीं, (अर्थात्) ये प्राणियों के (शरीरों में) सार हैं ॥२४॥ (प्राणियों के शरीर में) अस्थियों का अवलम्बन करके सिराओं और स्नायुओं के द्वारा मांस अस्थियों में बंधा रहता है, (अतएव वह) न अस्त-व्यस्त होता है, न गिरता है ॥२५॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में अस्थियों का कार्य वर्णन किया है। मारः—धुल्लों की दृष्टि से काष्ठसारः। अस्थिसारः—skeleton या Frame work of bones। तस्माच्चिरविनष्टेषु शरीरिणाम्—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) मनुष्य बीमार होने पर उसकी त्वचा, पेशियाँ इत्यादि अङ्ग चीज और पतले हो जाते हैं, परन्तु हड्डियाँ चीज नहीं होतीं, जिससे रक्तोत्तर अवस्था में अस्थियों का मोटापन तथा शरीर की लम्बाई रक्तपूर्व अवस्था के समान ही रूढ़ा करती है। (२) स्रुद के पश्चात् जब शरीर रक्ता जाता है या जमीन में गाढ़ा जाता है, सब त्वद्धर्मासादि अङ्ग बहुत जल्दी गल जाते हैं और उनके गल जाने के पश्चात् बहुत काल तक

हृदियों ज्यों की त्यों रह जाती हैं । अत्र—अस्थियों में । सिराभिः—इस पद का अर्थ निम्न दो प्रकार से कर सकते हैं । (१) सिरा से रज्जु या कण्डरा (जायु का ही एक विशेष रूप) समझना । इस अर्थ से कभी कभी आयुर्वेद में सिरा शब्द का प्रयोग होता है—अंसदेशस्थिषो जायुः शोफवित्वांससन्धनम् । सिरात्तान्कान्धन्य तत्रस्थो जनयत्यववाणुकम् ॥ (सुश्रुत, निदान १) । गृहोत्तार्थ तनोर्वायुः सिराः स्नायु-विशोष्य च । पलमन्यतरं हन्ति सन्धिवन्धान् विमोक्षयन् ॥ (अष्टांग-संग्रह, निदान १५) । (२) किंवा सिरा से रक्तवाहिनी समझकर उसी में जायु के गुणों का अन्तर्भाव करना । मांसपेशियों में जो रक्तवाहिनियाँ होती हैं, उनमें से एकाध वाहिनी अस्थि में उसके पोषण के लिए (Nutrient artery) जाती है, तथा एकाध सिरा उसमें से बाहर निकल आती है । इन वाहिनियों का सम्बन्ध पेशीनिवन्धन के लिए माना गया हो तो उसमें आश्चर्य नहीं है । शार्ङ्गधर में स्पष्ट लिखा है—सन्धिवन्धनकारिण्यो दोषधातुवशाः सिराः ॥ इस दृष्टि से उपर्युक्त अष्टांगसंग्रह और सुश्रुत के वचन का तथा प्रस्तुत श्लोक का अर्थ कर सकते हैं । स्नायुभिः—पेशियों की कण्डराएँ, वितान तथा बंधन के काम में उपयोगी दागसूत्रसंनिभ शरीरगत धातु (Fibrous tissue in general and ligaments in particular) मांसानि—मांस शब्द यहाँ पर उपलक्षण है । इससे जैसे पेशियों का बोध होता है, वैसे शरीरगत अन्य अंगों का भी बोध होता है, जो अस्थियों के सहारे एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित हैं । अस्थियों के कार्य—(१) शरीर को खड़ा करना अर्थात् एक विशेष प्रकार की आकृति बनाना । (२) दबाव, चोट इत्यादि से खड्गमांसादि का नाश होने पर भी अंगों की आकृति में विशेष अन्तर न आने देना । (३) शरीर के कोमल अंगों को सहारा देना अर्थात् उनकी रक्षा करना । (४) मांसपेशियों के निवन्धन से शरीर में विविध प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करना । अब संधियों का वर्णन करते हैं—

सन्धयस्तु द्विविधाःअष्टाचान्तः, स्थिराश्च ॥२६॥

शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः ।

शोपास्त सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥२७॥

(संधियों के प्रकार और उनके स्थान—) जोड़ दो प्रकार के होते हैं—चल और स्थिर ॥२६॥ बुद्धिमान् शाखा, हस्तु और कटि में चेष्टायुक्त संधियाँ जाने और शेष (स्थानों की) संपूर्ण संधियाँ स्थिर जाने ॥२७॥

वक्तव्य—द्विविधाः—यहाँ पर गति के विचार से प्रकार किये गये हैं । सन्धि में गति होती है या नहीं, इस दृष्टि से सन्धियों का प्रकार की ही हो सकती है । चेष्टावन्तः—जिन संधियों में गति हो सकती है वे चेष्टावन्त या चल कहलाती हैं । जैसे—कंधा, कोहनी, कलाई, हाथ पैर की अंगुलियाँ इत्यादि । बहुत सी चल संधियों में गति भली प्रकार होती है । जैसे, हाथ पैर की संधियाँ, सिर और पृष्ठ-वंश की संधियाँ इत्यादि । कुछ चल संधियों में गति थोड़ी सी हो सकती है; जैसे, पृष्ठवंश की संधियाँ, अक्षक और स्कन्धास्थि तथा अक्षक और वक्षोस्थि इत्यादि । पाश्चात्य परिभाषा में गति की अल्पता और अधिकता के अनुसार चल संधियों के बहुचेष्ट (Diarthroses, freely movable)

और अल्पचेष्ट (Amphiarthroses, slightly movable) करके दो भेद किये गये हैं । बहुचेष्ट संधियों की संख्या बहुत अधिक है । इन संधियों में संधित होने वाली अस्थियों के सिरों के बीच में कुछ अन्तर रहता है, संधित होने वाले पृष्ठभाग पर सूत्रविहीन तरणास्थि की पतली चिकनी तह चढ़ी रहती है और उनके ऊपर एक आटोपिका (Capsule) भी रहती है । कहीं कहीं दोनों सिरों के दमियान संधान चम्रिका (Articular disk) भी रहती है । अल्पचल संधियों की अस्थि सिरों के दमियान कहीं पर संधान चम्रिकाएँ होती हैं (जैसे, पृष्ठवंश मोहरों की आपस की संधियाँ) और कहीं पर आन्तरास्थिक स्नायु (Interosseous ligament) होती हैं । अल्प या स्थिर संधि—इस प्रकार की संधियों में जरा सी भी गति नहीं हो सकती क्योंकि इनका संधान इस तरह का बना रहता है कि गति असंभव होती है । इस प्रकार की संधियाँ खोपड़ी में मिलती हैं । यहाँ पर दोनों अस्थियाँ आपस में बिलकुल जुड़ी रहती हैं, कहीं पर जोड़ने वाली चीज तरणास्थि और कहीं पर तान्त्व धातु होती है । संस्कृत भाषा के अनुसार 'अ' का अर्थ अभाव और ईपत् दोनों प्रकार का होना है । इसलिए स्थिर या अचेष्ट संधियों में जिनमें बिलकुल गति नहीं होती, ऐसी संधियाँ तथा जिनमें जरा-सी गति हो सकती है, ऐसी संधियाँ समाविष्ट होती हैं । यहाँ पर चेष्टावन्त और स्थिर संधियों के जो उदाहरण श्लोक में दिये हैं, उनसे यही अर्थ निकलता है कि चेष्टावन्त संधियाँ वे हैं, जिनमें बहुचेष्टा होती है; और स्थिर संधियाँ वे हैं, जिनमें बिलकुल चेष्टा नहीं होती (अचल) तथा जिनमें जरा-सी चेष्टा हो सकती (अचल) है । संधियों की रचना—जहाँ पर जोड़ होता है, वहाँ पर कमजोरी आ जाती है तथा गति के कारण रगड़ उत्पन्न होती है । अल्पचल हड्डी की अपेक्षा संधित हड्डी में ये दो दोष उत्पन्न होते हैं । यदि ये दोनों दोष दूर किये जायें तो अल्पचल हड्डी की अपेक्षा संधि शरीर के लिए अधिक उपयोगी हो जाती है । शरीर में ऐसा ही किया गया है । अचल संधियों के जोड़ रचनाविशेष से बिलकुल बंधोड़ किये गये हैं । आगे ३२वें सूत्र के वक्तव्य में तुल्यसेवनी की टिप्पणी देखो । अल्पचेष्ट और बहुचेष्ट संधियों में संधित होने वाले हड्डीयों के सिरों चारों ओर से रज्जु या पट्टबंधनों के द्वारा इस तरह बंधे रहते हैं कि यदि एक मर्यादा से अधिक दबाव या आघात न हो, संधि में कुछ भी कमजोरी नहीं होती । ये बंधन स्नायु कहलाते हैं । इनका विशेष विवरण आगे ३४वें सूत्र से संधियों के पश्चात् किया गया है । जहाँ पर गति अधिक होती है, वहाँ पर घर्षण से बचाने के लिए संधियों में एक श्लेष्मल कला रक्ती रहती है, जिसकी कोशाओं से एक चिकनाईदार तरल निकलता रहता है । इस तरल से कला तथा अस्थियों के सिरों सदा तर रहते हैं । यह तरल वही काम देता है, जो यन्त्र में तेल । यन्त्र में तेल देने से रगड़ नहीं होती, उसके पुरजे जल्दी नहीं घिसते और गति भी अच्छी तरह होती है । वैसे ही इस तरल से संधियों में बिना रगड़ के गति भली भाँति होती है तथा अस्थियों के सिरों नहीं घिसते । जिस कला से यह तरल निकलता है,

वह कला संधिरेल्मघरा कला (Synovial membrane) और वह तरल संधिरेल्मा या रलेपक (Synovia) कहलाता है—संधिस्थलु रनेमा सर्वसंधिररंषेपात् सर्वसन्धनुग्रह करोति ॥ (सुश्रुत) । पर्वस्थोऽरिषसंधिररेणत् श्लेषक इति । (अष्टांगसंग्रह) । तथा चतुर्थ अध्याय में श्लेष्मघरा कला भी देखो । इस रलेपघरा कला में कमी कमी सृजन उत्पन्न होती है, उसको संधिरेल्ममल्लारोय (Synovitis) कहते हैं । इसमें संधियों में सूजन, पीड़ा और गतियों में रुकावट होती है । कमी कमी दबाव के कारण संधिस्थानु जोर से खिंच जाते हैं और कुछ सूत्र भी टूट जाते हैं, परंतु पूरी स्नायु कर्महीन नहीं होतीं । इस अवस्था को मोच आना (Sprain) कहते हैं । इसमें अधिक खींचने से या एक विदिष्ट दिशा में गति करने से संधि में थोड़ा बहुत दर्द होता है । जब अधिक जोर पढ़ने से या चोट लगाने से संधिवचन टूट जाते हैं, तब संधित अस्थियाँ अपने स्वाभाविक स्थान से हटकर एक दूसरे से अलग हो जाती हैं । इस अवस्था को संधिभ्रम या संधिविरलेप (Dislocation) कहते हैं । निदानस्थान के १५वें अध्याय का तीसरा सूत्र देखो ।

सङ्घातस्तु दशोत्तरे द्वे शतेः, तेषां शाखास्यष्टपट्टिः, एकोनपट्टिः कोष्ठे, त्रीणां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः ॥२२॥
(संपूर्ण शरीर की तथा पदों की संधिसंख्या—) संख्या (की दृष्टि) से तो ये दो सौ हैं । इनमें से शाखाओं में अक्षसठ, मध्यशरीर में उनसठ और त्रीणां से ऊपर तिरासी ॥ २२ ॥

एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां प्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्वन्दाः, जातुगुल्फवङ्गुष्ठेऽप्येकैकः, एतं सप्तदशैकस्मिन् सन्धिन् भवन्ति, पतेनेतरसन्धिं याह च व्याख्याता ॥ २६ ॥

(शाखाओं की शृषक शृषक संधियाँ—) पाँव की प्रत्येक अंगुलि में तीन तीन, अंगुष्ठे में दो; (इस प्रकार प्रत्येक पाँव की अंगुलियों में) ये चौदह, जातु, गुल्फ, बंधन में एक एक, इस प्रकार एक टांग में सप्तद संधियाँ होती हैं । इससे दूसरी टांग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है ॥ २९ ॥

त्रयः कटीफपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठश्रे, तापन्त एव पाश्र्चयोः, उत्स्यष्टो ॥ ३० ॥

(मध्यशरीर की संधियाँ—) धोणिफल्लों में तीन, पृष्ठवंश में चौबीस, उतनी ही पाश्र्चों में और षष में आठ ॥३०॥
तापन्त एव त्रीणायां, त्रयः कण्ठे, नाडीषु हृदयहोमनिबद्धास्यष्टादश, दन्तपरिमाणु दन्त-मूलेषु, एकः काकलके नासायां च, द्वौ घर्म मण्डलजो नेत्राश्रयो, गण्डकण्ठाश्रेऽप्येकैकः, द्वौ हनुस्तन्धी, द्रायुपट्टिषुऽश्रुयोः शङ्खयोश्च, पञ्च शिरःकपालेषु, एको मूर्ध्नि ॥ ३१ ॥

(श्रीवा के ऊपर की संधिसंख्या—) श्रीवा में उतनी ही (आठ), कण्ठ में तीन, हृदयहोमसवद्ध नाडी में अठारह; दाँतों की जड़ों में दाँतों के बराबर (षष्टिस), काकलक और नासा में एक एक; नेत्राश्रित घर्ममण्डल में दो, गण्ड, कर्ण और शङ्ख इनमें (प्रत्येक तरफ) एक एक, दो हनु संधियाँ, भौहों और शङ्खों के ऊपर दो, शिरःकपालों में पाँच, मूर्ध्नि में एक ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—यत्न एव—उत्स में जितनी हैं, उतनी । नाडीषु इत्यादि—यहाँ पर 'कुण्डुसहोमनिबद्धात्' ऐसा भी पाठ है । इसका मतलब इतना ही है कि यहाँ पर नाडी से कण्ठनाडी (Trachea) अभिप्रेत है । हाराणवद् इसके बदले निम्न पाठ देते हैं—कुण्डुसनिबद्धाया कण्ठसतःकया नाड्यां विंशति ॥ अठारह या बीस संख्या कण्ठनाडीगत वृद्धों की अर्थात् उनके आपस के जोड़ों की है । दन्तमूलेषु—यहाँ पर दन्तमूल और उद्वल्ल इनके जोड़ों की संख्या अभिप्रेत है । वाक्यक—दृष्टव्य के अनुसार 'काकलक गतारोय, वष्टिकेति लोके ।' चरक और चक्रपाणिदत्त के अनुसार तालुमूल—पत्य द्येषमा प्रकृपितः कारले स्व्यतिष्ठे । भाग्य मन्त्रयेच्छोक करोति गलगुण्डिकाम् ॥ (चरक, सूत्र १८) । काकल तालुमूलम् । (चक्रपाणिदत्त) ।

त पते सन्धयोऽष्टविंशः—कोरोलपल्लसामुद्र-प्रतरतुप्रसेवनीवायसतुण्डमण्डलह्रस्वह्रस्वपताः । तेषा-मङ्गुलिमणियन्धगुल्फजातुङ्गुपरेषु कोराः सन्धयः, कक्षावङ्गुण्दशनेपूलखलाः, अंसपीठ्युर्ध्वमगनित-श्वेषु सामुद्रगाः, त्रीणापृष्ठवंदायोः प्रतराः, शिरः-कटीकपालेषु तुषसेवन्धयः, हनोरभयतस्तु वायस-तुण्डः, कण्ठहृदयनेत्रहोमनाडापु मण्डलाः, श्रोत्र-शृङ्गाटकेषु शङ्खावताः । तेषां नामभिरेवाट्टतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ ३२ ॥

(संधियों की रचना के प्रकार—) ये जोड़ आठ प्रकार के होते हैं—कोर, उद्वल्ल, सामुद्र, प्रतर, तुषसेवनी, वायसतुण्ड, मण्डल, शङ्खावत । इनमें से अंगुलि, कलाई, गुल्फ, जातु, कर्णर में कोर संधि होते हैं; कक्षा, बंधन और दाँतों में उद्वल्ल, अंसपीठ, गुद, भग तथा नितम्ब में सामुद्र, त्रीणा, पृष्ठवंश में प्रतर; शिर और कटि के कपालों में तुषसेवनी, हनु के दोनों ओर वायसतुण्ड; कण्ठ-हृदय-नेत्र-होमनाडी में मण्डल, श्रोत्रशृङ्गाटक में शङ्खावत । इनके नाम से ही प्रायः इनकी आहृति वर्णित होती है ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—दाँटे २६वें सूत्र में गति के आधार पर संधियों के दो भाग किये गये थे । इस सूत्र में संधियों की रचना के अनुसार आठ विभाग किये गये हैं । इनमें से मण्डल और शाखावत शास्त्र में संधि नहीं है; तुषसेवनी शिर सन्धि है और बाकी पाँच बल सन्धियों के श्रेष्ठ हैं । कोर—कियाव या सन्धूक में जब जाने वाले रोड़े या पीतल के बने हुए दो टुकड़े, नरमादगी या कब्जा (Hinge), इसके समान जिनकी रचना होती है, पर कोरसंधि (Hinge-joint or Ginglymus) कहलाता

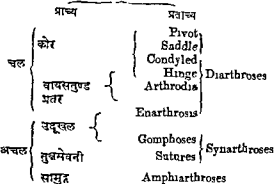
१ नादीषु कुण्डुसहोमनिबद्धात् एव वष्टे, एव कण्ठनाड्या, हृदयहोमनिबद्धात् गतोचष्टादश. २ नासायां षष, ही शरेव इयो नेत्रकोशेषु, दो घर्ममण्डलजो नेत्राश्रयो.

है। यहाँ पर कोरसंधि के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें से अंगुलिपर्वों की संधियाँ (Interphalangeal joints) और कूर्परसंधियाँ ठीक इस प्रकार की हैं। गुल्फसंधियाँ (Talocrural or ankle joint) भी इसी स्वरूप की हैं यद्यपि वे ऐसी मालूम नहीं होतीं। कोरसंधियों में गति केवल एक अक्ष पर (Uniaxial) अर्थात् किवाड़ की तरह आगे पीछे होती है। गुल्फ में दोनों पार्श्वों में भी कुछ गति होती है, परंतु वह संधि के कारण न होकर बंधनशिथिलता के कारण होती है। कोरसंधियों में जो मणिवंध संधि है, वह वास्तविक कोर न होकर उसका एक प्रकार मान सकते हैं। इसको खल्लकोर (Condylod articulation) कहते हैं। इसमें दीर्घ गोलाकार वहिर्भूत भाग (Condyle) का वैसे गढ़देदार भाग से सन्धान होता है। इस प्रकार के जोड़ में आकुञ्चन, प्रसारण, आकर्षण (Adduction), अपकर्षण (Abduction) और परिकर्षण (Circumduction) ये गतियाँ होती हैं, परन्तु कोरसन्धि के समान अक्षभ्रमण (Axial rotation) नहीं होता। अङ्गुलियों में और भी एक प्रकार की सन्धि होती है, जिसमें दीर्घ गोल के बदले उन्नत गोल और नत गोल न्युदुब्ज (Concavo-convex) पृष्ठभाग होते हैं। इसमें भी उपर्युक्त प्रकार की गतियाँ होती हैं। इस सन्धि को परस्पर कोर (Saddle articulation) कहते हैं। इसका उदाहरण अङ्गुलमूलसन्धि (Carpo-metacarpal joint of the thumb) है। उल्लखल—इसमें अस्थि का एक सिरा ऊखल के समान गढ़देदार होकर उसमें दूसरी अस्थि का गोल सिरा सन्धित होता है। इसलिए यह सन्धि उल्लखलसन्धि (Enarthrosis, ball and socket joint) कहलाती है।

इस सन्धि में सब प्रकार की गतियाँ होती हैं। इसके उदाहरण कक्षासन्धि (Shoulder joint) और बङ्गणसन्धि (Hip-joint) हैं। यहाँ पर दाँतों की संधि का जो उदाहरण दिया है, वह इस वर्ग का नहीं; स्थिर सन्धि का है। उसमें जरा सी भी गति नहीं होती। इस प्रकार की सन्धि को दन्तोल्लखल (Gomphosis) कहते हैं। सामुद्र—जहाँ पर जुड़ने वाली अस्थियों के दोनों सिरे गढ़देदार होने के कारण उनके सन्धान से सम्पुट या डिब्बी के समान आकृति होती है, उस प्रकार की सन्धि। इसकी रचना ही ऐसी होती है कि उससे जरा सी गति हो सकती है। इस प्रकार की सन्धि अल्पचेष्ट सन्धि (Amphiarthrodia) कहलाती है। यहाँ पर इसके जो उदाहरण दिये हैं, उनमें अंसपीठ की संधियाँ इस प्रकार की नहीं होतीं। यदि उसके बदले 'बंधपीठशुद्धमग-नितम्बेषु' ऐसा पाठ कर दिया जाय तो वह ठीक हो जाता है क्योंकि पीठ के मोहरों के गात्रों की (Bodies of vertebrae) संधियाँ इस प्रकार की होती हैं। इसके सिवा दोनों भगास्थियों की सन्धि, गुदास्थि और त्रिकास्थि-की सन्धि, त्रिक और श्रोणीफलक तथा पृष्ठवंश की सन्धि, इसी स्वरूप की होती हैं। म० म० गणनाथसेनजी असकूटशुद्धमग-नितम्बेषु ऐसा पाठ लेते हैं। प्रतर—इस प्रकार की सन्धि में प्रतरण याने फिसलने के समान कुछ गति (Gliding movement) होती है। इस को प्रतर सन्धि (Arthrodia) कहते हैं। यह सन्धि ग्रीवा और पृष्ठ

के मोहरों के प्रवर्धनों (Processes) के बीच में होती है। तुन्नसेवनी—दर्जा की सीवन के समान जो सन्धि होती है, वह तुन्नसेवनी (Suture) कहलाती है। सेवनी कई प्रकार की होती है। एक प्रकार में हड्डियों के किनारे दन्तुर (Sutura serrata) होते हैं। दूसरे प्रकार में दोनों सीधे मिल जाते (S. harmonia) हैं। तीसरे प्रकार में एक का किनारा दूसरे के ऊपर कुछ चढ़ता (S. squamosa) है। वायसतुण्ट—काकमुख। हनु का सन्धान संयुक्त प्रकार का है, जिसमें प्रतर और कोर दोनों प्रकार से गति का काम (Ginglymoarthrodial joint) होता है। मण्टलशंखावर्त—ये संधियाँ अस्थियों की नहीं हैं। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा में, अतएव, इनका समावेश सन्धियों में नहीं होता। तेषां नामभिरैवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः—इनकी आकृतियों के संबन्ध में प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकारों के मत निम्न प्रकार के हैं—कोरो नाम गर्तस्तदाकृतयः कोराः; कोरः कलिका, तदाकृतय इत्यन्ये। उल्लखलस्तण्डुलकण्डनोपयोगी, तदाकृतयः सन्धयोऽप्युल्लखलाः। समुद्रः सम्पुटस्तदाकृतौ भवाः सामुद्राः। प्रतरत्यनेनेति प्रतरो मेलकः, तदाकृतयः प्रतराः। मण्टलो मण्डलाकृतिः। (डल्हण)। कोरो नाम कपाटादिनिबन्धनार्थं यन्त्रभेदः 'कच्चा' इत्याख्यायते। उल्लखलशब्देनेह मुसलस्यापि परिग्रहः क्रियते, धनुर्धरेति धनुःशब्देन वायस्थापि परिग्रहवत्। छिन्नानामलपं सेवनं तुन्नसेवनी। शङ्खावर्तः शङ्खभ्रमः; सन्धिषु च शब्दानामेषां तत्तत्तात्पर्याद्बोधपदेशः, सिद्धो माणवक इतिवत्। सम्पुटाकारेण निर्वृत्तः सामुद्रः। चिङ्गटा नाम मत्स्याः प्रकर्षेण तरत्यनेनेति प्रतरः, स इवास्थिविशेषोऽस्त्यस्येति व्युत्पत्त्या प्रतरशब्दोऽस्मिन् शब्दे 'चिङ्गरी' इति प्रसिद्धेषु मत्स्येषु मध्ये बृहच्छरीरस्य शिरःकण्ठकवदुद्गतास्थिमत्तिसन्धौ रूढ इति गम्यते, प्रतरसंज्ञया विवक्षितानां ग्रीवादि-संधीनां तथात्वात्। अथापि चेत् केपाञ्चित् श्रद्धामनुसन्ध्यमाना मत्स्यस्यास्य शिरो हिंसा ग्रीवादिभागमेव प्रतरणसाधनत्वेनोरीकृत्य प्रतरशब्दवाच्यमभ्युपगच्छेम तदापि नानुपपत्तिस्तदनुकृत्वात् तेषां तेषां संधीनान्। (हाराणचन्द्र) तत्र कोरा नाम सन्धयो बहुचेष्टाः, उत्तानकोरगर्भेष्वस्थिप्रान्तेषु उत्सेधवतामस्थिभागानां संधान-रूपाः। ते चतुर्विधाः—खल्लकोरः, परस्परकोरः, चक्रकोरः, संदंशकोरश्चेति। उद्खला नाम सन्धयोऽपि बहुचेष्टाः, उद्खलवद्गम्भीरप्रायेष्वस्थिभागेषु इतरास्थिसुण्डानां सन्धानरूपाः। तेषु हि स्त्रोदूखलानांश्चिन्त्य अभितो विवर्तन्ते तानि तान्यस्थीनि, यथा—कक्षाबङ्गणसन्धिषु। दशनोदूखलास्तु स्थिराः सन्धयः पृथगेव मन्तव्याः। सामुद्रा नाम समुद्रनिर्मापकाः इव सन्धयः अल्पचेष्टाः। ते श्रोणिचक्रांसचक्रादिषु दृश्याः। प्रातरा नाम प्रतरणशीलैरी-पचलैः समतलांशभ्यां परस्परसंहितैरस्थिखण्डैर्निर्मिताः सन्धयः। तुन्नसेवन्यो नाम परस्परपीडनैर्दन्तुरधारादिभिर्निर्मिताः कपालान्तरालाः संधयः। ते शिरःकपालेषु दृश्याः कटिकपालेषु च प्राग्यौवनात्। वायसतुण्डाख्यस्तु सन्धिः अधोहनुमुण्डयोः शङ्खास्थिगतभ्यां हनुसंधिस्थलकाभ्यां संधानान्मुख्यादानादिसम्पादकः। स तु कोरसंधेरेव खल्लकोराख्यो भेदो शुम्भरूपः, तस्य कोरग्रहणेनैव ग्रहणा-दिति सूत्रमदृशः। मण्डलशङ्खावर्ताः पुनः क्रमात् श्वासपथकर्णशङ्कु-लीगतास्तरुणास्थिसन्धयः, तेषां नेह ग्रहणम्। (म० म० गणनाथसेन, प्रत्यक्षशारीर)। अब नीचे प्राच्य और प्रतीच्य संधि प्रकारों की लनात्मक सारणी दी जाती है—

सन्धियों का वर्गीकरण



अस्थानां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः ।

पेशीस्नायुसिराणां तु सन्धिमहत्या न विद्यते ॥३३॥

ये (उपयुक्त) सन्धियाँ केवल हड्डियों की वर्णन की गई हैं। पेशी, स्नायु और सिरा इनकी सन्धियों की संख्या ही नहीं हो सकती है ॥३३॥

वक्तव्य—सन्धियों—शरीर में एक प्रकार की दो वस्तुओं के स्थान को सन्धि कहते हैं। जैसे—अस्थिसन्धि, सिरासन्धि, पेशीसन्धि इत्यादि। इनमें से अस्थिसन्धियों का ज्ञान विशेष उपयोगी होने के कारण उन्हीं का विवरण किया गया, शेष सन्धियों का यहाँ पर केवल निर्देश किया है। सन्धि से यद्यपि शरीरगत सब वस्तुओं के मिलने के स्थान का बोध होता है तथापि उपयुक्त कारण से विशेष निर्देशन होने पर प्रायः अस्थिसन्धि को ही सन्धि Joint या Articulation कहते हैं, पेशी या अन्य अंगों के सन्धि को सन्धि नहीं कहते। केवला—सिर्फ हड्डियों की ही, किन्वा स्थूलरूप से। यहाँ पर जो अस्थिसन्धिसंख्या बतलाई गई है, वह वास्तविक संख्या से बहुत कम है। अस्थियों की गणना के समय जो अधिकता हुई है, उसकी वृत्ति अस्थिसन्धि गणना के समय की गई है ऐसा मान्य होता है। यदि अस्थि और अस्थिसन्धिसंख्या की अद्व-बदल की जाय तो वह संख्या आधुनिक गणना के साथ बहुत कुछ मिल जाती है। जैसे, कुल संख्या के बारे में है, वैसे ही कुछ प्रयुक्तों की संख्या के बारे में सही है। यथा—पाश्र्वगुलियों की, पृष्ठवक्रा की, पार्श्व की सन्धिसंख्या अस्थियों के लिए अधिक योग्य होती है। आधुनिक गणना के अनुसार शरीरगत कुल सन्धियों की संख्या तीन सौ से अधिक है। प्राचीनकालीन सन्धिसंख्या कम होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें एक कारण यह मान्य होता है कि प्राचीन गणना में अनेक अस्थियों की सन्धियाँ एक और स्वल्प मानी जानी थीं। पीढ़े १२ वं सूत्र में अस्थिसंघात और उनका वक्तव्य देना।

अथ इत्येते पश्चात् स्नायुओं का वर्णन करते हैं—

नय स्नायुदातानि । तामां शान्पातु पट्टदातानि,
टे दाते त्रिदाश कोट्टे, प्रोथां प्रयुक्त्वा सतति ॥३४॥

(स्नायुसंख्या—) स्नायुएँ नौ सौ हैं। इनमें से शान्पातों में द्वा. नौ, मध्यशरीर में द्वा. सौ तीस, और प्रोथा में ऊपर सत्तर ॥ ३४ ॥

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां पट्टं निचिताः,
ताद्विस्तत्, तावत्य एव तल्लक्ष्मणकेषु, तावत्य
एव जहाराणां, दश जातुनि, चर्धाराशशरी, दश
चङ्गुणे, शतमध्यधर्ममेकस्मिन् सन्धिन भवन्ति,
पतेनेतरसन्धिषु चाह च व्याख्यातो ॥३५॥

(शाश्वतगत स्नायु—) पैर की एक एक अंगुलि में छः स्नायुएँ लगी रहती हैं (इस प्रकार पाँच अंगुलियों में) वे तीस होती हैं। पादतल, कूर्च और गुल्फ (इन तीनों स्थानों में) उतनी ही, जत्रा में उतनी ही, जातु में दस, ऊरु में चालीस, चङ्गण में दस, इस प्रकार एक टाँग में १२० स्नायुएँ होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं (की कुल तथा पृथक् पृथक् स्नायुओं की संख्या) का विवरण हो जाता है ॥३५॥

पट्टिः कर्त्र्यां, पृष्ठेऽशान्तिः, पार्श्वयोः पट्टिः, उरसि
त्रिंशत् ॥३६॥

(मध्य शरीर की स्नायु—) कटि में साठ, पीठ में अस्सी, पार्श्वों में साठ, छाती में तीस ॥३६॥

पट्टिशिशूद्रान्पाया, मूर्ध्नि चत्त्रिंशत्; एवं नय
स्नायुदातानि व्याख्यातानि (भर्त्सित) ॥३७॥

(ऊर्ध्वजगत स्नायु—) प्रोथा में छत्तीस, सिर में चालीस, इस प्रकार स्नायुओं के नौ शत वर्णन किये गये हैं ॥३७॥

भवन्ति चात्र—

स्नायुश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वा निशेष मे ।

प्रतानत्रयो वृत्ताश्च पृथक्पृथक् शुचिरास्तथा ॥३८॥

प्रतानचत्स्यः शापास्तु सर्गसन्धिषु चाप्यथ ।

वृत्तास्तु फण्डराः सर्गं त्रिंशयाः कुशलैरिह ॥३९॥

आमपकाशयान्तेषु यस्तौ च शुचिराः खलु ।

पार्श्वोऽसि तथा पृष्ठं पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥४०॥

(स्नायुओं के प्रकार और उनके स्थान—) स

स्नायुएँ चार प्रकार की होती हैं, उन्हें मुझसे सुनो

प्रतानवती, वृत्त, पृथुल और शुचिर ॥३८॥ प्रतानक

स्नायुएँ छाताओं में तथा सब सन्धियों में होती हैं। या

(शायुविभाग में) बुद्धिमानों को गोल स्नायुएँ कष्ट

समस्तना चाहिए, (ये भी छाताओं और सन्धियों में

होनी हैं ॥ ३९ ॥ आमाशय, पक्वाशय तथा वसति में शुचि

स्नायुएँ होती हैं। पार्श्व, छाती तथा पीठ और सिर में

पृथुल स्नायुएँ होती हैं ॥ ४० ॥

वक्तव्य—शायु—इस शब्द के अर्थ के समन्वय में भ

कुछ मतभेद प्रचलित हैं। १० गंगाधर शारदा जी की ध्या

से पेशी (Muscle) समझे हैं। भारती भाषा में भी शायु

शब्द पेशी के लिए ही प्रयुक्त होता है। परंतु हमका

वास्तविक अर्थ से कोई समन्वय नहीं है। स्नायु का स्वरूप

निम्न प्रकार से ग्रंथों में वर्णित है—पिरकशशुचिरसंघा

दण्णनवत् स्नायुशब्दो दृशना (अण) । (मुधन,

सूत्र ३२) । अशुचिरि शान्पात उपशुचिरे, देन ३५ ४

मन्ते । (बल्लण, मुधन, सूत्र २२) । जीवन के द्रव्यों में

स्नायु का उल्लेख है—तोषैत् प्रथमं पृथक् बन्धनारत ०

कस्य वा । शरणक्षीमस्त्रान्यां स्थाव्या बालेन वा पुनः ॥ (सुश्रुत, सूत्र २५) । स्थिते रक्ते यथाहं सच्योपहृतेन स्नायुमृशवाला नामन्य-
तमेन सीञ्चेत् । (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३९) । स्नायु का कार्य—
मांसान्यत्र निबद्धानि तिराभिः स्नायुभिस्तथा । आगे ४२वां
श्लोक देखो । स्नायुयो बन्धनं प्रोक्ता देहे मांसारिधमेदस्मान् ।
(शार्ङ्गधर) । इससे यह स्पष्ट है कि स्नायु शरीरगत श्वेत
सूत्रमय मज्जित उपधातु है, जो संधि और मांस (पेशी
Muscle) बंधन के काम में आती है और आकार के
अनुसार उसको भिन्न भिन्न नाम दिये जाते हैं । प्रत्येक
शारीर में उसका जो वर्णन दिया है, वह यथार्थ है—
स्नायुयो नाम सान्द्रमसृणशरणुःस्रसमाकाराः संधिवन्धनार्थाः
प्रायेय । स्नायुशब्दश्च द्वयोरर्थयोर्दृश्यते प्रयुक्तः—स्नायुसंहतिषु
(Ligaments) स्नायुव्यक्तियु (Fibrous tissue) । तत्र प्रथमः
प्रथिसंधिवन्धनरूपोऽर्थः, स मुख्यः—'प्रतानवतीभिर्हि स्नायुभिर्दो-
ह्वाः सन्धयः' इति पूर्वाचार्योक्तः । अथ द्वितीयः स्नायुव्यक्तिरूपोऽर्थः,
स गोलः । तेन स्नायुशब्दः क्वचित् शयसूत्रवद् दृढमुग्रवद्-
सप्राण्यभिपद्यते । तथाहि कलाल कण्टरानु पार्श्वपृष्ठोरःपेश्यतेषु
श्रामाशयपकाशयवत्स्यन्तभागेषु च दृश्यते यः स्नायुशब्दः प्रयुक्तः
पूर्वः, सोऽस्मिन्नेवार्थे । इसमें सन्देह नहीं है कि आयुर्वेद में
पेशी (Muscle) के अर्थ में स्नायु शब्द प्रयुक्त होता है ।
(१) इसका एक कारण है वास्तविक पेशी को स्नायु
समझना । इसका उदाहरण सुपिर स्नायु का है । सुपिर
स्नायु वास्तव में गोलाकार पेशियाँ (Sphincters and
valvular bands of muscle) हैं । इनका स्वरूप स्नायु
के साथ कुछ मिलता है । इसलिए ये पेशियाँ स्नायु मानी
गई हैं । (२) शरीर की पेशियों का अन्तिम भाग स्नायु
सूत्रों (Fibrous structures) से बनता है । स्नायुसूत्र
जब गोल रस्ती के रूप में होते हैं, तब कण्डरा (Tendons)
कहलाते हैं । जब रस्ती के आकार के न होकर अधिक
फैले हुए एक पतली तह बनाते हैं, तब पृथुल स्नायु
(Aponurosis) कहलाते हैं । ये स्नायुसूत्र पेशीसूत्रों
से अखंडित मिले रहते हैं । आकुंचन और प्रसारण का
गुण स्नायुसूत्रों में न होकर पेशीसूत्रों में होता है । परन्तु
इन दोनों का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध होने के कारण आयुर्वेद
में संकोच-प्रसार का कार्य पेशीगत स्नायु-विभाग का ही
मना गया है । परन्तु इसका उल्लेख कहीं भी स्वतन्त्रतया
न होकर विकृतावस्था में मिलता है । यही कारण है कि
शल्यविज्ञान में पेशी या मांसगत शल्य के लक्षणों में
संकोच का उल्लेख न होकर स्नायुगत शल्य के लक्षणों में
उसका उल्लेख मिलता है—आक्षेपः स्नायुजालस्य संरम्भः स्तम्भ
वेदना । स्नायुगे । (अष्टांगहृदय) । स्नायुगते स्नायुजालोत्प्रेषणं
संरम्भशोभा रक्च (सुश्रुत, सूत्र २६) । स्नायुविद्ध लक्षणों में
भी इसी तरह संकोच का उल्लेख है—क्रौञ्चं शरीरावयवावा-
सादः क्रियास्वशक्तिस्तमुला रुजश्च । तं स्नायुविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥
(सुश्रुत, सूत्र २५) । क्रियास्वशक्तिरिति, क्रियाशत्रोत्प्रेषणा-
वत्प्रेषणप्रसारणाकुंचनलक्षणाः । (डक्खण) । स्नायुवेध और
स्नायुशाल्य में संकोच और उत्तेजन का जो विशेष उल्लेख
किया गया है, उसमें कुछ तथ्य मालूम होता है क्योंकि
आधुनिक खोज से यह मालूम होने लगा है कि सांवेद-
निक तथा अन्य प्रकार के नाडियों के अग्र पेशिकण्डरा
संयोग में तथा कण्डरा में होते हैं—The nerve termi-

nations are found in tendon and muscles. The
neuro-muscular spindles are principally found in
muscles in the neighbourhood of tendons and
aponeuroses. Of recent years more and more
importance has been attached to the tendon
organs. It is considered that tendon organs are
concerned in the tendon stretch reflexes, *Halliburton's Physiology*. वैसे ही अपतानक में जहाँ पेशियों
में संकोच होता है, वहाँ पर पेशियों के लिए स्नायुशब्द का
प्रयोग किया गया है—अनुलीयुष्पजठरहृदक्षोणलसंश्रितः ।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेान् । तदाऽऽस्याभ्यन्तरा-
यामं कुरुते मारतो वली । बाह्य युप्रतानरथो बाह्यायामं
करोति च ॥ (सुश्रुत, निदान १) । (३) स्नायु पेशियों का ही
एक भाग होने के कारण 'नामैवदेश नामग्रहणम्' इस न्याय
से भी कहीं कहीं पेशियों के लिए स्नायु शब्द प्रयुक्त होता
है—पृथीत्वार्थं तनोर्वायुः सिराः स्नायुविशो'य च । पत्रमन्यतमं
हन्ति संधिवन्धनं विमोक्षयन् ॥ (अष्टांगहृदय) । इस तरह
यद्यपि कहीं कहीं स्नायु शब्द पेशी या मांस (Muscle)
के अर्थ में प्रयुक्त होता है तथापि उसका वास्तविक अर्थ
शयसूत्रसंनिभ शरीरगत उपधातु है (Fibrous tissue)
और मांस से स्नायु हमेशा पृथक् माना जाता है—मांसानि
अत्र निबद्धानि स्नायुभिः । तद्मांससिरास्नायुस्थिसंधिकोष्ठ-
मर्माण्यष्टी व्रणवस्तुनि । (सुश्रुत) । स्वल्पं स्नायुवसावशेषमलिर्न
निर्मांसमप्यस्थि गोः श्वा लध्वा परितोपमेति न तु तत्तस्य सुधा-
शान्तये । (नीतिसतक) । अब यहाँ पर स्नायु के जो चार प्रकार
वतलाये गये हैं उनके आधुनिक पर्याय—(१) प्रतानवती
स्नायु—संधिवंधन Ligament; (२) वृत्तस्नायु—कण्डरा,
Tendon; (३) सुपिरस्नायु—गोल या सच्चिद्र पेशियाँ
Sphincter muscles or valvular bands of muscles;
(४) पृथुलस्नायु—चपटा स्नायु Flattened or ribbon sh-
aped tendons or Aponeuroses: इस विवरण से यह
स्पष्ट होगा कि स्नायु-वर्णन के प्रारंभ में जो इनकी संख्या
वतलाई है, उसमें संधिवंधन (Ligament-) और पेशियों
के बंध (Tendons and aponeuroses) अधिक संख्या में
तथा कुछ पेशियाँ भी शामिल हैं ।

नौयथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्वहुभिर्भुक्ता ।

भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥ ४१ ॥

एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः ।

स्नायुभिर्वहुभिर्वद्वास्तेन भारसहा नराः ॥ ४२ ॥

(स्नायुओं का कार्य—) जिस प्रकार बहुत से बंधनों
से युक्त, मनुष्य (वर्द्ध) के द्वारा भली भाँति जोड़ी हुई
फलकों (तस्तों) को नौका पानी में भार को उठाने में
समर्थ होती है ॥ ४१ ॥ इसी प्रकार इस शरीर में जितनी
संधियाँ हैं वे बहुत सी स्नायुओं द्वारा बंधी हुई हैं, जिससे मनुष्य
(शरीररूप पृथ) भार को उठाने में समर्थ होते हैं ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—नृयुक्ता—इसका एक अर्थ ऊपर दिया है ।
उसके सिवा 'नाव में बैठने वाले मनुष्यों से युक्त' किंवा
'नाविक से युक्त' ये भी इसके दो अर्थ हो सकते हैं ।
स्नायु—यहाँ पर नाव का जो दृष्टान्त दिया है, उससे स्नायु
का अर्थ केवल Ligaments होता है ।

न ह्यस्थीनि न चापेश्यो न सिरा न च सन्ध्यः ।

व्यापादितास्तथा हन्युयथा स्नायुः शरीरिणाम् ॥४३॥

(शरीर में स्नायु का महाव—) पीड़ित हुई स्नायु जैसे

स्नायु विभूत या पीड़ित (Injured or hurt) होने पर मनुष्य को बहुत तन्मूली होती है । उतनी तन्मूली अस्थि आदि से नहीं होती । मोच (Sprain) का उदाहरण लीजिए । बहुत सरल बीमारी है परन्तु सब कुछ करने पर भी महीनों तक तंग करती है और कभी कभी यहाँ तक देखा जाता है कि एक बार जिम अंग में सख्त मोच आ जाती है, उस अंग से जिन्दगी-भर भार सहन करने का काम नहीं होता । अर्थात् यह कथन एक मर्यादा तक सत्य है । इसलिये 'व्यापादित' का अर्थ 'पूर्णतया नष्ट न करके' 'कुछ पीड़ित' (Injured or hurt) ऐसा करना चाहिए, और 'हन' का अर्थ 'भार डालना' ऐसा न करके 'दिव्यत या अर्धचन पैदा करना' (Obstruat, Hinder) ऐसा करना चाहिए ।

यः स्नायुः प्रविजानाति वाह्याध्वाभ्यन्तरास्तथा ।

स गूढं शल्यमाहृतुं वेदाच्छक्रेति देहिनाम् ॥ ४४ ॥

(स्नायुविज्ञान का महाव—) जो बाह्य और आभ्यन्तर (उत्तान और गंभीर) स्नायुओं को भली भँति जानता है, वह बहुत दूर तक अन्दर गये हुए शल्य को मनुष्यों के शरीर से निकालने में समर्थ होता है ॥ ४४ ॥

अथ इसके बाद पेशियों का विवरण करते हैं—

पञ्चपेशीशतानि भवन्ति । तासां चत्वारि शतानि

शाखासु, कोष्ठे पटपटिः, प्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत् ॥४५॥

(पेशियों की संख्या—) पाँच सौ पेशियाँ (शरीर में होती) हैं । इनमें से शाखाओं में छियासठ, गर्दन के ऊपर चौतीस ॥४५॥

वक्ष्य—यहाँ पर पेशियों की जो कुल संख्या बताई है वह आधुनिक संख्या के साथ बहुत कुछ मिलती है, परन्तु प्रत्यंगों की संख्या में बहुत फर्क होता है । प्रत्येक अंग और प्रत्यंगों की पेशियों की गणना करने में कोई स्वार्थ नहीं है इसलिये पद्यों की पेशियों की संख्या की गणनात्मक सारणी नीचे दी जाती है ।

पेशीसंख्यागुणना

| अंग का नाम | प्राचीन संख्या | अर्वाचीन संख्या |
|---------------|----------------|-----------------|
| शाखाएँ | १०० X ४ = ४०० | ५९ X ४ = २३६ |
| पट | ६६ | २३५ |
| प्रीवा और निर | ३४ | २४८ |
| | २०० | ५१९ |

एकैकरथो तु यादाहुल्यां तिस्रस्तिस्रस्तः
पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि चूर्चसत्रिविष्टस्ता-
वत्य एव, दश गुल्फतलयोः, गुल्फजानवन्तरे विश-
तिः, पञ्च आनुनि, विशतिरुत्तौ, दश चक्षुषे, दात-
मेधमेकस्मिन् सक्थिन् भवन्ति, एतेनेतरसक्थि
बाह्य च व्याप्यातौ ॥ ४६ ॥

(शाखागत पेशियों—) पाँच की एक एक अंगुलि में तीन तीन, छे पंद्रह; पाँच के अग्रभाग में दस, पाँच के ऊपर चूर्च में स्थित उत्तनी ही (दस), गुल्फ और पादतल में दस, गुल्फ और जानु के बीच में बीस, जानु में पाँच, ऊरु में बीस, वक्षुण में दस, इस प्रकार एक टॉंग में सौ पेशियाँ होती हैं । हस्ती से दूसरी टॉंग और दोनों बाहुओं (की पेशियों) का व्याख्यान हो जाता है (इस प्रकार चारों शाखाओं में चार सौ पेशियाँ होती हैं) ॥४६॥

तिन्नः पायो, एका मेढे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृष्णयोः, स्फिक्योः पञ्च पञ्च, द्वे वस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाम्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसत्रिविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, पद् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति-
समन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, पद् यष्ट-
प्लीहोपद्रुकेषु ॥ ४७ ॥

(कोष्ठगत मांसपेशियों—) गुदा में तीन, शिरन में एक, सेवनी में दूसरी (अर्थात् एक), वृष्णों में दो, चूतड़ों में पाँच पाँच, वस्तिशिर में दो, उदर में पाँच, नाभि में एक, पृष्ठ के ऊर्ध्वभाग में स्थित (प्रत्येक तरफ) पाँच पाँच दीर्घ (पेशियाँ), दोनों पार्श्वों में छः, छाती में दस, अक्ष और कंधे के आसपास सात, हृदय और आमाशय में दो, यष्ट, ड्रीहा और उपद्रुक में छः (इस प्रकार कोष्ठ में सड़सठ पेशियाँ होती हैं) ॥ ४७ ॥

प्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हृन्वोः, एकैका काक-
लकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायाम्, श्रोष्ठयोर्द्वे,
नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः, गुण्डयोश्चतस्रः, कर्णयोर्द्वे,
चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति; एवमेतानि पञ्च
पेशीशतानि ॥ ४८ ॥

(प्रीवा और सिर की पेशियों—) प्रीवा में चार, हनु में आठ, काकलक (कौवा) और गले में एक एक, तालु प्रदेश में दो, जिह्वा में एक, ओठों में दो, नाक में दो, आँवों में दो, कण्ठ में चार, कानों में चार, ललाट में चार, शिर में एक, इस प्रकार (सिर और प्रीवा की पेशियाँ) चौतीस होती हैं तथा संपूर्ण शरीर की) पाँच सौ पेशियाँ हैं ॥४८॥

वक्ष्य—गुण्डना के लिए सिर और प्रीवा की पेशियों की आधुनिक संख्या यहाँ पर दी जाती है । प्रीवा—इसमें एक तरफ बाईस और दूसरी तरफ बाईस करके कुल चौबालीस पेशियाँ होती हैं । हनु—इससे यदि चर्चण की पेशियाँ ग्रहण की जाय तो आठ संख्या ठीक है । काकलक—गुण्डोष्णिका (पीठे ३३वें सूत्र का वक्ष्य देखो), इसमें एक छोटी-सी पेशी होती है (Musculus oculo), परन्तु आधुनिक गणना में यह दो गिनी जाती है । गला—प्रस-
निक्ता (Pharynx) । इसमें एक तरफ पाँच और दूसरी तरफ पाँच करके कुल दस पेशियाँ होती हैं । तालु—तालु प्रदेश में चार चार करके कुल आठ पेशियाँ होती हैं । जिह्वा—संपूर्ण जिह्वा एक पेशी मानी गई है । इसलिये जिह्वा में एक पेशी बताई है । आधुनिक गणना के अनुसार चार चार करके

१ हनुसमाल्ये. २ जिह्वायां द्वे. ३ धनजो नेत्रयो-
५ च्च शिरसि.

जिह्वा में कुल आठ पेशियाँ होती हैं। होंठ—इनके साथ संबंध रखने वाली पेशियाँ एक तरफ आठ और दूसरे तरफ आठ करके सोलह होती हैं। नासा—इसकी पाँच पाँच करके दस होती हैं। नेत्र—ऊपर के पलक के साथ आँखों की पेशियों की संख्या सात और सात करके चौदह होती हैं। योनि—इसकी केवल दो ही पेशियाँ हैं। कान—इसमें वायु-कर्ण की छः और छः करके बारह और मध्यकर्ण की दो दो करके चार, इस तरह कुल सोलह पेशियाँ होती हैं। ललाट और सिर—इनमें कुल छः पेशियाँ होती हैं। इनके सिवाय स्वरयन्त्र में दस पेशियाँ होती हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन गणना में नहीं है।

भवति चात्र—

सिरास्त्रायवस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।

पेशीभिः संवृतान्यत्र वलवन्ति भवन्त्यतः ॥ ४६ ॥

(पेशियों का कार्य—) शरीरधारियों की सिराएँ, जायुएँ, अस्थिपर्व और संधियाँ पेशियों से ढकी रहती हैं; अतएव वे बलवती होती हैं ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—पेशी- पं० गंगाधर शास्त्री जोशी पेशी से आवरण (Coverings like tunicas, sheaths and serous membranos) समझते हैं। परन्तु यह मत बिल्कुल निराधार है। पेशी का स्वरूप आयुर्वेदिक तथा अन्य ग्रंथों में निम्न प्रकार से वर्णित है—अनुप्रविश्य पिशितं पेशीविभजते तथा। (सुश्रुत, शा० ४)। इसकी टीका में ब्रह्मणाचार्य लिखते हैं—गद्युः पिशितं मांसमनुप्रविश्य पेशीविभजते। पेशी मांसपट्टम् ॥ इसी अध्याय के ४६वें सूत्र की टीका में ब्रह्मणाचार्य लिखते हैं—मांसावयवसंघातः परस्परविभक्तः पेशीत्युच्यते ॥ इन्दु अष्टांगसंग्रह की टीका में लिखते हैं—पेश्यः पुनः स्नायुवाकृतयो मांसमय्यः ॥ (शा० ५)। म० म० गणनाथ सेन 'स्नायुवाकृतयः' के बदले 'स्नायुवाघृतयः' पाठभेद सूचित (संज्ञापचकविमर्श पृष्ठ ३) करते हैं, परन्तु इस प्रकार पाठ में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'स्नायुवाकृतयः' का अभिप्राय यह है कि जैसे स्नायुएँ गोल, चपटी, प्रतानवती इत्यादि विविध आकृति की होती हैं, वैसे ही पेशियाँ भी होती हैं और यह कथन ठीक भी है। आगे ५२वाँ सूत्र देखो। दोनों में फर्क केवल यही है कि स्नायु स्नायुमय (Fibrous) और पेशी मांसमय (Fleshy) होती है। चक्रपाणिदत्त चरक की टीका में लिखते हैं—पेशी दीर्घमांसपेश्यकारा। (शा० ४)। मांसपेश्यो बलाय स्युरवष्टम्भाय वैहिनाम् । (शाङ्गधर)। इस श्लोक की टीका में आढमल्ल लिखते हैं—मांसावयवसंघाताः परस्परं विभक्ताः पेश्य इत्युच्यन्ते। याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पेशियों की संख्या पाँच सौ बतलाई है। उसकी टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—पेश्यः पुनर्मांसलाकारा ऊरुपिण्डकाथद्वयप्रत्यंग-संधिभ्यः पञ्चशतानि भवन्ति । (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१००)। पेशीस्वरूप के संबंध में विज्ञानेश्वर तथा अन्य ग्रंथकारों के वचन इतने स्पष्ट हैं कि मसल (Muscle) के सिवा पेशी का दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता। अर्थात् शरीर में लाल रंग की रेशादार आकुञ्चन-प्रसारणशील जो धातु होती है, उसके पिण्ड को पेशी कहते हैं। पेशियों का कार्य—इस श्लोक

में जो 'संश्रुतानि' शब्द है तथा अष्टांगसंग्रह 'प्रच्छादितानि' शब्द (तामिहिं सन्धयस्थिसिरास्त्रावानि प्रच्छादितानि। शा० ५) आता है, उसको देखकर पं० गंगाधर शास्त्री जोशी संवरण और प्रच्छादन पेशियों का कार्य समझते हैं—पेशीनां कार्याणि—'प्रच्छादकत्वं, संवरकत्वम्, श्रावरकत्वं च' परन्तु यह अर्थ गलत है। संश्रुतादि शब्द (५२वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो) अस्थ्यादि अंगों के साथ पेशियों का संबंध प्रदर्शित करते हैं; अर्थात् इनका अभिप्राय यह है कि अस्थ्यादि अंग चारों ओर से पेशियों द्वारा घिरे हुए हैं। पेशियों का कार्य बल और आधार देने का है। इसका स्पष्ट उल्लेख उपर्युक्त शाङ्गधर के श्लोकार्थ में तथा यहाँ पर भी बलवन्ती शब्द से किया गया है। शाङ्गधर की गृहार्थदीपिका में वैद्य काशीराम लिखते हैं—अथ मांसपेश्यः। पञ्चशतानि भवन्ती-त्युक्त तेषां प्रयोजनमाह—मांसपेश्यः बलाय भवन्ति तथा वैहिनाम-वष्टम्भाय। पेशियों का यह कार्य तदन्तर्भूत एक विशेष गुण के ऊपर निर्भर होता है। पेशियों के तन्तुओं का यह विशेष गुण है कि वे सिकुड़कर मोटे और छोटे हो सकते हैं तथा अपनी पूर्वदशा को प्राप्त कर लेते हैं। इस गुण को संकोचनशीलता (Contractility) कहते हैं। नाडियों के द्वारा प्राप्त उत्तेजन (Stimulus) से पेशियों में संकोचन उत्पन्न होता है। अस्थिसन्ध्यादि अंगों में जितनी स्वाभाविक शक्ति होती है, उससे कई गुना अधिक शक्ति पेशियों के कारण आ जाती है। प्रो० राममूर्ति या सेन्डो के शक्ति के खेल जिन्होंने देखे हैं, उनके लिए इसके संबंध में अधिक विवरण करने की आवश्यकता नहीं है। संकोच से जैसी शक्ति उत्पन्न होती है, वैसी विविध प्रकार की गतियाँ भी उत्पन्न होती हैं। संकोचन का गुण आयुर्वेद में पेशी तन्तुओं के बदले स्नायुतन्तुओं का माना गया है—प्रसारणा-कुञ्चनयोरज्ञानां कण्ठरा मताः। (शाङ्गधर)। पीछे ४०वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो। वास्तव में यह कल्पना असत्य है, परन्तु व्यवहार में इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। पेशियों के संबंध में कुछ अधिक विवरण—मांस शरीर में प्रायः हर जगह रहता है। शरीरभार का करीब आधा अंश मांस का होता है। जो मांस त्वचा, अस्थि और संधियों से लगा हुआ रहता है वह छोटे छोटे पृथक् पृथक् समूहों में विभक्त रहता है। ये समूह पेशियाँ कहलाती हैं। ये पेशियाँ आपस में सौत्रिक तंतु द्वारा जुड़ी रहती हैं, परन्तु यह जोड़ इतना ढीला होता है कि पेशियों के संकोच-प्रसार में कोई रूकावट नहीं होती। जो मांस आशयों, खोतों (जैसे हृदय, आमाशय, आन्त्र इत्यादि) में होता है वह पेशियों में विभक्त नहीं होता, परन्तु पतली पतली तहों में विभक्त होता है। आयुर्वेद के समान (द्वे हृदयामाशययोः, पट्ट यकृत्प्ली-होण्डकेषु—४०वाँ सूत्र देखो) आधुनिक वैद्यक में इनका समावेश पेशियों (Muscles) में नहीं किया जाता। जैसे, यन्त्र में जितनी गतियाँ होती हैं चक्र के द्वारा होती हैं, वैसे ही शरीर में चलना, फिरना, बोलना, रोना, गाना, हाथ उठाना, आँखों को खोलना, बंद करना, मलमूत्रोत्सर्ग करना, साँस लेना, हृदय का स्पन्दन, भोजन का महास्रोत में नीचे सरकना, आँखों की पुतली का छोटा बड़ा होना इत्यादि जो सब गतियाँ तथा क्रियाएँ होती हैं, मांस द्वारा

और उसी के उपलक्ष्य में यह श्लोक लिखा गया, इस प्रकार का मत निश्चित से देना कठिन है। कम से कम कुछ शारीरशास्त्रियों को इनका अस्तित्व मालूम नहीं था, यह बात निश्चित है। इसी लिए गयदासाचार्य इस श्लोक को नहीं पढ़ते हैं और भोज का चचन आधार के लिए देते हैं—'यो तु श्रुं वन्यान्तरीयश्लोकं न पठति, किन्तु 'एवमेलानि पत्रपेशीश्रवणानि' इत्यथ पुंसाभिति न पठित्वा पुंसाभिव पत्रपेशीश्रवणानि कीर्णां तु विद्युमिरुनानि पद्यशरानती व्याख्याति। श्रवणं च भोजनान्मृष्टान्तीकरोति। तथा च भोजनान्मृष्टान्—'पत्रपेशीश्रवणानिव खोवर्ज्यं विद्धि भूमिप। भनश्च विद्वो ह्यन्ते कीर्णां शेषसि मुच्यते ॥' (ब्रह्मण्टीका)।

मर्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रथिभागः ॥ ५४ ॥
मर्म, सिरा, धमनी और स्रोतसों का विभाग अन्यत्र (किया गया है) ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—अन्यत्र—मर्मों का पद्य अध्याय में, सिराओं का सप्तम में, और धमनी तथा स्रोतसों का नौवें अध्याय में वर्णन किया गया है।

शंखनाभ्याकृतितर्योनिस्त्रयावर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये र्नावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥ ५५ ॥
यया रोहितमरस्यस्य मुखं भवति रूपतः।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥ ५६ ॥

(योनि और गर्भशय्या का स्वरूप—) योनि शङ्खनाभि की आकृति की होती है। वह तीन आवर्तयुक्त वर्णन की गई है और उसके तीसरे आवर्त में गर्भशय्या प्रतिष्ठित है ॥ ५५ ॥ रोहू मछड़ी का मुख जिस स्वरूप का होता है, बुद्धिमान् वैद्य उसी के स्वरूप की और आकृति की गर्भशय्या को समझते हैं ॥ ५६ ॥

वक्तव्य—शङ्खनाभ्याकृति—शङ्ख की नाभि याने मध्य-भाग जैसे बीच में मोटा और चौड़ा और दोनों तरफ तड़ होता है, उसी प्रकार की आकृति जिसकी है, ऐसी। योनि—योनिमार्ग (Vaginal canal—) It is constricted at its commencement, dilated in the middle, and narrowed near its uterine extremity Grey's Anatomy न्यावर्ता सा प्रकीर्तिता—योनि की रचना में तीन निश्चित आवर्त नहीं दिखाई देते, परन्तु उसकी आन्तरिक लम्बा पर आवर्त के समान कई गोल श्लोक (Ridges or Rugae) दिखाई देते हैं। तृतीये आवर्ते—अन्त में। गर्भशय्या—जिसमें गर्भ सोता है या अवस्थान करता है, वह स्थान अर्थात् गर्भशय के भीतर का अवकाश (Uterine cavity); सन्दर्भ के अनुसार गर्भशय्या से गर्भशय (Uterus, womb का भी बोध होता है, परन्तु यहाँ पर उसके भीतर का अवकाश समझना चाहिए। तस्यस्थानान् भ्रतुत्पाम-उर्महाद्यु विराम। (ब्रह्मण्टीका)। जहाँ पर गर्भ रहता है, वह स्थान त्रिकोणाकृति होता है जिसका एक कोन गर्भशय अन्तमुख पर और दो कोन दो वीजवाहिनियों के मुख पर होते हैं अर्थात् मुख के पास तग और पीछे चौड़ा होता है। गर्भशय का सशिम वर्णन—गर्भशय यह अङ्ग है, जिसमें गर्भ रहा करता है। यह अङ्ग भ्रोग्निगुहा में मूत्राशय और मलाशय के बीच में होता है। इसके दोनों तरफ दो दन्धन होते हैं, जो पद्यदन्धन (Broad-ligaments) कहलाते हैं। इनमें

दोनों ओर दो वीजप्रथियां रहती हैं, जिनमें वीज (Ova) उत्पन्न होकर बाहर निकलता है और पद्यदन्धन के ऊपर के किनारे में स्थित वीजवाहिनियों द्वारा (Ute 100 tub s) गर्भाशय में आता है। गर्भाशय का आकार अधोमुख पुद्गुगुर्गुफल के समान परन्तु चपटा (Pyramiform in shape) होता है। अग्रजाता (जिसमें गर्भधारणा न हुई हो) स्त्री में गर्भाशय की लम्बाई ३ इञ्च, चौड़ाई २ इञ्च और मोटाई १ इञ्च होती है और उसका तोल हाईस से साढ़े तीन तोल होता है। प्रजाता स्त्री में ये सब परिमाण कुछ अधिक हो जाते हैं। वर्णन के लिए गर्भाशय के तीन भाग किये जाते हैं। (१) गर्भाशयमुख (Os uteri)—यह भाग योनि के शिखर में होता है। इसके बीच में जो छिद्र होता है, वह बाह्य गर्भछिद्र (External os) कहलाता है और उसी में से मासिक साव बाहर आता है और शुक्राणु भीतर प्रवेश करता है। संक्षेप में यह गर्भाशय का महाद्वार है। यही द्वार मासिक धर्म के समय तथा उसके पश्चात् कुछ दिन तक विषृत रहता है (पीछे तीसरे अध्याय का ३ वा श्लोक और उसका वक्तव्य देखो), जिससे शुक्राणुओं को भीतर जाने में कठिनाई नहीं होती। उसके पश्चात् यह द्वार कुछ संक्षिप्त हो जाता है, जिससे शुक्राणु भीतर नहीं जा सकते, अतएव गर्भधारणा भी नहीं होती। कुछ स्त्रियों में यह द्वार जन्म से या पश्चात् घनवस्तु की उत्पत्ति से सदा के लिए अत्यन्त संकुचित (सूचीमुख, अनुमुख Fibrous os) रहता है—गर्भस्थापां स्थिरा रीचमादाशुयोनीं प्रदूषयन्। मातृकोशपुद्गारां ज्ययां य्वीयुयीं तु स ॥ (चरक, चिकित्सा ३०)। ऐसी अवस्था में मासिक धर्म के समय आतंय साव बाहर निकलने में बहुत कठिनता होती है (रजश्टु, Dysmenorrhoea) और प्रायः ऐसी स्त्रियों में गर्भधारणा भी नहीं होती। महाद्वार संकोच के साथ प्रायः मीवासरणी (Cervical canal) का भी संकोच रहता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। (२) मीवा (Cervix)—गर्भाशय मुख और शरीर के मध्य का यह भाग आकार में एक तरफ कुछ कम चौड़े बेलन के समान होता है। इसके भीतर का मार्ग मीवासरणी कहलाता है और आकार में शतकोशक के समान अर्थात् मध्य में कुछ विस्तृत होता है। मीवा का कुछ हिस्सा योनि के शिखर में आगे की ओर निवला हुआ रहता है, जो योनि में अङ्गुलि देकर स्पर्श किया जा सकता है या योनिवीक्षणयन्त्र (प्रथमभाग पृष्ठ ४० देखो) योनि में प्रविष्ट करने से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। शरीर (Body of the uterus)—यह वह भाग है, जिसमें गर्भ का अवस्थान होता है। इसका आकार त्रिकोणाकृति चपटा होता है और भीतर का अवकाश भी वैसा ही होता है। इसलिये इसका वर्णन तस्यस्थाना तथास्थाप्य किया गया है। इसका ऊपर का भाग गर्भमुखी (Fundus uteri) कहलाता है और उसी में अपना रुग्री रहती है। भ्रोग्निगुहा में गर्भाशय सीधा खड़ा न होकर मूत्राशय की ओर आगे कुछ झुका रहता है। यह झुकाव मीवा और शरीर के संयोग पर होता है। स्वस्थावस्था में भी मलाशय और मूत्राशय की रिक्तता और पूर्णता के ऊपर इस झुकाव में फर्क पड़ता है। जब मूत्राशय रिक्त और मलाशय पूर्ण रहता है, तब

गर्भाशय अधिक झुककर मूत्राशय के ऊपर रहता है । जब मूत्राशय पूर्ण और मलाशय रिक्त रहता है, गर्भाशय का आगे का झुकाव नष्ट होकर वह सीधा खड़ा होता है और कभी कभी पीछे त्रिक की ओर झुकता है । इस तरह गर्भाशय कुछ चल होने पर भी आठ बंधनों से अपने स्थान में बहुत कुछ स्थिर रहता है । इनमें एक आगे, एक पीछे, दो त्रिकसंबंधित, दो पार्श्विक और दो गोल होते हैं । जब ये बंधन कमजोर होकर ढीले और लम्बे हो जाते हैं, तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है । इस विकृति को योनिस्थानापवृत्ति या गर्भाशयस्थानापवृत्ति (Uterine displacements) कहते हैं—योनि: स्थानापवृत्ता हि यत्प्रभृता मता स्त्रिया: । (चरक, चिकित्सा ३०) ।

वयानुसार गर्भाशय की स्थिति—वय के अनुसार भी गर्भाशय की स्थिति में बहुत फर्क होता है । गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक गर्भाशय श्रोणिगुहा से ऊपर याने उदर-गुहा में होता है । धीरे धीरे वह नीचे सरकता है और जवानी के प्रारंभ में तथा उसके पश्चात् वह पूर्णतया श्रोणिगुहा में रहता है । मासिक धर्म के समय वह कुछ बढ़ा (पीछे तीसरे अध्याय के नौवें श्लोक का वक्तव्य देखो) हुआ करता है । गर्भधारण होने के बाद उसका आकार बहुत बढ़ा होता है और आठवें महीने में कौड़ी-प्रदेश तक पहुँच जाता है । प्रसूती के पश्चात् वह करीब करीब पूर्ववत् हो जाता है, परंतु उसके भीतर का अवकाश कुछ बढ़ा हुआ रहता है । घृद्धावस्था में गर्भाशय सिकुड़ कर बहुत छोटा और कठिन हो जाता है तथा उसका आन्तरिक छिद्र (Internal os) और कभी कभी वाल्छिद्र बंद होजाता है ।

श्राभुश्रोऽभिमुखः शैते गभा गर्भाशये स्त्रियाः ।

स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥५७॥
(गर्भाशय में गर्भ की स्थिति—) स्त्री के गर्भाशय में गर्भ संकुचित अंग और अभिमुख होकर रहता है । (और) प्रसव के प्रति (समय में) स्वभाव से ही शिर के बल योनि की ओर चलता है ॥ ५७ ॥

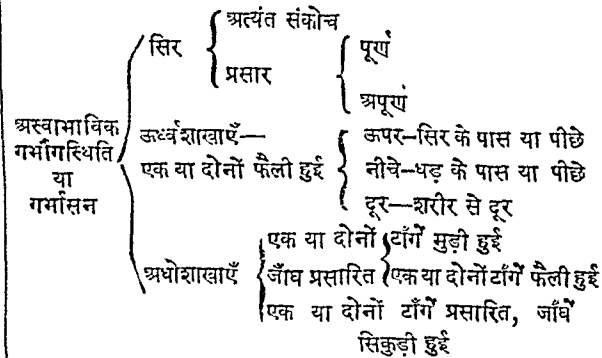
वक्तव्य—इसमें गर्भ का साधारण तथा प्रायिक आसन, अवस्थिति और गति वर्णन की है । श्राभुश्रः—मुड़ा हुआ । गर्भाशय में गर्भगों की स्थिति निम्न प्रकार की होती है—उसका सिर आगे को बल पर मुड़ा रहता है; पृष्ठवंश आगे को कुछ मुड़ता है, जिससे पीठ बहिर्गोल हो जाता है; दोनों जाँघे उदर पर और टाँगें जाँघों पर मुड़ी रहती हैं; मुट्टियाँ बंद रहती हैं; हथेली और अँगुलियों में जो रेखाएँ मिलती हैं, वे गर्भावस्था में त्वचा के मुड़ जाने से ही बनती हैं । सन्धेप में, शरीर की संकोचक (Flexor) पेशियाँ काम में आती हैं, जिससे संपूर्ण शरीर संकुचित स्थिति में रहता है । गर्भाशय में गर्भ के धड़ के साथ सिर और शाखाओं का जो सम्बन्ध होता है, उसको गर्भाङ्गस्थिति या आसन (Attitudo) कहते हैं और स्वाभाविक अवस्था में गर्भाङ्गस्थिति सार्वदैहिक संकोच (Universal flexio) की होती है । चरक में इसलिए लिखा है—गर्भस्तु खलु संकुच्याद्वायान्वास्तेऽन्तःकुक्षौ । (शारीर ६) । इस तरह कुल अंग संकुचित हो जाने के कारण गर्भ का आकार अण्डे के समान दीर्घ गोल हो जाता है । इसको भ्रुगर्भम्

(Fœtal ovoid) कहते हैं । यद्यपि मासानुमास गर्भाशय की लम्बाई बढ़ती जाती है तथापि गर्भ की मासानुमासिक लम्बाई की वृद्धि गर्भाशय की लम्बाई की वृद्धि से अधिक होने के कारण उत्तरकाल में गर्भ को अपने अंगों को संकुचित करके रहना एक आवश्यक घटना होती है । इसके सिवा गर्भाशय के अवकाश के साथ मिलने की दृष्टि से भी आकुञ्चन आवश्यक होता है । नीचे भ्रुगर्भ, गर्भ और गर्भाशय की लम्बाई की मासानुमासिक वृद्धि (इंचों में) दी जाती है—

मासानुमासिक वृद्धि की सारणी

| मास | गर्भाशय की लम्बाई | भ्रुगर्भ की लम्बाई | गर्भ की लम्बाई |
|-----|-------------------|--------------------|----------------|
| ४ | ४ | — | ६.५ |
| ५ | ५.४ | — | १० |
| ६ | ६.६ | — | १२ |
| ७ | ७.८ | ७.६ | १४ |
| ८ | ८.७ | ८.३ | १६-१७ |
| ९ | ९.३ | ९.२ | १८ |
| १० | १० | ९.७ | २० |

इस सारणी से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ की लम्बाई प्रारंभिक तीन महीनों को छोड़कर शेष काल में गर्भाशय से बहुत अधिक होने के कारण गर्भ गर्भाशय में सीधा रह नहीं सकता । परंतु जब वह हाथ, पैर और सिर सिकुड़ लेता है तब उसकी लम्बाई (चौटी से चूतड़ तक) गर्भाशय की लम्बाई से जरा सी कम होती है । अर्थात् गर्भाशय में आराम से रहने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है । अस्वाभाविकता हाथ, पैर या सिर के न सिकुड़ने से होती है । इस अस्वाभाविक गर्भाङ्गस्थिति के विविध प्रकार नीचे दिये जाते हैं—



अंगों की अस्वाभाविक स्थिति के कारण गर्भ में मूढ़ता आ जाती है और वह प्रसव के समय अपत्यमार्ग में अटक जाता है । (निदानस्थान का आठवाँ अध्याय प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६१-३६२ देखो) । अभिमुखः—पीठ की ओर मुख करके—मातुः पृष्ठाभिमुखः । (चरक, शारीर ६) । इससे गर्भ का माता शके रीर के साथ संबंध ब्रताया गया है । इसको गर्भ की अवस्थिति (Position) कहते हैं । आधुनिक परिभाषा के अनुसार गर्भाशय में गर्भ की चार अवस्थितियाँ होती हैं । स्थिति निश्चित करने के लिए सिर और जघन गति में गर्भपृष्ठ निदेशक (Indicator) माना जाता है और उसके अनुसार गर्भ की अवस्थिति निम्न प्रकार से वर्णित होती है । प्रथम—इसमें पीठ सामने और वाई ओर । द्वितीय—पीठ सामने और दाई ओर । तृतीय—पीठ पीछे और

और उसी के उपलक्ष्य में यह श्लोक लिखा गया, इस प्रकार का मत निश्चिति से देना कठिन है। कम से कम कुछ शारीर-रक्षाशक्तियों को इनका अस्तित्व मालूम नहीं था, यह बात निश्चित है। इसी लिए गयदासाचार्य इस श्लोक को नहीं पढ़ते हैं और भोज का घचन आधार के लिए देते हैं—यथी तु मधु वनान्तरपीयश्लोक न पठति, विन्दु 'एवमेतानि पद्मपेशी श्यानि' इत्यन पुत्रामिति पर पठित्वा पुत्रामेव पद्मपेशीश्यानि खीर्षा तु विद्युमिरुनानि पद्मशतानीति व्याख्याति। अत्रार्थे च भोजवाक्ये दृष्टान्तीकरोति। तथा च भोजनान्यम्—'पद्मपेशीश्यानान्येव खोपवर्जं विद्धि भूमिप। अत्रश्च विज्ञो हीयन्ते खीर्षां श्लोकसि मुखयो।' (दक्षहृष्टीका)।

मर्मसिराधमनीघ्नोत्तसामान्यत्र प्रथिमागः ॥५४॥

मर्म, सिरा, धमनी और श्रोतसों का विभाग अन्यत्र (निया गया है) ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—अन्वय—मर्मों का पृष्ठ अध्याय में, सिराओं का अक्षम में, और धमनी तथा श्रोतसों का नीचे अध्याय में वर्णन किया गया है।

शंखनाभ्याकृतियोनिरुध्याधर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये स्वापते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥ ५५ ॥

यथा रोहितमत्स्यस्य मुख भयति रूपतः।

तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्वुधाः ॥ ५६ ॥

(योनि और गर्भशय्या का स्वरूप—) योनि शङ्खनाभि की आकृति की होती है। वह तीन आवर्तयुक्त वर्णन की गई है और उसके तीसरे आवर्त में गर्भशय्या प्रतिष्ठित है ॥५५॥ रोहू मछली का मुख जिस स्वरूप का होता है, बुद्धिमान् वैष उसी के स्वरूप की और आकृति की गर्भशय्या को समझते हैं ॥ ५६ ॥

वक्तव्य—शङ्खनाभ्याकृति—शङ्ख की नाभि याने मध्य-भाग जैसे बीच में मोटा और चौड़ा और दोनों तरफ तद्ग होता है, उसी प्रकार की आकृति जिसकी है, ऐसी। योनि—योनिमार्ग (Vaginal canal—) It is constructed at its commencement, dilated in the middle, and narrowed near its uterine extremity Grey's Anatomy 'यावता सा प्रकीर्तिता—योनि की रचना में तीन निश्चित आवर्त नहीं दिखाई देते, परन्तु उसकी आन्तरिक लम्बा पर आवर्त के समान कई गोल श्लोक (Ridges or Rugae) दिखाई देते हैं। तृतीये आवर्त—अन्त में। गर्भशय्या—जिसमें गर्भ सोता है या अवस्थान करता है, वह स्थान अर्थात् गर्भाशय के भीतर का अवकाश (Uterine cavity), सन्दर्भ के अनुसार गर्भशय्या से गर्भाशय (Uterus, womb) का भी बोध होता है, परन्तु यहाँ पर उसके भीतर का अवकाश समझना चाहिए। तत्संस्थानाम्—अन्तर्मुख-वर्तमान् विराम। (दक्षहृष्टीका)। जहाँ पर गर्भ रहता है, वह स्थान त्रिकोणाकृति होता है जिसका एक कोन गर्भाशय अन्तर्मुख पर और दो कोन दो वीजवाहिनियों के मुख पर होते हैं अर्थात् मुख के पास तग और पीछे चौड़ा होता है। गर्भाशय का संधिष बर्णन—गर्भाशय यह अङ्ग है, जिसमें गर्भ रहा करता है। यह अङ्ग ध्रोगिगुहा में मूत्राशय और मलाशय के बीच में होता है। इसके दोनों तरफ दो धन्धन होते हैं, जो पञ्चवन्धन (Broad-ligaments) कहलाते हैं। इनमें

दोनों ओर दो वीजप्रयियां रहती हैं, जिनमें वीज (Ova) उत्पन्न होकर बाहर निकलता है और पञ्चवन्धन के ऊपर के किनारे में स्थित वीजवाहिनियों द्वारा (Uterine tubes) गर्भाशय में आता है। गर्भाशय का आकार अण्डमुख पु-तुम्भीकाल के समान परन्तु चपटा (Pyramiform in shape) होता है। अग्रजाता (जिसमें गर्भधारणा न हुई हो) स्त्री में गर्भाशय की लम्बाई ३ इंच, चौड़ाई २ इंच और मोटाई ३ इंच होती है और उसका तोल ढाई से साढ़े तीन तोल होता है। प्रजाता स्त्री में ये सब परिमाण कुछ अधिक हो जाते हैं। वर्णन के लिए गर्भाशय के तीन भाग किये जाते हैं। (१) गर्भाशयमुख (Os uteri)—यह भाग योनि के शिखर में होता है। इसके बीच में जो छिद्र होता है, वह बाह्य गर्भच्छिद्र (External os) कहलाता है और उसी में से मासिक खाव बाहर आता है और शुक्राणु भीतर प्रवेश करता है। संक्षेप में यह गर्भाशय का महाद्वार है। यही द्वार मासिक धर्म के समय तथा उसके पश्चात् कुछ दिन तक विद्युत रहता है (पीछे तीसरे अध्याय का २ वा श्लोक और उसका वक्तव्य देखो), जिससे शुक्राणुओं को भीतर जाने में कठिनाई नहीं होती। उसके पश्चात् यह द्वार कुछ संकुचित हो जाता है, जिससे शुक्राणु भीतर नहीं जा सकते, अतएव गर्भधारणा भी नहीं होती। कुछ स्त्रियों में यह द्वार जन्म से या पश्चात् मगवन्तु की उत्पत्ति से सदा के लिए अत्यन्त संकुचित (सूचीमुख, अणुमुख Pinhole os) रहता है—गमरथाया स्त्रिया रोक्ष्यादासुयोर्नी प्रदुषयन्। नादुरोपादशुद्राया कुर्वन्त दूषोमुती त् सा ॥ (चरक, चिकित्सा ३०)। ऐसी अवस्था में मासिक धर्म के समय आतंश खाव बाहर निकलने में बहुत कठिनता होती है (रजवृद्ध, Dysmenorrhoea) और प्राय ऐसी स्त्रियों में गर्भधारणा भी नहीं होती। महाद्वार संकोच के साथ प्राय प्रीवासरणी (Cervical canal) का भी संकोच रहता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। (२) श्रीवा (Cervix)—गर्भाशय मुख और शरीर के मध्य का यह भाग आकार में एक तरफ कुछ कम चौड़े बेलन के समान होता है। इसके भीतर का मार्ग प्रीवासरणी कहलाता है और आकार में शकटकन्द के समान अर्थात् मध्य में कुछ विस्तृत होता है। श्रीवा का कुछ हिस्सा योनि के शिखर में आगे की ओर निकला हुआ रहता है, जो योनि में अङ्गुलि देकर स्पर्श किया जा सकता है या योनिवीक्षणयन्त्र (प्रथमभाग पृष्ठ ४० देखो) योनि में प्रविष्ट करने से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। शरीर (Body of the uterus)—यह बड़ा भाग है, जिसमें गर्भ का अवस्थान होता है। इसका आकार त्रिकोणाकृति चपटा होता है और भीतर का अवकाश भी पैसा हो होता है। इसलिये इसका वर्णन 'तस्वरभागां एवाकृताम्' किया गया है। इसका ऊपर का भाग गर्भान्तुम्बी (Fundus uteri) कहलाता है और उसी में अपरा लगी रहती है। ध्रोगिगुहा में गर्भाशय सीधा खदान होकर मूत्राशय की ओर आगे कुछ झुका रहता है। यह शुक्राणु श्रीवा और शरीर के संयोग पर होता है। स्वस्थावस्था में भी मलाशय और मूत्राशय की रिक्तता और पूर्णता के ऊपर इन ऽशय में फर्क पड़ता है। जब मूत्राशय रिक्त और मलाशय पूर्ण रहता है, तब

गर्भाशय अधिक पुक्कर मूत्राशय के ऊपर रहता है। जब मूत्राशय पूर्ण और मलाशय रिक्त रहता है, गर्भाशय का आगे का झुकाव नष्ट होकर वह सीधा बढ़ा होता है और कभी कभी पीछे त्रिक की ओर झुकता है। इस तरह गर्भाशय कुछ चल होने पर भी आठ बंधनों से अपने स्थान में बहुत कुछ स्थिर रहता है। इनमें एक आगे, एक पीछे, दो त्रिकसंबंधित, दो पार्थिक और दो गोल होते हैं। जब ये बंधन कमजोर होकर ढीले और लम्बे हो जाते हैं, तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है। इस विकृति को योनिस्थानापवृत्ति या गर्भाशयस्थानापवृत्ति (Uterine displacements) कहते हैं—योनि: स्थानापवृत्ता हि मलयभूता नता निया: । (चरक, चिकित्सा ३०) ।

वयानुसार गर्भाशय की स्थिति—वय के अनुसार भी गर्भाशय की स्थिति में बहुत फर्क होता है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक गर्भाशय श्रोणिगुहा से ऊपर याने उदरगुहा में होता है। धीरे धीरे वह नीचे सरकता है और जवानी के प्रारंभ में तथा उसके पश्चात् वह पूर्णतया श्रोणिगुहा में रहता है। मासिक धर्म के समय वह कुछ बढ़ा (पीछे तीसरे अध्याय के नौवें श्लोक का वक्तव्य देखो) हुआ करता है। गर्भधारण होने के बाद उसका आकार बहुत बढ़ा होता है और आठवें महीने में कौड़ी-प्रदेश तक पहुँच जाता है। प्रसूती के पश्चात् वह करीब करीब पूर्ववत् हो जाता है, परंतु उसके भीतर का अयकादा कुछ बढ़ा हुआ रहता है। वृद्धावस्था में गर्भाशय सिकुड़ कर बहुत छोटा और कठिन हो जाता है तथा उसका आन्तरिक छिद्र (Internal os) और कभी कभी बाह्यछिद्र बंद हो जाता है।

आमुद्योऽभिमुखः शोते गभा गर्भाशये स्त्रियाः ।

उ योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥५७॥

(गर्भाशय में गर्भ की स्थिति—) स्त्री के गर्भाशय में गर्भ संकुचित अंग और अभिमुख होकर रहता है। (और) उसके प्रति (समय में) स्वभाव से ही शिर के बल योनि की ओर चलता है ॥ ५७ ॥

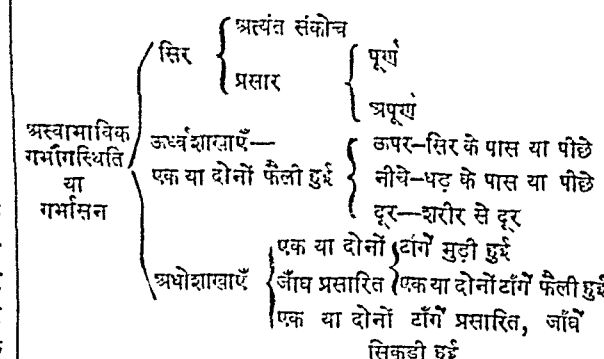
वक्तव्य—इसमें गर्भ का साधारण तथा प्रायिक आसन, अवस्थिति और गति वर्णन की है। आमुद्यः—मुड़ा हुआ। गर्भाशय में गर्भों की स्थिति निम्न प्रकार की होती है—उसका सिर आगे को वक्ष पर मुड़ा रहता है; प्रष्टवंश आगे को कुछ मुड़ता है, जिससे पीठ बहिर्गोल हो जाता है; दोनों जाँघें उदर पर और टांगें जाँघों पर मुड़ी रहती हैं; मुट्टियाँ बंद रहती हैं; हथेली और अँगुलियों में जो रेखाएँ मिलती हैं, वे गर्भावस्था में त्वचा के मुड़ जाने से ही बनती हैं। संवेप में, शरीर की संकोचक (Floxor) पेशियाँ काम में आती हैं, जिससे संपूर्ण शरीर संकुचित स्थिति में रहता है। गर्भाशय में गर्भ के धड़ के साथ सिर और शाखाओं का जो सम्बन्ध होता है, उसको गर्भाङ्गस्थिति या आसन (Attitudo) कहते हैं और स्वाभाविक अवस्था में गर्भाङ्गस्थिति सार्वदैहिक संकोच (Universal flexio) की होती है। चरक में इसलिये लिखा है—गर्भरतु खलु संकुच्यद्गन्धारतेऽन्तःकुक्षौ । (शरीर ६) । इस तरह कुछ अंग संकुचित हो जाने के कारण गर्भ का आकार अण्डे के समान दीर्घ गोल हो जाता है। इसको भ्रुगर्भ

(Fotal ovoid) कहते हैं। यद्यपि मासानुमास गर्भाशय की लम्बाई बढ़ती जाती है तथापि गर्भ की मासानुमासिक लम्बाई की वृद्धि गर्भाशय की लम्बाई की वृद्धि से अधिक होने के कारण उत्तरकाल में गर्भ को अपने अंगों को संकुचित करके रहना एक आवश्यक घटना होती है। इसके सिवा गर्भाशय के अवकाश के साथ मिलने की दृष्टि से भी आकुञ्चन आवश्यक होता है। नीचे भ्रुगर्भ, गर्भ और गर्भाशय की लम्बाई की मासानुमासिक वृद्धि (इंचों में) दी जाती है—

मासानुमासिक वृद्धि की सारणी

| मान | गर्भाशय की लम्बाई | भ्रुगर्भ की लम्बाई | गर्भ की लम्बाई |
|-----|-------------------|--------------------|----------------|
| ४ | ४ | — | ६.५ |
| ५ | ५.४ | — | १० |
| ६ | ६.६ | — | १२ |
| ७ | ७.८ | ७.६ | १४ |
| ८ | ८.७ | ८.३ | १६-१७ |
| ९ | ९.३ | ९.२ | १८ |
| १० | १० | ९.७ | २० |

इस सारणी से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ की लम्बाई प्रारंभिक तीन महीनों को छोड़कर शेष काल में गर्भाशय से बहुत अधिक होने के कारण गर्भ गर्भाशय में सीधा रह नहीं सकता। परंतु जब वह हाथ, पैर और सिर सिकुड़ लेता है तब उसकी लम्बाई (चोटी से चूतड़ तक) गर्भाशय की लम्बाई से जरा सी कम होती है। अर्थात् गर्भाशय में धाराम से रहने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है। अस्वाभाविकता हाथ, पैर या सिर के न सिकुड़ने से होती है। इस अस्वाभाविक गर्भाङ्गस्थिति के विविध प्रकार नीचे दिये जाते हैं—



अंगों की अस्वाभाविक स्थिति के कारण गर्भ में मूढता आ जाती है और वह प्रसव के समय अपत्यमार्ग में अटक जाता है। (निदानस्थान का आठवाँ अध्याय प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६१-३६२ देखो)। अभिमुखः—पीठ की ओर मुख करके—मातुः प्रष्टाभिमुखः । (चरक, शरीर ६) । इससे गर्भ का माता शके रीर के साथ संबंध बताया गया है। इसको गर्भ की अवस्थिति (Position) कहते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार गर्भाशय में गर्भ की चार अवस्थितियाँ होती हैं। स्थिति निश्चित करने के लिए सिर और जघन गति में गर्भपृष्ठ निदेशक (Indicator) माना जाता है और उसके अनुसार गर्भ की अवस्थिति निम्न प्रकार से वर्णित होती है। प्रथम—इसमें पीठ सामने और दाईं ओर। द्वितीय—पीठ सामने और दाईं ओर। तृतीय—पीठ पीछे और

केवल शक्यतन्त्र में सीमित न होकर सपूर्ण वैज्ञानिक और व्यावसायिक शास्त्रों को व्याप्त करता है। औपपत्तिक और प्रात्यक्तिक ज्ञान के संयोग का तब व्यावहारिकदृष्टया विशेष महत्त्व का होने के कारण प्रथम प्रथम में ही उसका विवरण किया गया है (सूत्रस्थान अध्याय ३ के अन्तिम श्लोक प्रथम खण्ड पृष्ठ १८-१९) उसको देखो। अब इसके पश्चात् सूतसोधन की पद्धति लिखते हैं—

तस्मात् समस्तगात्रमपि पौहृतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशक्तिक निःस्पृहान्पुरीषं पुरुषमचगाहत्यामापमायां नियत्नं पञ्जरस्थं मुञ्जवर्कलकुशश्याण्डीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गप्रत्यङ्गमप्रकाशे देशे काथयेत्, सम्यक्प्रकुपित चोद्गृह्यत ततो देहं ससरात्राशुशीरघालयेत्पुल्कलकृन्वानामन्यतमेन शनैः शनैश्चर्पर्यस्त्वगादीन् सर्वानिच चाह्याभ्यन्तराङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् सन्त्येच्छक्षुपा ॥ ६१ ॥

(सूतसोधन की पद्धति—) अतः (शरीरगत अङ्गप्रत्यङ्गों का प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करने के लिए) जिसके शरीर में सपूर्ण अंग-प्रत्यङ्ग (अविकल) हों, जिसकी मृत्यु विष से न हुई हो, जो (मृत्युके पूर्व) दीर्घकाल तक व्याधि से पीडित न हुआ हो, जिसकी आयु सौ बरस की न हो, जिसकी आँतें और मल निकाल दिया गया हो, ऐसे (सूत) पुरुष (के शरीर) को (तेजी से) न बहने वाली नदी में बाँधकर, पिंजरे में रखकर, मूँज, (घुँघों की) छाल, कुशा, सन इनमें से एक से अंग-प्रत्यङ्गों को लपेटकर अप्रकट स्थान में सबावे। फिर सात रोज के बाद भली भौंति सहे हुए उस देह को (नदीके बाहर) निकालकर (और उसके पिंजरेको तथा मुञ्जादि के आवरण को हटाकर) खम, बाल, घाँस और छाल की कुँच्चियों में से एक (की कुँची) से धीरे धीरे घिसते हुए, जैसे कि पहले वर्णन किये गये हैं वैसे, त्वचादि सब बाह्य और आभ्यन्तर अंग-प्रत्यङ्ग विशेषों को आँतों से देखो ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—समस्तगात्रम्—मनुष्यशरीर में जितने अंग अवयव होने चाहिये उतने अंगों से तथा अवयवों से युक्त, अर्थात् समस्त शब्द से अंगों की हीनता का जैसे निषेध सूचित किया जाना है, वैसे ही अंगों की अधिकता का भी निषेध सूचित होता है। इसलिए द्रव्यशास्त्रियों के अर्थ में निम्न प्रकार का शोधन करना चाहिये—समस्तगात्रमिति, अङ्गहीन (अङ्गाधिक्ये वा) अङ्गमोक्षव्यवस्थापत्यवात्। इसमें सन्देह नहीं कि अङ्गाधिक्य की अपेक्षा अङ्गहीनता अधिक मिलती है तथा जन्म के पश्चात् भी उत्पन्न हो सकती है। इसलिए उसका उल्लेख न करके केवल अङ्गहीनता का उल्लेख किया होगा। इन दो अवस्थाओं के सिवा अंगविकृति (सहज दोष Congenital malformations जो पूर्वांक दो अवस्थाओं में नहीं आते। प्रथम खण्ड पृष्ठ १२० देखो) की तीसरी अवस्था होती है उससे विरहित यह भी समस्त का अर्थ होता है। संप्रेष में समस्त मात्र का अर्थ जिसके शरीर में न कोई अङ्ग कम हो, न अधिक हो, न विकृत हो, ऐसा। रविषयवचनम्—विष से

मृत्यु होने पर जिन अङ्गों पर विष का प्रभाव पड़ता है, वे अङ्ग अस्वाभाविक हो जाते हैं। इसलिए विष से मृत हुआ नहीं होना चाहिये। अदीर्घव्याधिपीडितम्—दीर्घव्याधि (Chronic disease) से पीडित होने पर शरीर के अंग और धातु खराब हो जाते हैं। जैसे, उपर्दन में शिथल हो जाता है, कुष्ठ में त्वचा खराब होती है, विरह में नासा तथा अन्य स्थान की हड्डियाँ गलती हैं, विषमग्र काला अशर में प्लीहोदर होता है, इत्यादि। अतः दीर्घ व्याधियों से मृत मनुष्यों का शरीर देखने से इन अङ्गों का परिज्ञान विकृत होगा। अदीर्घ या नवीन व्याधि (Acute disease) से मृत्यु होने पर रोग की अवधि अल्प होने के कारण शरीर में विशेष परिवर्तन नहीं हो सकते। इसलिए अदीर्घव्याधिपीडित का अर्थ 'जो व्याधि से अल्पकाल पीडित होकर मृत हुआ हो' ऐसा करना चाहिये। अर्धशक्तिम्—जो बहुत बूढ़ा न हो। घृद्वावस्था में शरीर की धातुओं और अवयवों का क्षय होता है—सतैस्त्वं धीय माध्याह्निकद्विचक्रवर्णवोत्साह इदमाचक्षते। (सुधृत, सूत्र ३९)। जैसे, हड्डियाँ घृद्वावस्था में कुच्छ हल्की, विरल और भङ्गुर हो जाती हैं, दाँत सम्पूर्ण गिर जाते हैं, अपोहन का आकार बदलता है, स्त्रियों में गर्भाशय मिकुङ्कर छोटा होता है और उसका मुख बन्द हो जाता है, इत्यादि। 'अवर्षशक्ति' इयं विशेषण का तात्पर्य उपर बताया गया है और उसके अनुसार इसके लिए उचित पर्याय 'अवर्षशक्ति' होता है। परन्तु इस विशेषण में जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनके वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान दिया जाय और उसके साथ यह भी मान लिया जाय, और इस प्रकार मानना उचित भी है कि ये शब्द संशुद्ध प्रयुक्त किये गये हैं तो यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस काल में यह संहिता लिखी गई है उस काल में सौ वर्ष की आयु में मरने वाले लोगों की संख्या बहुत कम न थी, अन्यथा इस शब्दप्रयोग से अतिघृद्वावस्था में मृत मनुष्यों के ग्रहण का निषेध करने का कोई कारण नहीं था। सूत संसोधनार्थ ग्रहण करने योग्य शरीर का सुसुप्तोक्त वर्णन आज भी सम्मत होने योग्य है, परन्तु यदि कोई लेखक आज की परिस्थिति के अनुसार इसी बात को लिखे तो उसको 'अवर्षशक्ति' शब्द प्रयोग करने का क्याल तब नहीं मानेगा क्योंकि आज भारतवर्ष में सौ साल की आयु में मरने वाले लोग अल्पतः विरल हो रहे हैं। निःस्पृह-पुरीषम्—(१) घात्र च पुरीष च अन्नपुरीषे, निःस्पृहे अन्नपुरीषे यथ तम्। जिसकी आन्त्र और पुरीष दोनों निकाली गई हैं, ऐसा। हाराणचन्द्र 'अन्नपुरीषम्' का अर्थ 'अन्नया पुरीष मन्त्रपुरीषम्' ऐसा करते हैं। यह भी अर्थ हो सकता है क्योंकि इसमें मुख्य उद्देश्य मल को निकालने का है। परन्तु मूल मनुष्य के केवल मल को निकालने का, सिवा अन्य को काटकर निकालने के, और कोई मल उपाय नहीं मादम होता। इसलिए 'निःस्पृहान्नपुरीष' का 'जिसकी आँतें और तंत्र पुरीष दोनों ही निकाली गई हैं' ऐसा अर्थ करना अधिक प्रशस्त है। इसके सिवा आन्त की छन्वाईं मादम करने के लिए (पीड़े ८ यो सूत्र देखो) एक बार आन्त को काटकर, शरीर से घृष्य करके देवना

है। सिवा शरीर से पृथक् करने के, आन्त्र की लम्बाई मालूम नहीं हो सकती। यदि यह कर्म प्रारंभ में ही किया जाय तो 'एक पंथ दो काज' के तत्वानुसार शरीर से मल भी हट जाता है और लम्बाई नापने के लिए आन्त्र भी मिल जाता है। इसके सिवा आन्त्र तथा तंत्र मल निकालने का और भी एक उद्देश्य होता है। इसका विवरण इसी वक्तव्य में आगे कोथ की टिप्पणी में किया गया है, उसे देखो। इसलिए यही अर्थ अधिक प्रशस्त है। (२) इसका और भी एक गौण अर्थ हो सकता है। कभी कभी मृत्यु के पूर्व से रोगी का शरीर मलमूत्र से लिप्त रहता है और कभी कभी मृत्यु के पश्चात् उसके मलद्वार से मल बाहर आता है। ऐसी अवस्था में शव को सड़वाने से पूर्व उसका शरीर साफ करना आवश्यक है। इसलिए 'जिसके शरीर पर लगा हुआ आन्त्रगत मल साफ किया गया है' ऐसा भी इस पद का अर्थ हो सकता है। पुरुषम्—इससे पुरुष के मृत शरीर का बोध होता है। पुरुष शरीर ग्रहण का निर्देश सहेतुक तथा निर्हेतुक दोनों प्रकार का हो सकता है। निर्हेतुक इसलिए कहा जा सकता है कि यदि कोई विशेष कारण न हो तो पुरुष लेखक (प्राचीनकाल में सव लेखक पुरुष ही थे) स्त्रियों के स्वतन्त्र अस्तित्व का ख्याल ही नहीं करते थे और प्रत्येक समय मनुष्य के लिए पुरुष का ही निर्देश (पीछे ९वें सूत्र के वक्तव्य में 'नव' की टिप्पणी देखो) होता था। सहेतुक इसलिए कि स्त्रीशरीर की अपेक्षा पुरुष-शरीर सुगमता से मिलता होगा। पुरुष की आयु—यह एक बहुत महत्व का प्रश्न है। कुछ आधुनिक विद्वानों की यह राय है कि आयुर्वेद में मृतशोधन के लिए बाल के या पच्चीस वर्ष से कम आयु के शरीर प्रयोग में लाये जाते थे—आपातविरुद्धवादिनो (अस्थिसंख्यापरिगणने) ऽपि सर्व एवैतद्वितथमाहुः। गणनाप्रकारभेदात्। पृथगवयोप्रद्वयाच्च। प्राञ्चो हि यौवनप्रविष्टस्य संचक्षतेऽस्थीनि, प्रौढस्य पञ्चविंशतिवर्ष-देशीयस्य तु प्रतीच्याः। कशेरुकावयवादीनां पृथक्संख्यानात् स्फुटमनुमीयते खल्वेतत् ॥ (प्रत्यक्षशरीर, प्रथम विभाग)। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण कहीं भी नहीं मिलता। जो अनुमान किया गया है, वह अस्थियों की गणना के ऊपर किया गया है। परंतु इससे भी संशोध्य मृतशरीर की आयु एक निश्चित नहीं की जा सकती। ऐसे, यदि कशेरुकाओं के अवयवों के आधार पर मृतशरीर की आयु १६-१८ मानी जाय तो शिर के छः कपालों के आधार पर वह ४-६ साल की माननी पड़ेगी और यदि त्रिकसंश्रित अस्थि की एक संख्या देखकर मृतशरीर की आयु ३० साल से अधिक माननी पड़ेगी क्योंकि उसके अवयव २५-३० साल की उम्र में एक हो जाते हैं। अतः अस्थिगणना के आधार पर किया हुआ अनुमान कुछ अस्थिर सा मालूम होता है। अब इस सूत्र में संशोध्य मृतशरीर का जो वर्णन किया गया है, उसमें भी 'अवर्षशक्तिकम्' के सिवा उसकी आयु मालूम करने का और कोई साधन नहीं है। इस विशेषण से अतिवृद्ध शरीर का निषेध किया गया है, इसमें कोई संदेह नहीं। यदि इस निषेध के कारण का वारीकी से विचार किया जाय तो यह अनुमान किया जा सकता है कि

जिस काल में मृतसंशोधन की प्रथा जारी थी, उस समय में लोग अधिक उम्र के मृत को संशोधन के लिए पसंद किया करते थे और उसके अतियोग से बचने के लिए यह 'अवर्षशक्तिकम्' का लाल झंडा (Red signal) दिखाया गया है। इसके साथ पुरुष को जोड़ने पर संशोध्य की आयु का निर्दर्शक लोलक (Pendulum) पच्चीस साल से कम आयु की अपेक्षा पचास या उससे अधिक साल की ओर झुकता हुआ मालूम पड़ता है। दूसरा भी एक आनुमानिक प्रमाण दिया जा सकता है। अस्थिसंख्या में दांत हमेशा बचीस बचाये जाते हैं। इससे कम संख्या कहीं भी नहीं बताई गई है। दांतों की बचीस संख्या पच्चीस साल की उम्र के पश्चात् ही हो सकती है, इससे पहले कदापि नहीं हो सकती। संक्षेप में इस विवरण का तात्पर्य यह है कि मृत-संशोधन के लिए आयुर्वेद के शरीरशास्त्र अल्पायु पुरुष को पसंद नहीं करते थे। अतः अस्थिसंख्याधिक्य का मुख्य कारण अल्पायु मृतसंशोधन न होकर गणनापद्धति भेद ही होता है (पीछे १७वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अवहन्त्यामापगयाम्—श्रपां समूहो श्रपां तेन गच्छति इति श्रपागा—ज्योतस्विनी द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगापगा। (अमरकोष)। अर्थात् जिसमें पानी काफी होता है, वही आपगा कहलाती है। अवहन्त्याम्—जिसमें ईपत् प्रवाह हो परंतु प्रवाह की गति तेज न हो। निवद्धम्—प्रवाह से नीचे शव न बहने पावे तथा वह पानी में मग्न (डूबा) रहे, इसलिए वह बांधकर रखा जाता था। पंजरस्थम्—घड़ियाल, मगर इत्यादि बड़े बड़े जलचरों से रक्षा करने के लिए शव पिंजरे में बंद करके रखा जाता था। शव का पिंजरा ही बांधकर रखा जाता था। गुजवल्कल इत्यादि—मछली तथा अन्य छोटे छोटे जलचरों द्वारा त्वचा की रक्षा करने के लिए इनके द्वारा शव पूरा लपेटा जाता था। सप्तरात्रात्—सप्तरात्रादनन्तरमित्यर्थः। कभी कभी कालदर्शक शब्दों की पंचमी के पश्चात् 'अनन्तरम्' या 'परम्' या 'ऊर्ध्वम्' शब्द लुप्त रहते हैं; जैसे—बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदम्। (उत्तररामचरित २)। इसका संबंध नदी में शव रखने के साथ है; नदी से बाहर निकालने के पश्चात् के कर्म के साथ नहीं। संक्षेप में, इससे नदी में प्रेत रखने की अवधि सूचित होती है। अप्रकाशे देशे—गांव या नगर के पास जब नदी होती है तब स्नान करना, वस्त्र धोना, वर्तन मांजना, जानवरों को धोना और पानी पिलाना, किनारे पर टहलना इत्यादि अनेक कर्मों के लिए वहां के निवासी लोग उसका उपयोग करते हैं। इसलिए, प्रेत ऐसे स्थान में रखना चाहिए कि जहां पर लोग किसी काम के लिए नहीं जाते हैं और वह उनकी दृष्टि के सामने नहीं आ सकता है। संक्षेप में, जनसमाज से दूर स्थान में या पर्याय से गुप्त स्थान में। अप्रकाश देश का अर्थ अंधेरा स्थान नहीं है। नदी में अंधेरा स्थान कहीं नहीं मिल सकता। इस प्रकार गुप्त स्थान में रखने से दो फायदे होते हैं। गांव वालों का फायदा यह है कि वे उस वीभत्स दृश्य से बच जाते हैं और वैध की दृष्टि से फायदा यह है कि प्रेत को शरारती लोगों का उपसर्ग नहीं पहुँचता। बहणाचार्य अप्रकाश में रखने का उद्देश्य गुग्गुलादि का निवारण समझते हैं—प्रकाशे गृधादिभक्षणाभयम्। पानी के

भीतर पिंजरे में बन्द रहनादि से लिप्त प्रेत के लिए शूद्र का भय बहुत कम होगा या होगा ही नहीं। इसके सिवा अप्रकाश में रखने हुए प्रेत की ओर उनका आकर्षण नहीं होगा, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि शूद्र जैसे दृष्टिलोलुप होता है, वैसा गधोलुप भी रहता है। इस सूत्र के तीन विभाग हैं और प्रत्येक विभाग में अलग अलग विषय वर्णन किया है। प्रथम विभाग 'समस्त-गात्र' से 'पुण्य' तक है। इसमें ससोचनार्थं श्वेतपुरण किम प्रकार का होना आवश्यक है, उसका विचार किया है। द्वय सूत्र में बताये हुए विचरों में आज भी कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है, यदि वय की उचरमर्पादा के साथ पूर्वमर्पादा भी (जैसे—नालियुद्ध नालिवानम्) उसमें स्पष्ट शब्दों में समाविष्ट की जाय। दूसरा विभाग 'मन इत्यामापगायाम्' से 'कोषवेद' तक है। इसमें शोचन के पहले प्रेत को तैयार करने की विधि (Preparation of the dead body) बतलाई है। यह प्राचीन विधि आयु निक विधि से बिल्कुल भिन्न है। अतः दोनों का ही यहाँ पर विचार करना आवश्यक है। तीसरा विभाग 'सम्यक् प्रकृतियुक्त' से 'लघुपेषयुवा' तक है। इस विभाग में श्वेत ससोचन की विधि (Method of dissection) बतलाई है। यह प्राचीन विधि भी आयुनिक विधि से कुछ भिन्न है। श्वेत को तैयार करने की प्राचीन पद्धति—ससोचनार्थं श्वेत को तैयार करने की प्राचीन पद्धति को 'जलमज्जन कोष पद्धति' कह सकते हैं। इस पद्धति का क्या प्रयोजन था, इसका निर्णय करना बहुत कठिन काम है, परन्तु उसके संबंध में जो कुछ समझ में आता है, उसका विवरण नीचे किया जाता है। प्राचीन काल में श्वेत का ससोचन कूँची के द्वारा किया जाता था। कूँची की रगड़ से यदि शरीर को खसता हो तो शरीर शूद्र (Soft) बनना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए जलमज्जन की विधि का आविष्कार किया गया है। यह आविष्कार कहाँ तक सुकृत्युक्त है, इसका विचार करने के पूर्व श्वेत के पश्चात् शरीर में होने वाले परिवर्तन और उनके कारणों का कुछ विचार करना आवश्यक है। श्वेत के पश्चात् शरीर में होने वाले परिवर्तन (Cadaveric changes)—श्वेत के पश्चात् यदि शरीर कुछ काल बसा हो रक्खा जाय तो उसमें भिन्न परिवर्तन होते हैं और वे श्वेत के निश्चित चिह्न होते हैं। (१) मरणोत्तर अवस्था वैक्यं (Cadaveric lividity)—इसमें शरीर के सब से नीचे के भाग में ताल रक्त इकट्ठा होने से वैक्यं आ जाता है। (२) मरणोत्तरकोष (Rigor mortis)—इसमें पेशियों जम जाती हैं, जिससे वे सङ्कुचित नहीं हो सकतीं और शरीर में एक प्रकार की कड़ाई आती है। यह अवस्था श्वेत के कुछ घंटों के पश्चात् प्रारंभ होकर एक से तीन दिन तक रह सकती है। अधिक देर तक प्रेत रखने के पश्चात् उसको उठाने समय इस कड़ाई का अग्रिम मिलना है। मरणोत्तरकोष के संबंध में एक हंसोद का किस्सा बहुत प्रसिद्ध है। वह मनुष्य हमेशा यिनोरी बाने कड़कर श्वेतों को हँसाया करता था और यह भी कहे देता था कि मरणोत्तर भी एक बार आप लोगों की बेनी ही सेवा करके फिर दुनियाँ से भिन्न बाँगा। होता

उस समय उसके बचन पर विधाम नहीं करते थे और उसकी दिवंगी समझते थे। जब वह मरने लगा, तब उसने अपने पास वाले मनुष्य को कहा कि मेरी टाँगों में बड़ा दर्द हो रहा है, इसलिए उनको दीवाल के पास खड़ा कर दो। टाँगें खड़ी करने के पौड़ी देर के पश्चात् वह मनुष्य मर गया। उसको ले जाने की तैयारी करते करते कई घंटे बीत गये। तैयारी होने के पश्चात् जब उसको उठाकर लोग अरथी पर रखकर बाँचने लगे तो टाँगें दवाने पर सिर और घड़ ऊपर उठने लगा और सिर को दवाने पर टाँगें ऊपर उठने लगीं। कई बार दोनों ओर दवाने पर सुरिकल से लोग उसको अरथी पर बाँचने में सफल हुए। उस समय लोगों की हँसी के साथ उसके बचन की भी याद आ गई। सचेप में, मरणोत्तर संकोच से शरीर में काफी कड़ाई आ जाती है, जिससे पश्चात् शरीर को सीधा करने में कठिनाई होती है। इसलिए श्वेत होते ही, यदि उस समय शरीर अस्तव्यस्त हो तो, शरीर को सीधा करके रखने का रिवाज है। (३) शरीर का उठा होना—श्वेत होने के कुछ पूर्व हाथ-पैर उठे होने लगते हैं और श्वेत के पश्चात् सर्पण शरीर उठा हो जाता है। यदि शरीर का तापक्रम २०° फै० तक हो जाय तो वह चिह्न श्वेत का निश्चित निदर्शक समझना चाहिए। (४) कोष (Putrefaction)—शरीर की श्वेत का यह एकमात्र निश्चित चिह्न है। यदि किसी की श्वेत के संबंध में सन्देह हो तो उसका दहन या दहन कुछ दिनों तक स्थगित करना उचित है। वास्तविक श्वेत होने पर आयु शरीर की स्थिति, श्वेत का कारण, आर्द्रता, दण्डता, वायु ह्रासादि के अनुसार न्यूनाधिक काल में शरीर में सड़ने की क्रिया शुरू होती है। सड़ने के मुख्य दो कारण होते हैं—(१) शरीरगत और शरीरवाह्य जीवाणु; (२) तथा शरीरवाह्य जीवाणुओं का दम्य (Autolytic ferments)। शरीरगत जीवाणुओं का मुख्यस्थान आन्त्र है। इसमें मल की उपस्थिति के कारण अनेक जीवाणु भरे रहते हैं। ये जीवाणु श्वेत के पश्चात् मल से आन्त्र की दीवाल में, यहाँ से उदर गुहा में और समस्त शरीर में फैलते हैं। शरीरवाह्य जीवाणु वातावरण में होते हैं जो श्वेत त्वचा में से शरीर में प्रवेश करते हैं। ये जीवाणु वातपी (Aerobe) और वातभी (Anaerobe) दो प्रकार के होते हैं और पाषक द्रव्यों को उत्पन्न करते शरीर का विनाश करते हैं। शरीरगत जो पाषक द्रव्य होते हैं, वे जीवाणुओं से सहायता के बिना अपना कार्य कर सकते हैं। अर्थात् यहाँ शरीरगत तथा शरीरवाह्य जीवाणुओं का संबंध कम क दिया जाय, तब भी शरीर में विनाश हो सकता है इससे शरीर शूद्र हो जाता है। यही कोष है। कोष में शरीर के कई प्रकार की वायु (Gases) उत्पन्न होती हैं जब दोनों कारण उपस्थित रहते हैं, तब कोष अर्द्धी होत है। प्रथम कारण उपस्थित न होने पर देर में होता। तथा उतनी दुर्गन्ध नहीं उत्पन्न होती। सुखी हवा में अनाशुत शरीर अधिक तापक्रम पर ज्वरी इच्छित होत है। हवा-बद स्थान में आशुत शरीर कम तापक्रम पर ही में कुच्छित होता है।

कोष के संबंध के इस आधुनिक अवलोकन (Observation) के आधार पर प्राचीन जलमज्जनपद्धति का श्वेत

शरीर पर क्या परिणाम होता है, इसका विचार किया जाता है । मुझादि से आपत रहने के कारण त्वचा अक्षत रहती है और वायु जीवाणुओं का संबंध कम होता है; आन्त्र तथा मल निकाल देने के कारण शरीरगत जीवाणु, जो कोष में मुख्यतया सहायता करते हैं, प्रायः नष्ट हो जाते हैं; पानी में गहराई पर प्रेत रहने के कारण वायु वायु का तथा जीवाणुओं का संबंध दृढ़ता है और प्रेत न्यून तथा एक में ताप (Low and uniform temperature) पर रहता है । इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि शरीर में कोष देर में परंतु एक-सा (Uniform) प्रारंभ होता है और जीवाणुओं की अपेक्षा उसमें शरीरगत पाचक-द्रव्य अधिक काम करते हैं । संक्षेप में, स्वाभाविक कोष में ही कुछ अनुकूल परिवर्तन कृत्रिम उपायों के द्वारा उत्पन्न करके मृतशरीर संशोधन के लिए उपयुक्त बनाया जाता था । कुथित शरीर कूँची के द्वारा रगड़ने के लिए मृदु बनता है और रगड़ने पर धीरे धीरे त्वचादि अंग निकल जाते हैं और निकलते समय उनका परीक्षण भी किया जाता है । आधुनिक काल में संशोध्य शरीर में जो स्वाभाविक कोष होता है, उसको रोकने के उपाय काम में लाये जाते हैं । ये उपाय मुख्यतया दो हैं । (१) ओपधियाँ—वर्नि (Formalin) संख्या इत्यादि कोषप्रतिबंधक ओपधियों की सूई मृत शरीर में दी जाती है । (२) शीत—पश्चात् उस शरीर को विशेष पद्धति से बनाये हुए ठंढे कमरे में कुछ रोज तक रखते हैं । ओपधि का परिणाम समस्त शरीर पर होने के पश्चात् उसको संशोधन के काम में ले आते हैं । इससे प्रायः स्वाभाविक अवस्था में शरीर की सब धातुएँ मिलती हैं । मृतसंशोधन की पद्धति—प्राचीन काल में मृत का संशोधन कूँची के द्वारा किया जाता था । आधुनिक काल में चाकू और चिमटी के द्वारा शरीर का शोधन होता है तथा शरीर के विविध अंग और प्रत्यंग काट-काटकर अलग किये जाते हैं और उनका संशोधन होता है । इसलिए आधुनिक पद्धति के लिए शव विच्छेदन (Dissection) शब्द का प्रयोग होता है । शरीर के प्रत्यंगों को देखने की दृष्टि से जलनिमज्जन और कृचंबर्षण ये दोनों पद्धतियाँ बहुत ही असंस्कृत (Crude) हैं । पेशी, रनायु इत्यादि की संख्या आधुनिक संख्या के साथ न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें संशोधन की असंस्कृत पद्धति एक कारण है । चक्षुषा—चर्मचक्षुओं द्वारा । इस साधन से जो अंगविनिश्चय होता है, उसको स्थूल अंगविनिश्चय या शारीर (Gross anatomy) कहते हैं । इस अध्याय में चर्मचक्षुओं द्वारा प्राप्त हुआ याने स्थूल अंगविनिश्चय वर्णन किया है । आधुनिक काल में सूक्ष्म दर्शक की सहायता से भी अंगों की रचना का ज्ञान प्राप्त किया जाता है । उसको सूक्ष्म अंगविनिश्चय (Microscopical anatomy) कहते हैं । सूक्ष्मदर्शक यन्त्र न होने के कारण प्राचीन ग्रंथों में स्थूल वर्णन ही मिलता है । कहीं कहीं सूक्ष्म वर्णन भी आता है । उसके कारण का विचार आगे के श्लोक के वक्तव्य में किया गया है ।

श्लोकौ चात्र भवतः—

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमा विभुः ।

दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरैव च ॥ ६२ ॥

(सूक्ष्मदर्शन में चर्मचक्षुओं का वैयर्थ्य—) (इस प्रकार शरीर के स्थूल अंग-प्रत्यंगों को चर्मचक्षुओं से देखना शक्य है परंतु) शरीरगत अत्यंत सूक्ष्म आत्मा को (चर्म) चक्षु से देखना शक्य नहीं है । वह आत्मा ज्ञानचक्षुओं तथा तपश्चक्षुओं द्वारा ही दीख पड़ता है ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—प्रथम अध्याय में संहिताकार बतला चुके हैं कि सजीव शरीर में पुरुष होता है, परंतु वह अनुमानप्राप्त (प्रथम अध्याय सूत्र १७ देखो) होता है । इस श्लोक में उस अनुमानप्राप्त पुरुष को प्रत्यक्ष करने के दो मार्ग बताये गये हैं । चक्षुषा—चर्मचक्षुषा । देहे—सजीवदेहे । मृत शरीर में आत्मा को देखने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह उसमें होता ही नहीं—शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् । पंचभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गत्वमुच्यते ॥ (चरक, शा० १) ।

विभुः—पुरुष, आत्मा । सुश्रुत के मतानुसार विभु (सर्वमूर्त-संयोगित्व) नहीं होता (प्रथम अध्याय के १६वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । सूक्ष्मतम और विभु ये दोनों परस्परविरोधी शब्द हैं । परंतु जीवात्मा में इनके विरोध का परिहार हो जाता है—अणोरणोर्यान् महतो महोयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गृहयाम् । (कठोपनिषत्) । सूक्ष्मतमः—जीवात्मा के सूक्ष्मतमत्व की कल्पना श्वेतरोपनिषत् में निम्नप्रकार से वर्णित है—शालाग्रशतभागस्थ शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विधेयः । जीवात्मा को सूक्ष्मतम याने अणुरूप मानने के कारणों का विचार प्रथम अध्याय के १६वें सूत्र के वक्तव्य में 'पुरुष का परिमाण' की टिप्पणी में किया गया है । दृश्यते—प्रकाशित होता है, उपलब्ध होता है (dis revealed) । दृश् का प्रयोग यहाँ पर 'ऋषयो मन्त्राणां द्रष्टारः' इस अर्थ से किया गया है । ज्ञानचक्षुः—चर्मचक्षु का विरोधी शब्द है । ज्ञानमेव चक्षुः, किं वा ज्ञानं चक्षुरिव ज्ञानचक्षुः । भेलसंहिता में आलोचक पित्त के दो विभाग किये हैं—चक्षुर्वैशेषिकः और बुद्धिवैशेषिक आलोचन-पित्त । चक्षुर्वैशेषिक पित्त का नेत्ररूप यन्त्र के साथ संबंध होता है और बुद्धिवैशेषिक का मांस्तष्क के साथ होता है—तत्र चक्षुर्वैशेषिकोऽनाम य आत्ममनसोस्सन्निकर्षात्... चक्षुषा वैशेष्यमुत्पादयति; बुद्धिवैशेषिको नाम यो भ्रुवोर्मध्ये शृंगाट-कस्थः सुसूक्ष्मानर्थानध्यात्मकृतान् गृह्णाति, गृहीतं धारयति, धारितं प्रत्युदाहरति, श्रवीतं स्मरति, प्रत्युत्पन्नं कृत्वाऽनागतं प्रार्थयति, ध्याने प्रत्याहारे योजनाच्च बुद्धिवैशेष्यमुत्पादयति ॥ (शारीर ४) । इसलिए ज्ञानचक्षु को बुद्धिवैशेषिक आलोचकपित्त का स्वाभाविक फल समझ सकते हैं । अर्थात् वेद, वेदांग, उपनिषद्, दर्शन इत्यादि शास्त्रों के अध्ययन और चिन्तन से प्राप्त हुआ ज्ञान । यही ज्ञान ज्ञानी लोगों में चक्षु का काम करता है, इसलिए वे ज्ञान-चक्षु कहलाते हैं । चर्मचक्षु के द्वारा जो चीज दिखाई देती है, उसको देखने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती । मूढ़ भी उसको देख सकते हैं, परंतु जो नेत्र प्रत्यक्ष नहीं होता उसको मानस प्रत्यक्ष करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है । भगवद्गीता में चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु का मिथो भेद निम्नश्लोक में स्पष्ट किया है—उक्तामन्तं

स्विन् वापि मुञ्चान वा गुणान्निवन्म् । विमुक्ता नानुपदयन्ति
 पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ (गीता १५-१०) । चरक में भी
 लिखा है कि प्रत्यक्ष अल्प और अप्रत्यक्ष अनल्प होता है ।
 अर्थात् जो चक्षु के द्वारा प्राप्त नहीं होता, उसको उपलब्धि
 आगम, अनुमानयुक्ति के द्वारा याने ज्ञानचक्षु के द्वारा
 होती है—प्रत्यक्ष हृत्पद्मः ; अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमान
 युक्तिरिदमनल्पते ॥ (सूत्र ११) । संक्षेप में ज्ञानचक्षु से
 मोक्षशास्त्र में अध्यात्मज्ञान रूपी चक्षु और भौतिक शास्त्रों
 में विज्ञानरूपी चक्षु । ज्ञानचक्षु के द्वारा दर्शन का
 प्राचीन उदाहरण रोगोपादक जीवाणु हैं । वे प्राचीन काल
 में सूक्ष्मदर्शक न होने के कारण अदृश्य थे—नन्वोऽक्ष्व,
 सोऽस्वार्चनः (अष्टांगहृदय) । वैज्ञानिकशास्त्रद्वाराते ।
 (सुश्रुत) । परंतु उनका अस्तित्व आयुर्वेद में अनेक रोगों
 के कारणों में माना जाता था (निदानस्थान के ९वें अध्याय
 के छठे तथा ३२-३३वें श्लोकों का पक्ष्य देखो) और
 उनकी उपलब्धि ज्ञानचक्षु से की गई थी—सौर्भ्यात्
 धूम्रमत्वात् कारणात् केचिरदर्शनात् । प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्या
 वादेष्वेवानुमीयन्ते । (अष्टांगहृदयटीका, निदान
 ४८-५१) । आधुनिक काल में ज्ञानचक्षु के द्वारा ही
 प्रथम हरील और नेपच्यून नामक ग्रहों की उपलब्धि हुई
 थी । वे ग्रह (Planet) शनि से भी बहुत दूर हैं । इनका
 दर्शन न आँखों से होता है, न साधारण दूरदर्शक
 (Telescope) से होता है । इनका दर्शन आधुनिक काल
 के उत्तम दूरदर्शक से होता है, परंतु सी चर्च पीछे के
 ग्रन्थ से नहीं होता था । उस समय भी गणित के
 अर्थात् ज्ञानचक्षु के द्वारा ज्योतिषी लोगों ने शनि से परे
 इन दो ग्रहों का अस्तित्व और उनका अन्तर मानव प्रत्यक्ष
 किया था और जसे प्राचीन काल के जीवाणु आज प्रत्यक्ष
 हुए; वैसे ही सौ साल से पूर्व अदृश्य हरील और नेपच्यून
 आज प्रत्यक्ष हो गये हैं । तपश्चक्षु—तप योग और समाधि
 का एक साधन है—तपस्याध्यायैश्चरन्प्रतिष्ठानानि क्रियायोग ।
 (योगसूत्र २-१) । समाधिप्रस्थान तपोभिरात्मन ।
 (कुमारसम्भव) । तपस्या एक बड़ा मारी साधन है, जिसके
 द्वारा अलौकिक और असाध्य भी साध्य हो जाता है—
 तपोभिः प्राण्येऽतोऽष्ट नसाध्यं हि तपस्वतः । (प्रत्यक्षपुराण) ।
 तपसो हि परं नास्ति तपसा विद्वे न महत् । (वहिकपुराण) ।
 इसलिप् तपश्चक्षु का अर्थ तप के द्वारा प्राप्त हुआ अलौकिक
 चक्षु याने दिव्यदृष्टि (Divine vision) । यह दिव्यदृष्टि
 जैसे मनुष्य को तपस्या और योग के द्वारा प्राप्त होती है,
 वैसे ही देवताओं और महात्तु पुरुषों के प्रसाद और अनुग्रह
 से भी मिलती । महाभारत युद्ध के समय भीष्म भगवान्
 व्यामजी ने सजय को दिव्यदृष्टि दी थी—न्यासप्रसादाच्छुण-
 नानेनैव शुभमहं परम् । योग योगैश्चरन्त्यास्तावात्कथयन्
 स्वयम् ॥ (गीता १८-७५) वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णजी
 ने अपने विरुद्धदर्शन के समय अर्जुन को दिव्यचक्षु
 दिये थे—न त्वं मां शन्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्य दन्मि
 ते चक्षु पश्य मे योगमेश्वरम् ॥ (गीता ११-८) । इस तरह
 बसुओं को देखने की तीव्र आँखें या दृष्टियाँ होती हैं—
 चर्मचक्षु, ज्ञानचक्षु और दिव्यचक्षु (Naked eye, philos-
 ophical or so entific eye and divine eye) । इनमें से

प्रथमचक्षु के लिप् नेत्र नामक पंचमहाभूतात्मक तेजोभूयिष्ठ
 करण की आवश्यकता होती है । सूक्ष्मदर्शक, दूरदर्शक
 इत्यादि अनेक आधुनिक दर्शक यन्त्र इसी नेत्र के उपकरण
 होते हैं, अतः इसी धर्म में आते हैं । शेष दोनों चक्षुओं के
 लिप् पांचभौतिक नेत्र की आवश्यकता नहीं होती; अरे
 भी ज्ञानचक्षु या दिव्यचक्षु के द्वारा देख सकते हैं ।

शरीरे चैव शस्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः ।
 दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमनापोह्याचरेत् क्रियाः ॥६३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शरीरस्थाने शरीरसंख्याव्याकरण-
 शरीरं नाम पञ्चभोऽध्यायः ॥५॥

(वेद्यक में प्रत्यक्ष और प्रयोग ज्ञान का महत्त्व—)
 (यदि कोई मनुष्य आयुर्वेद में) विशारद (होना चाहे
 तो उसका कर्तव्य है कि वह प्रत्यक्ष) शरीर में तथा शस्त्र
 में (प्रथम) ज्ञाता रहे और दर्शन तथा अध्ययन के द्वारा
 अपनी शक्तियों को दूर करके प्रभाव चिकित्सा या शस्त्र का
 कर्म करे ॥६३॥

वक्तव्य—यह श्लोक शक्यतन्त्र में आया है । इसलिप्
 यह न समझे कि शरीररचना के प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व
 केवल शस्त्रचिकित्सा में ही होता है । कायचिकित्सा में
 भी प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व होता है, इसका निर्दर्शन चरक के
 निम्न श्लोकों से होगा—शरीर संस्था सर्वं सर्वसा वेद यो विष्कृ ।
 आयुर्वेद स कार्त्स्न्येन वेद लोममुखप्रदम् ॥ (शरीर १) । शरीर
 संस्था यो वेद सार्वभौमश्चो विष्कृ । तज्ज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न
 युज्यते ॥ (शरीर ५) । कायचिकित्सा में शरीरज्ञान
 का महत्त्व मद्गित करने के लिप् चरक के ये श्लोक सुश्रुत
 के उपर्युक्त श्लोकों से कम नहीं हैं । आयुर्वेदिक शरीर में
 दार्शनिक Meta physical और प्रात्यक्षिक (Physical)
 दोनों का ही समावेश होता है और आयुर्वेद के अनुसार
 उत्तम चिकित्सक या शक्यहर्ता वह समझा जाता है, जो
 दार्शनिक तथा प्रात्यक्षिक दोनों में दृष्टार्थ हो । पाश्चात्य
 कल्पना के अनुसार केवल प्रात्यक्षिक शरीर में दृष्टार्थ होने
 से चिकित्सक या शक्यहर्ता हो जाता है । पाश्चात्य वैद्यक में
 दार्शनिक शरीर के लिप् कोई स्थान नहीं है । आजकल
 एनाटोमी (Anatomy) के लिप् शरीर शब्द का प्रयोग
 हो रहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि आयुर्वेदिक शरीर में
 कई भागों का समावेश होता है । एनाटोमी शरीर का
 प्रात्यक्षिक विभाग है । अतः उसके लिप् प्रत्यक्ष शरीर शब्द
 का प्रयोग करना उचित है । म० म० गणगणायामेनजी ने
 अपने एनाटोमी के ग्रन्थ के लिप् प्रत्यक्ष शरीर नाम रक्ला
 है, वह यथार्थ और आयुर्वेदमनुसृत है । शरीर चैव शस्त्रे च—
 चर्मचक्षु के द्वारा शरीर के अंग प्रत्यंगों की संस्था, आकृति,
 कार्य इत्यादि के सम्बन्ध में तथा ज्ञानचक्षु के द्वारा
 शरीर के दर्शनादि सभी अंगों की उपपत्ति के सम्बन्ध में
 दृष्टानुसन्धान—प्राचीन काल में अर्थों का या शास्त्रों का
 अध्ययन अध्ययन के द्वारा किया जाता था, इसलिप् अत
 का प्रयोग किया गया है । भवापोह—निराकृत्य ।
 इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि उपपत्ति (Theory)
 और प्रत्यक्ष (Practical) के द्वारा ज्ञान में निःसंदिग्धता

उपपन्न होने पर व्यवसाय (Praebios) को प्रारम्भ करना चाहिए ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने शरीरसंख्या-
न्याकरयं नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

पष्ठोऽध्यायः ।

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अथ इसके पश्चात् प्रत्येक मर्मनिर्देश नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरिने किया था ॥१॥
वक्तव्य—प्रत्येकमर्मनिर्देशम्—एकैकेषां मर्मणां निर्देश-
मधिकृत्य कृतः प्रत्येकमर्मनिर्देशः, तम् । निर्देश—अवधारणा
याने विशेषतादर्शक विवरण (Specific description) । मर्म-
मारयन्तीति मर्माणि । (द्रवहण) । अपि च मरणकारित्वान्मर्म ।
(अष्टांगहृदय, शारीर ७) । मर्मं द्रवद् की निरुक्ति उपर्युक्त
प्रकार से ग्रंथों में वर्णित है और व्यवहार में भी मर्म के
ऊपर आघात या प्रहार होने से (हृदय के सम्बन्ध में
मानसिक आघात होने से भी) मृत्यु हो जाती है, ऐसी
कल्पना है—तथैव वीरो हृदि शोकशङ्कुर्मर्माणि कृन्तन्नपि कि न
सोढः । (उत्तररामचरित ३) । इन स्थानों पर आघात
 होने से जीव का नाश होता है । इसलिये ये जीवस्थान
(Vital parts) भी कहलाते हैं । जीवस्थान और वायटल
गर्द का योगार्थ एक ही है । मर्मविवरण आयुर्वेदिक
शारीर का एक विशेष है, इसमें सन्देह नहीं । परन्तु इसकी
विशेषताओं का हमें ठीक आकलन नहीं हो रहा है । एक
फायदा जरूर मालूम होता है कि मर्मों के निमित्त हमें
अनेक अंगों और स्थानों का, जिनका विवरण पिछले अध्यायों
में नहीं हुआ है, बहुत उपयोगी विवरण मिलता है ।

सप्तोत्तरं मर्मशतम् । तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि
भवन्ति, तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि,
स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, सन्धिमर्माणि चेति;
न खलु मांससिरास्नायुस्थिसन्धिव्यतिरेकेणा-
न्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मान्नोपलभ्यन्ते ॥ २ ॥

(मर्मों की संख्या और बनावट के अनुसार उनके प्रकार—)
मर्म एक सौ सात होते हैं । वे पञ्चात्मक होते हैं । जैसे—
मांसमर्म, सिरामर्म, स्नायुमर्म, अस्थिमर्म और सन्धिमर्म ।
वास्तव में मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि के अतिरिक्त
मर्म होते ही नहीं, क्योंकि (इन धातुओं और अंगों के अतिरिक्त
स्थानों में वे) नहीं पाये जाते हैं ॥ २ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जिस धातु से याने शरीरगत
पुर्जें से मर्म बनते हैं, उनके अनुसार मर्मों के प्रकार वर्णन
किये हैं । पञ्चात्मकानि—पञ्चविधः आत्मा येषां तानि
पञ्चात्मकानि । आत्मा का अर्थ शरीर है—आत्मा जीवे धृती देहे
स्वभावे परमात्मनि । (वैजयन्ती) । आत्मा कलेबरे यत्ने स्वभावे
परमात्मनि । (धरणिः) । अर्थात् जिससे मर्मों का देह बना है,
वे वस्तुएँ । ये वस्तुएँ पाँच होती हैं । जैसे—मांस इत्यादि और
उनके अनुसार मर्मों के मांसमर्म आदि पाँच प्रकार किये गये

हैं । इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक मर्म
में उसके शरीर की मुख्य वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी होती
हैं (आगे २५ वां सूत्र देखो) ; परन्तु जो वस्तु अधिक होती
है उसके अनुसार मर्म का प्रकार किया जाता है—तत्पुनर्मांस-
सिरास्नायुस्थिरसन्धिसन्निपातः । बाहुव्येन तु निर्देशः । तस्मान्मांस-
साद्याश्रयतो मर्माणि पञ्चमा भिद्यन्ते । (अष्टांगसंग्रह, शारीर ७) ।
इसका अभिप्राय यह है कि जिसको मांसमर्म कहते हैं, उसमें
मांस के अतिरिक्त सिरादि अन्य धातुएँ भी अल्पांश में होती
हैं । अष्टांगहृदय में वाग्भटाचार्य पाँच के बदले मर्मों के छः
प्रकार करते हैं, जिनमें धमनी मर्म अधिक है—मांसास्थिरासु-
धमनीसिरासन्धिसमागमः । स्थानमिति च तेनात्र सुतरां जीवितं
स्थितम् ॥ बाहुव्येन तु निर्देशः पौटैवं मर्ममल्पना ॥ (शारीर ४) ।
मर्मों की कुल संख्या उतनी ही है, केवल मांस, अस्थि, स्नायु
और सिरा इनके मर्मों से कुछ मर्म निकालकर उनका स्वतन्त्र
वर्ग धमनी मर्म करके किया गया है । इसका अर्थ यह है
कि कुछ मर्मों का शरीर बाहुव्येन किस वस्तु से बना है,
इसके सम्बन्ध के मतभेद का यह परिणाम है । न खलु—
इससे मर्मों के पाँच ही प्रकार होते हैं; अधिक नहीं हो सकते,
यह बताया गया है । इसके सम्बन्ध में द्रवहणाचार्य लिखते
हैं—ननु स्रोतःप्रभृतीनामपि मारणात्मकत्वान्मर्मत्वमस्त्येव, तत्कथं
मांसादिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि नोपलभ्यन्त इत्युक्तम् । स्रोतः
प्रभृतीनि मांसादीन्यव्यतिरिच्य वर्तन्ते, यतो मांसादिव्येव स्रोतः-
प्रभृतीनि सन्ति । तस्मान्मांसादीनि पञ्चैव मर्माणीति ॥ इसका
अभिप्राय यह है कि मर्मों के और भी विभाग आश्रय के
अनुसार हो सकते हैं, परन्तु उनका समावेश उपर्युक्त पाँचों
में से किसी एक में हो जाता है, इसलिये अधिक प्रकार मानने
की आवश्यकता नहीं है । यही तत्त्व वाग्भटाचार्य धमनीमर्मों
के लिए लागू किया जा सकता है ।

तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत्सिराम-
र्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि,
विंशतिः सन्धिमर्माणि चेति । तदेतत् सप्तोत्तरं
मर्मशतम् ॥ ३ ॥

(मांसादि प्रत्येक प्रकार की संख्या—) इनमें से
मांसमर्म ग्यारह, सिरामर्म इकतालीस, स्नायुमर्म सत्ताईस,
अस्थिमर्म आठ, और सन्धिमर्म बीस । इस प्रकार मर्म एक
सौ और सात (हो जाते हैं) ॥ ३ ॥

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में मांसमर्म दस, स्नायुमर्म
तेईस, और सिरामर्म सैंतीस दिये हैं और इनमें से जो
बचे हैं, उन नौ मर्मों का धमनीवर्ग बनाया है ।

तेषामेकादशैकस्मिन् सन्धिन् भवन्ति, पतेनेतर-
सन्धि च वाह्य व्याख्यातो, उदरोरसोद्वाद्दश, चतु-
र्दश पृष्ठे त्रीणां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिसत् ॥ ४ ॥

(पदों में मर्मों की संख्या—) इनमें से एक टाँग
में ग्यारह मर्म होते हैं, इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं
का विवरण होता है । उदर और छाती में बारह, पीठ में
चौदह । ग्रीवा से ऊपर सैंतीस ॥ ४ ॥

वक्तव्य—एतेन इत्यादि—प्रत्येक शाखा में ग्यारह मर्म
होते हैं, इसलिये चारों शाखाओं के चौवालीस मर्म हो जाते
हैं । उदरोरसोः—धड़ का सामने का (Anterior) भाग

केचीदाहुर्मासादीनां पञ्चानामपि समस्तानां त्रिवृत्तानां च समवायात् सत्यप्राणहराणि, एकहोना नामल्पानां यां कालान्तप्राणहराणि, द्विहोनाना विद्या ल्यप्राणहराणि, त्रिहोनाना वैकल्यकराणि, एकस्मिन्नेव रजाकराणांति । नैत्रं, यतोऽस्थिमर्मस्वप्नमिहतेषु शोणितगामनं भवति ॥ २५ ॥

(सद्यःप्राणहरवादि की अन्य उपपत्ति—) कई आचार्य कहते हैं कि—मांसादि संपूर्ण ममप्राण में वर्धित हुई पाँचों (मर्म वस्तुओं) के संयोग से (मर्म) सद्यःप्राणहर (होते हैं); (मांस, सिरा इत्यादि में से) एक हीन अथवा एकलव पृष्ठ (मांसादि) के (सयोग से मर्म) कालान्तर प्राणहर (होते हैं) (मांसादि में से) दो न होने वाले (मांसादि के संयोग से) विशल्य प्राणहर (होते हैं), तीन न होने वाले (मांसादि के संयोग से मर्म) वैकल्यकर (होते हैं), एक ही (वस्तु) में (मर्म आधित होने पर) रजाकर (होते हैं) । (परंतु) इस प्रकार (वास्तविक स्थिति) नहीं है, क्योंकि अस्थिमर्मों पर चोट लगने से रक्त का आगमन हो जाता है २५ ॥

वक्ष्य—विश्रुतानाम्—पीठे दूसरे सूत्र के वक्ष्य में यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक मर्म के शरीर में एक वस्तु अधिक और शेष वस्तुएँ कम होती हैं, और अधिक वस्तु के अनुसार मर्म का नामकरण होता है । यहाँ पर विश्रुत शब्द से यह बताया जाता है कि पाँचों ही काफी बड़े हुए जाने समप्रमाण में बड़ हुए जहाँ पर होते हैं, वे मर्म सद्यःप्राणहर होते हैं । विश्रुत के बड़े 'समवृद्ध' पाठ है । यह पाठभेद अधिक अशुद्ध है क्योंकि इससे उपयुक्त कल्पना स्पष्टता प्रशंसित होती है । पञ्चहोनानामल्पानां वा—मांसादि पाँचों में से एक का अत्यन्तभाव हो या अल्पता हो । अल्प का सम्बन्ध पाँचों के साथ न होकर जिसका अत्यन्तभाव हो सकता है, उसी के साथ होता है । नैत्रम्—इसका अभिप्राय यह है कि अन्य आचार्यों की मर्मों के पञ्चविधाव के सम्बन्ध में एकोत्तरहीनत्व की जो कल्पना है, वह ठीक नहीं है । इसके लिए प्रमाण देते हैं । अस्थिमर्म इत्यादि—अस्थिमर्म एक उपलक्षण है । इसमें अन्य मर्मों का भी समावेश होता है क्योंकि आगे के श्लोक में यह बताया जा रहा है कि चतुर्विध सिराएँ सब प्रकार के मर्मों में होती हैं । इसलिये अस्थिमर्म पर चोट लगने से जैसे रक्तप्राव होता है, वैसे ही अन्य मर्मों पर आघात होने से रक्तप्राव होता है । सपेय में, शरीर के मर्म एकोत्तर हीन न होकर पाँचों के समवाय से बनते हैं, केवल किसी में एक की और किसी में दूसरे की अधिकता होती है । इस सूत्र में तथा इससे पूर्व सूत्र में मर्मों के सद्यःप्राण हरत्वादि परिणाम के संबंध में प्राचीन कल्पना के अनुसार उपपत्तियाँ बतलाई गई हैं । आधुनिक दृष्टि से ये परिणाम कैसे हो सकते हैं, इसका कुछ विचार अब किया जाता है । सद्यःप्राणहरत्व—यद्यपि शरीर में अनेक महत्व के अंग होते हैं और प्रत्येक अंग का विशेष प्रयोजन होता है, तथापि जिन्दा रहने की दृष्टि से हृदय, मस्तिष्क और कुण्डल ये तीन अङ्ग नितान्त आवश्यक माने गये हैं । इसलिये

पञ्चाय परिभाषा में वे जोवन के त्रिपुण्ड (Tripod of life) कहलते हैं । आयुर्वेद में भी त्रिपुण्ड की कल्पना है और इनके लिए 'त्रिमर्म' कहते हैं; भेद इतना ही है कि आयुर्वेद में फेफड़े के बड़े वस्ति मिलता है—सन्धाक्रिटेन्वोऽपि इद्वत्तिशिरांसि (गरीयांसि) त मूलान्चन्द्रीरय । (चरक, सिद्धि ९) । उन्नोत्तर मर्मवत् यदुक्तं शरीरसंस्थाभित्कृत्य वेतु । मर्माणि वस्ति हृदय शिरस्य प्रधानमूतान्त्वयो वदन्ति ॥ प्राचाप्रधानं तानिरी पीडयन्तो वातादयोऽनुरि पीडयन्ति ॥ प्राणाश्रयत्वमपि यथा हृदयादीनां न तथा शब्दादीनाम् । (चक्रपा निदृश, चरक, सिद्धि ९-३) । इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि ऊपर १९वें श्लोक में सद्यःप्राणहर मर्म उचीन बताये गये हैं, तथापि उनमें भी हृदय और वस्ति और मस्तिष्क ये तीन मर्म वास्तव में सद्यःप्राणहर हैं और शेष इन्हीं के अधीन हैं—अन्ये तु—शब्दादिप्राणाश्रयाणां हृदयान्निवेद्य सामीप्या दन्तमार्गं दर्शयन्ति । (उपयुक्त चक्रपत्र की टीका में उद्धृत एकीय मर्म) । प्राणहरण करने का धर्म केवल इन उचीन मर्मों में ही सीमित नहीं हुआ है, हर एक मर्म पर विशेष आघात होने से प्राणों का नाश हो सकता है—एव पर परमपि मर्माणि विद्यादिकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य क्रमं करोति । अतएव तेषां विद्या दिना विप्रायि कर्त्तव्यास्तु मारयन्तीत्यमं वक्षति । (द्वहणा चार्य) । अर्थात् शरीर पर कहीं भी आघात हो, सद्यु का कारण यह त्रिमर्म होता है—देवां प्रयाणान्वायनमस्यापि भेदात् येन शरीरमेव स्यात् । आश्रयनाशशक्तिरस्यापि विनाय । तदुपता पाचु घोरतरम्यापिप्रादुर्भाव, तरनादेनानि विशेषेण रक्षयापि वाद्यभि वातादावतिरिच्यम् । (चरक, सिद्धिस्थान ३) । पाश्चात्य मर्मों में भी यही कल्पना मिलती है—Life and health depends

on the proper action of the heart, lungs, and brain. This has been called the 'tripod of life' Bichat (1798) considered that death might arise from a failure of each of these. Medical Jurisprudence by W. G. Atchison Robertson हृदय, मस्तिष्क और कुण्डल में से कुण्डल का विचार मर्मों में नहीं आता, उससे होने वाली सद्यु का विचार पीठे सूत्रस्थान के २०वें अध्याय में 'वाङ्मूलतापारी' इस सूत्र में किया गया है (प्रथमखण्ड पृष्ठ १६९) । जब केवल हृदय और मस्तिष्क का विचार करना है । हृदय—हृदय सद्यःप्राणहरत्वदि की दृष्टि से मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक महत्व का है । कोई प्राणी या मनुष्य सजीव या निर्जीव है, इसका निर्णय केवल हृदय के ऊपर किया जाता है । हृदय के अबाध देने से एक घणार्थ के पूर्व श्वातपोत करते हुए या खाना खाते हुए सजीव मनुष्य घणार्थ के पश्चात् निर्जीव हो जाते हैं । यही कारण है कि आयुर्वेद में हृदय विशेष चेतनास्थानम् । (शारीर १-३० तथा उसका वक्ष्य भी देखो) । ताका लिक मर्ग का कारण हमेशा हृद्देद (Heart-failure) होता है । यह हृद्देद हृदयविकृति के कारण होता है या स्वल्पहृदय में प्रतिचैर जनित निरोधन किया से (Reflex inhibition of the heart) होता है । यदि किसी का हृदय पुराने विकार से (जैसे, Aortic regurgitation fatty degeneration) कमजोर हुआ हो तो जरा-सा

आघात होने पर वह विदीर्ण (Rupture) भी हो सकता है, और तत्काल मृत्यु हो जाती है। जब हृदय स्वस्थ होता है, तब भी मर्मस्थान पर आघात होने से सांवेदनिक नाडीसूत्रों के द्वारा उसका परिणाम मस्तिष्कगत हृदय केन्द्र (Cardiac centro) के ऊपर होकर उसके द्वारा हृदय का कार्य बन्द हो जाता है, और इसी को प्रतिरोपजन्य हृद्भेद कहते हैं। इससे रक्तव्यता भी उत्पन्न होती है। शङ्खप्रदेश पर या नाभिप्रदेश पर आघात होने से कई बार लोगों की मृत्यु इसी कारण से हुआ करती है। प्रतिरोपजन्य हृद्भेद में चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। (१) हृदय की विक्षिति—इसका उल्लेख पीछे किया गया है। (२) मानसिक स्थिति—चिन्ता, शोक, आनन्द, गुस्सा, भीति इत्यादि विकारों से जब मन एवं मस्तिष्क अस्थिर रहता है, उस समय शरीर की सांवेदनिक नाडी (Sensory nerve) या उसके क्षेत्र पर कहीं भी जरा-सा आघात होने पर उसका कुछ का कुछ परिणाम होकर मृत्यु तक हो सकती है। (३) आमाशय की पूर्णता—आमाशय हृदयसमीपवर्ती अङ्ग है और अतिभोजन से हृदय के ऊपर दबाव पड़ता है जिससे उसके सङ्कोच विस्फार में कठिनाई हो जाती है। परिणाम यह होता है कि दिल में धक्कन, तालपेग्य (Irregularity) इत्यादि हृदयविकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसलिए मात्रावत् भोजन के आयुर्वेद में जो अनेक लक्षण दिये हैं, उनमें 'हृदयाबाधः' 'हृदयस्थानवरोधः' (चरक, विमान २) एक लक्षण दिया है। अतिभोजन के पश्चात् आमाशय या अन्य प्रवेश में आघात होने से हृदय बन्द होने की सम्भावना अधिक होती है। (४) लसामिका अवस्था (Status lymphaticus)—इसमें शरीर में जहाँ जहाँ लसाम घातु (जैसे, तुषिका (टौन्सिल), प्लीहा, थायमस इत्यादि) होती है, वहाँ वहाँ उसकी वृद्धि हो जाती है। इस स्थिति का ज्ञान प्रायः मृत्यु के पश्चात् मरणोत्तर परीक्षा से होता है। इस स्थिति का महत्व हमलिय है कि कनपटी पर थपपद लगने से, जरा से अपघात से, ठर से या झोरोफार्म से ऐसे लोगों की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। संक्षेप में तत्काल मृत्यु (Sudden death) का कारण हृद्भेद है और यह हृद्भेद प्रत्यक्ष या प्रतिरोपजनित होता है और इस हृद्भेद में उपर्युक्त चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। आयुर्वेद में सद्यःप्राणहरण का काल सात दिन का बतलाया गया है (३० वां सूत्र देखो)। अतः जो तत्काल नहीं मरते परन्तु सात दिनों के अन्दर मर जाते हैं, उनका विचार किया जाता है। कुछ काल के पश्चात् मृत्यु के तीन कारण हैं—मूर्च्छा (Syncope), स्तब्धता (Shook) और संन्यास (Coma)। मूर्च्छा—मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसके तीन कारण हैं। मर्माघात की दृष्टि से सब से महत्व का कारण अधिक रक्तत्वाव है (आगे ४२ वां श्लोक देखो)। यह रक्तत्वाव धमनी या सिरा आघात के कारण दृष्ट जाने से होता है। और शरीर के बाहर या शरीर के भीतर हो सकता है। सिरामर्मों की घातकता इसी कारण से होती है। दूसरा कारण रक्तवाहिनी नियन्त्रण अस्थिर है (Vasomotor instability) (आगे ८ वें अध्याय के २२ वें श्लोक का

वक्तव्य भी देखो)। इससे उदरप्रदेश में रक्तवाहिनियों विस्फारित होकर वहाँ रक्त की अधिकांश राशि एकत्र होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। नाभिप्रदेश में आघात होने से इस प्रकार की स्थिति हो सकती है। तीव्र कारण हृदय की कमजोरी है। इसका विचार पीछे हो चुका है। मर्माघात की दृष्टि से यह कारण विशेष महत्व का नहीं है। इससे यदि मृत्यु होगी तो तत्काल हृदयविदरण (Rupture) से होगी। संन्यास—यह विकृति मस्तिष्क की है। इसमें शिर के ऊपर (शृङ्गाटकान्यधिपतिः शरीः) आघात होने से मस्तिष्क के भीतर (Apoplexy) या मस्तिष्कावरण के भीतर और मस्तिष्क के बाहर रक्तस्राव जन्य संपीडन (Cerebral compression from trauma) होता है। अथवा आघातजन्य मस्तिष्कसंपीडन (Cerebral concussion) से या रोपड़ी की हड्डी अवनत भङ्ग (Dipressed fracture) होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। अर्थात् ये अवस्थाएँ आगन्तुक कारणजन्य हैं। निजकारणजन्य अवस्थाओं का विचार पीछे चतुर्थ अध्याय के ३४ वें और ५५ वें श्लोकों के वक्तव्य में किया गया है। संक्षेप में मर्मों का सद्यःप्राणहरण हृदय के एकाएक जवाब देने पर या हृदयदीर्घपयजन्य स्तब्धता (आगे सजाकर में देखो) मूर्च्छा या मस्तिष्क के संन्यास जैसे घोर व्याधियों के ऊपर निर्भर होता है। कालान्तर प्राणहरण—ये मर्म प्रायः निम्न प्रकार से प्राणों का नाश करते हैंगे। (१) शनैः शनैः रक्तत्वाव—थोड़े समय में अधिक रक्तत्वाव होने से तत्काल मृत्यु होती है, परन्तु थोड़ा थोड़ा रक्त अधिक काल तक बहने से तीव्र रक्तस्राव उत्पन्न होकर उससे रोगी की मृत्यु हो सकती है। रक्त का घाव निरन्तर, अन्तरित (Reoccurring) और गुप्त (शरीर के भीतर concealed) तीन प्रकार का होता है। जैसे, इन्द्रियस्थित, कटीकलक्षण कालान्तर प्राणहर मर्म हैं। इनके लिए शोणितस्राव मृत्यु का कारण बताया है—जहामध्ये इन्द्रपरिवर्तनम्, तत्र शोणितस्रावेण मरणम्। कटीकलक्षणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितस्रावात् पाण्डुरिवर्णो हीनरूपश्च म्रियते ॥ (२) जीवाणुओं का उपरार्ग—इसमें मर्मस्थान में घण उत्पन्न होने के कारण कुछ काल के पश्चात् जीवाणुओं का उपसर्ग (Infection) हो सकता है। इससे जीवाणुमयता (Septicemia), विसर्प (Erysipelas), धनुर्वान्त (Tetanus) इत्यादि विकार उत्पन्न होकर कुछ काल के पश्चात् रोगी की मृत्यु हो सकती है। जैसे, क्षिप्र में आक्षेप से मृत्यु और अपलाप में पूयभावगत रक्त (pyaemia) से मृत्यु इसी का सूचक होता है—क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विकृत्याक्षेपेण मरणम्। अपलापी नाम तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्। विशाल्यङ्ग—विगतदाह्य होने पर ये मर्म किस प्रकार से घातक होते हैं, इसका ठीक आकलन नहीं होता। वैकल्यकार—अस्थि, सन्धि, स्नायु, सिरा (नाडी के Nerve अर्थ में) और मांस ये धातु टूटने से सदा के लिए वैकल्य हो सकता है। हड्डी टूटने से उसमें कमजोरी आ जायगी; सन्धि से सन्धिभङ्ग या सन्धिविश्लेष (Fracture dislocation) हो जायगा; स्नायु (Ligament या Tendon) से मोघ (Sprain) पैदा होगा या विशिष्ट पेशी की हलचल में रुकावट होगी। मांस के टूटने से स्थायी संकोच (Contracture) और संसक्ति (Adhesions) होकर पेशियों की गतियों में कठिनता हो जायगी।

रजावर—इसके सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। मर्मों के ऊपर आघात होने से, अगर कुछ मीन हो तो कम से कम पीड़ा तो जरूर होगी। जिस स्थान पर संवेदनिक भावी होती है, वहाँ पर आघात होने से पीड़ा अधिक होती है। जब तक यह पीड़ा अपने स्थान में सीमित रहती है, तब तक उसको केवल पीड़ा या रजा कह सकते हैं, परन्तु कई बार पीड़ा का परिणाम सार्वभौमिक होता है। उस समय प्रतिचेष क्रिया (Reflex action) से हृदय के कार्य में कुछ अवरोध उत्पन्न होकर मनुष्य स्तब्ध हो जाता है। इस अवस्था को स्तब्धता (Shock) कहते हैं। इसमें बेहोशी, अवसन्नता (Prostration), नाड़ी और हृदय धीम, अधिपमित तथा शीघ्र, साँस सघर्षी और घर्षरयुक्त, शरीर ठण्डा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु भी हो जाती है। स्तब्धता प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) दो प्रकार की होती है। स्तब्धता की उत्पत्ति में चिन्ता, शोक, नीति इत्यादि मानसिक विकार बहुत सहायता करते हैं। आघात के समय यदि मस्तिष्क इन विकारों से अधिर हो तो स्तब्धता जल्दी उत्पन्न होती है। तब हृदय में रुका जाने पीड़ाओं के कारण मृत्यु बतलाई गई है—नन्डइय नाम तत्रापि रजाभिरम्पन्। इससे पीड़ाजन्य स्तब्धता का ही बोध होता है अन्यथा केवल पीड़ा के द्वारा मृत्यु होना असम्भव है। इन सब क्रमों का विचार प्रत्येक मर्म के समय और भी किया जायगा। स्तब्धता का विवरण आगे के वक्तव्य में और किया गया है।

ममन्ति चात्र—

चतुर्घिया यास्तु सिराः शरीरे

प्रायेण वा मर्मसु सन्निविष्टाः ।

स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्वीन्
सन्तर्प्य देह प्रतिपालयन्ति ॥ २५ ॥

ततः क्षीते मर्मणि ताः प्रवृद्धाः

समन्ततो घायुरभिस्तृणोति ।

विषयमानस्तु स मातरिधा

रुजः सुतोम्रां प्रतनोति काये ॥ २६ ॥

रजाभिभूतं तु तर्जः शरीरं

प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा ।

अथा हि शल्यं विनहन्तुमिच्छन्

मर्मणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् ॥ २७ ॥

शरीर में जो चार प्रकार की सिराएँ होती हैं वे प्रायः मर्मस्थानों में सन्निविष्ट रहती हैं, और वायु, अस्थि, मांस तथा सधि इनका संतर्पण करके देह का पालन करती हैं ॥ २५ ॥ अतः मर्म पर चोट लगने से वायु प्रवृद्ध होकर उन सिराओं को चारों ओर से आच्छादित करती है, और यदती हुई वायु शरीर में तीव्र पीड़ा को फैलाती है ॥ २६ ॥ तब (तीस) बेदना से पीड़ित शरीर नष्ट होने लगता है और उसकी चेतना (भी) नष्ट होती है। इसकिए शल्य निकालने की इच्छा करने वाला वैद्य (शल्यसमीपवर्ती स्थान के) मर्मों का यत्नपूर्वक परीक्षण करके

(पश्चात्) शल्य को निकाले ॥ २७ ॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में मर्मों की पृकोत्तरहीनत्व की कल्पना का खण्डन अस्थिमर्माधान में शोणितगमन के उदाहरण से किया गया है। २४ वें श्लोक में अस्थिमर्मों में रक्षोपरिचयि का कारण बताया जाता है। चतुर्घियाः सिरा—वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह। इनका निर्वृत्त सातवें अध्याय के १ वें सूत्र में किया गया है। मर्मद्वय—शरीर के संपूर्ण मर्मों में। इस लिए ये सिराएँ अस्थिमर्मों में भी होती हैं और आघात होने पर उनसे खून निकलता है। वजः क्षते—इन दो श्लोकों में मर्माघात से पीड़ा कैसी होती है और पीड़ा के कारण मृत्यु कैसी उत्पन्न होती है, उसकी संभाषि, वर्णन की गई है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार इसमें स्तब्धता (Shock) की बुद्धटना वर्णित की गई है। स्तब्धता आघात, चोट, बलकर्म, विष इन कारणों से उत्पन्न होती है और कारणों के अनुसार आघातजन्य (Traumatic), घातजन्य (Wound, शल्यकर्मजन्य (Surgical), विषजन्य (Toxic) इत्यादि उसके प्रकार किये जाते हैं। स्तब्धता अधिकतर आघात या चोट से ही उत्पन्न होती है। आघात या चोट से प्रायः तीव्र पीड़ा (Pain) होती है और इसके सार्वभौमिक प्रभाव से शरीर के महत्व के कार्य (Vital functions) उत्तरोत्तर धीण होते जाते हैं और अन्त में मृत्यु होती है। स्तब्धता उत्पन्न करने में तीव्र पीड़ा एक महत्व का सहायक कारण होता है। सत्चेप में आघात, तज्जन्य पीड़ा, पीड़ा के कारण शरीर के महत्व के कार्यों का उत्तरोत्तर धीण होना और अन्त में मृत्यु, यह स्तब्धताजन्य मृत्यु का कम आधुनिक सम्प्राप्ति के अनुसार होता है—shock is a condition following surgical operations, trauma, wounds, intoxications or infections, in which a progressive failure of body functions, leading more or less rapidly to death, occurs. *Physiology in Health and disease by Carl J. Huggers* Pain is a factor in the production of shock *Horslett's Pathology* पश्चीस और छत्तीसवें श्लोक में मर्माघातजन्य मृत्यु की जो घटना वर्णित की गई है, उसका क्रम शब्दशः आधुनिक क्रम के साथ मिलता है। इनकी टीका में इच्छुणाचार्य लिखते हैं—रानी यथैव देहोपधि प्रहारे मर्मविद्वेष क्रमेण सकल-शरीरे वातादिदोषव्याप्या रजावेगेन चेतनाभातोविद्योगस्तथा दर्शयन्नाह। शरीर प्रतीचेष प्रलक्ष गच्छति शरीरकथं विषयतोत्पन्नं। तस्मिन् प्राज्ञभौतिके शरीरे प्रतनिते संज्ञासमर्थतनातुरपि नश्यति ॥ प्रलोयते शरीरम्—प्रलय शब्द से शरीर की उत्तरोत्तर धीणता का बोध होता है, एकाप्यक धीणता का नहीं (पृष्ठे २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)।

यत्नेन शोषं व्याख्यातम् ॥ २८ ॥

इसी से अवशिष्ट (मर्मों का भी) व्याख्यान होता है ॥ २८ ॥ वक्तव्य—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उपर्युक्त तीव्र श्लोकों का व्याख्यान अस्थिमर्माघात से शोणितगमन के निमित्त किया गया है तथापि यही व्याख्यान शोष मांसादि मर्मों के संवेध में भी होता है। सत्चेप में, मांसादि मर्मों पर आघात होने से भी रक्त निकलता है, पीड़ा होती है, शरीर

प्रलीन होता है और मृत्यु हो जाती है । द्रवहणाचार्य इससे दूसरा अर्थ मानते हैं—एतेनेति रूगादिरूपेण वायोरलंघनेन, शेषमिति दाहादिस्रोतोनिरोधनादि च पित्तश्लेष्मणोरलंघनं व्याख्यातभवेत्यर्थः ।

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति विश-
ल्यप्राणहरं च, वैकल्यकरं कालान्तरं क्लेशयति रुजां च करोति, रुजाकरमतोऽववेदनं भवति ॥ २६ ॥

(मर्माघात के भिन्न परिणाम—) इन (पञ्चविध मर्मों) में से अन्त में विद्ध हुआ सद्यःप्राणहर मर्म कालान्तर से घातक होता है, अन्त में विद्ध हुआ कालान्तर प्राणहर मर्म विकलता उत्पन्न करता है तथा विशल्यमर्म (भी अन्त में विद्ध होने पर वैकल्य उत्पन्न करता है), अन्त (में विद्ध हुआ) वैकल्यकर मर्म अधिक काल तक तकलीफ देता है और पीड़ा भी करता है, (अन्त में विद्ध हुआ) रुजाकर मर्म बहुत पीड़ाकर नहीं होता ॥ २९ ॥

वक्तव्य—पीछे १४ वें सूत्र में आघात या वेध के परिणाम के अनुसार कर्मों के सद्यःप्राणहरत्वादि पांच प्रकार बताये गये हैं । उसके पश्चात् प्रत्येक प्रकार के मर्मों के नाम दिये गये हैं । इस सूत्र में यह बताया जाता है कि मर्माघात का परिणाम आघात के औचित्य के साथ बदलता रहता है । यदि आघात उचित जोर का या उचित स्थान पर न हो तो एक प्रकार के मर्म से दूसरे प्रकार का परिणाम निकल सकता है । अन्ते विद्धम्—आगे ३८, ३९वें श्लोकों में मर्मों के परिमाण (मोटाई) बताया गये हैं । उस परिमाण के घेरे के बाहर परन्तु समीप वेध होने से । अन्त द्रव्द से कई बार निर्दिष्ट स्थान का समी-
पवर्ती भाग अभिप्रेत होता है—पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायाम-
थापि वा । जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिबद्धिः ॥ (याज्ञवल्क्य १-१४३) । नापीथीत श्मशानान्ते त्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । (मनु-
४-११६) । इस प्रकार का अर्थ करने का कारण यह है कि आगे लिखते हैं कि मर्मपार्श्व में आघात होने से भी मृत्यु होती है । इसलिये मर्मस्थान को पूर्णतया छोड़कर शक्य कर्म करना चाहिए—गाइर्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्मं तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् । यह जैसे वेधन या आघात का विचार मर्मस्थान की दृष्टि से हुआ, वैसे ही वेधन की गहराई (Depth) तथा आघात की प्रबलता (Strength) की दृष्टि से भी विचार होना चाहिए । और यहां पर स्थान का जो सिद्धान्त बताया गया है, उसका उपसिद्धान्त (Corollary) करके यह भी समझना चाहिए कि यदि वेध गहरा न हो या आघात कमजोर हो, उसके परिणाम भी अन्त वेधन के समान ही होते हैं और यदि अतिवेधन या अतिप्रबल प्रहार हो तो अपेक्षित प्रकार से अधिक तीव्र स्वरूप का परिणाम होता है—एतेन पूर्व पूर्व मर्म कारणवैकल्यात्परस्य परस्य कार्यं करोति, एवं परं परमपि मर्माति-
विद्धादिकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य कर्मं करोति । (द्रवहण) । यही उपसिद्धान्त अब आगे के सूत्र में बताया जा रहा है ।

तत्र सद्यःप्राणहराणि सत्तरात्राम्यन्तराः मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षाभासाद्वा, तेष्वपि क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥ ३० ॥

(मर्मों का घातक काल और अघातक मर्मों का घात-
कत्व—) इनमें सद्यःप्राणहर मर्म सात दिन के अन्दर मार देते हैं, कालान्तर प्राणहर मर्म दो सप्ताह में अथवा एक मास में (मार देते हैं), इन (कालान्तर प्राणहर मर्मों) में से क्षिप्र कभी कभी तत्काल मार देते हैं, विशल्य प्राणहर, वैकल्यकर और (रुजाकर) कभी कभी अभिहत होने पर मार देते हैं ॥ ३० ॥

वक्तव्य—क्षिप्राणि इत्यादि—कदाचिदाशु मारयन्ति 'अविष्ट-
तानि' इति शेषः । अनतिहतानि तु कालान्तरेणैव मारयन्ति । (द्रवहण) वैकल्यकराणि च—'च' का प्रयोग यहां पर 'अनुक्त-
उमुचयायै' किया है, जिससे 'वैकल्यकराणि च' का अर्थ वैकल्य-
कर तथा रुजाकर होता है । इसका अभिप्राय यह है कि रुजा-
कर भी प्रबल आघात से मारक होते हैं । इसमें कोई असम्भव-
नीय घात नहीं है क्योंकि वे भी मर्म हैं और 'मारयन्तीति मर्माणि'
यह मर्मों की व्याख्या है । द्रवहणाचार्य लिखते हैं—एतच्चोपल-
क्ष्यं, तेन रुजाकराण्येवं वैकल्यं जनयन्ति, एवं वैकल्यादिष्वपि स्वनि-
यतकर्मव्यभिचारः । यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि अतिहत होने पर रुजाकर मर्म भी घातक होते हैं । दूसरा कारण यह है कि इस सूत्र में मर्मों की घातकता का ही विचार हो रहा है, अन्य व्यभिचार का नहीं; वह विचार ऊपर के सूत्र में हो चुका है । संक्षेप में सभी मर्म अतिवातित होने पर मारक होते हैं, यह इस सूत्र का तात्पर्य है ।

अत ऊर्ध्वं प्रत्येकशो मर्मस्थानानि व्याख्यास्या-
मः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपकेण मरणं; मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम, तत्रापि रुजाभिर्मरणं; क्षिप्रस्योपरिष्ठादुभयतः कूर्चो नाम, तत्र पादस्य भ्रम-
णवैपने भवतः; गुल्फसन्धेरथ उभयतः कूर्चशिरो नाम, तत्र रुजाशोफौ; पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फो नाम, तत्र रुजः स्तव्यपादता खञ्जता वा; पाणि प्रति जङ्गामध्ये इन्द्रवस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणं; जङ्घोर्वोः सन्धाने जानु नाम, तत्र खञ्जता; जानुन ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलमाणी नाम, तत्र शोफाभिर्वृद्धिः स्तव्यसक्थिता च; ऊरुमध्ये ऊर्ची नाम, तत्र शोणि-
तक्षयात् शक्थिशोषः; ऊर्वा ऊर्ध्वमधो वह्णसंधेरु-
रूमूलै लोहिताक्षं नाम, तत्र लोहितक्षयेण पक्षाघातः सक्थिशोषो वा; वह्णवृषणयोरन्तरे विटपं नाम, तत्र पाण्ड्यमल्पशुक्रता वा भवति; एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३१ ॥

(पादमर्म—) अब इसके बाद मर्मस्थानों का पृथक् पृथक् व्याख्यान करते हैं । पांव के अंगुठे और (समीपवर्ती) अंगुलि के बीच में क्षिप्रनामक मर्म है, वहां पर विद्ध हुए (मनुष्य) की मृत्यु आघेप से होती है । मध्यम अंगुलि की रेखा में ऊपर पादतल के मध्य में तलहृदय नामक मर्म होता है, वहां पर भी (विद्ध हुए मनुष्य की) वेदनाओं

से मृत्यु होती है। चिप्र के ऊपर दोनों ओर कूर्च नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) पाँव में टेढ़ापन और कपन होता है। गुल्फसन्धि से नीचे दोनों ओर कूर्चशिर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) पीडा और सूजन होती है। पाँव और जडा के सयोग पर गुल्फ नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) पीडा, पाँव में जकड़न, अथवा लँगवापन होता है। जडा में पृष्ठी की ओर इन्द्रवस्ति नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त (जावजन्म) पच से मृत्यु होती है। जडा और ऊरु के सयोग पर जानु नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) लँगवापन होता है। जानु से तीन अंगुल ऊपर दोनों ओर भागी नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) सूजन की शृद्धि और टाँग में स्तब्धता (जकड़न तथा सुष्ठता) होती है। ऊरु के मध्य में ऊर्वी नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्तपच से टाँग सूख जाती है। ऊर्वी से ऊपर घट्टणसन्धि से नीचे उरु के मूल में लोहिताप नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) रक्तपच से पचाघात अथवा रोग की शृशता होती है। घट्टण और पृथक् के मध्य में पिट्य नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) पण्डता या अवपशुक्रता होती है। इस प्रकार टाँग के म्यारद मर्मों का स्थारस्थान किया है ३३१॥

पक्षय—क्षिप्र—यह स्नायु मर्म है। इसकी मोटाई अर्धअङ्गुल है और कालान्तर प्राणहर है। प्रत्यक्षशारीर की हडि से यह प्रथम शलाकान्तरीय (First intermetatarsal) स्थान है। इस स्थान में प्रथम पादाङ्गुलशलाका शृष्ठा (First dorsal metatarsal) धमनी और पुरोजघिका गंभीरा (Deep peroneal nerve) नाडी की अंगुष्ठमूलागा शलाका ये दो महत्त्व के अंग होते हैं। इस मर्म के वेधन से आचेपक नामक रोग होकर मृत्यु होती है। आचेपक से Convulsions और धनुर्वात (Tetanus) दोनों का ही बोध होता है और ये दोनों रोग रक्तस्रावाधिक्य और अग्निघात के कारण उत्पन्न होते हैं। निदानस्थान प्रथम अध्याय के २८-२६ श्लोक तथा उनका वक्ष्य देखो। जब रक्तस्रावजन्म आचेप होते हैं, तब मृत्यु तत्काल होगी। जब धनुर्वात के जीवाणु का उपसर्ग होगा, तब देर में होगी। हाथों और पैरों की खोटों में धनुर्वात का उपसर्ग बहुत हुआ करता है, यह अनुभवसिद्ध बात है। तलहृदय—मध्यमाङ्गुलितलुलकीकृत्य क्रमेण शरदतपस्य मध्ये तलहृदयम्, मासमर्मैदमर्धानुल कालान्तर प्राणहर च। (ब्रह्मण)। प्रत्यक्षशारीर की परिमापा में तलहृदय पादतलमध्य (Centre of the planter side) है। इसमें पादतलघातुरीय (Lateral planter) धमनी और पादतलीया वादा और अन्तरा (Medial or lateral planter) नाडी ये दो महत्त्व के अंग होते हैं। इन अंगों की रक्षा करने के लिए इनके ऊपर बड़ी मजबूत दीर्घ पादतलिक स्नायु (Long planter ligament) का आवरण होता है। चिप्र और तलहृदय मर्मों से मृत्यु की मीमांसा के लिए आगे ४२वाँ श्लोक और उसका वक्ष्य देखो। कूर्च—उपशित्तिल्यत्र 'द्वयवद्वे इति शेषे। उभयत इत्यादि कूर्चमेषध तस्य कूर्च इति नाम, 'विद्धि' इति शेषे। स्नायुमर्मैदमर्धानुल वैकल्पकर चतुरन्तर च। (ब्रह्मण)। प्रत्यक्षशारीर की हडि से इस

मर्म में कूर्चशलाका की स्नायुओं (Tarsometatarsal and intertarsal ligaments जैसे Canonavicular, cuboid-onavicular, long planter etc) का समावेश होता है। इनके ऊपर आघात होने से पाँव की कमान (Arch) कमजोर होकर कपन, भ्रमण (जैसे, समनलपाद flat foot) इत्यादि विकार होते हैं। कूर्चशिर—रामपि स्नायुमर्म एकाङ्गल वैकल्पकर च। (ब्रह्मण)। इससे वहिर्पार्श्विक और अन्तर्पार्श्विक स्नायुमर्मों (Deltoid ligaments, Talocalcaneal and calcaneofibular ligaments) का बोध होता है। इनके ऊपर आघात होने से गुल्फसन्धि में पीडा तथा सूजन आ जाती है और यदि उचित चिकित्सा न हुई तो कुव वैकल्प्य भी आ जाता है। गुल्फ—सन्धिर्मैदमर्धानुलप्रमाथ वैकल्पकर च। (ब्रह्मण)। गुल्फ से गुल्फसन्धि (Ankle joint) का बोध होता है। इसमें अन्तर्जघारिण्य और वहिर्जघारिण्य का नीचे का जोड़ (Tibio fibular) तथा इन दोनों का कूर्चशिरारिण्य के साथ जोड़ (Talo-crural articulation) इनका समावेश होता है। गुल्फ पर आघात होने से प्राय अस्थिभग या मंगविरलेष (Fracture dislocation) होता है जिससे पीडा, स्तब्धता, लँगवापन इत्यादि उत्पन्न होते हैं। र दशरि—मासमर्मैदमर्धानुल पार्श्व्य प्रति त्रयोदशानुले स्थित कालान्तर प्राणहर च, मोजस्तु द्वयङ्गुलप्रमाथमाहा। (ब्रह्मण)। यद्यपि यहाँ पर नहीं तथापि चिकित्सास्थान में इन्द्रवस्ति का पार्श्व्य से अन्तर तेरह अङ्गुल बताया गया है—पार्श्व्य प्रति दे दश पाङ्गुलानि क्तिवे दशरिण परिवर्त्तं बोधान्। (अध्याय १८)। पृष्ठी से इन्द्रवस्ति का जो अन्तर दिया है उससे, तथा यह मांसमर्म होने से इन्द्रवस्ति जंघा की पिंढली (Calf) मालूम होता है। पिंढली वह स्थान है, जहाँ पर जवा का घेरा सच से अधिक होता है। यह स्थान ठीक पार्श्व्य से बारह या तेरह अङ्गुल होता है। पिंढली में जंघापिंढिका पुर्वी (Gastrocnemius), लछवी (Soleus) और तृतीय (Plantaris) ये तीन पेशियाँ होती हैं—पर च पेशीजय जहापिण्डिकेति पिण्डवति या वन्थते। (प्रत्यक्ष शारीर)। इन पेशियों के पीछे वहिर्जघारिण्य (Peroneal) और पश्चिमजघिका (Posterior tibial) धमनियाँ तथा पश्चिमजघिका (Tibial) नाड़ी होती है। यह मस्ति मर्मविद्ध होने से उपर्युक्त धमनियों कटने की समावना होती है और जब कट जाती हैं, तब रक्तनासा से मृत्यु होने का खर होता है। रसयोगसागर की प्रस्तावना में इन्द्रवस्ति से पञ्चजानुलात (Plopleal fossa) सन्धिपा गया है। यह स्थान जानुमध्य के पीछे होता है और जानुसन्धि पार्श्व्य या गुल्फ से आठार अङ्गुल दूर होती है—पञ्चदशानुल जंघा। (सूत्र ३९)। इन्द्रवस्ति पृष्ठी से केवल तेरह अंगुल लंबाई पर होने के कारण इन्द्र वस्ति से पञ्चजानुलात मानवा उचित नहीं होता। इसके सिवा वहाँ पर जानुमध्य का परिणाह और इन्द्रवस्ति का परिणाह भिन्न भिन्न बतलाया गया है, इसलिये जानु मध्य से इन्द्रवस्ति पृथक् स्थान मालूम होता है। जानु—सन्धिर्मैदमर्धानुलप्रमाथ वैकल्पकर च। जानुसन्धि knee joint। अथवी—स्नायुमर्मैदमर्धानुल वैकल्पकर च। (ब्रह्मण)। भागी से चतु शिररुका और्वी (Quadriceps femoris) पेशी की

कण्डरा, जो जानुकपालिका (Patella) में संसक्त हुई है, का बोध होता है। ऊरु—सिरामर्ममेंदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च । (दरहण)। ऊरुमर्म ऊरु के मध्य में और सिरामर्म है। इस दृष्टि से यदि ऊरु की रचना का परीक्षण किया जाय तो इससे संव्यूहनप्रणाली (Adductor Canal) मालूम होती है। इस प्रणाली में धमनी, सिरा और नाड़ी (Femoral artery, Vein and Saphenous nerve) ये महत्त्व के अंग होते हैं। धमनी या सिरावेधन से रक्तच्य और नाड़ी के वेधन से सक्थिशोष हो सकता है। ये तीनों अंग अत्यंत समीप होने से तीनों ही एक समय में विद्ध हो सकते हैं। लोहिताक्षम्—सिरामर्मदमर्धाङ्गुलं वैकल्यकरं च । (दरहण)। इस मर्म का स्थान वंक्षणसंधि के नीचे ऊरुमूल में और ऊरु में सामने की ओर है। इस वर्णन के अनुसार यह मर्म और्वत्रिकोण (Femoral triangle) के साथ मिलता है। इस त्रिकोण में ऊरु मर्म के समान सब महत्त्व के अंग होते हैं। अर्थात् इसके वेध के परिणाम ऊरुवेध के समान होते हैं। विटप—जाल्युमर्मदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च । (दरहण)। इसका स्थान वङ्गण और घृण के मध्य में है। इसके अनुसार यह मर्म वङ्गण सुरंगा (Inguinal canal) मालूम होता है। यह सुरंगा स्नायुओं से बनी है और उसमें से होकर घृण की बन्धनी तथा शुक्रवह नाड़ी (Spermatic cord) के भीतर चली गई है। इसके ऊपर आघात होने से नाड़ी बंद हो जायगी और घृण में उत्पन्न हुआ शुक्र शिरन में नहीं आयगा। नौ के ऊपर चोट लगने से सन्ध्यता (Sterility) उत्पन्नगी। इसमें मैथुन का असामर्थ्य न होकर प्रजोत्पादन असामर्थ्य होता है। एक के ऊपर चोट लगने से केवल ही घृण का शुक्र मैथुन के समय निकड़ेगा, याने लपशुक्ता उत्पन्न होगी।

एतेनेतरसक्थि वाहू च व्याख्यातौ। विशेषस्तु यानि सक्थिन गुल्फजानुविटपानि तानि वाहौ मणिवन्धकूर्परकक्षधराणि; यथा वङ्गणवृणयोः न्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् वेद्रे त एवोपद्रवाः; विशेषतस्तु मणिवन्धे कुण्ठता, हूर्परख्ये कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः। एवमेतानि त्रुत्थत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ॥३२॥

(वाहुमर्म—) इसी से ही दूसरी टाँग और दोनों हाँडुओं (के मर्मों) का व्याख्यान हो गया है। विशेष करके टाँग में जो गुल्फ जानु विटप हैं वे ही वाहु में मणिवन्ध, कूर्पर कक्षधर हैं; जैसे वङ्गण और घृण के बीच में विटप है वैसे ही वक्ष और कक्षा के बीच में कक्षाधर है, उसके विद्ध होने से वे ही उपद्रव होते हैं; विशेष करके मणिवन्ध में (वेध होने से हाथ का) वैकल्य (कलाई की शक्ति नष्ट होना, उसकी गति कम होना इत्यादि), कूर्पर नामक मर्म में (वेध होने से) अग्रवाहु का लक्षण, कक्षधर में (वेध होने से) पक्षाघात होता है। इस प्रकार शाखाओं में चौवालीस मर्मों की व्याख्या हो गई है ॥३२॥

वक्तव्य—तस्मिन् विद्धे त एव उपद्रवाः—‘तस्मिन्’ शब्द यहाँ पर वाहुमर्मसमूह के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका

अर्थ इस प्रकार है—वाहुमर्मसमूह विद्ध होने पर, सक्थि-मर्मसमूह विद्ध होने पर जो उपद्रव ऊपर बतलाये गये हैं, वे ही उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार साधारण निर्देश करने पर पश्चात् विशेष निर्देश ‘विशेषतस्तु’ से करते हैं। दरहणाचार्य ‘तस्मिन्निधि मणिवन्धादी, त एव इति गुल्फादि-वेधजाताः’ ऐसा अर्थ करते हैं। परंतु यह अर्थ असंगत है क्योंकि इससे ‘विशेषतस्तु’ इत्यादि का प्रयोजन व्यर्थ हो जाता है। चित्र—यह मर्म अंगुष्ठतर्जनीशलाकान्तर्रीय स्थान है (First intermetacarpal space) और इसमें वहिःप्रकोष्ठा धमनी की शलाका पृष्ठिका शाखा (First Dorsal metacarpal artery) होती है। तलहृदय—यह हस्ततल का मध्य है जिसके ऊपर करतलिकासायु (Palmer-aponuroses) फैली रहती है। इसके पीछे करतल धानुपी धमनी (Palmer arch) और उसकी शाखाएँ तथा नाडियाँ (Nerves) भी होती हैं। इनके कारण हस्ततल में मर्मत्व आ गया है। कूर्च—इससे हस्तकूर्चरिचियाँ और शलाकाएँ इनको जोड़ने वाली सायु (Carpometacarpal and intercarpal ligaments) अभिप्रेत होती हैं। कूर्चशिर—इससे मणिवन्धसंधि की अन्तःपार्थिक और वहिःपार्थिक स्नायुओं (Ulnar and radial Collateral ligaments) का बोध होता है। मखिवंध—इससे कलाई जोड़ (Wrist joint) का बोध होता है, जिसमें प्रकोष्ठान्तर्रीय जोड़ (Distal radioulnor) तथा वहिःप्रकोष्ठकरकूर्चस्थिजोड़ (Radio carpal) दोनों का समावेश होता है। रसयोग-सागर प्रस्तावना में मणिवन्ध का अर्थ Intercarpal ligaments दिया है। परंतु यह अर्थ दो दृष्टि से उचित नहीं मालूम होता। मणिवन्धसंधि मर्म है, अतः मणिवन्ध से संधि का ही ग्रहण करना चाहिए। दूसरी दृष्टि यह है कि कूर्चमर्म की दीर्घता चार अंगुल है, अतः कूर्च में ही कूर्चान्तर स्नायुओं का समावेश हो जाना चाहिए। पाँव में भी ऐसा ही है। इसलिए वैसे अर्थ पीछे हस्तकूर्च और पादकूर्च मर्मों के किये गये हैं। कलाई के जोड़ में खराबी होने से हाथ की हर एक काम में कुण्ठित गति हो जाती है। इन्द्रवस्ति—अग्रवाहु की पिण्डली का स्थान जहाँ पर मणिवन्धसंकोचिन्यादि उत्तान पेशियों के नीचे अन्तःप्रकोष्ठीया (Ulnar) धमनी और मध्यप्रकोष्ठीका (Median) नाड़ी इत्यादि महत्त्व के अंग होते हैं। रसयोगसागरकार के समान इससे कूर्परप्रखात (Cubital fossa) समझ सकते हैं। कूर्पर—यह संधिमर्म है। इससे कोहनी जोड़ (Elbow joint) का बोध होता है। आणी—यह स्नायुमर्म है। इससे द्विशिरस्का (Biceps) पेशी की कण्डरा का बोध होता है। इसके पास बाहवी धमनी तथा मध्यप्रकोष्ठीका नाड़ी होती है। इस मर्म के उपद्रव कण्डरा तथा नाड़ी के वेध से होते हैं। ऊरु—यह सिरामर्म है। इसका स्थान वाहुमध्य अग्रभाग है। इससे बाहवी धमनी, अन्तर्वाहुका सिरा, वहिर्वाहुका और मध्यप्रकोष्ठीका नाड़ी का ग्रहण करना चाहिए। सिरा या धमनी का वेध होने से रक्तच्य और नाड़ी का वेध होने से वाहुशोष (Atrophic paralysis) हो जाता है। लोहिताक्ष—यह भी सिरामर्म है। इसमें भी ऊरुमर्म के महत्त्व के अंग हैं, केवल स्थान कुछ ऊपर की ओर कक्षा में होता है। यहाँ पर धमनी कक्षाधरा (Axillary) कहलाती

है। इस मर्म के वेध से पचाघात वा वाङ्मोष हो जाता है। ये लक्षण नाडी (Nerve) के वेध से होते हैं। रसयोग-सागर में छोदिताघ (ऊर्ध्व-शाखा का) का आंखानुवाध Sacral plexus दिया है। सैकल प्लेक्सस धोणि में होता है, ऊर्ध्वशाखा में नहीं। अतः यह मुद्रणवेध मादम होता है। कषाघर—यह रनायुमर्म और पकाङ्गल है। अर्धांगद्वय में यह मर्म तथा इसका प्रतिनिधि विदप सिरामर्म पतलाया गया है—महविशय सिराप्रया। इहस्यो मात्स्य नीले मन्वे कषाघरी पणो। (विदये। शा० ४)। इसको सिरामर्म मानने की अपेक्षा रनायुमर्म मानना अधिक प्रशस्त है। इसका विचार आगे ९ अध्याय के द्वितीय सूत्र के वक्ष्य में धमनी क्या है? इसकी टिप्पणी में किया गया है। इसका स्थान घष और कषा के मध्य में याने कौष के सिखर में पतलाया है। वहाँ पर महश्व का अंग कषानुगा नाडी प्रवेगी (Brachial plexus) का कषाद्वीरियत भाग आता है, जिसमें पाश्चिमी, मष्यानुगा और पश्चिमा वेजिकाएँ (Lateral, median and posterior cords) आती हैं। इनके वेध से पचाघात होता है। पचाघात—यह उपद्रव छोदिताघ नामक हाथों और पादों के मर्मों में भी बताया गया है। पचाघात का सामान्य अर्थ सपूर्ण एक पच याने आधे शरीर का घात (Hemiplegia) किया जाता है। यहाँ पर पचाघात शब्द इस सामान्य अर्थ से नहीं प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर इसका अर्थ है 'पच की जिस शाखा के मर्म में वेध हुआ है, उस शाखा का घात' अर्थात् पूर्वांगघात (पचाघात एक शाखाघात)। शाखाभिन मर्मों वा परीचण—शाखकर्म की दृष्टि से धमनी, नाडी और बची सिरा ये महश्व के अंग होते हैं। यदि शाखाभिन मर्मों का अनुसंधान इन महश्व के अंगों की दृष्टि से किया जाय तो कहना पवता है कि यद्यपि शारीर वर्णन में अन्यत्र नहीं तथापि मर्मों के निमित्त शाखाओं के इन प्रधान अंगों का स्थान विकिसर्तकों को मादम होता है। जैसे, चिम्र, तलद्वय, कूर्चशिर, इन्द्रवसित, आणी, ऊरु, छोदिताघ और वाङ्ग का कषाघर ये सब मर्म शाखाओं के इन अंगों के मार्गों के नीचे से ऊपर तक के पचाव हैं। सिरामर्म—पीछे दूसरे सूत्र के वक्ष्य में बताया जा चुका है कि मर्म का नाम उसके शरीर की बनावट सूचित करता है। अर्थात् सिरामर्म से यह सूचित किया जाता है कि यह मर्म सिरा से बना हुआ है। शाखाओं में ऊरु, छोदिताघ, कषाघर ये सिरामर्म हैं। यदि सिरा का आधुनिक रूप अर्थ (Vein) लिया जाय तो पचाघात वा सविशोष ये उपद्रव सिरामर्म के वेधन से उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से यदि इन मर्मों की रचना देखी जाय तो इनमें धमनी Artery शुद्ध रक्तादिनी), सिरा (Vein अशुद्ध रक्तादिनी) और नाडी (Nerve वासवादिनी) ये तीनों अंग उपस्थित रहते हैं। आधुनिक दृष्टि से पचाघात वा पूर्वांगघात वा सविशोष ये विकार प्रायः नाडी के वेधन से होते हैं। इन स्थानों में नाडी होती है। इसलिये, जैसे कि अमरकोश में लिखा है 'नाडी तु धमनी सिरा' उसके अनुसार सिरा से तीनों का ग्रहण करना चाहिए और सिरामर्म में आवश्यकता के

अनुसार तीनों का समावेश करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुद्व्याख्यास्यामः—
तत्र घातवर्धोन्निरसनं स्पृहान्यप्रतिवर्द्धं गुदं नाम मर्मं, तत्र सद्योमरणम्; अन्यमांसशोणितोऽप्यन्तरतः कट्यां भ्रूशाशयो यस्तिर्नाम, तथापि सद्योमरणममरीमण्यारते, तत्राप्युमयतो भिन्ने न जीयति, एकतो भिन्ने मूत्रघ्राधी प्रणो भवति, स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति, पकामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम, तथापि सद्योमरणम् ॥ ३३ ॥

(उदरमर्म—) अब इसके बाद उदर और छाती के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। इनमें मल और वात को निकालने वाला, बची आँत से हुआ गुदा नामक मर्म है। वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। कटि में भीतर की ओर जिसकी बनावट में मांस और रक्त अल्प होता है ऐसा मूत्र का आधार बसित नामक मर्म है; वहाँ पर अमरकोश के अतिरिक्त (अन्य कारण से म्रण उत्पन्न होने पर) तत्काल मृत्यु होती है; अमरी के लिये भी दोनों ओर भिन्न होने से (मनुष्य) नहीं बचता, एक में भेद करने से मूत्रघ्राधी म्रण बन जाता है, जो यत्न से चिकित्सा करने पर रोपित होता है। पकामाशय और आमाशय के मध्य में सिराओं का उत्पत्ति स्थान नाभि नामक मर्म है, वहाँ पर भी (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है ॥ ३३ ॥

वक्ष्य—गुद—मांसमर्मद चतुरंगल सचोपति च। (द्वहण)। अर्धांगद्वय के अनुसार गुद धमनी मर्म है। इसको मांसमर्म कहना ही उचित है। गुद के सबब का कुछ विवरण पीछे निदानस्थान के दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र तथा उसके वक्ष्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२९) में किया गया है। गुद से यहाँ पर गुदनलिका (Anal canal) और गुदद्वार (Abus) का ही ग्रहण करना चाहिए। मलाशय (Rectum) का ग्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुद घातवर्धोन्निरसन है, यद्योधारक नहीं है। चरकसंहिता में गुद के दो विभाग 'उत्तरगुद' और 'अधरगुद' किये गये हैं। उसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्तरगुदो वन प्रतीपवर्धोत्थो, येन तु प्रतीप निष्कामनि उदधरगुदम्। (शारीर ७-१०)। यहाँ पर गुद से चरकोक्त अधरगुद अभिप्रेत है। गुद के ऊपर आघात होने से तत्काल मृत्यु रतकृता के कारण हो सकती है और यदि वेधन गभीर हुआ हो तो उदरावरण में शोथ (Peritonitis) उत्पन्न होकर उससे हो सकती है। गुद को इतना महत्व देने का और एक कारण यह मादम होता है कि प्राचीन काल में जैसे सिर को शरीर का मूल मानने की कल्पना थी—कर्ममूलम शाकशुभवः पुरुष विदु। मूलप्रधारिवत्सात्माद रोगान् गीम्वर जयेत् ॥ (अर्धांगद्वय, उत्तर ० १४) वैसे ही गुद को भी शरीर का मूल मानने की कल्पना प्रचलित थी और इसी कल्पना के आधार पर अनुवासन बसित की कल्पना चरक में वर्णन की गई है—मूले निषिको दि यथा

द्रुमः स्यादीलच्छदः कोमलपल्लवाग्रयः । काले मदीर्घं पुष्पफलप्रदश्च
 तथा नरः स्यादनुवासेनेन ॥ (सिद्धि १) । इसकी टीका में
 चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मूलद्रव्यान्तेन चानुवासेनेन
 साक्षात्सर्पण्यस्य गुणस्य देहमूलत्व दर्शयति । उक्तं हि परागरे—
 मूलं शुभं शरीरस्य निरास्तत्र प्रविष्टताः । सर्वं शरीरं पुष्पान्ति
 मूर्धानं वाक्यधिताः ॥ इति—स्नायुमर्मदं चतुरंगुलं सपोपाति च ।
 (उल्लेख) । यही मूत्राशय (Urinary bladder) है ।
 इसका वर्णन निदानस्थान के तीसरे अध्याय के १८-२०
 श्लोकों में तथा उनके चक्रव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३३६-
 ३३७) में किया गया है । यहाँ पर उसका और उदरावरण
 (Peritoneum) का संबंध देखना जरूरी है । वस्ति के चार
 पृष्ठ (Surfaces) होते हैं—एक ऊर्ध्व, एक अधर और दो
 पार्श्विक । इनमें से ऊर्ध्व भाग पर उदरावरण लगा रहता
 है । अधर और पार्श्विक पृष्ठ उदरावरणरहित होते हैं ।
 वस्ति मूत्र से परिपूर्ण होने के समय वस्तिप्रदेश पर आघात
 या चोट लगने से वह विदीर्ण (Rupture) हो जाती है ।
 यह विदार चारों में से किसी एक पृष्ठ में हो सकता है ।
 वस्ति ऊर्ध्व पृष्ठभाग में विदीर्ण होने से मूत्र उदरगुहा में
 प्रवेश करेगा । इस विदार को पयुंदरान्तर्य (Intra-
 peritoneal) कहते हैं । इसमें विदीर्ण होने के समय
 स्तब्धता, पीडा इत्यादि तीव्र लक्षण उत्पन्न होकर थोड़े
 समय में तीव्र उदरावरणशोथ होकर उसी से मृत्यु हो
 जाती है । वस्ति का भेद प्रायः इसी प्रकार का होता है
 और इसी से जल्दी मृत्यु होती है । यदि पार्श्विक या अधर
 पृष्ठ में भेद हुआ तो मूत्र उदरगुहा में न जाकर श्रोणिगुहा
 में उदरावरण के बाहर फैलता है । इसको पयुंदरवाह्य
 (Extra peritoneal) विदार या भेद कहते हैं । इस प्रकार
 के विदार से कटि की संयोजक धातुओं में तीव्र स्वरूप का
 पाक (Suppurative pelvic cellulitis) उत्पन्न होकर
 पूयमयता या विपमयता स मृत्यु होती है । संक्षेप में, जब
 आगन्तुक कारणों से वस्ति विदीर्ण होगी, तब उदरवाह्य या
 उदरान्तरीय भेद होगा और दोनों में ही मृत्यु हो जायगी ।
 अश्रमरीणवाहते—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि
 इस शब्दसमूह का अर्थ 'आकस्मिक, आघातजन्य,
 आगन्तुक और शल्यशास्त्र से जो नहीं किया गया है,
 ऐसा व्रण उत्पन्न होने पर' होता है । अश्रमरी का व्रण शल्य-
 शास्त्र सोच-विचार करके योग्यस्थान में करता है, जिससे
 मूत्र हृदर-उधर न जाकर सीधा उससे बाहर निकलता
 है और न उदरगुहा में, न कटिगुहा में विकृति पैदा होती
 है । उभयतो भिन्न श्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि
 अश्रमरी निकालने के लिए सावधानी से किया हुआ एक
 व्रण मुश्किल से भरता है और दो व्रणों का रोपण होना
 असंभव हो जाता है, जिससे इन व्रणों से मूत्र टपकता
 रहता है । चिकित्सास्थान के सातवें अध्याय में अश्रमरी
 का जो शस्त्रकर्म वर्णन किया है, वह मूलाधारपार्श्विक वस्ति-
 भेदन (Lateral cystotomy) है । भेदन के समय यदि
 ठीक सरल भेदन न हुआ हो और त्वचादि धातुएँ अधिक
 हृदर उधर कटी हुई हों तो वस्ति का मूत्र हृदर उधर
 फैलकर श्रोणिगुहा में शोथ (Pelvic cellulitis) उत्पन्न
 करता है । दोनों तरफ भेदन करने से इस शोथ के उत्पन्न
 होने की संभावना दुगुनी बढ़ जाती है । इसी लिए लिखा

है कि उभयतो भिन्न होने पर मृत्यु हो जाती है, क्योंकि
 श्रोणिगुहागत शोथ घातक होता है । संक्षेप में, प्राचीन
 काल में यद्यपि वस्तिगत अश्रमरी मूलाधारपार्श्विक वस्ति-
 भेदन से निकाली जाती थी तथापि बहुत कम लोग उसके
 बाद बचते थे और जो बचते थे, उनमें से बहुतरे लोगों में
 मूत्रज्वावी व्रण घनता था । चिकित्सास्थान में इस प्रकार
 स्पष्ट लिखा है—अक्रियायां भ्रवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ।
 तस्मादाशुच्य कर्तव्यनीधरं साधुकारिण ॥ नाभि—सिरामर्मदं
 चतुरंगुलं सपोपाति च । नाभिसिराभौ का प्रभव (सातवें
 अध्याय के ३ श्लोक का वक्तव्य देखो) गर्भावस्था की दृष्टि
 से माना गया है । जन्म के पश्चात् नाभि का और सिराभौ
 का कोई संबंध नहीं रहता है । नाभि के पीछे उदरगुहा
 है । उदर में सब महश्च के अंग होते हैं । नाभि के ऊपर
 आघात होने से भीतरी महश्च के अंगों के ऊपर उसका
 परिणाम होकर, अंगों के विदीर्ण होने से, प्रत्यावर्तनजन्य
 हृद्भेद से या स्तब्धता से मृत्यु की मृत्यु हो जाती है ।
 यदि किसी नोकिले दाख द्वारा वेधन हुआ हो तो आन्त्र
 में छेद उत्पन्न हो सकता है और मल उदरगुहा में आने के
 कारण उदरावरण शोथ से मृत्यु हो सकती है । जब विपम
 ज्वर या कालज्वर (कालाजार) के कारण यकृत और झीहा
 बढ़ती है, तब नाभिप्रदेश या उसके आस पास प्रहार होने
 पर यकृत या झीहा विदीर्ण होकर रक्तज्वाव से या स्तब्धता से
 रोगी की मृत्यु हो जाती है । संपूर्ण उदर के सामने का पृष्ठ-
 भाग मर्मस्थान है, जिस पर चोट लगने से मृत्यु हो सकती
 है । यहाँ पर उदर के दो विभाग किये गये हैं—वस्तिविभाग
 और नाभिविभाग । वस्तिविभाग में जघनकपाल के पूर्वोर्ध्व
 कृटों (Anterior Superior Iliac Spine) को जोड़ने वाली
 रेखा के नीचे का भाग आता है और उसके ऊपर का भाग
 नाभिविभाग में आता है ।

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्वरज-
 स्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव
 मरणं; स्तनयोर्धस्ताद् द्रव्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले
 नाम (मर्मपी), तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासश्वा-
 साभ्यां भ्रियते; स्तनचूचुकोरुर्ध्वं द्रव्यङ्गुलमुभयतः
 स्तनरोहितौ नाम, तत्र लाहितपूर्णकोष्ठतया कास-
 श्वासाभ्यां च भ्रियते; अंशकूटयोरधस्तात् पार्श्वोप-
 रिभागयोपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मर-
 णम् ; उभयत्रोरसो नाड्यौ वातावहे अपस्तम्भौ नाम,
 तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम् ;
 एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादशमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३४ ॥

(छाती के मर्म—) छाती में दोनों स्तनों के मध्य प्रदेश
 में अवस्थान किया हुआ आमाशय का द्वार और सत्व, रज तथा
 तम का अधिष्ठान हृदयनामक मर्म है वहाँ पर (वेध होने से) भी
 तत्काल मृत्यु होती है । स्तनों के नीचे दो अंगुल दोनों ओर
 स्तनमूलनामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती)
 कफ से भरकर कास-श्वास से मृत्यु हो जाती है । स्तनचूचुको
 के ऊपर दो अंगुल दोनों ओर स्तनरोहित नामक मर्म हैं, वहाँ
 पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती) रक्त से भरकर कास-
 श्वास से मृत्यु होती है । दोनों अंसकूटों के नीचे पार्श्वों के

है। इस मर्म के वेध से पचाघात या बाहुशोष हो जाता है। ये लक्षण नाडी (Nerve) के वेध से होते हैं। रसयोग-सागर में लोहिताच (ऊर्ध्व-शाखा का) का आंगुलुवाह Sacral plexus दिया है। सैकल प्लेक्सस योजि में होता है, ऊर्ध्वशाखा में नहीं। अतः यह मुद्रणदोष माल्ड होता है। कक्षापर—यह स्नायुमर्म और पक्षाङ्गुल है। अष्टाङ्गद्वय में यह मर्म तथा इसका प्रतिनिधि विटप सिरामर्म बतलाया गया है—सप्तविंशत् सिराम्रया। इत्यौ मासुना नीले मन्वे वक्षायो कषौ। (विटपे। शा० ४)। इसको सिरामर्म मानने की अपेक्षा स्नायुमर्म मानना अधिक प्रशस्त है। इसका विचार आगे ९ अध्याय के द्वितीय सूत्र के वक्ष्य में धमनी क्या है? इसकी टिप्पणी में किया गया है। इसका स्थान पच और कक्षा के मध्य में यानि कॉल के शिखर में बतलाया है। वहाँ पर महश्च का अंग कक्षानुगा नाडी प्रवेणी (Brachial plexus) का कक्षाद्रीस्थित भाग आता है, जिसमें पार्श्विकी, मध्यानुगा और पश्चिमा वेणिकाएँ (Lateral, median and posterior cords) आती हैं। इनके वेध से पचाघात होता है। पचाघात—यह उपद्रव लोहिताच नामक हाथों और पादों के मर्मों में भी बताया गया है। पचाघात का सामान्य अर्थ सपूर्ण एक पच यानि आधे शरीर का घात (Hemiplegia) किया जाता है। यहाँ पर पचाघात शब्द इस सामान्य अर्थ से नहीं प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर इसका अर्थ है 'पच की जिस शाखा के मर्म में वेध हुआ है, उस शाखा का घात' अर्थात् एकाङ्घात (पचाश्रित एक शाखाघात)। शाखाश्रित मर्मों वा पतीचय—शस्त्रकर्म की दृष्टि से धमनी, नाडी और बन्धी सिरा ये महश्च के अंग होते हैं। यदि शाखाश्रित मर्मों का अनुसंधान इन महश्च के अर्गों की दृष्टि से किया जाय तो कहना पचता है कि यद्यपि शारीर वर्णन में अन्वय नहीं तथापि मर्मों के निमित्त शाखाओं के इन प्रधान अर्गों का स्थान चिकित्सकों को माल्ड होता है। जैसे, चिप्र, तलद्वय, हृच्छिर, इन्द्रवर्ति, आग्नी, ऊरु, लोहिताच और बाहु का कषय ये सब मर्म शाखाओं के इन अर्गों के मार्गों के नीचे से ऊपर तक के पचाव हैं। सिरामर्म—पीछे दूसरे सूत्र के वक्ष्य में बताया जा चुका है कि मर्म का नाम उसके शरीर की बनावट सूचित करता है। अर्थात् सिरामर्म से यह सूचित किया जाता है कि यह मर्म सिरा से बना हुआ है। शाखाओं में ऊरु, लोहिताच, कक्षापर ये सिरामर्म हैं। यदि सिरा का आधुनिक रूढ़ अर्थ (Vein) लिया जाय तो पचाघात या सविशोष ये उपद्रव सिरामर्म के वेधन से उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से यदि इन मर्मों की रचना देखी जाय तो इनमें धमनी Artery द्यद रक्ताहिनी), सिरा (Vein अद्यद रक्ताहिनी) और नाडी (Nerve यातवाहिनी) ये तीनों अंग उपस्थित रहते हैं। आधुनिक दृष्टि से पचाघात या एकाङ्घात या सविशोष ये विकार प्रायः नाडी के वेधन से होते हैं। इन स्थानों में नाडी होती है। इसलिये, जैसे कि अमरकोश में लिखा है 'नाडी तु धमनी सिरा उसके अनुमार सिरा से तीनों का ग्रहण करना चाहिये और सिरामर्म में आवश्यकता के

अनुसार तीनों का समावेश करना चाहिये।

अतः ऊर्ध्वमुद्रोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः—
तत्र घातचर्चोन्निरसनं स्थूलान्प्रतिपद्यं गुदं नाम मर्मं, तत्र सद्योमरणम्; श्लेष्मन्सोशोणितोऽभ्यन्तरतः कटघां मूत्राशयो वस्तिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीमणादते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रघ्रायो प्रणो भवति; स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति, पकामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणम् ॥ ३३ ॥

(उदरमर्म—) अब इसके बाद उदर और छाती के मर्मों का ब्याख्यान करेंगे। इनमें मूत्र और वात को निकालने वाला, बड़ी आँत से जुड़ा हुआ गुद नामक मर्म है। वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। कटि में भीतर की ओर जिसकी बनावट में मांस और रक्त अल्प होता है ऐसा मर्म का आधार वस्ति नामक मर्म है, वहाँ पर अश्मरीमरण के अतिरिक्त (अन्य कारण से मरण उत्पन्न होने पर) तत्काल मृत्यु होती है। अश्मरी के लिये भी दोनों ओर भिन्न होने से (मनुष्य) नहीं बचता, एक में भेद करने से मूत्रघ्रायी मरण बन जाता है, जो यान से चिकित्सा करने पर रोपित होता है। पकामाशय और आमाशय के मध्य में सिराओं का उपरति स्थान नाभि नामक मर्म है, वहाँ पर भी (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है ॥ ३३ ॥

वक्ष्य—गुद—मांसमर्मद चतुरंगुल सद्योवति च। (इहहण)। अष्टाङ्गद्वय के अनुसार गुद धमनी मर्म है। इसको मांसमर्म कहना ही उचित है। गुद के सबध का कुछ विवरण पीछे निदानस्थान के दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र तथा उसके वक्ष्य (प्रथम लघु पृष्ठ ३२९) में किया गया है। गुद से यहाँ पर गुदनलिका (Anal canal) और गुदद्वार (Anus) का ही ग्रहण करना चाहिये। मूत्राशय (Rectum) का ग्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुद वातचर्चोन्निरसन है, वचोधारक नहीं है। चरकसंहिता में गुद के दो विभाग 'उत्तरगुद' और 'अधरगुद' किये गये हैं। उसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्तरगुदो यत्र प्रतीमवतिष्ठते, येन तु प्रतीम निष्क्रामति वदधरगुदम्। (शारीर ६-१०)। यहाँ पर गुद से चरकोक्त अधरगुद अभिप्रेत है। गुद के उपर आघात होने से तत्काल मृत्यु रतन्धता के कारण हो सकती है और यदि वेधन गभीर हुआ हो तो उद्वारवर्णन में शोथ (Peritonitis) उत्पन्न होकर उससे हो सकती है। गुद को इतना महश्च देने का और एक कारण यह माल्ड होता है कि प्राचीन काल में जैसे सिरा को शरीर का मूल मानने की कल्पना थी—ऊर्ध्वमूलमत्र शालमूलमत्रः पुश्च विदुः। मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् भीमतर जयेत् ॥ (अष्टाङ्गद्वय, उचर २४) जैसे ही गुद को भी शरीर का मूल मानने की कल्पना प्रचलित थी और इसी कल्पना के आधार पर अनुवासन वस्ति की कल्पना चरक में वर्णन की गई है—मूले निषिको र वचा

वेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से फुफ्फुसगत रक्तस्राव (Haemoptysis), अपस्तम्भवेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से वातोरस (Pneumothorax) और अपलापवेध की पूयभावगतरक्तता (यह भी कोष्ठ की है, इसमें सन्देह नहीं) से पूयोरस अन्तःपूयता (Empyema समझना उचित है । ये रोग छाती के एक विशिष्ट भाग में आघात होने से होते हैं, सो नहीं है । तथापि व्यवहार के लिए स्तनमूल से lower portion of the pectoralis major (suspensory ligament of the mamma रसयोग), स्तनरोहित से Internal mammary vessels, अपलाप से lateral thoracic and subscapular vessels (Medial walls of the axilla रसयोग), और अपस्तम्भ से two bronchii (नाडीशब्देनेह वातवहत्वेन विवक्षितानु वचोगवास्तु सिरास्तु मध्ये फुफ्फुसाद् हृदयगामिन्यौ स्नायुतन्त्रिभे द्वे सिरे लक्ष्येते । हाराणचन्द्र) समझ सकते हैं ।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणो नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुविवर्णो हीनरूपश्च म्रियते, पार्श्वजघनवहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःक्राये चेष्टोपघातश्च; श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ नितम्बौ नाम, तत्राधःक्रायशोषो दौर्बल्याच्च मरणम्; अधःपार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यग्धूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते; स्तनमूलादङ्गुभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्यौ नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तरूपद्वैम्रियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंवद्धे अंसफलके नाम, तत्र बाहोः स्वापशोषौ; बाहुमूर्ध्वशीवाभ्यां अंसपीठस्कन्धनिबन्धनांशौ नाम, तत्र स्तब्धवाहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३५ ॥

(पीठ के मर्म—) अब इसके बाद पीठ के मर्मों का व्याख्यान करते हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में कटीकतरुण नामक अस्थिमर्म है, वहाँ पर (वेध होने से मनुष्य) रक्तस्राव से पाण्डु, विवर्ण और क्षीणदेह होकर मरता है । पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनास्थि के पार्श्वों के बाहर के भाग में (किञ्चित् निम्न) कुकुन्दर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे के शरीर में सुन्नता और चेष्टानाश होता है । श्रोणिकाण्डों के ऊपर आशय को आच्छादन करने वाले और दोनों पार्श्वों के जोड़ने वाले नितम्ब नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे का शरीर सूख जाता है और कमजोरी से मृत्यु होती है । श्रोणिकपालों के नीचे बँधे हुए जघनपार्श्वों के मध्य में और जघन से तिरछा और ऊपर की ओर पार्श्वसंधि नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कौष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है । पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूलों की सीध में बृहती नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त के अतिस्त्राव की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न

होने वाले उपद्रवों से मृत्यु होती है । पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिक से संबंधित अंसफलक नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं का शोष (कृशता) और सुन्नता होती है । बाहुशिर और शीवा के मध्य में अंसपीठ और कंध को बाँधने वाले अंस नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं की स्तब्धता (अकार्मण्य) होती है । इस प्रकार चौदह पीठ के मर्मों का व्याख्यान किया गया है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—नटीकतरुण—प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी 'प्रतिश्रोणि' कर्णौ इति केचित्पठन्ति । तत्र श्रोणिकर्णौ लक्ष्यीकृत्य त्रिकसन्निधाने श्रोण्यामुपरि अस्थिमर्मणी, अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । पृष्ठवंशं पृष्ठवंशपुच्छसंसक्तत्वेन तद्वत्प्रतिभातस्य नितम्बप्रदेशस्योभयत उभयपार्श्वे इत्यर्थः । प्रतिश्रोणिकाण्डमिति प्रतिरथं भागार्थः, काण्डं शाखेति पर्यायी, श्रोण्याः सव्यापसव्ये भाग इत्यर्थः । अरिथनी अधश्चिद्रे किञ्चित् साचीकृते ऊर्ध्वाधो मिथःसंयुक्ते द्वे कपाले इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । कुकुन्दरे—पार्श्वयोर्वामदक्षिणसंशकयोः, जघनवहिर्भागे इति कथ्याः पश्चाद् भागे, गयी तु 'पार्श्वजघनभागे' इति पठित्वा पार्श्वयोर्जघनभागे अधोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे इति व्याख्याति । सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले ईषन्निम्नाकारे वैकल्पकरे चेति । (डल्हण) । कुकुन्दरौ स्फिचोरुपरि उन्नतभागी । (चक्रपाणि, चरक, शा० ७) । जघनशब्देन कटिसामान्यमभिधीयते । स्त्रीकथ्याः पुरोभागे तावत्सुप्रसिद्धो जघनशब्दः कटिसामान्येऽपि क्वचित् प्रयुज्यमानो दृश्यते 'पीनस्तनजघनायाः' इति । किं पुनरत्र युक्तं कटिसामान्यमिति, कुतः, अविशेषेणेह स्त्रीपुंसोरुभयोरेव मर्मोपदेशात् । एवं कटिसामान्यवचनस्यास्य जघनशब्दस्य तद्वत्तेऽस्थिन तात्पर्यमिति बुद्धिमारोहति कुकुन्दराधिष्ठानत्वेनाऽभिधानात् । तथा च पाद्वज्जघनवहिर्भागे इति जघनयोः कटिकपालयोः पार्श्व इति पार्श्वजघने तयोर्वहिर्भागेऽधःप्रदेशे, पृष्ठवंशमुभयतः पृष्ठवंशत्वेन विजृम्भितयोर्नितम्बस्त्वोरुभयपार्श्वे नातिनिम्नेऽधस्तादावृत्तत्वेनानतिगम्भीरे कुकुन्दरे आवर्तकारे द्वे शुषिरे इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । नितम्बौ—पूर्वोक्तश्रोणिकाण्डयोरुपरि, आशयच्छादनौ आमाशयपिपायकी, पार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ पार्श्वमध्ये प्रतिवद्धौ नितम्बौ, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । इदमत्रामनन्ति—'श्रोणिगुदयोरुपर्यधो नामेः पकाशयः' इति । श्रोणिकाण्डे प्रत्यवस्थिते च द्वे कपाले किञ्चित् साचीकृते इत्येवोचाम । तदिदानीमूर्ध्वाधःसंयुक्तयोरनयोर्मध्यगतेनान्तरेण पकाशयस्य योऽशोऽट्टिपथमात्सृचति तदाच्छादनी तु नितम्बावित्युपदिशन्नाह—श्रोणीति । (हाराणचन्द्र) । पार्श्वसन्धि—अधोभागे यत्पार्श्वयोर्नन्तरं मध्यं तदप्रतिवद्धौ, जघनपार्श्वमध्ययोरिति पश्चाद्भागपार्श्वभागयोर्मध्यौ वामदक्षिणी भागौ तयोः, कथं स्थितावित्याह—तिर्यग्धूर्ध्वं चेति उपर्युपरि पशुकानां क्रमवृद्धेः संघेऽपि तिर्यग्धूर्ध्वत्वं; जघनादिति ल्यपि लुप्ते पञ्चमीयम्, तेन जघनपश्चाद्भागमाश्रित्य स्थितौ पार्श्वसन्धी, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । अधःपार्श्वान्तरेति प्रत्यासत्त्या श्रोणिकाण्डयोरेव अन्तरं छिद्रमिति पर्यायी । तथा च अधःपार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ कुकुन्दरप्रतिवद्धाविति तात्पर्यम् । जघनपार्श्वमध्ययोः कटिकपालयोः पार्श्वे मध्ये च । तथा जघनातिर्यग्धूर्ध्वमूर्ध्वप्रदेशे पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे इति यावत्, सिरामर्मत्वेनोपदेशाद् वर्तमानौ स्नायुसहजौ सिराविशेषौ पार्श्वसन्धी नाम इति प्रत्येतव्यम् । (हाराणचन्द्र) । बृहत्यौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरे मृत्युप्रदे च । स्तनमूले लक्ष्यीकृत्य ऋजुशलाकावेधनन्यायेन पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे ।

१ अनुव्याख्यास्यामः.

२ हीनदेहश्च.

३ बृहती.

४ स्वापः शोषो वा.

ऊपर के भागों पर अण्डालप नामक मर्म है, वहाँ पर (बेध होने से) रक्त को पूयमास प्राप्त होकर मृत्यु होती है। छाती के दोनों ओर अपररम्भ नामक दो वातबद्ध नादियाँ हैं, वहाँ पर (बेध होने से) छाती वायु से भरकर कास-धास से मृत्यु होती है। इस प्रकार उदर और छाती के बाहर मर्मों का व्याख्यान किया गया ॥ ३४ ॥

वक्षःस्थ- हृदय—सिरामर्मदं कमलमुत्रुभारामधोमुहं चतुरंगुल च सणोषाति। यह वही वक्षःस्थ यन्त्र है, जिसके संकोच-विकास से संपूर्ण शरीर में रक्त का परिभ्रमण होता है। इस कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों का विवरण पीछे चौथे अध्याय में ३३वें श्लोक के वक्षःस्थ में किया गया है। इससे सत्वादि का अधिष्ठान हृदय क्यों माना जाता है, उसका पता चलेगा। हृदय दो स्तनों के बीच में रहता है, परन्तु उसका अधिकांश भाग और होता है। छाती की दीवाल के उपर उसका चित्र निम्न चार बिंदुओं को मिलाने वाली चार रेखाओं से खींच सकते हैं—(१) हृदय वा भ्रम वा मुख (Apex)—इसका स्थान बाईं ओर के पंचम पशुकांतरस्थान में घुघुक के नीचे वच फलक की ओर ३/४ इंच या वच मध्य रेखा से ३ १/२ इंच होता है। इसी स्थान पर दर्शन वा रपशन से हृदय के अग्र का स्पन्द प्रतीत होता है। हृदय की विकृतियों में यह स्थान नीचे और बाहर की ओर सरकता है। हृदयाग्र का स्थानान्तर दक्षिणदिशि का निश्चित चिह्न है। (२) बाईं ओर का सातवां उपपशुकावच फलक सधि। (३) बाईं ओर वच फलक के किनारे से १/२ से ३/४ इंच की दूरी पर तीसरी उपपशुका के ऊपर के किनारे पर। (४) बाईं ओर वच फलक के किनारे से एक इंच दूसरी उपपशुका के निचले किनारे पर। अथ प्रथम और द्वितीय बिंदु इस प्रकार से जोड़ो कि रेखा वच फलक के मध्यभाग की ओर अप्रपत्र (Xiphoid) के संयोगस्थान में से होकर चली जावे। यह रेखा हृदय का निचला किनारा बताती है। फिर दूसरा और तीसरा बिंदु इस प्रकार से जोड़ो कि चौथे उपपशुका पर रेखा का उगार वचमध्य से १/२ इंच का हो जावे। इससे हृदय का दायीं किनारा बनता है। फिर चौथे और पहले बिंदु को इस प्रकार से जोड़ो कि रेखा का कुछ उभार बाईं ओर हो जावे। यह हृदय का बायाँ किनारा है। आमाशयद्वारम्—अण्डरुदत्त अष्टांगहृदय की टीका में इसका अर्थ लिखते हैं—वक्षामाशयद्वार मुखम्। तेन हि द्वारे-यात्रयानामाशये प्रविशति। (शां ४) यह अर्थ गलत नहीं है। हृदय आमाशयद्वार इसलिये कहा गया है कि यह आमाशयद्वार के बहुत समीप रहता है। हृदय महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm उदरवधुगुदा विभाजक) के ऊपर स्थित है। गले से निकली हुई अन्नप्रणाली हृदयसमीपवर्ती महाप्राचीरा के द्विदं में से उदरगुदा में प्रवेश करके आमाशय से मिलती है। आमाशय का यह ऊपर का द्वार हृदय के बहुत समीप होता है। दोनों में केवल महाप्राचीरा पेशी होती है। इस कारण से आधुनिक प्राश्नास्य परिभाषा में भी आमाशय का ऊपर का द्वार हार्दिक द्वार (Cardiac orifices) कहलाता है—तत्रापि कर्ष्वद्वारमन्ननलिकाद्वारान्नाग्नि—तस्य हार्दिकं द्वारमिति सहा हृदयमानिष्यार। (प्रत्यक्षशरीर)। इनके सिवाय आमाशय का मोटा भाग, जहाँ पर अन्न इकट्ठा होता है, हृदयसमीप होने के कारण हार्दिक भाग (Cardiac portion) कहलाता

है। इस साक्षिभ्य के कारण ही अधिक भोजन करने पर उसका भार हृदय पर पड़ता है और उसके कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। मात्रानुसार भोजन का एक लक्षण जो 'अग्नेन हृदयावाधः' वह इसी समीपता के कारण होता है। स्तनमूले—सिरामर्मथी द्रव्यमूले बालान्तरप्राणहरे च। (इहहण)। स्तनरोहिते—स्तनचतुस्रुकोरुर्ध्वं द्रव्यमूले स्तनरोहिते। अर्थात्कृत-भिन्नि मांसमर्मथो परिकीर्तिते। रक्तपुरितरोह्यय बालान्तर-कारिणी ॥ अन्तर्भाषी—सिरामर्मथी अर्थात्कूले बालान्तरप्राणहरे च। अपररम्भी—सिरामर्मथो अर्थात्कृतप्रमाणे बालान्तरप्राणहरे च। (इहहण)

प्रत्यक्षशरीर की दृष्टि से हृदय को छोड़कर छाती के अन्य मर्मों का अंगविनिश्चय विशेष महत्व का नहीं है। छाती में दो ही मर्मस्थान होते हैं—एक रक्तवाहिनी युक्त हृदय और दूसरा कुपकुस। ये दोनों वधगुदा को पूर्णतया व्यापते हैं। हृदय का स्वतन्त्र निर्देश किया गया है। शेष मर्मों का किसी न किसी प्रकार से कुपकु के साथ सम्बन्ध जाता है। क्योंकि स्तनमूल में कर्षपूर्णकोष्ठतया, स्तनरोहित में होहितपूर्णकोष्ठतया, अण्डालप में रचेन पूयभावमतेन और अपस्तम्म में वातपूर्णकोष्ठतया मृत्यु होती है। यहाँ पर कोष्ठ शब्द उरोवाचक है। छाती पर आघात, बेध इत्यादि होने से छाती की दीवाल पसली हल्काई टूट जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाहर की हवा कुपकुसद्वारण के भीतर जाकर वायोरोस् (वातपूर्णकोष्ठता Pneumothorax) हो सकता है। बाहर के जीवाणु भीतर प्रवेश करके कुपकुसपाक (न्युमोनिया), अशनीकुपकुसपाक (थ्रफ्थी-न्युमोनिया) (कर्षपूर्णकोष्ठता) हो सकती है। बाहर की दीवाल में टूट-फूट या घाव न होते हुए भी भीतर रक्तवाहिनियों के विक्षीण होने से शोणितोरस् (शोणितपूर्णकोष्ठता Haemothorax) या कुपकुसगत रक्तदाघ और तत्रजन्त रक्तदीघन (Haemoptysis उरःस्रव, मूशमन्धाहतय वा) निश्चते वृत्ति-व्यपिर्वलवान् म्युदीयंते। चरक) हो सकता है, या भीतर का मुस उपसर्ग उपेक्षित होकर अन्तःपूयता पूयोरोस् (Empyema), राजयक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis) इत्यादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं—Pneumonia may follow directly upon injury, particularly of the chest, without necessarily any lesion of the lung Trauma, as for example a blow on the chest may be followed by local tuberculosis. Color's Medicine. Trauma involving the chest wall, may be followed by active pulmonary tuberculosis Haemoptysis occurs frequently in wounds of the chest both penetrating and non-penetrating, Inflammatory serous effusion may also occur as a complication of injury to the chest wall. In most of these conditions the exudate often becomes purulent. Text-book of medicine by F. W. Price Haemothorax commonly results from wounds, injuries etc Taylor's Medicine ये सब रोग कालान्तर प्राणहरे हैं, इसमें भी संदेह नहीं है। अतः स्तनमूलवेष की कर्षपूर्णकोष्ठता से राजयक्ष्मा, कुपकुसपाक, अशनीकुपकुसपाक, स्तनरोहित

वेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से फुफ्फुसगत रक्तस्राव (Haemoptysis), अपस्तम्भवेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से वातोरस (Pneumothorax) और अपलापवेध की पूयभावगतरक्तता (यह भी कोष्ठ की है, इसमें सन्देह नहीं) से पूयोरस अन्तःपूयता (Empyema) समझना उचित है । ये रोग छाती के एक विशिष्ट भाग में आघात होने से होते हैं, सो नहीं है । तथापि व्यवहार के लिए स्तनमूल से lower portion of the pectoralis major (suspensory ligament of the mamma रसयोग), स्तनरोहित से Internal mammary vessels, अपलाप से lateral thoracic and subscapular vessels (Medial walls of the axilla रसयोग), और अपस्तम्भ से two bronchii (नादीशब्देनेह वातवहत्वेन विवक्षितानु वचोगतानु सिरानु मध्ये फुफ्फुसाद् हृदयगामिन्यौ स्नायुसत्त्विवे द्वे सिरे लक्ष्येते । हाराणचन्द्र) समझ सकते हैं ।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुरविवर्णौ हीनरूपश्च भ्रियते, पार्श्वजघनवह्निर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च; श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ नितम्बौ नाम, तत्राधःकायशोपो दौर्बल्याच्च मरणम्; अधःपार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यग्भूध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया भ्रियते; रतनमूलादज्जुभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्थ्यौ नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्भ्रियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंघट्टे अंसफलके नाम, तत्र बाहोः स्वापशोषौ; बाहुमूर्ध्वीवामध्वेऽसपीठस्कन्धनिवन्धनावंसौ नाम, तत्र स्तव्यवाहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३५ ॥

(पीठ के मर्म—) अथ इसके बाद पीठ के मर्मों का व्याख्यान करते हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में कटीकतरुण नामक अस्थिमर्म है, वहाँ पर (वेध होने से मनुष्य) रक्तस्राव से पाण्डु, विवर्ण और क्षीणदेह होकर मरता है । पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनास्थि के पार्श्वों के बाहर के भाग में (किञ्चित् निम्न) कुकुन्दर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे के शरीर में सुन्नता और चेष्टानाश होता है । श्रोणिकाण्डों के ऊपर आशय को आच्छादन करने वाले और दोनों पार्श्वों के जोड़ने वाले नितम्ब नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे का शरीर सूख जाता है और कमजोरी से मृत्यु होती है । श्रोणिकपालों के नीचे बंधे हुए जघनपार्श्वों के मध्य में और जघन से तिरछा और ऊपर की ओर पार्श्वसंधि नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है । पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूलों की सीध में बृहती नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त के अतिस्राव की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न

होने वाले उपद्रवों से मृत्यु होती है । पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिक से संबंधित अंसफलक नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं का शोष (कृशता) और सुन्नता होती है । बाहुशिर और म्रीवा के मध्य में अंसपीठ और कंधे को बाँधने वाले अंस नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं की स्तव्यता (अकार्मण्य) होती है । इस प्रकार चौदह पीठ के मर्मों का व्याख्यान किया गया है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—नदीकतरुण—प्रतिश्रोणिकाण्डमित्यत्र 'प्रतिश्रोणि'क्याँ इति केचित्ठन्ति । तत्र श्रोणिक्याँ लक्ष्यीकृत्य त्रिकसन्धिषाने श्रोण्यामुपरि अस्थिमर्मणी, अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (उल्लहण) । पृष्ठवंशं पृष्ठवंशपुच्छसंसक्तत्वेन तद्वत्प्रतिभातस्य नितम्बप्रदेशस्योभयत उभयपार्श्वे इत्यर्थः । प्रतिश्रोणिकाण्डमिति प्रतिरथं भागार्थः, काण्डं शास्त्रेति पर्यायी, श्रोण्याः सव्यापसत्ये भाग इत्यर्थः । अस्थिनी अधश्चिद्धे किञ्चित् साचीकृते ऊर्ध्वार्धो मिथः संयुक्ते द्वे कपाले इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । कुकुन्दरे—पार्श्वयोर्वामदक्षिणसंयुक्तयोः, जघनवह्निर्भागे इति कट्याः पश्चाद् भागे, गयी तु 'पार्श्वजघनभागे' इति पठित्वा पार्श्वयोर्जघनभागे अप्रोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे इति व्याख्याति । सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले ईषद्विम्नाकारे वैकल्पकरे चेति । (उल्लहण) । कुकुन्दरौ त्रिकोऽपरि उन्नतभागी । (चक्रपाणि, चरक, शा० ७) । जघनशब्देन कटिसामान्यमभिधीयते । स्त्रीकट्याः पुरोभागे तावत्प्रसिद्धो जघनशब्दः कटिसामान्येऽपि क्वचिद् प्रयुज्यमानो दृश्यते 'पीनस्तनजघनायाः' इति । किं पुनरत्र युक्तं कटिसामान्यमिति, कुतः, प्रविशेपेणेह स्त्रीपुंसोरुभयोरैव मर्मोपदेशात् । एवं कटिसामान्यवचनस्यास्य जघनशब्दस्य तद्वत्संस्थित तात्पर्यमिति बुद्धिमारोहति कुकुन्दराधिष्ठानत्वेनाऽऽभिधानात् । तथा च पाद्वजघनवह्निर्भागे इति जघनयोः कटिकपालयोः पार्श्वे इति पार्श्वजघने तयोर्वह्निर्भागेऽधःप्रदेशे, पृष्ठवंशमुभयतः पृष्ठवंशत्वेन विजृम्भितयोनितम्बास्त्वोरुभयपार्श्वे नातिनिम्नेऽधस्तादापृत्त्वेनानतिगम्भीरे कुकुन्दरे आवर्तकारे द्वे शुषिरे इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । नितम्बौ—पूर्वोक्तश्रोणिकाण्डयोरुपरि, आशयच्छादनौ आमाशयपिधायकौ, पार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ पार्श्वमध्ये प्रतिवद्धौ नितम्बौ, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (उल्लहण) । इदमत्रामनन्ति—'श्रोणिगुदयोरुपर्यधो नामेः पकाशयः' इति । श्रोणिकाण्डे प्रत्यवस्थिते च द्वे कपाले किञ्चित् साचीकृते इत्येवोचाम । तदिदानीमूर्ध्वार्धःसंयुक्तयोरनयोर्मध्यगतेनान्तरेण पकाशयस्य योऽशोऽदृष्टिपथमारुरुत्तति तदाच्छादनी तु नितम्बावित्युपदिशन्नाह—श्रोणीति । (हाराणचन्द्र) । पार्श्वसन्धि—अप्रोभागे यत्पार्श्वयोरन्तरं मध्यं तत्प्रतिवद्धौ, जघनपार्श्वमध्ययोरिति पश्चाद्भागपार्श्वभागयोर्यौ मध्यौ वामदक्षिणी भागौ तयोः, कथं स्थितावित्याह—तिर्यग्भूध्वं चेति उपर्युपरि पशुकानां क्रमशुद्धः संघेरपि तिर्यग्भूध्वत्वं; जघनादिति त्यपि लुप्ते पञ्चमीयम्, तेन जघनपश्चाद्भागमाश्रित्य स्थितौ पार्श्वसन्धी, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (उल्लहण) । अधःपार्श्वान्तरेति प्रत्यासत्त्या श्रोणिकाण्डयोरेव अन्तरं द्विद्रमिति पर्यायी । तथा च अधःपार्श्वान्तरप्रतिवद्धौ कुकुन्दरप्रतिवद्धाविति तात्पर्यम् । जघनपार्श्वमध्ययोः कटिकपालयोः पार्श्वे मध्ये च । तथा जघनातिर्यग्भूध्वमूर्ध्वप्रदेशे पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे इति यावत्, सिरामर्मत्वेनोपदेशाद् वर्तमानौ स्नायुसहकृतौ सिराविशेषौ पार्श्वसन्धी नाम इति प्रत्येतव्यम् । (हाराणचन्द्र) । बृहत्थ्यौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरे मृत्युप्रदे च । स्तनमूले लक्ष्यीकृत्य ऋजुशलाकाविधनन्यायेन पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे ।

१ अनुव्याख्यास्यामः. २ हीनदेहश्च. ३ बृहती.

४ स्वापः शोषो वा.

अंसफलक—श्लोपरि पृष्ठनशयावतलत्वात् प्रदेशनियमार्थं श्लोपरि-
लुक्त्वात् । विनसवदे इति श्रौताया अंसद्वयस्य च य संयोग-स त्रि-
त्तत्र सवदे अंसफलके अत्यमर्यादी अर्थात्कुने वैकल्पकारिणी च ।
(इच्छण) । अमयान हि विक्रममात्रात्मकनायसत्रिप्रायमुप
दिशन्ति तन्निमुच्यते त्रिक इति । (हाराणचन्द्र) ।

श्लो के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं ।
प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतल्ल, कुकुन्दर, नितम्ब
और पार्वसंधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म
आते हैं । द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें बृहती, अंसफलक
और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं ।
निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणीप्रदेश (Gluteal
region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म श्रोणी
और दो अंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं ।
अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नीचे श्लो कशेरु से
त्रिकसंधान तक) कोई मर्म नहीं है । श्रोणीप्रदेश के मर्मों
का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से
श्रोणीप्रदेश के एकाध मर्यादित अंग का अर्थ निकालना
कठिन है । इसलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में इच्छण और
हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है । श्रोणीप्रदेश में
उत्तरा और अधरा नितम्बिनी नाडियाँ और धमनियाँ
(Inferior or superior gluteal nerves and arteries)
शुद्धोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudenda), और
शुद्धोपस्थिका नाडी (Sciatic nerve) ये महाव के अंग हैं ।
धमनियों के टूट जाने से रक्तचय, पाण्डु इत्यादि और नाडी
के ऊपर वेध होने से चेशोपयम, स्थांशान ये लक्षण होते
हैं । इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेशोपघात
हो सकता है । ये मर्मों का कुकुन्दरश्लो (Ischial Tuberosity)
अर्धसिमहाशिखर (Greater trochanter) और जघन
कपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है । अर्थात्
इस स्थान में वेध होने से नाडी या धमनी के अनुसार
लक्षण पैदा होंगे । यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम
देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतल्ल—
Sciatic notch; कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोग-
सागर के अनुसार Ante or super or iliac spines);
नितम्ब—Aia of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार
Gluteal region) । अथ पार्वसंधि का प्रश्न रहा । इसके वेध
से श्लोपरिपृष्ठकोष्ठला से सुखु होती है । परं परं इंद्रका-
नुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिए । बाहर की
किसी धमनी के विद्ध होने से श्रोणिगुहा में रक्तसाव नहीं
होगा । अर्थात् पार्वसंधि श्रोणिगुहागत कोई धमनी होनी
चाहिए । इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया
है, पार्वसंधि से अन्तिश्रोणी का धमनी (Common iliac ar-
tery) का प्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य दाया-प्रशाखा
का प्रहण कर सकते हैं ।

ऊर्ध्वभाग के मर्मों में बृहती से अंसफलक के छेपे किनारे
के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and
transverse cervicis) प्रहण किया जा सकता है । अंस
फलक से दक्षिण पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल
सकता है तथापि उससे अंसमाथीरक (spine) के ऊपर का
हिस्सा लेना उचित है । इस विभाग में अधस्थिका
(Suprascapular) नाडी होती है तथा अन्य की पेशियों के

निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की कृशता और
सुखता हो सकती है । अंस से अंसस्थान (Acromioclavicular joint)
के रनागुओं का प्रहण कर सकते हैं । इसी में पृष्ठच्छदा
(Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है । इस
स्थान में वेध होने से स्वभावतः बाहु का काम बंद हो
जाता है । अंशंगहृदय में अंस का कार्य बाहुनिष्ठा का ही
दिपा है—प्रती बाहुनिष्ठा । (शां ४) ।

अथ ऊर्ध्वमूर्धजन्गतानि व्याप्यास्यामः—तत्र
कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये
व्यत्यासेन, तत्र मूर्धना स्वरवैश्वतमरस्राहिता च;
श्रोत्रायाः मुभयतश्चतस्रः सिरा मातृका, तत्र सद्यो
मरणं; शिरोश्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र
चलमूर्धता ॥३६॥

(श्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जड़ के ऊपर के
मर्मों का व्याख्यान करेंगे । कण्ठनाडी के दोनों और व्यत्यास
से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियाँ हैं । वहाँ
पर (वेध होने से) गुंगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के)
रसज्ञान का अभाव होता है । श्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक
चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु
होती है । सिर और श्रीवा के जोड़ पर कृकाटिका नाम का
मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥३६॥

वक्तव्य—शुद्धोपस्थिका—थास का मार्ग, जिसमें स्वर-
यन्त्र और नीचे की आसप्रणाली इन दोनों (Larynx
and trachea) का समावेश होता है । व्यत्यासेन—एक नीला
और एक मन्या एक तरफ और वसा ही दूसरी तरफ—
एक नीला, एक मन्या वैवस्मिन् पादों, अर्थात् नीला अर्थात्
चापरसिमन् पादों । (इच्छण) । नीला मन्ये—सिरामंथी
चतुरस्रले वैकल्पकारिणी च । (इच्छण) । नीला और मन्या
के वेधन से होने वाले सप लक्षण वातिक (Nervous) हैं ।
ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाडियों (Nerves)
खराब होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से
हो सकते हैं । गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा
उत्तरा (Superior laryngeal), कंठरासनी (Glan-
pharyngeal) और जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) ये
नाडियाँ होती हैं तथा उत्तराश्रीविका (Superior thyroid)
और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं ।
यदि नीले और मन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों
के उपस्थान देकर इनका अगविनिश्चय करना हो तो
इनसे उपर क नाडियों का और धमनियों का प्रहण करना
उचित है । मन्या के संबंध में चरक में निम्न यत्न मिलता
है—वक्ष्य वेमये परिशुद्धयमाने न स्पन्देवावा पराश्रितिवि
विधात् । (इन्द्रियस्थान ४) । इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त
लिखते हैं—मन्ये यत्पारंगते धमन्यो । इस वचन का विचार
प्रत्येक शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Carotid
arterios का प्रहण करना पड़ेगा और नीला से Jugular
veins का प्रहण होगा । परं हरिप्रपञ्जी नीला और मन्या से
इन्हीं अंगों का प्रहण करते हैं । नीले और मन्ये वैकल्पकर
मर्म हैं (१९वाँ श्लोक देखो), मन्या (क्याराटिड) धमनी

इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामार्गाणि चतुरश्रुलप्रमाणानि मातृकाः। (दल्हण)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चित करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महाहेतुर्वली वायुः सिराः सखाय-कण्ठराः। मन्यापृष्ठाश्रिता वाताः संशोषायामयेद् बहिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकां नाम श्रुतीयकाकारं तरुणास्थि स्वरयन्त्राधरावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवट्ट और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र वा धिर्यः; द्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणो नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयो-रधोऽरुगोर्वाहृतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्धयं दृष्ट्यपघातो वा; भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावतौ नाम, तत्रान्धयं दृष्ट्यपघाता वा; भ्रुवोः पुच्छान्तय रूपरि कण-ललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणः शङ्खयो-रुपरि केशान्त उन्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पनितशल्यौ वा नोद्धतशल्यः भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाश-मरणं; द्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तपणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरत उप-रिधात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तौऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्र-गतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित

१ भ्रुवोन्तोपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणं.

हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) वधि-रता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छूत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से वेध हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आव-र्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्क्षेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य सुभ जाय तो) शल्य के साथ वचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर वचता है, (शल्य सुभते ही) शल्य को निकालने से नहीं वचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्क्षेपवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, वालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रगत सैतीस मर्मा का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विधुर—लायुमर्मणी किञ्चिन्निष्णाकारे वैकल्यकारिणी च। (दल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां पोडशावध्याः' करके ये सिराएँ चतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म चतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारणी। इस स्थान पर पश्चिम-कणिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से वधिरता होने की संभावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्ण-नाडी की खराबी होने से भी वाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फणो—द्राणमार्गस्य द्वयोः पाश्वर्योरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (दल्हण)। अष्टांग-हृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणावुभयतो द्राण-मार्गं श्रोत्रपथानुगौ। अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणी ॥ इसकी टीका में अरण्यदत्त लिखते हैं—द्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गताभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविवि नाम। यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Oridice of the auditory tube), अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं।

भंसफन्के—श्रोत्रपरि पृष्ठबंधस्तादवस्ताव प्रदेगनियमार्थं श्रोत्रोपरी-
स्तुत्तम् । त्रिकसंज्ञं इति प्रोक्ताया कमद्वयस्य ष चः संयोगः स त्रिकः,
एत्र सवदे कंसफन्के, अस्विसमर्द्धी कर्णाह्वने वैकल्पकारिणी च ।
(इहलक्षण) । कर्मणं हि त्रिकमं नाद्यसंगमकामसत्रिावमुप-
रिच्छन्ति तद्विमुक्तये त्रिक इति । (हारागचन्द्र) ।

शुष् के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं ।
प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतल्य, कुकुन्दर, नितम्ब
और पारवंमधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म
आते हैं । द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें शृङ्गी, अंसफल्क
और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं ।
निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या धोणीप्रदेश (Gluteal
region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म प्रीवा
और दो अंसफल्क इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं ।
अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नौवें शुष् केशर से
त्रिकसंघान तक) कोई मर्म नहीं है । धोणीप्रदेश के मर्मों
का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से
धोणीप्रदेश के पृक्का मर्यादित अंग का अर्थ निकालना
कठिन है । हमलियु प्रत्येक मर्म के संबंध में इहलक्षण और
हारागचन्द्र की टीका उपर दी हुई है । धोणीप्रदेश में
उपरा और अधरा नितंबिनी नाडियों और धमनियों
(Inferior or superior gluteal nerves and arteries)
गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudendal) और
शुभ्रस्था नाडी (Sciatic nerve) ये महत्व के अंग हैं ।
धमनियों के टूट जाने से रक्षचय, पाण्डु इत्यादि और नाडी
के उपर वेध होने से चेटोपरम, स्पर्शाज्ञान ये लक्षण होते
हैं । इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेटोपचात
हो सकता है । ये मर्मोंग कुकुन्दरकूट (Ischial Tuberosity)
उर्ध्वस्थिमहाशिरार (Greater trochanter) और अधन-
कपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है । अर्थात्
इस स्थान में वेध होने से नाडी या धमनी के अनुसार
लक्षण पैदा होंगे । यदि प्रत्येक मर्म के लियु स्वतन्त्र नाम
देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतल्य—
Sclatio notch; कुकुन्दर—ischial tuberosity (रसयोग-
सागर के अनुसार Anterior superior iliac spine);
निम्ब—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार
Gluteal region) । अब पारवंसंधि का प्रश्न रहता । इसके वेध
से श्लेहितपूर्णकोष्ठता से सृष्ट्य होती है । यहाँ पर संदर्भो-
नुसार कोष्ठ का अर्थ धोणिगुदा करना चाहिये । बाहर की
किन्नी धमनी के विद्ध होने से धोणिगुदा में रक्षचाव नहीं
होगा । अर्थात् पारवंसंधि धोणिगुदागत कोई धमनी होनी
चाहिये । इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया
है, पारवंसंधि से अधिधोणी का धमनी (Common iliac ar-
tery) का प्रदूषण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा-प्रशाखा
का प्रदूषण कर सकते हैं ।

ऊर्ध्वमर्म के मर्मों में शृङ्गी से अंगफल्क के छपे किनारे
के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and
transverse vessels) प्रदूषण किया जा सकता है । अंस-
फल्क से वक्षसि पूरे फल्क (Scapula) का अर्धं निकल
जाता है तथापि उनमें अंगमाथीरज (spine) के ऊपर का
दिएगा उभय उचित है । इस विभाग में ऊर्ध्वस्थिका
(Suprascapular, नाडी होती है तथा अंग की पेशियों के

निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की कृशता और
सुखता हो सकती है । अंस से अंससंधान (Shoulder joint)
के र्नायुओं का प्रदूषण कर सकते हैं । इसी में शुष्कपदा
(Trepanosis) पेशी के निवेश का समावेश होता है । इस
स्थान में वेध होने से स्वभावतः बाहु का काम बंद हो
जाता है । अष्टांगहृदय में अंस का कार्य बाहुक्रिया का ही
दिया है—अग्नी बाहुक्रियाकर्त्री । (शा० ४) ।

अत्र ऊर्ध्वमूर्ध्वजभ्रगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र
कण्ठनाडीमुमयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मग्ये
व्यत्यासेन, तत्र मूर्कता स्वरवैष्टमरसप्रादिता च;
प्रीवायामुमयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सचो-
मरणं; शिरोप्रीवयोः सन्धाने कृत्वाटिके नाम, तत्र
चलमूर्धता ॥३६॥

(प्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जठु के उपर के
मर्मों का व्याख्यान करेंगे । कण्ठनाडी के दोनों ओर स्थित्या
से दो नीला और दो मग्या नामक चार धमनियाँ हैं । यहाँ
पर (वेध होने से) गूँगापान, स्वर में विकृति और (जिह्वा के)
रसज्ञान का अभाव होता है । प्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक
चार चार सिराएँ हैं, यहाँ पर (वेध होने से) तत्काल सृष्ट्य
होती है । सिर और प्रीवा के जोड़ पर कृत्वाटिका नाम का
मर्म है, यहाँ पर (वेध होने से) सिर झिलना है ॥३१॥

वक्ष्य—शठनागे—वास का मार्ग, जिसमें स्वर-
यन्त्र और नीचे की वासप्रणाली इन दोनों (Larynx
and trachea) का समावेश होता है । व्यत्यासन—एक नीला
और एक मग्या एक तरफ और वसा ही दूसरी तरफ—
एक नीवा, एक मग्या वैशरिम्बु पत्रों, मग्या नीला मग्या मग्या
चावररिम्बु पार्थे । (इहलक्षण) । नीचे मग्ये—शिरामग्यो
चतुरगुले वैकल्पकारिणी च । (इहलक्षण) । नीला और मग्या
के वेधन से होने वाले सब लक्षण वातिक (Nervous) हैं ।
ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाडियों (Nerves)
वराव होने से या . इनकी धमनियों का नाश होने से
हो सकते हैं । गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा
उपरा (Superior laryngeal), कंठरासनी (Glasse-
pharyngeal) और जिह्वामूत्थिनी (Hypoglossal) ये
नाडियाँ होती हैं तथा उपराप्रथिका (Superior thyroid)
और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं ।
यदि नीले और मग्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों
के उप स्थान देखर इनका अंगविनिश्चय करना हो तो
इनसे उपर के नाडियों का और धमनियों का प्रदूषण करना
उचित है । मग्या के संबंध में चरक में निम्न वर्णन मिलता
है—स्य चर्म ये वरिष्कदमते न स्यदेवर्णः, परमुरिति
स्थानः । (इन्द्रियस्थान ४) । हमकी टीका में चक्रपाणिदत्त
लिखते हैं—मग्ये वक्षसंधिगे धमनी । इस वर्णन का विचार
प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से करने पर मग्या से Carotid
arterio- का प्रदूषण करना परेगा और नीला से Jugular
veins का प्रदूषण होगा । एं० हरिप्रकाशजी नीला और मग्या से
हृदी अंशों का प्रदूषण करते हैं । नीले और मग्ये वैशरिम्बुकर
मर्म हैं (१९वाँ श्लोक देखो) । मग्या (क्वाराटिड) धमनी

इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृवा—सिरामार्गाणि चतुरंगुलप्रमाणाणि मातृवाः। (दृष्टव्य)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चित करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—नद्यास्तुर्वली वायुः सिराः सलाह-कण्टराः। मन्यापृष्ठाग्रिता वायाः संयोग्यायासवेद वहिः ॥ कृत्वाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृत्वाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृत्वाटिकं नाम अतुरीयाकाकारं तरुपादिव स्वरयन्त्राधरावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवट्ट और कृत्वाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृत्वाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र वा धिर्यं; घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिवक्षे अभ्यन्तरतः फणो नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयो रधोऽरुणोर्थाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्र्यं दृष्ट्यघघातो वा; भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावतौ नाम, तत्रान्ध्र्यं दृष्ट्युपघाता वा; भ्रुवोः पुच्छान्त्य रूपरि कण-ललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणः शङ्खयो-रुपरि केशान्त उन्नेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पणितशल्यौ वा नोद्धतशल्यः भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्पेवत्; पश्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाश-मरणं; घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वास्तपणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणः मस्तकाभ्यन्तरत उप-रिघात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावतौऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सर्वात्रिशदूर्ध्वजत्र-गतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित

१ भ्रुवोरुपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणं.

हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बधि-रता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छुत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से वधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आव-र्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्पेव नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य सुभ जाय तो) शल्य के साथ वचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर वचता है, (शल्य चुभते ही) शल्य को निकालने से नहीं वचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्पेवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, वालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत संतीस मर्मा का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विधुर—लातुमार्गो किञ्चिन्निघ्नाकारं वैकल्पकारिणी च। (दृष्टव्य) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'हे विधुरयोः, एवं श्रोत्रायां गोदशवध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारणी। इस स्थान पर पश्चिम-कणिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से बधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा Tympanum विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्ण-नाडी की खराबी होने से भी बाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फण—घ्राणमार्गस्य द्वयोः पाश्वर्योरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्पकारिणी च। (दृष्टव्य)। अष्टांग-हृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणादुभयतो घ्राण-मार्गं श्रोत्रपथानुगौ। अन्तर्गलस्थितौ वेधादन्वविज्ञानहारिणी ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—घ्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम। यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Orifice of the auditory tube ; अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं।

अंसफलक—श्लोपरि पृष्ठवशात्पावत्वात् प्रदेशनियमार्थं श्लोपरि-
स्तुक्तम् । त्रिकर्षबंध इति श्लोकाया अंसद्वयत्वं च यत्सोमं स निजः,
तत्र सन्धेः अंसफलके, अरिचमर्माणी कर्णाहुते वैकल्पकारिणी च ।
(दहृण) । अंसगत हि त्रिकमताशरीरफलाद्राश्रित्यानुप-
रिश्चिन्ति तन्निमित्तम् इति श्लो । (हाराणचन्द्र) ।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं ।
प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरण, कुकुन्दर, नितम्ब
और पार्वसंधि ये आठ थाने एक एक पक्ष के चार चार मर्म
आते हैं । द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें वृहती, अंसफलक
और अंस ये छः थाने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं ।
निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणीप्रदेश (Gluteal
region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म श्रोणी
और दो अंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं ।
अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नीचे पृष्ठ कक्ष से
त्रिकसंधान तक) कोई मर्म नहीं है । श्रोणीप्रदेश के मर्मों
का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से
श्रोणीप्रदेश के एकाक्ष मर्यादित अंग का अर्थ निकालना
करिन है । इसलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में दहृण और
हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है । श्रोणीप्रदेश में
उपरा और अधरा नितम्बिनी नाडियाँ और घमनियाँ
(Inferior or superior gluteal nerves and arteries)
शुदीपरियका नाडी और घमनी (Internal pudendal) और
गुभ्रिया नाडी (Sciatic nerve) ये महत्व के अंग हैं ।
घमनियों के हट जाने से रक्तचय, पाण्डु इत्यादि और नाडी
के उपर वेध होने से चेटोपरम, स्वर्शाशन ये लक्षण होते
हैं । इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेटोपघात
हो सकता है । ये मर्मोंग कुकुन्दरपट्ट (Ischial Tuberosity)
उर्ध्वसिमहाशिरार (Greater trochanter) और वचन-
कपाल का उपर का किनारा इनके बीच में होता है । अर्थात्
इस स्थान में वेध होने से नाडी या घमनी के अनुसार
लक्षण पैदा होंगे । यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम
देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतरण—
Sciatic notch, कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोग-
सागर के अनुसार Anteior superior iliac spines) ;
निम्न—Aia of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार
Gluteal region) । अथ पार्वसंधि का प्रश्न रहा । इसके वेध
से लोहितपूणकोष्ठता से श्लुष्ट होती है । यहाँ पर संदर्भ-
नुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिए । बाहर की
किसी घमनी के विद्ध होने से श्रोणिगुहा में रक्तचाव नहीं
होगा । अर्थात् पार्वसंधि श्रोणिगुहागत कोई घमनी होनी
चाहिए । इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया
है, पार्वसंधि से अभिभ्रोजी का घमनी (Common iliac ar-
tery) का ग्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा प्रशाखा
का ग्रहण कर सकते हैं ।

ऊर्ध्ववर्ग के मर्मों में वृहती से अंसफलक के छेदे किनारे
के पास होने वाली घमनियों का (Subscapular and
transverse cervical) ग्रहण किया जा सकता है । अंस
फलक से यद्यपि पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल
सकता है तथापि उससे अंसप्राचीरक spine के उपर का
हिस्सा लेना उचित है । इस विभाग में अध्रसिका
(Suprascapular) नाडी होती है तथा अंस की पेशियों के

निवेश होते हैं, जिनके वेधन से वायु की श्रवावा और
सुखना हो सकती है । अंस से अंसतरंधान (, older joint)
के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं । इसी में पृष्ठपक्ष
(Triceps) पेशी के निवेश का समावेश होता है । इन
स्थान में वेध होने से स्वभावतः वायु का काम बंद हो
जाता है । अर्थात्हृदय में अंस का कार्य वायुक्रिया का ही
दिया है—अनी वायुक्रियाशील । (शां ४) ।

अथ ऊर्ध्वमूर्धजभ्रगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र
फण्डनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो दे नीले द्र च मन्ये
व्यात्यासेन, तत्र मूर्कता स्वरवैद्यतमरसग्राहिता च;
श्रोण्यायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृका, तत्र सयो
मरणं; शिरोश्रीघयोः सन्धाने वृकाटिके नाम, तत्र
चलमूर्धता ॥३६॥

(श्रोणा के मर्म—) अथ, इसके बाद जयु के उपर के
मर्मों का व्याख्यान करेंगे । फण्डनाडी के दोनों ओर स्यन्याम
से दो नीला और दो मन्या नामक चार घमनियाँ हैं । वहाँ
पर (वेध होने से) गूँगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के)
रसज्ञान का अभाव होता है । श्रोणा के दोनों ओर मातृका नामक
चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल श्लुष्ट
होती है । सिर और श्रोणा के जोड़ पर वृकाटिका नाम का
मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥३६॥

वच्छय—रण्डनानी—श्रास का मर्म, जिसमें स्वर-
पन्न और नीचे की श्रासप्रणाली इन दोनों (Larynx
and trachea) का समावेश होता है । व्याप्येन—एक नीला
और एक मन्या एक तरफ और बसा ही दूसरी तरफ—
एक नीला, एक मन्या वैरसिन्धु पार्वत, अर्थात् नीला मन्या मन्या
बापरसिन्धु पार्वत । (दहृण) । नीले मन्ये—सिरामर्मों
चतुरारुके वैकल्पकारिणी च । (दहृण) । नीला और मन्या
के वेधन से होने वाले सब लक्षण धातिक (Nervous) हैं ।
ये धातिक लक्षण स्वरपन्न और जिह्वा की नाडियाँ (Nerves)
धराव होने से या इनकी घमनियों का नाश होने से
हो सकते हैं । गले में जिह्वा और स्वरपन्न की स्वरपन्ना
उत्तरा (Superior laryngeal), कठरासनी (Glass-
pharyngeal) और जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) ये
नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरश्रीविका (Superior thyroid)
और श्लुजिह्विका Lingual, ये घमनियाँ भी होती हैं ।
यदि नीले और मन्ये इनके वेध स होने वाले परिणामों
के उप ध्यान देकर इनका अगविनिश्चय करना हो तो
इनसे उपरक नाडियों का और घमनियों का ग्रहण करना
उचित है । मन्या के संध्य में चरक में निम्न वचन मिलता
है—वरय सेमन्ये परिहृत्सन्धाने न स्पन्देयतां, पराहृति
विभात् । (इन्द्रियस्थान ४) । इसकी टीका में चक्षुपाणिदत्त
लिखते हैं—मन्ये गलपारवर्गते धमन्यो । इस वचन का विचार
प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Car. Ji
arteries का ग्रहण करना पड़ेगा और नीला से Jugular
veins का ग्रहण होगा । वं हरिप्रपञ्चनी नीला और मन्या से
हृन्हीं अर्गों का ग्रहण करते हैं । नीले और मन्ये वैकल्पकर
मर्म हैं (१९वाँ श्लोक देखो), मन्या (क्यारोटिड) घमनी

इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगत्रिनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामार्गाणि चतुरंगुलप्रमाणाणि मातृकाः। (दल्हण)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चित करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महाहेतुर्वली वायुः सिराः सलायु-कण्टराः। मन्यापृष्ठाग्रिता वासाः संशोष्यायामवेद् वहिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अतुरीयकाकारं तरुणास्थि स्वरयन्त्राधारावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवट्ट और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र वा विर्यं; प्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिवद्धं अभ्य-तरतः फणो नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयो-धोऽल्पोर्वाहृतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्र्यं दृष्ट्यपघातो वा; भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ नाम, तत्रान्ध्र्यं दृष्ट्युपघाता वा; भ्रुवोः पुच्छान्त्य रूपरि कण-ललाटयामध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयो-रुपरि केशान्त उन्नेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पणितशल्यौ वा नोद्धतशल्यः भ्रुवोमध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्पेवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाश-मरणं; प्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तपणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरत उप-रिष्ठात् सिरासन्धिषसन्निपातो रोमावर्तौ अधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सर्वात्रिशदूर्ध्वजत्रु-गतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित

१ भ्रुवोरुपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणं.

हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) वधि-रता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से वेध हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आव-र्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्पेव नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य जुम जाय तो) शल्य के साथ वचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर वचता है, (शल्य जुमते ही) शल्य की निकालने से नहीं वचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्पेवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, वालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत सर्वात्रि-सर्मा का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विधुर—लायुमर्मणी किञ्चिन्निष्ठाकारे वैकल्यकारिणी च। (दल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधु-रयोः, एवं श्रोत्रायां पोडशावध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अथस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी। इस स्थान पर पश्चिम-कणिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से वधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा Tym-panum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्ण-नाडी की खराबी होने से भी वाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फण—प्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (दल्हण)। अष्टांग-हृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणावुभयतो प्राण-मार्ग श्रोत्रपथानुगौ। अन्तर्गलस्थितौ वैधाद्रन्ध्रविज्ञानहारिणी ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—प्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविवि नाम। यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Orifice of the auditory tube) अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं।

अंसफलक—श्लोपरि पृष्ठवंशस्थापनत्वाद् प्रदेशनिर्णयार्थं श्लोपरि-
लुक्तम् । त्रिसंवेद इति शीघ्रया असदस्य च यः संयोगः स त्रिकः,
एव मन्वेद अंसफलके, अस्थिमर्मी अर्थाद्भूने वैकल्पकारिणी च ।
(दरुहण) । अर्धगर्भं हि त्रिकमंसावर्णसंज्ञाप्रसन्नपातमुप-
दिशन्ति तस्मिन्मुच्यते त्रिक इति । (हाराणचन्द्र) ।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं ।
प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरण, कुकुन्दर, नितम्ब
और पारवसंधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म
आते हैं । द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें वृहती, अंसफलक
और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं ।
निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणीप्रदेश (Gluteal
region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म श्रोणा
और दो अंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं ।
यद्यपि इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नीचे पृष्ठ करील से
त्रिकसंधान तक) कोई मर्म नहीं है । श्रोणीप्रदेश के मर्मों
का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से
श्रोणीप्रदेश के एकाध मर्यादित अंग का अर्थ निकालना
कठिन है । इमलिष्ट प्रत्येक मर्म के संबंध में दरुहण और
हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है । श्रोणीप्रदेश में
उत्तरा और अधरा नितम्बिनी नाडियाँ और धमनियाँ
(Inferior or superior gluteal nerves and arteries)
गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudendal) और
गुदप्रस्था नाडी (Sciatic nerve) ये महाश्वेद के अंग हैं ।
धमनियों के टूट जाने से रक्तचय, पाण्डु इत्यादि और नाडी
के ऊपर वेध होने से चेटोपरम, स्पर्शज्ञान ये लक्षण होते
हैं । इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेटोपघात
हो सकता है । ये मर्मों कुकुन्दरकूट (Ischial Tuberosity)
ऊर्ध्वस्थिमहाशिखर (Greater trochanter) और लघन-
कपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है । अर्थात्
इस स्थान में वेध होने से नाडी या धमनी के अनुसार
लक्षण पैदा होंगे । यदि प्रत्येक मर्म के लिष्ट स्वतन्त्र नाम
देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—
Sciatic notch, कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोग-
सागर के अनुसार Anterior superior iliac spine),
नितम्ब—Aa of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार
Gluteal region) । अब पारवसंधि का प्रश्न रहा । इसके वेध
से लोहितपूर्णकोष्ठता से सृष्टु होती है । यहाँ पर संदर्भ-
नुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिये । बाहर की
किसी धमनी के विद्ध होने से श्रोणिगुहा में रक्तछाव नहीं
होगा । अर्थात् पारवसंधि श्रोणिगुहागत कोई धमनी होनी
चाहिए । हम इति से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया
है, पारवसंधि से अभिश्रोणी का धमनी (Common iliac Ar-
tery) का ग्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा-प्रशाखा
का ग्रहण कर सकते हैं ।

ऊर्ध्ववर्ग के मर्मों में वृहती से अंसफलक के छेदे किनारे
के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and
transverse cervical) ग्रहण किया जा सकता है । अंस-
फलक से यद्यपि पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल
सकता है तथापि उससे अंसमाधीक (spine) के ऊपर का
हिस्सा छेदा उचित है । इस विभाग में अध्यासिका
(Suprascapular) नाडी होती है तथा अंस की पेशियों के

निवेश होते हैं, जिनके वेधन से वाहु की कृशता और
सुखता हो सकती है । अंस से अंसबंधन (Acromioclavicular joint)
के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं । इसी में पृष्ठच्छदा
(Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है । इस
स्थान में वेध होने से स्वभावतः वाहु का काम बंद हो
जाता है । अर्थात्ग्रहण में अंस का कार्य वाहुक्रिया का ही
दिया है—असौ वाहुक्रियारो । (शा० ४) ।

अत्र ऊर्ध्वमूर्ध्वजश्रुतानि व्याख्यास्यामः—तत्र
कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये
व्यत्यासेन, तत्र मूकता स्वरवैकृत्यमरसप्राहिता च,
प्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सयो
मरणः शिरोप्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र
चलमूर्धता ॥३६॥

(श्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जगु के ऊपर के
मर्मों का व्याख्यान करेंगे । कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यत्यास
से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियाँ हैं । वहाँ
पर (वेध होने से) गुँगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के)
रसज्ञान का अभाव होता है । श्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक
चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तबाल सृष्टु
होती है । सिर और श्रीवा के जोड़ पर कृकाटिका नाम का
मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥३६॥

वक्ष्य—कण्ठनाडी—श्वास का मार्ग, जिसमें स्वर-
यन्त्र और नीचे की श्वासप्रणाली इन दोनों । Larynx
and trachea का समावेश होता है । व्यत्यासेन—एक नीला
और एक मन्या एक तरफ और बसा ही दूसरी तरफ—
एका नीला, एका मन्या वैकृतिन् पार्श्वे, अन्वा नीला अन्वा हन्वा
नापरतिन् पार्श्वे । (दरुहण) । नीले मन्ये—सिरामर्मी
चतुरगुले वैकल्पकारिणी च । (दरुहण) । नीला और मन्या
के वेधन से होने वाले सब लक्षण घातिक (Nervous) हैं ।
ये घातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाडियों (Nerves)
धराच होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से
हो सकते हैं । गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा
उत्तरा (Superior laryngeal), कंठरासनी (Glossopharyngeal)
और जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) ये
नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरप्रीविका (Superior thyroid)
और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं ।
यदि नीले और मन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों
के उप ध्यान देकर इनका अगविनिश्चय करना हो तो
इनसे उपरक नाडियों का और धमनियों का ग्रहण करना
उचित है । मन्या के सवध में शरक में निम्न धमन मिलता
है—वक्ष्य वे-मन्ये परिपूर्यमाने न रणदेवार्वा, परावृत्ति
विपात् । (इन्द्रियस्थान ४) । इसकी टीका में चक्रपाणिद्व
लिखते हैं—मन्ये गलपारंगने धमन्यो । इस लघन का विचार
प्रत्यक्ष शारीर की इति से करने पर मन्या से Cerv. 1st
arteries का ग्रहण करना परेगा और नीला से Jugular
veins का ग्रहण होगा । परं हरिप्रपञ्चनी नीला और मन्या से
इन्हीं अंगों का ग्रहण करते हैं । नीले और मन्ये वैकल्पकर
मर्म हैं (१९वें श्लोक देखो); मन्या (क्याोटिड) धमनी

इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मनुष्य के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामार्गसि चतुरंगुलप्रमाणानि मातृकाः। (दृष्टव्य)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपञ्जी समझते हैं, जैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मनुष्य और मातृका की ठीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मनुष्यस्थान भी कहते हैं—महाहितुर्वली वायुः सिराः सखायु-कण्डराः। मनुष्यपृष्ठाश्रिता वाहाः संशोष्यायामवेद वहिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम श्रुतुरीयकाकारं तरुणास्थि स्वरयन्त्राधारावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवट्ट और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपुष्टोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र वा धिर्यं; द्वाणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिवद्धे अभ्यन्तरतः फणो नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयो-रधोऽन्वोर्वाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्धं दृष्ट्यपघातो वा; भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावतौ नाम, तत्रान्धं दृष्ट्यपघाता वा; भ्रुवोः पुच्छान्त्यरुपरि कण-ललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयो-रुपरि केशान्त उन्नेपो नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पणितशल्यौ वा नोद्धतशल्यः भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्तेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाश-मरणं; द्वाणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तपणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरत उप-रिघात् सिरासन्धि सन्निपातो रोमावतौऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सर्वात्रिंशद्दूर्ध्वजत्र-गतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित

१ भ्रुवोरन्तोपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्रुतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणं.

हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) वधि-रता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से वेध हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आव-र्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्तेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य चुभ जाय तो) शल्य के साथ वचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर वचता है, (शल्य चुभते ही) शल्य को निकालने से नहीं वचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्तेपवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, वालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत संतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विधुर—खायुमर्मणी किञ्चिन्निघाकारे वैकल्यकारिणी च। (दृष्टव्य) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधु-रयोः, एवं ग्रीवायां योडशावध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अथस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी। इस स्थान पर पश्चिम-कणिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से वधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा Tym-panum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्ण-नाडी की खराबी होने से भी वाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फण—द्वाणमार्गस्य द्वयोः पाश्वर्योरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणो, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (दृष्टव्य)। अष्टांग-हृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणावयवतो द्वाण-मार्ग श्रोत्रपथानुगौ। अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्दन्ध्वविज्ञानहारिणी ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—द्वाणमार्गस्थोमयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविवि नाम। यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Orifice of the auditory tube, अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं।

इसके ऊपर के भाग में तथा उसके सामने की नासाप्राचीर में गन्धनादी (Olfactory nerve) की शाखा-प्रशाखाएँ फैली रहती हैं, जिनके द्वारा गन्धग्रहण होता है। कर्ण—Olfactory regions of the nasal cavities; अर्धाङ्गी—सिरामर्मरो अर्धाङ्गी कुले वैकल्पकरे च। (दृहण)। अर्धो-सम्बन्धिने पुष्पान्द्योर्वाहान्वयोप, अन्वेषेथ बहिरपाद्मी मर्मयो। (इन्दु)। Zygomatico, temporal vessels at the outer corner or canthus of the eye। आङ्गी—सन्धिममयो अर्धाङ्गीके वैकल्पकारिणी च। (दृहण)। अर्धोपरि—अर्धो पुष्पान्द्योर्परि। (अरुणदत्त)। गण्ठास्य, पुरकपाल और जतुकास्य के सन्धिस्यान (Junction of frontal, malar and sphenoid bone) पर यह मर्म होता है। अङ्गी—अस्त्रिमर्मयो अर्धाङ्गीके (संघ-प्रणहरे च)। (दृहण)। शङ्खमर्म शङ्खकास्य (Temporal bone) का वह हिस्सा है, जिसको कनपटी (Temples) कहते हैं। इस प्रदेश के ऊपर अनुशङ्खा उत्पाना (Superficial temporal) और शङ्खकास्य के भीतरी पृष्ठभाग पर मस्तिष्कवृत्तिसगा मध्यमा (Middle meningeal) नामक धमनियाँ होती हैं। शङ्खक-प्रदेश पर आघात होने से स्तब्धता के कारण तत्काल मृत्यु हो सकती है, किंवा भीतरी धमनी टूटने के कारण मस्तिष्क में एकत्रावबन्ध सम्पीडन (Compression) से मृत्यु होती है। सन्धि—स्नायुममयी अर्धाङ्गीके विद्यत्यप्राणहरे च। (दृहण)। इससे शङ्खस्यान की सावरण पेशी (Temporal fascia and muscle) का बोध हाता है। स्वपनी—सिरामर्म अर्धाङ्गीके विद्यत्यप च। (दृहण)। इसको कूर्च भी कहते हैं—कूर्च मली अर्धोमध्ये। (अमरकोश)। अँप्रीती में इसका ग्लबेला (Glabella) कहते हैं। इस स्थान पर ललाटिका सिरा (Frontal vein) या दोनों ओर की ललाटिका सिराओं को जोड़ने वाली सिरा (Nasal arch) होती है। स्वपनी के पीछे ललाटकौटर (Frontal sinus) होते हैं। सोमन्दा—इमानि सन्धिममयो चतुरङ्गप्रमाणाणि बालान्तरप्राणहरेण च। (दृहण)। ये वे ही सीमन्त (Sutures of the cranium) हैं, जिनका वर्णन पाँचवें अध्याय के १४ वें सूत्र में सीवनी करके किया गया है। सिर के ऊपर आघात होने निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—शिरस्यमिहते मन्यारसम्मारितचतुर्विभ्रममोहवैहन्नेनानाशरासभासइनुमरुमृग्राहदत्वादिभिमीननगण्टस्पन्दनमृमयाणावाहावचररहमिचरनकीप्रदत्तवेदिनि। (चरक, सिद्धि ९)। ये लक्षण मस्तिष्कसंघटन (Cerebral concussion); मस्तिष्कसंपीडन (Compression), मस्तिष्कप्रकोप (Irritation) के कारण उत्पन्न होते हैं और इन्हीं से क्षालान्तर में मनुष्य की मृत्यु होती है। शङ्खक—इमानि सिराममयो चतुरङ्गप्रमाणाणि। (दृहण)। मस्तिष्कमूल में Governors और Intercavernous sinus करके जो सिरासन्धिपात है, वही शङ्खक है। इनमें आँखों की सिराएँ सीधी मिलती हैं और नासिकाएँ की अपत्यक्षतया मिलती हैं। इसका आकार भी चतुष्कोण होता है। मिर के ऊपर, मिर के पीछे, हनु के ऊपर जोर का आघात होने से कटोटी मृदापरिमम हाता है, जिसमें श्रृङ्गाक तथा मुपुत्राधीयं इत्यादि विद्योगं हाकर मृत्यु होती है। अर्धाङ्गद्वय में श्रृङ्गाक धमनी मर्म बहताय है। अधिपति—मस्तकाम्बन्धरो परिहृदिभि सम्भरसाब्दन्तोर्भमित्थं, सिरामर्मयो मन्त्रिणो

रोमावर्त, बहिरस्य लघ्वणुपरिहृद्योमावर्त, एतत् सन्धिमर्म अर्धाङ्गीप्रमाणं च। (दृहण)। इसका मतलब यह है कि अधिपति मर्म खोपकी के भीतर सिराओं के सन्धिपात से बना हुआ है। यह सन्धिमर्म है, इसका अर्थ सिरासन्धिमर्म अस्थि-सन्धिमर्म नहीं। और इस आभ्यन्तरीय मर्म की बाहर की निशानी (Surface marking) रोमावर्त, याने जहाँ पर सिर के बालों में आवर्त दिखाई देता है, वह स्थान है। इस वर्णन के अनुसार अधिपति मर्म से आधुनिक शारीर वर्णन की दृष्टि से मस्तिष्कवृत्ति में पीछे की ओर मिलने वाले सिरासन्धि सन्धिपात (Confluence of sinuses या Torcular Herophili) का बोध होता है। ३०-३० गणनाय सेनजी प्रत्यक्षशारीर के सिराविभाग में अधिपति का यही अर्थ देते हैं—मदासिरावर्तनाम पूर्वोक्तानां पद्मानामपि मिरासन्धि सन्धिपातिकाय पश्चिमपक्षेणस्वाभ्यन्तरगतकेन्द्रस्थ। तमधिपतिप्रदेश सधोमर्गक मर्मैति वर्णयन्ति प्राञ्ज ॥ परन्तु अस्थिविभाग में पश्चिमकपाल और पार्श्वकपालों के सन्धिस्यान (Posterior fontanelle) को अधिपति मर्म बताया है—अस्थिमध्यसीमन्त्योस्तु मन्धिरदल शिवरन्धमधिपतिरन्ध वा नाम तदाख्यममंभारणद ॥ यद्यपि ये दोनों स्थान बहुत समीप हैं, तथापि शिवरन्ध में सिराओं के सन्धियों का सन्धिपात न होने से उसको अधिपति मर्म मानना उचित नहीं है। इस मर्म का स्थान लुब्ध नीचा गुद्दी (अबट्ट) के पास भीतर होता है। इसके सिवाय शिवरन्ध का ग्रहण पाँच सीमन्तमर्मों में हो जाता है। शिवरन्ध की अर्धेका मधुरभ्र (Anterior fontanelle) अधिक महत्व का होने पर भी उसका उल्लेख मर्मों में नहीं, इसका कारण यह है कि ये रन्ध सीमन्तों में आ जाते हैं। इसलिए अधिपति मर्म से शिवरन्ध न समझकर महासिरावर्त ही समझना उचित है। इस तरह सिर में कुल तेईस मर्म होते हैं। इन मर्मों से सिर का कोई हिस्सा नहीं बचा है। इनके निमित्त सम्पूर्ण सिर का वर्णन मिलता है। जैसे कि चरक के त्रिमयीय अध्याय में कहा है, वैसे ही सम्पूर्ण सिर एक मर्म कहने से भी सिर का वही एक महत्त्व रहता जो यहाँ पर तेईस मर्मों के वर्णन से रहता है। इसलिए इस अध्याय के प्रथम सूत्र के वक्तव्य में लिखा है कि मर्मों के वर्णन के फायदे शारीररक्षा और दाखबर्तन की दृष्टि से जैसे होते हैं, वैसे ही शारीर अर्धविनिश्रय की दृष्टि से भी होते हैं।

भवन्ति चात्र—

ऊर्ध्वः शिरांसि विटपे च सकदापाद्यै

एककमहुलमित स्तनपूर्वमूलम्।

विद्यथहुलद्वयमित मणिरन्धगुल्फं

श्रोण्येव जानु सपरं सह पूर्वपश्याम् ॥३८॥

हृदस्तिक्वृचगुदनाभि यदन्ति मूर्ध्नि

चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे।

तानि स्वपाणितलशुद्धितसमितानि

शोपायेधि परिस्तरतोऽनुलार्थम् ॥ ३९ ॥

(मर्मों के परिमाण—) ऊर्ध्व, श्वाशिर, विटप, कटा-
पर ये (आठ मर्म) एक एक अङ्गुलपरिमित, स्तनमूल, मणि-
बन्ध और गुल्फ ये (दो मर्म) दो अङ्गुलपरिमित, दो
हृपर और दो जानु तीन अङ्गुलपरिमित जानने चाहिये ॥३८॥

हृदय, वस्ति, कूच, गुद, नाभि, सिर के चार (शृंगाटक) और पाँच (सीमन्त) तथा गले के दस और दो (दो मन्या, दो नीला और आठ मातृका, ये उन्तीस) मर्म मुष्टिपरिमित होते हैं। शेष (छप्पन) मर्मों को अर्धाङ्गुलपरिमित समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—शिरांसि—कूर्चशिरांसि । कचपाश्वर्ये—रुक्मधरे इत्यर्थः । सपरम्—द्वितीयजानुसहितं जानु । स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि—चतुरङ्गुलप्रमाणानीत्यर्थः । (डल्हण) । मुष्टिप्रमाणानि । (हाराण-चन्द्र) । कई आचार्य शेष छप्पन मर्मों का प्रमाण तिल या चावल के समान बताते हैं—अत्राशत् पट् च मर्माणि तिलव्रीहिसमान्यपि । इष्टानि मर्माण्यन्येषाम् । (अष्टांगहृदय) ।

एतत्प्रमाणमभिवोद्य चदिन्त तज्ज्ञाः

शास्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम् ।

पार्श्वभिधातितमपीह निहन्ति मर्म

तस्माद्भिर्मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥ ४० ॥

(प्रमाण कथन का प्रयोजन—) इन प्रमाणों को ध्यान में रख करके (मर्मस्थानों को) छोड़कर शास्त्र के द्वारा कर्म करना चाहिए, ऐसा शल्यचिकित्सक कहते हैं। (चूँकि) आस-पास चोट लगने पर भी मर्मघात करता है, इसलिए मर्मस्थान को (शास्त्रकर्म के समय) छोड़ना (बचाये रखना) चाहिए ॥ ४० ॥

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां

सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति ।

प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः

संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति ॥ ४१ ॥

(शाखा मर्मों का गौणत्व—) मनुष्यों के हाथ-पाँवों में छिन्न हो जाने पर (छेदस्थान की) सिराएँ सिकुड़ जाती हैं; अतः अधिक रक्त नहीं निकलता । इसलिए (हस्तपादच्छेदन रूप) कठिन विपत्ति को प्राप्त हो करके भी, जिसकी शाखाएँ कट गई हँ ऐसे वृक्षों के समान मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते ॥ ४१ ॥

क्षिप्तेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं

गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं कगोति ।

एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा

वृक्षा इवायुधधिघातनिकृत्तमूलाः ॥ ४२ ॥

(क्षिप्र और तलहृदय का महत्त्व—) हाथ-पैरों में क्षिप्र और तलहृदय विद्ध होने पर रक्त अत्यधिक राशि में निकलता है और वायु अधिक पीडा करती है। इस प्रकार जैसे शाख (कुल्हाड़ी) से मूल कटे हुए वृक्ष मर जाते हैं, वैसे ही इन मर्मों पर विद्ध हुए (मनुष्य पीडा और रक्त-खावाधिक्य के कारण) मर जाते हैं ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—मर्माघात से मृत्यु होने के कारणों का विचार पीछे २४वें सूत्र के वक्तव्य में किया जा चुका है। रक्तस्राव मृत्यु का एक प्रधान कारण है, इसका उल्लेख यहाँ पर किया गया है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है कि छेद, भेद, वेधादि से यदि रक्त अत्यधिक राशि में निकले तो, वेध का स्थान चाहे मर्म हो या न हो, मृत्यु हो जाती है

और मर्मस्थान पर वेध होने से भी यदि रक्तस्राव अधिक न हो तो मनुष्य की मृत्यु नहीं होती—अमर्मविद्धोऽपि नरश्छेद-भेदादिपीडितः । अतिनिसुतरक्तस्य सद्यस्त्यजति जीवितम् । अतोऽन्यथा जीवति तु विद्धः शरशतैरपि ॥ (शारीर ७) । इस पर इन्दु लिखते हैं—न केवलं मर्मविद्ध एव जीवितं त्यजति यावद् मर्मविद्धोऽपि रक्तस्यातिवृत्तेः सद्य एव जीवितं जहाति । अतोऽन्यथा यथोक्तवै-परीत्ये मर्मव्यधे रक्तास्रतौ च शरशतैरपि विद्धो जीवति । एवं विनाशमायान्ति—रक्तस्राव से मर जाते हैं। रक्तस्राव के कारण होने वाले लक्षणों का विवरण सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के ३०वें सूत्र में, तथा उसके वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८४ देखो) किया गया है। वहाँ के लक्षण मध्यम रक्तस्राव के हैं। जब रक्तस्राव अधिक होता है, तब मृत्यु जल्दी होती है। इसके लक्षण अष्टांगसंग्रह में बहुत सुन्दर दिये हैं और आधुनिक लक्षणों के साथ ठीक ठीक मिलते हैं—विक्षिप्यते भृशं सीदन् शून्यो भ्रमति वेपते । ऊर्ध्वं श्वसिति कुञ्च्ये सस्वगात्रो मुहुर्मुहुः ॥ हृदयं दहते चास्य नैकस्थानेऽवति-ष्ठते । मर्मोपघातान्मरणमर्तैर्लिङ्गैः समश्नुते ॥ (शारीर ७) । रक्तस्राव के कारण शरीर में विष्णुपदामृत (Oxygen) की कमी होती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए रोगी बेचैनी के साथ हृधर उधर शरीर को घुमाता है (विक्षिप्यते भृशं, To-sing) और बड़े जोर के साथ, और तेजी से साँस (ऊर्ध्वं श्वसिति (gasps for breath)) लेता है। अन्त में अवसाद, संन्यास और आक्षेप के साथ मर जाता है।

क्षिप्र और तलहृदय मर्मों का महत्त्व रक्तस्राव की दृष्टि से ही होता है। इन मर्मों की सिराएँ तथा धमनियाँ अत्यन्त निगूढ़ होती हैं, जिसके कारण उनसे होने वाले रक्तस्राव को रोकना बहुत कठिन समस्या होती है। आधुनिक काल में प्रत्यक्ष शारीर-विज्ञान में तथा सांगोपांग शल्यचिकित्सा में आश्चर्यजनक उन्नति होने पर भी इन स्थानों के रक्तस्राव को बंद करने में कठिनाई मालूम होती है—Wounds of the voiar arches are always diffi- cult to deal with, Wounds of the planter arch are always serious on account of the depth of the vessel. Grey's Anatomy. अब इसके बाद क्षिप्र-तलहृदय मर्मवेध की चिकित्सा वर्णन करते हैं—

तस्मात्क्षोरभिहतस्य तु पाणिपादं

छेत्तव्यमाशु मणिवन्धनं गुल्फदेशे ॥ ४३ ॥

(क्षिप्रतलहृदय मर्मवेध चिकित्सा—) इसलिए इन मर्मों पर अभिघात हुए (मनुष्य) के हाथ, पाँव, मणिवंध और गुल्फदेश में तत्काल काटकर उसको बचाना चाहिए ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—मणिवन्धनगुल्फदेशे—हाथ के मर्म का वेध होने पर मणिवंध प्रदेश में और पैर के मर्म में चोट होने पर गुल्फ-देश में। छेत्तव्यम्—पीछे ४१वें श्लोक में यह बताया जा चुका है कि हाथ-पैर कट जाने पर भी मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वहाँ की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ जाने से प्राणधारक रक्त का नाश बहुत नहीं होता। रक्तवाहिनियों के संकोच के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि, उनमें कट जाने पर संकोच (Contraction) करने का गुण होता है और रक्तस्राव रोकने के नैसर्गिक उपायों में से यह एक उपाय है (४१वें श्लोक का वक्तव्य देखो) । परन्तु जब बड़ी बड़ी रक्तवाहिनियाँ कट

जाती है, तब नैमार्गिक उपायों के ऊपर रक्तस्राव बंद होने के लिए निर्भर रहना उचित नहीं होता और तुल्य कृत्रिम उपायों के द्वारा स्राव को रोकना पड़ता है। इन उपायों का विवरण सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के ३६वें सूत्र और उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५) में किया गया है। हाथ पैर पूर्णतया कट जाने पर रक्तस्राव बंद होने के लिए नैसर्गिक साधनों पर विश्वास न करके तुल्य कृत्रिम साधनों द्वारा रक्तप्रवाह को रोकना चाहिए और इसमें सफलता मिलने के कारण रक्तस्राव से रोगी की मृत्यु नहीं होती। तलहृदय मर्म में चोट लगने पर जब रक्तप्रवाह शुरू होता है, तब वे धमनियों अत्यन्त निगूढ़ होने के कारण उनसे होने वाला रक्त का स्राव कृत्रिम उपायों द्वारा रोकना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए इस श्लोक में मणिबन्ध या गुल्फदेश में छेदन (Amputation at the wrist or ankle joint) करने का उपदेश दिया है। यहाँ पर छेदन करने से कृत्रिम उपायों द्वारा रक्तस्राव बंद करना बहुत सहूल होता है और विद्व की जान बच जाती है। इसलिए इस श्लोकार्थ का अभिप्राय ठीक ध्यान में आने के लिए निम्न (स्फुट) श्लोकार्थ से उसकी पूर्ति की जाती है—एव भवेच्च सुगम विधिपैरपात्रैरास्थापनमसुविधापरशोखितरवा।

मर्माघात, रक्तस्राव और अगदुष्टि के लिए छेदन (Amputation) करने का उपाय प्राचीन है—गोऽप्यपत्य वितहृद् यथोपच स्वदेहोऽप्यामयवस्तुऽस्ति । जिघातश्च यदुपात्मनोऽस्ति रोगं सुगमं जीवति यद्विधमननम् ॥ (श्रीमद्भागवत ७-६-३७)। आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी यह उपाय समान हुआ है—the actual removal of a limb may be required as an immediate urgent necessity in order to save life from shock haemorrhage, or in infection *Manual of Surgery by Ross and Charles* प्राचीन और अर्वाचीन शल्यशास्त्र समत होने पर भी अंगच्छेदन का उपाय मामूली नहीं है। वैद्य या डाक्टर के ऊपर इसकी बड़ी भारी जिम्मेदारी होती है और रोगी के लिए एक स्थायी बंधकत्व उत्पन्न होता है। इसलिए अंगच्छेदन का उपाय आत्ययिक अवस्थाओं में बहुत सोच विचार करके काम में लाना चाहिए। यहाँ पर सत्य स्थानों के रक्तस्राव का विचार न करके तलहृदयगन रक्तस्राव का विचार साधारण उपायों की दृष्टि से किया जायगा। हथेलियों और तलुओं की चोट एक बहुत साधारण घटना है। इसकी चिकित्सा का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसलिए यहाँ पर उसकी विधि बतलाई जाती है—

हाथ या पैर के तलहृदय से रक्तस्राव होने पर म्रणमुख की डड चौड़ा करके धमनीसदृश से टूटी हुई धमनी के दोनों सिरे एकदकर तांत से बाँध देने चाहिये। यदि यह न हो सके तो धमनीपीड़नसदृश *Fronepressure forceps* से दोनों सिरे दबाकर सर्वशो को बैसे ही म्रण में रफर पर बंधना चाहिए। यदि सदृश से स्याय का मुख पकड़ने में कठिनाई हो तो म्रणमुख पर स्क्व कप्लिका की मोटी तह बनाकर (Pad of sterilized gauze) और मुठी बाँधकर जड़ लगाना चाहिए और रोगी को बिस्तर पर हाथ या पैर उठा करके लिटाये रखना चाहिए। यदि इससे भी रक्त स्रग्मन न हो सके तो बाहु या ऊरु धमनी के ऊपर टर्जुबन्धन (Tourniquet) बरके या उन धमनियों को तोलकर उनके उपर टाँका (Ligature) लगा के

रक्तस्राव रोकना चाहिए। आखिरी दो उपायों से रक्तस्राव बंद हो जाता है। आधुनिक काल में रक्तस्रग्मन, स्रग्मन और जीवाणुनाशन के साधनों में आश्चर्यजनक उन्नति होने के कारण हाथ पैरों के चोट में उनका अत्युच्छेदन (Amputation) करने के भयावह उपाय को अर्थात्कृत करने का प्रसंग बहुत कम आता है।

मर्माणि शल्यचिपयार्थमुदाहरन्ति
यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः ।
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्
ते प्राणुयन्ति विकलत्वमसंशयं हि ॥४४॥

(शल्यतन्त्र में मर्मों का महत्त्व—) यत् मर्मों पर आघात (या वैद्य) होने से तत्काल (मनुष्यों का) अस्तित्व नष्ट होता है और वैद्य की कुशलता के कारण उनमें से कोई बच भी जाय तो भी वे विकलता को निःसंशय प्राप्त होते हैं। इसलिए (शल्यतान्त्रिक) मर्मों (के ज्ञान) को शल्यचिपयार्थ कहते हैं ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—शल्यचिपयार्थम्—संपूर्ण आयुर्वेद में शल्यतन्त्र का प्राधान्य शस्त्राचारि प्रणिधान से तत्काल काम करने के कारण होता है—अथारवपि चायुर्वेदनेभेदेनाभिवमभिमताशु-क्रियाकरणाच्च अशरुवाशिरप्रणिधानात् । (सूत्रस्थान १)। यदि यन्त्र, शस्त्र, चार और अग्नि का प्रयोग करते समय मर्मों का ध्यान न किया जाय तो तत्काल उपाय होने के बदले तत्काल अपाय हो जायगा। अर्थात् शल्यतन्त्र का श्रेष्ठत्व जिस क्रिया के ऊपर अधिष्ठित है, वही क्रिया मर्म विज्ञान के सिवा हासिकारक होती है। इसलिए मर्मों का ज्ञान आधा शल्यशास्त्र कहलाता है।

समिन्नजर्जरितकोष्ठशिरः कपाला
जीवन्ति शल्यचि(नि)हृतश्च शरीरदेशैः ।

छिन्नैश्च सन्धिभुजपादकरैरशेषै-
दैर्षां न मर्मपतिता विधियाः प्रहाराः ॥ ४५ ॥

(मर्मप्रहार का महत्त्व—) जिनके मर्मों पर विविध प्रहार नहीं हुए हैं, (परंतु इतस्तन) प्रहारों के कारण जिनके कोष्ठ और शिरःकपाल जवरित हुए हैं, ऐसे मनुष्य शरीरों के द्वारा विद्ध हुए अपने शरीर अंगों के साथ तथा पूर्णतया कटे हुए अपने सन्धि, पाद, बाहु और हाथों के साथ जन्मे रहते हैं ॥ ४५ ॥

सोऽन्माहृततेजासि रजःसरचतमं नि च ।

मर्मसु प्रायशाः पुंसां भूतात्मा चायतिष्ठते ॥

मर्मसुः सिद्धताः तस्मात् जी-नि-त शर-ग्णिः ॥ ४६ ॥

(मर्माघात से मृत्यु की उपपत्ति—) सोम (जल या कफ), वायु, तेज और सत्व, रज, तम तथा जोषायत्मा प्राय मर्मों में (विशेषतया) अवस्थान करते हैं। इसलिए मर्मों पर वैद्य होने से (इनके चले जाने के कारण) प्राणी जीवित नहीं रहते ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—प्रायः—मर्मों पर आघात होने से कई बार मृत्यु होती है, यह अनुभवसिद्ध घटना है। हर घटना के कार्य-कारण संबंध का दिग्दर्शन यहाँ पर प्राचीन कल्पना के अनुसार और अनुमान प्रमाण के आधार पर

किया गया है। पाश्चात्य वैद्यक में इस प्रकार की कल्पना न होने के कारण दोनों की तुलना नहीं हो सकती। आधुनिक कल्पना के अनुसार मृत्यु के जो कारण होते हैं, उनका विचार पीछे २३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। ये भौतिक कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यहाँ दार्शनिक दृष्टि से (Meta physical) मृत्यु के कारण बतलाये गये हैं। जब शरीर को चैतन्य सत्त्वादि द्वारा प्राप्त होता है, इसलिये ये प्राण कहलाते हैं। इनका उल्लेख चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। ये प्राण सर्वशरीर-व्यापी हैं, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं होते। परंतु मर्मों पर आघात होने से प्राणयुक्त शरीर प्राणरहित होता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि यद्यपि प्राण सर्व-व्यापी हैं तथापि इनका विशेष स्थान मर्मों में होता है और वह स्थान छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण वे शरीर से चल देते हैं और शरीर निष्प्राण हो जाता है।

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोवृद्धिविपर्ययः ।

रुजश्च विविधास्तीघ्रा भयन्त्याशुहरे हते ॥ ४७ ॥

हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम् ।

ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति ॥ ४८ ॥

हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात् ।

शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥ ५० ॥

रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः ।

कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥ ५१ ॥

(पञ्चविध मर्माघात के लक्षण—) सद्यःप्राणहर मर्म पर अभिघात होने से इन्द्रियों का स्वविषयग्रहण में असामर्थ्य (वेहोशी), मन और बुद्धि के कार्य में वैपरीत्य, और तरह तरह की तीव्र वेदनाएँ (ये लक्षण) होते हैं ॥ ४७ ॥ कालान्तर प्राणहर मर्म पर अभिघात होने से मनुष्यों का धातुक्षय निश्चिति से होता है और पश्चात् धातुक्षयजनित वेदनाओं के कारण मनुष्य मर जाता है ॥ ४८ ॥ वैकल्यकर मर्म पर अभिघात होने से केवल वैद्य की कुशलता से ही शरीर कार्यक्षम होकर विकलता को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ विशल्यघ्न मर्मों में जो कारण पहले बतलाया गया है, वही जानना चाहिए ॥ ५० ॥ पीडाकर मर्म (आघात होने पर) विविध प्रकार की पीडाएँ करते हैं और यदि किसी खराब वैद्य के हाथ में हों तो अन्त में वैकल्य (भी) करते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—असंप्राप्तिः—इन्द्रियार्थानामसम्यक्संबंधः, इन्द्रियार्थानामग्रहणमित्यर्थः ।

वेदना—लक्षण—चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति ।

(चरक, शारीर ६) । अर्थात् पर्याय से धातुक्षयजनित विविध रोगों से ।

वैद्यनैपुणात्—वैकल्यकर मर्मों पर वेध होने से वैकल्य तब प्राप्त होता है, जब उसकी चिकित्सा उत्तम वैद्य के हाथों से की जाती है, वरना उससे मृत्यु भी हो सकती है ।

कुवैद्यवशगो यदि—पीडाकरमर्म विद्ध होने पर यदि रोगी कुवैद्यों के हाथों में सुपुर्द किये जायँ तो वैकल्य प्राप्त होता है ।

मर्माघात के सामान्य लक्षण सूत्रस्थानके पचीसवें अध्यायके 'श्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो' इतने दो श्लोकों में वर्णन किये गये हैं ।

अष्टाङ्गसंग्रह में मर्मवेध का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित है—

देहप्रसृतिर्गुरुता संमोहः शीतकामिता । स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वातो मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥ (शारीर ७)

अष्टाङ्गहृदय में प्रत्येक प्रकार के मर्मवेध के लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित हैं—

विद्धेऽजलमसृक्सावो मांसधावनवत्तनुः । पाण्डुत्वमिन्द्रियाधान मरणं चाशुं मांसजे ॥ मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नस्रावो रक्त्वास्त्रिमर्षि ॥ आयामाक्षेपकस्तन्मास्नावजेऽभ्यधिकं रुजा । यानस्थानासनाशक्तिवैकल्यमयवांतकः ॥ रक्तं सशब्दफेनोप्यं धमनीस्थे विचेतसः । सिरामर्मव्यथे सांद्रमज्जं वृष्टस्रवेत् । तत्क्षयात्तृट्त्रमशवासमोहदिध्माभिरन्तकः ॥ वस्तुशुक्लैरिवाकीर्यं रूढे च कुण्डिलशता । दलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोफश्च संधिजे ॥ (शारीर ४) ।

ये लक्षण आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के रक्तत्वाव, मूर्च्छा (Syncope) और स्तब्धता (Shock) इनके साथ (पीछे २३वें सूत्र की टिप्पणी देखो) मिलते हैं ।

छेदमेदाभिघातेभ्यो दहनादारणादपि ।

उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ ५२ ॥

(मर्मसमीप घात के लक्षण—) छेदन, भेदन, अभिघात, दहन और दारण से मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुआ आघात मर्माघात के समान लक्षणों से युक्त जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—उपघातं समीपघातम् । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुए आघात या वेध के परिणाम प्रत्येक मर्म पर हुए आघात के समान होते हैं ।

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदन्ति

योऽल्पत्ययो वाऽपि निरस्ययो वा ।

प्रायेण ममस्वभिताडितास्तु

वैकल्यमृच्छन्त्ययवा प्रियन्ते ॥ ५३ ॥

मर्याण्यधिष्ठाय हि ये विकारा

मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ।

प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति

नरस्य यन्नैरपि साध्यमानाः ॥ ५४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(मर्माघात में प्रयत्न पराकाष्ठा की आवश्यकता—) मर्म का कोई भी अभिघात ऐसा नहीं होता है, जिससे थोड़ी सी ही हानि होती हो या विलकुल न होती हो । प्रायः मर्मों पर अभिघातित हुए (मनुष्य) विकल होते हैं या मर जाते हैं ॥ ५३ ॥ मनुष्यों के जो विविध रोग मर्मों का आश्रय करके शरीर में होते हैं, वे वैद्य से (बहुत) प्रयत्नों द्वारा चिकित्सित होते हुए भी प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ ५४ ॥

बाती हैं, तब नैसर्गिक उपायों के ऊपर रक्तप्राय बंद होने के लिए निर्भर रहना उचित नहीं होता और नुरन्त कृत्रिम उपायों के द्वारा साव को रोकना पड़ता है। इन उपायों का विवरण सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के ३१वें सूत्र और उसके चक्रव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५) में किया गया है। हाथ-पैर पूर्णतया कट जाने पर रक्तप्राय बंद होने के लिए नैसर्गिक साधनों पर विश्वास न करके नुरन्त कृत्रिम साधनों द्वारा रक्तप्राय को रोकना चाहिए और हममें सफलता मिलने के कारण रक्तप्राय से प्रणी की मृत्यु नहीं होती। तलहृदय मर्म में घोट लगने पर जब रक्तप्राय शुरू होता है, तब ये धमनियों अत्यन्त निगूढ़ होने के कारण उनसे होने वाला रक्त का प्राय कृत्रिम उपायों द्वारा रोकना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए इस श्लोक में मणिवन्ध या गुल्फवेदन में छेदन (Amputation at the wrist or ankle joint) करने का उपदेश दिया है। यहाँ पर छेदन करने से कृत्रिम उपायों द्वारा रक्तप्राय बंद करना बहुत सहल होता है और विद्व की जान बच जाती है। इसलिए इस श्लोकार्थ का अभिप्राय टीका ध्यान में आने के लिए निम्न (स्फुट) श्लोकार्थ से उसकी पूर्ति की जाती है—“य मध्यमम विविधैस्त्वायैरास्वापनमनुविचारं रजोविश्रयः।

मर्माघात, रक्तप्राय और अंगदुष्टि के लिए छेदन (Amputation) करने का उपाय प्राचीन है—नरोऽप्यपत्य हितकृद् यथैष स्वदेशोऽन्त्यायवल्गुनोऽहितः । द्विपात्तदरं यदुत्तलनोऽहितं शेषं मुगं जीवति यदि व्रजं नारः ॥ (धूमन्नागवत ७-५-३७) । आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी यह उपाय समत हुआ है—The actual removal of a limb may be required as an immediate & urgent necessity in order to save life from shock haemorrhage, or infection *Manual of Surgery by Ross and Carless* प्राचीन और अर्वाचीन शल्यशास्त्र समत होने पर भी अंगच्छेदन का उपाय मामूली नहीं है। वेध या टाक्टर के ऊपर इसकी बटी भारी जिम्मेदारी होती है और प्रणी के लिए एक स्थायी बंधकय उपलब्ध होता है। इसलिए श्वाच्छेदन का उपाय आधुनिक अथवासाओं में बहुत सोच विचार करके काम में लाना चाहिए। यहाँ पर सर स्थानों के रक्तप्राय का विचार न करके तलहृदयगत रक्तप्राय का विचार साधारण उपायों की दृष्टि से किया जायगा। हथेलियों और तलुओं की घोट एक बहुत साधारण घटना है। इसकी चिकित्सा का शान बहुत आवश्यक है। इसलिए यहाँ पर उसकी विधि बतलाई जाती है—

हाथ या पैर के तलहृदय से रक्तप्राय होने पर मगमुख को कुछ चौड़ा करके धमनीसदृश से टूटी हुई धमनी के दोनों सिरे पकड़कर ताँस से बाँध देने चाहिये। यदि बन्द न हो सके तो धमनीपीडनसदृश *Proco pressure forceps* से दोनों सिरे दबाकर सदृशों को बेसे ही मग में रखकर पट्ट बाँधना चाहिये। यदि सदृश से साव का मुख पकड़ने में कठिनाई हो तो मगमुख पर स्वच्छ कवचिका को मोटी तह बनाकर (Pad of sterilized gauze) और सुदृी बाँधकर चढ़ लगाना चाहिये और रोगी को बिस्तरे पर हाथ या पैर उचा करके लिटायें रखना चाहिये। यदि हृत्से भी रक्त स्तम्भन न हो सके तो बाहु या ऊरु धमनी के ऊपर रज्जुबधन (Tourniquet) करके या उन धमनियों को खोलकर उनके ऊपर टाँस (Ligature) लगा के

रक्तप्राय रोकना चाहिये। आसिरी दो उपायों से रक्तप्राय बन्द हो जाता है। आधुनिक काल में रक्तप्राय, शल्यकर्म और जीवाणुनाशन के साधनों में आश्रयजनक उन्नति होने के कारण हाथ पैरों के घोट में उनका अम्युटेशन (Amputation) करने के बजायह उपाय को आसिरी करने का प्रस्ताव बहुत कम आता है।

मर्माणि शल्यविपर्यार्षमुद्राहरन्ति

यस्माच्च मर्मसु हता न भ्रान्ति सद्यः ।

जीरन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्

ते प्राणुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि ॥४४॥

(शल्यतन्त्र में मर्मों का महत्त्व—) यत् मर्मों पर आघात (या वेध) होने से तत्काल (मनुष्यों का) अस्तित्व नष्ट होता है और वेध की कुशलता के कारण उनमें से कोई यत् भी जाय तो भी ये विकलता को निःसंशय प्राप्त होते हैं। इसलिए (शल्यतन्त्रिक) मर्मों (के शान) को शल्यविपर्यार्ष बन्दे हैं ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—शल्यविपर्यार्ष—संपूर्ण आयुर्वेद में शल्यतन्त्र का प्राधान्य शल्यचिकित्सादि प्रणिधान से तत्काल काम करने के कारण होता है—प्रहारवपि चतुर्दशनेष्वेतदेवाविषमभिमितभाशु-क्रियाररुणाय न शल्यचिकित्साप्रणिधानात् । (सूत्रस्थान १) । यदि यन्त्र, शस्त्र, चार और अग्नि का प्रयोग करते समय मर्मों का ध्यान न किया जाय तो तत्काल उपाय होने के बदले तत्काल अपाय हो जायगा। अर्थात् शल्यतन्त्र का अष्टव्य जिस क्रिया के ऊपर अधिष्ठित है, वही क्रिया मर्म विज्ञान के सिवा हानिकारक होती है। इसलिए मर्मों का शान आधा शल्यशास्त्र कहलाना है।

सभिन्नजर्जरितकोष्ठशिरः कपाला

जीवन्ति शल्वचिनि)हृत्तैश्च शरीरदेशैः ।

छिन्नैश्च सन्धिभुजपादकरैरशौचै-

येषां न मर्मपतितता विविधाः प्रहाराः ॥ ४५ ॥

(मर्मप्रहार का महत्त्व—) जिनके मर्मों पर विविध प्रहार नहीं हुए हैं, (परंतु इतस्तत्) प्रहारों के कारण जिनके कोष्ठ और शिरकपाल जर्जरित हुए हैं, ऐसे मनुष्य शस्त्रों के द्वारा विद्ध हुए अपने शरीर अंगों के साथ तथा पूर्णतया कटे हुए अपने सक्थि, पाद, बाहु और हाथों के साथ जिन्हे रहते हैं ॥४५॥

सोममारुततेजसि रजःसत्त्वतमाम्नि च ।

मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चार्वातप्रुते ॥

मर्मसु भिहताग्त्साम्ना जीरन्ति शर र्णिणः ॥ ४६ ॥

(मर्माघात से मृत्यु की उपपत्ति—) सोम (जल या कफ), वायु, तेज और सत्व, रज, तम तथा जीवाग्ना प्रायः मर्मों में (विशेषतया) अवस्थान करते हैं। इसलिए मर्मों पर वेध होने से (इनके चले जाने के कारण) प्राणी जीवित नहीं रहते ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—प्रायशः—मर्मों पर आघात होने से कई बार मृत्यु होती है, यह अनुभवसिद्ध घटना है। इस घटना के कार्य-कारण संबंध का दिग्दर्शन यहाँ पर प्राचीन कल्पना के अनुसार और अनुमान प्रमाण के आधार पर

किया गया है। पाश्चात्य वैद्यक में इस प्रकार की कल्पना न होने के कारण दोनों की तुलना नहीं हो सकती। आधुनिक कल्पना के अनुसार मृत्यु के जो कारण होते हैं, उनका विचार पीछे २३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। ये भौतिक कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यहाँ दार्शनिक दृष्टि से (Meta physical) मृत्यु के कारण बतलाये गये हैं। जड़ शरीर को चैतन्य सत्त्वादि द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए ये प्राण कहलाते हैं। इनका उल्लेख चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। ये प्राण सर्वशरीर-व्यापी हैं, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं होते। परंतु मर्मों पर आघात होने से प्राणयुक्त शरीर प्राणरहित होता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि यद्यपि प्राण सर्व-व्यापी हैं तथापि इनका विशेष स्थान मर्मों में होता है और वह स्थान छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण वे शरीर से चल देते हैं और शरीर निष्प्राण हो जाता है।

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः ।

रुजश्च विविधास्तोषा भवन्त्याशुहरे हते ॥ ४७ ॥

हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम् ।

ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति ॥ ४८ ॥

इते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात् ।

शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥ ५० ॥

रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः ।

कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशागो यदि ॥ ५१ ॥

(पञ्चविध मर्माघात के लक्षण—) सद्यःप्राणहर मर्म पर भिघात होने से इन्द्रियों का स्वविषयग्रहण में असामर्थ्य वेहोशी), मन और बुद्धि के कार्य में वैपरीत्य, और तरह तरह की तीव्र वेदनाएँ (ये लक्षण) होते हैं ॥ ४७ ॥ कालान्तर प्राणहर मर्म पर अभिघात होने से मनुष्यों का धातुक्षय निश्चित होता है और पश्चात् धातुक्षयजनित वेदनाओं के कारण मनुष्य मर जाता है ॥ ४८ ॥ वैकल्यकर मर्म पर अभिघात होने से केवल वैद्य की कुशलता से ही शरीर कार्यक्षम होकर विकलता को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ विशल्यघ्न मर्मों में जो कारण पहले बतलाया गया है, वही जानना चाहिए ॥ ५० ॥ पीढाकर मर्म (आघात होने पर) विविध प्रकार की पीढाएँ करते हैं और यदि किसी खराब वैद्य के हाथ में हों तो अन्त में वैकल्य (भी) करते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—असंप्राप्तिः—इन्द्रियार्थानामसम्यक्संबंधः, इन्द्रियार्थानामग्रहणमित्यर्थः ।

वेदना—लक्षण—चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति ।

(चरक, शारीर ६) । अर्थात् पर्याय से धातुक्षयजनित वैद्यक रोगों से ।

वैद्यनैपुणात्—वैकल्यकर मर्मों पर वेध होने से वैकल्य तब प्राप्त होता है, जब उसकी चिकित्सा उत्तम वैद्य के हाथों से की जाती है, वरना उससे मृत्यु भी हो सकती है ।

कुवैद्यवशागो यदि—पीढाकरमर्म विद्ध होने पर यदि रोगी कुवैद्यों के हाथों में सुपुर्द किये जायँ तो वैकल्य प्राप्त होता है ।

मर्माघात के सामान्य लक्षण सूत्रस्थानके पचीसवें अध्यायके 'श्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो' इत्ये दो श्लोकों में वर्णन किये गये हैं ।

अष्टाङ्गसंग्रह में मर्मवेध का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित है—

देहप्रसृप्तिर्गुरुता संमोहः शीतकामिता । स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविदस्य लक्षणम् ॥ (शारीर ७)

अष्टाङ्गहृदय में प्रत्येक प्रकार के मर्मवेध के लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित हैं—

विद्धेऽजस्रमसृक्सावो मांसधावनवत्तनुः । पाण्डुत्वमिन्द्रियाधान मरणं चाशु मांसजे ॥ मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नसावो रक् च्चास्थिमर्षि ॥ आयासाक्षेपकस्तम्भास्नावजेऽभ्यधिकं रजा । यानस्थानासनाशक्तिवैकल्यमयवांतकः ॥ रक्तं सशब्दफेनोप्यं धमनीस्थे विचेतसः । सिरामर्मव्यधे सांद्रमजसं बहुसृप्तवेव । तत्क्षयात्तृप्त्रमश्वासमोहदिध्माभिरन्तकः ॥ वस्तुशकैरिवाकीर्णं रुढे च क्षुण्णिलजता । दलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोकश्च संधिजे ॥ (शारीर ४) ।

ये लक्षण आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के रक्तसाव, मूर्च्छा (Syncope) और स्तब्धता (Shock) इनके साथ (पीछे २३वें सूत्र की टिप्पणी देखो) मिलते हैं ।

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनद्वारणादपि ।

उपघातं विज्ञानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ ५२ ॥

(मर्मसमीप घात के लक्षण—) छेदन, भेदन, अभिघात, दहन और दारण से मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुआ आघात मर्माघात के समान लक्षणों से युक्त जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—उपघातं समीपघातम् । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुए आघात या वेध के परिणाम प्रत्यक्ष मर्म पर हुए आघात के समान होते हैं ।

मर्माभिघातस्तु न कश्चिद्विरित

योऽल्पत्ययो वाऽपि निरत्ययो वा ।

प्रायेण ममस्वभिताडितास्तु

वैकल्यमृच्छन्त्ययवा म्रियन्ते ॥ ५३ ॥

मर्याण्यधिष्ठाय हि ये विकारा

मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ।

प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति

नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥ ५४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(मर्माघात में प्रयत्न पराकाष्ठा की आवश्यकता—) मर्म का कोई भी अभिघात ऐसा नहीं होता है, जिससे थोड़ी सी ही हानि होती हो या विळकुल न होती हो । प्रायः मर्मों पर अभिघातित हुए (मनुष्य) विकल होते हैं या मर जाते हैं ॥ ५३ ॥ मनुष्यों के जो विविध रोग मर्मों का आश्रय करके शरीर में होते हैं, वे वेध से (चहुत) प्रयत्नों द्वारा चिकित्सित होते हुए भी प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ ५४ ॥

घर्षक्रमानुसारं मर्माणां फोण्डक

| नाम, | संख्या | स्थान | प्रकार | परिणाम | शैथिली शारीरिक पर्याय |
|-----------|--------|----------|-----------|-------------|--|
| क्रम | २ | शुद्ध | कायु | वैश्वानर | Coeliac-humoral, gleno-humoral ligaments, Trapezius muscle |
| अधकनक | २ | शुद्ध | अग्नि | वैश्वानर | Spine of the scapula |
| अधिपति | १ | शिर | सन्धि | सप्तधातुहर | Torcular herophyllia |
| अपराध | २ | हृत्पी | मिरा | वा० प्राणहर | Lateral thoracic and subscapular vessels |
| अपलम्ब | २ | हृत्पी | मिरा | वा० प्राणहर | Two bronchii |
| अपाङ्ग | २ | शिर | मिरा | वैश्वानर | Zygomatiko-temporal vessels |
| भाषी | २ | कर्णशाला | प्रायु | वैश्वानर | Tendon of biceps |
| भाषा | २ | अपशाला | आयु | वैश्वानर | Tendon of quadriceps femoris |
| भाष्य | २ | शिर | सन्धि | वैश्वानर | Junction of the frontal malar and sphenoid bone |
| हृद्रक्षि | २ | कर्णशाला | संस | वा० प्राणहर | Cubital fossa |
| हृद्रक्षि | २ | अपशाला | संस | वा० प्राणहर | Calf muscles |
| उत्प्रेष | २ | शिर | आयु | विशालम्ब | Temporal muscle and fascia |
| कवी | २ | कर्णशाला | मिरा | वैश्वानर | Brachial artery, Basilic vein |
| कवी | २ | अपशाला | मिरा | वैश्वानर | Femoral vessels |
| कक्षापर | २ | कर्णशाला | आयु | वैश्वानर | Brachial plexus |
| कटीकपाय | २ | शुद्ध | अग्नि | वा० प्राणहर | Sciatic notch |
| कुतुम्बर | २ | शुद्ध | सन्धि | वैश्वानर | Ichial tuberosity |
| कूर्च | २ | १२४ (६) | आयु | वैश्वानर | Carpometacarpal and intercarpal ligaments |
| कूर्च | २ | अपशाला | आ | वैश्वानर | Tarso metatarsal and intertarsal ligaments |
| कूर्चशिर | २ | कर्णशाला | आयु | पीणकर | Lateral ligaments of the wrist joint |
| कूर्चशिर | २ | अपशाला | आयु | पीणकर | Lateral ligaments of the ankle joint |
| कूर्च | २ | कर्णशाला | सन्धि | वैश्वानर | Elbow joint |
| कूर्च | २ | अपशाला | सन्धि | वैश्वानर | Atlanto occipital articulation |
| किन्ना | २ | अपशाला | आयु | वा० प्राणहर | First intermetacarpal ligament |
| किन्ना | २ | अपशाला | आयु | वा० प्राणहर | First intermetatarsal ligament |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | संस | अपशाला | Anal canal and anus |
| कुण्ड | २ | अपशाला | सन्धि | पीणकर | Ankle joint |
| कुण्ड | २ | अपशाला | सन्धि | वैश्वानर | Knee joint |
| कुण्ड | २ | कर्णशाला | संस | वा० प्राणहर | Palmar aponeurosis |
| कुण्ड | २ | अपशाला | संस | वा० प्राणहर | Long planter ligament |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | मिरा | सप्तधातुहर | Umbilicus |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | अग्नि | वा० प्राणहर | Via of the ileum |
| कुण्ड | २ | अपशाला | मिरा | वैश्वानर | Blood vessels of the neck |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | मिरा | वा० प्राणहर | Common iliac vessels |
| कुण्ड | २ | शिर | मिरा | वैश्वानर | Orfactory region of the nose |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | आयु | सप्तधातुहर | Urinary bladder |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | मिरा | वा० प्राणहर | Subscapular and transverse costal arteries |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | मिरा | वैश्वानर | Internal vessels of the neck |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | मिरा | सप्तधातुहर | Internal vessels of the neck |
| कुण्ड | २ | अपशाला | मिरा | वैश्वानर | Axillary vessels |
| कुण्ड | २ | अपशाला | मिरा | वैश्वानर | Femoral vessels |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | आयु | वैश्वानर | Inguinal canal |
| कुण्ड | २ | शिर | आयु, मिरा | वैश्वानर | Foot-ankle articulation vessels |
| कुण्ड | २ | शुद्ध | संस | सप्तधातुहर | Testis |

| नाम, | संख्या | स्थान | प्रकार | परिणाम | अंग्रेजी शारीरिक पर्याय |
|-----------|--------|-------|--------|---------------|---------------------------------------|
| शृंगाटक | ४ | शिर | सिरा | सद्यः प्राणहर | Cavernous and inter-cavernous sinuses |
| सीमन्त | ५ | शिर | संधि | का० प्राणहर | Cranial sutures |
| स्तनमूल | २ | छाती | सिरा | का० प्राणहर | Internal mammary vessels |
| स्तनरोहित | २ | छाती | मांस | का० प्राणहर | Lower portion of Pectoralis major |
| स्थपनी | १ | शिर | सिरा | विशल्याह | Nasal arch of the frontal vein |
| हृदय | १ | छाती | सिरा | सद्यः प्राणहर | Heart |

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने प्रत्येककर्मान-
देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः सिरावर्णविभक्तिं नाम शारीरं व्याख्या-
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अथ इसके बाद सिरावर्णविभक्ति नामक शरीर का व्याख्यान
करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य—सिरावर्णविभक्तिम्—सिराणां वातादिवहानां तद्व-
र्णानां चारुणनीलशुक्लोदितानां विभक्तिर्विभागः समुदायात् पृथक्करणं
यस्मिन् शरीरे तत्तथाविधम् ॥ वर्ण का अर्थ गुणवर्णन, ऐसा भी
होता है । हाराणचन्द्र के सुश्रुत में 'सिरावर्णनविभक्ति' ऐसा पाठ है ।

सप्त सिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमा-
राम इव जलहारिणांभिः केदार इव च कुल्याभिरु-
स्त्रिह्वतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिविशेषैः;
मपत्रसेवनानामिव च तासां प्रतानाः; तासां नाभि-
लं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमवस्तिर्यक् च ॥ २ ॥

भवतश्चात्र—

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम् ।

नाभ्यां सर्वा निवद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥३॥

नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिव्युपाश्रिता ।

सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ ४ ॥

सात सौ सिराएँ होती हैं । जैसे (वड़ी वड़ी) जल-
शरिणियों (नालियों) द्वारा उपवन का और (छोटी
छोटी) क्यारियों द्वारा खेत का उपस्नेहन और परिपोषण
होता है, वैसे ही इन सिराओं द्वारा आकुञ्चन एवं प्रसारण
आदि कर्मों से इस शरीर का उपस्नेहन और परिपालन
होता है । वृत्तों के पत्तों की सेवनी की तरह इनके प्रतान
होते हैं । इन सिराओं का मूल नाभि है और वहाँ से ऊपर-
नीचे और आस-पास ये फैलती हैं ॥ २ ॥ यहाँ पर दो श्लोक
हैं—प्राणियों के शरीर में जितनी सिराएँ उत्पन्न होती हैं,
वे सब नाभि से संबंध रखती हुई चारों ओर फैलती
हैं ॥ ३ ॥ प्राणियों के प्राण नाभि में स्थित होते हैं और प्राणों
पर नाभि आश्रित है । जैसे, पहिये का मध्य अरों से चिरा हुआ
रहता है, वैसे ही सिराओं से नाभि आवृत (चिरी हुई) रहती है ॥

वक्तव्य—दूसरे सूत्र में तथा उपसंहारात्मक नीचे
के दो श्लोकों में सिराओं की रचना तथा कार्य की दृष्टि से

१ सिरावर्णविभक्तिशारीरं. २ प्रवर्तन्ते.

संपूर्ण वर्णन संक्षेप में दिया गया है । यहाँ पर सिरा शब्द
रक्तवाहिनी (Blood vessel) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।
इसमें अर्थानुरोध से रसवाहिनी (Lymphatic vessel)
का भी समावेश होता है । आराम इव जलहारिणीभिः केदार
इव कुल्याभिः—पुष्प, फल, घृत्तयुक्त संपूर्ण क्षेत्रविशेष
आराम या बगीचा कहलाता है । बगीचे के हर एक हिस्से
में बड़ी बड़ी पक्की नालियों द्वारा कुएँ का पानी पहुँचाया
जाता है, परन्तु इन नालियों से बगीचे के किसी भी घुत्त
या पौधे का उपस्नेहन या पोषण नहीं होता । इसके लिए
नजदीक की पक्की नाली से पौधे तक छोटी कच्ची नाली
या क्यारी बनाई जाती है, जो पौधे का उपस्नेहन से पोषण
करती है । शरीर में भी बगीचे के समान शरीर के हर एक
हिस्से में रक्त पहुँचाने वाली बड़ी बड़ी पक्की नालियाँ होती
हैं और इन पक्की नालियों से छोटी छोटी कच्ची नालियाँ हर
एक घातु के पास जाकर उसका पोषण करती हैं । इसलिये
'एतद् दृष्टान्तद्वयं स्थूलघृत्तमसिराप्रामथार्थम्' यह दृष्टान्तार्थ का
वचन बहुत यथार्थ है । अब यहाँ पर आराम का जो दृष्टान्त
दिया है वह एकदेशीय है, इसलिये कि कूप से पक्की नालियों
द्वारा बाहर गया हुआ पानी फिर से कूप में वापस नहीं
आता, परन्तु शरीर में मूलस्थान से नालियों द्वारा बाहर
निकला हुआ रक्त फिर से दूसरी नालियों द्वारा मूलस्थान में
वापस आता है । इसलिये बगीचे के समान शरीर में एक
प्रकार की रक्त को ले जाने वाली नालियों से काम नहीं
बनता; रक्त को ले जाने वाली और वापस ले आने वाली
नालियों की आवश्यकता होती है । वापस लाने वाली
नालियों के भी दो प्रकार होते हैं—एक प्रकार में रक्त
होता है और दूसरे प्रकार में लस (Lymph) होती है । इस
तरह शरीर में चार प्रकार की नालियाँ होती हैं—एक मूलस्थान
से रक्त ले जाने वाली, जिसको आधुनिक परिभाषा में
धमनी (Artery) कहते हैं; दूसरी रक्त वापस ले जाने
वाली, जिसको आधुनिक परिभाषा में सिरा (Vein) कहते
हैं; तीसरी सिरा और धमनी को जोड़ने वाली सूक्ष्म,
जिसको केशिका (Capillary) कहते हैं; और चौथी
लसिका को ले आने वाली, जिसको लसवाहिनी (Lymphatic
vessels) कहते हैं । सिरा में यहाँ पर इन चारों का समावेश
होता है । उपलिखिते—बगीचे में जो पक्की और बड़ी बड़ी
नालियाँ होती हैं उनके द्वारा यद्यपि बगीचे के हर एक हिस्से
में पानी फैलता है तथापि उनसे बगीचे के किसी पेड़ या पौधे
को पानी का एक भी बूँद नहीं मिलता, क्योंकि उनकी दीवाल
में से पानी बाहर नहीं जा सकता । पेड़ों का पोषण पक्की
नालियों से स्थान स्थान पर जो छोटी नालियाँ या क्यारियाँ
बनाई जाती हैं, उनसे होता है । इसका कारण यह है कि

उनकी दीवाल कधी होने के कारण पानी उनसे रिसकर चारों ओर फेँलकर समीपवर्ती वनस्पतियों को मिलता है। शरीर में भी ऐसी ही व्यवस्था है। ऊपर जो चार प्रकार की नालियाँ वर्णन की गई हैं, उनमें दो नालियाँ (सिरा और लसिका-वाहिनी) अशुद्ध रक्त तथा लस का वाहन करती हैं, अतः उनके रफ़लस से शरीरपोषण का सवाल ही नहीं उठता। बाकी जो दो नालियाँ हैं, उनमें शुद्ध रक्त बहता है। अतः धातुपोषण के साथ इनका घनित सम्बन्ध होता है। इनमें धमनियाँ वनीचे की पकी नालियों के समान हैं, जो शरीर के हर एक हिस्से में शुद्ध रक्त की रसीद पहुँचाने का काम किया करती हैं। इनकी दीवाल काफी मोटी (आगे आकुञ्चन-प्रसारणदि की टिप्पणी देखो) होती है, जिसमें से होकर रक्त बाहर नहीं जा सकता। दूसरी वाहिनी (केशिकाएँ) शरीरपोषण के काम में आती हैं। इन केशिकाओं की दीवाल अत्यन्त पतली, एकदरी, चपटी अन्तरद्वितीयकोशाओं की (Single layer of flattened endothelial cells) बनती है। इन केशिकाओं में से जब रक्त बहता है, तब दीवाल पतली होने के कारण रक्त का कुछ भाग रिसकर आस-पास की धातुओं में फेँलकर उनका पोषण करता है। उपस्नेहन का यही अर्थ है और यह कार्य केशिकाओं की दीवाल से रक्त के निर्यास (Exudation) से होता है। सिराओं की दीवाल भी धमनी प्रकार से पतली होने पर भी काफी मोटी होती है, जिसके कारण उससे रक्त का निर्यास नहीं हो सकता।

निदान अध्याय १ श्लोक १० की टिप्पणी भी देखो। आतृजनप्रसारणदिभिर्निक्षेपैः—इन क्रियाओं के द्वारा सिराओं की बनावट बतलाई गई है तथा उपस्नेहन का कारण प्रवृत्त किया गया है। धमनी, सिरा और केशिका इनकी दीवाल की मोटाई यद्यपि भिन्न भिन्न होती है तथापि प्रत्येक की दीवाल में लचकीले तन्तु (Elastic fibers) होते हैं, जिनके कारण इन नालियों में संकोच-विकास तथा स्थिति-स्थापकता का गुण आ जाता है। केशिकाओं की पतली पतली दीवारों में से रक्त का कुछ तरल भाग चूकर बाहर निकलता है और आस-पास की धातुओं का पोषण करता है क्योंकि इस तरल भाग में धातुओं के लिए आवश्यक सब खाद्यवस्तुएँ उपस्थित रहती हैं। केशिकाओं की दीवारों में से लसनिर्यास होने के लिए जैसे उनकी प्रवेश्यता (Permeability) कारण होती है, वैसे ही रक्त का निरीड भी कारण होता है। यह रक्त का निरीड जैसे हृदय-संकोच के ऊपर निर्भर होता है, वैसे ही वाहिनियों की स्थितिस्थापकता के ऊपर निर्भर होता है। संकोच में, सिराओं की संकोच-विकासशीलता और स्थितिस्थापकता उपस्नेहन के लिए आवश्यक होती है। हुपप्रवेशनीनामिष प्रशाना.—पृष्ठों के पथों का यह इष्टान्त सम्प-क है। पत्रसेवनी प्रशानों का यदि यथायं चित्र देखना हो तो पानी में थोड़ी देर तक सजने के पश्चात् सारे हुए पत्र को देखना चाहिए। इस प्रकार के जालीदार पत्र कई बार देखने में आते हैं। सीपन से यहाँ पर पत्रों के मध्य में होने वाली मोटी सिरा तथा उसकी मोटी शाखाएँ अभिमत हैं। इन सीपनियों से छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं। उनसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर इस तरह उपरोक्त सूक्ष्म प्रशाखाएँ निकलकर

संपूर्ण पत्र प्रतानों से ब्यास होता है। शरीर में भी रक्त-वाहिनियों की यही स्थिति रहती है और उनके प्रतान यहाँ तक सूक्ष्म होते हैं कि वे धर्मचक्षु से नहीं दिखाई देते। प्रतानों से यहाँ पर धमनिकाओं और केशिकाओं (Arterioles and capillaries) का बोध होता है। केशिकाओं की साधारण, मोटाई $\frac{1}{1000}$ इंच के लगभग होती है। नाभिमूलम्—यह मूल यावत्काल प्राणियों का अवस्थान माता के शरीर में होता है, तावत्काल होता है। जन्म के पश्चात् नाभि-संयुद्ध सिराएँ सिक्क जाती हैं। अतः जन्मोत्तरकाल में सिराओं का मूल नाभि न होकर हृदय होता है। अर्थात् सुश्रुत का वर्णन गर्भकालीन है। अष्टांग-हृदय और अष्टांगसंग्रह में इन सिराओं का मूल हृदय बताया है, अर्थात् वाग्भट का वर्णन जन्मोत्तरकालीन है—यस मूलसिरा दृश्यवस्थाः सर्वं सर्वतो वयुः रसात्मक-वयुःको जो तत्रिबद्ध हि चैतितम्। स्थूलमूलाः सुक्ष्ममूलाः पत्रेवाप्रमानवद। मिश्रन्ते वास्तवः महान्नाभ्यासां भवन्ति तु ॥ (अष्टांगहृदय ३)। यद्य मूलसिरा हृदयप्रतिबद्धाः सर्वाङ्गप्रत्येकोजो नवन्ति। वास्तु द्रव्यसुलभं गुणमयं गुणं यत् यथायं च गत्वा हुपप्रवेशनीप्रतान-वद्विद्यमानाः सप्तशतानि भवन्ति। (अष्टांगसंग्रह)। ऊर्ध्व-मध्मस्थिच-च—सम्पूर्ण शरीर में। सम्भवति शरीरिणाम्—इससे भी यह स्पष्ट होता है कि गर्भाशय में जब जीवात्मा का शरीर उत्पन्न होता है, उस काल की दृष्टि से नाभि सिराओं का मूल माना गया है और एक दृष्टि से यह कथन ठीक भी है क्योंकि नाभि की सिरा या नाडी से ही गर्भ का पोषण होता है और गर्भशरीर की प्रत्येक सिरा का संबंध नाभि-सिरा के साथ रहता है, जिसमें शरीरपोषक रक्त बहता है। नाभि शरीर की उत्पत्ति के समय याने प्रारंभ में सिराओं का उत्पत्तिस्थान होने के कारण जन्म के पश्चात् भी यह सिरा-प्रभव ही माना जाता है। इसलिए नाभिसर्ग के वर्णन में नाभि (छठे अध्याय के ३३वें सूत्र में देखो) सिराप्रभया बतलाई है। इसका अर्थ है जिससे शरीरोत्पत्ति के समय में सिराओं का संभव होता है, ऐसी। प्राण—नाभिसर्ग होने के कारण पिछले अध्याय के ३३वें श्लोक के आधार पर प्राणों से सोममाह्लादि का ग्रहण हो सकता है, परन्तु यहाँ पर प्राणों का अधिष्ठान प्राणरूप रक्त का ग्रहण करना ही उचित है—प्राण. प्राणभूतां रक्तम्। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३३)। तत्रिशुद्ध हि रश्मिं बलवर्णं स्यात्पुत्रम्। युनक्ति प्राणिनः, प्राणः शोथितं क्षतवर्तते ॥ (चरक, सूत्र २४)। माता के शरीर से आया हुआ पोषक रक्त अपरा में, अपरा से नाडी में, नाडी से नाभि में और नाभि से गर्भशरीर में (३ अध्याय का ३३वाँ सूत्र देखो) प्रवेदा करता है। जब किसी कारण से नाभिनाडी का पीड़न होता है, तब प्राणरूप रक्त के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होने के कारण गर्भ की शूयु हो जाती है। चक्रान्तरिवारके—यह एक कल्पनासृष्टि है, वास्तविक स्थिति नहीं है। नाभि में प्रविष्ट हुई सिरा से संपूर्ण शरीर का पोषण होता है और संपूर्ण शरीर का पोषण होने के लिए सिराओं का संपूर्ण शरीर में फैलना आवश्यक है। यह कार्य किस प्रकार से हो सकता है, इसकी कल्पना दृष्टिगम्य करने के लिए आरों का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे, पहिये के घेरे को सहारा देने के लिए नाभि के चारों ओर उससे निकले हुए अनेक

आरे होते हैं, वैसे ही शरीर का पोषण करने के लिए नाभि से चारों ओर उससे निकली हुई अनेक सिराएँ होती हैं; यही इस दृष्टान्त का तात्पर्य है। पहिये में आरों की संख्या बहुत होती है और जितनी संख्या अधिक होगी, उतनी अधिक मजबूती घेरे में आ जाती है। इन आरों की संख्या की महत्तम मर्यादा नियत होने की आवश्यकता नहीं होती; आठ, दस, बारह, पंद्रह जितने चाहें उतने आरे रख सकते हैं। परंतु अल्पतम मर्यादा नियत होना आवश्यक होता है। पहिये के घेरे का सहारा न एक आरे से हो सकता है, न दो आरों से हो सकता है। कम से कम इनकी संख्या तीन होना आवश्यक होता है। जहाँ पर अधिक भार सहन करने का सवाल नहीं आता, वहाँ पर तीन आरों से काम भली भाँति निकल आता है। वच्चों के खिलौने की मोटर-रेलगाड़ी के पहियों में अकसर तीन ही आरे होते हैं। गर्भ के नाभिचक्र के भी तीन आरे होते हैं। एक आरा ऊपर की ओर होता है और दो नीचे की ओर होते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार ऊपर का आरा संवाहिनी सिरा (Umbilical vein) और नीचे के आरे दक्षिण और वाम संवाहिनी धमनियाँ (Left and right umbilical arteries) कहलाते हैं। ये तीनों आरे तीन दिशा से आकर नाभि में मिलते हैं और तीनों नाभि के बाहर आकर नाभिनाड़ी के घटक बनते हैं। अपरा के गार्भिक पृष्ठभाग पर सिराओं की रचना 'चक्रनाभिरिवारकैः' के समान होती है, इसलिए कुछ लोग यह वर्णन अपरा के लिए लागू करते हैं। परंतु यह अपरा का वर्णन न होकर नाभि का ही वर्णन है और उसको भी ठीक लागू हो सकता है, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट मालूम होगा। तीसरे सूत्र में सिराओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चौथे और पाँचवें श्लोक में नाभि का महत्त्व और वर्णन किया गया है। अब इसके बाद सिराओं का विभागशः वर्णन किया जाता है।

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीहोः, एवमेतानि सप्तसिराशतानि

(मूलसिरा और दोषवह सिराओं की संख्या—) इन (सात सौ सिराओं) की मूल सिराएँ चालीस हैं। इन (चालीस सिराओं) में वातवहन करने वाली दस, पित्तवहन करने वाली दस, कफवहन करने वाली दस, रक्तवहन करने वाली दस (होती हैं)। वातस्थान में होने वाली इन वातवह सिराओं की एक सौ पचहत्तर सिराएँ होती हैं; पित्तस्थान में पित्तवाहिनी सिराएँ, कफस्थान में कफवाहिनी सिराएँ, यकृत् और प्लीहा में रक्तवाहिनी सिराएँ उतनी ही (होती हैं)। इस प्रकार ये सात सिराशत (हो जाते हैं) ॥५॥

वक्तव्य—मूलसिरा—इससे वातादि विभाग की मूल सिराएँ अभिप्रेत हैं। मूल जो नाभि या हृदय, इससे चालीस सिराएँ उत्पन्न होती हैं; ऐसा इसका अभिप्राय नहीं है। वातस्थानगतानाम्—निदान के प्रथम अध्याय के १२-१८ तक के श्लोकों में वायु के स्थान दिये हैं, उन स्थानों में होने वाली

सिराओं की—पकाशयकटीसक्थिश्चोत्राऽस्थिस्पर्शनेन्द्रियम् । स्थानं वातस्य । (अष्टांगहृदय, सूत्र १२) । पित्तस्थान, कफस्थान—पित्त और कफ के स्थान सूत्रस्थान के व्रणप्रश्न नामक एक वीसवें अध्याय के छठे और बारहवें सूत्र में वर्णन किये हैं—नाभिरामाशयः स्वदो लसिका रुधिर रसः । दृक्स्पर्शनं च पित्तस्य ॥ उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः । मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र १२) ।

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थिश्च पञ्चविंशतिः, एतेनेतरसक्थि वाहू च व्याख्यातौ । विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्; तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः षट् पृष्ठे, तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि । एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं, तासां चतुर्दश त्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां षट् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातं भवति । एष एव विभागः शेषाणामपि । विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश कर्णयोर्द्वे; एवं रक्तवहाः कफवहाश्च । एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥ ६ ॥

(दोषवह सिराओं का पृथक् पृथक् संख्यान—) इनमें एक टाँग में वातवाही सिराएँ पच्चीस होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों वाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है। कोष्ठ में विशेषतः चौतीस (सिराएँ होती हैं)। इनमें गुदा, शिरन और श्रोणि में आठ, पार्श्वों में दो दो, पीठ में छः, उदर में उतनी ही (छः), छाती में दस। जत्रु के ऊपर एकतालीस (सिराएँ होती हैं)। उनमें त्रीवा में चौदह, कानों में चार, जिह्वा में नौ, नासा में छः, दोनों आँखों में आठ; इस प्रकार (शाखा, कोष्ठ, और सिर में मिलाकर) एक सौ पचहत्तर वातवाही सिराओं का व्याख्यान हो जाता है। शेष (पित्त, कफ और रक्तवाही सिराओं) का यही विभाग होता है। विशेषतया (भेद इतना ही है कि) पित्तवाहिनी सिराएँ आँखों में दस और कानों में दो हैं। इसी प्रकार रक्तवह और कफवह (सिराएँ होती हैं)। इस प्रकार विभागादाः सात सौ सिराएँ वर्णन की गई हैं ॥ ६ ॥

वक्तव्य—एष एव विभागः शेषाणामपि विशेषतस्तु—इस सूत्र में एक सौ पचहत्तर वातवाही सिराओं का प्रत्यङ्ग विभाग वर्णन किया है। उसी के अनुसार पित्त, कफ और रक्त इनका वहन करने वाली सिराओं का प्रत्यङ्ग होता है। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ नेत्रों में वातवाही आठ हैं, वहाँ पित्तवाहिनी, कफवाहिनी और रक्तवाहिनी दस हैं; और जहाँ कानों में वातवाहिनी चार हैं, वहाँ पित्त-कफ-रक्तवाहिनियाँ दो दो हैं।

भवन्ति चात्र—

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ।

करांत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पचनश्चरन् ॥७॥

(वातवह सिराओं का प्राकृत कर्म—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ वात (शारीरिक) क्रियाओं को अप्रति-

हृत् रूप से बुद्धि के कर्मों के व्यवसायात्मक रूप से और (तन्त्र-यन्त्र धारण के लिए आवश्यक) अन्य गुणों को भी (उसी तरह अप्रतिहत रूप से) करता है ॥ ७ ॥

वक्ष्य—क्रियाणाम्—यद्विज्ञाया प्रसारणकुञ्चनानीना, वाक्त्रिणाया मापिजरीनाम् । (बह्वहण) । अर्थात् इन क्रियाओं में हस्तपादादि अवयवों के आकुञ्चन प्रसारणादि ऐच्छिक कर्म (Voluntary actions), तथा हृदयान्नादि अवयवों के प्रसारणाकुञ्चनादि अनेच्छिक कर्म (Involuntary) समाविष्ट होते हैं । बुद्धिर्नानाम्—बुद्धि का स्वाभाविक कार्य व्यवसाय याने सारासार विचार करने निर्णय करना है । यह कार्य तब ठीक हो सकता है, जब पँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन भी अपना काम ठीक करें । संवेध में पँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि इनके कर्मों का समावेश बुद्धिकर्मों में होता है । ज्ञानेन्द्र्य—ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान का ठीक ठीक उपयोग करना अमोह है । इससे Clearness का अर्थ निकलता है । हाराणचन्द्र 'बुद्धिर्नानाम् बुद्धिर्नान्द्रियगामोर्हो दुःखामानम्' ऐसा अर्थ करते हैं । परंतु 'क्रियाणाम्' पद से कर्मेन्द्रियों का प्रवेश होने के कारण फिर से उनका प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं है । अमोह से 'दुःखामान' का अर्थ भी ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर वायु के स्वाभाविक (Physiological) कर्मों का निर्देश हो रहा है । बुद्धि की इन्द्रियों द्वारा अर्थों का ठीक प्रवेश होना, मन के द्वारा अर्थप्रवेश में सहायता और उसका व्याकरण तथा बुद्धि के द्वारा उसका व्यवसाय ये इनके मोहविरहित कार्य हैं । जब ये कार्य ठीक नहीं होंगे, तब मोहयुक्त कार्य होंगे । इसमें दुःख का कोई संघष नहीं है । (अव्यवसाय और व्याकरण शब्दों के अर्थ के लिए प्रथम अध्याय के ३ सूत्र का वक्ष्य देखो) । अन्यान्य गुणांश्चापि—वायु के जो अन्य गुण होते हैं, उनको भी करने वाला । इन गुणों का वर्णन निदानस्थान के नीचे श्लोक के वक्ष्य में (प्रथम शब्द पृष्ठ ३१८) 'वायुः स्रज्ज्वरः' इस शब्द वचन से किया गया है । इस श्लोक के तथा १४ तक के श्लोकों के अर्थ के लिए आगे श्लोचयें श्लोक का वक्ष्य भी देखो ।

यदा तु कुपितो वायुः स्याः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदाऽस्य विजिघा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥ ८ ॥

(कुपित वातवह सिराओं के कर्म—) जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के (अस्य) विविध वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भोजिष्युतामन्नरश्चिमग्निर्दासिमिमेत्यात्मम् ।

संसर्पत्स्याः सिराः पित्तं कुर्याच्चाग्न्यान्गुणानपि ॥ ९ ॥

(प्राकृत पित्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ पित्त (शरीर में) कान्ति, अन्न में रश्चि, अट्रापि की प्रसरता, नीरोगता तथा अन्य गुणों को भी करता है ॥ ९ ॥

यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्वधहाः सिराः ।

तदाऽस्य विजिघा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥ १० ॥

(कुपित पित्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं का आशय करता है, तब शरीर के विविध पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

भेदमज्ञेयु रगधीनां स्वयं यत्समुद्रार्णताम् ।

करोत्यन्यान् गुणांश्चापि यत्सालः स्याः सिराश्चरन् ॥ ११ ॥

(प्राकृत कफवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ कफ अंगों में चिकनाई, सचियों की स्थिरता, शक्ति, उल्साहशीलता तथा अन्य गुणों को करता है ॥ ११ ॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्याः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदाऽस्य विजिघा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥ १२ ॥

(कुपित कफवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के विविध कफजन्य विकार होते हैं ॥ १२ ॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।

स्याः सिराः सचरद्रक्तं कुर्याच्चाग्न्यान् गुणानपि ॥ १३ ॥

(प्राकृत रक्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण, (शरीर का) वर्ण, स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को निःसंशय करता है ॥ १३ ॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्वधहाः सिराः ।

तदाऽस्य विविघा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥ १४ ॥

(कुपित रक्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ रक्त अपनी सिराओं में जाता है, तब शरीर के विविध रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

न हि घातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा ।

श्लेष्माणं वा घदन्त्येता अतः सर्वत्रहाः स्मृताः ॥ १५ ॥

प्रकुपितां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रचारताम् ।

धूममुन्मांगमनमतः सर्वत्रहाः स्मृताः ॥ १६ ॥

(सिराओं का सर्ववहत्व—) कोई भी सिराएँ केवल वात, पित्त अथवा कफ का वहन नहीं करतीं, अतः सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥ १५ ॥ कुपित हुए, (स्वप्रमाण से) बढ़े हुए (शरीर में) संचार करने वाले दोषों का अपना वास्तविक भाग छोड़कर दूसरे के भाग में जाना निश्चित होता है । इसलिये सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥ १६ ॥

वक्ष्य—ऊपर पाँचवें सूत्र में शरीरगत सात सौ सिराओं के घातादिवह करके चार प्रकार बनाये गये हैं, तथा उसके पश्चात् के श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की सिराओं के प्रत्येक कर्म भी वर्णन किये गये हैं । इससे यह कल्पना हो जाती है कि शरीर में वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह चार स्वतन्त्र सिरासमूह होते हैं और प्रत्येक समूह अपना कार्य स्वतन्त्रतया करता है । इस कल्पना की दूर करने के लिए पदार्थों और श्लोचयें श्लोक में सिराओं का सर्ववहत्व सकारण सिद्ध किया गया है । पाश्चात्य वैद्यक में शरीरपोषण की दृष्टि से रक्त को जो महत्व है, वह आनुवंशिक में रक्त को महत्व है । पाश्चात्य परिभारों में रक्त-परिचरण कहते (Blood circulation) हैं, आनुवंशिक में रक्त-सहज कहते हैं—रक्तदेरचरो यदाने समसहज्येयना ॥ आनुवंशिक की यह कल्पना भी ठीक है । धातुओं के लिए पोषकद्रव्य रक्त में ही होते हैं, जिसकी प्रवेश करने धातुओं का पोषण होता है । रक्त में शूल कण (Iled food corpuscles) मिलने पर रक्त बनता है । ये शूल कण प्राणवायु का प्रवेश करके पोषक द्रव्यों के सागरीकरण में सहायता करते हैं । यह

कार्य आयुर्वेद के अनुसार पित्त का है, इसलिए कभी कभी रक्त एक स्वतन्त्र दोष गिना जाता है और उसके गुणकर्म पित्त के समान माने जाते हैं। सूत्रस्थान के २१ वें अध्याय में तथा यहाँ पर भी रक्त का उल्लेख स्वतन्त्र दोष के तौर पर किया गया है—नतं देहः कफादस्ति न पित्तात्र च मारुतात् । शोणिनादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥ (सूत्र २१) । शरीर की सात सौ सिराएँ आराम की जलहारिणियों के समान रसहारिणियाँ (द्वितीय सूत्र) हैं और उन्हीं के द्वारा संपूर्ण शरीर का पोषण होता है, इस बात को कदापि भी न भूलना चाहिए। इसके पश्चात् यह बताया है कि इनमें कुछ वातवह हैं, कुछ पित्तवह हैं, कुछ कफवह हैं और कुछ रक्तवह हैं। अन्त में यह बताया है कि सब सिराएँ सर्ववह हैं। वातादिवह सिराएँ केवल अपने याने तत्तत् दोषस्थान में ही होती हैं, परंतु दोष सर्वशरीर-व्यापी होते हैं—दोषधातुमलमूलो हि देहः । (अष्टांगसंग्रह) । ते व्यापिनः । (अष्टांगहृदय) । इसलिए अन्य स्थान में वे अन्वियों की सिराओं में से बहते हैं, यह सिद्ध है। इससे भी सिराओं का सर्ववहत्व निश्चित है। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि शरीर में सिराओं के द्वारा पोषक रस बहता है और उस पोषक रस रूप वाहन पर आरूढ होकर वातादि दोष संपूर्ण शरीर में भ्रमण करके अपना अपना कार्य किया करते हैं। संक्षेप में, वातादि दोषों का कार्य आधुनिक परिभाषा में जिनको रक्तवाहिनियाँ (Blood vessels) कहते हैं उन्हीं के द्वारा होता है, यह निश्चित है। अब वातादिवह सिराओं के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन स्थानों में वातादि दोषों की उत्पत्ति होती है, उन स्थानों की सिराओं में उन दोषों की अधिकता होती है और 'व्यपदेशरतु भूयसा' इस न्याय से किंवा 'उत्कर्षापकर्षान्तु ग्रहणम्' इस दृष्टि से वे सिराएँ वातादिवह कहलाती हैं; अर्थात् उन सिराओं में भी अन्य दोष न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इस दृष्टि से प्राकृत और विकृत वातादिवह सिराओं का वर्णन केवल प्राकृत और विकृत वातादि दोषों के गुणों का ही वर्णन है। भेद इतना ही है कि वातादि दोष किसके ऊपर आरूढ होकर कार्य करते हैं, इसका स्पष्टीकरण यहाँ पर हो जाता है। अब सातवें श्लोक में वातवह सिराओं का वर्णन देखकर आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान (Physiology) के साथ उस श्लोक का अर्थ मिलाने की दृष्टि से वातवह सिराओं को कुछ लोंग नाडियाँ (Nerves) कहते हैं, परंतु वे नाडियाँ नहीं हैं, रक्तवह सिराएँ हैं। आयुर्वेद में (तान्त्रिक या वैदिक ग्रंथों का यहाँ विचार नहीं है) मस्तिष्कसंस्थान का वर्णन अंग-विनिश्चय (Anatomically) की दृष्टि से कहीं भी नहीं मिलता। मस्तिष्क का जो वर्णन मिलता है (चौथे अध्याय के ३३ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), वह अत्यंत अल्प और गौणरूप से मिलता है। परंतु मस्तिष्कसंस्थान के सब कार्यों का विवरण मिलता है और वे कार्य रक्त या रस की वाहिनियों द्वारा उनके साथ परिभ्रमण करने वाले वायु के कारण होते हैं, ऐसा माना गया है। एक दृष्टि से यह कल्पना ठीक भी है। जैसे, एक स्थान पर अधिक देर तक निश्चल बैठने से पैरों में झुनझुनी पैदा होती है। यह लक्षण नाडी-

गत (Nervous) है, परंतु पैरों की नाडियों को रक्त न मिलने के कारण उत्पन्न हुआ है। आयुर्वेद आधुनिक नर्वस सिस्टम (मस्तिष्कसंस्थान) के कार्यों का विवरण वात-दोष से रक्त ही के द्वारा करता है। इसलिए कार्य की दृष्टि से नाडी मालूम होने पर भी उसको नाडी मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे—यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः । तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥ मुहुर्मुहुस्तदात्तेपादात्तेपक इति स्मृतः ॥ यहाँ पर धमनी शब्द नर्व (नाडी) वाचक मालूम होता है, परंतु वास्तव में आयुर्वेद की कल्पना के अनुसार वह सचमुच धमनी (Artery) वाचक है। इसका कुछ अधिक विवरण आगे धमनी-व्याकरण अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। तत्रारूणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः ।

पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात् ।
अस्तुग्न्वास्तु रोहिरायः सिरा नात्युष्णाशीतलाः ॥ १७ ॥

(वातादिवह सिराओं के लक्षण—) इन (चतुर्विध सिराओं) में वातवह सिराएँ अरुण (किञ्चित् रक्तवर्ण) और वायु से भरी हुई होती हैं; पित्त से उष्ण और नील वर्ण होती हैं; कफ से गौरवर्ण, शीतल और स्थिर होती हैं; और रक्तवह सिराएँ रक्तवर्ण, न बहुत शीतल न उष्ण होती हैं ॥ १७ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर शरीरगत सिराओं के जो चार प्रकार वर्णन किये हैं, उनके लिए आधुनिक पारिभाषिक पर्यायशब्द निम्न प्रकार से दे सकते हैं। अरुणा सिरा—तत्र श्यावारूणाः प्रस्पन्दिन्यः सप्तमाः क्षणपूर्णरिक्ता वातरक्तं वहन्ति । (अष्टांगसंग्रह) । रोहिणी सिरा—समा गूढाः क्षिप्वा रोहिण्यः शुद्धरक्तम् । (अष्टांगसंग्रह) । ये दोनों प्रकार धमनी या शुद्धरक्तवाहिनी (Artery) के पर्याय हैं। पित्तवह नीला सिरा वास्तविक सिरा (Vein) का पर्याय हैं और कफवह सिराओं को लसवाहिनी (Lymphatics) का पर्याय समझ सकते हैं। सिराओं से नाडी का बोध कदापि भी नहीं हो सकता, इसका विवरण पीछे किया गया है। परंतु जो केवल अर्थ के अनुसार ही अंगविनिश्चय करना चाहते हैं, शारीरिक-दृष्ट्या नहीं, वे सिराओं को स्थान स्थान पर नाडी भी कहते हैं। पं० गंगाधर शास्त्री अरुण सिराओं से स्वतन्त्र नाडियाँ (Sympathetic nerve fibres which carry on all the involuntary vital functions) समझते हैं।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा भिषक ।

वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां भ्रुवं भवेत् ॥ १८ ॥

सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान् ।

षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्टि च सूर्यनि ॥ १९ ॥

शाखास्तु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु ।

पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमव्यध्याः परिकीर्तिताः ॥ २० ॥

(अव्यध्य सिराविभाग—) अब इसके बाद जिन सिराओं का वेध वैद्य को न करना चाहिए, उनको कहेंगे। उनके वेध से वैकल्य तथा मृत्यु निश्चय से हो जाती है ॥ १८ ॥

(प्रत्यंगसिरापरिगणन—) बुद्धिमान् वैद्य शाखाओं में चार सौ सिराओं को, कोष्ठ में एक सौ छत्तीस सिराओं को और जत्रुध्वं में एक सौ चौसठ सिराओं को समझे ॥ १९ ॥

हृत रूप से बुद्धि के कर्मों के व्यवसायात्मक रूप से और (तन्त्र-यन्त्र धारण के लिए आवश्यक) अन्य गुणों को भी (उसी तरह अप्रतिहत रूप से) करता है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—क्रियारणम्—भावक्रियाणां प्रसारणकुञ्जनादीनां, वाक्क्रियाणां माषितादीनाम् । (बह्वहण) । अर्थात् इन क्रियाओं में हस्तपादादि अवयवों के आकुञ्जन प्रसारणादि पच्छिक कर्म (Voluntary actions), तथा हृदयान्नादि अवयवों के प्रसारणकुञ्जनादि अनेच्छिक कर्म (Involuntary) समाविष्ट होते हैं । बुद्धिमंथारम्—बुद्धि का स्वाभाविक कार्य व्यवसाय याने सारासार विचार करके निर्णय करना है । यह कार्य तब ठीक हो सकता है, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन भी अपना काम ठीक करें । संवेप में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि इनके कर्मों का समावेश बुद्धिकर्मों में होता है । प्रमोहम्—ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त रूप शान का ठीक ठीक उपयोग करना अमोह है । इससे Clearness का अर्थ निकलता है । हारणचन्द्र 'बुद्धिकर्मणां बुद्धिकर्मोद्दिवाणाममोह उक्ताभावम्' ऐसा अर्थ करते हैं । परन्तु 'क्रियारणम्' पद से कर्मेन्द्रियों का ग्रहण होने के कारण फिर से उनका ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है । अमोहम् से उपायान् का अर्थ भी ठीक माहृम् नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर वायु के स्वाभाविक (Physiological) कर्मों का निर्देश हो रहा है । बुद्धि की हृग्दियों द्वारा अर्थात् का ठीक ग्रहण होना, मन के द्वारा अर्थग्रहण में सहायता और उसका व्याकरण तथा बुद्धि के द्वारा उसका व्यवसाय ये इनके मोहविरहित कार्य हैं । जब ये कार्य ठीक नहीं होंगे, तब मोहयुक्त कार्य होंगे । इसमें दुःख का कोई संबन्ध नहीं है । (व्यवसाय और व्याकरण शब्दों के अर्थ के लिए प्रथम अध्याय क ३ सूत्र का वक्तव्य देखो) । अन्वार्य गुणाश्चापि—वायु के जो अन्य गुण होते हैं, उनको भी करने वाला । इन गुणों का वर्णन निदानस्थान के नीचे श्लोक के वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१८) 'आयुर्व्यवस्था-अथ' इस शब्द वचन से किया गया है । इस श्लोक के तथा १४ तक के श्लोकों के अर्थ के लिए भागे सोलहवें श्लोक का वक्तव्य भी देखो ।

यदा तु कुपितो वायुः स्याः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥ ८ ॥

(कुपित वातवह सिराओं के कर्म—) जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के (अस्य) विविध वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भ्राजिष्णुताम नृहचिमग्निदीप्तिमरोगताम् ।

संसर्पत्स्याः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्यगुणानपि ॥ ९ ॥

(प्राकृत पित्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ पित्त (शरीर में) कान्ति, अन्न में रुचि, जठराग्नि की प्रसरता, नीरोगता तथा अन्य गुणों को भी करता है ॥ ९ ॥

यदा प्रकृपितं पित्तं सेवते स्वघृहाः सिराः ।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥ १० ॥

(कुपित पित्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं का आश्रय करता है, तब शरीर के विविध पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं यत्समुद्दिशताम् ।

करोत्यन्यान् गुणांश्चापि यत्सातः स्याः सिराश्चरन् ॥ ११ ॥

(प्राकृत कफवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ कफ अंगों में चिकनाई, सच्चियों की स्थिरता, शक्ति, उल्साहृदीलता तथा अन्य गुणों को करता है ॥ ११ ॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्याः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥ १२ ॥

(कुपित कफवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के विविध कफजन्य विकार होते हैं ॥ १२ ॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसशयम् ।

स्याः सिराः सचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान्य गुणानपि ॥ १३ ॥

(प्राकृत रक्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण, (शरीर का) वर्ण, स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को निश्चय करता है ॥ १३ ॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्वघृहाः सिराः ।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥ १४ ॥

(कुपित रक्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ रक्त अपनी सिराओं में आता है, तब शरीर के विविध रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

न हि घातं सिरां कार्श्विजं पित्तं केरलं तथा ।

श्लेष्माणं वा घृहन्त्येता अतः सर्वेनहाः स्मृताः ॥ १५ ॥

प्रदुष्टानां हि दोषोर्णां मूर्च्छितानां प्रधायताम् ।

ध्रुवमुन्मार्गागमनमतः सर्वेघ्नाः स्मृताः ॥ १६ ॥

(सिराओं का सर्ववहत्व—) कोई भी सिराएँ केवल

घात, पित्त अथवा कफ का वहन नहीं करतीं, अतः सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥ १५ ॥ कुपित हुए, (स्वप्रमाण से) बढ़े हुए (शरीर में) संचार करने वाले दोषों का अपना वास्तविक मार्ग छोड़कर दूसरे के मार्ग में जाना निश्चित होता है । इसलिये सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥ १६ ॥

यत्तन्व्य—उपर पाँचवें सूत्र में शरीरगत सात सौ सिराओं के वातादिवह करके चार प्रकार बताये गये हैं, तथा उसके पश्चात् के श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की सिराओं के प्रत्येक प्रत्येक कर्म भी वर्णन किये गये हैं । इससे यह कल्पना हो जाती है कि शरीर में वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह चार स्वतन्त्र सिरासमूह होते हैं और प्रत्येक समूह अपना कार्य स्वतन्त्रतया करता है । इस कल्पना को दूर करने के लिए पदहवै और सोलहवें श्लोक में सिराओं का सर्ववहत्व साक्षात् सिद्ध किया गया है । पाश्चात्य वैद्यक में शरीरपोषण की दृष्टि से रक्त को जो महत्त्व है, वह आयुर्वेद में रस को महत्त्व है । पाश्चात्य परिभाषा में रक्त-परिभ्रमण कहते (Blood circulation) हैं, आयुर्वेद में रस-संवहन कहते हैं—रसदेहचरो भवानो रससंवहनोपनः ॥ आयुर्वेद की यह कल्पना भी ठीक है । धातुओं के लिए पोषकद्रव्य रस में ही होते हैं, जिनको ग्रहण करके धातुओं का पोषण होता है । रस में लाल कण (Red Blood corpuscles) मिलने पर रक्त बनता है । ये लाल कण प्राणवायु का ग्रहण करके पोषक द्रव्यों के सान्द्रिकरण में सहायता करते हैं । यह

परिहरेत् . तासामेव च तालुन्येकां मृदाबुद्देशे ॥३०॥
(नासा की अवेध्य सिराएँ—) नासा में चौबीस सिराएँ हैं । उनमें से नासासमीपवर्ती चार सिराओं का परिहार करे ।
[चौबीस में से तालु में मृदु प्रदेश में एक है (उसका परिहार करे) ॥ ३० ॥

वक्तव्य—श्रीपनासिनयः—नासासमीपवर्ती । इससे Angul vein and artery का बोध होता है ।

अष्टत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः रेहरेत् ॥ ३१ ॥

(नेत्रों की अवेध्य सिराएँ—) दोनों आँखों में अठतीस सिराएँ होती हैं; इनमें से अषाड्गों की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अषाड्ग सिरा—इससे Zygomaticotemporal artery का बोध होता है ।

कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत् ॥
(कान की अवेध्य सिराएँ—) दोनों कानों में दस सिराएँ होती हैं; इनमें से शब्दवाहिनी एक एक सिरा को वचाना चाहिए ॥

वक्तव्य—शब्दवाहिनी सिरा—इससे Posterior auricular and anterior tympanic arteries का बोध होता है ।

नासानेत्रगतस्तु ललाटे पष्टिः, तासां केशान्ता-
मुगताश्चतस्रः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका, स्थप-
न्यां चैका परिहर्तव्या ॥ ३३ ॥

(ललाट की अवेध्य सिराएँ—) नासा और नेत्र की ही ललाट में साठ सिराएँ होती हैं । उनमें से केशान्त के साथ साथ आवर्त वाली चार, आवर्त की एक एक और स्थपनी की एक एक प्रकार सात) सिराओं को वचाना चाहिए ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—ललाटे पष्टिः—नासा और नेत्र की जो सिराएँ हैं, वे दोनों में से ६० सिराएँ ललाट में आती हैं । अर्थात् इन सिराओं की गणना करने की आवश्यकता नहीं है—याश्चतुर्विंशति-

सागता याश्च पटत्रिंशन्नेत्रगतास्तु पष्टिललाटे घातव्याः । अतो पृथग्गणनीयाः । ननु नेत्रगता अष्टत्रिंशत्, तत्तथं त्रिंशन्नेत्रगता इति व्याख्याय पष्टि पूरयति ? सत्यं, यद्यपि अष्टत्रिंशन्नेत्रयोः सिरा उक्तास्तथाऽपि तन्मध्ये द्वयोरपाङ्गाश्रितत्वात्तत्राभावः । अतो नेत्रगता अष्टत्रिंशदपि ललाटे पुनः पटत्रिंशदेवेति । (लक्षण) । केशान्ता-
मुगताः—ललाट या भालप्रदेश (Forehead) की ऊपर की वालों की मर्यादा के साथ साथ जाने वाली । इनसे Supraorbital and terminations of the frontal branch of the Superficial temporal arteries and veins का ग्रहण करना चाहिए । आवर्तयोरेकैका—इससे Frontal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । स्थपन्यां चैका—इससे Nasal branch of the frontal vein का ग्रहण करना चाहिए ।

शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतानामेकैकां परिहरेत् ॥ ३४ ॥

(शङ्खप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) शङ्खप्रदेशों में दस सिराएँ हैं । इनमें से शङ्खसंधि की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३४ ॥

१ पटत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः

२ 'श्वेतान्नासानेत्रगता बोद्धव्याः' इति वचचिदधिकपाठः

वक्तव्य—शङ्खसन्धिगत सिरा—इससे Superficial temporal vessels का ग्रहण करना चाहिए ।

द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, एकामधिपताचिति; एवमशस्त्र-
कृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥ ३५ ॥

(सिर की अवेध्य सिराएँ—) मस्तक में बारह सिराएँ हैं । उनमें से उत्क्षेप की दो, सीमन्तों की एक एक (पाँच) और अधिपति की एक सिरा का परिहार करना चाहिए । इस प्रकार जत्रु के ऊपर की पचास अवेध्य सिराएँ हैं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—उत्क्षेपयोर्द्वे—इससे Parietal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । सीमन्त और अधिपति की सिराएँ—इनसे Occipital and superficial temporal की शाखा-प्रशाखाओं का ग्रहण करना चाहिए । ये रक्तवाहिनियाँ बहुत बड़ी नहीं होतीं, तथापि इनके कट जाने पर रक्तस्राव जल्दी बंद नहीं होता तथा इनको पकड़ना भी मुश्किल होता है । इसलिए इनका परिहार करना बहुत आवश्यक है—When making incisions into the scalp, care should be taken to avoid the main arteries. The blood vessels, when wounded, do not contract and retract freely; and therefore, the haemorrhage from scalp wounds is often very considerable. Grey's Anatomy.

यहाँ पर जत्रु के ऊपर की सिराओं की जो कुल संख्या बतलाई है, उससे पृथक् पृथक् अंगों की संख्या का कुल योग अधिक आता है । अष्टांगसंग्रह में दोनों का योग मिलता है । इसलिए नीचे दोनों का तुलनात्मक कोष्टक दिया गया है—

जत्रुर्ध्वं सिरासंख्या का कोष्टक

| प्रत्यंग नाम | सुश्रुत | अष्टांगसंग्रह. |
|------------------------|---------|----------------|
| श्रीवा | ५६ | २४ |
| हनु | १६ | १६ |
| जिह्वा | ३६ | १६ |
| नासा | २४ | २४ |
| नेत्र | ३५ | ५६ |
| कर्ण | १० | १६ |
| सिर | १२ | १२ |
| जत्रुर्ध्वं कुल संख्या | १९ | १६४ |

शङ्खप्रदेश की सिराओं की गणना सुश्रुत के अनुसार नासानेत्रगत याने ललाट की सिराओं में होती है और अष्टांगसंग्रह के अनुसार कान की सिराओं में होती है—कर्णयोः षोडश, त एव च शङ्खयोः ।

भवति चात्र—

व्यापनुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः ।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दद्विसादीनां यथा जलम् ॥ ३६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थानं सिरावर्णविभक्ति-

शारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(अव्यय सिरापरिगणन—) इनमें से शाखाओं में न वेधने योग्य सोलह सिराएँ, कोष्ठ में बत्तीस और जगृष्य में पचास होती हैं ॥ २० ॥

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सफिन्न भवति; तासां जालधरा एवेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तत्रोर्वीसंज्ञे, लोहितार्क्षंशा चैका, पतास्त्वध्यध्याः, एतेनेतर-सन्धि चाह च व्याख्यातौ, एवमशस्त्रहत्याः षोडश शाखासु ॥ २१ ॥

(शाखागत अव्यय सिराएँ—) शाखागत चार सो सिराओं में से (तत्र) एक टाँग में सौ सिराएँ होती हैं, इनमें बाहर की जालधरा एक और अन्दर की तीन—ऊर्वा नामक दो सिराएँ और लोहितारक्ष सञ्जक एक—अव्यय होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो गया। इस तरह (चारों) शाखाओं में सोलह सिराएँ अव्यय हो गई हैं ॥ २१ ॥

वक्तव्य—जालधरा—टाँग में इससे दीर्घताना सिरा (Great saphenous) का बोध होता है, और बाहु में धर्हिवाङ्किका सिरा (Cephalic vein) का बोध होता है। ऊर्वा और लोहितारक्ष—टाँगों में इनसे Femoral artery and vein तथा बाहुओं में Brachial artery, Basilic vein और Axillary artery and vein का बोध होता है।

द्वात्रिंशच्छोष्यां, तासामष्टावशस्त्रहत्याः—द्वे द्वे विटपयोः कटीकतरुणयोश्च ॥ २२ ॥

(श्रोणिप्रदेश की अव्यय सिराएँ—) श्रोणिप्रदेश में पचास सिराएँ होती हैं। इनमें से आठ अव्यय हैं—विटपों की दो दो और कटीक तरुणों की दो दो ॥ २२ ॥

वक्तव्य—विटप—इससे धृपणरजसु Spermatic cord गत सिराओं का बोध होता है। कटीकतरुण—इससे Gluteal arteries and veins का ग्रहण होता है।

अष्टावष्टावैकैकस्मिन् पार्श्वे, तासामेकैकामूर्धगं परिहरेत्; पाश्वर्यसन्धिगतं च द्वे ॥ २३ ॥

(पार्श्वों की अव्यय सिराएँ—) एक एक पार्श्व में आठ आठ सिराएँ होती हैं। इनमें से एक एक ऊपर जाने वाली को और पार्श्वसन्धिगत दो सिराओं को भी (शस्त्रकर्म से) बचाना चाहिए ॥ २३ ॥

अतस्यो धिंशतिश्च पृष्ठे पृष्ठवशमुभयतः, तासां मूर्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद्दृष्टती सिरे ॥ २४ ॥

(पृष्ठ की अव्यय सिराएँ—) पृष्ठवश के दोनों ओर पीठ में चौबीस सिराएँ हैं। इनमें से ऊपर की ओर जाने वाली दृष्टती नामक सिराओं का परिहार करे ॥ २४ ॥

वक्तव्य—बहती—इससे Subscapular artery का ग्रहण करना चाहिए।

तावस्य षष्ठोदरे, तासां मेढोपरि रोमराजीमुभ यतो द्वे द्वे परिहरेत् ॥ २५ ॥

(उदर की अव्यय सिराएँ—) उतनी ही (चौबीस) सिराएँ उदर में हैं। उनमें से मेढ के ऊपर की रोमराजि के दोनों ओर की दो दो सिराओं का परिहार करे ॥ २५ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर शिथके ऊपर की जो अव्यय सिराएँ उनसे Inferior epigastric vessels का ग्रहण करना चाहिए। चत्वारिंशद्दशसि, तासां चतुर्दशशस्त्रहत्याः हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापालपस्तमे मयतोऽष्टौ; परं द्वात्रिंशद्दशशस्त्रहत्याः षष्ठोदरे भवन्ति ॥ २६ ॥

(छाती की अव्यय सिराएँ—) छाती में चालीस सिरा होती हैं, इनमें से चौदह अव्यय हैं—हृदय में दो, स्तनमूल दो दो, स्तनरोहित, अपल्पय, अपस्तम्भ इनके दोनों ओर व इस प्रकार पीठ, उदर और छाती में बत्तीस अव्यय सिराएँ होती हैं ॥ २६ ॥

वक्तव्य—स्तनरोहित इत्यादि—स्तनरोहितचोद्रे द्वे, अलापचोद्रेका, अपस्तम्भचोद्रेकैका, एवमष्टावित्थर्व। (इच्छण) छाती की सिराओं से Internal mammary, Intercostals lateral thoracic arteries and the branches का ग्रहण करना चाहिए। हृदय की सिराओं के हृदयसंबन्धित सिराओं को न समझकर हृदयप्रदेशगत सिराओं का ग्रहण करना चाहिए।

चतुःपर्धिसिराशतं जगृष्य ऊर्ध्वं भवति, तत्पट्टपञ्चाशच्छिद्योरोधरायां, तासामष्टौ चतस्रश्च ममं सज्ञाः परिहरेत्, द्वे श्काटिकयोः, द्वे धिघुरयोः, परं प्रीचायां षोडशाव्यध्याः ॥ २७ ॥

(प्रीचा की अव्यय सिराएँ—) प्रीचा के २२ एक एक चौसठ सिराएँ होती हैं। इनमें से चतुःपर्धिसिराओं के ४ होती हैं। उनमें से मर्मसंज्ञक बाह्य भी सिराएँ हैं। और दो धिघुरन कफ का कार से भी करतीं, अतः सिराओं में वक्तव्य—॥२७॥ इसे धृप, (स्वप्रमाणु मूलस्य carotid arteries) संचार कला, शाले दोषों का हृष्टि से द्वे श्काटिकयोः द्वे दूसरे के मार्ग में जाना सिराओं होता है। द्वे श्काटिकयोः पूर्ववद् कहेलाती हैं ॥ २७ ॥ इस र्श्यां and vein सञ्च में शरीरगत सगो वर्णन हन्वोरभयतोः संविचार प्रकार यताये र्श्यां का द्वे द्वे परिहरेत् ॥ २७ ॥

(हृत् की अव्यय सिराएँ—) हृत् में ४ सिराएँ हैं। इनमें से आठ सिराएँ हैं। उनमें से सधियों पिचवद, रले पिचवद को छोड़ देवे ॥ २८ ॥

वक्तव्य—सधियमन्यौ—इससे—Intercostals arteries and veins का बोध होता है।

पट्टपञ्चाशच्छिद्ययां, तासामष्टः षोडशाव्यध्याः, तासामष्टौ चतस्रश्च ममं सज्ञाः परिहरेत्, द्वे वाग्वहे च द्वे ॥ २६ ॥

(जिह्वा की अव्यय सिराएँ—) जिह्वा में छत्तीस सिरा होती हैं, इनमें नीचे की सोलह सिराओं में दो रसवहा और दो वाग्वहा अव्यय होती हैं ॥ २६ ॥

वक्तव्य—अथ गो-शाखाकृत्या—अथ षोडशोव्यध्याः रसवहे द्वे वाग्वहे द्वे—इससे Artery profunda linguae का बोध होता है।

द्वात्रिंशद्दश नासायां, तासामौपनासिन्यश्चतस्रः

वक्तव्य—अथ गो-शाखाकृत्या—अथ षोडशोव्यध्याः रसवहे द्वे वाग्वहे द्वे—इससे Artery profunda linguae का बोध होता है।

द्वात्रिंशद्दश नासायां, तासामौपनासिन्यश्चतस्रः

परिहरेत् . तासामेव च तालुन्येकां मृदाबुद्देशे ॥३०॥
 (नासा की अवेध्य सिराएँ—) नासा में चौबीस सिराएँ हैं । उनमें से नासासमीपवर्ती चार सिराओं का परिहार करे । इन्हीं चौबीस में से तालु में मृदु प्रदेश में एक है (उसका भी परिहार करे) ॥ ३० ॥

वक्तव्य—श्रौपनासिन्धवः—नासासमीपवती । इससे Angul ar vein and artery का बोध होता है ।

अष्टात्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत् ॥ ३१ ॥

(नेत्रों की अवेध्य सिराएँ—) दोनों आँखों में अठतीस सिराएँ होती हैं; इनमें से अपाङ्गों की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अपाङ्ग सिरा—इससे Zygomaticotemporal artery का बोध होता है ।

कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत् ॥
 (कान की अवेध्य सिराएँ—) दोनों कानों में दस सिराएँ होती हैं; इनमें से शब्दवाहिनी एक एक सिरा को वचाना चाहिए ॥

वक्तव्य—शब्दवाहिनी सिरा—इससे Posterior auricular and anterior tympanic arteries का बोध होता है ।

नासानेत्रगतास्तु ललाटे पष्टिः, तासां केशान्ता-गताश्चतस्रः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका, स्थप-यां चैका परिहर्तव्या ॥ ३२ ॥

(ललाट की अवेध्य सिराएँ—) नासा और नेत्र की ही ललाट में साठ सिराएँ होती हैं । उनमें से केशान्त के साथ साथ नासिक वाली चार, आवर्त की एक एक और स्थपनी की एक एक (प्रकर सात) सिराओं को वचाना चाहिए ॥ ३२ ॥

इस वक्तव्य—ललाटे पष्टिः—नासा और नेत्र की जो सिराएँ हैं, वे ललाटे में से ६० सिराएँ ललाट में आती हैं । अर्थात् इन सिराओं की गणना करने की आवश्यकता नहीं है—याश्चतुर्विंशति-गता याश्च षट्त्रिंशन्नेत्रगतास्ता एव पष्टिललाटे शतव्याः । अतो वृद्धगणनीयाः । ननु नेत्रगता अष्टत्रिंशत्, तत्कथं त्रिंशन्नेत्रगता इति व्याख्याय पष्टि पूरयति ? सत्त्वं, यद्यपि अष्टत्रिंशन्नेत्रयोः सिरास्तास्तथाऽपि तन्मध्ये द्वयोरपाङ्गाश्रितत्वात्तन्नाभावः । अतो नेत्रगता षट्त्रिंशदपि ललाटे पुनः षट्त्रिंशदेवेति । (उद्धरण) । केशान्ता-नुगताः—ललाट या भालप्रदेश (Forehead) की ऊपर की ओर की सिराओं की मर्यादा के साथ साथ जाने वाली । इनसे Supra-orbital and terminations of the frontal branch of the Superficial temporal arteries and veins का ग्रहण करना चाहिए । आवर्तयोरेकैका—इससे Frontal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । स्थपन्यां चैका—इससे Nasal branch of the frontal vein का ग्रहण करना चाहिए ।

शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतानामेकैकां परिहरेत् ॥ ३३ ॥

(शङ्खप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) शङ्खप्रदेशों में दस सिराएँ हैं । इनमें से शङ्खसन्धि की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३३ ॥

१ षट्त्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः

२ 'इत्येतां नासानेत्रगता बोद्धव्याः' इति क्वचिदधिकपाठः

वक्तव्य—शङ्खसन्धिगत सिरा—इससे Superficial temporal vessels का ग्रहण करना चाहिए ।

द्वादश मूध्न, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, एकामधिपताविति; एवमशस्त्र-कृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥ ३५ ॥

(सिर की अवेध्य सिराएँ—) मस्तक में बारह सिराएँ हैं । उनमें से उत्क्षेप की दो, सीमन्तों की एक एक (पाँच) और अधिपति की एक सिरा का परिहार करना चाहिए । इस प्रकार जत्रु के ऊपर की पचास अवेध्य सिराएँ हैं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—उत्क्षेपयोर्द्वे—इससे Parietal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । सीमन्त और अधिपति की सिराएँ—इनसे Occipital and superficial temporal की शाखा-प्रशाखाओं का ग्रहण करना चाहिए । ये रक्तवाहिनियाँ बहुत बड़ी नहीं होतीं, तथापि इनके कट जाने पर रक्तस्राव जल्दी बंद नहीं होता तथा इनको पकड़ना भी मुश्किल होता है । इसलिए इनका परिहार करना बहुत आवश्यक है—When making incisions into the scalp, care should be taken to avoid the main arteries, The blood vessels, when wounded, do not contract and retract freely; and therefore, the haemorrhage from scalp wounds is often very considerable. Grey's Anatomy.

यहाँ पर जत्रु के ऊपर की सिराओं की जो कुल संख्या बतलाई है, उससे पृथक् पृथक् अंगों की संख्या का कुल योग अधिक आता है । अष्टांगसंग्रह में दोनों का योग मिलता है । इसलिए नीचे दोनों का तुलनात्मक कोष्ठक दिया गया है—

जत्रूर्ध्व सिरासंख्या का कोष्ठक

| प्रत्यंग नाम | सुश्रुत | अष्टांगसंग्रह. |
|-----------------------|---------|----------------|
| श्रीवा | ५६ | २४ |
| हनु | १६ | १६ |
| जिह्वा | ३६ | १६ |
| नासा | २४ | २४ |
| नेत्र | ३८ | ५६ |
| कर्ण | १० | १६ |
| सिर | १२ | १२ |
| जत्रूर्ध्व कुल संख्या | १९ | १६४ |

शङ्खप्रदेश की सिराओं की गणना सुश्रुत के अनुसार नासानेत्रगत याने ललाट की सिराओं में होती है और अष्टांग-संग्रह के अनुसार कान की सिराओं में होती है—कर्णयोः षोडश, त एव च शङ्खयोः ।

भवति चात्र—

व्याप्त्यनुचिन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः ।
 प्रतानाः पश्चिनीकन्दाद्विसादीनां यथा जलम् ॥ ३६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभक्ति-शारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

कमलम्बु से विसादि (मूल) के प्रतान जैसे जल (कीचड़) में चारों ओर फैलते हैं, वैसे ही नाभि से चारों ओर सिराओं के प्रतान देह में फैलते हैं ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—रसयोगसागर में इस श्लोकगत सिरा का अर्थ नाडी (Nerve) किया गया है—रत्नच सिराशब्देन धानप्रन्वयो निर्दिष्टः । यदि यह श्लोक किमी तन्प्रथम में होता तो सिरा का अर्थ नाडी करने में कोई विरोध आपत्ति न होती, परंतु आयुर्वेद में, और विशेष करके जिस सिलसिले में यहाँ पर श्लोक आया है, उसके अनुसार सिरा का अर्थ रक्तवाहिनी ही करना उचित है, नाडी करना उचित नहीं है । महामहोपाध्याय गणनापसेन प्रत्यक्षशरीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ६९) में इस श्लोकगत नाभि और सिरा का अर्थ नाडी ही करते हैं—भन हि शेषोक्ते पय मणिराख्यचक्रात् समन्वत प्रथमः नाड्यो लक्ष्यते विसतनुसदृशाः, न पुन रक्ताहिन्यः प्रयास्य, इति स्फुटमिव दृशमदृशान् ॥ परंतु संज्ञार्थकविमर्श में धमनी-विवरण के समय इस श्लोकगत सिरा को 'रक्तप्रणाल्यः' कहते हैं—यद्य तत्रैव स्वमरुत्तार्थ—धमनीनां सुशुक्लान् नाभिप्रभवत् सक्रमयितुं नामिषदस्य मेदुला भवद्गोया सहितं त्वायनल कर्डं (Medulla oblongata with spinal cord)—अर्थात् 'सशीर्षकमुष्मनाकाण्ड' रूपार्थं पण्डितप्रमाणेन स्वप्रतिभया भादिष्टान्, सोऽपि विदुषामुपैर्दानमेव कल्पयति, निमूलत्वादसम्बत्वाच्च । न च तावतापि चतुर्विंशतिसंख्यधमनीनां तत्प्रभवत्संगतिः सुकरा, तत्प्रभवाना नाडीनां षट्सप्तसिद्धत्वात् । किञ्च नामिषदस्यैवदृशार्थकल्पने सिराणामपि नाभिप्रभवत् समानार्थमेव समर्थनीयम् । उक्तान्नाय शक्तिमयानुसारेणेति न विसतन्वन् । उक्तं हि—'वायत्यस्तु सिराः काये सश्वन्ति शरीरिणाम् । नाभ्या सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्वतः ॥ न्यायुवनयमिवो देवं नाभिन प्रथमाः सिराः । प्रताना पत्रिनीकन्दारिसादीनां यथा जलम् ॥' अन्यथा, सुशुक्ले धमनीव्याकरणे भवत्क्षेत्रेति यद् प्राचीनवचनद्रवम्, तत्र—'यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु विधेयुः च । धमनीनां तथा खानि रसो वैशेषोक्ते ॥' प्रथमवचनं धमनीनां सुविरत्वं रमवत्त्वं च स्पष्टमभिपठे । द्वितीयवचने तु 'पञ्चेन्द्रिय पञ्चसु भावयन्ति' इत्युक्त्या सञ्चारइनाख्यं एव प्रतीयते । तस्माद् धमनीसञ्चारा इत्यर्थ-त्वमनेरार्थत्वं वा स्वीकृतव्यम् । यद्य सुशुक्ले एवस्थाने धमनीनां दृश्य-प्रभवत्समिधाव शरीरे नाभिप्रभवत्सुशुक्लं तद् गर्भस्वहाताभिप्रायेणेति इत्या समाधेयम्, न पुन सर्वाचार्यसमन्वत् प्रत्यक्षसिद्ध धमनीनां दृश्यत्वमप्यदृश्यम् ॥ पृष्ठ ७० । इसके अंग्रेजी अनुवाद में लिखते हैं—If Nabhi means Medulla oblongata and Spinal Cord in the case of Dhamaani's, why should it not mean the same thing in the case of sira's also ? so the confusion seems worse confounded ! Probably the emerging of Sira's and Dhamaani's through the Nabhi (Naval), mentioned in Sushruta, has been said in reference to the foetal circulation. The abastri has missed this point altogether. Page 74 म० म० गणनापसेन जी का हितार्थ कथन ठीक है, प्रथम कथन गलत है । क्योंकि वहाँ पर केवल अर्थ की ओर ध्यान देकर सिरा का अंगविनिश्चय करने की कोशिश की गई है, संदर्भ आयुर्वेदशास्त्र की इति से नहीं । अंगविनिश्चय करते समय (Identification of the old

*anatomical terms for modern anatomical terms) संपूर्ण आयुर्वेद का विचार न करके केवल स्थानिक अर्थ का विचार किया जाय तो इस प्रकार के भववस्था प्रसंग और विस्वादा (चौथे अध्याय के ३३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) स्थान स्थान पर उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है । इस विषय का अधिक विवरण नीचे अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में भी किया गया है, उसको देखो । अथ हम के याद अवश्य सिराओं का कोश दिया जाता है—

शरीर को अवेद्य सिराएँ

| अंग | नाम | अंग्रेजी पारिभाषिक नाम |
|------------|----------------------|---|
| अधःशाला | जालधरा | Great saphenous vein |
| | ऊर्ध्व | Femoral artery and vein |
| | लोहिवाच | " |
| ऊर्ध्वशाला | जालधरा | Cephalic vein |
| | ऊर्ध्व | Brachial vessels |
| | लोहिवाच | Axillary vessels |
| शोथो | विटप | Spermatic vessels |
| | कटीरस्य | Gluteal vessels |
| पृष्ठ | बृहती | Subscapular artery |
| | मेदोपरि | Inferior epigastric vessels |
| वक्ष | स्वममूलादि | Internal mammary and lateral thoracic vessels |
| मोवा | मातृका | Carotid arteries and Jugular veins |
| | कुण्डलिका | Occipital vessels |
| | शिरुर | Posterior auricular vessels |
| हनु | हनुसधि | Internal maxillary vessels |
| जिह्वा | रसवेद, वागवेद | Deep lingual vessels |
| नाभा | शैषनासिनी | Angular vessels |
| नेत्र | अपराग | Zygomatico-temporal vessels |
| कर्ण | सुब्दवाहिनी | Anterior tympanic vessel |
| ललाट | केशान्तातुलना | Supraorbital, Superforis Temporal vessels |
| | भावंत | Frontal branch of the Superficial temporal |
| | स्वपनी | Nasal branch of the frontal vein |
| | सुंक्सर्पिणः | Superficial temporal vessels |
| | उत्प्रेर | Parietal branch of the Superficial temporal |
| | सोमन्त } अभिपति } | Branches of the occipital and Superficial vessels |

ही धारकरार्थका नोविदितामनेन विरचितामायुर्वेदरहस्य-दीपिकायां सुशुभमाशरीरार्थं शरीररथाने निरावर्धनात्मिक शरीर नाम सममोऽप्याव समात् ॥ ७७

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः सिरान्वयविधिशारीरं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अथ इसके बाद सिरान्वयविधि शारीर का व्याख्यान करेंगे, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वालस्थविररुक्तज्ञतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमघाध्व-
स्त्रीकपित्तमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरित-
क्लीवकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपक-
पक्षाघातोपश्लपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न
विधेत्, याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चाहृष्टाः, दृष्टाश्चा-
यन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति ॥ २ ॥

(सिरावेध का निषेध—) बालक, घृद्ध, रुच, क्षत-
क्षीण, दरपोक, परिश्रान्त (थका हुआ), स्त्रीसंग मद्यसेवन
और प्रवास से थका हुआ, जिसे वमन हुआ है, जिसे विरेचन
हुआ है, जिसे निरुहवस्ति दी गई है, जिसे अनुवासन वस्ति
दी गई है, जिसने रात में जागरण किया है, नपुंसक, कृश,
गर्भिणी, कास, श्वास, अतिज्वर, शोष, आक्षेपक, पक्षाघात,
अनशन, तृषा, मूर्च्छा इनसे पीड़ितों का सिरावेध न करे;
तथा अव्यध्या सिराओं का, वेधन योग्य, परन्तु दिखाई न दे
उनका, दीखने पर जिनका यन्त्रण न किया गया है उनका,
यन्त्रण करने पर भी जो न उठी हों उनका वेध न करे ॥ २ ॥

वक्तव्य—गलस्थविरादि—ये रोगी दौर्बल्य, भीति, सुकु-
मारता या रोगविशेष के कारण सिरावेध का शस्त्रकर्म या
तज्जन्य रक्तनाश वरदाशत नहीं कर सकते, अतः इनके संबंध
में सिरावेध न करना चाहिए। डल्हणाचार्य प्रत्येक में सिरावेध
न करने का कारण अपने मतानुसार देते हैं—वालस्थविरयोरसं-
पूर्णधातुकीयत्वात् सिरां न विधेत्। रुक्तक्षतक्षीणानां वातप्रकोप-
मयात् सिरां न विधेत्। क्षत इति उरःक्षतयुक्तः, खड्गाद्यभिहतो वा,
क्षीणः क्षीणधातुः, गयी तु क्षतेन क्षीणस्तस्यानिलव्याधिमयात्र
विधेदिति व्याख्याति। भीरोश्च तमोवद्वलत्वाल्लोहितदर्शनेन मूर्च्छा-
मयान्न विधेत्। परिश्रान्तस्य श्रमकुपितो वायुः शोषितावसेचनेनाति-
प्रावत्यं प्राप्य शरीरव्यापादकः स्यात्। मद्यस्य मदविक्षिप्तचित्तात्सा-
विमूर्च्छाकरत्वात्, अध्वस्त्रीकपित्तस्य वातप्रकोपमयात्र विधेत्।
वान्तविरिक्तियोरकृतसंसर्जनयोरपीतस्नेहयोर्वमनविरिकान्तरमेव वात-
प्रकोपमयात् सिरां न विधेत्। आस्थापितजागरितयोर्मन्त्रप्रकोपम-
यात्र विधेत्। अनुवासितस्य मन्देश्च भूयोऽभिमाम्भयमयात्। क्षीवस्य
प्रधानधातुक्षयेणाल्पसत्त्वेन च निश्चितविनाशत्वात्। कृशस्य गर्भि-
णीनां नोपक्षीणधातुत्वाद् देहसंदेहमयात्, कासश्वासशोषिणामप्यप-
चोयमानधातुत्वेन देहसंदेहमयान्न विधेत्। प्रवृद्धज्वरस्यासक्तत्वात्
प्रलापादिमयात् सिरां न विधेत्।

वाल और वृद्धों में सिरावेध का निषेध, जैसे कि
डल्हणाचार्य ने बताया है, असंपूर्ण क्षीणधातु के कारण
नहीं है। ये भी आवश्यकता पड़ने पर शोणितावसेचन
सहन कर सकते हैं, परन्तु सुकुमार या दरपोक होने के
कारण सिरावेध का शस्त्रकर्म और रक्तदर्शन सहन नहीं
कर सकते। इसलिए सूत्रस्थान के १३ वें अध्याय में लिखा
है—रूपाव्यवालस्थविरभीरुवलनारीडुकुमारानामनुग्रहार्थं परम-
सुकुमारोऽयं शोषितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः । इसकी

टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—असुकुमारोपायस्तु प्रच्छन्नं
सिरान्वयधनं च । सिरां न विधेत्—यह निषेध साधारण
परिस्थिति में किया गया है। जब विशेष परिस्थिति या
विशेष कारण उत्पन्न होते हैं, तब सिरावेध के द्वारा शोणित
मोक्षण कर सकते हैं—न तस्य निषेधो विपसंसद्योपसर्गात्यधिक-
व्यापिषु। (अष्टांगसंग्रह)। जैसे, बच्चों में खोसी, श्वास-
कृच्छ्र, ज्वर इत्यादि लक्षण तीव्र होते हैं, तब (Broncho-
pneumonia), तथा ज्वर और श्वासकृच्छ्र के साथ स्वरयन्त्र
शोथ (Laryngitis) होता है, तब गले में सिरावेध करने
से फायदा होता है। अथवा गर्भिणी में जब गर्भाक्षेपक
या गर्भापतानक (Eclampsia प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६३ देखो)
उत्पन्न होता है, तब शरीरगत विष को निकालने के लिए
सिरावेध किया जाता है और उससे बहुत फायदा होता
है। अथवा पक्षाघात में जब रक्त का भार अधिक रहता
है, तब भी सिरावेध से रक्तमोक्षण करने पर फायदा होता
है। अन्तःशाल्यता या रक्त जमने के कारण (प्रथम खण्ड
पृष्ठ ३२५ देखो) पक्षाघात होता है, तब सिरावेध से जुक्तान
होता है। इसलिए पक्षाघात में कारणों के अनुसार सिरावेध
का निषेध या विधि होती है। अथवा जब सर्प काटता है,
तब रक्तगत विष का उत्सर्ग कराने के लिए मनुष्य निरपेक्ष
दंशस्थान की सिरा का वेध किया जाता है और उससे
फायदा होता है—समन्तवः सिरां विध्येदंशान्तु कुशलो भिषक्।
रक्तं निहियमाथे तु कृत्वं निहियते विषन् । तस्माद्विज्ञावयेदक्तं
सा एतस्य परमा क्रिया ॥ (सुश्रुत)। अथवा आक्षेपक (Convu-
ulsions) जब घृक्करोगजन्य मूत्रविषमयता (Uremia) के
कारण या मस्तिष्कगत रक्ताधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं,
तब सिरावेध से फायदा होता है। याश्चावध्याः—किसी
रोग में सिरावेध की आवश्यकता होने पर भी पिछले
अध्याय में प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की जो अव्यध्या सिराएँ
बतलाई गई हैं, उनका वेध न करना चाहिए। याश्चाहृष्टाः—
जो सिराएँ दिखाई न दें, उनका वेध न करना चाहिए।
सिरा दिखाई न देने के निम्न कारण होते हैं—(१) सिराएँ
साधारणतया उत्तान (Superficial) होती हैं, इसलिए
दिखाई देती हैं। जो गम्भीर होती हैं, वे नहीं दिखाई
देतीं। इसलिए गम्भीरता प्रथम कारण है। (२) अस्यूलता—
वेध के लिए साधारणतया स्थूल या मोटी सिरा प्रशस्त
होती है, जो दीख पड़ती है, उठती है और यन्त्रित भी
की जाती है। जो सिरा छोटी होती है, वह दीख नहीं
पड़ती। (३) अभाव या स्थानान्तर—सिराओं (Veins) के
सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि उनका
स्थान निश्चित रहता है तथापि कई बार वे अपने स्थान में
न होकर इधर-उधर मिलती हैं या कई बार उनका अभाव
होता है। यह स्थिति मुख्यतया उत्तान सिराओं के सम्बन्ध
में होती है। इन कारणों से जब यथोक्तसिरा नहीं मिलती,
तब समीपवर्ती दूसरी सिरा का ग्रहण करने के लिए
वाग्भटाचार्य कहते हैं—यथोक्तानामदर्शने । मर्महीने यथासत्त्वे
देशेऽन्यां व्यधयेच्छराम्। (अष्टांगहृदय)। दृष्टाश्चायन्त्रिताः,
यन्त्रिताश्चानुत्थिताः—इसका कारण आगे ३६वें श्लोक में
(सिरासु क्षिप्तो नास्ति) दिया गया है। ठीक यन्त्रण न करने से
सिरा का उत्थान ठीक नहीं होता और उत्थान ठीक न होने से

वेधन के कर्म में कठिनाई उत्पन्न होती है, जिनसे हुए व्यधन के दोष (आगे ३१वाँ सूत्र देखो) उत्पन्न होते हैं और सिरा-वेध का काम भी नहीं होता।

शोणित्वात्सेकसाध्यश्च ये विकाराः प्रागभिहित्वास्तेषु चापकेष्वन्येषु चानुकेषु यथाभ्यासं यथाभ्यासं च सिरां विधेत् ॥ ३ ॥

(सिरावेध निर्देश—) रक्तमोचण से साध्य होने वाले जो रोग पहले निर्दिष्ट किये गये हैं, तथा जो अन्य (शोणित्वात्सेकसाध्य) अनिर्दिष्ट रोग हैं, उनमें अपकावस्था में यथाभ्यास तथा यथाविधि सिरा का वेधन करे ॥ ३ ॥

वक्तव्य—भागभिविधा—सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के चौतीसवें श्लोक में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८९ देखो), इसके सिवा रक्तज और खाव्य विकारों का निर्देश २४ वें अध्याय के १० वें सूत्र में और २५वें अध्याय के ११-१४ वें श्लोकों में किया गया है। अपकेषु—अनेक रोग शोथ (Inflammation) के कारण उत्पन्न होते हैं। शोथ के स्थान में हमेशा रक्षाधिक्य हो जाता है और इसी रक्त के द्वारा स्थानिक विकृति का निराकरण होता है। शोथ के दो पर्यवसान मुख्यतया होते हैं—१) उपशम (Resolution), और २) पाक (Suppuration)। जब पाक बन जाता है, तब रक्तमोचण से कोई फायदा नहीं होता। रक्तमोचण से उपशम होने में सहायता होती है—वेदनोपशमायार्थं तथा पाकशमयश्च। अचिरोत्थानिते शोके कुर्वात् शोथिनमोचयन् ॥ सशोके कठिने श्यामे सरके वेदनावलि। सरथे विभवे नासि जले विस्तारण चित् ॥ (सुश्रुत, चि० १)। हृम्लिष्ट रोग में जब तक उपशम होने की संभावना होती है, तब तक रक्तमोचण का इलाज करना उचित है। रक्तमोचण से उपशम में सहायता होती है तथा वेदना कम होती है। इसकी आधुनिक शास्त्रज्ञ भी मानते हैं। परन्तु उसके साथ रक्त का मोचण करने से स्थानिक प्रतिविकार-नासिकी कुछ कम हो जाती है, ऐसी उमकी राय है। हृम्लिष्ट आधुनिक चिकित्सक रक्तमोचण के विपक्ष में हो गये हैं। रक्तमोचण उसी समय किया जाता है, जब शोथ-जन्य रक्षाधिक्य मर्यादा से अधिक होता है और रोगी भी रक्तल (Plethoric) होता है। यथाभ्यासम्—इसके निम्न तीन अर्थ होते हैं। इनमें प्रथम अर्थ अधिक प्रशस्त माल्य होना है—(१) अश्यास्य का अर्थ परश्यास्य, पश्यास्य प्रश्यास्य (Exact)। यथाभ्यास, जिस रोग में जहाँ पर सिरावेध करने की परम्परा होगी, उसके अनुसार। इस प्रकार का अर्थ निम्न वाक्य में मिलता है—अथ यथाभ्यासम् अभिधीयताम्। (उत्तर-रामचरित)। संशेष में गुरूपदिष्ट मार्ग द्वारा। (२) अभ्यास—सामीप्य या निकटता, यथाभ्यास समीपवर्ती। जहाँ पर रोग होता है, उसके समीप में होने वाली सिरा—यथाभ्यासमिति यथासमीपमित्यर्थ। (दृष्टव्य)। (३) यथाभ्यास यथासत्रम्, यत्न मुख्यानामरक्षणविषयम्। स्मरन्ति च—वधोचरनगरदर्शनं। मार्गहीने यथासने देवोऽन्यं व्यधयेच्छिराम्। (हाराणचन्द्र)। यथाभ्यासम्—जैसी कि आगे व्यधयेषु की विधि बताई गई है, उसके अनुसार। यथाविधि—भ्यासयश्च क्षेत्रस्वेदादिकस्थाननित्तमेव यथाभ्यासम्। (दृष्टव्य)। हाराणचन्द्र इसका सम्बन्ध सिरा के साथ जोड़ते हैं—यथाभ्यास यथाविधान्, इति तु व्यधयाश्च यथाविधयश्च व्यधयानाम् ॥

प्रतिपिद्धानामपि च विषोपसर्गात्यधिकेषु सिरा-व्यधनमप्रतिपिद्दम् ॥ ४ ॥

(निपिद्ध रोगियों में सिरावेध के प्रयोजन—) विषोपसर्ग और आत्यधिक रोगों में (सिरावेध के लिए) निपिद्ध रोगियों का भी सिरावेध निपिद्ध नहीं है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—विषोपसर्ग—विष का उपसर्ग होने पर। सर्वविष के उपसर्ग में सिरावेध किया जाता है, इसका विवरण २ सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। इसके सिवा विषजन्य कामला (Toxic jaundice) में भी विष का नाश करने के लिए सिरावेध किया जाता है। कामला दो प्रकार की होती है। एक वह है, जिसमें पित्तोत्सर्ग में बाधा उत्पन्न होती है। इसको अवरोधजन्य (Obstructive) कहते हैं। दूसरी वह है जो संख्याया, फास्फरस, क्लोरोफार्म इत्यादि विषों के सेवन से तथा कुछ उपसर्गजन्य रोगों से उत्पन्न होती है। इसको विषजन्य कहते हैं। प्राणार एक जारेय (CO) की विषमयता में भी सिरावेधन से रक्तमोचण किया जाता है। आत्यधिक—अत्यय नाम प्रयोजन यत्न। प्राणनाशक, महाविषपित्तकर। जैसे, गर्भिणी के आपेय। इसमें यद्यपि गर्भिणी सिरावेध के लिए निपिद्ध होती है तथापि आपेयक में यह निषेध दूर हो जाता है।

तत्र स्निग्धस्विन्नमानरं यथादोषप्रणयनीकं द्रव-प्रायमर्चं भुक्तचन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासेनं स्थितं वा प्राणानवाधमानो यक्षपट्ट-चर्मान्तर्गत्कललतानामन्यतमेन यन्प्रयित्वा नाति-गाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशामासाद्य ययोर्कं शब्दं मोक्षाय सिरां विधेत् ॥ ५ ॥

(सिरावेधनविधि—) स्रेहन और स्वेदन किये हुए दोषविपरीत द्रवभूयिष्ठ आहार सेवन किये हुए, अथवा यवागूं पिये हुए, उचित समय पर उपस्थान करके बैठे हुए धातुवन्त्रित किये हुए रोगी को शरीर (के एक) प्रदेश (को रोग के अनुसार ठीक करके उस) में चक्षुपट्ट, चर्म (पट्ट), अन्तर्गच्छल (पट्ट), छता (प्रतान)। इनमें में किसी एक से न बहुत तग न बहुत शिथिल बंधनर उचित शब्द से प्राणों को बाधा न पहुँचाते हुए सिरा को प्राप्त करके वेधन करे ॥ ५ ॥

वक्तव्य—स्निग्धस्विन्न—सम्यक् स्नेहन और स्वेदन से शरीरगत दोष रक्षावाहिनियों में आते हैं और सिरावेध करने पर उत्सर्ग हो जाता है। इसलिये सिरावेध के पूर्व स्नेहन और स्वेदन दिया जाता था—नम्यक् स्निग्धस्विन्नपुनद्रवोमृता दोषा शोथिगमनुप्रविष्टा सम्यक् प्रच्यवते। (अष्टांग संप्रह)। अश्विष्य वा अतिस्विष्य होने से रक्त का घाव अधिक होता है—असुशोभितिरन्नेऽतिप्रवर्तते। (सुश्रुत, सूत्र १४)। दवादीवप्रत्यनीक—पार्वारिक दोष या अशुद्धोप या दोनों का प्रतीकार जिससे होगा, ऐसा आहार। संशेष में धानुमाभ्यासवत्या करने वाला। इत्थप्रायम्—द्रवभूयिष्ठ। रक्षावसेधन से शरीर का जो द्रवोत्सर्ग नष्ट होगा, उसकी पूर्ति करने के लिए द्रवभूयिष्ठ आहार दिया जाता है। मुक्तचन्तम्—लघुमुक्तचन्तम्। सिरावेध शास्त्रकर्म है। इससे रोगी

को मूर्च्छा आ सकती है । उसको दूर करने के लिए रोगी को हल्का आहार दिया जाता है—न मूर्च्छात्प्रथमसंयोगात् ॥ यवागूं पीतवस्त्रम्—यवागूं भी रोगी को मात्रा से पिलाना चाहिए—यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेन्निकम् । (सूत्र १४) । इस श्लोक की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—सा हि प्रायशः प्रक्लेदनात्मिका स्वैदलत्वाद् प्रवेष्णत्वाच्च शोणितं विलाययति प्रतिशब्दोऽत्र मात्रार्थः, तेन यवागूं मात्रया पीतवत् इत्यर्थः ॥ उपभाष्य—वलि, मन्त्रल, स्वस्त्ययनादि कराके । प्रत्येक शस्त्रकर्म के पूर्व देवतार्चन करने का प्राचीन रिवाज था । सूत्रस्थान के ५वें अधोपहरणीय अध्याय का ६ सूत्र देखो । आतीनम्—विस्तरे पर या किसी आसन पर बैठता हुआ । सिरावेध के लिए बैठना यही उत्तम आसन है । रोगी को खड़ा करने से मूर्च्छा जल्दी उत्पन्न होने का डर रहता है और विस्तरे पर लिटाने से शरीर से अधिक रक्तस्राव होने पर भी मूर्च्छा या चकर नहीं आता । मूर्च्छा रक्तस्राव रोकने के लिए एक सूचक लक्षण होता है । परंतु वह केवल बैठे हुए रोगी में ही योग्य सूचक होता है । स्थितं वा—किंवा यन्त्रणशाटक से सुयन्त्रित किये हुए । रोगी न हिलने पावे, इसलिए उसका यन्त्रण करने का रिवाज था । सिरावेध में प्रत्येक रोगी को सुयन्त्रित करने की आवश्यकता नहीं है । यन्त्रण दो प्रकार का होता है—सार्वदैहिक, रोगी को स्थिर करने के लिए, और स्थानिक, सिरा को उचित करने के लिए । स्थानिक की आवश्यकता प्रत्येक समय होती है, परंतु सार्वदैहिक की नहीं होती । स्थित से सार्वदैहिक नियन्त्रण का बोध होता है । संक्षेप में 'आतीनं स्थितं वा' का अर्थ 'सुनोपविष्टं सुयन्त्रितं वा' होता है । डल्हणाचार्य 'स्थितं' का अर्थ खड़े हुए (ऊर्ध्वभूतम्) करते हैं । प्राणानवाधमानः—यह वैद्य का विशेषण है । अतिवेध, अवेध्य सिरावेध, मर्मवेध इत्यादि से (आगे सूत्र ३१ देखो) वैद्य रोगी के प्राणों को बाधा पहुँचा सकता है । इसलिए 'मर्मादि का परिहार करके' इसका अर्थ करना उचित है । वक्षपट्टादि—इनका उपयोग शरीर का अंग बाँधने के लिए किया जाता है । इससे सिरागत रक्तप्रवाह बंद होकर सिरोत्थान में सहायता होती है । यह बंधन हमेशा वेधस्थान से कुछ ऊपर की ओर हृदय और वेधस्थान के बीच में होना चाहिए । नातिगाढं नातिशिथिलम्—गाढ और शिथिल का संबंध रक्तप्रवाह के साथ है । इतना तंग न होना चाहिए कि धमनीगत रक्तप्रवाह रुक जाय, तथा इतना शिथिल न होना चाहिए कि सिरागत रक्तप्रवाह जारी रहे । वक्षपट्ट इस प्रकार से बाँधा जाय कि धमनीगत प्रवाह में बाधा न हो परंतु सिरागत प्रवाह में बाधा पड़े । इससे सिरा में अधिकाधिक रक्त आने से और भाये हुए रक्त का मार्ग अवरुद्ध होने से उसका उत्पादन भली भाँति होता है । 'नातिगाढमुत्तमागे, नातिशिथिलं शाखासु' यह डल्हणाचार्य का कथन ठीक नहीं है । यह शब्दसमूह एक ही स्थान के बन्धन के लिए प्रयुक्त हुआ है—वखादीनामन्यतमेन नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशं यन्त्रयित्वा । आलाद्य—इसका सम्बन्ध 'सिरा' के साथ है; सिरा को प्राप्त करके । यथोक्तं शक्यम्—सिरावेध में कुठारिका, ग्रीहिमुख, आरा और वेतसपत्र इनका उपयोग होता है—कुठारिका ग्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने । (सुश्रुत,

सूत्र ८) । इनमें से अस्थि के ऊपर की सिरा का वेधन करने के लिए कुठारिका और मांसल प्रदेश स्थित सिरा का वेधन करने के लिए ग्रीहिमुख प्रयुक्त होता है । आगे १८ वाँ सूत्र देखो । इनमें से योग्य शस्त्र को ग्रहण करके तद्द्वारा । नैघातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते ।

सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥ ६ ॥

(सिरावेध के लिए अयोग्य काल—) अत्यन्त शीतकाल में, अत्यन्त उष्णकाल में, जोर से हवा चलते समय में, अत्राच्छादित दिन में सिराओं का वेध नहीं करना चाहिए; तथा नरोग (स्थिति) में भी कदापि (न करना चाहिए) ॥६॥

वक्तव्य—नैघातिशीते इत्यादि—काल का यह नियम अनात्यधिक अवस्था के लिए है । आत्यधिक अवस्था में कृत्रिम पद्धति से शीतोष्णादि दोषों का परिहार करके सिरावेध कर सकते हैं—शीते शीतप्रवीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम् । कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥ (सुश्रुत, सूत्र ३९) । चरक में भी लिखा है—तत्र साधारणलक्षणेषु तेषु वमनादीनां प्रवृत्तिविधीयते, निवृत्तिरितरेषु । इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति । आत्यधिके पुनः कार्मणि कामगृत्तुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यत्तुंगुणविपरीतेन...प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः ॥ (विमान ८) । 'प्रयोगे—वमन विरेचनादि का उपयोग पकाध वार नैमित्तिक कारण से नीरोग अवस्था में कर सकते हैं, परन्तु सिरावेध का उपयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता । आगे १६ वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो ।

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थनोराकुञ्चितयोनिवेश्यं कूर्परौ सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गृह्णाद्गुष्ठकृतमुष्ठीमन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीचामुष्णोरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो वैद्यो ब्रूयात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, अस्त्रकस्रावणार्थं च यन्त्रं पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्; एष उत्तमाङ्गतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः ॥ ७ ॥

(उत्तमांगसिरावेध की यन्त्रणविधि—) जिसकी सिरा का वेध करना हो, उस पुरुष को अरत्निमात्र ऊँचे आसन पर सूर्य की ओर मुख करके बैठाकर, दोनों टाँगों को सिकोड़कर, (दोनों जातु) संधियों के ऊपर कोहनियों को स्थापित करके, जिनमें अंगुठा अंदर की ओर हो ऐसी मुष्टियाँ बाँधे हुए हाथों को (ग्रीवा में) मन्याओं के ऊपर रखकर (पश्चात्) नियन्त्रण का पट्ट ग्रीवा और मुष्टियों के ऊपर फेंककर, पीछे की ओर खड़े हुए दूसरे पुरुष से ऊँचे किये हुए बायें हाथ के द्वारा यन्त्रणशाटक के दोनों सिरों को पकड़वाकर वैद्य (पुरुष को) कहे—कि सिरा को उठाने के लिए दाहिने हाथ से यन्त्रणशाटक को न बहुत गाढ़ न बहुत शिथिल लपेटे तथा रक्तस्रावणार्थं यन्त्रणशाटक को पीठमध्य में निष्पीडन करो और व्यध्य-

१ सक्थनोराकुञ्चितयोपरि कूर्परसन्धिद्वयं निवेश्य २ यन्त्रं पीडयेति, पृष्ठमध्ये च पीडयेत्.

मिर पुरप को मुख में वायु भरकर बैठाओ, मुख के अन्दर की सिराओं को झोबकर सिर की शेष सिराओं का वेध करने (के समय) की यह यन्त्रणविधि है ॥ ७ ॥

यक्तव्य—प्रत्यात्सिमुपम—आदिश्य से यहाँ पर प्रकाश से मतलब है, अर्थात् प्रकाश जिस तरफ से आता है, उस तरफ मुख करके। सुप्रकाशित मुख होने से, मुख के साथ सपूर्ण शरीर भी हो जायगा, सिरा देखने में तथा कुठारिका प्रहार करने में सहजता हो जायगी, अन्यथा इधर उधर प्रहार होने का डर रहेगा। अरिभिन्नात्रोच्चिदे—अनिष्टानुलिप्रमित हस्तमानेत्रोच्चिदे । (इहलक्षण) । मध्यागुल्लोक्षपरिवर्तनेषु प्रामाणिक कर । बद्धमुक्तिरो रत्तिरत्ति मवनिष्ठिक ॥ (इहायुध) । इस आसन के संबन्ध में हाराणचन्द्र लिखते हैं कि यह बैकार है, जमीन पर रोगी को बैठाने से भी सिरावेध का काम उत्तम होता है—अरिभिन्नात्रोच्चिदे इत्यकिञ्चित्करमिवावभाति, उभवेद भूमांशपवेशे कर्म कुर्वणानाममस्माक नियमेन सिद्धयवाप्नोति । सधिद्वयस्योपरि—जानुसंधिद्वयस्योपरि । अन्नगुंदाशुक्लमुष्टि—वृत्तसन्नाशुग्धेन पाणिना शुभा मुष्टियन् । इस प्रकार मुठ्ठी बाँधने से मुष्टिपीदन में जोर मिलता है। वाग्मटाचार्य मुठ्ठी में कुछ कपड़ा रखने के लिए कहते हैं—मुष्टिभ्यां वस्त्रभाभ्याम् । अँगूठा मध्य में रखने से जो फायदा होता है, वही फायदा यह रखने से मिलता है। वायुपुंमुवम्—मुखद्वार बंद करके वायु से गालों को फुलाना। इसके सिवा दन्तपीदन और उक्तासन करने के लिए कहा है—दन्तप्रपीडनोत्सास गण्ठाध्यानानि चाचरेत् । (अष्टागहृदय) । दन्तप्रपीडनादि कर्मों से सिरावेधपान में सहायता होती है। उक्तलेन क्रोधसंश्लेष वायुपुंने सिरा । (अष्टागसंग्रह) । यन्त्रणशाटकयन्त्रणवक्ष्येत् ॥ तत्र पादव्यध्यसिरस्य पाद समे स्थाने सुस्थिर स्थापयिरेत् ॥ ८ ॥ पादमीपरसकुचितमुच्चैः वृत्त्या व्यध्यसिरपाद जानुसन्धेरथः शाटकैनाविष्टय हस्ताभ्यां प्रपीड्यागुत्फः व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले श्लोता दीनान्मन्यतमेन यद्वा वा पादसिरां विधेत् ॥ ८ ॥

(पादसिरावेध यन्त्रणविधि—) जिसके पैर की सिरा का वेध करना हो, उसके पाँव को समस्थान पर अच्छी तरह से स्थिर करके दूसरे पाँव को कुछ सिकोदकर ऊँचा करके सिरावेध के पाँव को जानुसन्धि के नीचे (यन्त्रण) शाटक से (न बहुत बौलान न बहुत तग) छपेटकर (नीचे के भाग को) रखने तक दोनों हाथों से पीडन करके (सिरा उठने पर उसका वेधन करे), अथवा वेध करने के स्थान से चार अंगुल ऊपर यथादि में से किसी एक से बाँधकर सिरा का वेधन करे ॥ ८ ॥

यक्तव्य—इस्ताभ्यां प्रत्यात्सि—हाथों से पीडन करने पर भीतर का रक्त जहाँ सिरा में आकर बह उचित होती है। वरणा वा—यन्त्रणशाटक रखाने के दो स्थान बताये गये हैं; एक स्थान जानुसन्धि के नीचे और दूसरा व्यध्यप्रदेश से चार अंगुल ऊपर। इनमें से किसी एक स्थान में शाटक बाँधना चाहिए। अयोपरिष्ठादस्ती गूदाहृष्टरतमुष्टी सम्भ्यासने स्थापयित्वा मुद्रापपिष्टस्य पूर्वयन्त्रण यद्वा हस्त सिरां विधेत् ॥ ९ ॥

(हस्तसिरावेधन यन्त्रणविधि—) मुद्र से वेध हुए मनुष्य के अन्दर की ओर किये हुए अँगूठी की मुठ्ठी बधि हुए हाथों का

ऊपर उचित आसन पर स्थापित करके पहले की तरह बाँधकर हाथ की सिरा का वेधन करे ॥ ९ ॥

यक्तव्य—रत्नी—यहाँ पर दो हाथों की कोई आवश्यकता नहीं है, जिस हाथ की सिरा का वेधन करना हो उस हाथ को मुठ्ठी बाँधकर आसन पर रखने से काम होता है। इसलिए 'दस्त गूदाहृष्टरतमुष्टि सम्भ्यासने स्थापयित्वा' इत्यादि परिवर्तन करने से योग्य अर्थ निकलता है। अन्नगुंदाशुक्लमुष्टि—अँगूठा भीतर रखने से मुठ्ठी बाँधने में जोर मिलता है। इसके सिवा हस्तल मध्य के ऊपर अँगूठे का दवाव पड़ता है, जिससे वहाँ का रक्त ऊपर सिराओं में चला जाता है। मुठ्ठी को कई बार दवाने का कार्य करना चाहिए। इससे सपूर्ण हाथ की पेशियों का रक्त सिराओं में, विशेषतया उत्तान सिराओं में आकर वे उचित होती हैं। इसने काम न हो तो हाथ में पापान का मोल टुकड़ा भी देने का रिवाज था—पाषाणमर्दस्तस्य । (अष्टागहृदय) । पूर्ववत्—पाद की तरह कूर्परसन्धि के नीचे या वेधस्थान के चार अंगुल ऊपर यन्त्रणशाटक से बाँधकर । अर्वाचीन हस्तसिरावेधनविधि—प्राचीनकाल की तुलना में अर्वाचीन काल में सिरावेध का उपयोग बहुत मर्यादित हुआ है। इसके लिए प्रायः हाथ की सिरा पसद की जाती है। हाथ की सिराओं में भी कूर्पर के सामने की सिरा (Median cubital vein) अधिकतर काम में लाई जाती है। इसका एक कारण यह है कि यह वही सिरा है, जिससे काफी रक्त निकल सकता है। दूसरा कारण यह है कि अन्य सिराओं के समान यह बहुत चल नहीं है क्योंकि यह सिरा स्नायुपट्टिका (Lacertus fibrosus) से कुछ बँधी हुई है, जिससे इसकी धामने में सहजता होती है। सिरा को उचित करने के लिए कूर्परसन्धि के ऊपर यन्त्रणशाटक (Bandage) बाँधा जाता है तथा हाथ में कोई एकट्टी का टुकड़ा या यक्षपट्ट का बेलन (Bandage Roller) दिया जाता है। सिरावेध के समय रोगी कुर्सी पर या बिस्तरे पर बैठाया जाता है। फिर लक्ष्मा का विशेषण करके बाएँ हाथ के अँगूठे से सिरा को स्थिर करके दाएँ हाथ से नखर द्वारा उस पर छेदन किया जाता है। सिरा से निकलने वाला रक्त एक कौंच के वर्तन में इकट्ठा किया जाता है। इससे निकाले हुए रक्त की राशि मादम होती है।

शुभ्रसोविश्याच्योः सङ्कुचितजानुपूर्परस्य ॥१०॥

(शुभ्रसो और विश्याची में सिरावेधविधि—)शुभ्रसो और विश्याची में जानु और कूर्पर संकुचित किये हुए (मनुष्य की सिरा का वेधन करना चाहिए) ॥ १० ॥

श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषूप्रामितपृष्ठस्यावाकृदारस्करस्यो पविष्टस्य त्रिष्कुजितपृष्ठस्य विधेत् ॥ ११ ॥

(शुभ्रसो और विश्याची में सिरावेधविधि—) पीठ को उंचे और सिर को नीचे किये हुए, (अतएव) जिसकी पीठ तनी हुई है ऐसे बैठे हुए (पुरर) की पीठ, धोणी और कंधे में सिरा का वेधन करे। उद्रोरसोः प्रसारितोरस्करस्योप्रामितशिरस्करस्य त्रिष्कुजितदेहस्य ॥ १२ ॥

(उद्रोरस की सिरावेधनविधि—) छाती को प्रसारित किये हुए, सिर को उंचा किये हुए और बँध को फैलाये हुए (मनुष्य) की उद्दर और छाती का (सिरा का वेधन करे) ॥१२॥

वाहुभ्यामवलम्ब्यमानदेहस्य पार्श्वयोः ॥ १३ ॥

(पार्श्वसिरावेधनविधि—) बाहुओं से लटकते हुए (पुरुष) शरीर की पार्श्व की सिरा का वेधन करे ॥ १३ ॥

अत्रनामितमेदस्य मेढे ॥ १४ ॥

(शिखसिरावेधविधि—) जिसका शिख कुछ नीचे झुकाया गया है, ऐसे (पुरुष के) मेढ में (सिरावेधन करे) ॥ १४ ॥

वक्तव्य—शिख के सिरावेधन के लिए उसका हृषित होना माने रक्तपूर्ण होना बहुत आवश्यक है 'इसलिए वाग्भटाचार्य लेखते हैं—प्रहृष्टे माने । (अष्टांगहृद्य) । उन्नतमेदस्य मेढे । (अष्टांगसंग्रह) । प्रहृष्ट होने पर वह खटा हो जाता है, तब सिरावेध के समय उसको जरा दवाकर कर्म करना पड़ता है ।

उन्नमितविदप्रजिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम् ॥ १५ ॥

(जिह्वासिरावेधविधि—) जिसकी जिह्वा का अग्र ऊपर और मोड़कर अंदर गले की ओर किया गया है, ऐसे पुरुष की जीभ के नीचे की (सिरा का वेधन करे) ॥ १५ ॥

वक्तव्य—विदप्र—जिह्वा के अग्र को गले की तरफ लेना । इससे जिह्वा का अधोभाग स्पष्ट हो जाता है—जिह्वा विदप्र कर्ध्वमुत्तिप्यान्तग्रहेण गले नीता । (इन्दु) ।

अतिव्याप्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च ॥ १६ ॥

(तालु और दन्तमूल सिरावेधविधि—) मुख को अत्यन्त चौड़ा खोले हुए पुरुष की तालु और दन्तमूलों की (सिरा का वेधन करे) ॥ १६ ॥

एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतुन् बुद्ध्या-
ऽवेद्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात् ॥ १७ ॥

(अनुक्त यन्त्रणविधि—) इस प्रकार (वैध अपनी) बुद्धि से सिराओं को उठाने के लिए अन्य यन्त्रणोपायों को आविष्कृत करके रोग और शरीर के अनुसार (उनको सिरावेधन के) काम में लावे ॥ १७ ॥

वक्तव्य—यन्त्रणोपाय—पट्टादि से बाँधना यही केवल यन्त्रण का अर्थ नहीं है; शरीर या अंग को फैलाना, सेकोड़ना, विस्फूर्जित करना, टेढ़ा करना इत्यादि उपाय भी यन्त्रण में समाविष्ट होते हैं । संक्षेप में, सिराओं का उत्थापन करने में सहायता करने का हर एक कर्म यन्त्रण का उपाय होता है ।

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्,
अतोऽन्येष्वर्धयवमात्रं श्रीहिमात्रं वा श्रीहिमुखेन,
अस्थानामुपरि कुठारिकया विधेदर्थयवमात्रम् ॥ १८ ॥

(सिरावेधन में शस्त्रपातन का प्रमाण—) मांसल प्रदेशों में यवमात्र शस्त्र धुसाना चाहिए, इससे अन्यत्र (जहाँ मांस अधिक न हो) आधे जौ के बराबर या श्रीहि-मुख से श्रीहि के बराबर (वेधन करे) । हड्डियों के ऊपर कुठारिका से आधे जौ के बराबर वेधन करे ॥ १८ ॥

वक्तव्य—सिरावेध में शस्त्रपात का यहाँ पर जो प्रमाण बताया गया है, वह केवल मार्गदर्शन के लिए है । सिरावेधन में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेधन से सिरा में आर-पार छेद न हो, केवल सामने की दीवाल में हो । अन्यथा सिरासमीपवर्ती धमनी नाड़ी आदि में चोट पहुँचने का डर रहता है । आगे ३२वें सूत्र में दुष्ट सिरावेध भी देखो ।

भवन्ति चात्र—

व्यभ्रे वर्षासु विध्येत(त्तु) ग्रीष्मकाले तु शीतले ।

हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालाख्यः स्मृताः ॥ १९ ॥

(शस्त्रकर्म के लिए उचित काल—) वर्षाऋतु में जब बादल न हों तब, ग्रीष्मऋतु में शीतलकाल (पूर्वाह्न) में और हेमन्तऋतु में मध्याह्न में वेधन करे । शस्त्रकर्म के लिए (इन अनुचित ऋतुओं में) ये ही काल होते हैं ॥ १९ ॥

वक्तव्य—शस्त्रकर्म तथा वमनादि पंचकर्मों के लिए हमेशा प्रावट्, शरद् और वसन्त ये तीन साधारण लक्षण ऋतुचिह्नित होते हैं । वर्षा, ग्रीष्म और हेमन्त अतिशय लक्षणांशित होने के कारण निषिद्ध माने गये हैं । परंतु आत्ययिक अवस्था में सब ऋतुओं में चिकित्सा करनी पड़ती है । उस समय किस दिन और दिन के किस समय पर काम करना चाहिए, इसका विवरण इस श्लोक में किया गया है । पीछे भी ६ श्लोक की टिप्पणी देखो । सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक् ।

मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

(सुविद्धसिरा का लक्षण—) शस्त्र के सम्यक्प्रयोग से (विद्ध हुई) जो (सिरा) धारा रूप में कुछ काल तक रक्त को स्रवती है तथा रोकने पर बंद हो जाती है, उसको सुविद्ध जानना चाहिए ॥ २० ॥

वक्तव्य—रुद्धा—शारीरिक कर्मों का या शाटक का नियन्त्रण छोड़ करके जरा सा दवाने पर । दवाने का काम प्रायः अंगुलि से किया जाता है—अंगुल्यग्रेणावपीडयेत् । (सुश्रुत) ।

यथा कुसुम्भपुरोषेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका ।

तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥ २१ ॥

जैसे, कुसुम्भ (*Carthamus Tinctorius*) के फूलों (को तोड़ने) से प्रथम पीला रस बहता है, उसी प्रकार सिराओं के वेधन से प्रथम दुष्ट रक्त बहता है ॥ २१ ॥

वक्तव्य—रक्तमोक्षण से रक्तदोष तथा अन्य दोष दूर होकर स्वास्थ्य ठीक होता है, यह अनुभवसिद्ध बात है । इस अनुभव के आधार पर यह कल्पना की गई है कि जो रक्त प्रथम निकलता है, उसमें दोष होते हैं । परंतु यह कल्पना सिरावेधजन्य रक्तमोक्षण के संबंध में पूर्णतया ठीक नहीं है । सिरागत रक्त में संपूर्ण शरीर के रक्त का संबंध है—सिराऽद्वाभ्यापके रक्ते । यदि रक्त में कुछ दोष हो तो प्रारंभिक और अन्तिम रक्त में एक सा होगा और जितने प्रमाण में रक्त निकाला जायगा, उतने प्रमाण में दोष भी रक्त के साथ निकल जायगा । प्रथम खराब और पश्चात् शुद्ध यह कल्पना श्रंग, अलासु और प्रच्छ्यान इनके द्वारा निकाले जाने वाले रक्त के संबंध में ठीक है, क्योंकि वहाँ पर प्रथम स्थानिक रक्त का संबंध आता है । आगे २६ वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो ।

मूर्च्छितस्यार्तिभीतस्य श्रान्तस्य लृपितस्य च ।

न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः ॥ २२ ॥

(सिरावेधन से सम्यक्प्रवाह न होने के कारण—) वेहोश, अत्यन्त ढरे हुए, थके हुए, प्यासे (मनुष्य) को सिराएँ तथा (ठीक) न उठी हुईं और यन्त्रण की हुईं सिराएँ विद्ध होने पर (ठीक) नहीं स्रवती हैं ॥ २२ ॥

वक्तव्य—न वहन्ति—अल्पमात्रा में रक्त निकलता है या नहीं निकलता—शेषितं न स्रवति, अल्पं वा स्रवति ।

(सूत्र, १४) । इसके कारण मूर्च्छादि हैं । इन कारणों से सिरागत रक्तप्रवाह क्यों बंद हो जाता है ? इसका यथायं ज्ञान होने के लिए शरीरगत रक्त की राशि का रक्तवाहिनियों में और शरीर के विविध अंगों में किम प्रमाण में विभजन होता है, इसका विवरण करना आवश्यक है । रक्तवहसंस्थान के हृदय, धमनियाँ, धमनिकाएँ (Arterioles) और केशिकाएँ (Capillaries), तथा सिराएँ करके चार अंग होते हैं । हृदय से निकला हुआ रक्त धमनियों में, धमनियों से धमनिकाओं और केशिकाओं में, और केशिकाओं से सिराओं में आवर फिर से हृदय में प्रविष्ट होता है । (१) सिराएँ और धमनियाँ काफी मोटी मोटी होती हैं । धमनिकाएँ और केशिकाएँ अत्यंत छोटी होती हैं । परंतु इनकी सख्या अगणित होने के कारण इनकी समझ बहुत अधिक हो जाती है । एक शास्त्रज्ञ ने यह अनुमान किया है कि शरीर की संपूर्ण केशिकाओं का व्यत्यस्त क्षेत्रफल (Cross section area) महाधमनी (Aorta) के क्षेत्रफल से आठ सौ गुना के लगभग अधिक होता है । दूसरे शास्त्रज्ञ का कथन है कि यदि मारी केशिकाएँ एक रेखा में छापाई जायें तो उनकी लम्बाई पृथ्वी के घेरे से कई गुना अधिक हो जाती है । कहने का तात्पर्य यह है कि केशिकाएँ अत्यन्त छोटी होने पर भी उनकी समझ बहुत अधिक होती है । (२) धमन्यादि रक्तवाहिनियों के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनमें संकोच और विस्फार हो सकता है और इसका नियन्त्रण एक वाहिनी-प्रेरक विशेष केन्द्र (Vasomotor centre) के द्वारा और स्वतन्त्र नाडीसंस्थान (Autonomous Nervous system) के वाहिनीप्रेरक नाडियों से (Vasomotor Nerves) होता है । यह संकोच-विस्फार धमनियों और सिराओं से केशिकाओं में अधिक हो सकता है । (३) शरीर की संपूर्ण केशिकाएँ एक समय में विस्फारित नहीं रहती; शरीर के जितने अंग में कार्य होता है, उस अंग की केशिकाएँ विस्फारित होती हैं और दोष अंगों की कुछ संकुचित हो जाती हैं । (४) यद्यपि संपूर्ण शरीर में केशिकाएँ होती हैं, तथापि पचनसंस्थान में उनकी बहुत अधिकता होती है । इस विभाग को अर्द्धरिक्त (Pyloric) कहते हैं । इस विभाग की केशिकाएँ विस्फारित होने पर उनमें संपूर्ण शरीर के रक्त का तिहाई अंश रूस जाता है । इस अंश के अर्थ की दृष्टि से निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिए—केशिकाओं से रक्त सिराओं में आता है; शरीर की संपूर्ण केशिकाओं की समझ बहुत होती है । यदि वह सारी की सारी या केवल अर्द्धरिक्त विभाग की विस्फारित हो जायें तो वे संपूर्ण शरीर का रक्त अपने में रज्ज की भाँति सोव ले सकती हैं । ये सब विस्फारित होती हैं, तब इनकी समझ बढ़ने के कारण सारा इनके भीतर रक्तनिपीड़ (Blood pressure) कम होने के कारण सिराओं में रक्त नहीं जा सकता, जिससे वह रक्तहीन अतप्य निपतन (Collapsed) हो जाती हैं और धमन्य बनने पर भी रक्त न आने के कारण वे उरियत नहीं हो सकतीं । पृथिवी—मूर्च्छा के कारणों का और संश्लेष का कुछ विवरण पीछे का अध्याय के शरीरसंश्लेष सूत्र के वक्ष्य में किया है । हमने मान्यता हाता कि अर्द्धरिक्त अंगों में, विशेषतया उर्द्धविभाग में, केशिकाओं का अतिमूल्य और

उसी के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी यह मूर्च्छा की संश्लेष है । केशिकाओं का अभिस्तारण मूर्च्छा के कारणों का परिणाम वाहिनियों के प्रेरक केन्द्र के ऊपर जाने से होता है । सिरावेध करने से पहले यदि रोगी मूर्च्छित हो, या सिरावेध के समय रोगी मूर्च्छित हो जाय तो सिरावेध से रक्त नहीं निकल सकता, क्योंकि संपूर्ण शरीर का रक्त केशिकाओं में फँस जाता है तथा जिन केशिकाओं का रक्त विद सिरा में आता है, वे केशिकाएँ भी विस्फारित होती हैं और रक्त को अपने भीतर रख लेती हैं । अतिमौनस्य—भीति का परिणाम मस्तिष्कगत वाहिनीप्रेरक केन्द्र के ऊपर होकर वह कर्महीन हो जाता है, जिससे शरीर की केशिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं और सिरा को रक्त नहीं मिलता । बह्वृणाचार्य के 'अतिमौनस्यविभवादिनिवनातेन सिरायुजनिरोधात्' वचन का अर्थ इसी दृष्टि से करना चाहिए । शान्त-परिधम के कारण धके हुए मनुष्य का अधिकांश रक्त पेशियों में फँसा रहता है, जिससे सिरा में बहुत कम रक्त आता है । एतन्—मुषा शरीरगत जलधारा की कमी की सूचक होती है । जब शरीर में जलधारा कम होता है, तब सिराएँ भी ठीक नहीं उठतीं तथा वेध करने पर उससे ठीक साव नहीं होता । सिरावेध के पूर्व द्रव-मूषिष्ठ आहार देने का यही कारण है । अतिमौनस्य—अति शब्द का संबंध भीति के समान धान्त और मूषित के साथ भी लेना चाहिए । इन बातों का उल्लेख सूत्रधान के शोणितवर्णनीय अध्याय में (प्रथम खण्ड) पहले किया जा चुका है ।

स्त्रीण्यस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च ।

भूयोऽपराह्णे चिन्ताव्यासाऽपरेचुस्त्र्यहोऽपि घा ॥२३॥

(पुनर्वचन के लिए कारण और काल—) दुर्बल, अधिक दोषयुक्त और मूर्च्छा से आक्रान्त (मनुष्य) की सिरा फिर से अपराह्ण में, दूसरे दिन या तीसरे दिन खोलनी चाहिए ॥ २३ ॥

वक्ष्य—दोषण्य—दुर्बल मनुष्य से एक समय में अधिक रक्त का निर्हरण नहीं कर सकते हैं, इसलिए दो तीन बार करके उसमें रक्त निकालना चाहिए । बहुदोषण्य—एक समय निकाले हुए रक्त में शरीर से जितना दोष निकल जाना चाहिए, उतना नहीं निकल सकता । इसलिए अनेक बार करके अधिकदोषयुक्त रोगी का रक्त निकालना चाहिए—मूर्च्छायाऽभिहतस्य—रोगी दुर्बल और बहुदोष युक्त होने पर भी कई बार रक्त को देखकर मूर्च्छित हो जाने हैं । मूर्च्छा रक्तविधायन के समय का एक उपद्रव है । यह उपद्रव अधिकतर प्रवृत्तिविशेष के कारण ही उत्पन्न होता है—तन्मादास्य गणने मूर्च्छा निवृत्ति मानवाः । (सुभुत) । इसलिए 'मूर्च्छायाऽभिहतस्य' का अर्थ है 'रक्तविधायन के समय जाने रक्तधावन के बीच में मूर्च्छा उत्पन्न हुई है, उसकी निरा' । रक्तविधायन के बीच में अंग मूर्च्छा उत्पन्न हो जाय तो रक्तविधायन बन्द करके रोगी की मूर्च्छा दौलत जलादि के प्रयोग से दूर करने की कोशिश करनी चाहिए—यस्य तु सारणी रक्तं मूर्च्छा जायते तस्य विमुच्यन्तं शीतलनिर्मादं वागिषिर्वाभ्यन्तरेण शून्यं शून्यं शून्यं शून्यं पन्नाः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । भारत में मूर्च्छा उत्पन्न होने

के पूर्वरूप मालूम हो जाय तो विस्त्रावण बन्द करना चाहिए । प्रकृतिवैशिष्ट्य के अतिरिक्त अत्यधिक रक्तस्राव से भी मूर्च्छा उत्पन्न होती है । मूर्च्छा में, मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है । प्रकृतिवैशिष्ट्यजन्य मूर्च्छा में वाहिनीप्रेरक केन्द्र के अस्थैर्य से मस्तिष्केतर भागों में रक्त इकट्ठा होने से मूर्च्छा होती है और अतिस्त्रावजन्य मूर्च्छा में वास्तव में शरीर में रक्त की कमी होने से मस्तिष्क में भी होती है । सिरावेधन के समय रोगी को खड़ा रखने से रक्त की उचित राशि निकलने से पूर्व मस्तिष्क के ऊँचे स्थान के कारण उसमें जल्दी रक्त की कमी होकर मूर्च्छा आती है । लेटे हुए आसन में सिर हृदय के समतल होने से अधिक रक्त की राशि निकालने पर भी रोगी को जल्दी मूर्च्छा नहीं आती । इसलिए सिरावेधन के लिए बैठने का आसन उत्तम होता है । साऽपरैरुत्थयेऽपि वा— इनके अतिरिक्त पक्ष के या मास के वाद भी फिर विस्त्रावण कर सकते हैं—स्नेहोपरकुण्डेहरय पचाद्वा नृशृङ्पितम् । (अष्टांगहृदय) । मासमात्रं वा स्नेहादिभिरुपचर्य पुनर्विधेत् । (अष्टांगसंग्रह) ।

रक्तं श्लेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः ।

न चातिप्रसृतं कुर्याच्छ्रेयं संशमनैर्जयेत् ॥ २४ ॥

(रक्तविस्त्रावण में कुछ दोष श्लेष रहने का महत्त्व—) बुद्धिमान् वैद्य रक्त को कुछ दोषयुक्त रक्ते, परन्तु उसको अतिस्त्रावित न करे, (और जो कुछ भी) श्लेष (रहे, उस) को संशमन (ओषधियों) द्वारा निवारण करे ॥ २४ ॥

वक्तव्य—नश्लेषं दोषं कुर्यात्—शरीर में इकट्ठे हुए दोषों को निःश्लेष करना यह चिकित्सा का उद्देश्य होता है । जब तक दोष शरीर में श्लेष रहते हैं, तब तक रोग का पूर्ण निर्मूलन नहीं होता तथा रोगी भी पूर्णतया रोग से निर्मुक्त नहीं कहा जा सकता । रोगों की चिकित्सा ओषधियों द्वारा तथा शस्त्रप्रणिधान द्वारा की जाती है—शरीरदोष-प्रकोपे खलु शरीरभेदाश्रित्य प्रायशस्त्रिभिधमौषधिमिच्छन्ति—

अन्तःपरिमारजनं, वहिःपरिमारजनं, शस्त्रप्रणिधानं चेति । (चरक, सूत्र ११) । ओषधियों की विशेषता यह होती है कि उन्हीं के द्वारा शरीरगत दोषों की पूर्ण निःश्लेषता होती है, परन्तु यदि दोषों की राशि अधिक हो तो समय अधिक लग जाता है । शस्त्रकर्म की विशेषता यह होती है, उसके द्वारा थोड़े समय में शरीरगत अधिकांश दोष शरीर के बाहर निकाले जा सकते हैं और इसी दृष्टि से प्रथम अध्याय में लिखा है—अथस्त्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतमाशुक्रिया-करणात् । (सूत्रस्थान) । परन्तु इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शस्त्रकर्म के द्वारा दोषों की निःश्लेषता नहीं हो सकती । ओषधि और शस्त्रकर्म के भेद के स्पष्टीकरणार्थ यहाँ पर दो उदाहरण दिये जाते हैं—यदि शरीर में कहीं विद्रधि हुई हो तो उपनाहप्रलेप के द्वारा वह विद्रधि होकर ठीक हो जायगी, परन्तु इसके लिए अधिक समय लगेगा । यदि शस्त्र से चीरा लगाया जाय तो चीरा देते ही विद्रधि के अधिकांश दोष चले जायँगे, परन्तु निःश्लेषता नहीं होगी । इसके लिए फिर भी ओषधियों का प्रयोग करना पड़ेगा । केवल ओषधिचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रकर्म और ओषधि की संयुक्त चिकित्सा विद्रधि को थोड़े काल में ठीक कर देगी । वसा ही, जलोदर में अनुभव

आता है । केवल ओषधि की अपेक्षा शस्त्रकर्म से जल निकाल देने पर ओषधिचिकित्सा करने से जलोदर थोड़े समय में ठीक हो जाता है । संक्षेप में, जहाँ शक्य हो वहाँ पर शस्त्रकर्म के द्वारा अधिकांश दोषों को निकालकर ओषधियों के द्वारा दोषों को निःश्लेष करना उचित है । विस्त्राव्य रोगों की चिकित्सा भी इसी साधारण तत्त्व पर करनी चाहिए । यदि केवल विस्त्रावण के द्वारा निःश्लेषता करनी हो तो रक्त की अत्यधिक राशि निकालनी पड़ेगी । रक्त शरीर का मूल और प्राणों में से एक प्राण है—इहस्य धरिंरं मूलं धरिरेयैव धार्यते ॥ दशैवायतनान्याष्टः प्राणा वेपु प्रतिष्ठिताः । शङ्खो मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रोन्मली गुदम् ॥ (चरक, सूत्र २६) । इसलिए यदि दोषों की निःश्लेषता उत्पन्न करने के लिए रक्त अत्यधिक राशि में निकाला जाय तो दोष निःश्लेष जरूर हो जायँगे, परन्तु उसके साथ शरीर भी निष्प्राण हो जायगा । इसलिए लिखते हैं—न चातिप्रसृतं कुर्यात् । अष्टांगहृदय में वाग्भटाचार्य लिखते हैं—प्रतिस्त्रुती हि मृत्युः स्थादाख्या वा चलाभयाः । श्लेषं संशमनैर्जयेत्—सिरावेध करके रक्त के द्वारा अधिकांश दोषों का श्लेषन होने के पश्चात् जो अंश शरीर में श्लेष रहता है, उससे फिर रोग उत्पन्न होने का डर नहीं रहता । वे कमजोर हो जाते हैं और उनका नाश संशामक ओषधियों द्वारा धीरे धीरे कर सकते हैं—किञ्चिद्धि श्लेषे दुष्टास्ते नैव रोगोऽन्निवर्तते । संश्लेषमप्यत्रो धार्य न चातिस्त्रुतमाचरेत् ॥ (अष्टांगहृदय) । फिर जो श्लेष दोष रहते हैं, उनका संशमन विरेचन, उपवास, शीतोपचार, स्निग्धमधुरादि भोजन इत्यादि से करना चाहिए—नतोऽपि श्लेषं सर्वथावाप्य विस्त्राव्य रक्तस्य शीतसेकप्रदेहवहिरैकोपवासस्निग्धमधुरात्रापानैः प्रसादयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । ये जो शीतसेकादि उपचार श्लेष दोषसंशमनार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं, वे ही अविस्त्राव्य रोगियों में, जैसे गभिणी, अल्पदोषयुक्त अवस्था में प्रयुक्त करने चाहिए—प्रविस्त्राव्यरक्तस्य गभिण्या-देरेवमेव प्रसादयेत् । (इन्दु) ।

वलिनो वहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः ।

परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥ २५ ॥

(सिरावेध में रक्त निकालने का परम प्रमाण—) बलवान्, अधिक दोषयुक्त, युवा मनुष्य के रक्तमोक्षण में (आचार्य रक्तराशि का) अधिक से अधिक परिमाण एक प्रस्थ पसंद करते हैं ॥ २५ ॥

वक्तव्य—वयःस्थ—इससे यद्यपि सर्वावस्था का बोध होता है तथापि यह शब्द कई वार यौवनावस्था के लिए प्रयुक्त होता है । यहाँ पर भी इसका अर्थ जवान मनुष्य है । अष्टांगहृदय में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—मांसं सद्योहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत् । (सूत्रस्थान ६) । इस श्लोक की टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—तथा वयसि तिष्ठतीति वयःस्थम् । यद्यपि सर्व मांसं वयःस्थमेव तथाऽपीह वयःस्थमित्युक्त्या दोमनं तस्यै वय इति शक्यते । तस्माच्चूनः प्राणिनो मांसं भजेत् बाल-उद्धयोरिति ॥ शरीरिणः—मनुष्यस्य । प्रस्थम्—रक्तमोक्षण में रक्तनिर्हरण की चरम सीमा इससे बताई गई है । वास्तव में १६ पलों का प्रस्थ होता है, परन्तु रक्तमोक्षण में १३॥ पलों का प्रस्थ माना जाता है—प्रमने च विरेके च तथा शोणितं-मोक्षणे । सार्धत्रयोदशपलं-प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ इसके अनुसार रक्तमोक्षण की परम राशि १३ तोले की होती है । इकस्ता

मतलब यह है कि आवश्यकता पड़ने पर बलवान् जवान मनुष्य की सिरा से चीबन तोले रक्त निकाल सकते हैं । श्लेष्क रोग और रोगी में इतना रक्त निकालने की आवश्यकता नहीं है । किसी में दा तोले से, किसी में चार तोले से, किसी में आठ तोले से काम हो सकता है । रक्त की राशि रोग और रोगी का बलाबल देखकर निश्चित करनी चाहिए । बलवैयक्त्येनोराशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥ (१५ चरक, सूत्र २४) । यहाँ पर रक्तराशि का जो पर प्रमाण बतलाया है, वह कुछ लोगों को आधुनिक काल में अधिक मान्य होता है— बलिन इति । अत्र बलने च विरेके च तथा शोणितमोक्षये । साधनं योदशपल प्रथमाहुर्मनीषिण ॥ इति स्थितेऽपि बहुशोऽभिवीक्ष्य बलवत्साधितमं वामिदानीं द्विपलमेव पर प्रमाणात्सित्य भवत्वयाम । (हाराणचन्द्र) । परन्तु वास्तव में यह प्रमाण बहुत ठीक है । आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में यद्यपि बहुत नहीं तथापि कई रोगों में सिरावेध काम में लाया जाता है और यहाँ पर प्रत्येक समय रक्त की राशि भी यताई जाती है । चिरकालीन हृद्रोग में २०-३० औंस (५०-७५ तोले) तक रक्त निकालने के लिए बतलाया है—The withdrawal of blood to the extent of 20 or 30 ounces by a cut into the median basilic vein relieves the distress by diminishing the blood flow to the heart *Taylor's Practice of Medicine* A good quantity of blood occasionally even up to 20 or 30 ounces should be withdrawn *Practice of Medicine by F. W. Price*

पश्चात्तर्म—सिरावेध करने पर रक्त इकट्ठा करने के लिए वेधस्थान के नीचे कोई पात्र रखना चाहिए, जिससे निकाले हुए रक्त की राशि निश्चित करने में सुविधा होती है । उचित राशि में रक्त निकालने पर सिरामुख को अंगुठे से दबाकर और बन्धन छोड़कर, तैल में भिगोये हुए कपड़े की पट्टी उस पर रखकर बाँधना चाहिए और कुछ रोज तक सिरावेध के अंग को आराम से रखना चाहिए तथा रोगी को अन्नदीपक सुपाच्य आहार तथा पच्यकर विहार सेवन करना चाहिए—च । सुतराज्ये व्यथमानुलोमाद्युष्टेनोरस्थे शने शनैर्वन्ममपनीयाश्रावयेत् । सवैत च श्लेष्म सिरामुखे रक्ष्वा बन्धीयात् । सवेधेवैचैनम् । उन्नागां यन्त्रिणीश्वेनेन स्वस्थान मायान्धि पुनर्न वायत् । योग प्रदुष्टा रुधिर प्रपञ्चस्तवद्विताहार विहारमात्क थायत् ॥ मालुष्णशील हनु दीपनीय रक्षेऽपनीये दिनम प्रधानम् । दश शरीर हानवस्तिवात्प्राग्निवेशीपादिति रचित्य ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३१) ।

अथ इसके बाद रोगानुसार सिरावेध के स्थान बतलाये जाते हैं तत्र पाददाहपाददाहार्थमाहुकवियम्पविश्रापथात्तदो पितपातकण्टकविचिकिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रम मण उपरिग्राह्यह्युले प्रीहिमुलेन सिरां विष्येत्, स्त्रीपदे तथिकिस्तिने यथा वदयते, कोष्टकशिरःपञ्च पङ्कलयातवेदनासु जहायां गुल्फस्थोपरि चतुरङ्गुले, म्रुपच्यामिन्द्रवस्तेरथस्ताद् षड्गुले, जानुसन्धेरथ र्यपो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्थाम्, ऊरुमूलसथितां गल- गण्डे, पतेनेतरसन्धि याद् च व्याख्याती ॥ २६ ॥

(रोगानुसार शास्त्रार्थों की वेध्य सिराएँ—) पाददाह, पादहर्ष, अववाहुक, चिष्य, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी, प्रभृति (रोगों) में क्षिप्रमर्म से ऊपर दो अंगुल प्रीहिमुख से सिरावेध करे । स्त्रीपद में उसकी चिकित्सा में जैसा कहा जायगा (वैया करे) । कोष्टकशिर, खञ्ज, पङ्कल, वातवेदनाओं में गुल्फ के ऊपर चार अंगुल ऊँचा में (प्रीहिमुख से सिरावेध करे) । अपची में इन्द्रवस्ति से दो अङ्गुल नीचे (सिरावेध करे) । गृध्रसी में जानुपन्धि से दो अङ्गुल ऊपर वा नीचे (सिरावेध करे) । गलगण्ड में ऊरुमूल में स्थित सिरा का (वेधन करे) । इसी से दूसरी टाँग और दोनों याहुओं की (रोगानुसार वेध्य सिराओं की) व्याख्या हो जाती है ॥ २६ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर जो अनेक रोग निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें पाददाह, पादहर्ष, अववाहुक, वानशोणित, वात- कण्टक, कोष्टकशिर, खञ्ज, पङ्क, गृध्रसी ये वातरोग हैं जिनका वर्णन निदान के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है । पाददारी, विचर्चिका और चिष्य शुद्धरोग हैं, जिनका वर्णन निदान के तेरहवें अध्याय में किया गया है । अपची और गल गण्ड का वर्णन निदान के ग्यारहवें अध्याय में और विसर् का दसवें अध्याय में किया गया है । वादवेदना—शास्त्रार्थ में होने वाली वातजन्य विविध वेदनाएँ । इसमें साधु निक वातनाडीग्रह (Neural gias) और वातनाडीघोष (Neuritis) का समावेश कर सकते हैं । पाददाह पादहर्ष— इससे हस्तदाह और हस्तहर्ष का भी बोध हो सकता है— Hot or itching hands and feet, Paraesthesia of the hands and feet अववाहुक—हाराणचन्द्र के पाठ में अववाहुक नहीं है । वे लिखते हैं—केनचिदवाववाहुनोऽपि पठयो, उत्र समीचान, प्रतिहारिषाचर्य-वपने गिदासिगत्वात् ॥ इस विषय का विवरण वातव्याधिचिकित्सा में किया जायगा । पाददाहादि रोगों में Dorsal venous arch में वेध होता है, कोष्टकशीर्षादि रोग, अपची में Small saphenous vein में वेध होता है ।

विशेषतस्तु धाममाहौ कूर्परसन्धेरथन्तरतो याहु- मध्ये स्त्रीह्नि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, पय दक्षि- णमाहौ यद्दालये (कफोदरे च,) पतामेय च कास श्वासयोःस्थादिशन्ति, गृध्रस्थामिर विधाव्याम् २७ (याहु के विशेष सिरावेध—) विशेष करके शीहा (बुद्धि) में धामवाहु के मध्य में कूर्परसन्धि के भीतर अपवा कनिष्ठिका और अनामिका (अङ्गुलियों) के मध्य में सिरावेध करे । इसी प्रकार यद्दालये में दक्षिणमाहु में कूर्परसन्धि पर अध्या कनिष्ठिका अनामिका के मध्य में सिरावेध करे । कास- श्वास में (कई आचार्य) इन्हीं का वेध करने को कहते हैं । विधाची में गृध्रसी के समान कूर्परसन्धि के ऊपर या नीचे चार अङ्गुल प्रदेश में वेध करना चाहिए ॥ २७ ॥

वक्तव्य—हर्षण वेरुवन्नेव—कोहनी के सामने वाली सिरा Median cubital vein । स्त्रीहि—शुद्धोदर में । आयुष्य में शीहा का यही एक रोग मिलता है, अर्थात् झाड़ोदर के जो कारणभूत रोग होते हैं, उनमें जब शीहा बुद्धि होगी, तब उन रोगों में भी सिरावेध करना चाहिए ।

कनिष्ठिकानामिकोर्मध्ये—इससे First dorsal metacarpal vein का बोध होता है । यकोदरे च—इसके सम्यन्ध में हाराण-चन्द्र लिखते हैं—अत्र यकृदाख्ये ककोदरे च इत्यनाकरः पाठः ककोदरे सिरान्वयस्थानुपयोगात् ॥ नासास्रासयोः—हृद्भोग और हृद्भोगजन्य कास-धास में सिरावेध से फायदा होता है । प्रीहोदर और यकृतोदर में जिस कूर्परसन्धेरभ्यन्तर सिरा का वेध करने के लिए कहा गया है; आधुनिक काल में जय सिरावेध की आवश्यकता होती है, तत्र रोगनिरपेक्ष प्रायः इसी सिरा का वेध किया जाता है । कास-धास के अतिरिक्त अन्तर्विद्रधि में भी इसी सिरा का वेध कुछ आचार्य कहते हैं—रक्तपित्तानिलोत्थेषु केधिदाहो वदन्ति तु । (सुश्रुत, चिकित्सा १६) । ज्वर और विषम ज्वर में भी इसी का वेध होता है । २९ वें सूत्र का वस्तव्य देखो ।

श्रोणि प्रति समन्ताद् द्यद्भुले प्रवाहिकायां शूलिन्यां परिवर्तिकोपदंशशूक्रदोषशुक्रव्यापत्तु मेढ-मध्ये, (वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां, नामेरथश्च-तुरद्भुले सेवन्यां वामपार्श्वे दकोदरे,) वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वंशूले च वाहु-शोपाववाहुकयोरप्येके वदन्यंसयोरन्तरे, त्रिकस-न्धिमध्यगतां तृतीयके, अधःस्कन्धसन्धिगतामन्य-तरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके ॥२८॥

(रोगानुसार पीठ और षष्ठ के सिरावेध स्थान—) शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणी से आस पास दो अंगुल पर सिरावेध करे । परिवर्तिका, उपदंश, शूक्रदोष और शूक्र-दोषों में शिरन के मध्य में (सिरावेध करे) । मूत्रवृद्धि में, वृषण के पार्श्व में, और जलोदर में नाभि से नीचे चार अंगुल सेवनी के बाह्य ओर (वेधन करे) । अन्तर्विद्रधि और पार्श्वशूल में वामपार्श्व में कक्षा और स्तन के बीच में (सिरावेध करे) । (कई आचार्य) कहते हैं कि वाहुशोप और अववाहुक में अंसों के मध्य प्रदेश में (सिरावेध करना चाहिए) । तृतीयक (स्वरूप के विषम ज्वर) में त्रिकसंधि के मध्य की सिरा का (वेधन करे) । चतुर्थक (स्वरूप के विषम ज्वर) में स्कन्धसंधि के नीचे स्थित किसी भी पार्श्व की सिरा का (वेधन करे) ॥२८॥

वक्तव्य—मेढ्रमध्ये—इससे Superficial dorsal vein of the penis का बोध होता है । वृषणयोः पार्श्वे इत्यादि—मूत्रवृद्धिदकोदर के यहाँ पर जो वेधस्थान बतलाये गये हैं, वे सिरावेध के न होकर जलवेधन के हैं—अथो नाभेर्नामश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेन विधेत् । (जलोदरचिकित्सा) । सेवन्याः पार्श्वतोऽपस्ताद्विध्यै व्रीहि-शुलेन तु । (मूत्रवृद्धिचिकित्सा) । अज्ञान से यह भूल हो गई है । इस पर हाराणचंद्र लिखते हैं—अहो गुरोरश्रत-सुश्रवः कश्चित् मूत्रवृद्ध्यां दकोदरे च दोषोदकावसेचनार्थं विधिस्थिते व्यधने पव सिराव्यथो मन्यमानोऽत्र 'वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां' तथा 'नाभेश्चतुरङ्गुले सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे' इत्यश्रुतपूर्वम-समञ्जसमाचचारणः स्वस्थैवाश्रतत्वमदृष्टकर्मत्वमस्थानवादित्वेन पुन-र्व्यधिसिरत्वं चाख्यापयतीति ॥ अन्तर्विद्रधौ—कफजान्तर्विद्रधौ-यथोष्ट्यां सिरां विधेत् कफजे विद्रधौ भिषक् । (चिकित्सा १६) । अन्य दोषज विद्रधि में वाहुसिरा का वेध कुछ आचार्य

वताते हैं । ऊपर २८वें सूत्र के वक्तव्य में कास-धास की टिप्पणी देखो । पार्श्वशूल—इससे Dry pleurisy या Pneumonia की प्रारंभिक अवस्था का ग्रहण कर सकते हैं । नीचे ३०वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में अर्वाचीनकालीन सिरावेध के रोग देखो । वदन्ति—यह दूसरे का मत है, सुश्रुतसंमत नहीं है । इस पर डचहणाचार्य अपनी टीका में लिखते हैं—शोषिताश्रतवातजनितयोर्वाहुशोपाववाहुकयो-रप्यंसयोः सिरान्वयः, न तु केवलवातश्रुतयोरित्येके वदन्ति । परमांतं चाप्रविपिडमनुभवमेवेति जेष्ठाचार्यः । गयदातस्तु 'वाहुमध्ये वाहुशोपाववाहुकयोरप्येके वदन्यंसयोरन्तरे' इति पठित्वा व्याख्याति—वाहुशोपाववाहुकयोर्वाहुमध्ये कूर्परसयोर्मध्ये इत्यर्थः । गतान्तरगाह—एके वदन्यंसयोरन्तरे इति ॥ तृतीयक, चतुर्थक—ये विषमज्वर के प्रकार हैं, जिनमें क्रम से तीसरे और चौथे दिन जाड़े के साथ ज्वर आता है । इन रोगों में अत्रोक्त स्थानों के अतिरिक्त वाहुसिरा और दाह्य केशान्त सिरा का भी वेधन बताया गया है—शकेशान्तसंधी वा मोक्षेच्छो भिषक् सिराम् । उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥ (चरक, चिकित्सा ३) । यथाद्वं च सिरां विधेदशान्ती विषमज्वरे । (अष्टांगसंग्रह, चिकित्सा २) । इसकी टीका में इन्दु लिखते हैं—प्रशान्ती यथास्वं सिरां विधेत्, तृतीयके अंसयोर्मध्ये स्वन्धस्थापश्रुतयुक्तं वाहोश्चेत्यादि यथास्वशब्दार्थः ॥

हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे, शूक्रकेशान्तसन्धिग-तामुरोऽपाङ्गललाटेऽपु चोन्मादे, जिह्वारोगेष्वधोजि-ह्वायां दन्तव्याधिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोर्ह-परि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च, गन्धाग्रहशे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वद्या-मयेपूपनासिके लालाट्यामपाङ्ग्यां वा, पता एव च शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति ॥२९॥

(रोगानुसार जनूर्ध्वसिरावेधन स्थान—) अपस्मार में हनुसंधि के मध्य की (सिरा का वेधन करे) । उन्माद में शङ्ख और केशान्तसंधि में स्थित तथा छाती, अपाङ्ग और ललाट में स्थित सिरा का वेधन करे । जिह्वा रोगों में तथा दाँतों के रोगों में जिह्वा के नीचे की सिरा का वेधन करे । तालु के रोगों में तालु में सिरावेध करे । कर्णशूल और कान के रोगों में कान के ऊपर आस पास की (सिरा का वेधन करे) । गंध न आने और दूसरे नाक के रोगों में नासा के अग्रभाग में (सिरा-वेधन करे) । तिमिर, अक्षिपाक प्रभृति नेत्ररोगों में नासासमीपवर्ती, ललाट में स्थित, या अपाङ्ग की (सिरा का वेधन करे) । शिरोरोग, अधिमन्थ प्रभृति रोगों में भी सिराएँ वेध होती हैं ॥ २९ ॥

वक्तव्य—उन्मादे—यहाँ पर 'उन्मादेऽपस्मारे' ऐसा भी पाठ है । इस पर डचहणाचार्य लिखते हैं—तत्रा-पस्मारस्य पाठो न संगच्छते । तथा च वाग्भटः—उरोपाङ्ग-ललाटस्थासुन्मादेऽपस्मृतौ पुनः । हनुसंधी समस्ते च सिरां भ्रमध्यगामिनीम् ॥ अर्थात् वाग्भटाचार्य के अनुसार अपस्मार में केवल हनुसंधिगत सिरा का वेधन होता है । परंतु चरकाचार्य का जो वचन ऊपर उद्धृत (२९ वें सूत्र के वक्तव्य में) किया गया है, उसके अनुसार अपस्मार

में शङ्खकेशान्त संधिगत सिरा का भी वेधन होता है । इसलिये यह पाठभेद असंगत नहीं कहा जा सकता ।
 हनुवधिभ्यग्नयाम्—इसके संबध में अरुणदत्त अष्टांगहृदय के उपर्युक्त श्लोक की टीका में लिखते हैं कि—अस्मारे हनुवयो स्थितां सिरां विधेत् । समस्ते सर्वदिग् वा हनो सिरां विधेत् । सिरां भ्रमप्यगामिनी भ्रमप्यस्था वाऽपस्त्यो विधेदिति वाग्भ्योऽनुपूर्वम् बोध्यम् । उरोपाङ्गलला देयु—उरोपाङ्गललादेयु 'याम्' इत्यर्थ । उर और अपाङ्ग के अर्थ के संबध में उत्तरस्थान के 'उरोपाङ्गललादेयु सिराश्चस्य विनोक्तयेत् ॥ (अध्याय १२) । ह्यम् श्लोक की टीका में दक्षणाचार्य लिखते हैं—उर स्तनयोःस्तनोरम्, अथापाङ्गशब्द शब्दे वर्तते, सामीप्यात् । न तत्राङ्गशब्दसंधि, कुवः । पत्रैकस्या पत्रान्यथासिराया निर्दिष्टत्वात् । अस्य वसादिन । भूत-विधासिदान्तादुर प्रमृणितु सिराव्यननमुक्तम् । सिराव्यननविधिश्च गृह्यन्ते । अतोऽत्र उमादे उमयत्रापि सिराव्यननमिष्टम् ॥ इसका मतलब यह है कि अपस्मार तथा उन्माद में भ्रमप्य-सिरा (Frontal या Supraorbital vein) श्लेष् केशान्त सधिसिरा (Superior temporal vein) और स्तनान्तराश्ल सिरा का वेधन होता है ।

अर्वाचीन कालीन सिरावेध योग्य रोग और सिरावेध के तत्त्व—यहाँ पर २०-३० वें सूत्रों में जिन रोगों में चिकित्सा के लिये सिरावेध किया जाता था, उनके रोगों के नाम और वेध के स्थान निर्दिष्ट किये हैं । इनकी देखकर यह कह सकते हैं कि आयुर्वेद में सिरावेध रक्त रोगों की चिकित्सा का एक महत्व का उपाय था (आगे ३५ वें श्लोक देखो) । परंतु आधुनिक काल में सिरावेधन की परम्परा लुप्त हो गई है । यूरोप में भी प्राचीन काल में सिरावेध (Phlebotomy) चिकित्सा का एक प्रधान अंग था, परंतु वहाँ पर भी यद्यपि सिरावेधन की प्रथा पूर्णतया लुप्त नहीं हुई है तथापि बहुत मर्यादित अतएव कम हो गई है । आधुनिक काल में पाश्चात्य वैद्यक में सिरावेध का उपयोग निम्न कारणों के लिये किया जाता है—(१) उच्च रक्तनिपीड (High blood pressure) विकारों में पीडनको कम करने के लिये । (२) रक्तगत विषों को निकालने के लिये । (३) अपनी विरक्ति या हृदयादि अन्य अंगों की विरक्ति के कारण जब कुण्ठस, उनमें आंशे हुए रक्त को शुद्ध करने में असमर्थ होता है, तब । (४) कुछ प्रोथेजिन्य (Inflammatory) विकारों में जब रोगी सखल और रक्तल (अधिक रक्तयुक्त Full blooded) होता है, तब । इन तर्कों के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में निम्न रोगों में सिरावेध का उपयोग किया जाता है—प्रपच तत्र के अनुसार विशुद्ध उष्णरक्तनिपीड में तथा हृदयविकार और हृदयविकारजन्य उष्ण रक्तनिपीड में जब रक्त का दबाव अधिक दाक्टर सिरदर्द, चक्कर इत्यादि मलिनव्यगत लक्षण तथा पचायात उत्पन्न होते हैं, तब । दूसरे तत्र के अनुसार विरजन्य कामला (Toxic jaundice), मूत्रविषमयता (Uraemia) गर्भविषमयता (Toxaemia of pregnancy), सर्पविषमयता (Snake poisoning) इत्यादि विषमय अवस्थाओं में । तीसरे तत्र के अनुसार जब कुण्ठस बढ़ना काम करने में असमर्थ होकर वास्तुशुष्क (Dyspnoea), लम्बा में श्वासात्ता या नीटिमा

(Cyanosis), सिराओं की विस्तृति इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं, तब । ये लक्षण हृदय के दक्षिणार्ध के कपाटों के चिरकालीन विकारों (Chronic heart disease) में, कुण्ठस के रक्तपिच्य (Hyporaemia) और शोथ (Oedema) में, महाधमनी की विस्तृति (Aneurysm) में तथा छाती में वायु के प्रवेश होने से उत्पन्न हुए वातोत्तर (Pneumothorax) में उत्पन्न होते हैं । अर्थात् चिरकालीन हृदयविकार, कुण्ठसरोध और रक्तपिच्य, महाधमनी विस्तृति, वातोत्तर इन विकारों में श्वास, कास, नीलिमा उत्पन्न होने पर सिरावेध करके रक्त निकाला जाता है । चतुर्थ तत्र के अनुसार कुण्ठसपाक (म्यू-मोनिया), अस्मानीकुण्ठसपाक माग्नेयूमोनिया (ये दोनों भी कुण्ठसरोध के रोग हैं), स्वरदन्त्रशोथ (Laryngitis), मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) इत्यादि शोथजन्य विकारों में भी कभी कभी सिरावेध का प्रयोग श्वास, प्रत्यापादि लक्षण उत्पन्न होने पर किया जाता है ।

सिरावेध का स्थान—कोई रोग हो जब रक्तमोक्षण की आवश्यकता होती है तब पाश्चात्य वैद्यक में रोगनिर्देश परसंधिभ्यः सिरा (Median cubital vein) का उपयोग (पीछे नौवें सूत्र का वक्ष्य देखो) किया जाता है । आयुर्वेद में रोग के अनुसार सिरामिश्रता होती है । प्रायः यह सिरा विरक्त रक्तसमीपवर्ती होती है, परं कई बार दूरवर्ती भी होती है—जैसे, गलगण्ड गले में होने पर भी उसके लिये ऊरुमूल की सिरा का वेधन बताया है, तथा चक्रेहीहोदर में वाहुमध्य सिरा का वेधन बताया है । समीपवर्ती सिरावेधन का तत्र इस कल्पना पर निर्भर है कि उस सिरा से आने वाला रक्त उसी विरक्त अंग से आता है । हम कल्पना में कुछ सत्य है । जैसे, सिर के विकार में सिर की सिरा सिरा का वेध करने से प्रथम सिर में इकट्ठा हुआ रक्त निकलेगा अर्थात् यह रक्त दूषित रहेगा और पश्चात् कुछ शुद्ध रक्त आ जायगा । इसी दृष्टि से पीछे २१वें श्लोक में लिखा है—या मिरणु विदाद्य दुग्मये प्रवर्तते । दूरवर्ती सिरा का वेध करने पर भी उसमें शरीर के विरक्त अंग का रक्त आ जाता है क्योंकि रक्त संपूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता है, परंतु उसमें स्थानिक शोथ की शक्ति श्वास, शोथ, है, और प्रारिज्ज-रक्त और पीछे के रक्त में कोई फर्क नहीं होता । इसलिये दूरवर्ती सिरावेध की अपेक्षा समीपवर्ती सिरावेधन में दो भेद मिलते हैं—(१) स्थानिक रक्त की अधिकता (Congestion) कम होती है तथा (२) स्थानिक शोथ की मात्रा कम होती है । पाश्चात्य वैद्यक में स्थानिक रक्तशोथहरण करने के लिये सिरावेध का उपयोग प्रायः नहीं होता, सार्वद्विक रक्तशोथ या रक्तशोथ को कम करने के लिये किया जाता है । इसलिये हमेशा दूरवर्ती सिरा की सिरा सुविधा के कारण (पीछे ३५ वें सूत्र का वक्ष्य देखो) पर्वद की जाती है । हम सिरा के सिरा कभी कभी गले की मातृश (External jugular vein) भी वेधन के काम में लाई जाती है । हम विषय का कुछ विवरण आगे ३८ वें श्लोक के वक्ष्य में भी किया है ।

अत उच्ये नुदस्यधनमनुष्यावयास्यामः—तत्र

दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिचिता कुट्टिताऽप्रस्रुताऽ-
त्युदीर्णाऽन्तेऽभिहता परिशुष्का कृणिता वेपिताऽनु-
त्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाऽपविद्धाऽव्यध्या
विद्धता धेनुका पुनः पुनर्विद्धा मांससिरास्त्रायवस्थि-
सन्धिर्मर्मसु चेति विंशतिर्दुष्टव्यधाः ॥ ३० ॥

(दुष्टवेष के नाम—) अब इसके बाद दुष्टवेष का
व्याख्यान करेंगे—दुर्विद्धा, अतिविद्धा, कुञ्चिता, पिचिता,
कुट्टिता, अप्रस्रुता, अत्युदीर्णा, अन्तेऽभिहता, परिशुष्का,
कृणिता, वेपिता, अनुत्थितविद्धा, शस्त्रहता, तिर्यग्विद्धा,
अपविद्धा, अव्यध्या, विद्धता, धेनुका, पुनःपुनर्विद्धा, और
मांस, सिरा, स्रायु, अस्थि संधि मर्म में विद्धा, इस तरह बीस
दुष्टव्यध सिराएँ होती हैं ॥ ३० ॥

वक्तव्य—इन दुर्विद्धादि सिराओं का विवरण आगे के
सूत्र में किया गया है । ये दुर्विद्धादि प्रकार सिरादोष से,
शस्त्रदोष से, शस्त्रकर्म करने वाले के दोष से तथा रोगी के
दोष से उत्पन्न होते हैं ।

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति
रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा, प्रमाणातिरिक्तवि-
द्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा
साऽतिविद्धा, कुञ्चितायामप्येवम्, कुण्ठशस्त्रप्रम-
थिता पृथुलीभावमापन्ना पिचिता, अनासादिता
पुनःपुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता,
शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिताऽप्रस्रुता, तीक्ष्ण-
महामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा, अल्परक्तस्राविण्य-
न्तेविद्धा अन्तेऽभिहता, क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा
परिशुष्का, चतुर्भागा(व)सादिता किञ्चिप्रवृत्तशो-
णिता कृणिता, दुःस्थानवधनाद्वेपमानायाः शोणि-
तसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुत्थितविद्धायाम-
प्येवं, छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरो शस्त्र-
हता, तिर्यक्प्रणहितशस्त्रा किञ्चिच्छ्रेया तिर्यग्विद्धा,
बहुशः क्षता हानशस्त्रप्रणधानेनापविद्धा, अशस्त्र-
कृत्या अव्यध्या, अनवस्थितविद्धा विद्धता, प्रदेशस्य
बहुशोऽवघट्टनादारोहद्व्यधा, मुहुर्मुहुः शोणित-
स्रावा धेनुका, सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना पुनः
पुनर्विद्धा, मांसस्रायवस्थिसिरासन्धिर्मर्मसु विद्धा
रुजां शोफ वैकल्यं मरणं चापादयति ॥ ३१ ॥

(दुष्टव्यध सिराओं का विवरण—) इनमें जो सूक्ष्म
(मुख) शस्त्र से विद्ध हुई है, जिससे अस्पष्ट (नहीं के
बराबर) रक्त स्रवता है तथा जो पीडा और सूजन से युक्त
है, वह दुर्विद्धा है । प्रमाण से अधिक विद्ध होने के कारण
जिसका रक्त (शरीर के) भीतर प्रविष्ट होता है अथवा
जिससे रक्त अधिक प्रमाण में बहता है, वह अतिविद्धा है ।
कुञ्चिता में भी ऐसा ही (अतिविद्धा का लक्षण) होता है ।
कुण्ठत (थोड़े) शस्त्र से (कई बार) कुचली हुई तथा
चपटी हुई पिचिता होती है । ठीक न उठी हुई (इसलिए
ठीक प्राप्त न होने के कारण) बार बार दोनों पार्श्वों पर शस्त्र

से प्रहारित हुई कुट्टिता है । शीत, भय और मूर्च्छा के
कारण रक्त न स्रवने वाली अप्रस्रुता है । तेज और बड़े मुख
के शस्त्र से विद्ध हुई अत्युदीर्णा है । एक किनारे पर विद्ध
हुई अल्प रक्त स्रवने वाली अन्तेऽभिहता है । रक्तचययुक्त
(मनुष्य) की वायुपूर्ण सिरा परिशुष्का होती है । चौथाई
हिस्से में कटी हुई, अल्परक्त स्रवने वाली कृणिता है ।
अनुचित स्थान में बाँधने के कारण कंपायमान होने वाली
सिरा से रक्त-रक्तकर रक्त निकलता है, वह वेपिता है । ठीक
न उठने पर विद्ध होने वाली सिरा में इसी प्रकार लक्षण
होते हैं । (शस्त्र से पूर्णतया) कटी हुई, अत्यधिक रक्त
स्रवने वाली, (और स्राव के कारण मूर्च्छादि उपद्रव
उत्पन्न करके हलचल बन्द करने वाली) शस्त्रहता है । शस्त्र
के टेढ़े प्रहार से विद्ध हुई, जिसका (अधिकांश भाग कट
गया है और) जरा-सा भाग रह गया है, ऐसी तिर्यग्विद्धा
है । दोषयुक्त शस्त्र के अनेक प्रहारों से विद्ध हुई अपविद्धा
है । जिसके ऊपर शस्त्रकर्म नहीं कर सकते, वह अव्यध्या है ।
चञ्चल (स्थिति में) विद्धा सिरा विद्धता होती है ।
(शस्त्रकर्म में वेध के अनैपुण्य से व्यध्य) प्रदेश के ऊपर
कई बार ताड़न करने के कारण, जिसमें एक से ऊपर एक
करके अनेक वेध हुए हैं, ऐसी बार बार रक्त स्रवने वाली
धेनुका होती है । सूक्ष्म (मुख) शस्त्र वेधन में प्रयुक्त करने
से (सिरा का वेध उचित परिमाण में बढ़ा करने के लिए)
कई बार वेधित की हुई पुनःपुनर्विद्धा होती है । मांस,
सिरा, स्रायु, अस्थि, संधि और मर्म में वेध करने से पीडा,
शोथ, विकलता और मरण प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अव्यक्तम्—अत्यन्त सूक्ष्म रूप में जो स्पष्ट-
तया न दिखाई दे । अन्तःप्रविशति शोणितम्—अतिविद्धा
में शस्त्र का मुख मोटा होता है, जिससे शरीरगत
शस्त्रजन्य भेद (Incision) काफी बड़ा होता है ।
यदि यह भेद पूर्णतया सिरा में हो तो मुख बड़ा होने
के कारण शोणितातिप्रवृत्ति होगी । यदि यह पूर्णतया
सिरा में न हो तो सिरासमीपवर्ती मांसादि धातुओं में
होकर उनमें रक्त का प्रवेश होगा । कुञ्चितायामप्येवम्—
कुञ्चितायामिति कुटिलीभूतायामित्यर्थः । (डल्हण) । सिरा
में कुटिलता (Varicosity) वायु के कारण उत्पन्न होती
है—कुर्यात् सिरागतः शूल सिराकुञ्चनपूरणम् । (निदान,
प्रथमखण्ड पृष्ठ ३१९-३२० देखो) । पृथुलीभावमापन्ना—
कुण्ठशस्त्राभिपार्तन चिप्टतया प्रसरं प्राप्ता । (डल्हण) ।
अनासादिता—ठीक न उठने के कारण जो उचित रूप से
नहीं प्राप्त हुई थी, ऐसी । अप्रस्रुता—भय, मूर्च्छा के परिणाम
से शरीरगत केशिकाएँ विस्तारित होकर उन्हीं में अधिकांश
रक्त संचित होकर (पीछे २२वें श्लोक का वक्तव्य देखो)
सिराओं में वह आता नहीं है, इसलिए वेध करने पर भी
उससे रक्त का स्राव नहीं होता । क्षीणशोणितस्य—जिसके
शरीर से रक्त का काफी नाश (रक्तस्राव से या रोग से)
होने के कारण जो क्षीणरक्त (Anaemic) हो गया है, ऐसा ।
चतुर्भागावसादिता—चतुर्थी भागश्चतुर्भागेऽन्तर्गता शोणितधरा
कलेति यावत्, तत्रावसादिता सङ्कुचिततया रक्तं विज्ञायितुमसम्भवात्
चतुर्भागावसादिता, न तावदर्थोऽयमनुपपन्नः 'कृण सङ्कोचे' धातु-
स्तस्य कृणितेति रूपेण संज्ञाकरणत्वात् । (हाराणचन्द्र) । चतुर्भागाः

साधिता चतुर्भागेन प्राप्ता । (बद्धहण) । जिसमें छेद ठीक नहीं हुआ है, ऐसी सिरा, इतना ही हून विवरणों का तात्पर्य मालूम होता है । दु स्थानबन्धन—अनुचित स्थान में यन्त्रण करना । शोथितसमोह—मनुष्य को सम्मोह होने से जैसे उसके कर्म बन्द हो जाते हैं, वैसे ही रक्त का सम्मोह होने से उसका श्राव बन्द होता है । अर्थात् वीच वीच में जिसका श्राव बन्द हो जाता है, ऐसी । बद्धहण इसका अर्थ रक्ताति-प्रवृत्ति करते हैं—शोथितसमोहः शोथिनातिप्रवृत्तिः । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि आगे 'अनुचित विद्यायामभ्येवम्' लिखा है । अनुस्थित सिरा से अत्यधिक रक्तश्राव नहीं होगा । विद्या—जो पूर्णतया दो भागों में विभक्त हुई है, ऐसी । क्रियासङ्गती—गमनादिक्रियाविनाशकरी । (बद्धहण) । बन्धेनायोजिता सती त्रियाणा शोथिनचर्चणा योक्तानां शोथिवातिप्रवृत्तिनिमित्ताना शिथिलतापीदना सम्बन्ध करोतीत्यर्थः । सद्यो मेलन सम्बन्ध इत्यनर्थान्तरम् । (हाराणचन्द्र) । संघेप में अत्यधिक रक्तश्राव के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रवों को करने वाली । अशक्यत्वात्—सातवें अध्याय के २९ वें सूत्र से ३८ वें सूत्र तक जो अवेध्य सिराएँ बतलाई गई हैं, उनमें से किसी एक के ऊपर वेध करना यह भी एक सिरावेध का दोष है । आरोहद्रव्या—उप्युपसर्गोपिनपरा, अनप्य वेः शस्यपदोपसर्गोपिनपरा अथवा पदोपसर्गोपिनपरा । (बद्धहण) । हाराण-चन्द्र 'आरोहद्रव्या' पाठ लेते हैं और 'आरोहो दैर्घ्योपेक्षित व्यथो यत्ना सा तयोक्ता' ऐसा उसका अर्थ करते हैं । बहुशो-बधनात्—इससे कर्म करने वाले का अनभ्यास और भयत्व सूचित होता है । बहुशो भिन्ना—गमनानि एव इति शेष ।

इस सूत्र में तथा इसके पहले सूत्र में दुष्टव्यथा के जो बीस प्रकार तथा उनके लक्षण दिये हैं, इनका ज्ञान सिरा-वेधन का कर्म निर्दोष करने के लिए काम में लाना चाहिए, न कि दुष्टव्यथा के प्रकार और उनके लक्षण कण्ट करने के लिए । अतः इनका उपयोग निर्दोष सिरावेध में किस तरह किया जायगा, इसका विचार यहाँ पर सचेप में धरना जाता है । पिचले सूत्र के वक्तव्य के अन्त में यह बताया गया था कि ये दोष पाँच स्थानों से उत्पन्न होते हैं । अतः इन दोषों का वर्गीकरण इन स्थानों के अनुसार यहाँ पर किया जायगा । (१) शक्यदोष—सिरावेधन में शक्य न बहुत सूक्ष्ममुख, न बहुत स्थूलमुख, न कुण्ठित, न बहुत तीक्ष्ण, न अन्य दोषयुक्त होना चाहिए । इन दोषों से युक्त होने के कारण दुर्बिन्द, अतिविन्द, पिचिन्त, अत्युदीर्ण, अपविन्द, और पुन पुनर्विन्द ये छः दोष उत्पन्न होते हैं । (२) रोगी दोष—रोगी शीत, भय, सूक्ष्मता तथा रक्षणीयता से पीड़ित न होना चाहिए, वरना अप्रसूत और परिशुष्क ये दो दोष उत्पन्न होते हैं । (३) वन्धन दोष—उचित स्थान पर उचित रूप से बन्धन न करने से सिरा का ठीक उत्पन्न नहीं होता, जिससे उसको स्थिर करने में तथा वेधन करने में कठिनाई उत्पन्न होकर वेपित, अनुस्थितविन्द और विद्रुत—ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं । (४) निरादोष—वेधन के लिए रक्तादिनी सिरा (Vein) होनी चाहिए, बहुत महत्व की मोटी न होनी चाहिए तथा उसमें कोई विकृति न होनी चाहिए । इस तरह स्थान न देने से कुण्ठित और अवेध्य ये दो दोष उत्पन्न होते हैं ।

(५) वैध दोष—शौर्य, आशुक्रिया इत्यादि शक्यकर्म के लिए आवश्यक गुण (सूत्रस्थान ५ वें अध्याय का नौवाँ श्लोक देखो) जिसमें न हों, तथा सिरावेधन का अभ्यास जिसे न हो, ऐसे वैध के द्वारा सिरावेध कराने से अन्तेऽनिहत, कृत्तित, द्विभ, तिर्यकविन्द, धेनुक, कुण्ठित और मांससिरा आद्यवस्थितसिधमविन्द ये सात दोष उत्पन्न होते हैं । यद्यपि दोषों के पाँच विभाग किये गये हैं तथापि ये नव विभाग वैध के अधीन होते हैं, क्योंकि उत्तम शक्य, योग्य रोगी, युक्त यन्त्रण और उचित सिरा इनका संगम करने का काम आखिर में वैध (आगे ३३ वाँ श्लोक) की सिरावेधन में योग्यता और अनुभव पर निर्भर होता है । अतः इन दोषों को टालने का उत्तम उपाय शक्यादि सामग्री की उत्तमता और अभ्यास है । इन दोषों की उत्पत्ति के कारणों का सचेप में विवरण आगे के दो श्लोकों में किया गया है ।

भवन्ति चात्र—

सिरासु शिदितो नास्ति चला होताः स्वभावात् ।

मत्स्ययत् परिचर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत् ॥ ३२ ॥

(सिरावेधन यत्पूर्वक करने की आवश्यकता का कारण—) सिराओं (के वेधन) में कोई भी शिथिल नहीं होता, (क्योंकि) ये स्वभावतः अस्थिर (होकर पकड़ने पर भी वेधन के समय) मड़ुली की तरह परिवर्तन करती है, इसलिए प्रथमपूर्वक इनका वेधन करना चाहिए ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—शिथिल—अभ्यास से जिसको सिरावेध में नैपुण्य प्राप्त हुआ है, ऐसा । चला होता स्वभावात्—यहाँ पर अधिकतर उत्तम सिराओं (Superficial Veins) का विचार किया गया है, इसलिए 'चला' लिखा गया है । शरीरसंनिवेश की दृष्टि से उत्तम सिराएँ त्वथा के नीचे की धातु में इस प्रकार निविष्ट हुई हैं कि वे ईंच आधा इंच इधर उधर हो सकती हैं । संघेप में, ये सिराएँ बहुत अस्थिर (Movable) होती हैं । मत्स्ययत् परिवर्तन्ते—पानी में मत्स्य को पकड़ने पर भी वह जैसा आसानी से हाथ से फिसल जाता है, वैसे ही वेधन के समय यन्त्रण से तथा अगुलियों से पकड़ी हुई सिरा, शक्यप्रहार के समय अगुलियों से फिसलकर दूर हो जाती है । यत्नेन—इसलिए प्रत्येक सिरावेधन के समय सिरा को अच्छी तरह पकड़ने का प्रयत्न करके फिर ताड़न करे । पकड़ने में गाफिल रहने से ताड़न के ऐन वक्त पर वह फिसल जायगी और वेधन के दोष उत्पन्न होंगे । यत्न का सम्बन्ध अधिकतर पकड़ने के साथ है, ताड़न के साथ नहीं है । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वैध सिरावेधन के कर्म में कितना भी चिराभ्यासी और अनुभवी क्यों न हुआ हो, उसको प्रत्येक समय नवसिखिया की तरह सतर्क रहकर वेधन का कर्म करना चाहिए । अज्ञानता गृहीते तु शक्य कायनिपातिते ।

भवन्ति व्यापद्रव्येता घहवध्याप्युपद्रवाः ॥ ३३ ॥

(दुष्टव्यथा का कारण अज्ञानी वैध—) (सिरावेधन में) अज्ञानी वैध से धारण किया हुआ शक्य शरीर (की सिरा) पर चलने से (दुर्बिन्द्रादि) ये व्यापचित्वा तथा अनेक उपद्रव होते हैं ॥ ३३ ॥

श्लेहाविमिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि ।

यान्यायु व्यधयः शान्ति यथा सत्यनिसराव्यग्तु ३४

स्नेहन, स्वेदन आदि क्रियाओं से तथा लेपों से इतनी शीघ्र व्याधि शांत नहीं होती है, जितनी ठीक ठीक शिरा-वेधन से शीघ्र शांत हो जाती हैं ॥ ३४ ॥

सिराव्ययश्चिकित्सार्थं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः ।

यथा प्रणिहितः सम्यग्वस्तिः कायचिकित्सिते ॥ ३५ ॥

(सिराव्यय का प्राधान्य—) जिस प्रकार यथाविधि दिया हुआ वस्ति कायचिकित्सा में आधी चिकित्सा (के बराबर) कहा जाता है, उसी प्रकार शल्यशास्त्र में (यथा-विधि किया हुआ) सिरावेधन आधी चिकित्सा (के बराबर) कहा जाता है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—चिकित्सार्थम्—कायचिकित्सा में वस्ति चिकित्सा (या संपूर्ण चिकित्सा) इसलिए मानते हैं कि वस्ति के प्रयोग से संपूर्ण शरीरगत रोग, विशेष करके त्रिदोषों में प्रधान दोष जो वायु उससे होने वाले रोग, ठीक हो जाते हैं—शाखागताः क्रोष्ठगतश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च । ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ विष्णुत्रिपितादिमलाशयानां विक्षेपसंवातकरः स यस्मात् । तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद्वस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥ तस्माच्चिकित्सार्थमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि वस्तिमेके ॥ (चरक, सिद्धिस्थान २) । कायचिकित्सा में वायु को जो प्राधान्य है, वही प्राधान्य शल्यचिकित्सा में रक्त को है, क्योंकि उसी से घ्रण की टुट्टि, पूयभवन, संधान, रोपण इत्यादि कार्य होते हैं और इसलिए दोषों में रक्त का समावेश शल्यतन्त्र में किया गया है—तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः शरीरं भवति । (सूत्र २१) । इस रक्त की शुद्धि सिरावेध के द्वारा जैसी होती है, वैसी अन्य उपायों के द्वारा नहीं हो सकती—मासमेदोऽस्थिमज्जानः शोणितस्यावसेचनात् । धमन्यश्च विशुद्ध्यन्ति दुष्टरक्तास्वचक्षुः याः । रसस्वेदाभिनियन्दाद्विशुद्ध्यन्ति न पुष्कलम् ॥ (डल्हणटीका में उद्धृत श्लोक) । इसलिए कायचिकित्सा में वस्ति का जो स्थान है, वही स्थान शल्यचिकित्सा में सिरावेध का है। संक्षेप में, चिकित्सार्थ का तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब रोगियों में नहीं, तथापि अनुरूप रोगियों में जैसे कायचिकित्सा में वस्ति से अधिकांश चिकित्सा का काम हो जाता है, वैसे ही अनुरूप रोगियों में शल्यचिकित्सा में सिरावेधन से चिकित्सा का अधिकांश काम हो जाता है ।

तत्र स्निग्धस्विन्नान्तविरिक्तास्थापितानुचासित-सिराविद्धैः परिहर्तव्यानि—क्राधायासमैथुनद्विवास्व-प्रवाग्व्यायामधानाध्ययनस्थानासनचङ्क्रमणशीतवा-तातर्पाचरुद्धासात्भ्याजीर्णान्यावललाभात्, मासमेके मन्यन्ते । एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्व्यामः ॥ ३६ ॥

(पंचकर्म के पश्चात् निषिद्ध कर्म—) जिसको स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन (निरूहवस्ति), अनुवासन काराया गया हो तथा जिसके सिरा का वेधन (करके रक्तविस्त्रावण) किया गया हो, उसके लिए (पूर्ववत्) बलप्राप्ति (के काल) तक क्रोध (करना), (अधिक) परिश्रम (करना), स्त्रीसंग, दिन में सोना, (अधिक या ऊँची आवाज से) बोलने का व्यायाम, (घोड़े आदि पर) सवारी करना, (अधिक) पढ़ना, (देर तक) खड़े रहना, (अधिक काल तक एक ही स्थान पर) बैठना, (अधिक) चलना, ठंडी हवा, धूप, विरुद्धाशन, असात्म्य अन्नसेवन

और (जिनके सेवन से) अजीर्ण (हो जाय, ऐसा गरिष्ठ आहार या अध्ययन ये कर्म) परित्याग करने योग्य हैं । कई आचार्य ये कर्म महीना भर के लिए परित्याग्य वताते हैं । इनका विस्तार (से विवरण) आगे कहेंगे ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—स्निग्धस्विन्न इत्यादि—रक्तमोक्षण पंचकर्मों में से एक है । कायचिकित्सक पंचकर्मों में रक्तमोक्षण के बदले शिरोविरेचन लेते हैं । पञ्चकर्मों के पहले स्नेहन और स्वेदन कराने से पंचकर्मों से अधिक से अधिक लाभ होता है । पञ्चकर्मों में से किसी एक का सेवन कराने के पश्चात् निषिद्धकर्म नहीं होते हैं । इसलिए यहाँ पर सिरावेध के साथ स्नेहन, स्वेदन, वमनादि का उल्लेख किया गया है । श्रावललाभात्, मासमेके मन्यन्ते—क्रोधादि कर्मों का परित्याग करने की कालमर्यादा अभ्यन्तर स्थिति के ऊपर निर्भर होना उचित है और उस दृष्टि से 'आवललाभात्' यह सुश्रुताचार्य का कथन युक्तियुक्त है । बल का वर्णन कभी कभी 'यावन्न प्रकृतिस्थः स्यादोपतः प्राणतस्तथा' इस प्रकार से भी किया जाता है । कालमर्यादा दिनसंख्या में प्रदर्शित करने से कभी वह अधिक हो सकती है और कभी वह अपर्याप्त हो सकती है । अर्थात् इसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दोनों दोष आ जाते हैं । अतिव्याप्ति में रोगी को विना कारण बन्धन में रहना पड़ता है और अव्याप्ति में बंधन में रहना आवश्यक होने पर भी रोगी नहीं रहता । अतिव्याप्ति व्यावहारिकदृष्टया ठीक नहीं होती और अव्याप्ति वैद्यकीयदृष्टया ठीक नहीं होती । इसलिए यहाँ पर बल लाभ की दृष्टि से पथ्यसेवन की कालमर्यादा प्रदर्शित करना उत्तम पक्ष है, और दिनसंख्या में प्रदर्शित करना गौण पक्ष है । १०वें अध्याय के १५वें सूत्र के 'पुनरार्तवदर्शनात्' की टिप्पणी देखो ।

भवतश्चात्र—

सिराविपाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा ।

श्रवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद् दुष्टशोणितम् ॥ ३७ ॥

(रक्तविस्त्रावण के विविध उपायों की रक्तस्थिति के अनुसार मर्यादा—) सिरावेध, सौंगी लगाना, तुम्बी लगाना, जोंकें लगाना और प्रच्छान से यथापूर्वं गाढदूषित रक्त को निकाले ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विपाणतुम्बैस्तु—इनके विवरण के लिए सातवें अध्याय के १२वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४०) और १३वें अध्याय के २वें श्लोक का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७१) देखो । पदैः—शङ्खपदैः, प्रच्छाननेनेत्यर्थः । प्रच्छान के विवरण के लिए सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के २६वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४) देखो । श्रवगाढं यथापूर्वम्—सब से अधिक गंभीर सिरावेध से, उससे कम सौंग से, उससे कम तुम्बी से, उससे कम जोंकों से और सब से उत्तान प्रच्छान से । गंभीरता की अधिकता पहले में अधिक और उत्तरोत्तर कम होती है—श्रवगाढमभ्यन्तराश्रयं यथापूर्वं पूर्वानतिक्रमेण, एतेनोत्तानं पदैः, श्रवगाढं जलौकाभिः, श्रवगाढतरं तुम्बैः, श्रवगाढतमं विपाणेन, सार्वज्ञिकमवगाढतमं च सिराभिरिति । (डल्हण) । इसका मतलब यह है कि प्रच्छान, जलौका, तुम्बी और सौंग, ये साधन स्थानिक (जहाँ पर लगाया जाय, वहाँ का) रक्त निकालने में एक से एक बलवान् होते हैं और जब दोष गंभीर धातुओं में स्थित होता है, जहाँ पर वैद्य प्रच्छानादि

उपायों का उपयोग नहीं कर सकता, या दोष सार्वद्वैहिक होने के कारण सम्पूर्ण शरीर में इनको प्रयुक्त नहीं कर सकता, तब सिरावेध द्वारा रक्तमोचन करने से फायदा होता है। यही अभिप्राय चाग्मटाचार्य अष्टागहृदय में बतलाते हैं—**प्रच्छाननैकेदेशस्थ प्रथित जलजन्मणि । हरेच्छृगा दिभिः सुममसृग्भ्यापिसिराव्यपे ॥ (सूत्र २६) ।** सुश्रुत के उपर्युक्त श्लोक और इस श्लोक के सम्बन्ध में आगे के श्लोक का वक्तव्य भी देखो ।

**श्रवणादे जलौका. स्यात् प्रच्छान पिण्डते हितम् ।
सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालानु स्वचि स्थिते ॥ ३८ ॥**

इति सुश्रुतसंहिताया शरीरस्थाने सिराव्यपविधिशीर
नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(दूसरी दृष्टि से जलौकादि की कार्यसंज्ञा—) गम्भीर स्थान में (से रक्तनिर्हरण के लिए) जलौका होती हैं, जमे हुए रक्त के लिए प्रच्छान हितकर होता है। सर्वाङ्गव्यापी रक्त में सिरा (वेध हितकर होता) है और त्वचा में (रक्तदृष्टि) स्थित होने पर सींग और तुम्बी (हितकर होती है)।
वक्तव्य—पूर्वश्लोक में रक्त की गम्भीरता की दृष्टि से सिराव्यापिदि सापनों का अधिकार बताया गया, परन्तु प्रत्यक्ष उनके उपयोग के सम्बन्ध में उस श्लोक से मार्गदर्शन नहीं होता है, वह केवल तार्किक विवरण (Theory) है। इसलिये इस श्लोक में रोग को देखकर रोगी के उपर इन में से किसका उपयोग किया जाय, इसका निर्देशन (Indication) किया गया है। यह श्लोक एकही मत का नहीं है, जैसे कि दृष्टाणाचार्य लिख रहे हैं—**न सिराव्यापयन्तुम्बलोक प्रच्छानानां विषय कश्चिदाह, अवगादे इत्यादि । परन्तु पिछले श्लोक के स्पष्टीकरणार्थ सुश्रुताचार्य ही लिख रहे हैं । तथा यह श्लोक पचान्तर भी नहीं है, जैसे कि हाराणचन्द्र कहते हैं—**नचा नरप्रवाहयति—अवेति । न तावद्वचनस्यास्य पचान्तर विषयत्वमशब्देयम्—प्रच्छान पिण्डते वा र्यादवगादे जलौकस । स्वस्येऽलातुपुण्ड्र शिरैव व्यापकेऽसृचि ॥ इति सुश्रुतारिना वाग्भेन वाशन्तेऽपानाना ॥ जिस आधार पर हाराणचन्द्र इस श्लोक को पचान्तर कहते हैं, वह 'वा' शब्द पिछले श्लोक के वक्तव्य के अन्त में दिये हुए चाग्मटाचार्य के श्लोक के पश्चात् आता है। परन्तु ये दोनों श्लोक समानार्थी होने के कारण अष्टागहृदय में पचान्तर होता है परन्तु यहाँ पर नहीं होता, क्योंकि सुश्रुताचार्य का 'सिराव्यापयन्तुम्बल' यह श्लोक और चाग्मटाचार्य का 'प्रच्छानेनैकेदेशस्थम्' यह श्लोक समानार्थक नहीं है। सचेप में, विशुद्ध उपपत्ति (Pure theory) और कर्माभ्यासात्मक (Applied) उपपत्ति में जो संबंध और भेद होता है, वही संबंध और भेद इन अन्तिम दो श्लोकों में है, न कि एकही मत का, न पचान्तर का। अब इन दोनों का आपस में कैसा संबंध है, इसका विचार किया जाता है।****

रक्त निकालने की आवश्यकता जिन रोगों में होती है, उनके चार विभाग कर सकते हैं—(१) इस विभाग में वे रोग आते हैं, जिनमें सम्पूर्ण शरीर में फैलने वाला रक्त निकालने की आवश्यकता बढ़ती है। जैसे—पुराना दृष्टाग, मृश्विचमयना, रक्तपीडनाधिक्य तथा तन्मय पचाघात

इत्यादि। सचेप में जिनमें दोष की सर्वाङ्गव्यापकता होती है, वे सब विकार इस वर्ग में आते हैं। अतः इस श्लोक में 'सिराऽङ्गव्यापके रक्ते' जो लिखा है, वह कर्माभ्यास की दृष्टि से भी बहुत ठीक है। चाग्मटाचार्य 'सिरैव व्यापकेऽसृचि' लिखते हैं। इसमें भी 'एव' शब्द बहुत सूचक है। इससे स्पष्ट बताया जाता है कि जिन रोगों में सर्वाङ्गव्यापक दोष होते हैं तथा सर्वाङ्गव्यापक रक्त को निकालना है, उनमें सिरावेध ही रक्तमोचन का एकमात्र मार्ग है। उसकी टीका में अष्टागहृदय भी लिखते हैं—**सर्वशरीरव्यापके रक्ते शिरैव । सिराया मतविकरणे नास्त्येवेत्येवशब्दार्थ ॥ सर्वाङ्गव्यापकत्व से अवगाढतमत्व का भी बोध होता है क्योंकि मस्तिष्क, कुण्डुस हृत्वादि अत्यन्त गहराई में स्थित प्रत्यङ्गों का भी रक्त इसी मार्ग द्वारा निकाला जाता है। (२) इस विभाग में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति गहराई (अवगाढ) पर होती है और ऊपर की त्वचा में कोई खराबी नहीं होती। जैसे—अर्श, नेत्ररोग, कुण्डुसपाक (न्युमोनिया), सलनी कुण्डुसपाक ग्रन्थो न्युमोनिया, मस्तिष्कावरणरोग, कर्णरोग इत्यादि। इन रोगों में रोगाङ्ग के ऊपर जो कें लगाने से अवगाढ स्थान के रक्त का निर्हरण होता है। ऊपरी त्वचा को कम से कम नुकसान पहुँचाते हुए अवगाढ स्थान का रक्त निकालने का जो एक यही एक मार्ग है (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७९ देखो)। इसलिये 'अवगादे जलौका स्यात्' यह जो लिखा है, वह बहुत ठीक है और कर्माभ्यासात्मक है (३, ४) इन दो विभागों में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति त्वचा तथा उपत्वचा या उस आस-पास में होती है। जैसे—कोड़े, फुन्सियाँ, विद्रधि उपत्वचासोथ (Cellulitis) इत्यादि। इनमें से जिन विकारों में त्वचा गल जाती है, फूट जाती है, टूट जाती है, उनका समावेश तीसरे विभाग में कर सकते हैं और इस विभाग के लिए सींग या तुम्बी का प्रयोग उचित होता है। इसलिये लिखा है 'शृङ्गालानु स्वचि स्थिते'। चौथे विभाग में उन रोगों का समावेश कर सकते हैं, जिनमें विकृति त्वचा में कम परन्तु त्वचा के नीचे अधिक, या त्वचा में होने पर भी त्वचा खराब न होने से दोष या रक्त उसके नीचे इकट्ठा हुआ है। पिण्डित का अर्थ जमा हुआ रक्त (पनीभूत संनान्द्रियुक्त) (हाराणचन्द्र) हो सकता है, परन्तु इससे प्रशस्त अर्थ यह है कि 'जिसको बाहर निकलने के लिए मार्ग न मिलने से जो पिण्डित याने इकट्ठा हुआ है, ऐसा। पिण्डित शब्द का प्रयोग इसी अर्थ से गुल्म के निदान में मिलता है—**उत्त मार्गनिरोधाल्लभाथयो नाद्यु पिण्डितत्वात्**—गुल्मसंज्ञा समते। (अष्टागसंग्रह)। ऐसी अवस्था में नीचे इकट्ठा हुए रक्त को शल्यपदों से मार्ग बनाया जाता है और प्रोत्सेद्य यदि आवश्यक हो तो सिंगी या तुम्बी छगाई जाती है, जिससे पिण्डित रक्त बाहर निकल आता है।**

सचेप में सर्वशरीरव्यापी दोष में जब त्वचा में कोई खराबी नहीं होती तब सिरावेध, जब गहराई में स्थित किसी प्रत्यङ्ग या अवयव में दोष होना है और त्वचा में कोई खराबी नहीं होती तब जलौका, जब त्वचा में दोष होकर त्वचा की प्थारी होती है तब सिंगी या तुम्बी और त्वचा में या त्वचा के नीचे खराबी होने पर त्वचा में

दोप को बाहर आने का कोई मार्ग या मार्ग की अल्पता होती है तब प्रच्छ्यान का उपयोग करना चाहिए; यह इस श्लोक का कर्माभ्यास की दृष्टि से तात्पर्य है ।

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सिराव्यधिविधिशारीरं
नामाष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद धमनीव्याकरण (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः ।
तत्र केचिदाहुः—सिराधमनीस्रोतसामविभागः,
सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति । तत्
न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च
सिराभ्यः; कस्मात्? व्यञ्जनाभ्यन्तमूलसन्नियमात्
कर्मवैशेष्यादागमाच्च; केवलं तु परस्परसन्निक-
र्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौम्याच्च विभक्तकर्म-
णामध्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥ २ ॥

(सिराओं से धमनियों का पृथक्त्व—) नाभि से उत्पन्न होने वाली चौबीस धमनियाँ (पहले) कही गई हैं। इस विषय में कुछ (आचार्य) कहते हैं कि सिरा, धमनी और स्रोतस् में कोई विभेद नहीं है; धमनियाँ और स्रोतस् सिराओं के ही विशेष आकार होते हैं। परंतु यह (मत) ठीक नहीं है। धमनियाँ और स्रोतस् सिराओं से विलकुल भिन्न हैं। क्यों? लक्षणभिन्नता से, मूल (संख्याभिन्नता को) निश्चिति से, कर्मभिन्नता से और शाखाधार से। केवल परस्पर निकटता से, शास्त्र में (कहीं कहीं इनकी) समानता (निदर्शक वचन मिलने) से, समान कर्म होने से, सूक्ष्म(अंगविनिश्चयाज्ञान)ता से भिन्न भिन्न कर्म के होने पर भी इनके कर्म में अभिन्नता (प्रतीत) होती है ॥ २ ॥

वक्तव्य—नाभिप्रभवाः—नाभि से जिनका उद्भव होता है, ऐसी। आयुर्वेद में जैसे हृदय एक है, वैसे नाभि भी एक ही है और वह उदर प्राचीर मध्य में स्थित होती है। इस नाभि के साथ गर्भ की नाभिनाडी संबंधित होती है, जिससे गर्भ का पोषण होकर उसकी वृद्धि भी होती है। सिराओं का संबंध इसी नाभि से बताया गया है, वह भी गर्भवृद्धि की दृष्टि से है। संवेप में आयुर्वेद में नाभि का संबंध गर्भपोषण के साथ होने से सिराएँ और धमनियाँ जो पोषण के काम में आती हैं, नाभि से संबंधित बताई गई हैं—गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मास्ताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति । तस्यान्तरेण नाभिस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं मतम् । तदा धमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ मातुस्तु खलु रसत्रहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति, तेनोपलेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति । अज्ञाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभाग-मानिपेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्य-

गतानां धमनीनामुपस्तेहो जीयति ॥ गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं नाभिरिति पराशर्यस्ततो हि वर्धते देहो देहिनः ॥ पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम ॥ नाभिस्याः प्राणिनां प्राणाः प्राणात्राभिर्भ्युपश्रिता । सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ (सुश्रुत) । चरक, अष्टांगसंग्रह अष्टाङ्गहृदय-इत्यादि अन्य ग्रंथों में भी नाभि का वर्णन इसी प्रकार का मिलता है । इस सब विचरण का तात्पर्य यह है कि नाभि एक कोष्ठाङ्ग है। गर्भावस्था में इसी से गर्भनाडी संबंधित होती है। सिराओं और धमनियों का प्रभव इसलिए नाभि से होता है । अतः योगशास्त्र में तथा अन्य तन्त्रग्रंथों में नाभि का अर्थ कोई भी हो, आयुर्वेद में नाभि Umbilicus naval के लिए प्रयुक्त होती है (पीछे सातवें अध्याय के ३९ वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो) Brain or spinal cord (मस्तिष्क या सुषुम्ना) से उसका कोई संबंध नहीं है । जिस दृष्टि से नाभि सिराओं का प्रभवस्थान माना गया है, उसी दृष्टि से नाभि धमनियों का प्रभवस्थान माना गया है, याने गर्भाशय में शरीर उत्पन्न होने के काल की दृष्टि से धमनी नाभिप्रभव मानी गई है । और सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में जिस प्रकार सिराओं की नाभि के पास रचना बताई गई है, उसी प्रकार की रचना धमनियों की नाभि के पास अष्टांगहृदय में वर्णन की गई है—धमन्यो नाभिसंबद्धा विंशतिश्चतुस्चराः । ताभिः परिवृतो नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ (शारीर ३) । जन्म के पश्चात् धमनियों का सम्बन्ध नाभि के साथ न होकर केवल हृदय के साथ होता है, और इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में इन चौबीस धमनियों का सम्बन्ध हृदय के साथ स्पष्टतया बताया गया है । तस्य (रसस्य) हृदयं स्थानम्, स हृदयाचतुर्विंशति धमनीनुपविश्यो-र्ध्वगा दश दश चाधो गामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरह-स्तपर्यति वर्धयति धारयति यापयति चाट्टहेतुकैर्न कर्मणा ॥ चरक-संहिता में भी धमनियों का संबंध हृदय से ही बतलाया है, केवल फर्क इतना है कि वहाँ पर धमनियों की संख्या चौबीस के बदले दस है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश । श्रोत्रेवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्वतः ॥ (सूत्र ३०) । प्राणभिहिताः—शोणितवर्णनीय अध्याय में सूत्रस्थान में । इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ पर हृदयस्थ रस जिन चौबीस धमनियों द्वारा संपूर्ण शरीर में फैलकर शरीर का पोषण और तर्पण करता है, वे धमनियाँ नाभिप्रभव हैं । सिराधमनीस्रोतसामविभागः—इसका अभिप्राय यह है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार सिरा, धमनी और स्रोतस् ये एकार्थक या पर्याय शब्द (Synonyms) हैं । जैसे, चरक में लिखा है—स्रोतांसि सिरा धमन्यो... शरीरधातवकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति । (विमान ६) । इसकी टीका में चक्रपाणि-दत्त लिखते हैं—त्रोतसां व्यवहारार्थं पर्यायानाह । अन्ये त्वेतानपि धमनीपर्यायानाहुः ॥ इसी मत के अनुसार अमरकोष में 'नाडी तु धमनी सिरा' करके धमनी और सिरा पर्याय बताये गये हैं । सिराविकाराः—सिराओं से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट आकारयुक्त प्रकार, जैसे—दूध से दही, इच्छुरस से गुड चीनी इत्यादि—सिराविकारा इति सिराणामेवाकारान्तरेण परि-यासाः, पिष्टविकारक्षीरविकारवत् । तत्तु न सम्यक्—सुश्रुताचार्य का मत है कि धमनी सिरा विकार न होकर स्वतन्त्र और

सिराओं से विलकुल भिन्न है । इसके लिए निम्न चार हेतु बतलाये जाते हैं । (१) व्यञ्जनान्वयात्—दोनों के लक्षणों में भिन्नता होने से । इसकी टीका में बहूणाचार्य लिखते हैं—उत्र सिराया वाजादिवहानामभ्यनीनशुद्धोदवर्णत्वं लक्ष्य शब्दादिबह्वमनोना तु सर्वाणुके रवधातुसमवर्णत्वं एव सोवसा मपि । वदुक चरके—स्वधातुसमवर्णानि वृत्तश्रुतान्तरानि च । सोवसि दीर्घाणावस्था इत्यादिवन् ॥ इस पर हाराणचन्द्र लिखते हैं—व्यञ्जना यत्वादिनान्वयात् सिराणामिव धमनीना मपि द्वािरावमासात्मवनाशोक्तरूपत्वे सत्परि किञ्चिद्भूत्वेन श्रुतसकोचविसाखित्वेन च, सोवसा पुन स्वच्छन्तरतनुकोमलपदा श्रुतानावृत्तेनानिर्वा श्रुत्वेन श्रुतसकोचविसाखित्वेन च वैशिष्ट्यादिति यावत् ॥ धमनी और सिरा में मुख्य वेद स्पन्दन का है । स्पन्दनयुक्त धमनी और स्पन्दनरहित सिरा—ध्मानात्मन्यं, सवपात् सोवसि, सख्यात् सिरा । (चरक, सूत्र ३०) । (२) मूलसन्धियाम्—मूलसन्धियमो द्वितीयो भेदो यथा वासा मूलसिराक्षतारिश्चिदित्यारभ्य यावदेव मैत्रानि सप्तसिराष्यजानि, धमनीनां तु चतुर्विंशतिर्धमन्य सोवसा पुनर्द्वाविंशति सोवसि । (बह्वण) । नियोमोऽभ्युपगमश्चेति फर्षाथो । तदसमर्थं । मूलानां पृथक्त्वेनाभ्युपगमो यदात्तसामान्य सञ्चियमात् सख्यावानां मूलसिरादीनां विजातीयत्वेनावहिवमनसा प्रत्यक्षोपलम्भादिति निःकर्षं । (३) कर्मबैशिष्यात्—कर्मणाम प्रतीकात्म् इत्यादि सातवें अध्याय के ७ वें श्लोक में वर्णन किया हुआ सिराओं का कर्म और शब्दरूप गद्यादि का वहन धमनियों का कर्म । (४) भागभाष आयुर्वेद के प्रथो में स्थान स्थान पर सिरा धमनी इनका पृथक पृथक उल्लेख मिलता है । जैसे सूत्रस्थान के अथोपरहरीणय अध्याय में शब्दकर्म के समय लिखा है—वेधो मन्सिराज्जलुनश्चरिध धमनी परिहृत् श्रुतयोम शश्व निदध्यात्पृष्णशानात् ॥ जैसे ही शरीरगत प्रत्यक्षों की परिगणना में सिरा, धमनी और सोतस् इनका उल्लेख स्वतन्त्र किया गया है—तत् पुन सख्यान—प्रमाणि सिरा धमन्यो योयवद्वानि क्षोगामि च । (शारीर ५) । यदि धमनी और सिरा शब्द शरीरगत एक ही प्रथग के लिए प्रयुक्त होता तो इनका पृथक पृथक उल्लेख नहीं किया जाता । इसलिये धमनी और सिरा वे पृथक पृथक हैं, यह कहने का अभिप्राय है । विमलकर्मणा मन्सिमाय इव—इस तरह लक्षणभिन्नता, मूलसख्या भिन्नता, कर्मभिन्नता और शास्त्राचार्य होने चार कारणों से सिरा और धमनी का प्रविभागा मिश्र होने पर भी स्वयंवाह में वे शब्द अधिकतर समानार्थी प्रयुक्त हुए दिखाई देते हैं । यह दोष जैसे सद्यकालीन उपलब्ध प्रथो में दिखाई देता है, जैसे प्राचीन कालीन प्रथो में तथा व्यवहार में, कम से कम सुश्रुतसंहिता के समय में दिखाई देता था । जब इस दोष के दूर होने के चार कारण यहाँ पर बताये जाते हैं—(१) परस्परसन्धिर्नात्—धमनी, सिरा और सोतस्, इन तीनों प्रथगों के शरीर में अत्यन्त समीप होने के कारण । शरीर में ऐसा कोई अंग नहीं मिलेगा, जहाँ पर वे तीनों प्रथग न हों और अत्यन्त समीप न हों । इसके लिए बहूणाचार्य इत्यन्त देते हैं—सर्वाणिसन्धिर्बुधोकीशाना एतानां प्रत्येकं मिश्रमयनक्रियाणामभिन्ननिव भवतन् प्रतीयते ॥ सृष्टागमधर्मत्वात्—सृष्टागमात् सृष्टागमत्वात् । (४) सृष्टा-

गमात्—शास्त्र में धमनी और सिरा की विभिन्नता के जितने उदाहरण मिलेंगे, उससे कई गुना अधिक उदाहरण दोनों का एकाधी उपयोग करने के मिलेंगे—जैसे, 'कृदापस्यो धमनी वत प्रनापो (शारीर ४), धमनीमानसवत् (चरक, सूत्र २१) इत्यादि स्थानों में धमनीशब्द सिरावाचक प्रयुक्त हुआ है । जैसे ही दस मूतगिरा हस्त्यात्ता सर्वां सवतो यषु । रसात्मक बहनयोः । (अष्टागहृदय), अस्व हास्तु रोदिष्य' सिरा माल्पुष्पाशीयता । (सुश्रुत)—इन स्थानों में सिरा शब्द धमनीवाचक प्रयुक्त किया गया है । (३) सञ्चयकत्वात्—दोषधातुवहन यह इनका कर्मसामान्य है । कर्मसामान्य के साथ इनमें कुछ रचनासामान्य भी है । ये तीनों ही अवकाशयुक्त याने मध्यच्छिद्रयुक्त या अन्तःसुपिर (Hollow) होते हैं—आकारयोवन्नशानां देहे नामानि देहिनाम् । सिरा' क्षोगसि भागा ख धमन्यो नाञ्ज आद्या ॥ इनमें सिराएँ धातादि तीन दोषों का वहन करती हैं, सोतस् रस का वहन करते हैं और धमनी (रक्तयुक्त) धात का वहन करती हैं । अर्थात् भेद विशिष्ट चीज के वहन में है । (४) सौमन्यात्—सूक्ष्म अंगविनिश्चय ज्ञान के अभाव से । सिरा, धमनी, सोतस् सूक्ष्म होने के कारण उनका पृथक्त्व नहीं माना जाता है । इसका अर्थ यह है कि ये तीनों प्रथग वास्तव में पृथक् होने पर भी इतने सूक्ष्म शारीर ज्ञान का अभाव वैद्यों में था सामान्य जनता में होने के कारण वे पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं ।

धमनी क्या है ? जमनी के शास्त्रिक अर्थ के संबंध में क्लोपेसी स्नायु इत्यादि के समान उष्ण मनभेद प्रचलित है । इस मनभेद के अर्थयुं पूजा के स्वर्गधासी पं० गंगापर शास्त्री जोशी हैं । उनके मतानुसार धमनी मस्तिष्कमुद्रुपता से निकलने वाली नाडियों (cerebro spinal nerve) हैं । इस मत का विचार करने के पहले धमनी के संबंध में आयुर्वेद में जो मुख्य बातें मिलती हैं, उनका विवरण किया जाता है । वे मुख्य बातें ये हैं—(१) धमनी नालो के समान अवकाशयुक्त या सुपिर वस्तु हैं—आवाशोवावन्नशाना देहे नामानि दोहानाम् । सिरा' क्षोगसि भागा ख धमन्य ॥ क्षोगसि सिरा धमन्यो भागां शरीरिन्द्रियाणि । (चरक, विमान १) । (अष्टागसमह, शारीर ६) । (२) इव से सख्य—यद्यपि यहाँ पर धमनियों की उल्लिखि नाभि से बताई गई है (इसका अर्थ इस बकथ्य के प्रारम्भ में तथा सातवें अध्याय के ३१वें श्लोक के वक्तव्य में स्पष्ट किया गया है) तथापि साधारणतया धमनियों का संबंध हमेशा हृदय के साथ ही लिखा जाता है—त इत्याद्यत्रुजिनि धमनोरनुपारवप इत्यन शरीरमहररत्तवैरथि । (सूत्र १४) । इदि च दश धमन्य । चरक, सिद्धिस्थान ९) । वेन मूलेन महदा महापूजा मठा दश । ओयोवशा शरीरेऽस्मिन् विधमन्वेऽसमन्वत् ॥ (चरक, सूत्र ३०) । भागे भञ्जर तीन में दिवे हुए उद्वरण भी देखो । (३) धमनी में रस और रक्त का सवहन होता है—पयशानां सोतडा इत्य मूल दश ध धमन्य । (चरक, विमान ५) । शोयित्तानां तु सप्त कुषे समान समुत्थान, स्पन्द रक्तगान्धयो धमन्य । (चरक, विमान ७) । धमनियो (धमन्ये) सकेन रक्तजोरद्वनिता सद्यर्थ निर्गच्छति । (सुश्रुत, सूत्र ११) । सनेत्य इत्य प्राय धमनोरुत्थानात्पत् । (शोभोऽदिष्यवेति शीर्षं नरवदे विरपत् ।

(सुश्रुत, सूत्र ४९) । मासेनोपनिवं काले धमनीभ्यां तदातं वम् ।
 ईषत् कृष्णं वगन्धं च वायुर्धोऽनुसुखं नयेत् ॥ (सुश्रुत, शारीर ३)
 धमन्यः संवृत्तद्वाराः कफानां स्तनसंभ्रिताः । दाषाविसरणाच्छासां
 न भवन्ति स्तनामयाः ॥ (सुश्रुत, निदान १०) । धमनीनां
 हृदिस्थानां विवृण्वत्वादनन्तरम् । चतुराणां त्रिस्रादां स्त्रीषु स्तन्यं
 प्रवर्तते ॥ (सुश्रुत, शारीर १०) । भलंजाताद्गर्भप्रत्यङ्गप्रविभाग-
 मानिषेकाए प्रभृति सर्वशरीरव्यवधानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनां
 नियं गतानामुत्सनेहो जीवयति । (सुश्रुत, शारीर ३) ।
 सद्दृष्ट्याश्चतुर्विंशति धमनीनुप्रविष्टयोर्ध्वगा दश दश चाधो गामिन्य-
 ध्वनस्रश्च नियं गाः कृत्स्नं शरीरं तर्पयति । (सुश्रुत, सूत्र १४) ।
 (४) धमनियों में ध्मान या स्पन्दन मिलता है—ध्मानाद्द-
 मन्यः, स्रवणात् स्त्रीभक्ति, सरणात् सिराः । (चरक, सूत्र ३०) ।
 धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनी । करस्यांगुष्ठभूले या
 धमनी जीवसाक्षिणी । तद्वेष्टया सुखं दुःखं धेयं कायस्य पण्डितैः ।
 उवरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत् ॥ (भास्कर, प्रथमखण्ड) ।
 तस्य चेन्मन्ये पशुमृदयमानेन स्वन्देयाताम्, पराहुरिति विद्यात् ।
 (चरक, इन्द्रियस्थान ४) । मन्ये गन्धपार्श्वगते धमन्यो ।
 (चक्रपाणिद्वय) । संक्षेप में आयुर्वेदोक्त धमनियों नाली-
 दार हृदय से निकलने वाली, रसरक्तवह और स्पन्दनशील
 (Pal sating) होती है । पं० गंगाधरशास्त्री हृदय का अर्थ
 मस्तिष्क (Brain) करते हैं—How the dhmanis are
 ssid to proceed from हृदय and नाभि is a Question
 connected with the ancient Yoga-philosophy.
 Suffice it to say here that even Dr. Gana Nath
 Sen and the late Prof. Bhanu of Poona have
 acknowledged that in the ancient philosophy of
 Yoga and the Upanishads हृदय did mean a part
 of Brain. योगशास्त्र में हृदय का अर्थ मस्तिष्क भले ही
 हो, आयुर्वेद में हृदय से वाचःस्य रक्तपरिचालक यन्त्र का
 ही निरपवाद बोध होता है । इस विषय का विस्तृत साधक
 याधक प्रमाणों के साथ विवरण चतुर्थ अध्याय के ३३ वें
 श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । इस लिए धमनी से
 आयुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार आर्टरी (Artery)
 का ही बोध होत है । अब, जैसे कि यहाँ पर बताया गया
 है, सूक्ष्म ज्ञानाभावादि कारणों से धमनी का उपयोग
 हमेशा आर्टरी के अर्थ में नहीं किया जाता है, यह बात
 दूसरी है । परन्तु इससे धमनी का वास्तविक मूल अर्थ कहीं
 भी नहीं छिप सकता । जिस ग्रन्थ में कहीं भी मस्तिष्क का
 या सुषुम्ना का वर्णन नहीं मिलता, उस ग्रन्थ के कुछ शब्दों
 से Cerebro-spinal nerves, sympathetic nerve fibers
 इत्यादि का अर्थ निकालना अज्ञान और घट्टता का काम है ।
 धमनी का अर्थ Nerve करना इसी स्वरूप का काम है ।
 नर्व या नाडी ठोस होती है, उसमें रस या रक्त का वहन
 नहीं होता, न स्पन्दन होता है तथा उसका सबंध सुषुम्ना
 या मस्तिष्क के साथ होता है । याने धमनी और नर्व में
 एक भी बात की समता नहीं है । ऐसी अवस्था में धमनी
 को नर्व कहना एक दुराग्रह है । नर्व के संबंध में यह भी
 ध्यान में रखना चाहिए कि मृत्यु के पश्चात् शरीर का
 संशोधन करने से उसके कार्य का ज्ञान कदापि नहीं
 हो सकता । वह अंग ज्ञायुतन्त्र के साथ मूला जा सकता है ।

बंगला में नर्व के लिए ज्ञायु शब्द का ही प्रयोग होता है ।
 हाराणचन्द्र भी ज्ञायु शब्द से नर्व समझते हैं । आगे नीचे
 श्लोक के वक्तव्य में हाराणचन्द्र का उद्धृत वचन देखो ।
 धमनी का ज्ञान मृत्यु के पश्चात् भी हो जाता है और मृत्यु
 के पूर्व भी उसका ज्ञान स्पन्दनादि से हो जाता है । संक्षेप
 में रक्तवह संस्थान का ज्ञान जितना सुलभ है, उतना
 मस्तिष्कसंस्थान का नहीं है । अभी तक मस्तिष्क के कुछ
 प्रदेश तथा उनके कार्य अज्ञात हैं । इस सारे विवरण का
 तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीयों को और उनके साथ
 आयुर्वेदवेत्ताओं को मस्तिष्क और सुषुम्ना का तथा शरीर-
 गत नाडियों का ज्ञान नहीं था । परन्तु यह जरूर कहना
 पड़ता है कि मस्तिष्कसंस्थान का ज्ञान हो या न हो,
 आयुर्वेदवेत्ताओं ने मस्तिष्कसंस्थान जैसे प्रमुख परन्तु कठिन
 संस्थान के परिचय के झंझट को छोड़कर मनुष्य शरीरगत
 प्राकृत और विकृत कार्यों का समाधान करने की बड़ी
 सुन्दर और सरल उपपत्ति निकाली, जिस उपपत्ति के
 कारण कम से कम प्राचीन काल में, वैद्यकशास्त्र में बहुत
 सुलभता आ गई । मस्तिष्कसंस्थान के शारीरिक या अंग-
 विनिश्चयार्थक ज्ञान (Anatomy का अभाव इसी कारण से
 आयुर्वेद में दिखाई देता है, परन्तु उसके कार्य Physiology)
 का काफी विवरण आयुर्वेद में मिलता है (सूत्रस्थान के
 १४वें अध्याय के ११ वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में पृष्ठ ८० पर
 नर्वस टिप्पणी का वर्णन देखो) । यह उपपत्ति क्या है ?

आयुर्वेद की नीव त्रिदोषों के ऊपर है, इसमें कोई
 संदेह नहीं है । कोई इनको माने या न माने, तथा पाश्चात्य
 वैद्यक इनको वैज्ञानिक समझे या न समझे । इन त्रिदोषों में
 वायु नामक एक दोष सर्वप्रधान माना गया है । इस
 वायु का बहुत सुन्दर वर्णन चरकसहिता के वातकला-
 कलीय अध्याय में किया गया है—वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदान-
 समानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुद्योवचार्ना, नियन्ता
 प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योचक्रः, सर्वेन्द्रियार्थानामभि-
 बोधा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः,
 प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हृषीत्साहयोर्धनिः,
 समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, ज्ञेता बहिर्मलानां, स्थूलाणु-
 क्षोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुप्रवृत्तिप्रत्ययभूतो
 भवत्यकुपितः । कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुप-
 तपति बलवर्णमुखायुषामुपधानाय, मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाणु-
 पहन्ति, विनिहन्ति गर्मान्, विकृतिमापादयत्यतीतकालं वा धारयति,
 मयश्रोक्रमोहदैन्यानिप्रलापाजनयति, प्राणांशोपकण्ठि ॥ (सूत्र
 १२) । यह वायु क्या है ? आज ठीक नहीं कहा जा सकता ।
 कोई हमको आक्सिजन समझते हैं, कोई कार्बन डाइऑक्साइड
 समझते हैं; और कोई प्रणालीविहीन ग्रंथियों के अन्तःस्त्राव
 (Hormones) समझते हैं । कुछ भी हो, यह वात शरीर में
 निरन्तर संचार करता रहता है और इसी संचार के ऊपर
 प्राणियों का स्वास्थ्य निर्भर होता है—अव्याहगततिर्यस्य
 स्थानस्थः प्रकृती स्थितः । वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेदीनरोगः समाः
 शतम् ॥ (चरक, चिकित्सा २८) । वायु के साथ अन्य दो
 दोष भी शरीर में संचार करते हैं, परन्तु उनका नियन्त्रण
 वायु के द्वारा ही होने के कारण वे विशेष महत्त्व के नहीं
 माने गये हैं—पित्तं पंशु कफः पंशुः पशुनी मलपातवः । वायुना

मस्तिष्कसंस्थान का स्वास्थ्य रक्त के उचित संगठन पर निर्भर होता है । यदि रक्त में जीवितिक्रि द्रव्य (Vitamines) चूना (कैल्सियम), भास्वर (फास्फरस), तिक्तीअम्ल (एमिनो एसिड) इत्यादि द्रव्यों की तथा शरीरगत अन्तःघावों (Hormones) की कमी हो तो मस्तिष्कसंस्थान शारीरिक-दृष्टया ठीक होने पर अनेक नाडीविकार उत्पन्न होते हैं । आयुर्वेद में मस्तिष्क तथा नाडियों के लिए जो स्थान नहीं दिया गया है, उसके लिए एक दार्शनिक दृष्टान्त दिया जा सकता है । सभी लोग जानते हैं कि ध्वनि की उत्पत्ति के लिए वायु की आवश्यकता होती है, वायु के बिना ध्वनि उत्पन्न नहीं हो सकती । यह सब कुछ होते हुए भी दर्शनशास्त्रों में शब्द आकाश का गुण बताया गया है—वृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि । गन्धरसरूपस्पर्श-शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्याः । (न्यायदर्शन १) । आधुनिक वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि आकाश (Ether) में शब्दोत्पत्ति होती है । आजकल आकाशवाणी (Radio) अत्यन्त दूर स्थान से आकाश द्वारा ही प्राप्त होती है । इसी प्रकार शरीर में वातिक, प्राकृत और विकृत लक्षण मस्तिष्कसुपुम्ना नाडियों के द्वारा ही होते हैं, परन्तु आयुर्वेद में नाडियों के बदले रक्तस्थ वात को ही प्राधान्य दिया है । इसलिए आयुर्वेद में शारीरिक अंगविनिश्चय की दृष्टि से कहीं भी मस्तिष्क या सुपुम्ना या नाडियों (Nerves) का उल्लेख नहीं मिलेगा । भाषान्तर में कहीं कहीं जो नाडी का उल्लेख आता है, वह तो केवल आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से अर्थ स्पष्ट करने के लिए किया गया है । आगे भी आठवें और नौवें श्लोकों का वक्तव्य देखो ।

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः, चतस्रस्तित्यग्गाः ॥३॥

(चौबीस धमनियों के विभाग—) नाभि से उत्पन्न होने वाली इन धमनियों की दस (धमनियाँ शरीर के) ऊपर की ओर, दस (धमनियाँ) नीचे की ओर और चार तिर्यक् (पारवों में जाती हैं) ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्रसितकथितरदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति । तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते, तार्त्त्रिशत् । तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृहीते, द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिवुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिण्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते पव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्वेतार्त्त्रिशत् सविभागा व्याख्याताः । एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धप्रोवात्राहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥ ४ ॥

(ऊर्ध्वग धमनियों के कार्य—) ऊपर जाने वाली (धमनियाँ) शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छ्वास, जम्माई, छोक, हँसना, रोना, बोलना इत्यादि विशेषों को अभिवहन करती हुई शरीर को धारण करती हैं । ये दस धमनियाँ हृदय के पास पहुँचने पर तीन भागों में विभक्त

होती हैं । वे तीस हो जाती हैं । इनमें वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो वहन करती हैं वे दस, शब्द, रूप, रस और गन्ध को (प्रत्येक के लिए दो दो करके) आठ ग्रहण करती हैं, दो से भाषण करता है, दो से अव्यक्त शब्द करता है, दो से सोता है, दो से जागता है, दो (आँखों के) अश्रु का वहन करने वाली हैं, दो स्तनाश्रित स्त्रियों के स्तन्य का संवहन करती हैं, वही दो स्तनों से पुरुषों के शुक्र का संवहन करती हैं, (इस तरह ऊर्ध्वग दस धमनियों की) ये तीस धमनियाँ उनके विभाग के साथ वर्णन की गई हैं । इनके द्वारा नाभि से ऊपर पेट, पार्श्व, पीठ, छाती, कन्धे, ग्रीवा और वाहु इनका धारण और यापन होता है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—प्रश्वासोच्छ्वास—इनके अर्थ के सम्बन्ध में मत-भिन्नता दिखाई देती है—प्रश्वासोन्तः प्रविशति वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठत्युः । (ब्रह्मण) । प्रश्वासः श्वासप्रेरणमुच्छ्वासोऽन्तः प्रवेशनम् । (इन्द्रु, अष्टांगसंग्रह, सूत्र २०) । भाषते, घोषं करोति—भाषत इति ताह्यादिस्थान्यापारनिष्पादिवाकारादिवर्ण्य-क्त्युक्तं शब्दं करोति, घोषश्च तद्विपरीतोऽव्यक्तः शब्दः । (ब्रह्मण) । ग्रीवा—सशिरग्रीवा । शिर के साथ ग्रीवा ।

इस सूत्र में तथा भागे के दो सूत्रों में जो धमनियाँ वर्णन की गई हैं, उन सब धमनियों का प्रत्यक्षशरीर की दृष्टि से पर्याय नाम देना कठिन है । तथापि जिनका दिया जा सकता है, उनका अंग्रेजी पर्याय नाम नीचे दिया जाता है । उसके साथ साथ पं० गंगाधर शास्त्री के पर्याय भी कोष्ठ में दिये जाते हैं ।

शब्दवह धमनी—Internal auditory artery (Acoustic nerves); रूपवह धमनी—Central retinal artery (optic nerves); रसवह धमनी—Lingual artery (Nerves of taste that is branches from glossopharyngeal and lingual); गन्धवह धमनी—Sphenopalatine branch of the internal maxillary (olfactory nerves); घोषकरा धमनी—Laryngeal arteries (Inferior laryngeal nerves); भाषण धमनी—Sublingual artery (Hypoglossal nerves); अश्रुवाही धमनी—Lacrimal artery (Lacrimal nerves); स्तन्यवह धमनी—Mammary artery; स्तन्योत्पादन से सम्बन्ध रखने वाली नाडियाँ ही शरीर में नहीं हैं—No secretory nerves of the mammary gland have yet been discovered. It is possible, they do not exist, and that the normal stimulus to mammary activity is a chemical one brought about by the ovary. Halliburton's physiology. इसलिए इच्छा रखने वाले भी स्तन्यवह धमनी के लिए कोई नाडी नहीं बता सके । प्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्रसितकथितरदितादिविशेष—ये श्वसन के ही विशेष प्रकार हैं, जिनमें श्वसन की महाप्राचीरा (Diaphragm) तथा अन्य पेशियों काम करती हैं । इसलिए इनको रक्त की रसद पहुँचाने वाली धमनियाँ ग्रहण करनी चाहिएँ; जैसे—Phrenic and inter-costal arteries । इन स्थानिक धमनियों के सिवा ये सब कार्य मस्तिष्क के द्वारा नियन्त्रित होते हैं; इसलिए ऊर्ध्वग धमनियों से मस्तिष्क की संपूर्ण धमनियों का ग्रहण होता है । इस सूत्र की टीका में ब्रह्मणा-

यत्र नीचन्ते तत्र नर्बन्ति मेघवद ॥ (शाङ्गधर) । अविन्यस्यनीयो दोषाणां नेदा रोगमन्हरादः । (सुश्रुत) । ये दोष शरीर में संचार करते हैं, अर्थात् इनके संचरण के लिए मार्ग की आवश्यकता है। शब्दविच्छेदन तथा पाश्चात्य वैद्यक पद्धति से जिनको नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है (जैसी कि पं० गंगाधर शास्त्री जी को प्राप्त हुई थी), वे कह सकते हैं कि वायु का मार्ग शरीरगत नर्व (Nerves) होती है। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि सीनों दोष हमेशा साथ रहते हैं, एक ही वाहिनी में से संचार करते हैं। यह वाहिनी नाडीदार पोखी होती है और इनका वाहन रस (या रक्त) होता है—कुपितानां वि दोषाणां शरीरं परिभावयान् । यत्र सगः खर्वेऽगुण्यात् व्यापितस्तत्रोप- जायते ॥ (सुश्रुत, सूत्र २४, १८) । न्यायेन रसवाहिनो विक्षेपो चितकर्मणा । सुगपद सर्वतोऽनल देहे विक्षिप्यते सदा ॥ चिप्यमाणः स्वर्वेऽगुण्यात्सं सज्जति यत्र सः । तस्मिन् विकारं कुर्वते खे वर्बन्ति तोयदः ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर ३) । इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—एवमनेन न्यायेन दोषाणांमपि वातदीनां न्यायेन विक्षिप्यमाणानामेकेद्वयप्रकोपण विकारकरणं स्वयत् ॥ ध्यान धातु हृदय में निवास करके रससंचरण का कार्य करता है। इससे स्पष्ट है कि यह हृदय हाई है, ग्रेन नहीं है। अर्थात् वातादि दोष रससंचरण के साथ शरीर में हमेशा परिभ्रमण किया करते हैं और प्राकृत अवस्था में प्राकृत कार्य और विकृत अवस्था में विकार उत्पन्न करते हैं, परंतु उनका मार्ग और वाहन दोनों अवस्थाओं में एक ही होता है। नर्व में से वायु का संचार मानने के लिए सभी (प्राचीन तथा आधुनिक) तैयार होंगे। परंतु उसी में से पित्त और कफ का वहन मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं होगा। धुंकि ये तीनों साथ रहते हैं और रस के द्वारा रसवाहिनियों में से संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं। इसलिये वायु का कार्य जहाँ पर दिखाई देता है, वहाँ पर शारीरिक अंगविनिश्चय की दृष्टि से नर्व अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, न आयुर्वेद की उपपत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ नर्व कर सकते हैं। इस प्रकार यदि अर्थ किये जायें तो कई बार अनवस्था प्रस्ता उत्पन्न होंगे। इसके कुछ उदाहरण सातवें अध्याय के ३६ वें श्लोक के वक्तव्य में तथा चौथे अध्याय के ३३ वें श्लोक के वक्तव्य में हृदय का अर्थ करने के समान दिये गये हैं। कुछ उदाहरण यहाँ पर भी दिये जाते हैं—(१) धातुनां पूर्य नर्व स्वर्गज्ञानम- संक्षयम् । स्वाः सिराः सचन्द्रक कुर्वाणान्यान् गुणानपि ॥ (सुश्रुत, शा० ७) । इस श्लोक पर प्रत्यक्षशरीर की प्रस्ता- वना में म० म० गणनाय सेन लिखते हैं—न हि सिरासु सचन्द्रकं स्वर्गज्ञानं साधयति, तदि स्वर्गज्ञानावाहिनिरनादीप्रानाभिः (Nerves) सपत्ते ॥ रसयोगसागर उपोदात्त (पृष्ठ ३२८) में भी इस श्लोक पर लिखा है—रसत्र भातुनां पूर्यमित्यनेन सिरासमन्यायुक्तिः । स्वर्गज्ञानसिरासेन ज्ञानतन्त्रं (Nerves) कार्यं निर्दिष्टम् । तत्र सिराससंबन्धं चित्तु ज्ञानतन्त्रमित्यर्थं, सिरासु सचन्द्रकं तत्र साधयति ॥ (१) अर्थोत्तरं च तावत् शब्दादिनी- नानेकेनां परिदरेत् ॥ परिभाषितानामर्थं सिरासप्रयोगः । (प्रत्यक्षशरीर प्रस्तावना ११) । (२) यत्तु भयनीः सर्वाः कुपितोऽप्येति मातनः । तदाधिपक्वायु सुदुर्गुणैर्न सुधरः ।

सुश्रुतुल्लादावेपारात्रेपक इति स्युतः ॥ (सुश्रुत, निदान १) । इत्यत्र ज्ञानतन्त्रुषु भयनीशब्दः प्रयुक्तः । (रसयोगसागर उपोदात्त ३२८) । इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जहाँ पर अर्थ की दृष्टि से सिरा या भयनी या नाडी का उल्लेख नर्व किया जा सकता है। परंतु वास्तव में आयुर्वेदोक्त सिरा, भयनी, स्रोतस् या नाडी नर्व नहीं है, रस या रक्त को वहन करने वाली नाडी है। ये प्रयोग न गलती से हुए हैं, न गफलत से, न प्रतिसंस्कारों के दोष से, न प्रवेप से, परंतु ठीक आयुर्वेद की उपपत्ति के अनुसार हुए हैं। यह उपपत्ति आधुनिक पाश्चात्य तत्व के अनुसार गलत कही जा सकती है, यह दूसरी बात है। परन्तु इस नये तत्व के आधार पर पुरानी कल्पना को बदलकर नये के साथ मिलाने की कोशिश करना ठीक नहीं है। रस या रक्त के साथ वातादि दोष संचार करके शरीर में प्राकृत (Normal) तथा वैकृत (Abnormal) कार्य करते हैं। इस उपपत्ति में सत्य का संपूर्ण अभाव नहीं मालूम होता, बल्कि बहुत कुछ तथ्य प्रतीत होता है। जैसे, मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से चक्कर, अंधता उत्पन्न होती है, रक्त की अधिकता होने से सिरदर्द होता है। मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह के बन्द होने से मृत्यु होती है, किसी एक स्थान का प्रवाह बन्द होने से एकांगघात, पक्षाघात होता है। सुपुम्ना में कहीं पर रक्तप्रवाह में बाधा होने से पक्षुता उत्पन्न होती है, कान के रक्तप्रवाह में बाधा होने से बाधियं, कर्णश्वेद होता है। आँखों की रक्तवाहिनी में बाधा उत्पन्न होने से अंधता होती है। कुर्सी पर या कठिन आसन पर अधिक देर बैठने से टंगों के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होकर पैरों में झुनझुनी, स्वाप, जडता इत्यादि उत्पन्न होते हैं। नींद में एक करवट अधिक समय तक सोने से हाथ के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होकर हाथ में भी पैर की तरह झुनझुनी इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आधुनिक पाश्चात्य संप्रदाय के अनुसार ये सब नाडीसंस्थान के रोग (Nervous diseases) होते हैं, परन्तु इन विकारों में मस्तिष्कसंस्थान की धातु में कोई खराबी नहीं होती। जो कुछ भी होती है, वह असल में रक्तवहन की होती है। अर्थात् अगर कोई इन विकारों का कारण मस्तिष्कसंस्थान-न समझकर रक्त समझे तो इसमें पियोष दोषावह नहीं है। जब कान की रक्तवाहिनी में खराबी होने से कान का कार्य ठीक नहीं होता, तब इसका अनुमान यह होता है कि रक्तवाहिनी ठीक होने से कान का काम भी ठीक होता है। आयुर्वेद में ये सब कार्य वायु के द्वारा होते हैं, ऐसा माना गया है। इसका मतलब यह है कि जब प्रत्येक प्रत्यय की रक्तवाहिनी में अविच्छिन्न वायु संचार करती है, तब उसका कार्य ठीक होता है। और जब विच्छिन्न वायु संचार करती है, तब उसका कार्य खराब हो जाता है। जिम्हा की रक्तवाहिनी में अविच्छिन्न वायु का संचार होने पर गंधज्ञान ठीक होगा और विच्छिन्न वायु का संचार होने पर गंधज्ञान में गन्बड़ हो जायगी। संवेप में, रसरक्त के द्वारा शरीर के संपूर्ण कार्य विच्छिन्न या अविच्छिन्न होते हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। पाश्चात्य वैद्यक को भी मानना पड़ता है कि वायु इत्यादि कार्य शरीर में यद्यपि मस्तिष्कसंस्थान के द्वारा होते हैं तथापि

मभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे इति स्पष्टं गवीन्योरेव निर्देशः । (प्रत्यक्ष शारीर, प्रस्तावना) । शुक्रवहे द्वे—शुक्रोत्पादक अंगों याने वृषणग्रन्थियों को रक्त की रसीद पहुँचाने वाली धमनियाँ Testicular and spermatic arteries (Spermatic plexus) । इनके द्वारा रक्त पहुँचाने पर वृषणग्रन्थियाँ शुक्रोत्पादन में समर्थ होती हैं । इसलिए लिखा है—शुक्र-प्रादुर्भावय । द्वे शुक्रविसर्गाय—वृषणग्रन्थि में उत्पन्न हुआ शुक्र मैथुन के अन्त में अधिवृषणिका; शुक्रवाहिनी, शुक्राशय और अष्टीला ग्रन्थि, इनके संकोच से मूत्रमार्ग द्वारा बाहर फेंका जाना है अर्थात् शुक्रविसर्गकर धमनियों से इन अङ्गों की धमनियों का बोध होता है—Arteries supplying epididymis, Vasa deferentia, seminal vesicle and prostate । नारीणामार्तवसंज्ञे द्वे आर्तववहे—आर्तव की उत्पत्ति की कारवाई बीजकोश और गर्भाशय में होती है । इसलिए आर्तववह धमनियों से गर्भाशय और बीजकोश की धमनियों को ग्रहण करना चाहिए—Uterine and ovarian arteries (Hypogastric and ovarian plexus) वचोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिवद्धे—स्थूलान्त्र का काम मल को नीचे की ओर ले जाकर बाहर फेंकने का है । इसलिए स्थूलान्त्र के इस काम में सहायता करने वाली धमनियाँ 'वचोनिरसनी' कहलाती हैं—Inferior mesenteric artery, middle colic and right colic arteries (Pelvic visceral nerves) । एताभिरधोनाभेः पकाशयकटीमूत्रपुरीष-गदवस्तिमेहसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च—ये तीस धमनियाँ पनी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा नाभि के नीचे के पकाशयादि क्त तथा अनुक्त अङ्गों को रक्त की रसीद पहुँचाकर उनका आरण और पोषण करती हैं । अधोगामी धमनियों से आधुनिक त्वक् शरीर की दृष्टि से औदरिक महाधमनी और उसकी शाखा-प्रशाखाओं (Abdominal aorta and its branches) का बोध होता है । सक्थि में कोई विशेष कार्य न होने के कारण उपर्युक्त विवरण में उसका उल्लेख नहीं किया गया है, अन्त में उनका सिर्फ नाम दिया है । स्वेदमप्यन्ति—स्वेदापनयनार्थं रक्तं (रसं वा) अर्पयन्ति ।

भवति चात्र—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः ।

तिर्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥ ७ ॥

अधोगामी धमनियाँ ये (उपर्युक्त) सब कर्म करती हैं । (भव) तिर्यग्गामी धमनियों तथा उनके कर्मों को याथातथ्य से वर्णन करूँगा ॥ ७ ॥

तिर्यग्गानां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते तास्वसङ्घेयाः, ताभिरिदं शरीरं गवाचितं विवद्धमाततं च, नासां मुखानि रोमकूपप्रतिवद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितपयन्त्यन्तर्वहद्ध्य, तैरेव चाभ्यङ्ग-रिपेकावगाहालेपनवोर्याप्यन्तःशरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपकानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णाति; तास्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गताः सविभागा व्याख्याताः ॥ ८ ॥

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) तिर्यग्गामी शरीर धमनियों में से प्रत्येक उत्तरोत्तर श्रेणियों और हजारों शाखाओं में विभक्त होती हैं, (इस प्रकार शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हुई) ये धमनियाँ अपरिसंख्येय हो जाती हैं, जिनके द्वारा यह शरीर झरोखेदार (जालीदार) तथा दृशा और व्याप्त होता है । इनके मुख (अन्तिम सिरे) रोमकूपों से संयोजित हैं जिसके द्वारा ये स्वेद का अभिवहन करती हैं तथा धीमे धीमे बाहर अन्नरस (को पहुँचाकर उस) के द्वारा संसर्पण करती हैं । इन्हीं के द्वारा ही त्वचा में प्रयुक्त छुपे अश्वत्थ, परिपेक, अवगाहन तथा आलेपन (के द्रव्यों) के धीरे धीरे के भीतर प्रवेश करते हैं, इन्हीं के द्वारा सुखकर या अनुष्णकर (दुःखकर) स्पर्श का ग्रहण (जीवात्मा) करता है । मरणां शरीर में फैली हुई ये चार धमनियाँ विभागों के साथ वर्णन की गई हैं ॥ ८ ॥

वक्तव्य—तिर्यग्गामी धमनियाँ—ऊर्ध्वगामी धमनियाँ सिर, ग्रीवा, छाती और ऊर्ध्वशाला के भीतरी कार्यों से सम्बन्ध रखती हैं; अधोगामी धमनियाँ उदरगुहागत अङ्गों से तथा टाँगों से सम्बन्ध रखती हैं और तिर्यग्गामी धमनियाँ शरीर के बाह्यभाग से याने त्वचा से सम्बन्ध रखती हैं । आधुनिक परिभाषा के अनुसार तिर्यग्गामी धमनियों को (Cutaneous or peripheral vessels) कह सकते हैं । रोमकूप—इससे स्वेदग्रन्थियों का ग्रहण करना चाहिए । आयुर्वेद में स्वेद का संबन्ध हमेशा रोमकूपों के साथ लगाया जाता है—स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता । (सूत्र १९) । स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमना स्फुटनं त्वचः । (अष्टांगहृदय) । रोमकूप और स्वेदग्रन्थियाँ स्वतन्त्र होती हैं और जहाँ पर रोमकूप बिलकुल नहीं होते—जैसे, हस्तपादतल—वहाँ पर स्वेदग्रन्थियाँ बहुत अधिक होती हैं । त्वचि विपकानि—त्वचा पर प्रयुक्त होकर प्रचूषित होने के पश्चात् उसकी अग्नि के द्वारा विपक हुई । त्वचा में अभ्यङ्ग (Massage) के लिए विविध तेल, परिपेक (Spray) के लिए विविध ओषधियों के काढ़े अवगाह (Bath) के लिए विविध ओषधिजल, आलेप और प्रलेप (Ointments, paints, pigments) के लिए विविध ओषधियों के रस और कर्कक प्रयुक्त होते हैं । ये सब ओषधियाँ त्वचा के कूपों (Pores) से शोषित होती हैं, यह बात आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हुई है । विप्रेना (Vienna) के प्रो० स्ट्रेज्केल (Strzyskal) ने यह बात अपने अनुभव पर निश्चित की है और बताया है कि जिस समय रोगी मुख द्वारा अन्न सेवन करने में असमर्थ होता है, उस समय त्वचा के ऊपर विशेष प्रकार के अन्न का प्रलेप करने से उसका शोषण होकर रोगी का पोषण कुछ काल तक हो सकता है । आपने इसके लिए एक विशेष कर्कक (Paste) भी बनाया है, जिसका उपयोग त्वचा द्वारा रोगी के पोषण के काम में होता है । धमनी का अर्थ नाडी करने में जैसे स्तन्यवह धमनियों में कठिनाई रही (पीछे ४ सूत्र का वक्तव्य देखो) वैसे यहाँ पर भी है क्योंकि नाडियों द्वारा अभ्यङ्गादि का धीरे धीरे शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता रक्तवाहिनियों के द्वारा ही कर सकता है । ये स्वेद-मभिवहन्ति तैरेव—'येः' और 'तैः' का सम्बन्ध धमनियों के मुखों के साथ याने पर्याय से रोमकूपों के साथ होता है । स्पर्श सुखमसुखं वा—'सुखम्' और 'असुखम्' स्पर्श के विरोधण हैं ।

चार्यं लिखते हैं—रश्मिर्वाद्युगः प्रसक्तं ह्यस्यां ह्यस्याभिरपराधी
 रश्मिर्वादिनामप्रयत्नवशेषमनेऽनुवागामिर्भूमिर्गुह्योति । मनम-
 श्वाणुवादेद्विशेष च तस्य सुवपवद्विचिन्तनीति, तासां वा भूमनो
 मनमाऽनुगुवने तदेष कृशारिभ-वप्रममरथा गृहीते, न पुनर्युग-
 देव कृशारिकं सर्वं तर्गभिति ।

भयति चात्र—

ऊर्ध्वगमा(ता)स्तु कर्णन्ति कर्माण्येतानि सर्वदाः ।
 अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म तासां यथायथम् ॥५॥

ऊर्ध्वगामी धमनियों ये सब कर्म करती हैं । अब अधोगामी
 धमनियों तथा उनके कर्मों का वाचातम्य वर्णन कहेगा ॥ ५ ॥
 अधोगमास्तु घातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादन्यथोच-
 हन्ति । त स्तु पिताशयमभिप्र(ति)पन्नारतप्रस्यमेरा-
 क्षपानरस रिपक्रमोष्णवाग्निधे(रि)चयनयोऽभिवहन्त्यः
 शरारं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां तिर्यग्गाणां
 च, रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपूरीषस्वेदांश्च वि-
 वे(रि)चयन्ति; ग्रामपकाशयान्तरे च (श्रेया जायन्ते,
 तास्त्रिंशत्; तासां तु घातपित्तकफशोणितरसान्
 द्वे द्वे घटतरसा दश, द्वेऽन्नवाहिन्यावन्नाश्रिते, तोय-
 यहे ङं, मूत्रवस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रयहे द्वे, शुक्रयहे द्वे
 शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहते
 (विशृजतश्च) नारं णामार्तवसंघं, द्वे धर्वांनिरसन्यो
 स्थूलान्त्रप्रतिवक्षे, अणवन्त्यास्तिर्यग्गाणां धमनोनां
 स्वेदमर्पयन्ति; तास्त्र्येतास्त्रिंशत् सविभागा व्या-
 ष्याताः । एताभिरधोनामेः पकाशयफटीमूत्रपुरीषशु-
 क्रयस्तिमेदसन्न्योनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥६॥

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) अधोगामी धम-
 नियाँ तो वात, मूत्र, मूत्र, शुक्र तथा आर्तव इनको अधो-
 भाग में घटन करती हैं । ये पिताशय के पास पहुँचने पर
 पाचकाग्नि से अच्छी तरह पाचित हुए, अन्न-पान के रस को
 प्रश्लेष करके अभिवहन करती हुई, शरीर का तर्पण करती हैं,
 ऊर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी धमनियों को (रस) पहुँचाती
 हैं, रसस्थानों को रस से पूर्ण करती हैं, मूत्र पुरीष और
 स्वेद को (अन्नरस से) पूरक करती हैं और आमाशय
 तथा पकाशय के मध्य में तीन भागों में विभक्त होती हैं ।
 (इस प्रकार विभाग होने से) ये तीस धमनियाँ बनती हैं ।
 इनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो घटन
 करती हुई दस होती हैं; आन्त्र में आश्रय करके दो अन्न
 घटन करती हैं; दो अन्नबहन करती हैं; मूत्रवस्ति की ओर
 जाने वाली दो मूत्रवह धमनियाँ हैं; शुक्रोपस्थि के लिए
 दो शुक्रवह धमनियाँ हैं; दो शुक्रवस्तिजैत्र के लिए हैं; बही
 (शुक्रवह धमनियों) छियों में आर्तवबहन का काम करती
 हैं, स्थूलान्त्र के साथ संश्लेषित हुई दो मलनिरसनी हैं,
 शेष आठ धमनियाँ तिर्यग्गामी धमनियों को स्वेद (के लिए
 रक्त) अर्पण करती हैं; इस तरह ये तीस धमनियाँ विभागों
 के साथ धजित हुई हैं । इन धमनियों से नाभि से नीचे
 पकाशय, कटी, मूत्र, पुरीष, गुद, वस्ति, मेदु और सक्थि
 इनका चारण और पापन होता है ॥ ६ ॥

वक्ष्य—अधोगामी धमनियों का संबंध औदरिक
 विभाग और अधोगत वाताश्रों से होता है । वातपुरीष
 शुक्रनिर्वादीन्यो वदन्ति—घातमूत्रादि पदार्थ उदरविभाग में
 उत्पन्न होते हैं और इनकी गति की दिशा नीचे की ओर
 होती है । ये पदार्थ धमनियों से रचन की रसीद पहुँचने पर
 तत्तज्जनक अंगों से उत्पन्न होकर नीचे की ओर चल देते हैं,
 इसलिए धमनियाँ इनको नीचे ले जाती हैं, ऐसा वाद्-
 प्रयोग किया गया है । विच्छेद्यमभिप्रपन्ना—आमाशय और
 पुद्गान्त्र में पहुँचने के बाद । विसर्परा कला का यही स्थान
 है । इसी स्थान पर सेवन किये हुए अन्न का पाचन और
 शोषण होकर अन्नरस बनता है और शरीर का पोषण उससे
 होता है । पाचन और शोषण का कार्य करने में आन्त्र तब
 समर्थ होता है, जब उसको धमनियों से रक्त की रसीद
 मिलती है । इसलिए धमनियाँ अन्नपान रस की विवेक
 और अभिवहक बतलाई गई हैं । अर्पयन्ति च ऊर्ध्वगानां
 नियग्गानाम्—अधोगामी धमनियों से अन्नपान का पचन
 होने में सहायता मिलकर रस बनता है, जो तिराश्रों और
 रसायनी द्वारा हृदय में जाकर ऊर्ध्वगामी तथा तिर्यग्गामी
 धमनियों का तर्पण करता है । अर्थात् ऊर्ध्वगामी धमनियों
 का तर्पण अल्पवृत्तया अधोगामी धमनियों ही करती हैं ।
 रसस्थानम्—हृदयम्—वस्त्रोभूतः शरारः परमधरमः स रस
 रक्ष्यन्ते । तस्य च हृदय स्थानम् (सूत्र १७) । किं वा रसमया
 (Cysterna chyli) और रसद्रव्या (Thoracic duct) । अन्न
 का पाचन होने के पश्चात् साम्य भाग शोषित होकर वह
 भाग याने अन्नरस प्रथम रसमया और रसद्रव्या में जाता
 है और उनमें से होकर हृदय में चला जाता है । मूत्रपुरीष-
 स्वेदांश्च विवेचयति—मूत्र, पुरीष और स्वेद ये तीन अन्न के
 मल होते हैं जो आन्त्र, वस्ति (पुच्छ) और त्वचा द्वारा
 पूरक किये जाते हैं । इनमें से मूत्र और मल को पूरक
 करने का काम उदरविभाग में ही होता है, जिसका उल्लेख
 'वर्वांनिरसन्यो' और 'मूत्रवहे' करके किया गया है । स्वेद
 का काम तिर्यक् धमनियों का है परन्तु तिर्यग्गामी धमनियों
 को रस की रसीद ये धमनियाँ पहुँचाती हैं, इसलिए स्वेद
 का जिक्र यहाँ पर किया गया है । ग्रामपकाशयान्तरे—
 आमाशय और पुद्गान्त्र के बीच में या आमाशय और
 पुद्गान्त्र का जो अवकाश है, उस अवकाश में कहीं पर ।
 अन्नवाहि-वायव्याग्निधे—आमाशय और पुद्गान्त्र को जाने
 वाली धमनियों जिनके द्वारा रक्त की रसीद पहुँचने पर
 आमाशय और पुद्गान्त्र अपनी विशेष गति के द्वारा अन्न को
 नीचे की ओर ले जाने में सनर्थ होता है—Superior mes-
 enteric and coeliac arteries (Vagi and sympath-
 tic) । मूत्रवहे—जिनके द्वारा रक्त पहुँचने से मूत्रोपस्थि
 होती है । आयुर्वेद में मूत्र का प्रधान स्थान वस्ति माना गया
 है । यदि शब्दप्रधान्य माना जाय तो मूत्रवहे धमनियों
 से Vesical arteries समस्त सकते हैं । यदि अर्थ की दृष्टि
 से आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार देखें तो Renal arteries
 वस्त्रों की धमनियाँ समझना उचित है (Nerves from the
 renal plexus spermatic, ovarian, inferior mesente-
 ric plexus and hypogastric plexus.) । कविराज गण-
 नायतेज इससे गच्छीनी (Ureters) समझते हैं—मूत्रवस्ति-

स्थान हृदय ही है। वह मन हृदय से निकलने वाली धमनियों में से होकर हृन्द्रियों में प्राप्त होता है और आत्मा को ज्ञानप्राप्ति हो जाती है। इसलिए यह धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं—मनोवहानि स्रोतांसि यपि पृथक् नोक्तानि तथापि मनसः 'केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्व-शरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाधितत्त्वान्नसस्तदाधिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते । (चक्रपाणिदत्त, हृन्द्रिय स्थान ५) । दूसरी बात यह है कि शरीर-विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। धमनियों का एक मुख्य गुण धमन या स्पन्दन है। यावज्जीव धमनियों का स्पन्दन जारी रहता है और इनका स्पन्दन बंद होने पर शरीरविनाश की सूचना मिलती है—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनम् । तस्य चे-मन्ये परिगृह्यमाने न स्पन्देयातां परास्तरिति विद्यात् । (चरक, हृन्द्रिय ३) । चतुर्थ अध्याय के ३०वें सूत्र के वक्तव्य में 'तद्विशेषेण चेतनास्थानम्' इसकी टिप्पणी देखो ।

इस श्लोक के अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता दिखाई देती है। संदर्भ और क्रम के अनुसार जो अर्थ उचित मालूम हुआ, वह ऊपर दिया गया है। प्राचीन मत-मतान्तर दखलण की टीका में दिये हुए हैं। अतः वह टीका नीचे उद्धृत की जाती है—आभिभूताः पञ्चम्यो भूते-भ्योऽपि समन्ताद् भूताः, शब्दस्पर्शरूपरसगंधैर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याताः, आकाशपवनदहनतोयभूमिभिर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याता धमन्यः; कं ? पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्; केपु ? पञ्चसु श्रोत्रादिविन्द्रियाधिष्ठानेषु, कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्, भावयन्ति योजयन्ति, आयान्ति, आगच्छन्ति; काः ? धमन्यः, किं ? पञ्चत्वम्, किं कृत्वा ? तद्विरता संयोज्य, किं तत् पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियपञ्चकं सूत्ररूपं, पु ? पञ्चस्वाकाशादिषु महाभूतेषु; एतेनैतदुक्तं भवति—आका-शादिपंचभूतसमुदायसमुपपन्ना धमन्यः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु । अत्रवारान् भावयन्ति ततश्चेन्द्रियपञ्चक्रमाकाशादिषु भूतेषु संयोज्य वेनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति । अन्ये तु—'पञ्चादिभूतान्यथा । अत्रकृत्वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—आदिभूतान्याका-शादीनि पञ्चमहाभूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादि-विविन्द्रियाधिष्ठानेषु योजयन्ति, ततश्च पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिविन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयित्वा संयोज्य तानि पञ्च आदि-भूतानि विनाशकाले पञ्चत्वमायान्ति । अपरे तु—'पञ्चाभिभूता-स्त्वथ पञ्चधा वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—भावयन्ति योजयन्ति, काः ? पञ्चाभिभूता धमन्यः आयान्ति, किं ? पञ्चत्वं विनाशं, क ? विनाशकाले, किं कृत्वा ? भावयित्वा संयोज्य, किं तत् ? पञ्चेन्द्रियं बुद्धोन्द्रियपञ्चकं कर्मन्द्रियपञ्चकं च, केपु ? शब्दा-दिषु वचनादिषु च स्वकोषेष्वर्थेषु । अथवा पञ्चानामाकाशपवनदहन-तोयभूमौनां पृथगाभिमुख्येन भूताः सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्, यथास्वं पञ्चसु चक्षुरादिविन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयन्ति योजयन्ति ॥ गयी त्वन्यथाऽऽपतनिकां विधाय व्याख्याति । यथा—अत्र रूपादिद्राहिणीनां धमनीनां पञ्चधात् पञ्चभिर्धमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीनां युगपद् ग्रहणेन भवितव्यमित्याशङ्क्याह—पञ्चाभिभूता इत्यादि । अस्यायमर्थः—पञ्चसु रूपादिषु, पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं पञ्च धमन्यो भावयन्ति-वेदयन्ति । स्वयं तावत् पञ्चे-न्द्रियाणि रूपादिकं विन्दन्ति, ताश्च पञ्च-धमन्यस्तेषु वेदयन्ति । कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान् । न च एकवारमेव, पञ्चापि-धमन्यः

पञ्चापीन्द्रियाणि पञ्चत्वपि रूपादिषु वेदयन्ति । तत् कुतः पुनरिति हेतुगर्भविशेषणमाह—अभिभूता भूमिमुखं प्राप्ताः । केन ? 'मनसा' इति शेषः । कस्मात् ? कर्तृमनःपुरःसरेन्द्रियाधर्मप्रख्यात् । मन्ता हि शरीरे एक एव, मनोऽप्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनीशब्दा-दिवद्वाप्य धमनोऽप्यभिप्रपञ्चा सैव धमनी स्वधर्मं प्राद्वयति मन्तारं नान्येति; यतो मनःपुरःसरेन्द्रियमवृत्तिः । इदानीं स्वस्वधर्मैव रूपा-दिद्राहिणित्वमासां न पुनरनिदोषाभिपन्नस्य मरुणोऽपीत्याह—पञ्च-त्वमित्यादि । विशिष्टनाशकाले पञ्चत्वं यान्ति; धमन्यः पाञ्चमौतिका विनाशकाले पृथक् पृथग्भूतभावेनावस्थानात् पञ्चता गता उच्यन्ते । पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वेति पुनरप्यनुवादस्तेषां नियतरवविषय-प्राप्तिवदर्थनार्थः । ग्रन्थान्तरे—सर्वहानं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा । शब्दादिद्राहणोच्छ्वासनिःसवचनानि च ॥ भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रथयाः उच्यु पञ्चसु । तत्संख्याकरणं यान्ति नाश काले तु पञ्चताम् ॥ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् । पञ्चतस्त्वावशेषत्वात्पञ्चतां गन्मुच्यते ॥ इति ।

इस श्लोक के उत्तरार्ध के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—अथ यदि इन्द्रियाभिमुखमेव प्रस्तास्ता धमन्यः किं तर्हि विनाशकाले 'पुरुषस्य प्रयतो वाऽऽत्मनसि, नः प्राणो इत्यादिनाश्रुतं पुनरिन्द्रियाणां प्रतिलोमगमनाभिनिर्गच्छं प्राणोपसंहारं प्रति मार्गान्तरमभ्युपगच्छसि नेत्याह पञ्चेति । विनाशकाले पञ्चसु प्राणादि-पञ्चके पञ्चेन्द्रियमिति 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्याया-दुपदिश्यते बाह्यकरणनिचयमित्यर्थः । यदाह भगवान् भाष्यकारः 'प्रायश्च तदोर्ध्वो-ऽत्रासौ स्वामभ्युपसंहृतवाह्यकरणः' इत्यादि । नैह प्राण इत्येकवचनं विप्रतिषिद्धं भवति 'अतएव प्राणः' इति शारीरि-क-सूत्रमाथ्ये प्राणस्य पञ्चसु वातविकारे प्रसिद्धतस्त्वेनाभ्युपगमात् । भावयित्वा प्रापयित्वा उपसंहृतयेति यावत् । इदमत्राकृतम्—विनाश-काले ऊर्ध्वोच्छ्वासिप्राणाकर्षणविह्वलास्ता एव धमन्यः प्रतिलोमवृत्त्या सर्वप्राणेनेन्द्रियजातमाकर्षन्तं पञ्चतयं प्राणं प्रापयित्वैव निष्क्रियत्वेन पञ्चभूतावशेषत्वं प्राप्नुवन्ति एवं च धमनीनामेव तादृशप्राणोप-संहारसाधनत्वमेव तावत्कालमवस्थाननियमात् मार्गान्तरमपेक्षित-व्यमित्यध्यवसेयम् ॥

इस अध्याय में धमनियों की संख्या का तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं का जो वर्णन तथा विवरण किया गया है, वह आधुनिक पद्धति के अनुसार शवविच्छेदनपूर्वक ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित नहीं है। यह वर्णन रक्त ही के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण कार्य होते हैं इस तत्त्व के अनुसार सजीव शरीर में जो विविध कार्य प्रत्यक्ष होते हैं, उनका समाधान करने की दृष्टि से अनुमान या कल्पना के आधार पर अधिष्ठित है यह ज़रूर ध्यान में रखना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक प्राचीन धमनी के लिए आधुनिक प्रतिनिधि मिलना मुश्किल है, तथा जो आधुनिक प्रतिनिधि बतलाये गये हैं वे सोलहों धाने प्राचीन धमनियों के साथ नहीं मिल सकते हैं। यह कथन प्राचीन अर्वाचीन सर्व तुलनाओं के लिए लागू होता है और इसी दृष्टि से इन तुलनात्मक बातों का विचार करना चाहिए ।

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविच्छलक्षणमुपदेक्ष्यामः । तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशु-फार्तववहानि, येष्वधिकारः; एकेषां बहूनि; एतेषां विशेषा बहवः ॥११॥

आधुनिक पाश्चात्य शारीरकार्य विज्ञान से स्वर्ण में यद्यपि आदित्यों का ही मुख्य काम होता है तथापि एरंशज्ञान में रक्त का भी धनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस विषय की जानकारी दो सुखी है—Loss of blood supply, produced experimentally by compressing an artery digitally or with a pneumatic cuff, and in disease by embolism, thrombosis, arterial spasm, etc, also causes an orderly succession of sensory disturbances resembling those of mechanical compression (of the nerve trunk) *Physiology in Health and Disease by Huggers* स्वर्ण में गुदपुटी, कण्ठ, धुपधुनी, सुषुता, अलन हत्यादि कई प्रकार की वेदनाओं का समावेश होता है।

भयतद्व्याघ्र—

यथा स्वभावतः घानि मृणालेषु पिसेयु च ।

घमनीनां तथा घानि रसो वैरुपचोयते ॥ ६ ॥

(घमनीयत द्विदों का प्रमाण—) जैसे कमलनलों में तथा (उनके) तन्तुओं में स्वभाव से ही द्विद (नालियाँ) होते हैं, वैसे ही घमनीयों के त्तिद होते हैं, जिनके द्वारा रस का उप-कष होता है ॥ ६ ॥

वक्ष्य—इस रत्नोक में स्पष्ट रूप से बतलाया है कि घमनीयों मृणाल या विस के समान छोटी मोटी आकार की अन्तःसुरिरी होती हैं और उनमें से रस का संवहन होता है। अर्थात् घमनी शरीरगत एक रस या रक्तघट नाली है, इसमें कोई सन्वेद नहीं है। वेध, उपनिषद्, स्मृति, महाभारत हत्यादि प्राचीन ग्रंथों में इसी अर्थ में घमनी का प्रयोग किया गया है—उत्सव घमनीनां सखस्य हिराण्यम् । असुरिन् मन्वसा रमा. साधनयो अरिसत् ॥ निशरवे त्रिष्ठ पर उरं उरं त्रिष्ठ सत्य मे । वनिष्ठिवा च निष्ठि तिष्ठदिदु भगनीनी । (अथर्ववेद १-१०-३, ६) । अस्विष्यसे मन्वसा रनाभवो घमनीयम् । वरुम पाणिम्वदाभुत्तियो नसेभ्यो वि इशामि त । (अथर्ववेद २-३३-६) । तपदजत सेव्यं पृथिवी यस्तुवयं सा योर्वररायु ते पर्वता यदुल्लं स मेवो नीहारी वा धरनवस्ता नचो यदा शेषमुदं स समुद । क्षोद्योपोपनिषद् (३-१९-२) । एकोनविंशत्यधिक तथा नव शतानि च । षट्पञ्चाशच्च नानीत शिष्टोपनिषत्तिका । (३-३०१) । अाकम्प मानुष कण्ठमाश्लिष घमनीयम् । कम्प नव प्रप्रास्तामि केनिल रचिरव हु ॥ (महा-भारत, आदिपर्व १५२) । हाराणचन्द्र भी घमनी का अर्थ रक्तवाहिनी करते हैं। उनके मतानुसार रनायु नाडी (Nerve) का कार्य करते हैं। मृतसन्तोषन की सहायता से अंग विनिश्चय करते समय रनायुरज्जु या हृत्तनायु को नाडी मानने की मूल की जा सकती है, घमनी को नाडी समझने की मूल कदापि भी नहीं हो सकती क्योंकि दोनों में कुछ भी समता नहीं है। रनायुरज्जु और नाडी दोनों ही द्रव्य, सूत्रमय दोह होते हैं। इसलिये रनायु को नाडी मानने की मूल घम्य है। शरीरविश्लेषण के समय इस प्रकार की मूल कई बार हुआ करती है। नाडियों के कार्य का ज्ञान मृत शरीर में कदापि नहीं हो सकता। हाराणचन्द्र लिखते हैं—तत्राहुरे यथा ओनादिद्वानाम तप तदु रनायु दुशत द्विवापु वा सनेपि सन्धारयो नैव ओनादिपिषीयवनि,

यपि भारे वेविद्वाना विनरकस्यैरान्तेन न तथा धमनी तथाविधायु विमनीति रनायव एव सन्धारोमयवनि न पुत्रंम रिति तत्तु न सन्धु, धमन्यतयाशाररमममपंशेन रनाश्रिभं विमन्तरु तावैदिवचने तर्कंयुना कालेन तदाश्रितस्या रनायु नमि सन्धुपायानुपहरनेनोरनम्मा । न येनरमदेव तः यरोधीति श्रुये क्लेषु कर्मणु भर्तृकर्मत्ररप्रमिद्विरंनार ॥ यं कार्ये के अनुमार अर्थ किया जाय तो जैसे घर की सेटान को कपड़े धोते समय धोविन, घर का काम करते सभा नौकरानी, बच्चे का मल-मूत्र उठाते समय मिहतरानी कर्त का अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होता है, वैसे ही घमनी कं नाडी, सिरां, रनायु करने का प्रसंग उत्पन्न होता है परंतु जैसे उपर्युक्त सब काम करने पर भी सेटानी सेटान ही होती है, नौकरानी नहीं हो सकती, वैसे ही घमनी सब कुछ करने पर भी आविनिश्चय की दृष्टि से घमनी (Artery) ही रह जाती है। घमनी की स्पृर्णसि रसयोग सागर के उपोदात (दृष्ट १२६) में वं हरिप्रपञ्जी वृते हैं—धम्ये उच्छ्रवसिचक्रियने पूषते पोष्यते वा शरीर दाश्रिता धमन भृति भुतरसा साधरल्यथा यस्मिंश्चिरमर्गापत्थिव्यासपि घमनी सन्धस्य योक्त्वदलेन न सिरादिभन्मिभ्यासि । 'अश्लेषुधमन्यवप विन्धुवोसि' (उ० २१०२) इत्यपिप्रत्यये 'पिद्रीरादिभन्ध' (पा० ३११३) इति कीपि घमनीति संवधते। घमनीनां शरीरे रसधमनैतान्यत्साय शुद्धरक्तवादिम्य उच्यन्ते ।

पञ्चाभिभूतास्त्यथ पञ्चरत्या
पञ्चेन्द्रिय पञ्चसु भासयन्ति ।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भासयित्वा
पञ्चाधमायाति विनाशकाले ॥ १० ॥

(घमनीयों का माहात्म्य—) पञ्च इन्द्रियों में प्रवृत्त हुई घमनीयों आत्मा की पञ्च इन्द्रियायों में पञ्चहृत्वा सयोजित किया करती हैं, (और इस तरह विनाश काल तक) आत्मा को पञ्च इन्द्रियायों के साथ मिटाकर शरीर विनाश के समय (स्वय) पञ्चत्व को प्राप्त होती हैं ॥ १० ॥

वक्ष्य—पञ्चाभिभूता—पञ्चेन्द्रियाण्यभिसुखेन प्राप्ता. पञ्चेन्द्रियस्यैवा धमन्य । पञ्चहृत्वा—आत्मा को ज्ञानप्राप्ति का साधन इन्द्रियां होती हैं। यद्यपि इन्द्रियां पाँच हैं तथापि मन एक होता है और जब तक मन इन्द्रियों के साथ नहीं मिलता, तब तक आत्मा से अर्थ ग्रहण नहीं होता—आत्मा मनसा सुखयुते, मन इन्द्रियेय, इन्द्रियसंभेन । (चक्रपाणिहृत्-चरक 'सूत्र' ८) । मन एक होने के कारण पाँच इन्द्रियों के अर्थों का ग्रहण करने के लिए आत्मा मन का पाँचों के साथ पाँच बार संयोग होने की आवश्यकता होगी। एक बार सब का संयोग और ग्रहण नहीं होगा। इसलिये पञ्चहृत्वा लिखा है। पञ्चेन्द्रियम्—पञ्चेन्द्रिययुक्त कर्म पुरुष या आत्मा । आत्मा को ज्ञान पञ्चेन्द्रियों द्वारा ही होता है—आत्मा ए करणैर्योगान्मान तत्त्वं प्रवर्तते । (चरक, शारीर) ।

इस रत्नोक में घमनीयों के संबंध में दो महत्व की बातें बताई गई हैं। प्रथम बात तो यह है कि आत्मा का ज्ञान का साधन जो इन्द्रियां, उनका आत्मा के साथ संयध जोड़ने का काम घमनीयों ही करती हैं। आत्मा इष्टय में रहता है (४ अध्याय में ३४वें रत्नोक का वक्ष्य देखो) । मन का

स्थान हृदय ही है। वह मन हृदय से निकलने वाली धमनियों में से होकर हृन्द्रियों में प्राप्त होता है और आरमा को ज्ञानप्राप्ति हो जाती है। इसलिए यह धमनियों मनोवह भी कहलाती हैं—मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथक् नोक्तानि तथापि मनसः 'केवलमेवं शरीरमयनभूतन्' इत्यभिधानात् सर्व-शरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाधितत्पानमनसस्तदाधिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते। (चक्रपाणिदत्त, हृन्द्रिय स्थान ५)। दूसरी बात यह है कि शरीर-विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। धमनियों का एक मुख्य गुण धमन या स्पन्दन है। यावज्जीव धमनियों का स्पन्दन जारी रहता है और इनका स्पन्दन घट होने पर शरीरविनाश की सूचना मिलती है—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनम् । तस्य चे-मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां पराञ्जरिति वियात् । (चरक, हृन्द्रिय ३)। चतुर्थ अध्याय के ३०वें सूत्र के वक्तव्य में 'तद्विशेषेण चेतनास्थानम्' इसकी टिप्पणी देखो।

इस श्लोक के अर्थ के संबंध में बहुत मतभिद्यता दिखाई देती है। संदर्भ और क्रम के अनुसार जो अर्थ उचित मालूम हुआ, वह ऊपर दिया गया है। प्राचीन मत-मतान्तर डलहण की टीका में दिये हुए हैं। अतः वह टीका नीचे उद्धृत की जाती है—'पञ्चाभिभूताः पञ्चभ्यो मूने-भ्योऽपि समन्ताद् भूताः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ताः, आकाशपवनदहनतोयभूमिभिर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ता धमन्यः कं ? पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्; केपु ? पञ्चसु श्रोत्रादिविन्द्रियाधिष्ठानेषु, कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्, भावयन्ति योजयन्ति, यान्ति, आगच्छन्ति; काः ? धमन्यः, किं ? पञ्चत्वम्, किं कृत्वा ? त्वयित्वा संयोज्य, किं तत् पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियपञ्चकं सूत्ररूपं, पु ? पञ्चत्वाकाशादिषु महाभूतेषु; एतेनैतदुक्तं भवति—आका-।दिपंचभूतसमुदायसमुत्पन्ना धमन्यः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु ब्रवारान् भावयन्ति ततश्चेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिषु भूतेषु संयोज्य वेनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति । अन्ये तु—'पञ्चादिभूतान्यथ ब्रकृत्वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—आदिभूतान्याका-शादीनि पञ्चमहाभूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादि-ष्वेन्द्रियाधिष्ठानेषु योजयन्ति, ततश्च पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिविन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयित्वा संयोज्य तानि पञ्च आदि-भूतानि विनाशकाले पञ्चत्वमायान्ति । अपरे तु—'पञ्चाभिभूता-स्त्वथ पञ्चधा वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—भावयन्ति योजयन्ति, काः ? पञ्चाभिभूता धमन्यः आयान्ति, किं ? पञ्चत्वं विनाशं, क ? विनाशकाले, किं कृत्वा ? भावयित्वा संयोज्य, किं तत् ? पञ्चेन्द्रियं बुद्धेन्द्रियपञ्चकं कर्मन्द्रियपञ्चकं च, केपु ? शब्दा-दिषु वचनादिषु च स्वकीयेष्वर्थेषु । अथवा पञ्चानामाकाशपवनदहन-तोयभूमीनां पृथगाभिसुखेन भूताः सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्, यथास्वं पञ्चसु चक्षुरादिविन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयन्ति योजयन्ति ॥ गयी त्वन्यायाऽऽपातनिकां विधाय व्याख्याति । यथा—अत्र रूपादिपञ्चानां धमनीनां पञ्चत्वात् पञ्चभिर्धमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीनां युगपद् ग्रहणेन भवितव्यमित्याशङ्क्याह—पञ्चाभिभूता इत्यादि । अत्यायमर्थः—पञ्चसु रूपादिषु, पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं पञ्च धमन्यो भावयन्ति वेदयन्ति । स्वयं तावत् पञ्चे-न्द्रियाणि रूपादिकं विन्दन्ति, ताश्च पञ्च-धमन्यस्तेषु वेदयन्ति । कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान् । न च एकवारमेव पञ्चापि-धमन्यः

पञ्चापीन्द्रियाणि पञ्चस्वपि रूपादिषु वेदयन्ति । तत् कुतः पुनरिति हेतुगर्भविशेषणमाह—अभिभूता अभिमुखं प्राप्ताः । केन ? 'मनसा' इति शेषः । कस्मात् ? कर्तृमनःपुरःसरेन्द्रियार्थग्रहणात् । मन्ता हि शरीरे एक एव, मनोऽप्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनीशब्दा-दिवशासु धमनोऽप्यभिपन्नता सैव धमनी स्वधर्मं ग्राहयति मन्तारं नान्येति; यतो मनःपुरःसरेन्द्रियप्रपृष्टिः । इदानीं स्वस्थस्यैव रूपा-दिप्रापिण्येवमासां न पुनरतिदोषाभिपन्नस्य मरुणोऽपीत्याह—पञ्च-स्वमित्यादि । विशेषणशकाले पञ्चत्वं यान्ति; धमन्यः पाञ्चमौतिका विनाशकाले पृथक् पृथग्भूतभावेनावस्थानात् पञ्चतां गता उच्यन्ते । पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वेति पुनरप्यनुवादस्तेषां नियमस्वविषय-प्राप्तिस्वदर्शनार्थः । ग्रन्थान्तरे—रसवहनं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा । शब्दादिग्रहणोच्छ्वासानिः सवचनानि च ॥ भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रथमयाः खलु पञ्चसु । तस्त्वेयाकरणं यान्ति नाश-काले तु पञ्चताम् ॥ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् । पञ्चतत्त्वावशेषत्वात्पञ्चतां गतमुच्यते ॥ इति ।

इस श्लोक के उत्तरार्ध के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—अथ यदि इन्द्रियाभिमूलमेव प्रस्तास्ता धमन्यः किं तर्हि विनाशकाले 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि, नः प्राणो इत्यादिनाश्रुतं पुनरिन्द्रियाणां प्रतिलोमगमनाभिनिर्घृत्यं प्राणोपसंहारं प्रति मार्गान्तरमभ्युपगच्छसि नेत्याह पञ्चेति । विनाशकाले पञ्चसु प्राणादि-पञ्चके पञ्चेन्द्रियमिति 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्याया-दुपदिश्यते वाष्पकरणनिचयमित्यर्थः । यदाह भगवान् माध्यकारः 'प्राणश्च तदोर्ध्वोच्छ्वासी स्वामन्युपसंहृतवाष्पकरणः' इत्यादि । नेह प्राण इत्येकवचनं विप्रतिषिद्धं भवति 'अतएव प्राणः' इति शारीरिक-सूत्रमाथ्ये प्राणस्य पञ्च इत्थी वातविकारे प्रसिद्धतरत्वेनाभ्युपगमात् । भावयित्वा प्रापयित्वा उपसंहृयेति यावत् । इदमत्राकृतम्—विनाश-काले ऊर्ध्वोच्छ्वासिप्राणाकार्थविह्वलास्ता एव धमन्यः प्रतिलोमवृत्त्या सर्वप्राणोनेन्द्रियजातमाकर्षन्तं पञ्चतयं प्राणं प्रापयित्वेव निष्क्रियत्वेन पञ्चभूतावशेषत्वं प्राप्नुवन्ति एवं च धमनीनामेव तादृशप्राणोप-संहारसाधनत्वमेव तावत्कालमवस्थाननियमात् मार्गान्तरमपेक्षित-व्यमित्यध्यवसयम् ॥

इस अध्याय में धमनियों की संख्या का तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं का जो वर्णन तथा विवरण किया गया है, वह आधुनिक पद्धति के अनुसार शवविच्छेदनपूर्वक ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित नहीं है। यह वर्णन रक्त ही के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण कार्य होते हैं इस तत्त्व के अनुसार सजीव शरीर में जो विविध कार्य प्रत्यक्ष होते हैं, उनका समाधान करने की दृष्टि से अनुमान या कल्पना के आधार पर अधिष्ठित है यह ज़रूर ध्यान में रखना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक प्राचीन धमनी के लिए आधुनिक प्रतिनिधि मिलना मुश्किल है, तथा जो आधुनिक प्रतिनिधि घतलाये गये हैं वे सोलहों आने प्राचीन धमनियों के साथ नहीं मिल सकते हैं। यह कथन प्राचीन अर्वाचीन सर्व तुलनाओं के लिए लागू होता है और इसी दृष्टि से इन तुलनात्मक बातों का विचार करना चाहिए ।

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः । तानि तु प्राणात्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशु-क्रातव्वहानि, येष्वधिकारः; एकेषां बहूनि; एतेषां विशेषा बहवः ॥११॥

(स्रोतस्, उनके नाम और संख्या—) अब इसके पश्चात् स्रोतसों के मूलवेष के लक्षण बतलायेंगे। जिनके ऊपर (वायु वायु का) अधिकार है वे प्राणवह, अश्ववह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह और आर्तववह हैं। कई भाषाओं के अनुसार स्रोतस् बहुत होते हैं; (परन्तु धन्वन्तरि कहते हैं कि स्रोतस् इतने ही होते हैं) उनके विशेष (भेद) बहुत हैं ॥११॥

वक्ष्यम्—मूलविद्वन्लक्षणम्—स्रोतसों के प्रथम स्थान में वेध होने से उपपन्न होने वाले लक्षण। प्राणोश्चान इत्यादि— यहाँ पर व्याहृत् भाव दिये हैं, जिनके वाहक स्रोत होते हैं। प्रत्येक मांस के दो स्रोतस् हैं, इस प्रकार चाँदिस स्रोतस् हो जाते हैं। चरकसंहिता में कुल तरह भावों के स्रोतस् यथाये गये हैं जिनमें अश्विवह, मज्जवह और श्वेदवह स्रोतस् अधिक हैं और आर्तववह स्रोतस् नहीं दिये हैं, तथा प्रत्येक प्रकार के स्रोतस् की संख्या सुधृत के समान हो न होकर बहुत होती है। एकेरः बहुलि—एक वैदे स्रोतसामैव समुद्रयं पुरुषमिच्छन्नि सर्वांगत्वात्, सर्वसत्त्वाच्च दोषप्रतीपणप्रशान्तायाम्, न त्वेदेषुदेवाम्, यस्य हि स्रोतानि यत्र च द्रवति यन्चावहन्ति, यत्र चावस्थितास्ति, सर्वं तरन्त्येवम् । अति बहुलाएः सल्लु वेधिरपरिस्तरिहान्माचकते स्रोतानि, परिसंख्ये यानि पुनरन्ये । (चरक, स्रोतोविमान्) स्रोतसों की संख्या के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि प्रत्येक प्रकार के स्रोतस एक माने जायें तो उनकी संख्या परि-संख्ये हो जाती है और यदि प्रत्येक स्रोतस को पृथक् पृथक् गिना जाय, याने प्रत्येक प्रकार के स्रोतसों की शाखाप्रशा खापूं पृथक् गिनी जायें तो स्रोतस् अपरिसंख्ये हो जाते हैं। असंख्येय मानने का कारण शाखाप्रशाखापूं हैं, यह नाचे के मधुकोश के उदरण से स्पष्ट होगा—ननु अर्था नाधिध्विनि बहुवचन विवद, 'दे उदकवधे' इति सुत्रेणोक्तत्वात् । नैवम्, तयोरेवानेकप्रानन्योगादिनि । (नृणांनिदानम्) । अब 'स्रोतसों के प्रकार किस आधार पर बनाये जाते हैं, इसके सम्बन्ध में चरक में लिखा है—वाचन-तु पुष्टे मूतित्तो भवति विशेषात्ता वन्त पत्रमित्तम् स्रोतसार्त् प्रकारविशेषः । (स्रोतोविमान्) । शरीर में प्राण, अन्न, जल, सात धातु, तीन मल, तीन दोष और ज्ञियों में शुक्र का प्रतिनिधि आर्तव इतने सत्रह ही मूर्ति मन्त भाव होते हैं। इनमें से त्रिदोष सर्वशरीरव्यापी होने से इनके लिए स्वतन्त्र स्रोतस् नहीं होते। इसलिये शरीर में स्रोतसों की संख्या प्रकारों के अनुसार केवल चौदह होती है। चरक में चौदह प्रकार के स्रोतस् वर्णन किये हैं। सुधृत में अश्विवह, मज्जवह, और श्वेदवह स्रोतसों का वर्णन नहीं किया गया है। इसके संवध में बहुलगाचार्य लिखते हैं—परिस्तरिहान्माचकते स्रोतानि सत्त्व ध्वनिकात्, कथम् ? तत्रास्तिवहानां सकलानामैव मेदो मूल मज्जवहानां च तेषां सकलान्येव भस्वीनि सकलशरीरगतानि, न च सकलशरीरगतविद्वन्लक्षण साध्यादिज्ञाननिश्चायकम्, एव श्वेदव हानामिति केवल मेदो मूलमिति पूर्वोक्त समानम्, अतः श्वेतान्ये तेषां मूलविद्वन्लक्षणमधिकारः । अमुमेवायं चेदस्ति कृष्णाऽऽव, वैध्वनिका इति । 'अश्वान-ने' इति शेष, शब्दविपरिमाणां हि स्रोतोऽङ्गुलिच्छया वाच्य तेन सकलाश्चपानामिति स्रोतसं काय विशिष्टायापामधिकारः । अश्व-शब्दमधिकारिणु नियतदेशसिधेतु

विद्वेणु वेदनाविशेषस्यानियुक्तमात्र साध्यादिज्ञाननिश्चायकत्वमि-
 तेवापामधिकारः ॥ सुधृत में प्रत्येक प्रकार के स्रोत दो बतलाये गये हैं। चरक में ऐसा नहीं है। स्रोत क्या है ?—(१) स्रोतसों के सम्बन्ध में चरक में लिखे हैं—तवै हि भावा पुत्रे नामनेरेय स्रोतस्यमनिर्वर्तेने च वायुमिच्छन्नि । स्रोतानि खलु परिणामपदधमानान् चतूनामभिवारीति भवन्त्येवमाथेन ॥ इस पर इहमागचा लिखते हैं—भूमिनिर्वर्त इति सन्तान-वायेन । परिणामपदध मानानामिति पूर्वपूर्वसारिरूपणापरिणामेनोत्प्रेरणाकारिरूप नामपदधमानानाम् । अयमाथेनेति वचनात् स्थितायां साध्यामि वारीति भवति स्रोतानि, किन्तु देशान्ताप्रायेणाभिवारीति भवति । एव मन्वने—रक्तस्य वृद्धिं शोखिनकृतया परिणाम रसेन विभिनेन कर्तव्या, स च स्थानान्तरस्वयव रसस्य स्थिते स मेलको न गमनमार्गं स्रोत-संलक्षन-तरा भवति । अयं तावदिति सति -स्रोत-परिणामे हि धातूनां भावो रसादीनामुत्तरधातुगेषक मा। परिणामो भवति, तथायुत्ताधातुगेषां नामनेरेय स्रोतो भवति, यथा रक्त-न्याय स संवत् शरीरे भवति, न चा-वस्रोतनाऽऽप्यथातुगि त्तमवति, सर्वपोषायां मित्रदेशस्यम् । न ह्यभिनेन स्रवता पित्रदेशस्ययो मेचनमस्ति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि स्रोतस धातुओं के रूपान्तर में याने शरीरगत विविध भावों की उत्पत्ति में तथा उनके वहन में भाग लेते हैं। स्रोतसों का यह प्रथम और मुख्य लक्षण है। (२) स्रोतसों के वर्ण जिन धातुओं में होते हैं या जिनका वहन करते हैं उनके अनुसार होता है, वे गोल चपटे और सूचम होते हैं तथा पत्ते के प्रत्या के समान वे फैले रहते हैं—'अथातुगिप्यवर्णानि वृत्तवृत्ता यद्यपि च । स्रोतानि दोर्वाण्डाकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ (चरक) । (३) स्रोतस नाडी के समान या अथकाशयुक्त शरीरगत अवयव है—स्रोतानि सिरा धमन्यो रसायन्यो रस-वादिन्यो नाड्यः पथानो मार्गा शरी च्छिद्राणि सन्तानसृजानि स्थाना-वाशया निकेतानि शरीरेश्वरवकाशाना स्रवणान्यवर्णा नामानि भवन्ति । (चरक) । (४) स्रोतसों से रस का छवण भी होता है—स्रवणास्रोवाति । (चरक) । स्रवणादिनि रसा देव चोपस्य स्वव्याय । (चक्रपाणिदत्त) । ये चार लक्षण प्रत्येक स्रोत के लिए आवश्यक नहीं हैं, किन्तु में एक किसी में दो लक्षण मिलते हैं, किसी में चारों मिलते हैं। इसलिये स्रोतस् से साधारणतया शरीरगत नाडियों (ducts, tubular structure) का बोध होता है। इसके सिवा स्रोतस से रक्तवाहिनियों (Blood vessels and capillaries) का भी साधारण बोध होता है। क्योंकि धातु या मल की उत्पत्ति रम-रक्त से ही होती है, जब रक्त विशिष्ट धातु में या विशिष्ट मली-त्पादक अंग में पहुँचता है। इस तरह सद्र्भ के अनुसार यहाँ पर स्रोतस का अर्थ कर लेना चाहिए। इन अर्थों के सिवा आयुर्वेद में ऊपर तीसरे नम्बर में बताये हुए सब पर्यायों के लिए भी स्रोतस् शब्द प्रयुक्त होता है।

तत्र प्राणवह्रे अरे, तयोर्मूल हृदयं रससाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्वश्य मादानविनमनमाहनध्रमण वेपनानि मरणं चा भवति ॥ १२ ॥

(प्राणवह स्रोतस्—) इनमें प्राणवह शरीर, इनका मूल हृदय और रसवाही धमनियाँ हैं। इनमें वेध होने से आकोत,

शरीर का झुकना, मूच्छा, चकर, कंप अथवा मृत्यु होती है ॥ १२ ॥

वक्तव्य—रसवाहिन्यश्च धमन्यः—इसके बदले 'प्राणवाहिन्यश्च धमन्यः' ऐसा भी पाठभेद है। इस पाठभेद से श्वासवाहिनियों (Bronchii) का बोध होता है। यह पाठभेद अच्छा है, इससे प्राणवह स्रोतों में प्राणवायु का प्रवेश होता है—नाभिर्यः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् । कण्ठादहिविनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् । पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ॥ (शाङ्गधर) । प्राणवह द्वे—प्राणवह स्रोतों से दोनों तरफ के दो फुफ्फुसों का ग्रहण करना उचित है। इन फुफ्फुसों का मूल हृदय याने हृदय से फुफ्फुस में जाने वाली धमनियाँ (Pulmonary arterie-) तथा कण्ठनलिका से आने वाली श्वासनालियाँ होती हैं। धमनियों के द्वारा आया हुआ रक्त-फुफ्फुस के भीतर केशिकाओं में फैलता है और श्वासनालियों से आये हुए प्राणवायु का ग्रहण करके फिर फुफ्फुस सिराओं द्वारा हृदय में चला जाता है। शरीर में प्राणवायु का ग्रहण और वहन करने का प्रधान अंग फुफ्फुस (Lungs) है। सुश्रुत में इसके वेध के जो लक्षण दिये हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु चरक में दिया हुआ लक्षण इसके वेध का प्रधान (Cardinal) है—अतिसृष्टमतिवदं कुपितमत्पारप-मभीक्ष्यं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानिति विधात ॥ इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवह स्रोतसूक्ष्म होने पर साँस में सब प्रकार की कठिनाई होती है, उसके साथ शब्द Wheezing) और पीडा होती है। इस लक्षण को श्वासकृच्छ्र (Dyspnea, Breathlessness) कहते हैं। प्राणवह स्रोतों की दुष्टि के कारण—क्षयात् संधारणाद् रीच्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च । प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्य-न्यैश्च दारुणैः (कर्मभिः) ॥ (चरक) । स्थान, लक्षण और विकृति के कारणों को देखकर प्राणवह स्रोतों से फुफ्फुस समझना ही उचित है। पं० हरिप्रपञ्चजी प्राणवह स्रोतों (Pulmonary arterie) (फुफ्फुस धमनियाँ) समझते हैं। यदि दो शब्द के ऊपर अधिक जोर देना हो तो प्राणवह स्रोतों से दो श्वासप्रणालियाँ (Bronchii) समझ सकते हैं। अत्रवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मान शूलाच्चक्षौ छुर्दिः पिपा-साऽऽन्ध्यं मरणं च ॥ १३ ॥

(अन्नवह स्रोतस्—) अन्नवह (स्रोतस्) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से आध्मान (पेट का फूलना), शूल, अन्नक्षेप, वमन, प्यास, चकर अथवा मरण होता है ॥ १३ ॥

वक्तव्य—अन्नवह स्रोतस्—इससे अन्नप्रणाली (Oesophagus) और छुदान्त्र समझ सकते हैं। आमाशय अन्न का आधार है—तत्र आमाशयः, स चतुर्विधस्याहारस्थाधारः । (सूत्र २१) । अन्नप्रणाली आमाशय तक अन्न का वहन करती है और छुदान्त्र आमाशय से आगे की ओर अन्न का वहन करता है। अन्नवह स्रोतसूक्ष्म दुष्टि के कारण—अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात् । अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैशुण्वात् पावकस्य च ॥ (चरक) । अन्नवह स्रोतों के साथ आमाशय भी जैसे आ जाता है। आन्ध्यं मरणं वा—आमाशय या छुदान्त्र के ऊपर आघात होने से स्तब्धता या मूच्छा या

हृत्मेद से (छठे अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। छुदान्त्र से यहाँ पर ग्रहणी का ही ग्रहण विशेषतया करना चाहिए, क्योंकि उसी का संबंध अन्न से अधिक रहता है—अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता । नामेत्परि सा अग्निवलोपस्तम्भदृंहिता । अपक्वं धारयत्यत्रं पक्वं सृजति पार्श्वतः । दुर्वलाग्निवला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥ (चरक, ग्रहणीचिकित्सित) ।

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च ॥ १४ ॥

(उदकवह स्रोतस्—) उदकवह दो हैं, उनका मूल तालु और क्लोम है। उनका वेध होने से प्यास और मृत्यु होती है ॥ १४ ॥

वक्तव्य—उदकवहे द्वे—उदक से यहाँ पर जल (पीने का पानी) अभिप्रेत नहीं है, परन्तु शरीरगत जल याने लस, (Lymph अभिप्रेत है। उदर में यही जल उदरगुहा में इकट्ठा होता है। इसलिए वह दकोदर कहलाता है—परिपाकात् परिणामेन दकोदरता सर्वे मेव; अ-यान्युदराणि परिपाकादुदकभावं भजन्ते, दकोदरं प्रागेवेति विशेषः । (इहण, निदान अध्याय ७) । उदकवह स्रोतों का सम्बन्ध अधिकतर उदररोग में आता है और उनके लिए अशुवाही या जलवाही शब्दों का भी प्रयोग होता है—पिवेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि । (सुश्रुत, उदरनिदान) । इस पर मधुकोश में लिखते हैं—तद्वहानि उदकवहानि । अन्नरस उपरनेह्न्यायेन वहिनिःसृत्योदरं जनयतीत्यर्थः । ऊर्ध्वाधो घातवो रुद्ध्वा वाहिनीरशुवाहिनीः । कुर्षुः...उदरम् ॥ रुद्ध्वाऽम्बु-मार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः । वर्षयती तदेवाम्बु तत्स्थानादुदरा-श्रितौ ॥ (अष्टांगहृदय, उदरनिदान) । उदररोग में लसवाहिनियों (Lymphatics) में खराबी होती है। यह सिद्ध बात है—Ascites is very common in heart failure. It is also in part caused by portal congestion and by obstruction to the lymph flow from thoracic duct owing to the rise of venous pressure. In uncomplicated cases (of cirrhosis) the ascites is probably always in part due to the lymphogogue action of toxins normally destroyed by the liver, which increases the flow of fluid into the peritoneal cavity by injuring the vessel walls. Practice of medicine by F. W. Price. ये उदकवाही स्रोतसूक्ष्म होने पर भी अनेक क्यों बतलाये गये हैं? इसका विचार पीछे ११वें सूत्र के वक्तव्य में मधुकोश के आधार पर किया गया है। उदकवह स्रोतस् से, इसलिए लसवाहिनियाँ विशेष करके वाम और दक्षिण रसकृत्ये (Lymphatics, especially thoracic duct and right lymphatic duct) इनका ग्रहण करना उचित है। तयोर्मूलं तालु क्लोम च—रसकृत्या और लसवाहिनियों का ग्रहण उदकवह स्रोतों के लिए करने पर उनका मूल या प्रभव स्थान सम्पूर्ण शरीर में होता है, किसी एक स्थान में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इनका मूल तालु मानने के कारणों का भी विचार करना आवश्यक है। उदकवह स्रोतों का संबंध शरीर-

(स्रोतस, उनके नाम और संख्या—) अथ इसके प्रकार स्रोतसों के मूलवेध के लक्षण बतलायेंगे। जिनके ऊपर (शक्य शास्त्र का) अधिकार है वे प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, सूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह और आर्तववह हैं। कई आचार्यों के अनुसार स्रोतस बहुत होते हैं; (पान्तु धन्वन्तरि कदते हि कि स्रोतस इन्ने ही होते हैं) उनके विशेष (भेद) बहुत हैं ॥११॥

वक्ष्य—मूलविद्वज्ज्ञानम्—स्रोतसों के प्रभव स्थान में वेध होने से उत्पन्न होने वाले लक्षण। प्राणोन्मात्र इत्यादि—यहाँ पर स्यारह भाव दिये हैं, जिनके घाहक स्रोत होते हैं। प्रत्येक भाव के दो स्रोतस हैं, इस प्रकार बाईस स्रोतस हो जाते हैं। चरकसंहिता में कुल तेरह भावों के स्रोतस बताये गये हैं जिनमें अस्थिवह, मज्जवह और श्वेदवह स्रोतस अधिक हैं और आर्तववह स्रोतस नहीं दिये हैं, तथा प्रत्येक प्रकार के स्रोतस की संख्या सुधृत के समान दो न होकर बहुत होती है। एकेण बहुनि—अपि वैके स्रोतसामिव समुत्सवं पुरुषमिच्छन्ति सर्वगतत्वात्, सर्वसंरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनायाम् । न तदेतदेवम्, यस्य हि स्रोतसि यच्च वहन्ति यच्चवहन्ति, यत्र चावस्थितामि, सर्वं तदयत्नेभ्यः । अति बहुत्वात् स्रुत केचित्परिसस्येयान्नाचक्षते स्रोतमिति, परिसस्येयानि पुनरन्ये । (चरक, स्रोतोविमान) स्रोतसों की संख्या के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि प्रत्येक प्रकार के स्रोतस एक माने जायें तो उनकी संख्या परि सस्येय हो जाती है और यदि प्रत्येक स्रोतस को पृथक पृथक गिना जाय, याने प्रत्येक प्रकार के स्रोतसों की आधाप्रमाणा साएँ पृथक् गिनी जायें तो स्रोतस अपरिसस्येय हो जाते हैं। असस्येय मानने का कारण वायु प्रशाखाएँ हैं, यह नोचे के मधुकोश के उदरग से स्पष्ट होगा—ननु अणं वासिर्विनि बहुवचन विरुद्धं उदकवह इति सुप्रवेनोक्तम् । नैकम् तस्यैवानेप्रतानयोगादिभिः । (वृणानिदान) । अथ स्रोतसों के प्रकार किस आधार पर बताये जाते हैं, इसके सम्बन्ध में चरक में लिखा है—यान्त पुरुषे मूलमन्तो भावविशेषान्ता वन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषः । (स्रोतोविमान) । शरीर में प्राण, अन्न, जल, सात धातु, तीन मज्ज, तीन दोष और क्रिया में शुक्र का प्रतिनिधि आर्तव इतने सत्रह ही मूलि मन्त भाव होते हैं। इनमें से त्रिदोष सर्वशरीरव्यापी होने से इनके लिए स्वतन्त्र स्रोतस नहीं होते। इनलिए शरीर में स्रोतसों की संख्या प्रकारों के अनुसार केवल चौदह होती है। चरक में चौदह प्रकार के स्रोतस वर्णन किये हैं। सुधृत में अस्थिवह, मज्जवह, और श्वेदवह स्रोतसों का वर्णन नहीं किया गया है। इसके सम्बन्ध में ब्रह्मणाचार्य लिखते हैं—अभिलष्यस्वैश्वर्यादिषु स्रोतसु सस्येयमभिहारः, कथम् ? तदादिब्रह्मार्तां सक्तानामेव मेदो मूल मज्जवहानां च तेषां सक्तानां येव सर्वोनि सकलशरीरगतमिति, न च सकलशरीरगतविद्वज्ज्ञान साध्यादिज्ञाननिष्ठावकार, एवं तैरेव ज्ञानमिति केवल मेदो मूलमिति पूर्वोच्यं समानम्, यत्र स्रवन्मेदे तेषां मूलविद्वज्ज्ञानाधिकारः । अनुमेवार्थं चेति ब्रह्माऽऽह, वैभक्तियत इति । 'अकथं त्रै' इति शेष, वाचविशिराणां तु स्रोतसुदुष्करवत्त्वं वाच्यं तेन सकल ज्ञानगामयि स्रोतसां वाच्य-विशिराणांमभिहारः । अस्थिव्याधिकारिषु निवर्तयैपरिषेयु

विडेयु वेदानाविशेषर्यादिसूत्रमन्त्रात् साध्यादिज्ञाननिष्ठावस्तमिति तेनामभिहारः ॥ सुधृत में प्रत्येक प्रकार के स्रोतस दो बतलाये गये हैं। चरक में ऐसा नहीं है। स्रोतस क्या है?—(१) स्रोतसों के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—सर्वे हि भावा प्रुषे ना-नरेण स्रोतस्यमनिवर्तन्ते यत्र वाप्यभिगच्छन्ति । स्रोतमिति स्रुत परिणाममापचानानां यत्नानामिवाशीनि भवन्त्यवनाथिनः ॥ इस पर ब्रह्मणाचार्य लिखते हैं—अभिनिर्वर्तत इति स तान याधेन । परिणाममापच मानानामिति पूर्वपूर्वसारिरूपतापरिभागेनोत्तरोत्तरकारिद्वर-नामापचमानानाम् । अथनाथैनेति वचनात् स्थिरायां धातुनामि वाशीनि भवति स्रोतमिति, किन्तु देशतत्प्राप्येनाभिवाशीनि भवन्ति । एव म ये—रक्तस्य वृद्धि शोथिष्करतया परिणामा र्मेन भिन्नेन कर्तव्या, स च स्थानान्तरस्थस्य रसस्य बधिरेण सम मेलको न गमनमार्गं स्रोत स्रुतमन्तरा भवति । अथ तावदमि मधि-स्रोत-सांखिको हि धातुनां प्रायो रक्तादीनामुत्तरधातुषोक्त माःपरिणामो भवति तस्मात्सुताधातुषोक्त ना-नरेण स्रोतो भवति यत्र रक्त-व्याय स सर्वं शरीरं भावे, न चा यन्नोन्मास यथासुति समवति, सर्वोपध्यायां मित्रदेशवात् । न ह्यभिन्नेन स्रवता मित्राद्युत्तरो मेचनमिति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि स्रोतस धातुओं के रूपान्तर में याने शरीरगत विविध भावों की उत्पत्ति में तथा उनके वहन में भाग लेते हैं। स्रोतसों का यह प्रथम और मुख्य लक्षण है। (२) स्रोतसों के वर्ण जिन धातुओं में होते हैं या जिनका वहन करते हैं उनके अनुसार होता है, वे गोल स्रोत और सूत्रम होते हैं तथा पत्ते के प्रतान के समान वे फैले रहते हैं—व्यापुत्समवर्णानि वृत्तवृत्ता यद्यनि च । स्रोतमिति शोकाव्याकृता पानानस्रुतमिति च ॥ (चरक) । (३) स्रोतस जालों के समान या अवकाशातुक्त शरीरगत अवयव है—स्रोतसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रक्त-वाहि यो तादृय पथ नो मार्गं शरी चिद्व्याधि स्रुतस्रुतमिति स्थाना वायुया निकषाद्येति शरीरगतवक्त्राणां तदवकाशवर्णानां नाममिति भवन्ति । (चरक) । (४) स्रोतसों से रस का खरण भी होता है—वद्वारस्रोतमिति । (चरक) । खरणमिति रसा देवेव पोष्यस्य स्रवणात् । (चक्रपाणिदत्त) । ये चार लक्षण प्रत्येक स्रोत के लिए आवश्यक नहीं हैं, किसी में एक किसी में दो लक्षण मिलते हैं, किसी में चारों मिलते हैं। इसलिये स्रोतस से साधारणतया शरीरगत नाडियों Ducts, tubular structure) का बोध होता है। इसके सिवा स्रोतस से रक्तवाहिनियों (Blood vessels and capillaries) का भी साधारण बोध होता है। क्योंकि धातु या मज्ज की उत्पत्ति रस रक्त से ही होती है, जब रक्त विशिष्ट धातु में या विशिष्ट मज्जे त्पादक अंग में पहुँचता है। इस तरह संदर्भ के अनुसार यहाँ पर स्रोतस का अर्थ कर लेना चाहिए। इन अर्थों के सिवा आधुनिक में ऊपर तीसरे अर्थ में बताये हुए सत्र पदार्थों के लिए भी स्रोतस शब्द प्रयुक्त होता है।

तत्र प्राणुषुधे द्वे, तयोर्मूल हृदय रसग्राहिन्यथ धमन्यथ, तत्र निद्रस्य प्रोशनमिनमनाह्नधमण्य धेपनानि मरुणं चा भवति ॥ २२ ॥

(प्राणवह स्रोतस—) इनमें प्राणवह दो हैं, इनका मूल हृदय और रसवाही धमनियाँ हैं। इनमें वेध होने से आकोश,

शरीर का झुकना, मूर्च्छा, चक्कर, कंप अथवा मृत्यु होती है ॥१२॥

वक्तव्य—रसवाहिन्यश्च धमन्यः—इसके वदने 'प्राणवाहिन्यश्च धमन्यः' ऐसा भी पाठभेद है। इस पाठभेद से श्वासवाहिनियों (Bronchii) का बोध होता है। यह पाठभेद अच्छा है, इससे प्राणवह स्रोतों में प्राणवायु का प्रवेश होता है—नाभिरथः प्राणपवनः स्पृष्टा हृत्कमलान्तरम् । कण्ठादहिविनिर्याति पातं विष्णुपदामृतम् । पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ॥ (शाङ्गधर) । प्राणवहे द्वे—प्राणवह स्रोतों से दोनों तरफ के दो फुफ्फुसों का ग्रहण करना उचित है। इन फुफ्फुसों का मूल हृदय याने हृदय से फुफ्फुस में जाने वाली धमनियों (Pulmonary arteries) तथा कण्ठनलिका से आने वाली श्वासनालियाँ होती हैं। धमनियों के द्वारा आया हुआ रक्त फुफ्फुस के भीतर केशिकाओं में फैलता है और श्वासनालियों से आये हुए प्राणवायु का ग्रहण करके फिर फुफ्फुस सिराओं द्वारा हृदय में चला जाता है। शरीर में प्राणवायु का ग्रहण और वहन करने का प्रधान अंग फुफ्फुस (Lungs) है। सुश्रुत में इसके वेध के जो लक्षण दिये हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु चरक में दिया हुआ लक्षण इसके वेध का प्रधान (Cardinal) है—प्रतिसृष्टप्रतिवदं क्षुपितमल्पामोक्षणं वा सशब्दश्लमुच्च्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतसि प्रदुष्टानीति विधात् ॥ इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवह स्रोतसूक्ष्मपित होने पर साँस में सब प्रकार की कठिनाई होती है, उसके साथ शब्द Wheezing) और पीडा होती है। इस लक्षण को श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea, Breathlessness) कहते हैं। प्राणवह स्रोतों की दुष्टि के कारण—न्यात् संधारणाद् रोचयाद् न्यायामात् क्षुपितस्य च । प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतस्यश्च दारुणैः । (कर्मभिः) ॥ (चरक) । स्थान, लक्षण और कृति के कारणों को देखकर प्राणवह स्रोतों से फुफ्फुस मक्षना ही उचित है। पं० हरिप्रपञ्जी प्राणवह स्रोतों (Pulmonary arteries) (फुफ्फुस धमनियाँ) समझते हैं। यदि दो शब्द के ऊपर अधिक जोर देना हो तो प्राणवह स्रोतों से दो श्वासप्रणालियाँ (Bronchii) समझ सकते हैं।

अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च अमन्यः, तत्र विद्धस्याभ्मान शूलान्नद्वेषो बुद्धिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च ॥ १३ ॥

(अन्नवह स्रोतस्—) अन्नवह (स्रोतस्) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से आभ्मान (पेट का फूलना), शूल, अन्नद्वेष, वमन, प्यास, चक्कर अथवा मरण होता है ॥ १३ ॥

वक्तव्य—अन्नवह स्रोतस्—इससे अन्नप्रणाली (Oesophagus) और छुदान्त्र समझ सकते हैं। आमाशय अन्न का आधार है—तत्र आमाशयः, स चतुर्विधस्याहारस्थाधारः । (सूत्र २१) । अन्नप्रणाली आमाशय तक अन्न का वहन करती है और छुदान्त्र आमाशय से आगे की ओर अन्न का वहन करता है। अन्नवह स्रोतस् दुष्टि के कारण—अतिमानस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात् । अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च ॥ (चरक) । अन्नवह स्रोतों के साथ आमाशय भी जैसे आ जाता है। आन्ध्यं मरणं वा—आमाशय या छुदान्त्र के ऊपर आघात होने से स्तब्धता या मूर्च्छा या

हृदये से (छूटे अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। छुदान्त्र से यहाँ पर ग्रहणी का ही ग्रहण विशेषतया करना चाहिए, क्योंकि उसी का संबंध अन्न से अधिक रहता है—अमन्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता । नाभेत्परि सा क्षयिनवलोपस्तम्भरुचिर्ता । अपत्नं धारयत्यन्नं पत्नं सृजति पार्श्वतः । दुर्बलाग्निवला दुष्टा त्वाममेव विमुष्यति ॥ (चरक, ग्रहणीचिकित्सित) ।

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु ह्लोम च, तत्र चिद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च ॥ १४ ॥

(उदकवह स्रोतस्—) उदकवह दो हैं, उनका मूल तालु और ह्लोम है। उनका वेध होने से प्यास और मृत्यु होती है ॥ १४ ॥

वक्तव्य—उदकवहे द्वे—उदक से यहाँ पर जल (पीने का पानी) अभिप्रेत नहीं है, परन्तु शरीरगत जल याने लस (Lymph) अभिप्रेत है। उदर में यही जल उदरगुहा में इकट्ठा होता है। इसलिए वह दकोदर कहलाता है—परिपाकात् परिणामेन दकोदरता सर्वेषु मेव; अथान्युदराणि परिपाकादुदकभावं भजन्ते, दकोदरं प्रागेवेति विशेषः । (इद्वहण, निदान अध्याय ७) । उदकवह स्रोतों का सम्यन्ध अधिकतर उदररोग में आता है और उनके लिए अस्तुवाही या जलवाही शब्दों का भी प्रयोग होता है—पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतसि दुष्यन्ति णि तद्वहानि । (सुश्रुत, उदरनिदान) । इस पर मधुकोश में लिखते हैं—तद्वहानि उदकवहानि । अन्नस्य उपस्नेहस्यायेन वहनिःसृयोदरं जनयतीत्यर्थः । ऊर्ष्वधी पातवो रुध्वा वाहिनोरस्युवाहिनीः । कुयुः...उदरम् ॥ रुध्वाऽस्यु-मार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः । वर्धयेतां तदेवाशु तत्स्थानादुदरा-श्रितौ ॥ (अष्टांगहृदय, उदरनिदान) । उदररोग में लसवाहिनियों (Lymphatics) में खराबी होती है। यह सिद्ध बात है—Ascites is very common in heart failure. It is also in part caused by portal congestion and by obstruction to the lymph flow from thoracic duct owing to the rise of venous pressure. In uncomplicated cases (of cirrhosis) the ascites is probably always in part due to the lymphogogue action of toxins normally destroyed by the liver, which increases the flow of fluid into the peritoneal cavity by injuring the vessel walls. Practice of medicine by P. W. Price. ये उदकवाही स्रोतसूक्ष्म होने पर भी अनेक क्यों बतलाये गये हैं? इसका विचार पीछे ११वें सूत्र के वक्तव्य में मधुकोश के आधार पर किया गया है। उदकवह स्रोतस् से, इसलिए लसवाहिनियाँ विशेष करके वाम और दक्षिण रसकूट्ये (Lymphatics, especially thoracic duct and right lymphatic duct) इनका ग्रहण करना उचित है। तयोर्मूलं तालु ह्लोम च—रसकूट्या और लसवाहिनियों का ग्रहण उदकवह स्रोतों के लिए करने पर उनका मूल या प्रभव स्थान सम्पूर्ण शरीर में होता है, किसी एक स्थान में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इनका मूल तालु मानने के कारणों का भी विचार करना आवश्यक है। उदकवह स्रोतों का संबंध शरीर-

गत जल के साथ होता है तथा घृषा का सम्बन्ध शरीरगत जल के साथ होता है, ये दोनों बातें निर्विवाद हैं। उदररोग में श्वेतवाही श्रोतसों की दुष्टि होने से उदरगुहा में जल इकट्ठा होता है और उस समय घृषा भी मालूम होती है—
 सोऽपि उदर-...। सुषुप्तोऽपि मूर्च्छितः। वर्षयैव तदेवायु स्वस्था-
 नादुरागतौ ॥ तस्य रूपापि—मनश्चनारूपा पिपासा ॥ (चरक, उदरभिक्रान्ता)। पाश्चात्य वैद्यक में जलोदर के लक्षणों में यद्यपि पिपासा का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता तथापि जलोदर उत्पन्न होने के समय पिपासा उत्पन्न हो सकती है। इसका उल्लेख अग्रत्यक्तवा हर्षट् प्रॉफ अपनी किताब (Differential diagnosis) में करते हैं—Cases of extreme thirst may be subdivided into two main groups, namely, those with and those without polyuria. To the other group belong such conditions as excessive loss of fluid into serous membranes उदकवह श्रोतसों का सम्बन्ध शरीरगत जलानुग के साथ होता है। इसलिये उनकी दुष्टि में पिपासा की उत्पत्ति एक स्वामाजिक परिणाम है। चरक में केवल पिपासा ही लक्षण बतलाया है—विज्ञातारुणोऽव्यक्तोऽमरीचोऽपि पिपासा चालिष्वद्विद्वेदकवहान्यस्य सौगति प्रदुष्टानीनि विवादाः ॥ मनुष्यों की प्यास की संवेदना केवल गले के आस-पास के भाग में ही होती है, अन्यत्र नहीं होती। इसलिये पिपासा के समय हमेशा गला, तालु इत्यादि सुखगत अंगों का उल्लेख होता है—Thirst is a sensation referred to the pharyngeal region rather than to the stomach. *Halliburton's physiology* उदकवह श्रोतसों का सम्बन्ध जल के साथ, जल का संबंध पिपासा के साथ और पिपासा का सम्बन्ध गले के या तालु के साथ होता है। इस विचारमण्डली के आधार पर उदकवह श्रोतसों का सम्बन्ध, याने पचाय से मूल तालु में माना गया होगा, ऐसा मान्य पड़ता है। पिपासा—इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वत्सों का यह कथन है कि शरीरगत जलानुग कम होने से छाया तथा मुखरूप अन्य ग्रन्थियों से छाव निकलना बन्द होकर तालु, गला इत्यादि शुष्क हो जाते हैं और इस शुष्कता के कारण प्यास मान्य होती है—The theory postulates that the salivary and buccal glands, like other tissues, become dehydrated and consequently secrete less liquid or none at all. When insufficient fluid is provided to moisten the mucous membranes continually, the local discomfort provoked is interpreted as thirst. *Physiology in Health and disease by Wiggers* चरकसंहिता में भी पिपासा के सम्बन्ध में पचाय से घड़ी उत्पत्ति वर्णन की गई है—पिपा निचो मूत्रो मोक्षकं चान्धुश शोषयः। रसवाहिनीषु नाशोऽपि विज्ञानमयवन्मूत्रोत्पत्तेः। संशोषं मूर्त्ता देहे कुम्भरूपं महाशोषं चैव। (मृत्पाकिक्रियत)। संशोष में उदकवह श्रोतसों का पिपासा से और पिपासा का तालु से जो स्वामाजिक सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध के कारण उदकवह श्रोतस तालुप्रयत्न माने गये हैं। प्राणशरीर की दृष्टि से तालु और उदकवह श्रोतसों में कोई स्वयं सम्बन्ध नहीं होता। सबी मरण च—वहाँ पर अवि

कतर उदररूप उदकवह श्रोतस अभिप्रेत हैं, इसलिये उदर पर आघात होने से मृत्यु भी शीघ्र हो सकती है।

रसचहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्याः, तत्र जिह्वस्य शोषः प्राणवहचिद्वयं मर्यादं तल्लिङ्गानि च ॥ १५ ॥

(रसवह श्रोतस्—) रसवह दो हैं; उनका मूल हृदय और रसवह धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से शोष, प्राणवह (श्रोतोमूल) वेध के समान मृत्यु तथा (अन्य) लक्षण होते हैं ॥ १५ ॥

पक्षत्रय—रसवह द्वे—रसवह श्रोतसों का मूल हृदय और चौबीस या दस रसवाही याने आधुनिक कल्पना के अनुसार रक्तवाही धमनियाँ हैं। इसलिये रसवह श्रोतसों से शरीरगत रसवह छोटी छोटी नालियाँ, जो आधुनिक परिभाषा में केशिकाएँ (Capillaries) कहलाती हैं, समझना चाहिये। प्राणवह श्रोतसों का भी वही मूल बतलाया गया है। दोनों में फर्क आधुनिक कल्पना के अनुसार निम्न प्रकार से कर सकते हैं। शरीर में रक्तपरिभ्रमण दो विभागों में बाँटा गया है—छुपुपरिभ्रमण (Lesser circulation) और दीर्घ परिभ्रमण (Greater circulation), इनमें छुपु का सम्बन्ध प्राणवायु वहन के साथ होकर कुपकुस में होता है और दीर्घ का सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर के पोषण के साथ होकर कुपकुसतर अन्य हिस्से में होता है। इसलिये प्राणवह श्रोतसों से कुपकुसगत केशिकाएँ (Pulmonary capillaries) और रसवह श्रोतसों से शारीरिक केशिकाएँ (Systemic capillaries) समझ सकते हैं। प्राणवहचिद्वय—दोनों का मूल हृदय होने से दोनों में भी वेध के लक्षण एक से होते हैं, तथा मर्माघात के कारण मृत्यु भी हो सकती है।

रक्तचहे द्वे, तयोर्मूलं यज्ज्वलोद्दानो रक्तवहिन्यश्च धमन्याः, तत्र चिद्वयं श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितगमनं रक्तनेत्रता च ॥ १६ ॥

(रक्तवह श्रोतस्—) रक्तवह दो हैं; उनका मूल यज्ज्वल, शीघ्रा और रक्तवाही धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से शरीर का कालापन, उदर, दाह, पाण्डुरवर्णता, रक्तत्रय की अधिकता और अर्शें उत्पन्न होती हैं ॥ १६ ॥

पक्षत्रय—रक्तवह श्रोतस—आयुर्वेद में रक्तोत्पत्ति का स्थान यज्ज्वल और शीघ्रा माना गया है। इसलिये रक्तवह श्रोतसों का मूल यज्ज्वल, शीघ्रा और तत्रत धमनियाँ मानी गई हैं। रक्तवह श्रोतसों से, अतः, यज्ज्वल शीघ्रागत केशिकाएँ मानना उचित है। आधुनिक कल्पना के अनुसार यज्ज्वलगत रक्तपरिभ्रमण (Portal circulation) स्वतन्त्र माना जाता है और उसी के अनुसार रक्तवह श्रोतसों को वाह्यकेशिकाएँ (Portal capillaries) कह सकते हैं। तत्र चिद्वयं—यज्ज्वल और शीघ्रा के उपर वेध होने से दोनों ही विद्वोर्ण (Rupture) होने का दर रहता है। विद्वोर्ण होने पर प्राण मृत्यु हो जाती है। यदि वेध बहुत गारदार न हो तो मृत्यु नहीं होती। श्यावाङ्गता—शरीर का वैद्युत्पत्ति (cyanosis)—यथातु वन्धोर्णताः श्यावतः श्यावोऽपि ॥ (चरक)। दाहः—ज्वलन, यह भी वाक्य उल्लेख है। शोणितगमनम्—रक्तमार्गविकलनः यद् रक्तत्रय शरीर के बाहर न होकर यज्ज्वल शीघ्रा के भीतर

होता है या उदरगुहा के भीतर होता है । रक्तनेत्रता—रक्त का अर्थ यहां पर लाल न करके रञ्जित (Coloured) करना उचित है । प्रायः आँखों में कुछ पीलापन आ जाता है । यह पीलापन शरीरगत रक्तशोषण के समय उत्पन्न हुई कामला का परिणाम है । नीचे पाश्चात्य शास्त्रतन्त्र से यकृत वेध के लक्षण दिये जाते हैं, जो इन लक्षणों के साथ बहुत कुछ मिलते हैं—The chief symptoms are shock, pain and tenderness and the evidences of loss of blood. The process is usually attended by certain amount of jaundice. Well-marked pyrexia may follow the initial shock. *Rose and Carless manual of surgery* वेध के बदले यदि चरक के अनुसार, ये रक्तवह स्रोतोदुष्टि के लक्षण माने जायँ, तब भी ये लक्षण यकृत प्लीहा की खराबी जिन रोगों में हुआ करती है (जैसे—कालाजार, विषम उत्र, विषध पाण्डुरोग, कामला) उन रोगों के लक्षणों के साथ बहुत मिलते हैं ।

मांसवह द्वे, तयोर्मूलं स्नायुचंचं रक्तवहाश्च धमन्यः । तत्र विद्वस्य श्वयथुर्मोसशोपः सिराग्रन्थयो मरणं च ॥ १७ ॥

(मांसवह स्रोतस्—) मांसवह दो हैं । उनका मूल स्नायु, त्वचा और रक्तवाही धमनियां हैं । वहाँ पर वेध होने से सूजन, मांसशोष, सिराओं का गठीलापन और मृत्यु होती है ॥ १७ ॥

वक्त्र्य—मांसवह स्रोतसों से पेशीगत केशिकाएँ (muscular capillaries) समझ सकते हैं । तत्र विद्वस्य—हृगका मूल त्वचा और स्नायु होने के कारण त्वचा और स्नायु पर चोट होने के लक्षण इसमें मिलते हैं । मरणं च—मामूली त्वचा पर वेध होने से मृत्यु होने का कारण नहीं है, परन्तु सिर या ग्रीवा की त्वचा में चोट लगने से और वह व्रण दूषित होने से उपत्वचाशोथ (Cellulitis), के कारण मृत्यु हो सकती है ।

मेदोवह द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्को च, तत्र विद्वस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोपः स्थूलशोफता पिपासा च ॥ १८ ॥

(मेदोवह स्रोतस्—) मेदोवह दो हैं । उनका मूल कटी और घृक्क हैं । वहाँ पर वेध होने से पसीना आना, अङ्गों की स्निग्धता, तालु की खुरकी, स्थूल सूजन और प्यास होती है ॥ १८ ॥

वक्त्र्य—तयोर्मूलं कटी वृक्को च—चरक में मेदोवह स्रोतसों का मूल घृक्क और वपावहन बतलाया है—मेदोवहानां स्रोतसों वृक्की मूलं वपावहनं च ॥ (स्रोतोविमान) । कटी (नितम्ब प्रदेश) और वपा इन दोनों स्थानों में मेदोवृद्धि अधिक हुआ करती है—वपावहनं वपा उदरस्या स्निग्धवर्तिका यमाहुर्जनास्तेलवर्तिकेति । (चक्रपाणिदत्त, स्तोतोविमान) । वपावहनं मेदःस्थानं तैलवर्तिकेति ख्यातम् । (चक्रपाणिदत्त, शारीर ७) । वपानाम (Great omentum) उदर्यायाः कर्जायाः स्तरचतुष्टयस्यको भाग आम्नायप्रसिद्धो येन स्थूलजवनिवारूपेण पुरस्तात् संच्छाद्यन्तेऽन्त्राणि । (प्रत्यक्षशारीर) । वृक्को का कार्य—आयुर्वेद में घृक्को का उल्लेख अनेक स्थानों में मिलता है—पंचदश कोषाङ्गानि प्लीहा च वृक्को च वस्तिश्च । यानि

मातृतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । वृक्को च वस्तिश्च घृक्कगर्वा विद्वध्या पृष्कटिग्रहः । (चरक) । रक्तमेदःप्रसादाद् वृक्की । घृक्कयोः पार्श्वसंकोचः । (सुश्रुत) । वृक्की पुष्टिकरी प्रोक्ती जठरस्थस्य मेदसः । (शार्ङ्गधर) । वृक्की कुजिगोलकी । (ढरहण) वृक्की कुजिगोलकी, ती तु रक्तप्रसादसम्भवी, अतएव जठरस्थस्य मेदसः पुष्टिकरी कथितौ, तत्सम्भवात् । (शार्ङ्गधरदीपिका) । इन सब उल्लेखों में कई बार वस्ति और घृक्क, इनका साहचर्य होने पर भी कहीं भी घृक्को का मूत्रोत्पत्ति के साथ सम्बन्ध नहीं बताया गया है, परन्तु मेदोत्पत्ति के साथ बताया गया है । उदरगुहा में आमशाय, पुद्गान्त्र, स्थूलान्त्र, मलाशय, यकृत, प्लीहा, मूत्राशय, गर्भाशय और घृक्क ये प्रधान अवयव होते हैं । इस सब अवयवों के कार्य आयुर्वेद में वर्णित हैं । वस्ति और घृक्को के कार्यों को छोड़कर शेष अवयवों के कार्य आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक हैं । मूत्ररोगों का एकमात्र अधिष्ठान वस्ति बतलाया गया है—सर्वेषां मूत्ररोगाणामधिष्ठानं वस्तिः । (अष्टांगसंग्रह) । और मेदोत्पत्ति का अधिष्ठान घृक्क बतलाया गया है—वृक्की पुष्टिकरी प्रोक्ती जठरस्थस्य मेदसः । (शार्ङ्गधर) । मूत्र रोगों के लिए वस्ति का जो जो अधिष्ठान बतलाया गया है, उसमें कुछ तथ्य है परन्तु जो घृक्को का मेदोत्पत्ति में संबंध बतलाया गया है, उसमें उतना भी तथ्य नहीं है । यह द्रोप कैसे उत्पन्न हुआ ? इसको जानने के लिए मृतसंशोधन की ओर ध्यान देना चाहिए । मृत मनुष्य की उदरगुहा खोलने पर उसमें कई अवयव और कई पदार्थ मिलते हैं । वस्ति में मूत्र मिलता है, जिससे वस्ति का और मूत्र का संबंध निश्चित हो जाता है । मृतशरीर में घृक्को में न मूत्र मिलता है, न मूत्रोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने का कोई मोटा साधन उपलब्ध रहता है । घृक्क से निकलने वाली गद्वीनी (Ureter) वस्ति तक जाती है, परन्तु वह बहुत पतली होने के कारण स्नायुसूत्रों के समान समझी जा सकती है । इसलिए, केवल मृतशरीरसंशोधन से घृक्को का संबंध मूत्रोत्पत्ति के साथ जोड़ना असंभव है । वस्ति का संबंध मूत्र के साथ जोड़ना आसान है और इसी कारण से वस्ति मूत्ररोगों का प्रधान स्थान माना गया है । अब घृक्को का मेदोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने के कारणों का विचार करना है । उदरगुहा में वपा में बहुत मेद मिलता है । इसके सिवा घृक्को के आसपास और घृक्को के ऊपर भी मेद होता है—The kidneys are situated in the posterior part of the abdomen, one on either side of the vertebral column, behind the peritoneum, and surrounded by a mass of fat and loose areolar tissue. The kidney and its vessels are imbedded in a mass of fatty tissue, termed the adipose capsule. Behind the renal fascia is a considerable quantity of fat which constitutes the paranephric body. *Greys Anatomy*. जैसे, अन्न और आमशाय, मल और मलाशय, मूत्र और मूत्राशय इनका नित्यसाहचर्य देखकर इनका आपस में कार्यकारण या आश्रयाश्रयिसंबंध माना गया है, वैसे ही घृक्को के ऊपर और आसपास मेद (घृक्क टोस होने से

इनके भीतर मेद नहीं हो सकता) का सादृश्य देखकर दोनों का आपस में जनक-जन्य भाव माना गया है, ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसी अवस्था में मेदवह धोतसों का ठीक पर्याय घटाना कठिन है। तथापि यदि पर्याय देना हो तो Capsulation of the perinephric tissues and omentum देख सकते हैं।

मूत्रघट्टे, तयोर्मूलं यस्तिर्मेदं च । तत्र विद्व-
स्यानङ्गयस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेदता च ॥ १६ ॥

(मूत्रवह धोतस—) मूत्रवह दो हैं, उनका मूल यस्ति और मेद है। वहाँ पर वेध होने से यस्ति का फूलना, मूत्र का रुक जाना और शिरन की सख्ती होती है ॥ १६ ॥

वक्ष्य—मूत्रवह शोतस—आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कल्पना यह है कि आन्त्र में ही मूत्र पृथक होकर आन्त्र से असह्य सूक्ष्म धोतसों द्वारा यस्ति में जाता है। अर्थात् इन धोतसों का ऊपर का सिरा आन्त्र से और नीचे का यस्ति से संबंधित रहता है। आन्त्र में मलबल कला से पुष्प हुआ तबल मल पाषक अग्नि और समान वायु के कार्य से इन धोतसों में बढ़ते समय पूर्णतया मूत्र में परिवर्तित होकर यस्ति में जाता है—इकाशयगतस्तत्र नाडयो मूत्रवहासु याः । तपयन्ति सदा मूत्र सरिताः सागरं यथा ॥ सूक्ष्मवायोपलम्बन्ये मूलन्यासां सहस्रशः । नाभौभिरननीरस्य मूत्रस्यामाहवायवरात् ॥ (सुश्रुत, निदान ३) । इसका वक्ष्य भी देखो। अयोमुक्तौ हि यस्तिर्हि मूत्रवाही शिराशुद्धे । पात्रेभ्यः पूर्वंते सुप्तैः । रसद-मानैरनारवम् ॥ (अष्टांगहृदय) । शिरामिच्छल नीत वस्ती मूत्रवहान्नायात् ॥ (शाङ्ख्य) । इस विषय के बिरोध विवरण के लिए ग्रन्थकार की Ayurvedic conception about urine formation नामक पुस्तक देखो। प्रायः शारीर कार्य की दृष्टि से आयुर्वेद की यह मूत्रोत्पत्ति की कल्पना ठीक नहीं है। इसलिए मूत्रवह छातसों का कोई ठीक अंग्रेजी पर्याय नहीं दिया जा सकता। यदि आयुर्विज्ञान शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार इनका अर्थ करना हो तो मूत्रवह धोतसों से वृक्षम्य मूत्रधोत (Ranal canals) वाले वृक्षान्तर्गत मूत्रोत्पादक भाटिप्यां समझ सकते हैं। और यदि यस्ति का सम्बन्ध ठीक रहना हो तो सात्व्य की दृष्टि से गवीनीयुक्त वृक्ष (Kidneys with ureters) इनसे समझ सकते हैं। शिरागच्छत् तथा वृक्ष अन्ध शोम मूत्रवह दे से गवीनी (Ureters) समझते हैं—मूत्रवह दे वृक्ष प्रकृते पर । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि चरक में मूत्रवाही धोतसों की दृष्टि के कारण दिये हैं तथा उनकी चिकित्सा मूत्रवहूके समान बताई है—मूत्रिनोरुधमपयकीरता मूत्रनिमशात् । मूत्र-वासान् २५५-१ शोमन्यानिहृत्वात् च ॥ मूत्रनिद्वेषेरशानो विरिण्णा नीरवृत्तिर्वा ॥ आयुर्वेद में वा पाश्चात्य वैद्यक में वृक्षवादीन गवीनियों का कोई ऐसा रोग नहीं है। इसलिए यदि गवीनी अर्थ करना हो वृक्षयुक्त गवीनी करना उचित है। मूत्र वृक्षका उच्छेद मूल में परम्परा की दृष्टि तो किया गया है।

पुरीषघट्टे प्रे, तयोर्मूलं पवाशयो गुर् व, तत्र
पित्तम्यानादौ दुर्गन्धता प्रथितान्त्रता च ॥ २० ॥
(पुरीषघट्टे योग्य—) पुरीषघट्टे दो हैं, उनका मूल

पकाशय और गुर्बु है। वहाँ पर वेध होने से उपर का फूलना, (मूल में) दुर्गन्ध और गठि उत्पन्न होती है ॥ २० ॥

वक्ष्य—पुरीषवह धोतसू से उण्डुक और स्थूलान्त्र का ग्रहण करना चाहिये। तब विद्वान्—पकाशय या गुर्बु के ऊपर वेध होने से मलावरोध या प्रवाहिका उत्पन्न हो सकती है। मलावरोध होने पर पेट फूलना, दुर्गन्ध और मल अधिक देर तक रहने से गाँठदार होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रथितान्त्रता—प्रथितमलान्त्रता, मल की गति उत्पन्न होने की स्थिति। चरक में साफ लिखा है—कुर्वन्वा-ल्यन्त्र सञ्चन्द्रसमलक्षित्वमविप्रथितमविशु चोपदिशन्त इहा पुरीषवहान्त्रस्य शोतसि प्रवृष्टानति विधात् ॥

शुकघट्टे प्रे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च । तत्र
सिद्धस्य क्लीयता चिरात् प्रसेकी रत्तशुक्रता च ॥ २१ ॥

(शुकघट्टे धोतसू—) शुकघट्टे दो हैं, उनका मूल स्तन और वृषण हैं। वहाँ पर वेध होने से पंढता, देर से वीर्य स्थलन और रक्तयुक्त वीर्य (का निकलना ये लक्षण) होते हैं ॥ २१ ॥

वक्ष्य—शुकघट्टे दे—शुकघट्टे दो नालियों से Ductus deferens का ग्रहण करना चाहिये और उनसे जो अनेक धोतसू आगे वृषण की ओर होते हैं, उनसे Ductuli efferentes and rotostes का ग्रहण करना चाहिये। वृषणप्रथि में उत्पन्न हुआ शुक्र इनके द्वारा बाहर आता है। होरवा—वीर्य के न निकलने से यह वण्डता उत्पन्न होती है। स्तनो—वास्तव में वहाँ पर स्तनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु शुक्रोत्पत्ति और स्तन्योत्पत्ति का मानसिक और शारीरकार्य की दृष्टि से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होता है (निदान के १० में अध्याय के १६ २१ श्लोक और उनका वक्ष्य देखो) इसलिए वहाँ पर उसका उल्लेख किया गया है। यह एक स्वतन्त्र वाक्य है, जिसकी पूति इस प्रकार से कर सकते हैं—स्तन-वह-द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ । तत्र रिद्धयास्तन्यता, चिरात् प्रसेके रत्तस-न्धता च । स्वतन्त्रवह धोतसों से Tubuli lactiferi of mam-
ma समझ सकते हैं।

आर्तवघट्टे प्र, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तवघाटिभ्य-
श्च धमन्यः । तत्र विद्वान्वा धमन्यात्वं मैथुनासदिप्यु-
ल्पमार्तवघनादाश्च ॥ २२ ॥

(आर्तवघट्टे धोतसू—) आर्तवघट्टे धोतसू दो हैं, उनका मूल गर्भाशय और आर्तववाही धमनियों हैं। वहाँ पर वेध होने से वण्डता, मैथुन कर्म की सदन म करना भी भावनासा होता है ॥ २२ ॥

वक्ष्य—आर्तवघट्टे शो-शू—आर्तव शब्द के दो अर्थ दूसरे अध्याय के आरंभ में बताये गये हैं—आर्तवशोषित (Menstrual blood) और शोषीश (Ova), इन दो अर्थों के अनुसार आर्तवघट्टे धोतसू के दो अर्थ हो सकते हैं—
(१) आर्तववाहिनवहन करने वाले धोतसू Blood vessels and capillaries of the uterus. (२) शोषवाहक धोतसू Fallopian tubes । वं शिरप्रवृत्ती तथा लघु मूत्र शोम आर्तवघट्टे धोतसू का दूसरा अर्थ करते हैं, परंतु यह अर्थ ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि इन आर्तवघट्टे धोतसों का सर्वत्र शोषीश वहन के साथ म होकर आर्तव रत्तवहन के साथ होता है। इसका उरर शिरासं चतुर्ध अपवाय

के निम्न वचन के 'दृश्यते' शब्द से मालूम होता है—
 गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्तमान्यन्वर्धयन्ते गर्भेण तस्माद्
 गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते ॥ पीछे २३व सूत्र का वक्तव्य भी
 देखो । आर्तवस्राव के समय गर्भाशय की श्लेष्मल कला के
 नीचे रक्तवाहिनियाँ (आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार
 आर्तव स्रोतस्) बहुत विस्फारित होती हैं और श्लेष्मल
 कला को तोड़कर मासिक स्राव के समय आर्तवशोणित को
 उत्सर्गित करती हैं । इन आर्तव स्रोतसों के मार्ग गर्भाधान
 होने पर श्लेष्मल कला की मोटाई काफी बढ़ जाने से बन्द
 हो जाते हैं, जिससे गर्भवती स्त्रियों में आर्तव दर्शन नहीं
 होता—The uterine mucous membrane undergoes
 extensive changes as a result of pregnancy. The
 mucosa as a whole grows to four or five times
 its former thickness. *Introduction to sexual
 Physiology by Marshall.* चरक में इन आर्तववह
 स्रोतसों (रजोवह) का सम्बन्ध प्रदर में वर्णन किया है—
 रक्तं प्रमायसुक्तम्य गर्भाशयगताः सिराः । रजोवहाः समाश्रित्य
 रक्तमादाय तद्रजः ॥ यस्माद्विबर्धयत्याशु रसभावोद्धिमानवा ।
 तस्मादसुन्दरं प्रादुरेतच्छन्निविशारादाः ॥ (चिकित्सा) । इससे
 यह स्पष्ट होगा कि आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशयगत
 रक्तवाहिनियों का ग्रहण उचित है, क्योंकि गर्भाशयगत
 रक्त ही आर्तव बनता है—तथा रक्तमेव च स्त्रीणां मासे मासे
 गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमित्याहुः ॥ (अष्टांगसंग्रह,
 शारीर १) । पं० गंगाधर शास्त्री आर्तववह स्रोतसों से
 गर्भाशय की श्लेष्मल कला (Uterine mucosa) समझते
 हैं । परन्तु यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्लेष्मल कला
 आर्तव का वहन नहीं करती है, परन्तु स्वयं आर्तव में प्रवाहित
 हो जाती है और गर्भाधान होने पर आर्तववह स्रोतसों का मार्ग
 अवरुद्ध करती है । आर्तववाही धमनियाँ—Uterine and
 ovarian arteries । तत्र विद्यायां बन्ध्यात्वम्—गर्भोत्पादन
 के असामर्थ्य को बन्ध्यात्व (Sterility) कहते हैं । पुरुषों
 की बन्ध्याता का विवरण पीछे २ अध्याय के २ सूत्र में किया
 गया है । स्त्रियों के बन्ध्यात्व का विवरण यहाँ पर दिया
 जाता है । हारीतसंहिता में स्त्रियों के बन्ध्यात्व के तीन
 प्रधान कारण विभाग दिये हैं—बन्ध्या स्यात् षट्प्रकारेण
 बाल्येनाप्यथवा पुनः । गर्भकोषस्य भङ्गाद्वा, तथा धातुक्षयादपि ।
 जायते न च गर्भस्य सम्भृतिश्च कदाचन ॥ (३-४८-७) । (१) बाल्ये-
 न—बाल्यावस्था में गर्भाशयादि अंगों की जो स्थिति होती है
 वैसी ही स्थिति युवावस्था में होने से । इस विभाग में
 Infantile uterus, coehleate uterus तथा अन्य सहज
 (Congenital) विकृतियों का समावेश कर सकते हैं ।
 (२) गर्भकोषभङ्ग—इसमें जन्मोत्तर (Acquired) गर्भाशय
 में होने वाले निज या आगन्तुक विकारों का समावेश कर
 सकते हैं । (३) धातुक्षय—इसमें सार्वदैहिक विकारों
 (General conditions) का समावेश कर सकते हैं, जिनके
 कारण शरीरगत धातुओं का क्षय या दौर्बल्य हुआ करता
 है—जैसे, उचित आहार का न मिलना, रक्तक्षय, पाण्डुरोग,
 घृदावस्था इत्यादि । यहाँ पर बन्ध्यात्व का जो कारण दिया
 है वह दूसरे विभाग में आता है । बन्ध्याता के निम्न चार
 महाव के प्रकार हारीतसंहिता में वहाँ पर दिये हैं—

काकबन्ध्या भवेच्चैका, अनपत्या द्वितीया । गर्भस्रावी तृतीया
 कथिता मुनिसत्तमैः । मृतवत्सा चतुर्थी स्यात् ॥ (१) काकबन्ध्या—
 जिसको एक बार गर्भधारणा हुई है और पश्चात् जो बन्ध्या
 हो गई है, वह काकबन्ध्या कहलाती है । काकीवदेकमात्रापत्यज-
 ननेन बन्ध्यात्वं प्राप्ता । काकबन्ध्या च या नारी मृतापत्या च या
 भवेत् । बहुपत्या जीववत्सा सा भवेन्नत्र संशयः ॥ (पद्मपुराण) ।
 काकबन्ध्याता को एकगर्भवन्ध्याता (One child sterility)
 कहते हैं । इसका कारण यह है कि प्रथम गर्भधारणा के समय
 स्त्री के शरीर में कोई खराबी न होने पर भी प्रसूति के समय
 या पश्चात् गर्भाशय में उपसर्ग (Infection) पहुँचने के कारण
 गर्भाशय या शीजवाहिनी (Fallopian tubes) में खराबी
 होने से दूसरी बार गर्भधारणा नहीं होती । औपसर्गिक पूयमेह
 या सोजाक (Gonorrhoea) और राजक्षमा (T. B.) इस
 प्रकार की बन्ध्याता के प्रधान कारण हैं । आगन्तुक कारणों
 की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रसूति के समय मूला-
 धार पीठ का विदीर्ण होना (Laceration of perineum)
 या गर्भाशय ग्रीवा का विदीर्ण होना (Laceration of
 cervix uteri) और वैसा ही रहना या चोट लगने के कारण
 इनका विदीर्ण होना और पश्चात् इनका द्वार पूर्णतया बन्द
 हो जाना Acquired atresia) ये प्रधान होते हैं । (२)
 अनपत्या—इसका अर्थ यद्यपि जीवित अपत्यविरहित ऐसा भी
 हो सकता है तथापि यहाँ पर 'जिसको गर्भधारणा कदापि
 नहीं हुई है, ऐसी स्त्री' यह अधिक प्रशस्त है । इस प्रकार
 को पूर्ण बन्ध्याता (Absolute sterility) कहते हैं । इसके
 कारण प्रायः सहज होते हैं । आगन्तुक कारणों में वेध-
 जन्य गर्भाशय ग्रीवा या योनिस्कोच प्रधान कारण हैं ।
 (३) गर्भस्रावी—जिस स्त्री को गर्भधारणा होती है, परन्तु
 तीन चार महीने में गर्भ का स्राव या पात प्रत्येक समय
 होता है, वह गर्भस्रावी कहलाती है । इसके कारण कुछ
 सहज और कुछ जन्मोत्तर होते हैं—जैसे, योनिगर्भाशय
 के अन्तःस्तर के विकार (Endometritis, Vaginitis etc.)
 तथा गर्भाशय के स्थानापसरण (Displacements) तथा
 उनके स्वाभाविक आकार की विकृति—जैसे, ग्रीवा
 और शरीर के बीच में अधिक चक्रता होना (Acute
 Flexions) इत्यादि । (४) मृतवत्सा जो गर्भधारणा
 होने के सातवें महीने के (२८वें सप्ताह के) पश्चात् प्रत्येक
 समय मृतगर्भ को जन्म देती है, वह मृतवत्सा कहलाती है ।
 जो बालक जन्म के समय १३ इञ्च लम्बाई में (सिर से पैर के
 तलुवे तक) होता है और जो माता से स्वतन्त्र होने पर भी
 चैतन्यहीन (चैतन्य का स्थान जो हृदय वह जिसका कार्यहीन
 होता है, ऐसा) होता है, वह मृतवत्सा या मृतगर्भ (Still
 born) कहलाता है और इस को मृतजन्म (Still birth)
 कहते हैं । गर्भस्राव के जो कारण होते हैं, वे इसके भी होते हैं ।
 इनके सिवा कुछ अज्ञात कारण भी हो सकते हैं । मैथुनासहि-
 ण्यत्वम्—मैथुन सहन करने का असामर्थ्य । यह असामर्थ्य
 मैथुन कर्म के समय होने वाली पीड़ा से उत्पन्न होता है । इस
 अवस्था को मैथुनकृच्छ्र (Dyspareunia) कहते हैं ।
 यहाँ पर वेध के कारण योनिगर्भाशय तथा उनके आस-
 आस के भाग पर घाव या व्रण होने से मैथुन में
 असहिष्णुता उत्पन्न होती है । इस आगन्तुक कारण के सिवा

गुद, वस्ति, मलाशय, योनि, गर्भाशय, बीजकोष इनके विकारों में विशेष करके शोषजन्य (Inflammatory) विकारों में भी मैथुनासहिष्णुता होती है। यह असहिष्णुता योन्त्याघेप (Vaginitis) से होती है। यह योन्त्याघेप या योनि का सकोष उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त मानसिक परित्यक्ति (जैसे, पति पर प्रेम न होना) के कारण भी उत्पन्न होता है।

सेवनाच्छेदाद्गुजाप्रादुर्भावं, यस्तिगुदविदलत्तयां प्रागुत्तमिति ॥ २३ ॥

सेवनी पर वेष होने से वेदना उत्पन्न होती है। यस्ति और गुद के वेष के लक्षण पहले कह चुके हैं ॥ २३ ॥

वक्ष्य—सेवनी—गुद से शिरनमूल तक जाने वाली रेखा (Perineal raphe)। प्राशुक्त्य—वस्तिमेद के लक्षण १६वें सूत्र में आनन्दवस्तिता इत्यादि और गुदवेष के लक्षण २० वें सूत्र में आनाहो, इत्यादि। यह सूत्र अरमरीसहकर्म में भी (चिकित्सा अध्याय ७) दिया गया है।

श्रोतोविद्ध तु प्रत्याश्यायोपचरेत् । उद्भूतश्लेष्म तु क्षतविधानेनोपचरेत् ॥ २४ ॥

(श्रोतोवेष की साध्यासाधना और चिकित्सा—) श्रोतो मूल में विद्ध हृद् को असाध्य समझकर (उसकी) चिकित्सा करे। श्लेष्म निकाले हृद् का क्षतचिकित्सा के अनुसार उपचार करे ॥ २४ ॥

वक्ष्य—श्रोतोविद्ध—यहां पर अब तक श्रोतोमूल विद्ध के ही लक्षण बताये गये हैं। इसलिये श्रोतोविद्ध से श्रोतो मूलविद्ध समझना उचित है। इसके सिवा प्रत्याश्याय (असाध्य) से भी यही अर्थ निकलता है, क्योंकि हृद् वस्ति तथा अन्य मूल मर्मांग होते हैं।

भवति चान्—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभियाहि यत् ।

श्रोतस्तदिति विज्ञेय सिराधमनिर्घर्जितम् ॥ २५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणे शारीर नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(श्रोतसू की व्याख्या—) मूल हृद् से शरीर में फैला हुआ, (रसादि का) जो वहन करता है, और सिराधमनी से जो धृक् है उस अवकाश को श्रोतसू जानना चाहिये ॥ २५ ॥

वक्ष्य—मूलात् खादन्—हृद्वादि अवकाशयुक्त या अन्तःसुषिर अंगों से। सिराधमनिर्घर्जितम्—सिरा और धमनी को छोड़कर। इस श्लोक का तात्पर्य इतना ही है कि शरीर में जो बड़ी बड़ी सिराएँ और धमनियाँ होती हैं, उनको छोड़कर जो नाडियाँ होती हैं और जो किसी अन्तःसुषिर अंग से सञ्चल रहकर उससे रसादि तरल पदार्थ का वहन करती हैं, वे श्रोतसू हैं।

अब इसके बाद धमनी और श्रोतसू का कोष्ठक अंग्रेजी पर्यायों के साथ दिया जाता है।

धमनीकोष्ठक

| | |
|-------------|--------------------------|
| नाम | पर्याय |
| शम्भवा धमनी | Internal auditory artery |
| रम्भवा धमनी | Lingual artery |

| | |
|---------------------|---|
| नाम | पर्याय |
| शम्भवा | Sphenopalatine branch of the internal maxillary |
| वोषकरा | Laryngeal artery |
| भाषण | Sublingual artery |
| शशुवारी | Lacrimal artery |
| रम्भवा | Mammary artery |
| प्रशासोच्छ्वासादिवा | Phrenic and intercostal artery |
| रम्भवादिनी | Superior mesenteric and colic arteries |
| शम्भवा | Renal or Vesical arteries |
| शुक्रवा | Testicular and spermatic arteries |
| शुक्रविसर्ग | Artery supplying epididymus seminal vesicle etc |
| भासुववा | Uterine and ovarian arteries |
| वर्चोनिरसनी | Inferior mesenteric and Colic arteries |

ऊर्ध्वागामी धमनीयाँ Aortic arch and thoracic aorta and branches

अधोगामी धमनीयाँ Abdominal aorta and its branches

निर्धमनीयाँ धमनीयाँ Cutaneous vessels

श्रोतसू कोष्ठक

| | |
|-----------------|---|
| प्राणवह श्रोतसू | Lung capillaries |
| अन्नवह | Oesophagus duodenum |
| उत्क्रवह | Lymphatics |
| रसवह | Capillaries |
| रक्तवह | Capillaries of the liver and spleen |
| मांसवह | Capillaries of the muscles |
| मेढोवह | Capillaries of the perinephric tissue and omentum |

| | |
|---------|-----------------------------|
| शुक्रवह | Renal tubules |
| पुरीषवह | Caecum and Colon |
| शुक्रवह | Ductus deferens |
| स्तनवह | Tubuli lactiferi |
| भासुववह | Blood vessels of the uterus |

इति भारकदासैण गोविंदरामेन विरचिताश्यायामुर्वेदरस्य दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां धमनीव्याकरणे शारीर नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातो गमिणीयाकरणे शारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् घन्वन्तरि ॥ १ ॥

अब इसके बाद गमिणीव्याकरण नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् घन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्ष्य—गमिणीव्याकरण—व्याकरण शब्द के श्ववस्थाकरण और विस्तारकरण इस प्रकार दो अर्थ होते हैं। शारीर शब्द के गर्भव्याकरण, शारीरसंख्याव्याकरण और धमनी-

व्याकरण इन स्थानों में व्याकरण शब्द का प्रयोग विस्तार-करण के लिए किया गया है। यहाँ पर प्रथम अर्थ के लिए किया गया है। आहार, विहार, प्रसूति इत्यादि गर्भिणी-संबंधित बातों की व्यवस्था जिसमें वर्णन की गई है, वह अध्याय गर्भिणीव्याकरण कहलाता है।

गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताप्राक्षण-गुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगान्नाणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोप-भुञ्जीत, वह्निर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षा-श्रयान् क्रोधभयसङ्करांश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभोदणं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवेत्, न चायासये-च्छरीरं, पूर्वाक्तानि च परिहरेत्, शयनासनं मृदास्त-रणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंवाधं च विदध्यात्, हृद्यं द्रव्यं मधुरप्रायं स्निग्धं दांपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदाप्रसवात् ॥ २ ॥

(गर्भिणी सामान्य परिचर्या—) गर्भिणी प्रथम दिन से लेकर प्रतिदिन प्रसवचित्त, पवित्र, अलङ्कारों से विभूषित, श्वेतवस्त्र धारण करने वाली, शान्तिहोम, मंगलकर्म, देवता, प्राक्षण और गुरु इनकी पूजा करने वाली होवे; मैले, रोगी और हीन (जाति के) शरीरों को स्पर्श न करे; दुर्गन्धयुक्त (पदार्थों), दुर्दर्शन (दृश्यों) और उद्वेग उत्पन्न करने वाली कथाओं का परित्याग करे; सूखा, वासी, सड़ा हुआ, क्लिन्न अन्न सेवन न करे; बाहर निकलना, शून्यगृह, चैत्य, श्मशान, घृष्टाश्रय, क्रोध और भययुक्त भाव, ऊँची आवाज़ से बोलना इनको तथा गर्भ का नाश करने वाले अन्य भावों का परित्याग करे; तंल की मालिश और उयटन आदि का वार वार सेवन न करे; शरीर को (बहुत) न थकावे; पहले बताये हुए (अपथ्यों) का परिहार करे; लेटने का और बैठने का स्थान (गद्दी तकिया इत्यादि) मृदु चर्खों से युक्त, न बहुत ऊँचा, अपाश्रय युक्त और वाधाविरहित बनावे; हृद्य, तरल, मधुरप्राय, स्निग्ध, अग्निदीपक (मरिच, जीरा इत्यादि) द्रव्यों से संस्कृत भोजन खिलावे। प्रसूति तक यह साधारण (परिचर्या) है ॥ २ ॥

वक्तव्य—प्रथमदिवसात् प्रभृति—गर्भस्थिति का ज्ञान 'श्रोमो ग्लानिः पिपासा' (तीसरे अध्याय का १३वाँ सूत्र) इत्यादि लक्षणों से होनेके दिन से लेकर प्रसूति तक। यह शब्दप्रयोग तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र के 'तदाप्रभृति' शब्द प्रयोग के अर्थ में किया गया है। इसका दूसरा भी अर्थ कर सकते हैं। ऋतुकाल के प्रथम दिन से याने ऋतुजातः दिन से। ऋतुकाल प्रारंभ दिन के संबंध में तीसरे अध्याय के छठे सूत्र का वक्तव्य देखो। अपथ्य की इच्छा करके स्त्री-पुरुष जब समागम करते हैं तब गर्भधारणा होगी, इस कल्पना से ऋतुस्नात दिन से ही स्त्री को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य रखना अधिक हितावह होता है। इससे गर्भधारणा की संभावना भी बढ़ती है तथा जिस गर्भ

का आधान होता है, उसके लिए पहले से ही सब तरह से अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न की जाती है। शान्तिमंगल इत्यादि—ये सब उपाय आस्तिकों के लिए हैं। इससे मनःशान्ति तथा मनोबल प्राप्त होता है। क्लिप्तम्—सड़ने के कारण जिससे पानी निकल रहा है। चैत्य—इसके कई अर्थ बताये जाते हैं—(चैत्यं देवताभिष्टिजो वृक्षः, अन्ये बोद्धालय-मादुः । (द्रवण) । चैत्यरत्न विशिष्टदेवताभिष्टिजो लोकप्रसिद्धो वृक्षविशेषः । बुद्धालय इत्यन्ये । (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय, सूत्र २) । चैत्यघृष्ट के ऊपर श्रीरामकृष्णादि सारिवक देवताओं का वास नहीं होता परंतु भूत, प्रेत, पिशाचादि तामस देवताओं का वास होता है। इसलिए चर्य के पास जाना अनुचित माना गया है। यदि चैत्य से बौद्धालय माना जाय तो वह परधर्म का होने के वजह से उसका निषेध किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। श्मशान—श्मशानः शवाः श्रेतेऽत्रेति श्मशानम् । दहन और दफन करने का स्थान। शुद्धवसना—शुभ्रवस्त्र निर्मलता का उच्च आदर्श होता है, इसलिए शुभ्रवस्त्र परिधान करने के लिए कहा है। चैमकुतूहल में शुभ्रवस्त्र के निम्न गुण वर्णन किये हैं—शुभ्रं च सुखदं वस्त्रं शीतातपनिवारणम् । न चोष्णं न च वा शीतं शुक्लं वस्त्रं च धारयेत् ॥ मलिनविकृतहीनगान्नाणि न स्पृशेत्—जो मनुष्य हमेशा गंदे रहते हैं, जो रोगों से पीड़ित होते हैं, तथा चमार, चण्डाल इत्यादि हीन जाति के जो लोग होते हैं और जो हमेशा गन्दे रहते हैं उनसे दूर रहना चाहिए। यहाँ पर 'हीन' शब्द हीन जाति के लिए और 'गान्ना' शब्द शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। पूर्वाक्तानि—तीसरे अध्याय के १९वें सूत्र में बताये हुए। अपाश्रयोपेतम्—

अपाश्रयते आच्छाद्यतेऽनेन इति अपाश्रयः, तेन सहितम् । अपाश्रय शामियाना की तरह ऊपर लगाने की एक वस्तु होती है। यहाँ पर इसका मतलब इतना ही है कि हमेशा ऐसे स्थान पर सोवे, जो ऊपर से खुला न हो। जैसे खुले आंगन में सोना। खुले स्थान में सोने में ओस या हवा से (Exposure) बीमार होने का डर रहता है। इसलिए गर्भिणी स्त्री हमेशा जो स्थान ऊपर से बंद हो, ऐसे स्थान में अपना विस्तरा लगावे। चरकसंहिता में विवृत स्थान में सोना गर्भिणी के लिए दोषावह माना गया है और उसका परिणाम गर्भ की उन्मत्तावस्था बतलाया है—विवृतशायिनी नक्तंचारिणी चोन्मत्त जनयति । (चरक, शारीर ८) । विवृते अनावृते देशे शयनशीला विवृतशायिनी । विवृतशायिनी तथा नक्तंचारिणी रक्षःप्रभृतिभूतामिममनोया भवति; ततश्च भूतैरभिभूतो गर्भ उन्मत्तो भवतीति युक्तम् । (चक्रपाणिदत्त) । इससे यह स्पष्ट होगा कि ऊपर अपाश्रयोपेत का जो अर्थ किया गया है, वही युक्त है। किंवा अपाश्रय से तकिया (अपाश्रयते शिरः यत्र) भी समझ सकते हैं। अपाश्रयोपेत से सिर के नीचे या बैठने के लिए जिस पर तकिया इत्यादि कुछ आश्रय स्थान हो, ऐसा। हाराणचन्द्र अपाश्रय से चन्द्रातप समझते हैं—अपाश्रयश्चन्द्रातपश्चेति पर्यायो । और द्रवण अपाश्रय से प्रतिवाहक समझते हैं—अपाश्रयोपेतं प्रतिवाहकसहितम् । ये दोनों अर्थ गौण मालूम होते हैं। अस्वभावम्—नींद में जिससे वाधा न उत्पन्न हो जाय, उस प्रकार का। जैसे जादों के दिनों में गरम कपड़ों से युक्त,

गर्भियों के दिनों में हल्के पतले कपड़ों से युक्त, मध्यम होने पर महादरी से युक्त, खटमल विरहित हत्यादि । हृद्यम्— इसके दो अर्थ होते हैं—(१) हृद्यमश्चिद्यम् । हृद्य के लिए हितकर अर्थात् हृद्य को बल देने वाला अथवा हृद्य को सकलिक न देने वाला । कुड्म अन्न ऐसे होते हैं कि जो सेवन करने पर हृद्यप्रदेश में जलन या बेचैनी पैदा करते हैं । जैसे उष्ण अन्न, तीव्रग मसालेयुक्त खाद्य द्रव्य— विदाहि द्रव्यसुदुग्धारमन्त्र कुपित्ता वृषाम् । इदि दाह च जनयेत् पाकं गच्छति तद्विराट् ॥ (भावप्रकाश) । इसी कारण से चरक और अष्टांगसमूह में विदाही द्रव्यों का गर्भिणी के लिए (आगे देखो) निषेध किया गया है । इसके सिवाय हृद्य का सम्बन्ध कुड्म अन्न की मात्रा के साथ भी होता है । अधिक मात्रा में अन्न सेवन करने पर उसका दूबाय हृद्य के ऊपर पड़ता है, जिससे हृद्य में घट्टकन, बेचैनी हत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं—अपीठनं भवेत् कुपे दास्येत्तोरवपीठनम् । अन्नेन हृद्यभागे अठरस्य तु गौरवम् । अर्थात् अधिक मात्रा में अन्न का सेवन अहृद्य होता है । (२) हृद्यस्य चिद्यम् । यहाँ पर हृद्य शब्द मन के लिए प्रयुक्त होता है । ऐसा अन्न हो, जो मन को पसन्द हो जाय अर्थात् रुचिकर । संक्षेप में हृद्य से हृद्य को याने शरीर को बल देने वाला, मध्यम मात्रा में सेवन किया हुआ, जो विदाही न हो तथा मन को पसन्द होने वाला, याने रुचिकर हो, ऐसा अन्न अभिप्रेत होता है । हृद्य सात्विक अन्न का एक महत्त्व का गुण है—आयु सरव बलादेश्चयुक्तमीतिविचरणा । रसा लिग्ना स्थिरा हृद्य आहारा सात्विकविया ॥ (भगवद्गीता १८) ।

गर्भिणी के स्वस्थपूत का विवरण इस सूत्र के सिवा पीछे तीसरे अध्याय के ११ वें सूत्र में तथा उसके वक्ष्य में किया जा चुका है । यहाँ पर उन्हीं विषयों का पुनःकरण गामक दृष्टि से फिर से संक्षेप में विचार किया जाता है । (१) आहार—गर्भिणी का आहार विशेष महत्त्व का होता है । इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि गर्भिणी को अपना तथा अपने गर्भ का पोषण करना पड़ता है । उससे उसके पाचक अंगों और हृत्, थक्का, फेफड़े इत्यादि मल्योत्सर्जन के अवयवों पर विशेष करके दृष्टकों पर अधिक काम पड़ता है । इसलिये आहार सुपाच्य, सुरोच्य और पीठिक होना चाहिए, उसमें शरीर में विषले पदार्थ कम बनने चाहिए, मलाबरोध न उत्पन्न होना चाहिए, उसमें स्रष्टिक (चूना Calcium) उचित मात्रा में होना चाहिए और जीवद्रव्य उपरिपन्न होने चाहिए । गर्भ अपने पोषण के लिए आवश्यक सब पदार्थ माता से ग्रहण करता है, और जब माता के आहार में उन पदार्थों की कमी होती है, तब माता को चति पहुँचाकर उसके शरीर से उठता है । इसका विशेष महत्त्व का उदाहरण चूना है । बालक को अपनी अस्थियों के लिए चूने की अधिक आवश्यकता होती है । यदि माता के आहार में चूना पर्याप्त मात्रा में हो तो कोई कठिनाई नहीं होती । जब माता के आहार में इसकी कमी होती है तब गर्भ माता की अस्थियों से तथा अर्द्धों से चूने का ग्रहण कर उठता है, जिससे माता में अस्थिघट्टता (Osteomalacia), हर्मिन्ट ये विकार उत्पन्न होते हैं । जीवद्रव्य 'ही' चूने के साम्यीकरण के लिए आवश्यक

होता है । उसके न होने से आहार में चूना होने पर भी उसका उपयोग अस्थिविकास में नहीं हो सकता । जीवद्रव्य 'पू' उपसर्गनाशक होता है । उसकी कमी से माता का औपसर्गिक (Infectious) रोगों की शिकार होने की संभावना होती है, विशेष करके प्रसूतिज्वर होने का बढ़ा दर रहता है । जीवद्रव्य 'बी' की कमी से गर्भपात—गर्भघाव, अकाल-प्रसव, मृतवत्सज्जम् इत्यादि आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । इस दृष्टि से, माता के आहार में दूध, मूत्रा, माखन, घी, चावल, गेहूँ की रोटी, अण्डा, प्याज, गोभी, मूली, पालक, टोमाटो, शलगम, गाजर, आदि हत्यादि साग-सन्निवर्षा, संतरा, सेव, आम, अनार, द्राक्षा इत्यादि फल होने चाहिए । मांस, मद्य, चाय, काफी इत्यादि उत्तेजक पदार्थ, मिर्च, मसाले, अचार इत्यादि तीक्ष्णोष्ण पदार्थ बहुत कम होने चाहिए । संक्षेप में, गर्भिणी का आहार सात्विक हो प्रत्येक, चार बह मध्यम मात्रा में उसके सेवन करे, जिससे कुपि में पीदा न हो सके । परंतु दिन रात में आहार की राशि इतनी हो कि वह उसके लिए तथा उसके बालक की वृद्धि के लिए पर्याप्त हो जाय—वृद्धेय, गर्भिलोच्युक्तवान इत्यात् । मांसचोरिनाभपिर्मधुरलिष्णवस्तिभिः ॥ (अष्टांगसमूह, सूत्र २४) । न मदकरति मयान्म्यवरेद, न मांसमवनीयात् । (चरक, शारीर ४) । गर्भस्त्वामगमेषु । (अध्याय १०) । (चरक, शारीर ६) । गर्भस्त्वामगमेषु च भागमेषुल्लादि रूपेण सपुदिनामा मांसादीनां सम्यग्भिषक्तानां च वृद्धिस्थिते । (चक्रपाणिदत्त) । समासत सर्वमतिरुक्त्युत्पीरुक्कचक्रपाण (गर्भोपवाकचक्रात्न सेवेत) । (अष्टांगसमूह, शारीर २) । नवनोपवृत्तोरै सना चैनामुपाचरेत् ॥ उपवासाववनीरुक्लोष्णगुरु विहग्भिभोजनम् (स्थवेत्) । (अष्टांगसमूह, शारीर १) । निषिद्ध आहार और कुड्म द्रव्यों के अतियोग के संबंध में चरक में लिखा है—अचरित्या पिशासात्तुमन्वसृतिमनवस्थित विच वा, गोभामांसराया शार्कलियमरमरिषं अनेमिह्य वा, ब्राह्ममांसराया रक्षाघ कृपनमनिपस्त्रोमाद्य वा, मत्स्यमांस नित्या विनिमेष रक्ष्माद्य वा, मधुरनित्या प्रवेष्टिय मूकमरिषुल वा, भस्त्रनित्या रक्षपिचिन स्वगच्छिरोगिण वा, लक्ष्मनित्या क्षीप्र वलीपक्षितं क्षालिस्वरोगिण वा, कटुकनित्या दुर्बलमपुत्रमनवस्थ वा, निचनित्या क्षोषिस्वमवमपुचिन वा, कृपाचनित्या रदाव-मानातिनमुदावतिन वा । वयच वस्य वस्य म्कषेनिदानमुक्तं तपरासेवमानाऽनर्बकी क्षीप्रमिचिविचारवृद्धमपत्य अनवदि । तस्मादरिदानाहारविहारान् ब्राह्मणवर्त्मिकादीं क्षी रिशेव्य वर्जयेत् ॥ (चरक, शारीर ८) । डा० निकोलस गर्भवती की के आहार के संबंध में लिखते हैं—Her diet should be moderate, simple, pure and perfectly healthful consistig chiefly of brown bread and its equi-valents, Fruit, milk, vegetables, with little, if any, flesh meat, no heating or exciting condiments, and no tea, coffee, or alcohollic stimulents. *E clens Anthropology* (१) स्वच्छा—इसमें शरीर की अल्पमात्र स्वच्छता का समावेश होता है । काष्ठ स्वच्छता में स्नान के द्वारा स्वच्छा की सर्वाङ्ग, निर्मल छत्र वक्षपरिधान, मलिन वस्त्रादि दूर रचना, स्नान के समय तथा मध्यम विमर्शन के पश्चात् प्रत्येक समय गुच्छाणी की

स्वच्छता, इनका समावेश होता है। अन्तःस्वच्छता में मल-
मूत्र के आवेशों को न रोकना (वेगविधारणं त्यजेत् । अष्टांग-
हृदय), पर्याप्त मात्रा में जल सेवन करके मूत्र के द्वारा
विपैले पदार्थों को बाहर निकालना, मलावरोधक आहार
को न सेवन करके जिससे कब्ज पैदा न हो ऐसे साग, सब्जी,
फल—इनका सेवन करना; मलावरोध होने पर मृदु विरेचन
(जैसे, परंठी का तेल, लिफ्ट पैराफिन) से कब्ज को दूर
करना, खुली हवा में प्रतिदिन सुबह-शाम थोड़ी देर तक
टहलकर फुफफुस के द्वारा रक्तशुद्धि करना इत्यादि बातों
का समावेश होता है । वहिर्निष्क्रमण—यहाँ पर इनका
विचार करना आवश्यक है। बाहर जाने का निषेध इस सूत्र
में किया गया है । इनका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्री
घर के बाहर ही न निकले, न खुली हवा में टहलने के लिए
जाय । वहिर्निष्क्रमण का निषेध दो दृष्टि से किया गया है ।
प्रथम दृष्टि स्थान की होती है । चैत्य, श्मशान, कब्रस्तान,
चत्वार, शून्यस्थान, वध्यस्थान इत्यादि मन में उद्भेग,
विषण्णता, भय इत्यादि भाव उत्पन्न करने वाले स्थानों में
जाने का निषेध इसलिए होता है कि ये भाव माता के द्वारा
गर्भ पर भी स्राव परिणाम करते हैं । दूसरी दृष्टि स्त्री की
होती है । लज्जा स्त्री का एक स्वाभाविक गुण है । स्त्री का
यह गुण पुरुषसमाज में जाने पर अधिक प्रकट होता है ।
उसमें भी यदि स्त्री गर्भवती हो तो अधिकतम स्पष्ट हो
जाता है । लज्जा के मारे स्त्री स्तिर नीचा करके और छाती
सिकोड़कर चलती है । ऐसी अवस्था में वहिर्निष्क्रमण से
उसको कुछ भी फायदा नहीं हो सकता । इसलिए गर्भवती
स्त्री को ऐसे स्थान में न जाना उचित है, जहाँ पर उसको
अधिक लज्जा मालूम हो और लज्जा के मारे चलने फिरने में
पाधा उत्पन्न हो जाय । देवताओं और साधु-संतों के दर्शन
के लिए, कथा पुराण प्रवचनादि धार्मिक कथा सुनने के लिए
बाहर जाने में कोई आपत्ति नहीं होती है । प्राचीन काल में
स्त्रियाँ इन्हीं कारणों के लिए बाहर जाया करती थीं । आधुनिक
काल के समान केवल टहलने के लिए बाहर जाने का रिवाज
उस काल में नहीं था । देवता-ब्राह्मण गुरुपरता जैसे घर में
होती थी, वैसे ही बाहर जाकर उनके दर्शनों और पूजाओं
द्वारा भी होती थी । इसलिए वहिर्निष्क्रमण का निषेध चैत्यादि
स्थानों के लिए तथा जहाँ पर स्त्री को मानसिक स्वतन्त्रता
नहीं मिल सकती, उन स्थानों के लिए समझना उचित है ।
(३) मनःशान्ति—उत्तम आहार, पर्याप्त गाढ निद्रा, अनुकूल
अनुद्भेगकर हृन्दिवार्य, आस्तिक्य, ये मनःशान्ति प्राप्त करने
के उपायों में महत्त्व के उपाय हैं । इनमें 'हृद्यं द्रव्यं शुष्कं
पशुपितम्' से उत्तम आहार का दिग्दर्शन, 'शयनास्तरणम्' से
रात में उत्तम गाढ निद्रा प्राप्त होने के उपाय का दिग्दर्शन,
'दुर्गंधदुर्दर्शनानि उद्देजनीयाश्च कथाः, क्रोधमयसंकराश्च भावान्'
इस से अनुकूल हृन्दिवार्य (चरक में लिखा है—सर्वेन्द्रियप्रति-
कृन्नाश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत् । शारीर ४), 'शान्तिमंगल'
से आस्तिक्य का दिग्दर्शन किया गया है । गर्भिणी के स्वस्थवृत्त
में उसकी मानसिक स्थिति एक महत्त्व का अंग है । यह
मनःस्थिति गर्भ के ऊपर कैसे और कितने अंश में परिणाम
करती है यह यद्यपि ठीक नहीं कहा जा सकता, तथापि
गर्भिणी का मनःस्वास्थ्य गर्भस्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक

है, इसको पाश्चात्य पण्डित भी मानते हैं—The mental
condition and the surroundings of the pregnant
woman are of importance, in as much as they
largely influence her physical well being and
hence that of the foetus. A pregnant woman
should, as far as possible be sheltered from all
influences which tend to give rise excitement,
annoyance or depression. *Gellé's Midwifery*.
No work should worry her no anxiety disturb
her, no lust excite or torment her. *Leoteric
Anthropology*. (४) प्रत्यक्ष गर्भघातक कर्म—यद्यपि उपर्युक्त
तीनों विषय अप्रत्यक्षतया गर्भ के लिए घातक हो
सकते हैं, तथापि उनका प्रत्यक्ष गर्भ से कोई संबंध नहीं
है । परंतु अतिव्यवाय, अनिश्चयायाम, अधिक भारी बोझ
उठाना, उत्कटकासन, वेगविचारण, उदर के ऊपर प्रहार,
प्रपीडन, अतिमात्रसंभोगक यान में सवारी करना, तीव्र
धमन विरेचन ये तथा इस प्रकार के अन्य दारुण कर्म
गर्भपात या गर्भस्राव में प्रत्यक्ष सहायता करते हैं ।

संक्षेप में गर्भिणी को पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक आहार
सेवन करना चाहिए । शरीर की अन्तर्वाद्या स्वच्छता रखनी
चाहिए, मन को प्रमत्त और शान्त रखना चाहिए और मन
की शान्ति को बिगाड़ने वाले तथा गर्भ के लिए घातक कर्मों
से दूर रहना चाहिए ।

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु
मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत्, विशेषतस्तु
तृताये पष्टिकोदनं पयसा भोजयेच्चतुर्थे दध्ना पञ्चमे
पयसा षष्ठे सर्पिणा चेत्येके, चतुर्थे पयोन्वनीत-
संशुष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं भोजयेत्,
पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंशुष्टं, षष्ठे श्वदंप्रासिद्धस्य सर्पिणो
मात्रां पाययेद् यवागूं वा; सप्तमे सर्पिः पृथक्-
पर्ण्यादिसिद्धम्, पंचमाप्यायते गर्भः, अष्टमे वद-
रोदकेन चलातिचलाशतपुष्पापललेपयोद्धिमस्तु-
तैलतवणमदनफलमधुघृतमिश्रणास्थापयेत् पुराण-
पुरीषशुद्धयर्थमनुलोमनार्यं च वायोः, ततः पयो-
मधुरकपायसिद्धन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि
वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं
स्निग्धाभिर्यवागूमिजाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकाला-
त्; पवमुपक्रान्ता स्निग्धा चलवती सुखमनु-
पद्रवा प्रसूयते ॥ ३ ॥

(गर्भिणी का मासानुमासिक आहार-क्रम—)
विशेषतया गर्भिणी प्रथम, द्वितीय और तृतीय महीने में
मधुर, शीतवीर्य, तरलभूयिष्ठ आहार सेवन करे । विशेष
करके तीसरे महीने में साठी चावल के भात को दूध के
साथ खिलाने, चौथे (महीने) में दही से, पाँचवें (महीने)
में (फिर) दूध से, छठे (महीने) में घी से ऐसा कुछ
आचार्यों का कथन है । चौथे महीने में दूध और मक्खन
के साथ, जांगल (प्राणियों के) मांस से युक्त हृद्य

(रुचिकर) अथ खिलाने। पांचवें (महीने) में दूध और घी से युक्त (अथ खिलाने)। छठे (महीने) में गोखरू से मिश्र घी या यवागू माशानुसार पिछावे। सातवें में घृणकपर्णी (विदारिगन्धादिगण) आदि द्वारा साधित घृत (खिलावे)। इस प्रकार गर्भ परिवर्धित होता है। आठवें में बला, अतिबला, क्षतपुष्पा, पल्ल, दूध, बही का पानी, तेल, नमक, मैनफल, शहद और घी (इन यस्तुओं) से मिश्रित बेर के फाय से पुराने मूठ के विसोधन के लिए तथा (अपान) वायु के अनुलोमन के लिए आभ्यासन (निरुहर्षस्त) करावे; उसके पश्चात् दूध और मधुर (गण की ओषधियों के) काढ़े से सिद्ध किये हुए तेल का अनुवासन करावे। वायु अनुलोम होने पर (गर्भिणी छी बालक को) सुख से जन्म देती है और उपद्रवविरहित होती है। इसके पश्चात् प्रसवकाल तक स्निग्ध यवागुहों और जौगल (प्राणियों के मीसे) रसों द्वारा (उसकी) चिकित्सा करे। इस प्रकार (प्रथम मास से प्रसव काल तक) उपकान्ता (गर्भिणी) स्निग्ध और बलवान् (होकर) उपद्रव के सिवा सुख से प्रसूत होती है ॥ ३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का मासानुमासिक आहार-क्रम वर्णन किया है। श्लोक—यद् मतभेद 'विशेषतस्तु नूनोपे वृत्तिकीरनन्' से 'पठे सपिचा' तक है। घृणकपर्णी—घृनि-पर्णी, विदारिगन्धादिगणनाम ओषधि। आदि द्रव्य से विदारिगन्धादिगण का प्रहण कर सकते हैं। पनल—पनल शब्देनात्र प्रायश्चक्रानुमासयोरेव परिग्रहं क्रियते। अत बलादीनां चतुर्णां शरारमित्थ काय पयप्रभृतीनां त्रयाणामभ्यंशरावो मधुनैतदुपगानां प्रत्येकशः करों तवद्यमदनवीलु शण्य एवातमास्था पनाय ॥ (हारणचन्द्र)।

सातवें महीने से उदर पर क्लिफिस (तीसरे अध्याय के १०वें सूत्र का वक्तव्य देखो) तथा कण्डु उत्पन्न होती है। उसकी चिकित्सा चरक में लिखी है—उत्र कोतोदकेन नवनोनत्य मधुरीषधिसिद्धस्य पाणितलमात्रं काले कानेउर्ये पानार्थं दद्यात्। चन्दनमृणालकल्केश्वास्या स्वनीशर विष्ट्रीणात्। शिरीष धानकीमर्षपम्पकजूलीर्वा, कुटजाज्वंकीअमुसहरिद्राकल्केर्वा निम्बकोलसुमरजिष्ठारकैर्वा, श्रवणहरिसुशराधिरसुवया विक्रणया वा, करवीरपत्रसिद्धेन तैलेनाम्यञ्ज, परिषेक पुनर्नालनी मधु-मिदनाममसा, जाकण्डुश्च कण्डुवन नर्मैस्त्वनभेदैरैकस्य परिहारार्थं, भसदायां द्व कण्डुवायुमर्दनीद्वयंश्याभ्यां परिहार स्यात्। मधुरमाहाशयत् वायुहरमल्पनस्नेहलवणमलोदकानुपान च भुञ्जीत्। (शारीर ८)। अनुनाशयेद्—चरकसंहिता में अनुवासनवस्तु के लिए प्रयुक्त तैल से गर्भिणी की योनि में तैलपिचु रखने के लिए लिखा है—पथर्वश्यास्तेलाय पिचु योनि प्रणयेत्प्रस्थानमार्गंस्नेहनायम् ॥ योनि में रखने की ओषधियुक्त रुई को मेडिकेटेड टम्पून (Medicated ta poo) कहते हैं। गर्भस्थानमार्गं स्नेहन करने के लिए योनि में तैलपिचु (Oiled tampon) रखने की कृति में बहुत ब्यावहारिक तथ्य भरा है। तैलपिचु एक प्रकार से योनिमार्ग का अम्यङ्ग है। अम्यग से जैसे स्वधा मृदु होती है, उसकी रूपता दूर होती है, रूदन नहीं होता, बहू तनाव सहन कर सकती है, जैसे ही तैलपिचु से योनिमार्ग मृदु होता है, उसकी रूपता दूर होती है, उसमें रूदन

नहीं होता और वह तनाव सहन कर सकता है। ये सब गुण प्रसूति के समय योनिमार्ग में आवश्यक होते हैं क्योंकि उस समय उसमें काफी तनाव पैदा होता है। यदि उसमें मृदुता और तनाव सहन करने की शक्ति न हो तो उस समय उसमें विदार (Laceration) उत्पन्न होने का डर रहता है। आधुनिक काल में प्रसूति के समय जननेन्द्रिय की सफाई करने के लिए, विविधि प्रकार के जीवाणुनाशक या उपमार्गनाशक ओषधियों के घोल प्रयुक्त करते हैं। इनके सम्बन्ध में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि इनके प्रयोग से जननेन्द्रिय में सखती पैदा न हो जाय, बल्कि कुछ स्नेहन हो। इस दृष्टि से रसचक्र का घोल यद्यपि उत्तम जीवाणुनाशक होता है तथापि सखती पैदा करने के कारण पसंद नहीं किया जाता, क्योंकि उसके उपयोग से विदारण होने की सम्भावना होती है। सक्तव्यपत्र (Lysol) इसलिये पसंद किया जाता है कि उससे कुछ मृदुता तथा स्नेहन पैदा होता है—In all cases, the external genitals must be well washed by the nurse with soap and water and then bathed with an unirritating antiseptic for this purpose lysol is most suitable. The use of corrosive sublimate for this purpose during labour is contra-indicated, as it constricts the parts, and so makes them prone to lacerate *Gellett's Med-iculary* इसलिये, नौवें महीने से योनि में तैलपिचु धारण करने की प्रवृत्ति प्रसूति के समय अपत्यमार्ग विदारण से बचने के लिए बहुत उत्तम है, इसमें कोई सरई नहीं है और इसका उपयोग जरूर करना चाहिए। रात में सोने के समय इसका प्रयोग करने से और सुबह के समय उसको निकाल देने से ही को किसी प्रकार की असुविधा या तकलीफ या बेचैनी नहीं मालूम होगी। अनुपद्रवा प्रयत्ने—यहाँ पर केवल प्रसूति के समय के उपद्रवों का विचार करना है। प्रसूति के पूर्व और पश्चात् जो उपद्रव होते हैं, उनका विचार आगे १८वें श्लोक में किया गया है। प्रसव-कालीन उपद्रव अधिकतर गर्भाशय की विकृति से उत्पन्न होते हैं। गर्भाशय में अत्यन्त प्रबल सक्काच उत्पन्न होने से साहस प्रसव (Precipitate labour) होता है, जिसमें अल्पकाल में बालक तोप के गोले की तरह अचानक बाहर फँका जाता है। यदि अल्पमार्ग ठीक विरफारित न हुआ हो तो उसमें विदारण पैदा होता है और प्रसव चर रक्तप्राव भी होता है। कभी कभी गर्भाशय में कमजोरी के कारण सक्कोच उत्पन्न ही नहीं होते या अल्पबल होते हैं, जिससे गर्भ आसय के बाहर नहीं आ सकता। इस सक्कोच-हीनावस्था को गर्भशयासग (Uterine inertia) कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्रस्थान के ३३ वें अध्याय के १२वें श्लोक में 'गर्भकोप परासग करके किया गया है। इस गर्भाशय को विकृति के सिवा प्रसव के समय अपत्यमार्ग का विदारण भी होता है। इस सूत्र में तथा इसके पहले और तीसरे अध्याय में है। इस सूत्र में तथा इसके पहले विदार के अनुसार गर्भिणी की परिचर्या करने से कालप्रसवपूर्व प्रसवकालीन तथा कुछ अंश में प्रसवोत्तर उत्पन्न होने वाले उपद्रव टल जाते हैं।

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ततिथ्यादौ, तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवंश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु विद्वन्व्यग्रोधतिन्दुकमल्लातकनिर्मितं सर्वांगारं यथासङ्गं तन्मयपर्यङ्गमुपलिसर्भितं सुविभक्तपरिच्छिदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽऽहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसंपन्नं विधेयम् ॥ ४ ॥

(सूतिकागार—) नौवें महीने में शुभ तिथ्यादि पर उसको सूतिका घर में प्रवेश करावे । यह सूतिकागृह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों (की स्त्रियों) के लिए क्रमशः सफेद, लाल, पीली और काली भूमि पर बेल, बरगद, तिन्दुक और भिलावे (की लकड़ी) से निर्मित, इन्हीं (की लकड़ी) से निर्मित पलंगयुक्त, जिसकी दीवाल लीप-पोतकर अच्छी तरह साफ की गई हो, जिसमें (प्रसवोपयोगी सब) सामग्री यथास्थान रक्खी गई हो, जिसका द्वार पूर्व या दक्षिण की ओर हो, आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा और रक्षामङ्गलसंपन्न, ऐसा बनावे ॥ ४ ॥

वक्तव्य—सूतिकागारम्—यत्र गर्भिणी प्रसूता यत्र च तिष्ठति तत् सूतिकागारमुच्यते (चक्रपाणिदत्त) । नवमे मासि—नौवें महीने में गर्भिणी सूतिकागृह का आश्रय करती है, इसलिए सूतिकागृह आठवें महीने के अन्त तक सब तैयार हो जाना चाहिए—प्राक् वैशारया नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेत् । (चरक) । प्रशस्ततिथ्यादौ—तिथ्यादि पंच अंगों की प्रशस्तता जिस समय हो, उस समय पर—निधिर्वाश्च नक्षत्रं यागः करणमेव च ॥ नौवाँ महीना प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम जो तिथ्यादि शुभ योग मिलेगा, उस योग पर । चरकसंहिता में सूतिकागार प्रवेश की विधि निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्याहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणे च कारये मैत्रे सुहृते शान्तिं कृत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादी प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वाऽदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत् । ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणं समनुवर्तमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत् सूतिकागारम् । (शारीरस्थान ८) । सूतिकागार में एक बार प्रवेश करने पर स्त्री वहाँ पर प्रसवकाल तक रहती है और उसके पास हमेशा प्रजननकुशल स्त्रियाँ भी रहा करती हैं—त्रयोदीचेत सा सति सूतिका परिवारिता । (अष्टांगहृदय) । अहमत्र प्रसवित्वे इति चेतसि विधाय सा गर्भिणी तत्राऽसीदित्यर्थः । किंभूता सूतिका परिवारिताऽनेकवारप्रसवानुभूतनक्कालोचितव्यवहारकुशलाभिः स्त्रीभिः परिवारिता । (अरुणदत्त) । अरिष्टम्—सूतिकागारम्—अरिष्टशर्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा । (रघुवंश ३) । ब्राह्मणक्षत्रिय इत्यादि—चरकसंहिता में ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्णों की दृष्टि से भूमि और काष्ठ की प्रशस्तता न बतलाकर साधारण प्रशस्तता बतलाई है—अपह्वाविशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धार्था भूमौ वैल्वानां खाद्यानाम् आगारं कारयेदिति संबंधः । (चक्रपाणिदत्त) । तैन्दुकैस्तृणैश्चान् अल्लान्कानां वास्यानां खादिरार्यां वा । (चरक) । नवांगारम्—प्रसूतिगृह का जो भाग लकड़ी से बनाया

जाता है—जैसे, चौखट, किवाड़, खिड़कियाँ, अलमारियाँ, खँटियाँ इत्यादि—वह सर्व भाग जिसमें उपर्युक्त वृष्टों की लकड़ी से निर्माण किया गया है । यथासंख्यम्—इसका संबंध भूमि, लकड़ी और पलंग के साथ है । अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के लिए भूमि श्वेतवर्ण हो, मकान की लकड़ी बेल की हो, और खटिया भी उसी की बनाई जाय । इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भी समझ लेना चाहिए । सुविभक्तपरिच्छिदम्—जिसमें प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री (परिच्छिद) इस प्रकार विभक्त याने व्यवस्थित रक्खी हुई है कि आवश्यकता के समय वहाँ की प्रत्येक वस्तु आसानी से और शीघ्रता से मिल सके । चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री का वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है—तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालविडलवणविडङ्ग-शुडकुष्ठकिलिमानागरपिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीमण्डूकपर्णलाला-भ्रूलोचनचाचव्यचित्रकचिरवित्वहिक्षुसर्षपलशुनकतककण्यकणिकानीपात-सौवर्चलजम्बूकेकुलत्थमेरियसुरासवाः सन्निहिताः स्युः, तथाऽ-श्मानो द्वौ, द्वे च(कु)ण्डमुसले, द्वे ऊदूखले, खरवृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूत्रीपिप्पलीकौ सौवर्णराजतं, शक्याणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च वित्त्वमयौ पयङ्गी, तैन्दुकैस्तृणानि च काष्ठान्ग्निनसन्धुक्षणाणि ॥ असनालेपनाच्छद्दनाधिधानसंपदुपेतम् ॥ दक्षिणद्वारं वा—चरक में दक्षिण के बदले उत्तर दिशा में द्वार बतलाया है—प्राग्द्वारमुदरद्वारं वा । साधारणतया दक्षिण दिशा यम की होने के कारण अशुभ मानी जाती है । अष्टहस्तायतं चतुर्हस्त-विस्तृतम्—आधुनिक परिभाषा के अनुसार १२-१४ फुट लम्बा और ६-७ फुट चौड़ा प्रसवागार होगा । केवल स्त्री के लिए यह स्थान पर्याप्त हो सकता है, परन्तु प्रसूति की दृष्टि से यह स्थान अपर्याप्त मालूम होता है । चरकसंहिता में कई जगह गृहों का वर्णन किया गया है । जैसे—कुमारागार, सूतिकागार (शारीर ८), वैद्यगृह इत्यादि । परन्तु कहीं पर रोगी के लिए स्थान की मर्यादा नहीं बताई है । इनमें वैद्यगृह का वर्णन एक दृष्टि से आदर्श वर्णन है, इसलिए उसका वर्णन नीचे दिया जाता है—दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामनभिगमनीय-मनिष्टानां च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सोदपासोदूषलमुसलवर्चः-स्थानखानभूमिमहानसं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव वावत् पूर्वमुपकल्पयेत् । (सूत्रस्थान १५) । जहाँ पर स्त्री तीन चार महीनों तक रहेगी वहाँ पर ज्ञान करना, पाखाना, पेशाब करना, रसोई बनाना, उपर्युक्त सब साधनसामग्री रखना, प्रसूता के पास रहने वाली कोई स्त्री या नौकरानी का रहना इन सबों के लिए स्थान की आवश्यकता होगी । केवक एक गर्भवती या प्रसूता स्त्री की खटिया रखने से काम नहीं चलेगा । चरकसंहिता में इन सब बातों का विचार करके लिखा है—सूतिकागारं कारयेत्, वास्तुविद्या हृदययोगाक्षिसलिलोदूषलवर्चःस्थानखानभूमिमहानसमृत्सुख च ॥ अर्थात् सूतिकागृह काफी विस्तृत होना चाहिए, जिसमें ज्ञानगृह, वर्चोगृह (पाखाना), महानस (रसोई घर) तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए काफी स्थान हो । इसके सिवा सब साधन-सामग्री रखने पर भी उसमें संचार करने के समय किसी प्रकार की कठिनाई न होनी (सुखप्रविचारम्) चाहिए । इससे यह स्पष्ट होगा कि ४×४ हाथ का यहाँ पर

वर्णन किया हुआ सूतिकागृह स्त्री के उठने, बैठने, लेटने का ही स्थान समझना चाहिए। उसमें ध्यानगृहादि का समावेश नहीं हो सकता। रचामङ्गलसम्प्रबन्ध—भूत, भ्रत, पिशाचादि से रक्षा करने के लिए ऋग्यजुःसामाथर्ववेद के मन्त्रों का पाठ तथा सर्पपारिष्ट का धूपन (सूत्रस्थान १९-२६, २७ देखो) इत्यादि का प्रबन्ध जिसमें किया गया हो—गुणितानि सद्युष्ट मशकाद्यवर्जितम् । मशकौषैः सवादिर्वैविधित वेद्यम शक्यते ॥

(कार्यपसंहिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय) । किंवा चरक के अनुसार निम्न प्रबन्ध जिसमें किया गया हो—आदनी सधिरकल्पुपीलुपक्षकशास्ताभिरस्था गृह समन्वत, परिवारयेत् । सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्पपतसोत्पुनवणकणिका । प्रतिक्रियुः । द्वारे च मूलस दैवलीमनुविरधीन न्यसेत् । ववावृष्यसोमकविभु सर्पपानसीलुनकणकणिकानां रजोमसमाह्वानानामोषधीनां । पोष्ट-लिकां रक्षा सूतिकागारस्योत्तरदेश्व्यामवसूजेत्, तयैव च द्रव्यो-द्वारपचयोः । अनुपस्तप्रदानसज्जलाशोः सुविधीनवाश्रित च तद्वेदन कायम् । (शारीर १०) । सनिशगार कैसा होना चाहिए?—चरक तथा सुधृत में सूतिकागृह का जो वर्णन मिलता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय प्रसूति के लिए रहने के मकान से स्वतन्त्र स्थान बनाने की पद्धति प्रचलित थी। प्रत्येक समय अस्थायी स्वरूप की झोपड़ी की तरह ये सूतिकागृह बनाये जाते थे, ऐसा मालूम होता है। आधुनिक परिस्थिति में इस प्रकार का प्रबंध कुछ अभ्यावहारिक मालूम पड़ता है। परन्तु यदि इस प्रकार के गृह स्थायी और पक्के बनवाये जायें तो इनकी तुलना आधुनिक प्रसूति-गृहों (Maternity-homes) के साथ की जा सकती है। कुछ भी हो यह पद्धति उत्तम है, इसमें कोई शक नहीं है। आधुनिक प्रसूतिगृह सब साधन-सामग्री से सुसज्ज, सुप्रकाश युक्त, स्वच्छ और हवादार होते हैं। अब हमारे यहाँ इस समय प्रसूति के लिए घर में ही एक कमरा दिया जाता है। यदि उसकी ओर ध्यान दिया जाय तो वह अत्यन्त अंधेरा, हवायें और अत्यन्त गर्मा होता है। इस प्रकार कारणान प्रसूति के लिए देना अस्वास्थ्यजनक ही नहीं, बल्कि हानिकारक है। इसके साथ साथ आधुनिक प्रसूति-गृहों में पाश्चात्यों की देखा-देखी प्रकाश और हवा का जो अतिकोष होता है, वह भी ठीक नहीं है। प्रसूति-गृह में प्रकाश और हवा का प्रबन्ध प्रसूता स्त्री और नवजात बालक की दृष्टि से हीना आवश्यक है। प्रसूता स्त्री बीमार नहीं है कि उसके शरीर से तथा मास-प्रभास से खराब चीजें और वायु अधिक मात्रा में निकलती हैं। प्रसूता स्त्री प्रसववेदन और रक्तस्राव के कारण अत्यन्त परिधात होती है। प्रसूता स्त्री के रोग के असाध्य होने के कारणों में इसी कारण का ही प्रामुख्य से निर्देश किया गया है—गर्भद्विषयविनिश्चितिसर्व-प्राप्तत्वात्, प्रभासवेदनाद्देहदर्शनं सुधिविषेष्टान्यधरीतरात्वात् । (चरक) । परिधातु दुर्बल मनुष्य आराम करने के लिये, हमेशा हवा के भोके-झपाटे से दूर (निजात) ओर कुछ अंधेरा ही स्थान पसन्द करता है, और डाक्टर वा घैष भी ऐसे ही स्थान में आराम करने की सलाह उसको देते हैं। अब गर्भ की दृष्टि से विचार किया जायगा। गर्भ महीनों तक हवा और प्रकाश के लिए श्वं स्थान में रहता है। जन्म के पश्चात् वह हवा और प्रकाश के स्थान में आता

है। जन्म के पश्चात् बालक को हवा की आवश्यकता होती है परन्तु प्रकाश की नहीं होती। एक दृष्टि से देखा जाय तो उसकी आँखें प्रकाश सहन करने की स्थिति में नहीं होतीं। निम्न श्रेणी के प्राणियों में, पक्षियों में, बच्चों की आँखें कुछ दिनों तक बन्द रहती हैं, पश्चात् धीरे-धीरे खुलती हैं। इसमें ताव है। सभी लोक जानते हैं कि जो मनुष्य सजा होने के कारण अंधेरी कोठरी में महीनों तक रहा है, वह मनुष्य छुटकारा होने पर भी प्रकाशयुक्त स्थान में जाना पसन्द नहीं करता और न उसकी आँखें प्रकाश को सहन कर सकती हैं। अगर जबरदस्ती वह मनुष्य अंधेरी कोठरी से प्रकाश के स्थान में लाया जाय तो उसकी आँखें खराब होने की सम्मानना होती है। जिसको बहुत दिनों से अन्ध नहीं मिल रहा है, या जिसने बहुत दिनों तक अन्न-सत्याग्रह किया है, उसको प्रारम्भ से ही भरपेट अन्न देने की सिफारिश कोई नहीं करेगा, क्योंकि उससे अन्नसत्याग्रही के नाश होने का डर होता है। यही सम्बन्ध बालक के आँखों में और प्रकाश में होता है, और होना भी चाहिए परन्तु इस बात की ओर पाश्चात्य डॉक्टर के अनुसार प्रसूति गृहों का इबन्ध करने वाले लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है। इन बातों में आयुर्वेद का मत सुवर्णमध्यम (Golden mean) के समान ग्रहण करने योग्य है। आयुर्वेद में इनके स्थान हमेशा प्रवर्तकदेश, निजात, आतपवर्जित और अतमस्क होने चाहियें, ऐसा आदेश किया जाता है—प्रसूतवास्तुनि गृहे शुचौ आतपवर्जिते । निजाते न च रोमा ख्यं शरीरोगन्धमानगा ॥ (सुधृत, सूत्रस्थान १९-३) इस श्लोक का वक्ष्य भी देखो। नारदविद्याजुषाण प्रशस्त रम्यन्नतमर्कं निजात प्रवर्तकदेशं तुभारगारं जुयसि ॥ (चरक शारीर १०) । इसका मतलब यह है कि सूतिकागार में एक रास्ते से हवा आती जाती रहे, जिससे कमरे के भीत हवा की सुलसगी (Ventilation) अच्छी होती रहे, परन्तु हवा के आवागमन का उपसर्ग प्रसूता स्त्री तथा उसका बालक जहाँ पर रहता हो, उस स्थान पर कदापि भी न पहुँच सके। अर्थात् प्रसूता और बालक का स्थान निजात हो और अन्य स्थान में हवा प्रवाह के रूप में बहती रहे। प्रकाश के बारे में भी ऐसा ही होना चाहिए। कमरे में हूतना अंधेरा न हो कि भीतर कोई दिखाने ही न दे, तथा हूतना असज्ज कासा भी न हो कि प्रसूता स्त्री तथा उसके बालक को प्रकाशसन्नास (Photophobia), याने प्रकाश के कारण आँखें मूंदने की नीवत पैदा हो जाय। प्रकाश के लिए अनभ्यस्त बालक को प्रकाश सहन करने का अभ्यास करने का बहुत उत्तम विधान आयुर्वेद में वर्णन किया है। वह यह है कि प्रथम महीने में बालक को सूर्योदय के समय सूर्य का और प्रदोष में चन्द्र का दर्शन प्रतिदिन करावे—मय सत्तु शिरोर्नास्य वस्त्रमैव्यनिर्निर्घृते प्रथम द्वा कानि कृवरसाशोमहन्नस्वस्वयनरय सूर्योदयदशमोपस्थान, प्रदोषे चन्द्र-मः ॥ (कार्यपसंहिता, जातकर्मोत्तर अध्याय) । इस विधि से यह स्पष्ट होगा कि जो दृष्टिकोण ऊपर बतलाया गया है, उसी दृष्टिकोण से बालक का कमरा आतपवर्जित रखा जाना है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी इसमें कोई अवैज्ञानिक बात नहीं मालूम होती, बल्कि शुचि-युक्त मालूम होती है।

संश्लेष में, जैसे कि आयुर्वेद में वर्णन किया गया है, सूक्तिकागार स्वच्छ, सब साधन-सामग्रियों से सुसज्जित, ज्ञान-गृहादि सुविधाओं ने युक्त, प्रदास्त, सुख-प्रविचारक, ऋतु के अनुसार सुख-कर, प्रवात परन्तु निवात, आतपवर्जित परन्तु अतमस्क, और यदि हो सके तो मुख्य गृह से पृथक् होना उचित है ।

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबंधने ।

सश्ले जघने नारी शया सा तु प्रजायिनी ॥२॥

(प्रसवसामीप्य के लक्षण—) कुक्षि में शिथिलता उत्पन्न होने पर, हृदय का बंधन युक्त होने पर और जघन (प्रदेश) में पीड़ा होने पर स्त्री प्रजायिनी समझनी चाहिए ॥ ८ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में प्रसव समीप आ रहा है, इसके लक्षण बताये हैं । प्रत्यक्ष प्रसव-प्रारंभ के लक्षण नहीं बताये हैं । इनको प्रसवपूर्व लक्षण (Prenatal symptoms) कहते हैं । ये लक्षण प्रसव से लगभग दो सप्ताह के पूर्व उत्पन्न होते हैं । जाते हि शिथिले कुक्षौ—गर्भाशय में गर्भ का आधान होने के पश्चात् मास प्रतिमास गर्भाशय की वृद्धि होती जाती है और उसकी वृद्धि का परिचय भ्रूणस्थि के ऊपर प्रतिमास उसकी ऊँचाई नापने से हो जाता है । नौवें महीने के अन्त तक गर्भाशय उदर-गुहा में बराबर ऊपर की ओर बढ़ता जाता है (तीसरे अध्याय के १५ वें श्लोक के वक्तव्य में गर्भाशयवृद्धि देखो), और माता की कुक्षि याने उदर खूब तन जाती है । इसके बाद गर्भाशय कुछ नीचे की ओर आता है और माता को कुक्षि में कुछ ढीलापन महसूस होने लगता है । मुक्ते हृदयबंधने—नौवें महीने के अन्त तक गर्भाशय की इतनी वृद्धि होती है कि वह उदरगुहा को प्रायः पूर्णतया व्याप्त करता है और उसका ऊपर का सिरा महाप्राचीरा पेशी Diaphragm उदर और वक्ष के मध्य की प्राचीर) के ऊपर दबाव डालता है । इसका परिणाम यह होता है कि भ्रिणी स्त्री को साँस लेने में कठिनाई होती है तथा हृदय महाप्राचीरा पेशी के ऊपर स्थित होने से उसके कार्य में गाने संकोच-विकास में कुछ कठिनाई होती है, जिसको स्त्री भी अच्छी तरह महसूस करती है । इस गर्भवृद्धि का परिणाम यह होता है कि स्त्री को अपना हृदयप्रदेश जकड़ा हुआ सा मालूम होता है । गर्भावस्था के अन्तिम दो सप्ताहों में गर्भाशय कुछ नीचे की ओर आता है और उसका उदर में स्थान आठवें महीने के अन्त के बराबर हो जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री का हृदय-बन्धन छूट जाता है और उसको श्वास-प्रश्वास में आसानी मालूम होने लगती है । चरकसंहिता में साँस की इस कठिनाई को लक्ष्य में रखकर इस लक्षण का वर्णन 'विमुक्त-बन्धनत्वसिन्धु वक्षसः' ऐसा किया गया है । काश्यपसंहिता में कुक्षि अर्थात् गर्भाशय के नीचे आने का स्पष्ट उल्लेख किया है—कुक्षेश्च स्वादवसंसस्तवथोभागस्य गौरवम् । (जातिसूत्रीय शारीराध्याय) । अर्थात् अन्तिम कुछ दिनों में स्त्री को कुछ हलकापन (Lightening) मालूम होता है—During the last two weeks of pregnancy, or occasionally rather earlier, the uterus sinks a little. If the patient has suffered from a sense of oppression

and difficulty in breathing, she will now feel more comfortable and breathe with more freedom. This is sometimes spoken of as 'lightening'. Ten teacher's Midwifery. हाराणचन्द्र हृदय का अर्थ योनि और हृदयबन्धनमुक्ति का अर्थ गर्भाशयग्रीवा-मुखाविस्तृति (Dilatation of the os) समझते हैं—रोहितमस्तस्वस्य मुखाकारत्वेनोपदिष्टा हि योनिरवश्यं हृदयमध्यनुप-रोधि भूयिष्ठं तदाकारत्वात् । विशेषतश्चापदे गर्भे समं गर्भाभिवृद्ध्याऽ-भिवृद्धा अपि चोपरित्यक्ते प्रजननकाले वदित्वांरं प्रत्यक्षुल्यप्रतिभिल-क्षितत्वेनासप्रगुणी निसर्गत एव विमुक्तबन्धना भवत्यास्थेन वदित्दुपच्यते मुक्त इति । तथा च सिंहो भाणवक इतिवप्रीयोऽयं हृदयशब्दो योनिं लक्षयतीति हृदयबन्धने योनिमुक्तबन्धे मुक्ते श्रुत्यत्रोपे स्फुटितत्वेनानुभूय शब्दः ।

हाराणचन्द्रजी का अर्थ निम्न कारणों से ठीक नहीं मालूम होता—(१) हृदय का सरल अर्थ कर सकते हैं, सरल अर्थ प्रत्यक्ष स्थिति के साथ भली भाँति मिलता है और किसी प्रकार का विरोध नहीं करता । ऐसी अवस्था में हृदय से योनि समझने का जो अति-दूरान्वय किया गया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती । (२) इस श्लोक में जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे प्रजायिनी स्त्री के हैं । आगे के सूत्र में जो लक्षण दिये हैं, वे आसन्नप्रसवा के हैं । अर्थात् वे दोनों अवस्थाएँ भिन्न हैं, इसमें कोई संदेह नहीं । प्रजायिनी स्त्री वह है, जिसका प्रसवकाल समीप आ गया है । प्रत्यक्ष प्रसव के लक्षण उसमें नहीं दिखाई देते । ये लक्षण गर्भिणी स्त्री के घर वालों को सावधान करने के लिए दिये गये हैं, क्योंकि इनके उत्पन्न होने पर प्रसव किसी दिन प्रारंभ हो सकता है । इसलिए ये प्रसवपूर्व लक्षण कहलाते हैं और इन लक्षणों से युक्त काल प्रसवपूर्व स्थिति (Prenatal stage) कहलाता है । इस स्थिति में गर्भाशयमुखाविस्तृति नहीं होती है, प्रसव प्रारंभ होने के पश्चात् होती है । इसका विवरण आगे के सूत्र के वक्तव्य में किया जायगा अर्थात् यह लक्षण आसन्नप्रसवा स्त्री के लक्षणों में रखने योग्य है, प्रजायिनी के लक्षणों में रखने योग्य नहीं है । इसलिए इस श्लोक में यह अर्थ ठीक संगत नहीं मालूम होता । (३) अगर मान लिया जाय कि प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशय-मुखा की कुछ विस्तृति होती है, जैसे कि जेलेट ने अपनी (Manual of Midwifery नामक) पुस्तक में वर्णन किया है, तब भी यह लक्षण केवल बहुप्रसवा (Multiparae) स्त्री में ही दिखाई देता है—In multiparae, the external os usually begins to dilate some days before the onset of labour, so that the finger may be passed a short way into the cervical canal. ये प्रसवपूर्वकालीन लक्षण प्रथमगर्भा स्त्री में अधिक दिखाई देते हैं और अनेकगर्भा स्त्रियों में बहुत कम दिखाई देते हैं या नहीं दिखाई देते; इसका स्पष्ट निर्देश जेलेट ने किया है—In primiparae the symptoms are well marked, in multiparae they may be slight or altogether absent. अब शारीरस्थान में ऋतु, ऋतुकाल, पुरुषसमागम, गर्भाधान, गृहीतगर्भा के लक्षण,

प्रसव इत्यादि जो विषय वर्णन किये हैं उनका यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि ये सब विषय स्त्री में प्रथम बार याने उसकी आसु में पहले पहल होने वाली घटनाओं के संबंध में लिखे गये हैं। अर्थात् इनका उपयोग बार बार होने वाली इन घटनाओं में होता है, यह दूसरी बात है। परंतु असल में ये प्रथमगर्भा स्त्री के निमित्त लिखे गये हैं। अर्थात् इस श्लोक के प्रसवपूर्वकाल के लक्षण भी प्रथमगर्भा स्त्री के ही हैं। अब जेलेट, जो बहुप्रसवा स्त्री में प्रसवपूर्वकाल में गर्भाशयमुखविस्तृति होती है, ऐसा लिखना है यह यह भी स्पष्ट कर देता है कि प्रथमगर्भा स्त्री में इस प्रकार की विस्तृति नहीं होती—*In primiparae, there is, as a rule, no dilatation of either the internal or the external os until labour has actually begun* इस विवरण का तात्पर्य यह है कि हृदयवन्धन का अर्थ किसी भी दृष्टि से योनि-मुखविस्तृति नहीं हो सकता है। मशले जघने—जघन से यहाँ नाभि और गुहोद्भिद्य के बीच का भाग, याने पेड़ प्रदेश अभिप्रेत है। इस प्रदेश में प्रसवपूर्वकाल में कुछ पीड़ा होती है। यह पीड़ा पचनस्थान की खासी से ही प्रायः हुआ करती है और विरेचन से या कोष्ठशुद्धि करने से दूर होती है। प्रसव के पूर्व होने से इसको प्रसववेदना या आवी (Labour pains) समझते हैं, परंतु यह पीड़ा आवी नहीं है। इसको मिथ्यावी False Pains कहते हैं। आवी और मिथ्या आवी में भेद—(१) मिथ्यावी प्रसव के पूर्व और आवी प्रसव के समय उत्पन्न होती है। (२) मिथ्यावी आन्वगत वायु या अन्य कारण से और आवी गर्भाशयसकोच से उत्पन्न होती है। (३) मिथ्या आवी आन्त्र में और आवी पीठ के नीचे के हिस्से में मालूम होती है। (४) मिथ्यावी का उद्भव अनियमित समय पर और आवी का नियमित समय पर होता है। (५) मिथ्यावी मादम होने के समय गर्भाशय पर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता, परंतु आवी के समय गर्भाशय कड़ा मालूम होता है। (६) यदि गर्भाशय का मुख विस्तृत हुआ हो, जैसे कि बहुगर्भा स्त्री में हुआ करता है, तो उसमें अँगुली डालने से मिथ्यावी के समय गर्भ के आवरण में कोई तनाव नहीं प्रतीत होता, परंतु आवी के समय होता है।

इस तरह प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशय का कुछ नीचे उतरना, उसके कारण हृदय के ऊपर का दबाव कम होकर श्वास प्रश्वास में आराम मालूम होना और उदर में कुछ पादा होना ये तीन लक्षण होते हैं। अब इसके बाद प्रसव प्रारंभ होने पर होने वाले लक्षण वर्णन करते हैं। इस प्रसव पूर्वकाल में मलमूत्र शुद्धि पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि मलावरोध हो जाय तो बरिस से कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिए—नत्र (क्षुत्तिकागारे) अनुलोमनैराशार विहारैरनुलोमितवान्मूत्रपुरीषा प्रमवशालमुनीचैः। रत्नपेष्पि च विष्णुविदम्बे फलवतीं प्रणिदधात् । (अष्टांगसंग्रह, शारीर १)।

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठ प्रति समन्ताद् वेदना भवत्यमीदृशं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्र प्रांसच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥ ६ ॥

(आसतप्रसवा के लक्षण—) उपस्थितप्रसवा (स्त्री) के कटी (समीपवर्ती) पीठ के पाम तथा चारों ओर बार बार पीड़ा होती है, मल (का उत्सर्ग करने)

की प्रवृत्ति होती है, मूत्र का द्राव होता है और योनिमुख से श्लेष्मा निकलता है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—उपस्थितप्रसवा—जिसका प्रसव प्रारंभ हुआ है, ऐसी स्त्री। कटीपृष्ठ—कटीपृष्ठ का उपस्थित याने त्रिक (Sacrum)—रिक्तसन्धो पृष्ठशरत्कोष्ठी सप्तिसत् त्रिक मत्पु। अमीदृशम्—इसका संबंध वेदना, मूत्र और श्लेष्मा का प्रत्येक तथा पुरीष प्रवृत्ति के साथ होता है। पुरीषप्रवृत्तिं प्रस्थितो—प्रसव के समय गर्भ का सिर नीचे की ओर आता है और मलाशय तथा मूत्राशय के ऊपर दबाव डालता है। इसके साथ साथ गर्भाशय में, जो कि मलाशय और मूत्राशय के बीच में है, संकोच उत्पन्न होता है। इन कारणों से स्त्री को बारबार मल-मूत्र त्याग करने की इच्छा हुआ करती है। योनिमुखात् श्लेष्मा च—प्रथमगर्भा स्त्री में प्रसव के प्रारंभ से और बहुगर्भा स्त्री में उससे भी कुछ दिन पहले से गर्भाशय का मुख फैलने लगता है। संपूर्ण गर्भावस्था में प्रसवकाल तक योनिमुख बंद रहता है तथा उसमें मार्गावरोधक श्लेष्मा का पिधान (Operculum) भी बना रहता है। प्रसव के समय गर्भाशयमुख धीरे धीरे प्रसारित होता है। इसके प्रसारित होने से मुख के पास संसक्त हुआ गर्भावरण (जरायु) मुख से पृथक् होने लगता है। इसके पृथक् होने से कुछ रक्त और लसिका मुख के अन्त्यन्तरीय स्थान से निकलने लगती है। इस तरह गर्भाशयमुख के प्रसारित होने से मुखस्थ श्लेष्मा तथा कुछ रक्त योनि से खचने लगता है। प्रसवारंभ के रक्तमिश्र श्लेष्माद्राव को प्रज्ञापन show कहते हैं। इससे यह पता चलता है कि गर्भाशयमुख प्रसारित हो रहा है। बहुप्रसवा स्त्री में यह लक्षण प्रसवपूर्वकाल में भी मिल सकता है क्योंकि उसके गर्भाशय का मुख कुछ पहले प्रसारित होने लगता है।

प्रसव की अवस्थाएँ—आधुनिक पाश्चात्य व्यवस्था के अनुसार प्रसव तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है।

(१) प्रसिनसखावस्था (Stage of dilatation)—गर्भ वाहर निकलने के लिए गर्भाशयमुख काफी चौड़ा होने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में यह मुख धीरे धीरे फैलता जाता है। प्रथमप्रसवा स्त्री में इसके लिए अधिक समय (१२ घंटे या इससे अधिक) और अनेकप्रसवा में थोड़ा समय (२-७ घंटे) लगता है। यह अवस्था प्रसववेदना (आवी) के प्रारंभ से गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति तक होती है। (२) गर्भजन्मावस्था (Stage of expulsion of the child)—यह अवस्था गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति के समय से प्रारंभ होकर गर्भ का जन्म होने पर समाप्त होती है। प्रथमप्रसवा स्त्री में इसका काल साधारणतया १-२ घंटे का और अनेकप्रसवा में १०-१५ मिनट का होता है। (३) अपराजन्मावस्था (Placental stage)—यह अवस्था गर्भजन्म होने से प्रारंभ होकर अपरा के निकल आने पर समाप्त होती है। यदि अपरा को निकलवाने में कुछ सहायता दी जाय तो यह अवस्था १०-१५ मिनट में समाप्त होती है, परंतु कुछ भी मदद न दी जाय तो इसका काल कई घंटों का हो सकता है। साधारणतया हस्तकौशल से ही अपरा निकाली जाती है।

अभिस्तरणावस्था—इस सूत्र में अभिस्तरणावस्था के ही लक्षण वर्णन किये गये हैं । इस अवस्था के निम्नलक्षण होते हैं—

(१) प्रसववेदना या आवी (labour pains)—इस अवस्था का यह प्रधान लक्षण है और इसी के कारण अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं । प्रसववेदना गर्भाशय के आकुञ्चनों से उत्पन्न होती है । ये आकुञ्चन अनैच्छिक, सान्तर और नियमित होते हैं । प्रारंभ में ये देर में याने आधे आधे घंटे में उत्पन्न होते हैं, अल्पविल और अल्पकालीन होते हैं । धीरे धीरे इनके बीच का काल कम होता जाता है और इनका विल और काल बढ़ता है, जिससे प्रसववेदना उत्तरोत्तर प्रबल और तीव्र होती जाती है । यह प्रसववेदना अनैच्छिक (अपने मन का या इच्छा का जिस पर अधिकार नहीं होता, ऐसी) होने पर भी लज्जा, घबराहट इत्यादि मानसिक विकारों से और मल और मूत्र से भरे हुए मल-मूत्राशय की रूकावट से कम हो जाती है; और गरम पानी की वस्ति, भगपीठ पर दबाव इत्यादि से अधिक हो जाती है । यह वेदना पीठ के निचले हिस्से में याने त्रिक में और उसके आस-पास (कटोपृष्ठ प्रति समन्तात्) इस अवस्था में मालूम होती है—During the first stage of labour, the pain is principally referred to the region of the sacrum, *Gellet's midwifery*. वेदना के समय गर्भाशय कड़ा हो जाता है । प्रारंभ में गर्भाशय का आकुञ्चन औसत बीस मिनट पर एक बार होता है । धीरे धीरे यह आन्तराकुञ्चन काल कम होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में तीन-चार मिनट का होता है । अर्थात् प्रारम्भ में प्रसववेदना प्रत्येक बीस मिनट पर हुआ करती है और धीरे धीरे यह समय कम होकर प्रथमावस्था के अन्त में प्रत्येक तीन-चार मिनट पर हुआ करती है ।

२) गर्भाशयमुखविस्तृति (Dilatation of the os)—पेशीतन्तुओं के कार्य की दृष्टि से गर्भाशय के दो विभाग होते हैं—शरीर और ग्रीवा । शरीर के पेशीतन्तु गर्भाशय की लंबाई में और ग्रीवा के पेशीतन्तु चौड़ाई में होते हैं । ग्रीवातन्तुओं के संकोच से गर्भाशय का मुख पूर्णतया बंद हो जाता है । प्रसव प्रारंभ होने के पूर्व ये तन्तु संकोच-युक्त अवस्था में रहते हैं, जिससे बाहर से कोई वस्तु गर्भाशय के भीतर नहीं जा सकती, न भीतर का गर्भ बाहर आ सकता है । गर्भाशय-शरीर-तन्तुओं के संकोच से गर्भाशय की भीतरी समाई कम हो जाती है और भीतर का गर्भ बाहर निकलने का कार्य होता है । इस तरह गर्भाशयशरीर और ग्रीवा के पेशीतन्तुओं के कार्य में विरोध होता है । अगर यह विरोध हमेशा के लिए होता तो अनवस्थाप्रसंग उत्पन्न हो जाता । परंतु यह विरोध सहकार्य की दृष्टि से होता है । गर्भावस्था में ग्रीवापेशीसंकोच रहता है और शरीर पेशी शिथिलता रहती है, जिसमें पूर्णकाल तक गर्भ गर्भाशय में रह सकता है । प्रसवकाल के समय शरीरपेशीसंकोच होता है और ग्रीवापेशी-शिथिलता हो जाती है, जिससे गर्भ के बाहर आने में सहायता होती है । इनकी शिथिलता के कारण तथा ऊपर से गर्भ के दबाव के कारण ग्रीवामुख धीरे धीरे विस्तृत होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त

में गर्भनिर्गम के लिए जितनी विस्तृति आवश्यक होती है, उतनी हो जाती है । ग्रीवा और शरीर के संकोच-विकास का यह विरोध जैसे स्वभाव से उत्पन्न होने वाले संकोच-विकास में होता है, वैसे ही कृत्रिम पद्धति से उत्पन्न किये हुए संकोच-विकास में होता है । कभी कभी प्रारम्भ में गर्भाशय में उत्पन्न होने वाले संकोच कुछ काल के पश्चात् कमजोरी के या अन्य कारण से बन्द हो जाते हैं । उस अवस्था में हाथ की अंगुलियों से या यन्त्र की सहायता से ग्रीवामुखविस्तृति करने से गर्भाशय-शरीर में संकोच शुरू होकर प्रसव ठीक हो जाता है । किंवा जब कमजोर संकोच के कारण गर्भाशय ग्रीवामुख की ठीक विस्तृति नहीं होती, तब पोपणक ग्रन्थि निस्सार (Pituitary) की सुई देकर गर्भाशय के संकोच जोरदार करने से ग्रीवामुखविस्तृति होकर प्रसव हो जाता है । गर्भाशय के शरीर और ग्रीवा के संकोच-विकास का जो यह नियम है, उसको अंग्रेजी में ध्रुवधर्म (Law of polarity) कहते हैं । इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्म शरीर के अनेक कर्मों में दिखाई देते हैं—जैसे, आँखों की पुतली फैलने के समय एक प्रकार के तन्तु संकुचित और दूसरे प्रकार के शिथिल हो जाते हैं, तथा पुतली छोटी होने के समय प्रथम शिथिल हुए संकुचित होते हैं और संकुचित शिथिल हो जाते हैं । संक्षेप में यों कह सकते हैं कि शरीरगत सम्पूर्ण कर्मों का नियमन इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्मों के ऊपर निर्भर होता है । कविकुलगुरु कालिदास ने चन्द्र-सूर्य के अस्तोदय को देखकर ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में जो एक नियम बताया है, (शाकुन्तल ४-९) वही नियम निम्नभेद करके शरीर के लिए भी यथार्थ होता है—कर्मद्वयस्य युगपद्वयसनादयाभ्यां देहो नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु । गर्भाशय शरीर संकोच के कारण उसकी ग्रीवा छोटी और उसका मुख काफ़ी विस्तृत हो जाता है । (३) योनिमुख से सरक्त श्लेष्मा का स्राव । इसका विवरण पीछे किया गया है । तीसरा और चौथा लक्षण प्रथमप्रसवा स्त्री में इस समय में ही मिलता है । बहुप्रसवा स्त्री में इससे कुछ पहले भी मिल सकता है । परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि ग्रीवामुखविस्तृति उस समय में अधिक नहीं होती । (४) शिरोऽवग्रहण Fixation of the head)—गर्भाशय के संकोच के कारण उसकी समाई कम होती है तथा गर्भ ऊपर से नीचे को दबाया जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि गर्भ का सिर, जो पहले वस्तिगुहा (Pelvis) के किनारे के ऊपर था, नीचे वस्तिगुहा के किनारे पर उचित व्यास पर दब हो जाता है । चरकसंहिता में 'वस्तिशिरोऽवग्रहणात्' इस पद का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है—त यदा जानीयाद्विसृज्य हृदयसुदरमस्या-स्त्वाविशति वस्तिशिरोऽवग्रहणात् त्वरन्त्यनेनामाव्यः परिवर्ततेऽधो गर्भ इति । (शारीर १०) । काश्यपसंहिता में भी गर्भशिर ग्रहण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—मालेन चोदितो गर्भो विमुच्य हृदयोदरम् । वस्तिशीर्षमधोभागमवग्रहणात् जन्मनि ॥ जाति-सूत्रीय शारीराध्याय । (५) जरायुविदारण (Rupture of the membranes)—गर्भाशयमुख विस्तृत होने के कारण गर्भावरण का नीचे का आधार दृढ़ जाता है और ऊपर से संकोच के कारण दबाव पड़ता है । इसका परिणाम यह

होता है कि मुख की काफी विस्तृति होने पर उसके सामने की जरायु विदीर्ण होकर गर्भोदक बाहर निकलता है—भावीना मनुज्माउस्तवो गर्भोदकसिः । (अष्टांगहृदय) । तदोऽनन्तर-भावीना प्रादुर्भावः, प्रमेयश्च गर्भोदकस्य ॥ कभी कभी गर्भाशय-मुख पूर्ण विस्तृत होने पर भी जरायु विदीर्ण नहीं होती और गर्भोदक का स्राव नहीं होता । ऐसी अवस्था में योनि में अँगुली डालकर उसके दबाव से सावधानी से जरायु को विदीर्ण करना चाहिए । प्रसव के प्रारम्भ में गर्भाशय में सकोच प्रारम्भ होने पर गर्भ का सिर नीचे की ओर ओगी के किनारे पर दबाया जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि सिर के सामने का आवरण कुछ जल के साथ पीछे के जल से पृथक् हो जाता है । सिर के सामने जो जल होता है, उसको प्रसवपूर्वजल (Fore-waters) और पीछे जो होता है, उसको प्रसवोत्तर जल (After-waters) कहते हैं । प्रसवपूर्व जल जरायु के साथ सिर के सामने एक छोटी पानी से भरी हुई भोट के समान होता है । इसको पनमोटरी : Bag of membranes कहते हैं । गर्भ के सिर की अपेक्षा गर्भाशय का मुख विस्तृत करने में यह पनमोटरी बहुत उपयोगी होती है । इसका दबाव गर्भाशय के मुख पर चारों ओर से समान पड़ता है, जिसके कारण गर्भाशय के प्रमेय सकोच के समय मुख धीरे धीरे विस्तृत होता है । जब पूर्ण विस्तृत हो जाता है, तब पनमोटरी निराधार होने के कारण फूटती है और उसका गर्भोदक योनि के बाहर निकलता है । प्रथमावस्था के अन्त तक पनमोटरी के अविदीर्ण रहने के लिए गर्भ का नीचे की ओर आने वाला अंग और कटीर के नीचे के बिचारे में कुछ मेल (Fit) होने की आवश्यकता होती है । जब गर्भ प्रतिलोम या विराम स्थिति में आता है, या कटीर टेढ़ा या सकुचित (Contracted pelvis) होता है, उस समय हृद दोनों में ठीक मेल न होने से पनमोटरी बहुत पहले फूट जाती है और गर्भोदक बहुत पहले बाहर आता है । इसके निम्न परिणाम होते हैं । गर्भाशय का मुख विस्तृत होने के लिए काफी देर लग जाती है और प्रथमावस्था विलंबित होती है । (१) गर्भ का नीचे का अंग और कटीर में मेल न होने से पीछे के जल को आगे को आने के लिए कुछ मार्ग मिलता है, जिससे पीछे का जल धीरे धीरे जवता रहता है और कुछ समय के पश्चात् गर्भाशय के भीतर का गर्भोदक करीब करीब नष्ट हो जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय के सकोच से गर्भ सीधा दबाया जाता है, जल के द्वारा उमका जो रक्षण होता था वह नहीं होता । इससे कभी कभी गर्भ की मृत्यु हो जाती है । (२) गर्भाशयमुख का किनारा भगास्थि और सिर के बीच में पकड़ जाने का डर रहता है । इस तरह पकड़ जाने पर यह किनारा काफी फूलता है और प्रसव के मार्ग में रुकावट पैदा करता है । ऐसी अवस्था में उस किनारे को अँगुली से ऊपर की ओर एक तरफ दबा देना चाहिए । कभी कभी जरायु के साथ बालक का जन्म होता है । यदि जरायु आप से आप न विदीर्ण हो या कृत्रिम रीति से विदीर्ण न किया गया हो । आगे १३वें सूत्र का पक्षग्य देखो ।

प्रजनविष्यमाणां कृतमग्नलस्त्रस्थिवाचनानां कुमा-
रपरिवृतां पुत्रामफलदस्तां स्वभ्यक्तमुष्णोदकपरिधि-

सामयैनां सम्भृतां यवागृमाकण्ठान् पाययेत् । ततः
कृतोपथाने मृदुनि विस्तारौ शयने स्थितामाभ्रप्रस-
प्यीमुत्तानामराङ्गनीयाव्यतन्त्रः, स्त्रियः परिश्रुतज्यसः
प्रजननकुशलः कर्तितनखाः परिचरेयुरिति ॥ ७ ॥

(प्रथमावस्था का कर्म—) मग्नल और स्वस्तिवाचन (पुण्याहवाचन) की हुई, कुमारों से घेरी हुई, हाथ में पुत्रामफल ग्रहण की हुई, तैल से अभ्यङ्ग और गरम पानी से स्नान की हुई, प्रसृत होने वाली स्त्री को बलकर यवागृ कण्ठ तक (भरपेट) पिलावे । तदनन्तर मृदु, विस्तारि, (सिरधान में) तकिया रखने हुए विस्तरे पर टाँगों को सिकोव-कर उत्तान (पीठ के रथ) लेटी हुई स्त्री की अशङ्कनीय, हृद, प्रसवकुशल, कर्तितनख चार स्त्रियाँ परिचर्या करें ॥ ७ ॥

सख्य—युक्तमग्नलस्त्रस्थिवाचनान्—प्रत्येक महाव्य के कर्म के पूर्व वेदों के मन्त्रोच्चारणपूर्वक पुण्याहवाचन करने की जो विधि है, उसके अनुसार प्रसवकर्म के पूर्व मग्नल और पुण्याहवाचन करके । कुमारपरिवृताम्—कुमार से यहाँ पुत्राम् शपथ अभिप्रेत है । छोटे छोटे बालक स्त्री के चारों ओर रखने से 'अपने को भी पुत्र हो जायगा' इस कल्पना से स्त्री को प्रसववेदना की तकलीफ कम मालूम होगी, इस दृष्टि से यह कर्म किया जाता है । हाराणचन्द्र कुमार से छोटे छोटे बाल समझते हैं, जिसमें बालक और बालिकाएँ भी शामिल हो सकती हैं—कुमारपरिवृतामिति इत्येव क्लेशाशवा-यायंमुपदिश्यते इति गम्यते । अतः कुमारशब्देन स्त्रिमृत्तानां कुमा-
र्यामपि परिग्रहो न्यायः ॥ पुत्रामफलदस्ताम्—पुँछिणी जिसका नाम हो ऐसा कोई फल जिसके हाथ में हो, ऐसी । ऐसा पुँछिणी फल भी पुत्र की दृष्टि से ही स्त्री के हाथ में दिया जाता है । गर्भ के लिंग की सूचना देने की दृष्टि से पहले भी इस प्रकार का शब्द प्रयोग किया गया है—राज्यप्राथ पुत्रामपेयुः द्रव्येषु दीर्घमनिस्यावति । (शारीर ६) । हाराणचन्द्र पुत्राम फल से पुत्राग समझते हैं—पुत्रामा निष्ठा, 'पुत्राम्' पुरपञ्चुर' पुत्रामा पटलद्वम' इति राज-
निष्ठाः । पुत्रामफलदस्तां पुन सूत्रप्रसव प्रत्येनं स्त्रयतोत्पा-
चधते तदियमुत्तं पुत्रामिति । पहले पाँचवें श्लोक के पक्षग्य में बताया गया है कि शारीरस्थान की गर्भाधान प्रसवादि घटनाएँ प्रथमगर्भ स्त्री के संबंध में लिखी गई हैं । प्रथम-
गर्भ स्त्री को तथा उसके पति तथा घर वाले अन्य लोगों को पुत्र उत्पन्न होने की जबरदस्त इच्छा होती है । इसी इच्छा के कारण ही पुंसवन विधि का आविष्कार हुआ है । अर्थात् प्रसव के समय भी उसके आसपास की स्थिति इस प्रकार बनाये रखने की कोशिश की जाती है कि उसके पुत्र उत्पन्न होगा, ऐसा ही विचार उसके मन में हमेशा पैदा हो । प्रत्येक प्रसव के समय भी 'पुत्र हुआ, पुत्र हुआ, धन्य हो' ऐसे शब्द प्रयोग किये जाते हैं—'प्रजाग प्रजाया धन्यं धन्यं पुत्रम्' इति । तथाऽस्या इत्येवाप्यायने प्रजाः ॥ (चरक) । इसलिये यहाँ पर कुमार में पुत्राम् शपथ और पुत्रामफल से पुत्रामवाचक फल (जिसमें पुत्राग भी आ सकता है, परन्तु अन्य पुँछिणी फल भी चल सकते हैं) ही लेना उचित है । जैसे, अष्टांगहृदय में भी लिखा है—रस्त्यपुत्राम कान् । इसकी टीका में अष्टांगदत्त लिखते हैं—'या इत्यर्थं पुत्राम दाविमादिकलं दत्तव्यास्ताम् ।

उष्णोदकपरिपित्तम्—उष्णोदक से गर्भिणी को नहलाने के लिए जेलेट भी कहते हैं—It is also a good thing for the patient to have a warm bath during the premonitory stage. ज्ञान से शरीर की और जननेन्द्रिय की सफाई होती है, पेशियाँ अधिक कार्यक्षम होती हैं और गर्भिणी प्रसव-वेदनाओं को अच्छी तरह सह सकती है। सम्भृता यवागूम्—चीर, घृत इत्यादि से युक्त होने के कारण पुष्टिकर। प्रसव के परिश्रम में शक्ति देने के लिए यवागू दी जाती है। क्रतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने—रूई की मृदु गद्दी पर सिरहाने में तकिया युक्त विस्तृत विछौना। आधुनिक काल में गद्दी और चादर की रक्षा रक्षादि से करने के लिए उस पर जलाभेद्य चदर (Mackintosh) विछाने की पद्धति है। अष्टांगसंग्रह में शयन के ऊपर चर्म-प्रच्छेद का प्रयोग करने के लिए लिखा है। इसका भी उपयोग म्याकिन्टोश के समान हो सकता है—ततः सुर-त्कार्पभचर्मप्रच्छेदे मृदुनि भूमिशयने । (शारीर ३) । आशुम-सक्थोमुत्तानाम्—जानु सिकोडकर पीठ पर लेटना। इस आसन को पृष्ठासन (Dorsal position) कहते हैं। अशङ्कनीयाः—यासां लज्जामयादिकं न करोति गर्भिणी । (डल्हण)। किंवा जिनके शील, शौच, आचार, विनय, सौहार्द, अनुरक्ति इत्यादि गुणों के संबन्ध में (आगे चरक का वचन देखो) शंका न हो। चतस्रः स्त्रियः—चरक और अष्टांगसंग्रह में अनेक स्त्रियाँ उपस्थित रखने के लिए लिखा है—स्त्रियश्च बहवो बहुशः प्रजाताः। इनके लिए पृथक् पृथक् काम भी बताये गये हैं—(एका) स्त्री पादतोऽस्या निपण्णया योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य स्फिजौ पादाभ्यां पीडयेत्। अन्या (द्वितीया) तु वामकर्णोऽस्या मन्त्रमिमं जपेत् 'चित्ति-र्जलम्' इत्यादि (आगे ८वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में देखो) तथा परा(तृतीया)नुशिष्यात्, अनागतार्यां वेदनायां मा प्रवाहिषाः। तद्वचन्यतमा (चतुर्थी) स्त्री जातमात्रमेव बालं बालो-पचरणीयेन विधिनेपपादयेत् । (अष्टांगसंग्रह, शारीर ४)। इसमें संदेह नहीं है कि, काम ये ही हों या आधुनिक काल के अनुसार दूसरे हों, प्रसव के समय अनेक स्त्रियाँ होने से काम करने में सब प्रकार की सुविधा होती है। इसलिए प्रसव के समय अनेक स्त्रियाँ रखने की प्राचीन पद्धति आधुनिक काल में भी अनुकरण करने योग्य है। प्रजनन-कुशलाः—प्रतिपत्तिकुशलाः । (चरक)। गर्भनिष्कासे कुशलाः । (इन्द्र)। कर्तितनखाः—योनि में हाथ प्रवेश करते समय अंगुलियों के नख घ्रण उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए उनको कटवाना बहुत आवश्यक है। इसके सिवा नखों के नीचे बहुत मल (आधुनिक परिभाषा के अनुसार Septic matter) इकट्ठा होता है, जो योनि में प्रवेश करके रोग उत्पन्न कर सकता है। नाखून काटने पर उनके नीचे इकट्ठा हुआ मल चला जाता है और हाथों की सचमुच सफाई होती है। नाखूनों के अतिरिक्त हाथों के अन्य हिस्से में कोई विशेष खराबी नहीं होती। आधुनिक काल में भी शस्त्रकर्म के पूर्व हाथों की सफाई में नाखूनों के ऊपर ही ज्यादा ध्यान दिया जाता है और काटने के पश्चात् उनके और मांस के बीच का भाग जहाँ पर मल इकट्ठा होता है, मुश से रगड़कर स्वच्छ किया जाता है। शरीर की स्वच्छता

की दृष्टि से आयुर्वेद में हमेशा नाखून कटवाने का उपदेश किया गया है—नीचरोमनखश्मश्रुनिर्मलाग्निमलायनः । (अष्टांग हृदय)। पञ्चान्नात्रखश्मश्रुनेशरोमाणि कर्तयेत् । (योगरत्नाकर)। चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी स्त्रियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—स्त्रियश्च बहवो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ता सवतमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सला-स्त्यक्तविषादाः क्लेशसहिन्वोऽभिमताः । चरक के इस वर्णन में 'बहुशः प्रजाताः' यह गुण बहुत महत्व का है। जो स्त्री स्वयं कई बार प्रसूत हुई है, वही स्त्री प्रसूति के समय स्त्री को कितना कष्ट उठाना पड़ता है, कितनी लाचारी होती है, कितनी लज्जा (जो कि स्त्री का परम भूषण है) छोड़नी पड़ती है, और इन बातों का परिणाम आसन्नप्रसवा विशेषतया प्रथमप्रसवा स्त्री के मन पर कैसे होता है, इसको समझ सकती है। इसलिए बहुशः प्रजाता स्त्री प्रसव रूप आपत्ति (एक दृष्टि से आपत्ति ही कहना उचित है यद्यपि वास्तव में वह आपत्ति नहीं है) में फँसी हुई स्त्री के साथ जितना सौहार्द, अनुराग और सहस्रवेदना (सहानुभूति) प्रकट कर सकती है उतनी सहानुभूति फारी, वन्ध्या या बालविधवा स्त्री नहीं प्रकट कर सकती। क्योंकि जैसे 'न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्' वैसे ही—कुमारी न विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्। आधुनिक काल में दाई (Midwife) का व्यवसाय हो गया है, जिसमें शुल्क लेकर दूसरे का काम किया जाता है। इसमें प्रेम, अनुरक्ति और सहानुभूति का सम्बन्ध बहुत थोड़ा होता है। इसके सिवाय ये स्त्रियाँ प्रायः फारी, या विधवा या वन्ध्या (स्वाभाविक या कृत्रिम) होती हैं। इसलिए प्रसववेदना से पीड़ित स्त्री को सान्त्वना देने के बदले ये स्त्रियाँ कई बार उसकी दिवङ्गी उड़ाती हुई देखी जाती हैं। यह कथन अधिकतर अस्पताल के लिए लागू है, घर के लिए नहीं। कुछ भी हो, एकाध अपवाद या सुस्वभावो स्त्री को छोड़कर फारी या वन्ध्या स्त्री की अपेक्षा बहुशः प्रजाता स्त्री प्रसव के काम के लिए अधिक अच्छी होती है, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम मनुष्य के मन पर, जैसे होता है, वैसे उस अनुभव की कल्पना करने से नहीं होता। सौहार्दयुक्ता, सवतमनुरक्ता, प्रकृतिवत्सलाः—स्निग्धता, अनुरक्ति ये परिचारक के गुण (सूत्रस्थान ३४-२६ और उसका वक्तव्य देखो) हैं। प्रसूता यद्यपि रोगी नहीं है तथापि उसकी परिचर्या रोगी के समान करनी पड़ती है। अर्थात् सौहार्द और अनुराग ये गुण स्त्रियों में बहुत आवश्यक हैं। इनके सिवा और एक गुण प्रसूता की परिचारिका में होना आवश्यक है, जो अन्य परिचारिका में उतना आवश्यक नहीं है। वह गुण है प्रकृतिवत्सलता, याने दिल से बच्चों को प्यार करने का स्वभाव। त्यक्तविषादाः—प्रसव के समय प्रसूता की लाचारी को और दुःख को देखकर विषाद उत्पन्न होता है। उसमें अगर विलम्बित प्रसव, मूढगर्भ, रक्तस्राव इत्यादि आपत्तियाँ खड़ी हो जायँ, तो विषण्णता और भी बढ़ जाती है। विषाद से चेतोभङ्ग होता है—विषादश्चेत्ततो भङ्ग उपायाभाव-नाशयोः। अर्जुन को भारतीय युद्ध के पूर्व विषाद हुआ था। विषाद से शरीर की क्या दशा होती है उसका सुन्दर वर्णन भगवद्गीता में मिलता है—सीदन्ति मम गात्राणि सुखं च

परिशुष्मि । वेपथुश्च शरीरे मे रोमश्चर्ष्व च जायते ॥ गाण्डीय
ससते हस्तास्त्रश्चैव परिवर्तते । न च शनोऽप्यवस्थातु प्रमतोऽयं
मे मनः ॥ (प्रथम अध्याय ११-३०) । यदि प्रसव के समय
स्त्री की ऐसी अवस्था हो जायगी तो उससे कुछ भी काम
नहीं होगा । इसलिये प्रसव कराने वाली स्त्रियों में रक्क-
विषादत्व यह एक महत्व का गुण है । घरतवासस —
अष्टांगसंहिता में उपयुक्त शब्दों के अतिरिक्त यह शब्द
अधिक है । इससे प्रसाविका के कपड़े की स्वच्छता की ओर
ध्यान दीया गया है । प्रसाविका को अपने हाथों और
कपड़ों की स्वच्छता पर बहुत ध्यान देना चाहिए । इसका
निर्देश 'अहतवासा' और 'कृत्तनवा' से किया गया है ।
इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि
प्रसाविका किसी रोग से पीड़ित न हो । विशेष करके त्वचा
के और मुख तथा श्वसनतस्थान के रोगों से पीड़ित होना
भयावह होता है । इससे योनि, गर्भाशय दूषित होने का
डर होता है । बास्तर या बंध भी अगर अत्यन्त प्रसव में
माग लेने वाले हों तो ये भी मुख या श्वसनतस्थान के
और त्वचा के रोगों से मुक्त और स्वच्छद्वस्तवस्तुयुक्त होने
चाहिएँ । प्रसाविका के समान प्रसूत होने वाली स्त्री के
लिये भी जो जो वस्त्र प्रयोग में आते हैं, वे सब स्वच्छ-
निर्मल होने चाहिएँ । प्रसूत होने वाली स्त्री के कपड़े प्रसव
के बाद खराब हो जाते हैं, इसलिये उसको प्रसव के समय
गन्दे कपड़े देने का रिवाज कई जगह देखा जाता है । परन्तु
यह रिवाज बहुत खराब है । मात्राज करने के पश्चात् वाली
खराब हो जाती है, इसलिये भोजन करने के लिये जब
खराब वाली लेने का कर्त्तव्य पर रिवाज नहीं है तब इसमें
इस प्रकार का रिवाज क्यों ? भाजन के लिये स्वच्छ वाली की
जितनी आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक प्रसव के लिये
स्वच्छ कपड़ों की आवश्यकता है । इसलिये प्रसव के साथ
सम्बन्ध रखने वाली सब चीजों (जैसे—बख, जल, पात्र,
यन्त्र, शस्त्र इत्यादि) का स्वच्छ और निर्मल होना आवश्यक
है । आधुनिक काल में ये सब चीजें ऊप्यविशोधन से शुद्ध
करके ली जाती हैं ।

प्रथमावस्था की व्यवस्था—प्रसववेदना के प्रारम्भ से प्रथमा
वस्था का प्रारम्भ होता है । इसका प्रारम्भ होते ही
गर्भिणी को पूरक का तैल या यष्टिमण्डादि चूर्ण या अन्य
विरिचन देकर कोष्ठ शुद्ध करना चाहिए और प्रथमावस्था
के मध्य में वसिष्ठ देकर मलाशय को खाली करना चाहिए ।
इससे गर्भ के रास्ते में मलाशय की रुकावट नहीं होती
तथा प्रसव के समय मल से अपत्यमार्ग तथा अन्य
वस्त्रादि खराब होने का डर नहीं रहता । काष्ठशुद्धि ठीक
होने से बार बार मलेत्सर्ग करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है ।
इस अवस्था में बार बार मूत्र त्यागने की इच्छा भी होती
है । इसके लिये बार बार मूत्र त्यागना ही उचित होता
है । यदि गर्भ स्थिर के दबाव के कारण मूत्र त्यागने में
कठिनाई मालूम होती हो तो सखई से मूत्राशय खाली
करना उचित है । मलाशय और मूत्राशय खाली रहने से
गर्भ का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है । (२) श्वान और
जननेन्द्रिय भी स्वच्छता—गरम पानी से धान और स्नान के
समय ही गरम पानी से जननेन्द्रिय की अन्तर्बाह्य स्वच्छता

करना । (३) तनु आहार का सेवन—प्रसववेदना में माता
को यकावट होती है, इसलिये इस अवस्था में माता को
सुपाय्य बल्कर आहार देना चाहिए । इस दृष्टि से यवा
दने की पद्धति उत्तम है, क्योंकि यवागू हलकी, बलकारक,
दूया और झुषा की सामक होती है—patients should
be encouraged to take light food during the first
stage. Ten Teachers' Midwifery कारयपसंहिता
में दुर्बल स्त्री को मद्य देने का पृथीय मत दिया है, परन्तु
कारण उसको पमन्द नहीं करते—दुबला पाच्ये मद्यामत्यके,
नदि वरश्य । (आतिस्त्रीय शारीरार्थाय) । (४) गर्भिणी
का आसन—यदि प्रसववेदना बहुत तीव्र हो और माता
को यकावट मालूम होती हो तो विस्तरे पर छटना ठीक
है । परन्तु यदि ये सामूली हो तो माता को खड़े रहकर
दहलना ही उचित है—रायत् वृम्भचक्रम् । (अष्टांगहृदय) ।
वृम्भचक्रमण च पुनरुद्येवमिति । (चक्र) । प्रसववेदना
तीव्र होने पर प्रीवामुखविलम्बित होने में देर नहीं लगती,
परन्तु जब मन्द होती है तब देर लगती है । ऐसी अवस्था में
गर्भिणी के खड़ी होकर चलने—फरने से गुरुत्वाकर्षण के कारण
गर्भाधिक तथा गर्भ का दबाव प्रीवा के ऊपर पड़ता है,
जिससे गर्भाशय का मुख विस्तृत होने में सहायता होती
है । इसके सिवाय प्रीवा के ऊपर दबाव पड़ने से तथा
उसका मुख विस्तृत होने से गर्भाशय के आकुञ्चन भी
जोरदार होने लगते हैं । जन्मण के समय कुपपुत्र के भीतर
साधारण श्वास की अपेक्षा अधिक हवा मीतर जाती है ।
इसका परिणाम यह होता है कि उदरवक्रमण्यय महा-
प्राचीरा पेसी अधिक नीचे को जाती है और गर्भाशय को
अधिक नीचे की ओर दबाती है । खपेयी में, जन्मण और
चक्रमण प्रसववेदना बढ़ाने के अनपेयी उपाय हैं—The
arteries contractions of the first stage act more
advantageously when the patient is in erect
posture, as the action of gravitation increases
the downward pressure of the ovum Jelliffe
Midwifery चरकसंहिता में अन्य आचार्यों का मुखल
महण करके ओष्ठली में धान्य कूटने के व्यायाम का जो
मत दिया है, उसका खण्डन यहाँ पर भगवान् आनेयजी
ने किया है । अतः उस मत के अनुसार दाखन व्यायाम
इस अवस्था में न करना चाहिए । इसके सिवा यह भी
देखा जाता है कि प्रथमावस्था में गर्भिणी स्वयं विस्तरे
पर घण्टी तक छेदे रहने की अपेक्षा दहलना ही पसन्द करती
है । प्रथमावस्था की अवधि अधिक होने के कारण यदि
गर्भिणी प्रारम्भ से ही विस्तरे पर छेटी रहे तो उसका मन
प्रसव जवदी न होने के कारण कुछ निराशायुक्त और चिंतित
हो जाता है, क्योंकि शुरू से ही वह प्रसव होने के फेर
में रहती है । दहलने से उसका मन कुछ इधर-उधर जाता
है, जिससे वेदना कुछ कम मालूम होती है । तथापि यह
वेदना कितनी ही कम क्यों न हो, इससे स्त्री को खल्ल कुछ
बेचनी मालूम हो सकती है । ऐसी अवस्था में स्त्री के पीठ,
कमर, पार्वर्ष इत्यादि स्थानों में गरम तैल का मालिश करने
से उसको कुछ आराम मालूम होता है—उस्थाश्वानरानवा क्रीडा
शुद्धवसिष्ठेयानोऽशुद्धेय तैलानाम्पयानुसुप्तमपवृत्तोत्त । (चरक) ।

Many women experience a feeling of relief and comfort when the lower part of the back is pressed on or rubbed during a pain. *Ten Teachers' Midwifery* इसलिये यदि आवश्यक हो तो स्त्री का पृष्ठभाग वेदना के समय मर्दन करना उचित है। इस प्रकार प्रथमावस्था में गर्भिणी की परिचर्या करनी चाहिए। अब द्वितीयावस्था का कर्म वर्णन करते हैं—

अथाभ्या विशिखान्तरमनुलोमप्रनुसुखमभ्यज्या-
नुव्याञ्चैनामेका—सुभगे प्रवाहस्वेति, न चाप्राप्तावी
प्रवाहस्व, ततो त्रिमुक्ते गर्भनाडीप्रवन्धे सश्लेषु
श्रोणिवह्णयस्तिशिरःसु च प्रवाहेशः शनः शनैः
(पूर्व), ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं
प्रपन्ने गाढतरमाविशल्पभावात्; अकालप्रवाहणाद्
चधिरं मूकं कुञ्जं व्यस्तहनुमूर्ध्वाभिघातिनं फास-
श्वासशापोपद्रवं विक्रटं वा जनयति ॥ ८ ॥

(द्वितीयावस्था के कर्म—) अब उन (स्त्रियों) में से एक (स्त्री) उस (गर्भिणी) के अपत्यद्वार पर अनुलोम और सुख से (तेल का) मालिश करके उसको कहे कि हे सुभगे! (अब) प्रवाहण करो, आवी न होने पर प्रवाहण न करो। (प्रथम) गर्भमार्ग का वन्धन खुल जाने पर और श्रोणी, वह्ण और वस्ति शिर में पीडा होने पर धीरे धीरे प्रवाहण करो, गर्भ के बाहर निकलने के समय अधिक जोर से (प्रवाहण करो) और पश्चात् गर्भयोनिमुखद्वार पर पहुँचने पर (योनि-मार्ग गर्भ रूप) शल्यविरहित होने तक अत्यधिक जोर से (प्रवाहण करो)। अकाल में प्रवाहण करने से (गर्भिणी) वहरे, गूंगे, कुबड़े, व्यस्तहनु के, स्तिर पर घातित, कास श्वास और शोष से युक्त अथवा विकृताकारी (अपत्य) को जन्म देती है ॥ ८ ॥

वक्तव्य—विशिखान्तरम्—विशिखाया अपत्यमार्गस्थान्तरा-
भ्यन्तरं विशिखान्तरम् । अपत्यमार्ग का अभ्यन्तर भाग याने योनि—लीयोनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य । (अष्टांग-संग्रह) । अनुलोममनुसुखमभ्यज्य—ऊपर से नीचे की ओर मृदुता से तैल से मालिश करके। प्रवाहण—निकुन्थनं कुह; 'वाह' प्रयत्ने, श्यस्य धानोरात्मनेपदिनः प्रयोगः । (इहहण) । प्रवाहण से गर्भाशय को संकोच के समय चारों ओर से आधार दिया जाता है तथा गर्भाशय नीचे की ओर दबाया जाता है। प्रवाहण में उदर-प्राचीर की पेशियाँ, उदरवक्ष-मध्य महाप्राचीरा पेशी, वक्ष की पेशियाँ मुख्यतया सहायता (Accessory muscles of labour) करती हैं। इनके सिवा इनका कार्य ठीक होने के लिए शाखाओं की पेशियों से भी सहायता ली जाती है, जो वक्ष और उदर को स्थिर किया करती हैं। इन सहायक पेशियों के संकोच से उदर की समाई कम होकर गर्भाशय में दबाव पड़ता है। जैसे कि मलमूत्रोत्सर्ग के समय कुन्थन से मलमूत्रोत्सर्ग में सहायता होती है, वैसे ही गर्भनिष्कासन के लिए उत्पन्न हुई प्रसववेदना के समय प्रवाहण या निकुन्थन (Bearing down efforts) से गर्भनिष्कासन में सहायता होती है। न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व—गर्भनिष्कासन का कार्य आवी का याने गर्भाशयसंकोच का है, प्रवाहण उसमें

सहायता करता है। अर्थात् गर्भजन्म में आवी प्रधान और प्रवाहण गौण कारण है। इसलिये जिस समय आवी नहीं होती उस समय प्रवाहण कितने ही जोर से क्यों न किया जाय, वह आवी का काम नहीं कर सकता, व्यर्थ होता है और माता को थकावट पैदा होती है। चरकसंहिता में अकाल प्रवाहण का सुन्दर वर्णन किया है—या क्षना-
गतावीः प्रवाहते व्यर्थमेवास्थास्तत् कर्म भवति । यथा हि च्वभूद्ग्रा-
वावमूयपुरोपवेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालात् लभते कुच्छे-
वाऽप्यधामोति, तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहनाया । (शारीर-
८) । विमुक्ते गर्भनाडीप्रवन्धे—गर्भस्य नाड्या मार्गस्य प्रवन्धः
प्रकर्षेण गतिरोधो यत्र तस्मिन् गर्भनाडीप्रवन्धे गर्भाशयमुखे
विमुक्ते प्रकुटिते इत्यर्थः ॥ नाडी शब्द यहाँ पर मार्ग के अर्थ
में प्रयुक्त हुआ है—नाड्यः पंथानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि ।
(चरक) । संवेप में, गर्भाशयमुख पूर्णतया प्रकुटित होने
पर । गर्भनिर्गमे—गर्भ गर्भाशय से चलित होने पर—
स्वस्थानाद्गर्भस्य निःसरणाय गमनं गर्भनिर्गमस्तस्मिन् गर्भनिर्गमे ।
(इहहण) । योनिमुखम्—योनि का वाद्य द्वार या भग-
द्वार (Vulval orifice) । गर्भ को योनिद्वार पर बाहर
निकलने के लिए कुछ रुकावट होती है। गर्भाशय मुख से
बाहर निकल जाने पर गर्भ योनि में आता है। योनि की
दीवार श्रोणिगुहाभूमि (Pelvic floor) पर आधारित होती
है। यह भूमि पेशियों से बनती है। गर्भाशय के संकोच
से तथा प्रवाहण से योनि में आया हुआ गर्भ (अर्थात्
गर्भ का सिर) संकोच के मध्यकाल में श्रोणिभूमि पेशियों
के द्वारा फिर से ऊपर दबाया जाता है। इस तरह भगद्वार
तक आया हुआ गर्भ कई बार फिर योनि में चला जाता
है। धीरे धीरे गर्भाशय के जोरदार संकोचों से तथा
प्रवाहण से श्रोणिभूमि हतनी तन जाती है कि वह गर्भ को
ऊपर दवाने में असमर्थ होती है, जिससे योनिद्वार पूर्णतया
विस्फुटित होकर गर्भ का शिर द्वार में स्पष्टतया और पूरा
दियाई देता है। इसको शीर्षदर्शन (Crowning of the
head) कहते हैं। गाढतरमाविशल्पभावात्—गाढतरमाप्रसवात् ।
अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—गर्भस्य योनिमुखप्रतिपत्ती गाढतर-
माप्रसवादिति । (शारीर ३) । अर्थात् गर्भ का जन्म होने
के समय तक । इहहणाचार्य 'अपरासहितगर्भप्राप्यधन्म्' लिखते
हैं। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि गर्भ के साथ
अपरा बाहर नहीं आती, थोड़ी देर के बाद आती है; इसका
स्पष्ट उल्लेख 'अथ प्रसवाया न चेदपरा पतति ततः' (अष्टांग-
संग्रह) इस वाक्य में मिलता तथा व्यवहार में देखा जाता
है। इसके सिवा अपरापतन के लिए गाढतर प्रवाहण
की भी आवश्यकता नहीं होती। वह गर्भाशय के संकोच
से ही नीचे चली आती है। यहाँ पर शल्य शब्द का जो
प्रयोग किया है वह एक दृष्टि से बहुत योग्य है और उसका
तथा गाढतर प्रवाहण का संबंध भी होता है। गर्भ या
बालक माता को कितना ही प्यार क्यों न हो, माता की
योनि के लिए वह शल्य (Foreign body) रूप होता है
और उस शल्य को निकाल देने के लिए प्रवाहण चाहे
माता करे या न करे, प्रतिचेप क्रिया (Reflex action)
से आप से आप होता है—These expiratory or
expulsive efforts are partly voluntary but largely

reflex, due to the presence of a foreign body in the vagina. Ten Teachers' Mistakefor शितीवायवा
 वो प्रसवेदना—शितीवायवा में गर्भाशय के संकोच
 अधिक जोरदार होते हैं, अधिक देर तक होते हैं और
 उनके बीच का समय अव्यव होता है। इस अवस्था के अन्त
 में, यानि प्रसव के समय प्रत्येक संकोच एक मिनट या उससे
 कुछ अधिक होता है और उनके बीच में २-३ मिनट
 का समय होता है। प्रसव गर्भजन्म के समय यह संकोच
 निरन्तर होता है। इसके सिवा इसके साथ प्रवाहणकार्य
 आप से आप होता है, क्योंकि गर्भ को बाहर निकालने में
 केवल गर्भाशय संकोच असमर्थ रहने हैं। इसलिये प्रसव
 के समय बिना कड़े भी स्त्री प्रवाहण किया करती हैं। परंतु
 यदि यह सोच-मनसकर ठीक उसी-समय अपने संपूर्ण
 बल से प्रवाहण करे तो और भी अधिक सफ़लता मिलती
 है; इसलिये 'प्रवाहस्य, न प्रत्यासी प्रवाहस्य' इस प्रकार
 कहने का रिवाज पड़ गया है। अत्राप्राप्तकारण—अप्राप्तावी-
 कालप्रवाहणम्। अर्धरं भूम्—रुपादि—अकाल प्रवाहण से ये
 विकार उत्पन्न नहीं हो सकते। अगर जन्म के पश्चात् ये
 विकार बालक में दिवाड़े दें तो उनकी उत्पत्ति गर्भवृद्धि-
 कालीन पूर्ववर्त्म तथा माता के आहार-विहार से सम्बन्धना
 चाहिए। इस विषय का विवरण सूत्रस्थान के २४वें
 अध्याय के ५वें सूत्र के वक्ष्य में, शारीरस्थान के दूसरे
 अध्याय के २२-२३वें श्लोकों में तथा उनके वक्ष्य में,
 तीसरे अध्याय के २२वें सूत्र के वक्ष्य में तथा ३२वें श्लोक
 और उनके वक्ष्य में किया गया है। वेगोदीरण के समान
 अकालप्रवाहण अहिाहर होता है, इसमें कोई संशय
 नहीं है—यथा येनैव चक्ष्मादीनां संतारण्युपाजानोपयवने,
 तथा प्रत्यागत्य गर्भप्रवाहणम्। (चरक)। अप्राप्तकाल
 में प्रवाहण की प्राप्ताकाल में अप्रवाहण का परिणाम यह
 होता है कि प्रवाहण रूप गर्भ को बाहर निकाल नहीं
 सकता और माता को कमजोर बनाता है। प्राप्तकाल में
 प्रवाहण न करने से प्रसवेदना (गर्भाशय संकोच)
 निरापार होने से भी कई बार गर्भ को बाहर निकालने में
 असमर्थ होती है और कई बार अणुशयना मिलने के
 कारण गर्भाशय कमजोर हो जाता है। इसका परिणाम
 गर्भाशय की जड़ता या गंग (Uterine inertia) में और
 पुराव से प्रसवविषय में होता है। इसके सिवा और किसी
 भी नहीं। परंतु यही परिणाम कुछ कम नहीं है। इसके सिवा
 अन्य परिणाम, जो इस सूत्र में बनावे गये हैं, गर्भिणी को
 अकालप्रवाहण से बचाव करने की दृष्टि से बनावे गये हैं,
 कार्य-करण की दृष्टि से नहीं बनावे गये हैं।
 शितीवायवा के अर्थ—शितीवायवा का मुख्य अर्थ
 प्रसवेदना है। यह वेदना क्वचि पुरातया नहीं, तथापि
 विनाश और अत्यन्त दुःखकर होती है। इसी के कारण यी
 की कड़ी और सौम्य कुछ तेज ही जाती है तथा क्वच
 पर कुरीत आने लगता है। साथ ही साथ गर्भ गर्भाशय से
 बंधे होते हैं और वेग न कर सकें इसका अर्थ है।
 शितीवायवा के अर्थ—अप्रवाहण में अहिाहर प्रवाहण
 रहती है, वस्तु शितीवायवा के कारण से ही उत्पन्न
 विकार पर अदना अर्थ है। यह विकार अहिाहर ही हो

सकता है, परन्तु उससे खटिया या पलंग पर होना अधिक
 प्रशस्त है क्योंकि पलंग या खटिया पर सहायता करने वाली
 स्त्रियों को प्रसव के समय सहायता करने में कुछ सुविधा
 होती है। प्रसव के समय खटिया से भी पलंग अच्छा
 होता है क्योंकि खटिया में बीच में शोहा पतता है—
 भाभ्यो दि खरदन्येन खटवामातोष्येचय* । (अर्थात्गृह्य)।
 अस्यामवरथायां पयंभुनेनामारोष्य प्रवाहपिनुमुनये* । (चरक)
 प्रसव के लिये पलंग पर खी का आसन आनुप्रसविय उचान
 ही (Dorsal-position) होता है जैसे कि पिछले सूत्र में
 वर्णन किया है, किंवा मूदगभंशरुक्म में बताया है—
 उचानाया आनुप्रसव्या बन्नापारोप्रमिनकटया । (चिकित्सा
 १२)। उचानासन के सिवा प्रसव के लिये पार्श्वसन
 (बरवट लेटना 'Lateral position') भी सुविधाजनक
 होता है। आयुनिक काल में कुछ लोग उचानासन को
 और कुछ पार्श्वसन को पसन्द करते हैं। इस आसन में
 खट्टे पर खी को सिरहाने और पैताने से कुछ आधार प्रदान
 करके छापी आने पर प्रवाहण का कार्य प्रारम्भ करना
 चाहिए। प्रवाहणयुक्त प्रसवेदना से गर्भ धीरे धीरे
 गर्भाशय से नीचे योनि में जाता है और योनि से बाहर
 आता जाता है। इसमें योनिद्वार में भी कुछ कठिनता
 होती है। इस कठिनता को दूर करने के लिये योनिद्वार
 तथा उसके आस-पास का, विशेषतया नीचे का (गुलाघार
 पद Perinaeum) भाग खुद, मिथिल और प्रसरणशील
 रखने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसे तो गर्भनीतिपरीक्षण
 से इन अङ्गों में लसिका भरकर इनको खुद बना ही देती
 है। इस स्वाभाविक खुदता से हृदिमिलीया अधिक खुदता
 उत्पन्न करना कठिन है। परन्तु कोशिश इस बात की की जाती
 है कि यह स्वाभाविक खुदता बनाये रहे और इसमें छिन्नी
 प्रकार की गुराही न होने पावे। आयुनिक काल में इसके
 लिये गरम पानी में संक्षिप्तपत्र (Lysol) का थोला बनाकर
 उसके चार चार परिवेचन से योनि तथा उसके आस-पास
 का भाग तर रक्का जाता है। इस काम के लिये रसकर
 का थोला (Mercury lotion) प्रयुक्त नहीं होता। क्योंकि
 यह प्राही होने के कारण जिससे संयुक्त होता है, उसको
 सक्न बना देता है। आयुर्वेद में योनि की खुदता रखने के
 लिये ही विषितान्तर का अर्थ है करने के लिये कहा है—
 योनिप्रनुप्रमनुप्रामप्यन्, योनि पुन पुन प्रणये* ।
 (अर्थात्गृह्य)। अर्थात् ये खुदता उत्पन्न होती है, यह
 गिद प्रण है—अप्यन्ने प्रणेर* । (चिकित्सा २३)।
 हाथलिय करने के समय योनि का अर्थात् अन्वयगर्भ में
 मार्ग उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही दिया जाता है, इसमें
 कोई संदेह नहीं है। शितीवायवा में प्रसवेदना के साथ
 प्रवाहण करने की आवश्यकता होती है और प्रसव से
 गर्भ कुरीत नीचे की ओर जाता है। जब यह योनिद्वार पर
 आता है, तब प्रवाह करने के साथ साथ का शितीवायवा की
 मदद से ही योनिद्वार के बाहर आता है—अप्यन्ने
 अणु इव अन्वयगर्भ प्रणेर* । (वाजपयस्यसूत्र १-२३)।
 Madly, the head comes down on like a
 stone. Some authorities, however, say that
 पूर्व पूर्व हो जाता है तब प्रसवेदना के साथ प्रवाहण

करना उचित नहीं है । इससे योनिद्वार या मार्ग विदीण (Laceration) होने का डर रहता है । योनिद्वार पर गर्भ आने से प्रसववेदनाएँ अत्यन्त तीव्र स्वरूप की हुआ करती हैं, जिससे माता प्रवाहण कर नहीं सकती, परंतु रोने या चिल्लाने लगती है । रोने या चिल्लाने से प्रवाहण का कार्य आप से आप बन्द होता है । इस रुदन या क्रन्दन को योनि का रक्षाकर कर्म (Safety valve action) कहते हैं । यह कर्म निसर्गतः हुआ करता है । इसलिये गर्भ के सिर का जन्म होते समय अगर स्त्री रोती या चिल्लाती हो तो उसको कुछ भी न कहना चाहिए । अगर उस समय वह पहले की तरह प्रवाहण करना चाहे तो उसे प्रसववेदना के समय प्रवाहण करना मना करना चाहिए । प्रसववेदना के बीच में जरा-सा प्रवाहण करने पर प्रायः सिर योनिद्वार से बाहर निकलता है और दूसरी प्रसववेदना के समय संपूर्ण बालक बाहर आता है और उसके पश्चात् शेष गर्भोष्क और कुछ रक्त निकलता है । गर्भ का जन्म होने पर द्वितीयावस्था समाप्त होती है । प्रथमप्रसवा स्त्री में इन्म अवस्था का काल १-२ घंटे का होता है और अनेकप्रसवा स्त्री में १२-३० मिनट का होता है । गर्भ का जन्म होने के पश्चात् गर्भाशय नाभि से नीचे आ जाता है ।

द्वितीयावस्था का वैदिक कर्म—निम्न मन्त्र गर्भिणी स्त्री के कान में पढ़े जाते हैं—
 क्षितिर्जलं विद्यतेजो वायुविष्णुः प्रजापतिः ।
 सगर्भा त्वां सदा पांतु वैश्वं च दिशन्तु ते ॥ प्रसव्य इवमविष्टि-
 मविष्टिश्चा शुभानने । कार्तिकेयपुत्रि पुत्रं कार्तिकेयागिरिचित्तम् ॥
 (चरक) । अष्टांगसंग्रह में निम्न दो श्लोक और दिये हैं—
 श्वाश्रुतश्च सोमश्च चित्रभानुश्च मामिनो । षच्यैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे
 निवसन्तु ते ॥ श्दममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघुगर्भमिमं प्रमुञ्चतु
 स्त्री । तदनलपवनाकर्मवासवास्ते सह लवणान्धुरैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥
 किंवा इन च्यवनप्रणीत मन्त्रों से सप्तवार अभिमन्त्रित जल पीने के लिए दिया जाता है—जलं च्यावनमंत्रेण सप्तवाराभि-
 मन्त्रितम् । पीत्वा प्रस्यते नारी । (घृन्दमाधव)

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत् ॥६॥

उसमें प्रतिलोम (गर्भ) को अनुलोम करे ॥ ६ ॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—विपम शरीरस्थिति से आया हुआ गर्भ प्रतिलोम कहलाता है । अनुलोमन—विपम शरीर को सम करके निकालना—गात्रं च विपमं स्थितम् । आँछनोत्पीड-
 संपीडविक्षेपोत्पेण्णादिभिः । अनुलोम्य समाकर्षणानि प्रत्यार्ज-
 वागन्म् ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर २) । इस विषय का अधिक विवरण चिकित्सास्थान के मूढगर्भचिकित्सित अध्याय में किया गया है ।

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण
 पिण्डीतकेन वा, वध्नीयाद्द्विरण्यपुष्पीमूल हस्तपा-
 दयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा ॥१०॥

(गर्भाशयसंग की चिकित्सा—) गर्भसंग में काले सांप की केंचुली या मदनफल (को जलाकर उसके धुँएँ) से धूपन करे; हाथ-पांव में हिरण्यपुष्पी का मूल बाँधे; अथवा (गले में) सुवर्चला या विशल्या को धारण करे ॥ १० ॥

वक्तव्य—गर्भसंग—गर्भ का बाहर न निकलना । प्रारंभिक अवस्था में प्रसववेदना शुरू होने पर भी दूसरी

अवस्था में उसका बाहर न निकलना । इसके निम्न कारण होते हैं—(१) गर्भ का प्रतिलोम या विपमस्थिति में आना । (२) मलाशय और मूत्राशय की परिपूर्णता । (३) अकालप्रवाहण और प्राप्तकाल में अप्रवाहण । इनके सिवा और भी कारण हो सकते हैं । परंतु यहाँ पर उसकी जो चिकित्सा बतलाई गई है, उसको देखकर इससे अधिक गंभीर कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं होती । प्रथम और द्वितीय कारणों का परिणाम एक सा होता है, याने गर्भ के लिए अपत्यमार्ग तंग हो जाता है । इसलिये प्रारम्भ में बहुत कुछ कोशिश करने पर भी गर्भाशय गर्भ को बाहर निकालने में असमर्थ होकर अन्त में थक जाता है । तृतीय कारण का परिणाम भी वही होता है । अकालप्रवाहण से स्त्री थक जाती है और प्राप्त काल पर प्रवाहण न होने से गर्भाशय निराधार होने से थक जाता है । संक्षेप में यह गर्भसंग (Uterine inertia) गर्भाशय के थक जाने का परिणाम है । यह गर्भाशयसंग दो प्रकार का होता है—प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) । प्राथमिक गर्भाशयसंग अधिक गंभीर स्वरूप का और अधिक गंभीर कारणों से उत्पन्न होने वाला होता है । जैसे—गर्भाशय के विकार, अर्जुद, व्यंग, प्रसवपूर्व रक्तस्राव, माता, राजयक्ष्मा, रक्तक्षय इत्यादि विकार । इस प्रकार का संग वातक भी होता है और इसी का उल्लेख मूढगर्भ के असाध्य लक्षणों में 'गर्भकोपपरासंग' करके (सूत्रस्थान के ३३ वें अध्याय का १२ वाँ श्लोक देखो) किया गया है । द्वितीयक संग कारण, लक्षण और परिणाम की दृष्टि से उतना गंभीर नहीं होता । उसका निर्देश यहाँ पर किया गया है । इसको श्रान्तगर्भाशय (Exhausted uterus) कहने का भी रिवाज है । चिकित्सा—प्रतिलोम गर्भ को अनुलोम करना यह प्रथम कारण की चिकित्सा है, उसका निर्देश उपर के सूत्र में किया गया है । मलाशय या मूत्राशय मलमूत्र से परिपूर्ण हो तो वस्ति या सलाई से उनको रिक्त करना चाहिए । इस कारण को दूर करने के लिए ही प्रसव के प्रारम्भ में माता को विरेचन और वस्ति देना उचित है । तृतीय कारण की चिकित्सा माता को आराम देकर पश्चात् प्रसववेदना उत्पन्न होने पर प्रवाहण करना है । यहाँ पर ओपधियों के द्वारा जो चिकित्सा बतलाई गई है, उसका विवरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं । (१) मानसिक परिणाम—जिसका इन ओपधियों की शक्ति पर विश्वास है, वह स्त्री इनके प्रयोग से निश्चिन्त होकर गर्भसंग दूर हो जायगा, ऐसा मानने लगती है । इसका परिणाम गर्भाशय के संकोच में होकर प्रसव होता है । (२) समय का परिणाम—ओपधियों को ले आना, धूपन करना, गले में या हाथ-पैर में बाँधना, इत्यादि में कुछ समय चला जाता है । इसके सिवा माता की कुछ साम्त्वना करने में भी समय चला जाता है । जैसे कि अर्धश्रान्त मनुष्य किसी पेड़ के नीचे थोड़ी देर आराम करने पर फिर से अपना मार्ग तय करने में समर्थ होता है, वैसे ही गर्भनिष्कासन-श्रान्त गर्भाशय सुवर्चलादि धारण के निमित्त थोड़ी देर तक आराम करने पर फिर से गर्भनिष्कासन के अपने कर्म

में समर्पण हो जाता है। (१) प्रत्यक्ष ओषधियों का परिष्कार वा प्रभाज—हिरण्यपुष्पा, सुवर्चला, विराहवा इतनें यह प्रसवकारक शक्ति कहाँ तक है, यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीन तथा अर्वाचीन कुछ ग्रन्थों में यह प्रसवकारक (आगे देखो) बतलाई गई है। ओषधियों में इस प्रकार की आश्चर्यजनक शक्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके सिद्धार्थ अँगो से देखा हुआ एक उदाहरण दिया जाता है। पश्चिम न्यान्देश जिले के मुख्य स्थान गुलिया में एक मनुष्य के पास विष्टु की जड़ी है। एक दिन दोपहर को एक भूवा साधु वरागी उसके घर पर अन्न माँगने आया था। संयोगवत् उसके घर में अन्न था और उसने उसको दिया। उससे संतुष्ट होकर उसने वह जड़ी उसको प्रदान की। उस जड़ी की विशेषता यह थी कि द्वांशस्थान के सामने (द्वांशस्थान से प्रत्यक्ष मन्मथ नहीं) पानी में मिगोकर वह रक्खी जाती थी, और मन्मिन्ट दो मिनट में वह जड़ी, लोहचुम्बक जमे लोह को अपनी ओर लोह को बिना स्पर्श किये खींच लिया करता है, वैसे पृथिव्य को खींच लेती थी। पश्चात् पानी से धोकर वह रख दी जाती थी। प्रत्येक साल में सैकड़ों पृथिव्यकर्दरा के मनुष्य पृक्षाध मिनट में निरपवाद ठीक होकर चले जाते थे। आधुनिक विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता, और जिनकी क्लरना की दौड़ विज्ञान से आगे नहीं जा सकती, वे या तो ऐसी घटना का अणाय मानते हैं, या मेसेरिज्म, हिप्नोटिज्म या अन्य इन्म से इसका कार्य-कारण संबंध का विवरण करते हैं। परन्तु विष्टु को उस जड़ी में न कोई इन्म होता है और न उसके प्रभाव में असयता ही है। सैकड़ों बार अँगो से देवी हुई वह चीज है। इसलिये प्रसवकारक धनस्पतियों भी हो सकती हैं। अधिवास करने का कोई कारण नहीं है। हिरण्यपुष्पा—छागडी। लागनी होवनी सीपी विरहवा वनिकारिका। अग्निविद्धा स्वपुष्पा दोसा नकेडु-पुष्पा ॥ लागनी कडवा बोष्पा वकनानापश सरा। अषट पावनी चैव सप्तप्रमत्रकारिका ॥ हिरण्यपुष्पा सर्णकेंडरी आरवव रयन्ने। (हाराणचन्द्र)। लागनी वारिया पिंघ करपाद प्रलेपिडा। अषटा पावकलायु न सदोहोड कथन। इगीत लांगनो-मूल वारिया परिपेविउम्। नामो योनी प्रविश वा सप प्रसव कृमवम्। (रसतरंगिणी)। सुषकाया सुर्गन्ता, विरहवा पावना। (सर्वेण)। विरहवा उजूची। (हाराणचन्द्र)। तथा सुषकाया विरहवाया वा मणिवच्छरीरे पारवम्। (इन्दु)।

अथ जातस्थोत्वमपनीय, मुख च सैन्यरसपिपा विशोध्य, घृताकं मूत्रं पिचु दधात्; ततो नाभिना डीमप्राहुलमायम्य सूत्रेण दृष्ट्वा छेदयेत्, तत्सुत्रकं देश च कुभारस्य प्राचायां सम्यग् यज्ज्यायात् ॥११॥

(जात बालक के कर्म—) अब जन्म लिए हुए बालक के जरायु को हथकर, सैन्यवपुष घी से मुख का विशोधित करके, उसके सिर पर घी से भीगा हुआ काया रक्खे। पश्चात् (नाभि से) नाभिनाडी आठ अंगुल नापर (वहाँ पर) सूत्र से बाँधकर (उसके आगे कंची से) काटे। फिर उस सूत्र का दूसरा सिरा बालक के गले में ठीक तौर से बाँधे ॥ ११ ॥

पक्ष्म्य—उत्त—गर्भावरणजरायु। पहले यह बताया जा

सुका है (हो सुत्र के वक्ष्य के अन्त में) कि प्रयत्न-वस्था के अन्त में गर्भावणमुक्त पूर्ण विसृज होने पर गर्भ के सिर के सामने आया हुआ गर्भावरण का भाग निराकार होने के कारण पृथ्वा है और गर्भोदक बाहर निकलता है। कभी कभी जरायु के मज्जल रहने या अन्य कारण से पगमोटी नहीं पृथ्वी और यदि अंगुलि से न विदीर्ण की जाय तो गर्भ के साथ उसका सिर योनि के बाहर आने के समय तक ज्यों की र्यों रहती है और पश्चात् पृथ्वी है। कभी कभी संपूर्ण गर्भ जरायु के साथ जन्म लेता है। इस अवस्था को उत्प के साथ जन्म (Born with a caul, फोल अर्थ उत्प है) कहते हैं। इसमें गर्भ के आवरण अपरा से अलविदा होकर गर्भ के साथ बाहर आते हैं। गर्भ योनि के बाहर आते ही साँस लेने की कोशिश करता है और यदि उसके मुख पर पानी और आवरण हो तो अपने ही पानी में डूबकर मरने का डर रहता है। इसलिये यदि गर्भ उत्प के साथ योनि के बाहर आ जाय तो दीर्घातिगीम जरायु को विदीर्ण करके और मुख को जरायु से स्वतन्त्र करना चाहिए। किंवा उत्प से संपूर्ण जरायु का अर्थ न लेकर केवल जरायु का टुकड़ा भी ममत्त सकते हैं। कभी कभी जरायु का टुकड़ा बालक के सिर के साथ निकल आता है और मुख पर चिपट जाता है, जिससे आस-प्रवास में बाधा उत्पन्न होती है—(The child is born I lay it on the right side, see that its face is free from any portion of membrane or other hindrance to breath ng. *Esoteric Anthropology* उत्तमपनीय—

संपूर्ण जरायु के साथ जन्म हुआ हो तो जरायु को विदीर्ण करके मुख को सुलाकर, किंवा मुख के ऊपर जरायु का कोई टुकड़ा हो तो उसको दूर करके। ब्यापक दृष्टि से उत्तमपनीय का अर्थ बालक के चेहरे को याने मुख के बाहरी भाग को साफ करके। मुख और नासा को साफ करने में देरी होने से आसारावोष से सृष्ट हो जाती है। जातस्य—जातमात्रय। उपर्युक्त कारण से 'जातस्य' का अर्थ जन्म होते ही तत्काल, ऐसा करना चाहिए। अथागसमह में जातमात्र शब्द का प्रयोग किया गया है—अथ लुठ जानमात्रवेव बालमुलाय सेन्ववसिपिपा मार्गदेत्। (उत्तर तन्त्र १)। जातमात्र तलान पव। (इन्दु)। इस प्रकार उत्प के साथ बालक का जन्म कश्चित् होता है। इसलिये चरकसंहिता में जातकर्मों में उत्प निकालने का कर्म नहीं बताया गया है। मुख व विशेष्य—मुख के भीतर का भाग, विशेष करके गला। गले में रहेप्या भरा रहता है, जो स्वास-प्रवास में बाधा उत्पन्न करता है—रच्छे च कफधेधे। इसलिये जन्म होते ही गले को भी साफ कर लेना उचित है। चरक में कण्ठविशोधन की विधि बहुत अच्छी तरह वर्णन की है—अथास्य तालोडरच्छविहारागर्भान्नारवेणतुलया सुपरिनिखिलनत्वा सुषकातिलोषवाननार्पणविशुमत्या। (शारीर ८)। इससे गला साफ होकर स्वास लेने में आसानी होती है। कभी कभी गले में रहेप्या बहुत गहराई तक भरा रहता है, जो कराहुल्लि से साफ नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में उसको निकालने के लिये संघव और घी से बालक को उल्टी कराने का रिवाज था—ननोडयानन्दर सैन्योपहितेन सपिपा कार्य प्रच्छेदम् ॥

(चक्र) । आधुनिक काल में गले के नीचे का स्लेन्मा नाडी-यन्त्र या सफाई Catheter के द्वारा चूसके निकाला जाता है। गले का नीचे का स्लेन्मा बाहर निकालने के लिए बालक को पेट से उठाकर सिर नीचा करने का भी विधान है। इससे जान से जान स्लेन्मा बाहर आता है, जो सफाई से या कार्बोसिलियुच अंगुलि से निकाला जा सकता है। मुख की नीचे की सफाई के साथ मुख की बाहर की सफाई भी करनी चाहिए। इसमें विशेषतया आँवों पर ध्यान देना पड़ता है। आँवों की सफाई इसलिए आवश्यक होती है कि अपत्यमार्ग में से जाते समय आँवों के ऊपर योनित्राव और मलमूत्र का छुड़ संभव हो जाता है। यदि इन चीजों की सफाई न की जाय, तो आँवें खुल जाने पर ये द्रव्य नीचे पहुँचकर उनमें शोथ पैदा कर सकते हैं। यदि माता सोझाक से पीड़ित हो तो आँवों की सफाई के ऊपर अधिक ध्यान देना पड़ता है। इसमें प्रथम रुई के फाया से आँवें साफ करके पश्चात् टंकगाल (चोरिक) बेल से आँवें बौड़े जाती हैं, और अन्त में १ प्र० श० लिस्तर नैट्रेट बेल के एक दो वूँद उनमें छोड़े जाते हैं। सोझाक के सिवा योनिमार्ग में अन्य पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर भी (पूयजनक जीवाणुओं के लिए सूत्रस्थान के १५वें अध्याय के १२वें श्लोक का वक्ष्य देखो) इसी तरह से सफाई करनी चाहिए, वरना आँवों में उनका उपसर्ग पहुँचने पर आँवें आती हैं। इस विकार को नवजात नेत्राभिम्यन्द Ophthalmia neonatorum कहते हैं। इस अभिम्यन्द का परिणाम अन्धता में होता है। आँवों की सफाई बालक का पूरा जन्म होने के पूर्व, यानि सिर बाहर निकलने ही करनी चाहिए, और बालक के संपूर्ण बाहर निकलने के पश्चात् कुछ ही सफाई करनी चाहिए।

इस तरह नेत्र और मुख की सफाई करने के समय तक स्पर्श, वक्षस्पर्श, वायुस्पर्श इनको सह न सकने के लिये बालक प्रायः नीचे से चिहाने लगाता है, जिससे उसके नका तथा स्वस्यावस्था का पता सब को लग जाता है। तो कभी कष्टसृष्टि के कारण या अपने दौर्बल्य के कारण लक बन्दी नहीं होता, उस समय गरम या ठंडे पानी अवसेचन, चूबन लगाना इत्यादि मामूली उपाय करने हिये। बालक के न रोग के कारणों का बड़ा सुन्दर वर्णन शोषसंग्रह में दिया है और चक्र में रखने के उपायों को उल्लेख है—गोष्ठादिपदार्थोंकेद्वारासंक्रमणसंग्रहस्य क्रोशिसुनिधि गतुकारनननयन्त्रानवसिध्दोद्वेहावोरसन्माप्ययथावकस्यस्यत्त कल्पनसंनिधे करवसवसससंसर्ग सन्धानस्याविकारिवसश्चानि सिद्धिः सुनरिड करसससुसुसुवो जीयनानसंसुत्वादिदिवं-मेनिद्वानोद्विद्वानुत्पादवक्तव्य ॥ (अष्टांगसंग्रह, उपर १) । स्थानोः संवहनं कर्णयोर्मे, शोतोदकेन वा सुखेन परिषेधः, तथा उद्वेगवैदिनात् प्रसार्त्तुनसंनिधे । कृष्णकणिकार्यायुर्ध्व चैनमनि-वेष्णसंनिधेः स्यात् सार्धं प्राणानां प्रत्यागमनम् । (चक्र) । उच्ये २ शोथिवाकसद्वानोद्वेगसंग्रहम् । (इन्दु) । शोतोदकेन शोथोदकेनैव विद्यते स्रुतवैदित ईशः, शीमकाले शोथोदकेन, शोथकेन च शोथोदकेनैव । (चक्रमिदिच) । प्रसवपीडा के कारण लोचमान याने सूक्ष्मेतन बालक इन मामूली उपायों से शोथ पर आकर आरक्ष कराने लगता है। यदि शोथ पर न

आ जाय तो समझना चाहिए कि बालक नवजात श्वासावरोध से पीड़ित है, और उसके अनुसार शोधातिथीय चिकित्सा करनी चाहिए। नवजात श्वासावरोध (Asphyxia neonatorum)—मनुष्यों को प्राणवायु की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति श्वास से होती है। गर्भाशय में स्थित बालक श्वास-प्रश्वास का कार्य नहीं करता, उसका कार्य माता के द्वारा होता है—मार्तुनिश्चितोद्यवाससंचोमस्वप्नसंभवान् । (शारीर ३) । अर्थात् गर्भाशय से बाहर आने के पूर्व बालक को प्राणवायु माता के रक्त से मिलता है। गर्भाशय के संकोच के समय गर्भाशयगत अतएव अपरागत रक्तसंचार बंद हो जाता है तथा गर्भहृदय की गति मंद होती है। अर्थात् गर्भाशयसंकोच के समय गर्भ को प्राणवायु कम मिलती है। संकोच समाप्त होने पर फिर से रक्तसंचार शुरू होकर प्राणवायु मिलने लगती है। द्वितीयावस्था में जब संकोच की लहरें जल्दी जल्दी आने लगती हैं तब गर्भ को प्राणवायु कुछ मिलती है, परंतु पूर्णतया उसका अभाव नहीं होता। अर्थात् द्वितीयावस्था में गर्भाशय की संकोच लहरें सान्तरित के बदले निरन्तर हो जाती हैं। उस अवस्था में गर्भ को प्राणवायु नहीं मिलती और उसका परिणाम श्वासावरोध में होता है। इस कारण के सिवा कभी कभी गर्भ की नाभिनाडी बंद जाती है, या अपरा गर्भाशय से जल्दी प्रयत्न होने लगती है और श्वासावरोध होता है। श्वासावरोध का एक और भी कारण होता है। प्राणवायु की कमी होने से गर्भ गर्भाशय में या योनि में होते समय मुख से साँस लेने की कोशिश करता है। इसका परिणाम यह होता है कि गले में या फुफुस में कुछ गर्भोदक या स्लेन्मा भ्रष्ट होकर वायु के रास्ते में रुकावट पैदा करता है। यह श्वासावरोध दो प्रकार का है—(१) पाण्डुर (A. pallida) —इसमें बालक का वर्ण पीका, शरीर ठंडा और हृदय मंद और क्षीण होता है। यह श्वासावरोध असाध्य होता है। (२) ध्वाव (A. Livida) —इसमें बालक का वर्ण नीलाभ होता है। उसका हृदय ठीक काम करता है। यह श्वासावरोध प्रायः साध्य होता है। इसमें प्राणप्रस्थानयन के ऊपर जो उपाय बताये हैं, जैसे, शीतल जलावसेचन इत्यादि, उनसे काम हो जाता है। यदि इससे काम न हो तो पाण्डुर श्वासावरोध के समान कृत्रिम श्वसन का उपयोग करना (सूत्रस्थान. २५वें अध्याय के १२वें सूत्र के वक्ष्य में कृत्रिम श्वसन की विधियाँ देखो) चाहिए। पाण्डुर श्वासावरोध में कृत्रिम श्वसन का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। कृत्रिम श्वसन प्रारंभ करने के पूर्व बालक का मुख और गला साफ करना आवश्यक है। बालक पाण्डुर श्वासावरोध से पीड़ित हो तो तुरन्त उसकी नाड़ी काटकर उसको थोड़ी देर तक (छह सेकंड) गरम पानी में (१००° फे०) रखना चाहिए। पश्चात् उसको वहाँ से निकालकर और अच्छी तरह पोंडकर कृत्रिम श्वसन कराना चाहिए। कृत्रिम श्वसन में सिल्वेस्टर, ल्यूडो की तथा मार्शल की पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं। मार्शल की पद्धति में बालक प्रसारित हथेली पर क्रम से पीठ के बल और छाती के बल पर रक्ता जाता है, जिससे उसका सिर और श्वासावरोध नीचे की ओर लटकती रहती है। मार्शल की

पदति स्वावरवाभावयोध में अधिक उपयोगी होती है। संमुखश्वासन (Mouth to mouth respiration) - इसमें बालक के मुख में मुख से हवा फूँकी जाती है। घूँबने के समय नासा बंद की जाती है तथा आमातस्य के ऊपर कुछ दबाया जाता है, जिससे हवा नासा मार्ग से न बाहर आ सके, न आमातस्य में चली जाय। इस प्रकार का संमुख श्वसन कई बार किया जाता है। कृत्रिम श्वसन का कर्म हृदय और श्वसन के अर्द्धी तरह चलने के समय तक या पूर्णतया बंद हो जाने के समय तक करना चाहिए। प्राण-प्रत्यानयन में कृत्रिम श्वसन के अतिरिक्त पिष्टपुनिन का हृन्ने-शान (स्वचा में मात्रा २-४ वृद्ध) और मसूँहों पर तथा हाती पर माडी मलना इन उपयोगों का भी उपयोग होता है। स्वावस्थायायोध में मापूठी उपयोग से अगर काम न हो तो उसकी नाडी काटकर पाएडूर के समान सख उपाय करने चाहिए। अष्टांगुलमायम्य-नाभिसे दैर्घ्येणष्टगुल परिमाय। घाग्मत आठ अंगुल के बड़े चार अंगुल बताते हैं-नाभिनाल नासाभिर्बधनाधनुस्तुत्योर्वी घीमस्वेण रट्ट्वा। (अष्टांगसंग्रह)। नाभि व दूरेण चतुस्तुलार रट्ट्वाध्वं। (अष्टांगहृदय)। चतुरंगुल की मर्यादा आधुनिक काल की मर्यादा से अधिक मिलती है। शीश्यां बन्धीवाप-बहणाचार्य कहते हैं 'स्वावस्थियायं'। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। नाडी के अन्त में गौंठ लगाने पर धाय होने का कोई हर नहीं होता। हाराणचन्द्र कहते हैं कि गले में बाँधने से नाडी के भीतर का रसप्रवाह बन्द होकर नाडी सूखने में सहायता होती है-ग्रीवात्वा बन्धीवादिनि तु निवरा एवादिप्रतिबन्धेन स्वस्तिमुच्छोषयितुमित्युत्प्रेमम्। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि गले में बाँधने से रसादि की गति की रुकावट होने का कारण नहीं है, न उससे सूखने में सहायता होती है। गले में बाँधने का प्रयोजन यह मालूम होता है कि अगर आठ अंगुल लम्बी नाडी का दूसरा सिरा वैया ही खुला रक्त्वा जाय तो वह स्वतन्त्र और लम्बा होने के कारण हर एक काम में दखल करेगा। बालक के मल-मूत्र से खराब होगा तथा गिला भी होगा, क्योंकि वह जननेन्द्रिय के बहुत करीब होता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए उसका सिरा बालक के गले में बाँधने का आदेश किया गया है। यदि नाडी अंगुल दो अंगुल लम्बी रक्की जाती तो गले में बाँधने की कोई आवश्यकता नहीं होती। हस्तु अपनी टीका में गले में बाँधने का उद्देश्य लम्बत्वपरिहार बताते हैं, वह बहुत ठीक है-द्विप्रक्षिप्त नाभिनाल बालस्य ग्रीवाया सूत्रेणामभ्यवेष्टावत्परिहा राय। नाडीकल्पन की विधि चरकसंहिता में बहुत उत्तम प्रकार से वर्णित है-नाभिरचनाय प्रत्युत्थाशुलमभिमानं कुंवा छेदनावनाशस्य ह्योस्तदयो चनेर्गुंठीवा लीलेन रीवद रासजयधारां धेदुरानामगवधेन धेदेवेत्।

नाडीकल्पन के सम्बन्ध में कुछ बातें-(१) नाडीकल्पन का समय-माता के शरीर में नाभिनाडी के द्वारा माता और गर्भ में आदान-प्रदान का कार्य हुआ करता है। अर्थात् वह आदान प्रदान नाभिनाडीगत रक्तप्रवाह से होता है जिसका ज्ञान हमें नाडीगत स्पन्दन से हो जाता है। बालक के स्वतन्त्रवृत्ति होने पर यह आदान-प्रदान याने

नाभिनाडीगत स्पन्दन बन्द हो जाता है। अपत्य मार्ग से बाहर आते ही बालक प्रथम श्वास प्रश्वास का कार्य प्रारम्भ करता है। इससे बालक के पुष्पुष्प में रक्त की राशि अधिक जाने लगती है और अपना (जो पहले पुष्पुष्प का काम करती थी) में कम जाने लगती है। कुछ मिनटों में रक्त परिभ्रमण की यह अदृश्यदृश्य पूरी होकर नाडीगत रक्त-प्रवाह पूर्णतया बन्द होता है, जिसका ज्ञान नाडीगत स्पन्दन बन्द होने से होता है। इसलिए नाडी का बन्धन उस समय पर करना चाहिए, जब कि बालक की नाभिनाडी का स्पन्दन बन्द हो गया हो। जन्म के पश्चात् मुखविशोधन, अरमसंधन हृत्पादि कर्म करने के लिए जितना समय लगता है, उतने समय में नाभिनाडीगत रक्तप्रवाह आप से आप बन्द हो जाता है। चरकसंहिता के 'व्य बन्धन नाडी' इस शब्द प्रयोग से यह बात स्पष्ट होती है कि नाडी का कल्पन अरमसंधनादि कर्मों के पश्चात् किया जाता था। परन्तु उपर्युक्त कर्म कौड़े करे या न करे, नाडी का बन्धन तथा कल्पन नाडीगत रक्तप्रवाह बन्द होने के पश्चात् करना चाहिए। यदि बालक के बाहर आते ही नाडीकल्पन किया जाय तो बालक ८ तोले रक्त से वंचित हो जाता है याने नाडी का स्पन्दन बन्द होने के समय तक अपना से बालक के शरीर में ८ तोला रक्त प्रविष्ट होता है। अष्टांगहृदय में नाभिनाडी के बन्धन का समय 'स्वस्थीभूतस्य' शब्द से सूचित किया गया है। जब कोई ब्यक्ति अत्यन्त भिन्न परिस्थिति में, या स्थान में, या आश-हवा में चला जाता है, तब थोड़े काल तक यह अवस्था होता है। फिर धीरे धीरे वह स्वस्थ हो जाता है। बालक के लिए भी ऐसा ही होता है। माता के शरीर के भीतर की परिस्थिति और शरीर के बाहर की परिस्थिति में जमीन-आसमान का भेद होता है, जिसके कारण बालक कुछ देर तक अवस्थ रहता है। इसका सुन्दर वर्णन अष्टांगसंग्रह का उपर जो उद्धरण दिया है, उसमें मिलना है। कुछ देर के पश्चात् बालक इस नई परिस्थिति के लिए तैयार हो जाता है। उस अवस्था को स्वस्थीभूत' कहते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद में नाडीबन्धन के लिए जो काल बताया गया है, वह आधुनिक काल के साथ मिलता है। (२) बन्धन की श्रेया-उद्देश्य करने के पूर्व माता में दो बन्धन लगाये जाते हैं। एक बन्धन नाभि के साथ लगी हुई नाडी के अन्त में रहता है और दूसरा अपना से सम्बन्धित नाडी के अन्त में रहता है। गर्भ को नाडी के साथ बन्धन की आवश्यकता होती है क्योंकि यदि बन्धन न लगाया जाय तो उससे रक्त का जाव होगा। दूसरे बन्धन की उतनी आवश्यकता नहीं होती और न लगाया जाय तो भी कोई ख़ास नुकसान नहीं होता। सुश्रुत, अष्टांगहृदय तथा संग्रह में एक ही स्थान पर बन्धन बाँधने के लिए कहा है। आधुनिक काल में दो बन्धन बाँधने का रिवाज है। दूसरे बन्धन का उपयोग अपरापतन का ज्ञान होने के लिए होता है। इसके सिवा जब यमल की उत्पत्ति होती है, तब कई बार दोनों की नाभिनाडी का आपस में सम्बन्ध रहता है। उस अवस्था में यदि अपना से सम्बन्धित नाडी पर बन्धन न लगाया जाय तो दूसरे गर्भ से रक्तजाव होने का

डर रहता है। इसलिपू दूसरा बन्धन खाना यद्यपि हरेक बालक के लिए आवश्यक नहीं होता तथापि प्रसव की तृतीयावस्था के लिए सुविधाजनक और यमलों के लिए आवश्यक होता है। अतः परिपाटी के तौर पर आजकल दो बंधनों का प्रयोग होता है। घरकसंहिता में भी दो बंधनों का उपयोग करने का उपदेश किया गया है—
 छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन छेदयेत् ।
 (चरक)। इसका अभिप्राय यह है—छेदनावकाशस्योर्ध्वमे-
 कामथैर्कं बंधनं क्षीमस्येण दृढकार्पासस्येण वा दत्त्वा द्वयोर्वन्धनयो-
 र्मध्ये तीक्ष्णेन शलेण छेदयेत्। (३) छेदन और बंधन के सूत्र और शस्त्र—ये दोनों ही विशोधित (Sterilized) होने चाहिए। इनके विशोधन पर ध्यान न देने से नाभि और नाड़ी में पाक उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। कभी कभी यह दोष गर्भ के शरीर में फैलकर जीवाणुमयता (Septicæmia) से बालक की मृत्यु भी हो सकती है। नाभिपाक से नाभिप्रदेश में कमजोरी उत्पन्न होकर आयाम-
 व्यायामादि विकार उत्पन्न होते हैं—असम्यकल्पने, हि नाडया श्रायामन्यायामोत्पिण्डतापिण्डलिक्ताविनामिकाविज्मिकावा-
 धेभ्यो भयम् । (चरक)। इस विषय का विवरण आगे ४६वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। (४) कल्पनेपर नाडीबन्धन की पद्धति—नाभि के साथ सम्बन्धित नाडी का हिस्सा प्रायः पाँचवें दिन नाभि से स्वतन्त्र हो जाता है। कभी कभी पन्द्रह रोज तक नाडी नाभि से पृथक् नहीं होती। तब तक नाडी को इस प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए कि जिससे वह जल्दी सूख जाया करे, मलमूत्रादि से दूषित न हो तथा ज्वर्दस्ती न खींची जाय। यहाँ पर कल्पित नाडी गले में बाँधने की जो विधि बताई गई है, उससे प्रायः उपर्युक्त तीनों कार्य निकल आते हैं; इसमें संदेह नहीं है। केवल एक आध चार बच्चे को उठाते समय, नहलाते समय, कपड़े पहनाते समय, वह अनजाने खींची जाने का डर रहता है। परन्तु पैरों में दखल देने वाली धोती की लॉग को धूमते और सायकल पर सवार होते समय जेब में खोसने की बंगालियों की पद्धति जैसे कामचलाऊ होने पर भी सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, वैसे ही गले में लटकाने की यह पद्धति कामचलाऊ होने पर भी उत्तम नहीं कही जा सकती। उत्तम विधि तो यह है कि किसी स्वच्छ मृदु कपड़े की करीब तीन इंच चौड़ी, चार इंच लम्बी, कुछ मोटी, मध्य में छिद्रयुक्त तह बनाकर उस छिद्र में से नाडी को पिरोकर, वह कपड़े की तह नाभि पर रखे और पश्चात् उस पर नाड़ी को रखकर तथा टंकणाम्ल (चोरिक) या अन्य ओषधि की छुकनी बुरकाकर नाडी के ऊपर उदर के चारों ओर बंध (Bandage) बाँध दे। नाड़ी गिर जाने के दिन तक इस प्रकार सुबह शाम उसका बंधन किया जाय। बुरकाने के लिए कोई ओषधि न हो तो कोई हरजो नहीं होता, परन्तु कपड़ा और बंधन विशोधित होना चाहिए। आजकल नाडीबंधन इसी तरह से होता है। गले में बाँधने का रिवाज नहीं है। (५) स्वच्छता—नाडी के कल्पन और बन्धन के काम में आने वाली सब चीजें अत्यन्त स्वच्छ होनी चाहिए। इसमें लापरवाही करने से पूयजनक जीवाणुओं का प्रवेश नाभिनाड़ी में होकर

नाभिपाक तथा अन्य आपत्तियाँ खड़ी होती हैं। आयुर्वेद में नाडी कल्पन के पश्चात् नाभि के ऊपर कुछतेल सेचन करने के लिए लिखा है—नाभि च कुछतेलेन सेचयेत् । (अष्टांगहृदय और संग्रह, उत्तरस्थान १)। कुछ (Stussurea Lappa) में उबनशील तेल होता है। इस तेल में जीवाणुनाशक विशेषतया पूयजनक जीवाणुनाशक प्राक्ति है, यद्यत् आधुनिक खोज से सिद्ध हुई है—The essential oil has strong antiseptic and disinfectant properties especially against the streptococcus and staphylococcus. *Nadkarni's Indian Materia Medica*. इससे यह स्पष्ट है कि कुछसिद्ध तेल में जीवाणुनाशक का गुण होने से नाभि के ऊपर उसका प्रयोग करने की पद्धति हितावह ही है। परन्तु 'प्रक्षालनादि पंचम्य द्राव्यस्पर्शनं वरम्' इस व्यावहारिक तत्त्व के अनुसार नाभि और नाडी के पास पूयजनक जीवाणुओं को पहुँचाने का मौका ही न मिले, इस प्रकार के वस्त्र नाभिवन्धन में प्रयुक्त करना उचित है। नाडी की दृष्टि में बालक के स्नान का भी कुछ संबंध होता है। इसका विचार आगे के सूत्र में किया गया है।

अथ कुमारं शीताभिरङ्गराश्यास्य जानकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्; ततो वलातैलेनाभ्यज्य, चं रवृत्तकपायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तं वा वाग्निना स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकपायेण वा कोप्येन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च ॥ १२ ॥

अथ बालक को शीतल जल से (परिपेचन द्वारा), आश्रासित करके जातकर्म करने पर मधु और घृत के साथ सुवर्ण का चूर्ण अनामिका अंगुलि से चटावे। पश्चात् वलातैल से मालिश करके मन्दोष्ण चारवृत्तकपाय से, सर्वगन्धयुक्त जल से, प्रतप्त चाँदी-सोने के (निमज्जन के) जल से, अथवा कैथेन के पत्ते के कपाय से दोष, काल और सामर्थ्य के अनुसार (बालक को) स्नान करावे ॥ १२ ॥

वक्तव्य—कुमार—यहाँ पर, पिछले सूत्र में तथा अन्य स्थानों में भी कुमार शब्द से कुमारी का भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि कुमार या पुत्र शब्द अपत्यवाचक ही प्रायः प्रयुक्त किये जाते हैं। फर्क इतना ही है कि जहाँ संस्कारों का संबंध होता है, वहाँ पर कुमार के संस्कार मन्त्रयुक्त और कुमारी के संस्कार मन्त्रविरहित किये जाते हैं—अमन्त्रिका, तु कार्येण स्त्रीणामावृदशेषतः ॥ (मनु २-६६)। जैसे, कुमार हो तो मधु-घृत समन्त्रक चटाया जायगा—मधुसर्पिणी मन्त्रोपमन्त्रिते यथान्नाय प्राशितुं चधात् ॥ (चरक)। कुमारी हो तो वैसे ही चटाया जायगा। परन्तु यहाँ पर बालक के लिए जो कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है, वह इसलिए है कि गर्भ स्थापन होने पर पुंसवनविधि का प्रयोग किया गया था। अनन्तचूर्णम्—सुवर्णचूर्णम्। कहीं कहीं 'अनन्ता' ऐसा भी पाठ है। हाराणचन्द्र 'अनन्ताब्राह्मिणसेन' ऐसा पाठ देते हैं। वाग्भट अष्टांगसंग्रह, में—और भी कई ओषधियों का समावेश करते हैं—नवश्चैन्द्रीब्राह्मिणशङ्खपुष्पी, वचाकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाभामिमन्त्रितं, सौवर्णं नाश्वत्थं, पत्रेण मेघायुर्वलजननं प्राशयेत् । तद्वत्—ब्राह्मिणानन्ताशतवायव्य-

तमचूर्ण वा। यहाँ पर का पाठ गृह्यसूत्रानुसार है—ऊमार जातं पुराऽप्येते रातमात्रे सपिण्डेभ्यो हिरण्यनिकाष हिरण्येन मासुषेय ॥ गृह्यसूत्रोक्त चटाने की विधि यह है कि किसी स्नान पर घी और मधु लेकर उसमें सोना रगड़कर उसी सोने से यह अचलेह बालक के मुख में लगाया। यहाँ पर अंगुलि से चटाने के लिए लिखा है। प्रायतन मन्त्र—प्र ते ददामि मधुनो ब्रह्मस्य वेद सवित्रा प्रयत्न मधोनाम्। माधुभ्यान् गुणो देवामि शत बीव धारो लोके अग्निम् ॥ बलापेनेनाभ्यन्—बालक के शरीर पर उष्क में अधिक काल रहने की वृष्टि से एक प्रकार का चिकना पदार्थ (Vernix caseosa तीसरे अध्याय के १५ वें सूत्र का ब्रह्मस्य देवो) बनता है। कभी यह पदार्थ अधिक होता है, कभी कम होता है। केवल जल से यह साफ नहीं होता है। तैल से यह अस्वी निकल जाता है। इसलिये संपूर्ण शरीर पर तैल की मालिश करने से त्वचा की सफाई होने में सहायता मिलती है। बलातैल का वर्णन चिकित्सास्थान के मूढगामैचिकित्सित अध्याय के अन्त में किया गया है। धीरश्च—अथवाद्यि ह्यृच जिनकी त्वचा पर घाव करने से दूध के समान सफेद गाढ़ा रस निकलता है—मथत्योदुम्ब्रस्यवटपिप्लस जिना। पथैते क्षीरियो वृथा। समार्यावा विचकथे ॥ सर्वगन्ध—पातुर्वातनककुरककोलायुरककुम्भम्। तवत्रसहितैवैव सर्वगन्ध प्रकीर्तितम् ॥ किंवा सुधुस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय अध्यायोक्त 'प्लादिगण' की ओषधियों का भी ग्रहण किया जा सकता है। रूपहेमप्रवर्धन—सोने और चाँदी के पदार्थ को प्रतप्त करके पानी में बार बार बुझाने से गरम किये हुए जल से—कोष्णेन त्वरत्तपनीयनिमज्जते। (अष्टांगहृदय)। आर्यये—जन्म के पश्चात् शरीर पर तैल लगाकर साबुन और मन्त्रोष्ण जल से बालक को नहलाने का रिवाज पाश्चात्य देशों में भी है। परन्तु छान के समय बालक की नाभिनाड़ी गीली हो जाती है और छान के पश्चात् नाड़ी को सुखाने की ओर धीक ध्यान न दिया जाय तो उसमें पाक होने की संभवनीयता बरती है। कुछ चिकित्सकों ने यहाँ तक सिद्ध किया है कि नाड़ी को सुखाने की कितनी भी कोशिश क्यों न की जाय, अस्नात-बालकों की अथेष्ठा स्नात बालकों में नाड़ीपाक अधिक हुआ करता है। इसलिये उन लोगों का कथन है कि जन्मदिन से नाभिनाड़ी गिरने के पश्चात् नाभिगण काईपूर्ण रोपण होने के समय तक बालक को न नहलाना चाहिए, परन्तु नामि और नाड़ी गीली न हो जाय; उस प्रकार से शरीर को पोंछ देना चाहिए। इस कथन में कुछ तथ्य है। इसलिये बालक को नहलाने के पश्चात् प्रतिदिन नाभिनाड़ी को सुखाने पर तथा उसके साथ संबंध रखने वाले कपड़ों की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कोष्णेन—शरीरतापक्रम से कुछ अधिक, १००° फे० The water should be nearly blood warm and it is best to rub the skin all over first with some sweet oil *Eucalypti* *Anthropology* कोष्ण का अर्थ संकोष्ण याने शरीरतापक्रम से कुछ अधिक। छान का पानी शरीरतापक्रम से कुछ अधिक रखने पर छान के समय वह शरीरतापक्रम के बराबर हो जाता है। यथाकारम्—काक के अनुसार। जैसे, शीतकाल में पानी

कुछ अधिक गरम हो, मध्यम काल में, संकोष्ण हो और गरमियों के दिनों में कुछ ठंडा (७०°-८०° फे०) हो। यथादोष यथानिमग्न च—दोषानतिक्रमेण, चौरिदुश्चनपाथेण पिचनेन, सर्वगन्धोदकेन वा शान्तेन। विमग्नानतिक्रमेण रूपहेमत्पनेन वारिवा।

(बह्वर्ण)। जातकर्म—आतमात्रस्य वेदोक्त अर्थः।

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्।

चतुरात्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्य प्रवर्तते ॥ १३ ॥

तस्मात् प्रथमेऽद्धि मधुसपिरन्तमिध्रं मन्त्रपूर्वं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सपिं, तृतीये च; ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसपिः स्वपिण्डतलसमितं द्विकालं पाययेत् ॥ १४ ॥

(स्तन्योत्पत्तिकाल—) हृदय (प्रवेश) में स्थित धमनीयों के विस्तृत होने के कारण (प्रसृति के) पश्चात् तीसरे या चौथे दिन से बच्चों को दूध शुरू होता है ॥ १३ ॥ इसलिये प्रथम दिन (बालक को) मन्त्रपूर्व सुवर्णमिध्र मधुसर्पि (दिन भर में) तीन बार पिळावे, दूसरे और तीसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध शृत (प्रथम दिन के समान तीन बार); चौथे दिन पहले (माता का) दूध न पिलाये गये उस (बालक) को, (उसकी) हथेली में जितना रहे उतना घी और मधु दो बार पिळावे, (पश्चात् तीसरे समय से माता का दूध पिलाना शुरू करे) ॥ १४ ॥

वक्ष्य—धमनीनां हृदिस्थानाम्—हृदयप्रदेशस्थित अर्थात् स्तनसंश्रित धमनीयो—धमन्यं सधुद्वारा कथंवा स्तनसाश्रवा। दोषाविसरलाक्षासां न भवन्ति स्वभावत्वात्। दासासिक् प्रजावानां गमिणीनां च तां पुनः। स्वभावादेव विवृणु जायते। (निदान १०)। विवृतत्वात्—स्तनसंश्रित धमनीयों की विवृतता प्रसृति के पश्चात् नहीं होती, वह गर्भावस्था के प्रारंभ से शुरू होती है और संपूर्ण गर्भावस्था पर रहती है, यह बात उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट है। अर्थात् तीसरे या चौथे दिन स्तन्य उत्पन्न होने का कारण विवृतता नहीं है, इसके ध्यान में रहना चाहिए। स्तन्यप्रवर्तन के दो कारण हैं—(१) स्वभाव—जैसे गर्भ का आधान होने के पश्चात् स्वभाव से स्तनसंश्रित धमनीयों विवृत

स्तन्योत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राकृतिक मत—आधुनिक काल में इसके संबंध में बहुत कुछ खोज हुई है, परन्तु अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हुआ है। तथापि स्तन्यप्रवर्तन के संबंध में निम्न उपपत्ति बतलाई जाती है। मस्तिष्क के पोषणिका ग्रन्थि (Pituitary body) के अग्रिम भाग से जो अन्तःप्राव निकलकर रक्त में मिलता है, वह स्तनों में रक्त के साथ पहुँचकर उनको स्तन्योत्पत्ति में प्रवर्तित करता है। यह द्रव्य स्तन्यप्रवर्तक, या स्तन्यजनक या स्तन्यपूर्वज (Prolactin, Galactin) कहलाता है। बालक को दूध की आवश्यकता जिस अवधि में होती है, उस अवधि में यह द्रव्य उस ग्रन्थि के अग्रिम (Anterior) हिस्से में बनता रहता है और दूध की उत्पत्ति में सहायता करता है। जब दूध की आवश्यकता नहीं होती, तब यह द्रव्य भी उसमें

नहीं बनता। इसका अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था में यह द्रव्य नहीं बनता और प्रसूति होने पर बनने लगता है जिसके कारण दूसरे या तीसरे दिन दूध का प्रवर्तन शुरू होता है। अब प्रसूति के और इसके बीच में क्या सम्बन्ध है? इसके बारे में कई मत प्रचलित हैं, जिनमें निम्न दो प्रधान हैं—(१) प्रसूति के बाद गर्भाशय सिक्कुदता है और उससे पोषणिकाग्रंथ को नाड़ियों द्वारा (ovous reflexe) सूचना मिल जाती है कि अब दुग्धप्रवर्तक द्रव्य बनाने का समय आ गया है। (२) गर्भावस्था में अपरा और बीजग्रन्थि से कुछ द्रव्य (तीसरे अध्याय के १५ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) बनते हैं, जो प्रायः पोषणिकाग्रंथि के स्तन्यप्रवर्तक द्रव्य की उत्पत्ति के विरोधी होते हैं। प्रसूति के पश्चात् अपरा का यह विरोधी कार्य नष्ट होने से वह ग्रंथि दुग्धप्रवर्तक द्रव्य को बनाती है, जिसके परिणाम स्वरूप में स्तनों में दूध का प्रवर्तन होता है। संक्षेप में, जो स्वभाव गर्भावस्था में बालक का पोषण पूर्ण प्रगल्भ होने पर गर्भाशय से उसका निष्कासन करता (निदानस्थान ८ वें अध्याय के ८ वें श्लोक और उसके वक्तव्य को देखो) है, वही निष्कासन के पश्चात् दूध उत्पन्न करके उसका पोषण करता है। परन्तु स्वभाव परमेश्वर के समान निर्गुण निराकार होने के कारण कार्य करने के लिए उसको सगुण साकार अंगों और द्रव्यों का आधार लेना पड़ता है। स्वभाव प्रत्येक कार्य के लिए किस प्रकार और किसका आधार लेता है, इसको जानने में ज्ञान है। इसको जानने की कोशिश अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक हो रही है और भविष्य में भी होती रहेगी और इसके कारण ज्ञान की वृद्धि भी होती आ रही है और होती जायगी। परन्तु एक मर्यादा पर अन्त में स्वभाव पर ही छोड़ना पड़ेगा। ज्ञान की वृद्धि इस मर्यादा को बढ़ाने में होती है। प्राचीन काल में यह मर्यादा बहुत छोटी थी, अब अधिक बढ़ गई है, भविष्य में इससे अधिक बढ़ेगी। चतुरात्राव त्रिरात्राद्वा—इसमें संदेह नहीं है कि प्रारम्भिक दो तीन दिन स्तनों में दूध नहीं होता या अत्यल्प होता है। प्रसूति के कारण उत्पन्न हुए परिवर्तन का परिणाम स्तन्योत्पत्ति में होने के लिए दो तीन दिन की अवधि आवश्यक होती है। जब स्तनों में दुग्धोत्पत्ति प्रारम्भ होती है, तब वे कठिन और पीढायुक्त होते हैं। क्वचित् उस समय शरीर का ताप एक दो अंश से बढ़ सकता है। इसको स्तन्यज्वर (Milk-fever) कहने का रिवाज है। काश्यपसंहिता में सुतिकाज्वर के कारणों में स्तन्यागम एक कारण दिया है, तथा उसके लक्षण दिये हैं—स्तन्यागमाद् ग्रहावाधादजोर्षाद् दुग्धजायनात् । ज्वरः सजायते नार्याः पृथ्विषो हेतुभेदतः ॥ तृतीयैः- षि चतुर्थे वा नार्याः स्तन्यं प्रवर्तते । पयोवहानि स्रोतांसि संघ्नान्यभिघट्टयेत् ॥ करोति स्तनयोः स्तम्भं पिपासाः हृदयद्रवम् ॥ कुक्षि- पार्श्वकटीशूलमद्गमर्दं विरोरुजाम् ॥ एतत् स्तन्यागमोत्थस्य ज्वरस्योक्तं स्वलक्षणम् । स हि पीयूषसंशुद्धौ क्रममात्रेण तिष्ठति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि तीसरे या चौथे दिन दूध उत्पन्न होकर बन्द पयोवह स्रोतसों (Lactiferous tubules and ducts) में अभिघट्टन याने उत्तेजना पैदा करता है, जिससे स्तनों में स्तम्भ (कठिनता और पीडा) और छाती

में वैचेनी (हृदयद्रव) इत्यादि लक्षण होते हैं। पीयूष की वृद्धि होने पर ये लक्षण आप से आप ठीक होते हैं। अर्थात् दुग्ध का प्रवर्तन ठीक प्रारम्भ होने पर स्तनगत कठिनता, पीडा, सिरदर्द तथा ह्रारत ये लक्षण आप से आप ठीक हो जाते हैं। कुछ पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्रज्ञ स्तन्यज्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो शंका प्रदर्शित करते हैं, वह ठीक नहीं है। स्तन्यज्वर यद्यपि सब स्त्रियों में नहीं तथापि कुछ स्त्रियों में, विशेषतः वातिक और कोमल प्रकृति की स्त्रियों में कई बार उत्पन्न होता है। इसका कारण अभी तक ठीक ठीक मालूम नहीं हुआ है—And as to the cause and significance of the rise of temperature which sometimes accompanies the shooting in of the milk, we are still more uncertain. Ideal Birth. स्तन्यज्वर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह कुछ घण्टों से अधिक देर तक नहीं रहता। यदि अधिक देर ज्वर लगातार बना रहे तो स्तन्यज न समझकर योनिदोषज समझना चाहिए और उसके अनुसार जननेन्द्रिय की ओर अधिक ध्यान देकर चिकित्सा करनी चाहिए। स्तन्यम्—प्रारम्भ में जो दूध स्तनों से निकलता है, उसका संगठन नित्य के दूध से भिन्न होता है। इस दूध को पीयूष या खीस (Olostrum) कहते हैं—आसम्प्राप्तं प्रसवाद् क्षीरं पीयूषमुच्यते। इसमें प्रोभू-जिनों (प्रोटीनों) की राशि अधिक (६ प्रतिशत) होती है और शर्करा तथा चरबी की स्वाभाविक से आधी (शर्करा २ प्रतिशत; चरबी ३.७ प्रतिशत) होती है। चरबी की विशेषता यह होती है कि वह कोशाओं (सेलों) के भीतर रहती है। ये पीयूष कोशाएँ (Olostrum corpuscles) कहलाती हैं। तीन चार दिन के बाद ये दूध में नहीं मिलतीं। पीयूष वर्ण में पीला, गाढ़ा और चारीय होता है, जो गरम करने से या वेसा ही जम जाता है। इसमें कुछ सारक गुण भी होता है। वस्माद्—प्रथम दो तीन दिन बालक को दूध नहीं मिलता, इसलिये। काश्यपसंहिता में लेहप्राशन के जो अनेक निर्देश (Indications) बताये गये हैं, उनमें माता को दूध न होना या कम होना ये दो निर्देश मिलते हैं—अक्षीरा जननी येषामन्पक्षीरापि ना भवेत् । (सूत्रस्थान, लेहाध्याय)। इस दृष्टि से प्रारम्भिक लेहसेवन अक्षीरावस्था के लिए है, ऐसा समझ सकते हैं। अर्थात् इसका उपयोग आहार के लिए भी हो सकता है, क्योंकि घी और मधु दोनों भी उत्तम आहार्य द्रव्य हैं। ह्याराणचन्द्र अवलेह सेवन स्तन्याभावजनित दोषोपशमन के लिए मानते हैं—पाययेदिति स्तन्याभावजनितदोषोपशमार्थं न पुनराहारार्थमिति निश्चीयतेऽनेरणीयस्त्वेन मध्वादीनां गन्धमात्रेणोपयोगात् । आहार के सिवा अवलेह का दूसरा भी एक उपयोग हो सकता है। यद्यपि स्तन्यचूषण एक स्वाभाविक कर्म है तथापि प्रारम्भ में दूध गाढ़ा होने के कारण तथा बालक को चूसने तथा निगलने का अभ्यास न होने के कारण दूध खींचने में कठिनाई होती है। अवलेह चाटने से बालक को चूसने तथा निगलने का कुछ अभ्यास हो जाता है, जिससे तीसरे दिन जब बालक स्तनों पर लगाया जाता है तब वह स्तनपान करने में समर्थ होता है। साधारणतया प्रथम या

द्वितीय दिन में बालक को स्तनपान की इच्छा बहुत कम होती है तथा स्तनपान करने का सामर्थ्य भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में अवलेह चाटने का प्रयोग फायदेमन्द होता है। चरित्रप्रवर्तन के पूर्व बालक को दूध दिया जाय या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर तीसरे दिन के स्तन्यप्रवर्तन में ही मिल जाता है। बालक के पोषण के लिए जो दूध माता के स्तनों में स्वभाव से उत्पन्न होता है, उसकी यदि आवश्यकता प्रारम्भिक तीन दिनों में होती तो स्वभाव प्रथम दिन से ही स्तन्यप्रवर्तन कर देना। परन्तु ऐसा कहीं नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि बालक को प्रथम दो दिनों में भोजन की विशेष आवश्यकता नहीं होती। जो कुछ माता के स्तनों से (आगे चरक का वचन देखो) मिलता है तथा मधुसर्पि के रूप में थोड़ा सा दिया जाता है, उतना ही उसके लिए काफी होता है। अज्ञानी लोग इस अजीबवस्था में बालक को गाय का या अन्य जानवर का दूध पिलाने छाते हैं। यह बड़ी भूल है। स्तन्याभावे पर्यवसाय गन्ध वा तदगुण हिनम् यह वामनटीचार्य का वचन प्रथम तीन दिनों के स्तन्याभावे के लिए नहीं है, परन्तु तीसरे दिन दूध न आने पर उत्पन्न हुए स्तन्याभावे के लिए है, क्योंकि प्रथम तीन दिनों की मधुसर्पि चटाने की विधि देने के पश्चात् चौथे दिन से माता का ही दूध पिलाने के लिए मानुस्ये पित्रेस्तन्यं तत्र देहृदये यह श्लोकार्थ आता है, और उसके बाद 'स्तन्याभावे' यह श्लोक आता है—
Nature intended the infant to wait for a couple of days or so before receiving any food For the first two days nothing is taken. Ten teacher's Misadvisery इसलिये तत्र तत्र आश्वार्य 'स्तन्याभावे पर्यवसाय गन्ध वा तदगुण हिनम्' इत्यादिमातुसुरया मानुसपत्रम् यह हाराण चन्द्रजी का कथन ठीक नहीं है।

चरकसंहिता में प्रथम दिन से ही स्तनपान करने के लिए लिखा है—मधुसर्पिषी सन्धोपमन्त्रिते यथाम्नाय प्रथमं प्राशितुं दद्यात्। स्तनमन उन्धमेतेनैव विधिना दक्षिण पादं पुरस्तात् प्रयच्छेत्। आधुनिक पाश्चात्य क्रीमारभ्यां का भी कथन है कि प्रथम दिन से ही बालक को स्तनपान करावे। इससे दो फायदे होते हैं—(१) बालक के स्तनपान करते समय, चाहे स्तन से दूध निकले या न निकले, गर्भाशय में उच्चमना पैदा होती है, जिसका परिणाम गर्भाशय के संकोच होने में होता है। (२) यद्यपि बालक का संबंध न होने पर भी तीसरे या चौथे दिन स्तनों में स्तन्यप्रवर्तन स्वभाव से ही हुआ करता है, तथापि बालक को प्रथम दिन से स्तनपान करने से स्तन्योत्पत्ति में सहायता होती है। बालक को आहार की आवश्यकता है या नहीं? स्तनपान करने का सामर्थ्य है या नहीं? इसका ज्ञान सब तक स्तनपान नहीं कराया जायगा, तब तक नहीं होगा। इसलिये तया उपयुक्त फायदों के लिए चरकमातानुसार प्रथम दिन से ही स्तनपान करने की विधि ही प्रस्ताव है। भनन्मि० मन्त्रपुत्रम्—
यं ते स्वामिं स्तनम्' इत्य मन्त्र (१०२) सूत्र के वक्तव्य में वेदो) से सुवर्णपूर्ण धी और सपु के साथ दिया जाता है। अवलेह बनाने की विधि और सुवर्ण के फायदे चारुपय संहिता में निम्न प्रकार से वर्णित हैं—विषय भी इति

प्राग्मुली लघुनाऽमुना। आनन्ध मधुसर्पिभ्यो लेहयेत्-कनकं विष्णुम् ॥ सुवर्णमाशनं होतन्नेवामिनतवर्धनम् । आयुष्यं मंगलं पुष्यं हृष्यं कष्यं प्रहायम् ॥ मातास्तरमेषावी व्याधिर्मितं च बृष्यते । षडभिर्मासे सुवधरः सुवर्णमाशनात् भवेत् ॥ (लोहाध्याय) । प्राग्निवारितस्तन्यम्—यह बालक का विशेषण है और इसका अर्थ है—जिसके लिए प्रथम तीन दिन स्तन्य निषिद्ध किया गया था, उसको । अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—उतः प्राग्निवारितस्तन्यस्य स्वपाशितलसमितं सपिदिक्कालदायेत्। अनन्तर च स्तन्यमित्त ॥ इसका अर्थ यह है कि चौथे दिन दो बार मधुसर्पि बालक को चटावे और तीसरी बार से उसको यथेच्छ स्तनपान करावे । किंवा इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि चौथे दिन दो बार प्रथम बालक को मधुसर्पि चटावे और तुरन्त उसको पश्चात् स्तनपान करावे। पहले पहल स्तनपान कराने के पूर्व, जैसे की घात्रो के बारे में आगे १०२ सूत्र में बताया गया है स्तन को साफ धोकर तथा विचोकर कुछ दूध निकालकर पश्चात् बालक को स्तन पिलावे । इहण्यं वाग्भटमातानुसार प्रथम अर्थ देते हैं—उपश्रुत्यं दिवसे प्रारम्भ्यादादिकल्पे मधुसर्पि प्राग्येत्, वदनन्वर चतुर्दिवसस्य सूतीयकालमारभ्य पञ्चमादिविषयेषु यथेष्ट स्तनपान कारयेत्। क ? बाळ, कि विधि ? प्राग्निवारितस्तन्यं, प्राक् पूर्वं निवारित स्तन्यं मस्य तम् ॥

अथ सूतिकां वक्ष्यामैतान्मन्त्रां वातहरोपथनिष्कायेनोपचरेत् । सरोपदोषां तु तदहः पिप्पली पिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकऽश्वेत्तूर्युर्णुं गुडोक्केनाच्छेन पाययेत्, एवं द्विरात्र त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टोष्णितात् । विशुद्धे ततो चिदारिगन्धादिसिद्धां श्लेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम् । ततो यवकोलकुल्यसिद्धं जाद्वलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्वलमन्त्रिवलं चावेद्यम् । अनेन विधिनाऽप्यर्ध मासमुपसंस्त्रता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिका भिषाना स्यात्, पुनरातं वदशनादियेके ॥१२॥

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां तु घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिक्रयाधानुपानां, श्लेहनित्या च स्यात्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा (वहलघती) । अवलां यवागूं पाययेत्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा । शत ऊर्ध्वं क्षिग्धेनाधससर्गणोपचरेत् ॥ १६ ॥

प्रायशाक्षनां प्रभूतेनोष्णोदकैश्च परिपिच्येत्, श्रोधायासमैमुनादौ न परिहरेत् ॥ १७ ॥

(सूतिका की परिचर्या—) (अपरा गिरने के पश्चात्) सूतिका को बहातैल का अम्यङ्ग करवाके सातहर ओषधिपियों के साथ से चिकित्सा करे। यदि (गर्भाशय में कोई) दोष शेष रहा हो उसी (प्रसव के) दिन पिप्पली, हस्तिपिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, सौंठ इनका पूर्ण मात्र गुडोदक के साथ पिलावे, इस प्रकार दो दिन, तीन दिन या जब तक कुछ रक्त निकलता हो तब तक (पिलावे); रक्त रुक हो जाने पर चिदारिगन्धादि (गन्ध की ओषधियों से) सिद्ध हुए मुक्ता वा क्षीरयुक्त यवागूं तीन दिन पिलावे। उसके पश्चात् (सूतिका के क्षारीक) बह और कर्याभि-

जल को देखकर (उसके अनुसार) जौ, बेर और कुलथी से सिद्ध जांगल (पशु-पक्षियों के मांस के) रस के साथ चावलों का भात (न्यूनाधिक मात्रा में) खिलावे। डेढ़ महीने तक इस प्रकार (आहार और आचार के नियमों के अनुसार) परिचारिता (प्रसूता स्त्री उसके पश्चात्) आहार और आचार (के नियमों) से तथा सूतिका नाम से विमुक्त हो जाती है। कई आचार्यों का मत है कि (प्रसूति के पश्चात्) फिर से आर्तवदर्शन होने के समय तक (स्त्री सूतिका होती है तथा तब तक उसको उपर्युक्त आहाराचार के अनुसार रहना चाहिए) ॥ १५ ॥

जाङ्गलदेश (मरुभूमि) में प्रसूत हुई सूतिका को (पूर्वोक्त) पिप्पल्यादि कषाय के अनुपान के साथ घी या तैल में से किसी एक को मात्रानुसार पिलावे। (इस प्रकार बलवती प्रसूता) तीन दिन या पाँच दिन (तक) नित्य स्नेह सेवन करे। निर्वल प्रसूता को (स्नेह के बदले) यवागू तीन दिन या पाँच दिन (तक) पिलावे। इसके बाद स्नेह से युक्त अन्न से उपचार करे ॥ १६ ॥

साधारणतया सूतिका को बहुत से गरम जलसे (प्रतिदिन) स्नान करावे। (प्रसूता) क्रोध, (अत्यधिक शारीरिक या मानसिक) परिश्रम, मैथुन इत्यादि का त्याग करे ॥ १७ ॥

वक्तव्य—इन सूत्रों में सूतिका की परिचर्या तथा स्वस्थ-घृत का वर्णन किया है। सशेषदोष—गर्भजन्म के पश्चात् अपराजन्म होता है, जिसका विवरण आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। अपरा और जरायु बाहर निकल आने पर गर्भाशय पूर्ववत् होने के लिए कुछ दिनों की आवश्यकता होती है। उस अवधि में योनिगर्भाशय से प्रसवशोणित का (Lochia) स्राव होता है। इसी स्राव के द्वारा गर्भाशयगत दोष बाहर निकल आते हैं और गर्भाशय की अन्तःकला पूर्ववत् स्वस्थ हो जाती है। जरायु तथा अपरा के बाहर आने पर भी उसके कुछ छोटे बड़े टुकड़े गर्भाशय के भीतर रह सकते हैं और प्रायः रहा करते हैं। ये टुकड़े भीतर रहना ठीक नहीं है, यह दोष स्वरूप होते हैं। ये कणशः रक्त के साथ बाहर आया करते हैं। इस प्रकार का दोषयुक्त रक्त तीन चार दिन तक साधारणतया गर्भाशय से बाहर निकलता है। उसके पश्चात् गर्भाशय के स्राव का वर्ण कुछ फीका हो जाता है और तीन चार रोज के पश्चात् अधिक से अधिक दसवें दिन तक गर्भाशयगत स्राव पानी के समान कुछ पीलापन लिये स्वच्छ हो जाता है। गर्भाशयगत स्राव को दोष मानने का रिवाज है, जैसे आर्तवशोणित को दोष मानते हैं; और जैसे आर्तव-शोणितस्राव बन्द होने पर चौथे दिन स्नान कराके स्त्री शुद्ध की जाती है, वैसे ही प्रसूता प्रसवोत्तर दोषशोणितस्राव बंद होने पर ग्यारहवें दिन स्नान कराके शुद्ध की जाती है। प्रसूति के पश्चात् निरपवाद स्त्री सशेषदोष हुआ करती है, जिसको दूर करने के लिए पिप्पल्यादि चूर्ण दिया जाता है। यदि दोष हो तो पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह सशेषदोष का अर्थ नहीं है। स्त्री सशेषदोष होती है, इसलिए प्रसवोत्तरकाल के प्रारम्भिक कुछ दिनों में पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह परिचर्यापरिपाटी है। इसलिए चरकसंहिता में, सूतिका को भुल मालूम होते ही पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त

स्नेह देने के लिए बताया है। आदुष्टशोणितत्—जब तक स्राव अधिक खराब रहता है, तब तक। इसकी अवधि तीन चार दिन की होती है। इसलिए पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त स्नेह दो तीन दिन तक देने के लिए कहा है। अध्यर्धमास—इससे सूतिका की अवस्था (Puerperium) की अवधि बताई गई है। प्रसूतावस्था शब्द स्त्री की उस अवस्था के लिए प्रयुक्त होता है, जिस अवस्था में गर्भावस्था और प्रसव के कारण उत्पन्न हुए उसके शरीर के हास की पूर्ति होकर वह यथापूर्व स्वस्थ और एक दृष्टि से फिर गर्भचम हो जाती है। इस अवस्था का प्रारम्भ प्रसवदिन से होता है और अन्त गर्भाशय के पूर्वावस्था प्राप्त होने पर होता है। अन्तिम मर्यादा प्रारम्भिक मर्यादा के समान निश्चित नहीं है। उसमें प्रत्येक स्त्री में कुछ अन्तर हो सकता है। तथापि व्यावहारिक दृष्टि से, अगर कोई खराबी या विशेष कारण न हो तो, गर्भाशय की पूर्वस्थिति छः हफ्ते में प्राप्त होती है। इसलिए आयुर्वेद के अनुसार पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्र भी प्रसूतावस्था की अवधि छः सप्ताह की मानते हैं—Strictly speaking, it (puerperium) lasts from the commencement of the third stage until the completion of the uterine involution—that is, for about six weeks. *Jellet's Midwifery* प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतवर्ष में सूतिकावस्था की अवधि तीन महीने की मनाई जाती है और चौथे महीने के प्रारम्भ में बालक के साथ देवतादर्शन (आगे ५१वें सूत्र का वक्तव्य देखो) करने के पश्चात् स्त्री विगतसूतिकाभिधाना और आहाराचार से स्वतन्त्र होती है—न्युपद्रवां विशुद्धां च विद्याय वरवर्णिनीम् । ऊर्ध्वं चतुर्थ्यां मासेभ्यो नियमं परिहारयेत् । इन आधारों पर प्रसूतावस्था की कम से कम अवधि डेढ़ महीने की और अधिक से अधिक तीन महीने की समझना उचित है। पुनरार्तवदर्शनात् एकीय मत से यह शब्द प्रयोग प्रसूतावस्था की उत्तर मर्यादा बतलाता है। एक दृष्टि से यह मत ठीक है क्योंकि आर्तवदर्शन से गर्भाशय अपनी पूर्व स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो चुका है, इसका परिचय हो जाता है। परन्तु आर्तवदर्शन के ऊपर मर्यादा स्थिर करने में उसमें बढ़ा अस्थैर्य आ जाता है। इसका कारण यह है कि दूध पिलाने की अवस्था में आर्तवदर्शन न होना यह एक नष्टार्तव का स्वाभाविक कारण है (दूसरे अध्याय के २२वें श्लोक का और आगे १६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) और इसलिए कई स्त्रियों में प्रसूति के पश्चात् बारह मास तक आर्तवदर्शन नहीं होता। आर्तवदर्शन पर उत्तरमर्यादा निश्चित करने का परिणाम यह होगा कि प्रसूतावस्था की अवधि कुछ स्त्रियों में दो महीने की, कुछ स्त्रियों में तीन महीने की, कुछ स्त्रियों में चार महीने की और कुछ स्त्रियों में साल भर की हो जायगी, और उनको उतने काल तक नियन्त्रित आहार-विहार से रहना पड़ेगा। इस प्रकार के नियन्त्रित आहार-विहार से अधिक काल तक रहना न व्यावहारिक दृष्टि से शक्य है, न स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर है। इसके सिवा कुछ स्त्रियों में कई बार बिना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हुआ करती है। इस नियम के अनुसार ये स्त्रियाँ कभी प्रसूता और कभी

गर्भवती रहेंगी, तीसरी अवस्था इनके लिए न हो सकेगी। अर्थात् गर्भवती और प्रसूता ये दोनों अवस्थाएँ नियन्त्रित आहार-विहार की होने के कारण इन स्त्रियों को अपनी प्रजोत्पादन की आयु नियन्त्रित आहार विहार में बितानी पड़ेगी। संक्षेप में यद्यपि एक दृष्टि से पुनरावर्तवदर्शन पर प्रसूतावस्था की उत्तरमार्गदा स्थिर करने में कुछ तथ्य है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से यह नियम अनुपपाद्य है। अन्वभूमिजाता—अन्वभूमिप्रजाता—समाना मरुत्प्रवायी (अमर-कोप)। शिवये पिपासया यस्मिन् मरः। आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार इसको जांगलदेश कह सकते हैं—मत्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवात प्रसूतातप। श्रेय स जाङ्गलो देशः। (चरक, विमान ३)। ऐसे देश में प्रसूत हुईं। उ-परन्तु। इससे यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले याने पन्द्रहवें सूत्र में जो उपचार वर्णन किया गया है, वह आनूप देश प्रजाता स्त्री के लिए है। धनतैलपोरन्वतरस्य—कार्यपसंहिता के अनुसार पुत्रप्रजाता के लिए तैल और कन्याप्रजाता के लिए घी। कार्यपसंहिता में तीनों प्रकार के देशों में स्त्री की उपचर्या के संक्षिप्तसूत्र निम्न प्रकार से वर्णित हैं—त्रिविधं देशमाश्रय वष्यामि त्रिविधं विधिम्। आनूपदेशे भूमिद्वि वातश्लेष्मात्मका यदा ॥ वज्राभिमन्धन्भूयस्त्वादादी र्नेहो विगर्हित। मण्डादिरत्र कर्तव्य-सप्तगोऽभिवलाशय ॥ स्त्रेदो निवालशयन सर्वत्रुष्य व शत्ये। निवाल जाङ्गले देशे वातपित्तात्मका यदा। तदत्र स्नेहसामयत्वात् स्नेहादि स्वायुक्ताम्। कार्यप्रजातमायाया विशेषथाव युष्यते। कुमारप्रसवे तैल कुमारीप्रसवे क्षुण्म्। पित्रेजीर्णे यवागू च दीपनीयोपसंस्कृताम् ॥ पञ्चाह सप्तरात्र वा ततो मण्डापप्रकम्। देशे साधारणे वास्या हित साधारणो विधिः ॥ (सूतिकोपक्रमणीय अध्याय)। उष्णदेशेन परिबिन्दु—चरक और अष्टागसंग्रह में यवागू पान करने से पूर्व दिन में दो बार गरम पानी से परिपेचन या स्नान करने के लिए लिखा है—उभयव काल चोष्णोदकेन च परिषेचयेत् प्राक् स्नेहववागूपानान्याम् ॥ गोभायास मैथुन—इनके सम्बन्ध का विवरण इसी चक्रव्य में आगे स्वतन्त्ररूप से किया पाया है।

प्रसूता की परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त—उपर्युक्त तीन सूत्रों में प्रसूता की परिचर्या और स्वस्थवृत्त का विचार किया गया है। इसी का विचार अब जरा व्यवस्थित रूप से किया जायगा। अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता की परिचर्या का प्रारम्भ होता है। अपरा के निकल जाने का, निकालने का और निकल जाने पर उदर और जननेन्द्रिय के सम्बन्ध का विचार आगे २०वें सूत्र के वक्ष्य में किया गया है। यहाँ पर सर्वसाधारण अन्व धातों का विचार कर्तव्य है। (१) आराम—अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता को खटिया या पलङ्क पर उत्थानालन में छोड़े रहना ही प्रस्ताव होता है। खटिया या पलङ्क का स्थिरहाना कुछ देना करने से प्रसवशोणित (Lochia) के नीचे की ओर बहने में आसानी होती है। यह उत्थानायन प्रसूता को दो हफ्ते से चार हफ्ते तक रखना चाहिए। प्रारम्भिक कुछ दिन मरुभूत्र विवर्जन और अन्नग्रहण भी छोड़े छोड़े करना उचित है। यदि यह न हो सके तो इन आवश्यक कामों के लिए थोड़ी देर तक प्रसूता उठ सकती है, परन्तु बाकी सब काल प्रसूता को बिस्तर पर आराम से पड़े रहना चाहिए।

साधारणतया जब तक योनि से प्रसवशोणित का छाव बंद होता रहता है, तब तक पूर्ण आराम करना चाहिए और छाव बंद होने के पश्चात् कुछ दिनों तक आवश्यक कामों के लिए थोड़ी देर बैठना उचित है। यदि इससे फिर से योनि से छाव प्रारंभ हो जाय तो फिर से बैठना बंद कर देना चाहिए। भारतवर्ष में प्रसूता स्त्री को प्रथम दस दिन पूर्ण आराम और पश्चात् महीना भर अधिकांश आराम देने का रिवाज अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह रिवाज अत्यंत युक्तियुक्त और स्वास्थ्यवर्धक है। परंतु आधुनिक काल में भारतीय जैसे अपने अच्छे अच्छे रिवाजों और रीतियों को पश्चात्थों की नकल करने के लिए छोड़ रहे हैं, वैसे इस रिवाज के बारे में भी हुआ है और प्रसूति के दो चार दिनों के पश्चात् स्त्रियाँ उठने-बैठने, चलने-फिरने लगती हैं। यह पाश्चात्य ढंग अधिकतर लिखी-पढ़ी स्त्रियों में और प्रसव के लिए अस्पताल में जाने वाली स्त्रियों में दिखाई देता है। लिखी पढ़ी स्त्रियाँ वैसे भी कमजोर रहती हैं और पाश्चात्थों की देला देही इस प्रकार के चोचले करने से उनकी मिट्टी और भी पछीड़ा हो जाती है और उनका स्वस्थ शराव हो जाता है। आराम की दृष्टि से स्त्रियों के तीन विभाग कर सकते हैं। (१) नगली और देशती स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ मजबूत होती हैं। इन्हें आराम की आवश्यकता बहुत कम होती है। जगली स्त्रियाँ अधिक मजबूत होती हैं, जो आखिर तक जंगल में या रास्ते में अपना काम किया करती हैं और प्रसव के समय जरा सी ओझल होकर, प्रसूति के पश्चात् बच्चे को अपनी पीठ पर बाँधकर फिर से अपने काम में लग जाती हैं। वैदाती स्त्रियाँ उतनी मजबूत नहीं होतीं। ये प्रायः दस दिन तक आराम करके फिर अपने काम में लग जाती हैं। (२) मध्यवर्ग की स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ प्रायः अनपढ़ या उनके बराबर होती हैं तथा अपने गृहकर्म में लगी रहती हैं। अतः इनमें न बहुत चोचले होते हैं, न बहुत कमजोरी होती है। क्योंकि गृहकर्म करने की आवश्यकता पजने के कारण उनको चोचले करने के लिए समय नहीं मिलता, तथा शरीर को काफी व्यायाम होता है। इन स्त्रियों के लिए प्रसूति के पश्चात् पहले वग की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक आराम की आवश्यकता होती है। इनको एक महीने से कम आराम न मिलना चाहिए। (३) लिखी-पढ़ी स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ पढ़ने से तथा शारीरिक धम न करने से अधिक कमजोर होती हैं। इनके लिए तीन महीने के आराम की आवश्यकता होती है। आराम की आवश्यकता क्यों? प्रसूति के पश्चात् प्रसूता को आराम करने के दो कारण होते हैं—(१) गर्भाशय की स्थिति—शर्म को अपने भीतर समाने के लिए सर्गभावस्था में गर्भाशय लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, समझाई और भार इन सब बातों में अगर्भावस्था की अपेक्षा कई गुना बढ़ता है। प्रसूति होते ही जाड़ के असर से गर्भाशय अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसमें धीरे धीरे परिवर्तन होते हैं, जिससे यह यथापूर्व हो जाता है। हम प्रक्रिया की गर्भाशय की स्वसंभ्रुति (Involution) कहते हैं और इसके लिए छ सप्ताह लगा जाते हैं। प्रसूतावस्था की अद्यपि इसी स्वसंभ्रुति पर (पीठे अन्वर्धमास की दिव्यनी देशो) निर्भर होती है।

प्रसव के पश्चात् उसी दिन गर्भाशय का तोल, लम्बाई और समाई अनुक्रम से १ सेर २ छटाँक, ८ इञ्च और ७ इञ्च होती है। दो रोज के बाद तोल पौन एक सेर, लम्बाई ७ इञ्च, समाई ६ इञ्च होती है। एक हफ्ते के बाद तोल आधा सेर, लंबाई ५ इञ्च और समाई ४ १/२ इञ्च होती है। दो हफ्ते के बाद तोल ६ छटाँक, लम्बाई ३ ३/४ इञ्च और समाई ३ ३/४ होती है। ६ हफ्ते के बाद गर्भाशय के नाप और तोल पूर्ववत् हो जाते हैं। प्रसूति के पश्चात् जैसे गर्भाशय के तोल और नाप अधिक रहते हैं वैसे ही उसके बन्ध (Ligaments) गर्भभृद्धि और प्रसवप्रवाहण के कारण अत्यन्त परिश्रान्त और शिथिल होते हैं। इसके सिवा श्रोणिगुहा के भीतर कुछ शून्यता भी आ जाती है। चरक में प्रसूता के रोगों की कृच्छ्रसाध्यता के जो निम्न कारण बताये गये हैं, वे गर्भाशय तथा उसके बंधों के लिए भी लागू होते हैं—गर्भभृद्धिसिथिलशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरकनिःसृतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च । संक्षेप में प्रसूति के पश्चात् गर्भाशय स्वयं कमजोर, मोटा और भारी तथा उसके बन्धन ढीले, ऐसी स्थिति होती है। इस स्थिति में अगर प्रसूता विस्तरे पर आराम न करे तो योनिग्रंथ (Prolapse), गर्भाशय की स्थानापवृत्ति इत्यादि अनेक गर्भाशय के विकार उत्पन्न होते हैं और गर्भाशय की स्वसंच्रितिके लिए अधिक समय लगकर वह ठीक भी नहीं होती। योनिव्यापत्तियों के कारणों में मिथ्याचार एक कारण बताया गया है। इस मिथ्याचार में प्रसूति के पश्चात् आराम न करना, इसका समावेश होता है। (२) शरीर की स्थिति—प्रसव के पश्चात् प्रसूता की स्थिति उपर्युक्त चरक के वचन के अनुसार अत्यन्त दुर्बल, शिथिल और शून्य होती है। दुर्बलता की चिकित्सा के जो अनेक उपाय होते हैं, उनमें आराम (Rest in bed) एक प्रधान उपाय है। इस उपाय को छोड़कर अन्य उपायों की अंगीकार करने से उनसे पूर्ण और शीघ्र लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए प्रसूति के पश्चात् दो-तीन महीनों तक आराम करने की भारतीयों की पद्धति प्रशस्त और स्वास्थ्यवर्धक है। उसी के अनुसार प्रसूता को रहना चाहिए। पाश्चात्य देशों में भी प्रसूता को आराम देने की प्राचीन पद्धति का महत्त्व जंचने लगा है और वहाँ के प्रसवशास्त्रज्ञ प्रसूता को आराम देने की पद्धति के पक्ष में हो गये हैं—*straining and muscular effort with a bulky uterus and a relaxed outlet predispose to prolapse, and hence it is more often met with among those who resume their household duties or perhaps go out to daily work after ten days in bed and a few days convalescence than in those who have a longer rest in bed followed by a further period in which fatigue and strain are avoided. There is, therefore, much to be said for the old fashioned plan of waiting till the uterus has diminished in size and weight, and has sunk well down into the pelvis, and its muscular and ligamentary supports have recovered from the stretching and relaxa-*

tion of pregnancy and labour before permitting the assumption of the erect position. *Ten Teachers' Midwifery.*

(२) आहार—प्रसूता स्त्री का आहार रुचिकर, सादा, हलका, पौष्टिक और पर्याप्त होना चाहिए। प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज उसको तरल आहार देना ही उचित है क्योंकि उस समय उसकी पचनशक्ति कुछ दुर्बल होती है। इसके साथ साथ इस बात को भी ध्यान में रखते कि एक समय अधिक मात्रा में देने की अपेक्षा अल्पमात्रा में अधिक समय उसको भोजन दिया जाय। खाद्यद्रव्यों में प्रोभूजिनों की अधिकता होनी चाहिए क्योंकि शारीरिक धातुओं की हास की पूर्ति के लिए वे आवश्यक होते हैं। प्रोभूजिनों के अलावा जीवनीय द्रव्य और खटिक (चूना Calcium) की भी आवश्यकता होती है। पिष्टमय (Carbohydrates) और चरवीमय पदार्थ अधिक न होने चाहिए। इनके सेवन से पचनक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है तथा आभ्रान और मलावरोध उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी वर्ज्य करने चाहिए। इस दृष्टि से प्रसूता को दूध, चाय, काफी तथा दूध के अन्य पदार्थ, माखन, यवागू, काँजी, हाथकुटे चावलों का भात, संपूर्ण गेहूँ की रोटी, हलुआ, मधुररस के फल (जैसे, मीठा, नींबू, मोसंवा अनार इत्यादि) ये पदार्थ अधिक मात्रा में विशेष करके दूध देना फायदेमन्द होता है। ताजी डबल रोटी, मिल (Mill) के साफ किये हुए (Polished) चावल, दाल, आलू, गोभी, कच्ची साग-सब्जी, मद्य इनको वर्ज्य करना चाहिए। मांसाहार के संबंध में इतना कहना पर्याप्त है कि प्रारंभ में अण्डा दिया जा सकता है, परंतु मांस न देना ही प्रशस्त है। आगे स्वास्थ्य ठीक होने पर मांस दिया जा सकता है। पीने के लिए प्रसूता को पर्याप्त मात्रा में पानी देना उचित है। रक्तलाव तथा प्रसव प्रवाहणादि के कारण उसको पिपासा बहुत होती है। इसके लिए उवाकर ठंडा किया हुआ जल देना उचित है। सोडा वाटर भी दे सकते हैं। इन सर्वसाधारण बातों के अलावा आहार में कुलसाल्प्य और देश का भी विचार करना पड़ता है—दादशरात्रापर जांगलरसादिभिश्च क्रमादाप्यायेदशिवलादीन्यपेक्ष्य । कथितशीतन्न तोयं पाययेत् । तथा जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहरसिद्धैरन्नपानैश्च हृद्यैरुपाचरेत् । एवं पुनर्नवीभवति । (अष्टांगसंग्रह, शारीर ३) । वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः ॥ रक्तमांसस्य निर्यहं कन्दमूलफलानि च ॥ कुलसाल्प्यं च बुध्यते यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा । श्रौतित्यात् कुलसाल्प्यस्य त्रत्तयैवानुवर्तते ॥ अतो नैकान्तिकत्वाच्च, सृतिकोपक्रमस्य च । देशं च जातिसाल्प्यं च संप्रभार्यं प्रयोजयेत् ॥ (काश्यपसंहिता, सृतिकोपक्रमणीय) । आहार के संबंध में आगे १९वें श्लोक के वक्तव्य में अपतर्पण की टिप्पणी में विचार किया गया है, उसको भी देखो।

(३) मलमूत्र-विसर्जन—मलाशय और मूत्राशय का आहार कम होने से, उदरगुहा की रिक्ततासे, उदर की पेशियों की शिथिलता से, प्रसूता की कमजोरी से, मूत्रमार्ग की सूजन से या पीडा के कारण मूत्रमार्ग बन्द हो जाने से प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज तक प्रसूता स्वयं मल-मूत्र का त्याग करने में असमर्थ हो जाती है। इसलिए आयुर्वेद में मूत्रसंग, मलावरोध, आभ्रान इत्यादि प्रसूता

के रोग माने गये हैं—योनिम्रंश दणा चैव विभिन्ना मूत्रसगिनी ।
 मान्नाश्चापाने चोमे बर्चोमूत्रमहावपि ॥ (कारणसंहिता,
 सूतिकोपक्रमणीय) । प्रसूति के कुछ पूर्व यदि स्त्री को
 विरेचन दिया गया हो तो प्रसूति के पश्चात् एक ही दिन
 पाखाना न होने से कोई हरजा नहीं है । उसके बाद न हो
 तो पुरण्डी का तेल कोष्ठरुद्धि के लिए देना प्रशस्त है ।
 रेवद्वीनी, म्यागसक या अन्य चारीय विरेचक माता के
 दूध में कुछ खराबी पैदा करते हैं, इसलिए उनको जहाँ
 तक हो सके, न देना चाहिए । पुरण्डी के तैल की मात्रा कुछ
 अधिक (२५ तोला) देनी चाहिए । उसके पश्चात् प्रत्येक
 दो दो तीन तीन दिन के पश्चात् काष्ठरुद्धि रखनी चाहिए ।
 यदि विरेचन से पाखाना न हो तो बस्ति भी ही जा
 सकती है, परन्तु जहाँ तक हो सके बस्ति न देना ही उचित
 है क्योंकि उससे बवासीर (अर्श) बन्ने की सम्भावना होती
 है । बारह घंटे में कम से कम एक बार स्त्री को मूत्रत्याग
 करना चाहिए । इससे अधिक काल बस्ति में मूत्र रहने से
 बस्ति विस्फारित और निर्बल होने का दर रहता है । इसलिए
 छः सात घंटे में अगर स्त्री ने मूत्रत्याग न किया हो तो
 मग पर गरम लेक करना चाहिए और बस्तिप्रदेश पर हाथ
 से योद्धा दबाव डालना चाहिए । इससे प्रायः स्त्री मूत्रत्याग
 करने में समर्थ हो जाती है । यदि आवश्यक हो तो उस
 समय उसको बैठाने से मदद होती है । यदि इन उपायों
 से काम न हो जाय और बारह घंटे तक मूत्र का त्याग न
 हो सके तो सलाई के द्वारा मूत्र को निकालना चाहिए ।
 सलाई डालते समय योनि की सफाई की ओर बहुत ध्यान
 देना चाहिए । (४) मानसिक आराम और निद्रा—शारीरिक आराम
 के साथ प्रसूता को मानसिक आराम भी मिलना आवश्यक होता
 है और मानसिक आराम ठीक न मिलने से शारीरिक आराम
 मिलने पर भी उससे पूरा फायदा नहीं होता । प्रसूता को क्रोध,
 चिन्ता इत्यादि मानसिक विकारों से दूर रहना चाहिए तथा
 ऐसे काम न करने चाहिए, जिससे उसे गुस्सा, रंज और चिन्त
 पैदा हो । इन मानसिक विकारों से उसका स्वास्थ्य खराब
 होकर दूध भी खराब (आगे ३२वें सूत्र देखो) हो जाता
 है और बालक को भी तकलीफ होती है । प्रसूता को
 पर्याप्त निद्रा भी मिलनी चाहिए और प्रायः मिलनी भी
 है । निद्रामात्र के कारण—जैसे, कमरे के पास शोर या भीष
 (पीड़े) चौथे अध्याय का ११वाँ श्लोक देखो—) भी न
 होने चाहिए । (२) मैथुन—प्रसूतावस्था में मैथुन वर्ज्य
 करना चाहिए । मैथुन वर्ज्य करने के तीन कारण हैं—(१)
 प्रसूति के कारण अपत्यमार्ग अत्यंत कमजोर और चतयुक्त
 हो जाता है । मैथुन के समय संपूर्ण अपत्यमार्ग पर काफी
 दबाव और घर्षण होता है । इससे अपत्यमार्ग के किर से
 चतयुक्त होने का, उससे रक्तधारा होने का दर रहता
 है । (२) प्रसव के कारण अपत्यमार्ग की कोमल कला
 चतयुक्त और कमजोर होती है, जिसके कारण उसके ऊपर
 विकारी जीवाणुओं का अधिकार अवश्यी जम सकता है ।
 जननेन्द्रिय के बाध भाग हमेशा ही गर्भे रहते हैं और
 मूत्रके कारण बाहर की गन्धगी और उसके साथ विकारी
 जीवाणु भीतर पहुँचकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं । (३)
 गर्भाजन—मैथुन से गर्भधारणा होने का दर रहता है ।

जो पुरुष इसमें उतावले रहते हैं, उनका यह गुण कम कई
 बार साल भर के भीतर दूसरी बार स्त्री प्रसूत होने से
 प्रकट हो जाता है । जल्दी जल्दी पच्चे होने से पहले बालक
 का स्वास्थ्य खराब दूध मिलने से खराब होता है और
 होने वाले बालक का स्वास्थ्य माता की कमजोरी से
 अच्छा नहीं हो सकता और दोनों के मार से माता का
 स्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है । पुनर्गर्भधारण करने
 के लिए स्त्री का स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जाना चाहिए । यदि
 प्रसव में कोई गद्बद न हुई हो तथा पश्चात् भी कोई
 तकलीफ न हुई हो तो उचित आहार-विहार से स्त्री का
 पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए छः महीनों की अवधि बताई
 गई है—**वर्धमिमांसे प्रथमया धातवे रथिात्पद** । प्रयागच्छ
 रोगया यत्स परितस्थितम् । (कारणसंहिता, सूतिकोप
 क्रमणीय अध्याय) । अर्थात् इसके पहले मैथुन करने से
 अगर गर्भधारणा हो जाय तो होने वाले बालक का
 स्वास्थ्य खराब होगा । अब वर्तमान बालक की वृष्टि से
 विचार किया जाय तो जब तक वह माँ का दूध पी रहा
 है तब तक भी गर्भधारणा होना ठीक नहीं है क्योंकि गर्भ
 धारणा से माता का दूध खराब हो जाता है और उससे
 पारिगर्भिक नामक रोग होता है—**पदुधभोजोर्गमिष्या**
सन्त्य रोगरर शिष्ये । (अष्टांगसूत्र्य) । न गमिष्या पिनेत्
स्वन्त्यं पारिगर्भिककृदि वद । (अष्टांगसूत्र्य) । पाश्चात्य
 चिकित्सक भी मानते हैं कि गर्भवती स्त्री का दूध बालक के
 लिए विकारकारी होता है । बालक को माता के दूध की तब
 तक आवश्यकता होती है, जब तक वह अन्नसेवन नहीं
 करता । अन्नसेवन बालक के लिए तब दितकर हो सकता
 है, जब बालक के दाँत निकल आते हैं । यद्यपि छठे महीने
 में अन्नप्रदानविधि की जाती है, तथापि बालक को
 आहार की वृष्टि से अन्न देने का बाल एक वर्ष का है ।
 इसका विवरण आगे २२ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है ।
 अर्थात् बालक के अन्नसेवन करने के पश्चात् अगर माता
 गर्भवती हो जाय तो बालक को किसी प्रकार की तकलीफ
 नहीं हो सकती । घर्मशास्त्र में बालक के दन्तजनन के पश्चात्
 मैथुन के लिए आज्ञा दी गई है—**गम्यासात् कामये न यो गर्भिणी**
त्विययेव हि । आरंजननापूर्वयेव धर्मो न दीयते । (अत्रिसूत्रि) ।
(इस विषय का कुछ विवरण पीछे २ अध्याय के ३१ वें
श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है, उसे देखो) ।
 बालकों के दाँत दो से दस साल में संपूर्ण निकल आते हैं ।
 तब तक मैथुन न किया जाय तो उचम पच है, परन्तु इसमें
 अभ्यावहारिकता है । दाँत निकल आने का प्रारम्भिक काल
 ६-९ महीने का होता है । आयुर्वेद में आठवाँ महीना
 प्रशस्त माना गया है—**नवाष्टमे मासि स्रवण्यसम्पन्ना मवन्ति ।**
(कारणसंहिता, दन्तसम्मिक अध्याय) । अर्थात् मैथुन
 करने के लिए नीचे की सफाई आठ महीने की मान सकते
 हैं । इसलिए मैथुनवर्जन का काल प्रसूति के पश्चात् आठ
 महीने का मानने में कोई आपत्ति नहीं है । ज्ञातव्यरान बाल
 की बापु एक वर्ष की भी मानी जाती है । और उसके पश्चात्
 बालक का स्वतन्त्रता करके उसको अन्न दिया जाता है—
अयेन आतयन क्वच्येजनेत् स्वनात् । (अष्टांगसूत्र्य) ।
 इसकी टीका में इन्द्रु लिखते हैं—**मय वर्धनन्तरं यत्रवर्जनं**

बालं क्रमशः स्नानादपनयेत् । इस आधार पर बालक एक वर्ष का होने के बाद मैथुन करना चाहिए । सन्धे में प्रसवोत्तर मैथुन के सम्बन्ध में निम्न नियम मार्गदर्शन के लिए होते हैं—प्रथम तीन महीनों में मैथुन करना निषिद्ध और गद्द है । प्रथम छः से आठ महीने के बाद करना कनिष्ठ पक्ष है । एक साल के बाद करना मध्यम पक्ष है और दो साल के बाद करना उत्तम पक्ष है । (६) अभ्यंग और आयास (Massage and exercise)—व्यायाम या शरीर की हलचल स्वास्थ्य चिरन्तन करने के लिए एक आवश्यक कर्म है । प्रसूता स्त्री को भी उसकी आवश्यकता होती है । परन्तु उसकी शरीर की स्थिति देखकर उसके लिए व्यायाम या शारीरिक परिश्रम अहितकर होते हैं । प्रारम्भिक कुछ दिनों तक उसको पूर्ण आराम करना चाहिए और उसके बाद भी दैनिक आवश्यक कर्मों के अलावा अधिक थकावट उत्पन्न करने वाले कर्म न करने चाहिए, परन्तु विस्तरे पर लेटे रहने से यद्यपि शरीर को आराम मिलता है तथापि केवल आराम करने से शरीर का स्वास्थ्य ठीक नहीं हो सकता । इसलिए कोई मध्यम मार्ग निकालना चाहिए, जिसमें आराम और व्यायाम के गुण हों परन्तु दोष न हों । जैसे, गरम या ठण्डे पानी में निचोड़े हुए तौलिया से शरीर पोंछने पर ज्ञान न करते हुए ज्ञान का फल मिलता है, अथवा मलखाँव करने पर दूसरे कुरतीवाज के साथ कुरती न लड़ते हुए कुरती लड़ने का फल मिलता है, वैसे ही विस्तरे पर पड़े रहकर दूसरे से अभ्यंग या मालिश करवाने से व्यायाम न करते हुए व्यायाम का फल मिल जाता है । भारतवर्ष में प्रसूता को वलातैल या अन्य ओषधियों के तैलों को लगाकर मालिश कराने की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से जारी है—जीवनीयवृंहणीयमधुरवातदरसिद्धैरभ्यङ्गोत्सादन-परिषेकावगाहैरुपाचरेत् । (अष्टांगसंग्रह) । स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत् । (चिकित्सा १५) । पाश्चात्य देशों में भी मालिश का महत्त्व काफी बढ़ गया है और वहाँ के प्रसूति-शास्त्रज्ञ प्रसूता के लिए भी उसका प्रयोग हितकर मानते हैं—Gentle massage of the skin is useful also in childbed. Light massage of the back and extremities by some one especially trained for this is in many cases to be especially recommended. In general, one should be cautious with active exertion in the first days, and, where there is good assistance, devote oneself more to the passive movements and light massage, but never too great exertion. *Ideal Birth.* (७) स्नान, अवगाह, परिषेक—प्रतिदिन तैल की मालिश करने के पश्चात् एक या दो बार गरम पानी से स्नान करना चाहिए । स्नान के समय संपूर्ण शरीर की सफाई के साथ दाह्य जननेन्द्रिय की सफाई के ऊपर भी बहुत ध्यान देना चाहिए । जननेन्द्रिय का दाह्य भाग खराब होने से वह खराबी भीतर पहुँच जाती है । स्नान के पश्चात् तथा अन्य समय में भी प्रसूता को हवा के झोके झपाटे से तथा सर्दों से बचकर रहना चाहिए । शरीर कमजोर होने के कारण सर्दों से बीमार होने का डर रहता है । इसके संबंध का कुछ विवरण पीछे चौथे सूत्र के वक्तव्य में सूतिकागार के वर्णन में किया गया

है । (८) आगन्तुक परिचर्या—इसमें जननेन्द्रिय का ही अधिक संबंध आता है । इसका विवरण आगे २० वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में किया गया है । सन्धे में प्रसूता की परिचर्या और स्वस्थपुत्र—प्रसूता हितमाहारं विहारश्च समाचरेत् । व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत् ॥ सर्वतः परिशुद्धा स्यात् क्षिण्यपथ्याल्पभोजना । स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मास-मत्तन्द्रिता ॥ व्युपद्रवां विशुद्धां च विश्राय बलवर्णिनीम् । ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत् ॥ (भावप्रकाश) । ये ही श्लोक थोड़े भेद से सुश्रुत के भूढगर्भचिकित्सित अध्याय में भी मिलते हैं । अब इसके बाद उक्त आहार-विहारादि का उल्लङ्घन करने से क्या होता है, उसको श्लोकद्वय से संक्षेप में बताते हैं—

भवतश्चात्र—

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते ।
स कृच्छ्रसाध्याऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात् ॥ १८ ॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा ।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात् ॥ १९ ॥

(सूतिका रोग—) मिथ्याचार और अत्यपतर्पण के कारण सूतिका की जो (कोई) व्याधि उत्पन्न होती है, वह कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य रहती है ॥ १८ ॥ इसलिए देश और काल को देखकर व्याधिसात्म्य उपायों द्वारा उसकी चिकित्सा करे, जिससे वह मृत्यु को प्राप्त न हो जाय ॥ १९ ॥

वक्तव्य—प्रथम श्लोक में सूतिका रोग उत्पन्न होने के कारण दिये हैं और दूसरे श्लोक में उसकी चिकित्सा का सूत्र बताया है । सूतिका रोग उत्पन्न होने के तीन कारण होते हैं, जिनमें से दो का उल्लेख यहाँ पर किया गया है और तीसरा चरक और अष्टांगसंग्रह में दिया है । काश्यप-संहिता में सूतिका रोगों में प्रधान ज्वर बताया गया है और उसके कारण दिये हैं—सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कथमो मतः । वगसंधारणादीच्छाद् व्यायामादत्यसक्त्वयात् । शोकादत्य-द्विसंवापाव कट्वन्तोष्यातिसेवनात् ॥ दिवास्वप्नाद् पुरोवाताद्गुर्व-भिष्यन्दिभोजनात् । स्तन्यागमाद् प्रहावाधादजीर्णाददुष्प्रजायनात् ॥ ज्वरः सजायते नार्याः षड्विधो हेतुभेदतः ॥ (सूतिकोपक्रम-णीयाध्याय) । ये कारण भी इन तीन कारणों में समा-विष्ट होते हैं । इन तीन कारणों में प्रथम कारण सहायक (Predisposing) है और शेष दो एक प्रधान या उत्पादक (Precipitating) हैं । (१) शरीरदौबल्य—यह प्रथम सहायक कारण है, जिसका उल्लेख यहाँ पर नहीं किया गया है, परन्तु चरक में किया है और कृच्छ्रसाध्यता का वही कारण बताया गया है—तस्यास्तु सलु यो व्याधिरुपपद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्य-साध्यो वा गर्भवृद्धिद्विषितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदना-क्लेदनरक्तनिःसृतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च ॥ इसके दो परिणाम होते हैं । प्रथम परिणाम प्राणशक्ति तथा रोगापहरण सामर्थ्य घटने में होता है, जिससे जरा सा कारण होने पर स्त्री रोगों की शिकार हो जाती है । दूसरा परिणाम कृमियों या आधुनिक परिभाषा के अनुसार विकारी जीवाणुओं के प्रवेश में हो सकता है । अगर सफाई की ओर ध्यान न देने से उनका अवस्थान जननेन्द्रिय के पास हो जाय । (२) अत्यप-तर्पण—उंचन या मात्रा से बहुत कम आहार करना । दहणा-चार्य तथा हारणचन्द्र अत्यपतर्पण रोग की असाध्यता का

कारण मानने हैं—अल्पपत्रंपारिति क्त्वाभ्यगवने ह्य । (कृच्छ्रण) । अल्पपत्रंपारितापर्यं च । इनका कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसूता के रोग मिथ्याचार से उत्पन्न होते हैं, ये कृच्छ्रसाध्य होते हैं और अल्पपत्रण से वे असाध्य हो जाते हैं । यह कथन एक दृष्टि से ठीक है, परन्तु अल्पपत्रण का संबंध रोगोत्पत्ति के साथ भीष्टगया जा सकता है । प्रसूति के पश्चात् धानुचीगता की पूर्ति करके स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रसूता को पर्याप्त पौष्टिक आहार मिलना चाहिए । प्रसूतावस्था कोई बीमारी नहीं है कि उसको छेपन दिया जाय, या अल्पमात्रा में आहार दिया जाय । प्रसूतावस्था नौ महीने बालक का कोष उठाने के कारण तथा प्रसव के कठिन परिश्रम के कारण उत्पन्न हुई स्वल्प मनुष्य की परिभ्रान्तावस्था है, जिसमें घकावट दूर करने के लिए स्वल्प मनुष्य की अपेक्षा अधिक पौष्टिक आहार की अपेक्षा होती है । केवल फर्क इतना ही होता है कि स्वल्प मनुष्य का पचनसंस्थान स्वल्प होता है और प्रसूता का कुछ कमजोर तथा यका हुआ रहता है । इस दृष्टि से प्रसूता को शारीरिक कुछ दिनों तक हल्का और सुपाण्य आहार देना चाहिए, परन्तु कम मात्रा में देने का कोई कारण नहीं है । यदि आहार की राशि शारीरधातुचीगता की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त न हो तो गर्भधारणदोषण तथा प्रसूति से घृण हुआ शरीर और भो षीण होगा और षीण हुए शरीर पर मिथ्याचार से कोई भी रोग जल्दी अपना अधिकार जमा लेगा । प्रसूता को बीमार समझकर उसको पर्याप्त मात्रा में आहार न देने का रिवाज या परम्परा उस समय में होगी, उसको ध्यान में रखकर यह शब्द यहाँ पर लिखा गया है, ऐसा मान्य होता है । यूरोप में इस प्रकार की अपतर्पण की पद्धति थी, इसका उल्लेख जेलेट अपनी प्रसूतितन्त्र की पुस्तक में करते हैं—The older notions that a low diet was required at this time have, in the words of a recent writer, been consigned to the same limbo of defunct prescriptions as the 'starve a fever' principle. A puerperal woman, more than other peop, requires the maximum amount of nourishment which she can digest without imposing too great a tax on her digestive organs इस उद्धरण से यह स्पष्ट होगा कि प्रसूता आहार की दृष्टि से संतर्पणीय व्यक्ति है, अर्थात् प्रसूता को दूध, घी, सர்கंरा, मांसरस इत्यादि पौष्टिक आहार्य द्रव्यों से पुष्ट करना चाहिए । पाश्चात्य चघन के आचार पर बनया हुआ यह निराधार मत नहीं, परंतु आधुनिकमत यह मत है । द्विचोपक्रमणीय अल्पाय (अष्टांगद्वय, सूत्र १४ और अष्टांगसंप्रद, सूत्र २४) में चरभटाचार्य लिखते हैं कि चिकित्सा संभ्राय कितने भी क्यों न हों, वे दो भागों में विभक्त किये जाते हैं—संतर्पण चिकित्साविभाग और अपतर्पण चिकित्साविभाग । ये ही विभाग 'वृंहण चिकित्सा' और 'छेपन चिकित्सा' कहलाते हैं । प्रसूता वृंहणचिकित्सा योग्य होती है—अल्पमात्र से दिराय दिरैषोपक्रमो भव । एक संतर्पणवत्त्व द्विचोपक्रमणः ॥ दृष्टयो लपनभ्येति तत्पर्यायउदाहृती । इष्टय च इष्टराय छेपनं सावचय पय ॥ इष्टयैश्चापिचैरव्यमचचीक-

कशिमान् । गमिपोस्तिकारामाहृद्ग प्रीये परानपि ॥ मांसशीर-
 तिलासिर्गुणरिग्वभस्तिभिः । रश्मज्जन्मागुलाम्बुह्वाननिर्मु-
 र्चैः ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि जहाँ पर संतर्पण की आवश्यकता है, यहाँ पर अपतर्पण कराने से यह रोगोत्पत्ति का कारण हो जाता है । जेलेट अपने प्रसूतितन्त्र में स्पष्ट लिखते हैं—It is probable that the custom still observed by some physicians of keeping parturient patients on unnecessary low diet is responsible for occasionally bringing about a susceptibility to infection *Jalut's Midwifery* (१) मिथ्याचार—
 शरीर और कपड़ों की सफाई न करना, उदर पर कपड़ों न बाँधना (भागे के सूत्र का वक्ष्य देखो), शीत से शरीर की रक्षा न करना, प्रसूति के पश्चात् उचित काल तक विस्तरे पर आराम न करना और प्रारम्भ से ही घूमना फिरना, मद्यन इत्यादि । सचेप में प्रसूता के लिए जो स्वल्प दूध बतलाया गया है, उसके विरुद्ध आचार । यो भ्याधि - यं कोऽपि भ्याधि । सूतिका को मिथ्योपचार से अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं । रोग कोई भी हो, प्रसूता षणमासक होने के कारण रोग दास्य और कृच्छ्रसाध्य होते हैं कारयपक्षहिता में सूतिका के निम्न चौसठ रोग बतला गये हैं—नोनिभ्रया घृजा चैव विभिन्न मूलसङ्गिनी । उलोफ क्षान्तिवो चैव प्रक्ष्मा बंदनावती । पार्श्वशुद्धीयुल इदि यः सूतिका । श्रीदा मशोरत्तय च श्वाधानोऽङ्गमर्दं भ्रूवेषो इनुसम्भो मन्वास्तम्भोऽपठानकः । मङ्गरो विद्रोहो योफ प्रथायोन्मादकमणः ॥ दौर्बल्य भ्रमस्तो बार्दवं भक्त्येवोऽविपाचकः अरुतिघातो वैसपंदद्धिदित्स्वप्ना प्रवाहितः ॥ दिक्का ज्ञानय कासः कालुगुल्लय रक्तमः । क्षान्ताहामाग्ने चोमे वचोमूत्रप्रहासिपि । मुखरोगोऽपिरोमय प्रतिशयवगमयो । रावपनाऽऽरिठ कय कर्णक्षय प्रवाणारः ॥ उष्णवातो प्रशासपस्तनोऽपोऽय रोहिषो । बायोऽन कासगुल्मरक्तचित्तविश्विकः ॥ इत्येते सूतिका रोगधनु-
 र्दिरदाहया ॥ (सूतिकापक्रमणीयाध्याय) । इनमें से कुछ रोग प्रसव के समय योनि तथा उसके आस-पास के अंगों पर जो तनाव और दबाव पड़ता है उससे होते हैं—जैसे, मलमूत्र सग, योनिचय या विदार इत्यादि । कुछ रोग पहले से ही स्त्री में गुप्त या प्रकट रहते हैं और प्रसूति के पश्चात् जोर पकड़ते हैं । जैसे, राज्यन्मा, उन्माद इत्यादि । इनमें सब से महत्व का रोग है उजर—सर्वरामेन रोगाणां उजर नक्षथो मयः । (कारयपक्षहिता, सूतिकाप-
 क्रमणीय) । इसको सूतिकाज्वर (*Puerperal fever*) कहते हैं । अतः इसी का यहाँ पर विचार किया जायगा ।
 न्यास्या—प्रसूति के पश्चात् स्त्री को मसूरिका, विषमज्वर, कालाजार, धनुषुपन्था, न्युमोनिया, जुकाम, स्त्रीपद, राज्यन्मा इत्यादि अनेक रोगों के होने से उजर भा सकता है, परन्तु इनको प्रसूतितन्त्र नहीं कह सकते हैं । ये उजर जैसे स्त्री को होते हैं, वैसे पुरुष को भी होते हैं और स्त्री को भी जैसे मलनोतर हो सकते हैं वैसे प्रसवा-
 वस्था को छोड़कर लघपन से वृद्धावस्था तक सभी अवस्थाओं में हो सकते हैं । अर्थात् ये उजर प्रसूतावस्था विशिष्ट नहीं हैं । प्रसूतितन्त्र प्रसूतावस्था विशिष्ट उजर है, जो इस अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में नहीं होगा,

तथा जो प्रसूतावस्था में प्रसव के कारण गर्भाशय और अपत्यमार्ग में उत्पन्न हुई स्वाभाविक विशिष्ट स्थिति की विकृति से उत्पन्न होता है । इस दृष्टि से प्रसूतिज्वर को 'प्रसूतयोनिदोषज ज्वर' ऐसा संप्राप्तिदर्शक नाम दे सकते हैं । अंग्रेजी में इसके लिए कई संप्राप्तिदर्शक नाम प्रचलित हैं । जैसे, Puerperal sepsis, puerperal infection, puerperal toxæmia, P. septicaemia, surgical fever of childbed etc. प्रधान कारण—प्रसव के कारण गर्भाशय तथा अपत्यमार्ग ऋणयुक्त और कमजोर हो जाता है । ऐसे स्थान में यदि पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश हो जाय तो वे जल्दी ऋणयुक्त स्थानों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और गंभीर विकृति उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण ज्वर उत्पन्न होता है । विकार उत्पन्न करने में निम्न जीवाणु होते हैं—मालागोलानु (Streptococci), स्तवकगोलानु (Staphylococci), मलाशयी दण्डानु (B. coli), फुफ्फुसगोलानु (Pneumococci), गुणुगोलानु (Gonococci), वातकोय दण्डानु (B. Welchii) इत्यादि । इनमें मालागोलानु विशेष महत्त्व का और अधिकता से मिलने वाला होता है । ये जीवाणु कष्टप्रसूति के समय प्रसव कराने के लिए प्रयुक्त हुए गन्दे हाथों से या औजारों से भीतर प्रविष्ट होते हैं । अथवा प्रसूति के पश्चात् योनिद्वार की सफाई ठीक न रखने से तथा योनिद्वार के साथ सम्बन्ध रखने वाले कपड़े गन्दे प्रयुक्त करने से भीतर प्रविष्ट होते हैं । सहायक कारण—रुष्टप्रसूति जहाँ पर यन्त्रशस्त्रों का उपयोग किया गया हो, विलम्बी प्रसूति, प्रसवजन्य अधिक रक्तस्राव, अपतर्पण (पीछे अतर्पण देखो), चिन्ता दुःख इत्यादि मानसिक विकार, प्रसवशोणित का स्राव ठीक न होना, अपरा और जरायु का कुछ अंश गर्भाशय में शेष रहना, मंलावरोध, अकालप्रसूति, जैसे गर्भपात या गर्भस्राव इत्यादि—स्त्रीणामपप्रजानानां प्रजाताना तथाऽहितैः । दाहज्वरकरो धोरो जायतं रक्तविद्रधिः । अपि सभ्यप्रजातानामसूक्त्यायादनिःसृतम् । रक्तं विद्रधिं कुर्यात् कुचो मकल्लंक्षितम् ॥ (निदान ९) । शारीरिक विकृतियाँ—व्यावहारिक दृष्टि से शारीरिक विकृतियों के तीन विभाग किये जाते हैं—(१) स्थानिक—इसमें जीवाणु योनि-गर्भाशय में ही सीमित रहते हैं । इसमें स्थानिक लक्षण अधिक और सार्वदैहिक सौम्य रहते हैं । स्थानिक विकृति में गर्भाशय का वह भाग, जहाँ पर अपरा लगी रहती है, अधिक दूषित होता है । इसके सिवा योनि में या योनिद्वार में कहीं विदार या ऋण हुए हों तो वहाँ पर भी विकृति होती है । (२) समीपवर्ती विकृतियाँ (Local secondary lesions)—इसमें गर्भाशय तथा योनि समीपवर्ती अङ्गों में विकृति समीपता के कारण सिराओं, रसायनियों और बीजावाहिनियों द्वारा फैलती है, जिसके परिणाम स्वरूप में सिराशोथ (Phlebitis), रसायनीशोथ (Lymphangitis), बीजावाहिनीशोथ (Salpingitis), बीजप्रन्थिशोथ (nephritis), श्रोणिगुहाशोथ (Pelvic cellulitis), मूत्राशयशोथ (Cystitis) और उदरावरणशोथ (Peritonitis) इत्यादि उपद्रव होते हैं । (३) सार्वदैहिक और दूरवर्ती विकृतियाँ—ये विकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—(अ) विषमय (Toxicæmia)—इनमें स्थानिक विकृति से विष रक्त के साथ

संपूर्ण शरीर में संचार करता है । विष का परिणाम अधिकतर यकृत, छीहा, हृदय और मस्तिष्क पर होता है । प्रत्येक स्थानिक विकृति के साथ, चाहे सौम्य हो, चाहे तीव्र हो, न्यूनाधिक विषमयता हुआ करती है । (आ) जीवाणुमय (Septicæmia) इसमें स्थानिक विकृति के जीवाणु रक्त और लस के साथ संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं और कभी कभी स्थान स्थान पर अवस्थान करते हैं । (इ) अन्तःशल्यमय (Embolic)—कभी कभी गर्भाशय समीपवर्ती सिराओं में जमा हुआ रक्त हलचल या दबाव के कारण वहाँ से छोटे छोटे कणों के रूप में रक्त के साथ संपूर्ण शरीर में फैलता है और स्थान स्थान पर अन्तःशल्य (Embolus) के रूप में अवस्थित होता है । जमे हुए रक्त के साथ जीवाणु भी रहते हैं । द्वितीय और घृतोय विकृति के अनुसार जीवाणु या जमा हुआ रक्त अधिकतर फुफ्फुस, हृदय, हृदयावरण, संधियाँ, मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण इत्यादि में अवस्थान करते हैं । उपसर्ग सौम्य और प्रसूता का स्वास्थ्य अच्छा होने पर विकृति प्रायः स्थानिक रहती है और उपसर्ग तीव्र और प्रसूता का स्वास्थ्य खराब होने पर विकृति समीपवर्ती या दूरवर्ती अंगों में फैलकर राग गंभीर हो जाता है । लक्षण—विकृति के सम न लक्षणों के स्थानिक और सार्वदैहिक विभाग किये जाते हैं । स्थानिक लक्षण—इनमें योनिगर्भाशय के लक्षणों का समावेश होता है । योनि में सूजन, जलन और पीड़ा होती है । गर्भाशय आकार में बढ़ा रहता है, टटोलने पर पीड़ायुक्त और पिलपिला मालूम होता है । विकृत समीपवर्ती भागों में फैलने पर वे भाग कठिन और पीड़ायुक्त होते हैं । जब गर्भाशय में अपरा और जरायु के कुछ अंश बाकी रहते हैं, तब जीवाणुओं के उपसर्ग से उनके सड़ने के कारण गर्भाशय एक विद्रधि सा हो जाता है । इसी का उल्लेख निदान में मकल्लविद्रधि (Putrid endometritis) करके और काश्यपसंहिता में विद्रधि करके किया गया है । प्रसवशोणित के ऊपर स्थानिक विकृति का परिणाम दिखाई देता है । इसकी राशि कम या अधिक होता है, या यह विरकुल बंद हो जाता है; उसका रंग भूरा या काला सा होता है, उसमें गाढ़ापन आ जाता है तथा उससे दुर्गंध आने लगती है । उदर कुछ बढ़ा रहता है । यदि उपसर्ग प्रसव के समय पहुँच गया हो तो ये लक्षण दूसरे या तीसरे दिन से प्रारंभ होते हैं । यदि प्रसव के बाद उपसर्ग हुआ हो तो देर में प्रारंभ होते हैं । सार्वदैहिक लक्षण—इनमें स्वर महरव का और प्रधान लक्षण है । सौम्य रोग में ज्वर दूसरे या तीसरे सप्ताह में आ सकता है और तीव्र रोग में प्रसूति के दिन भी आ जाता है । प्रसूति के पश्चात् ज्वर आने के दिन से रोग की तीव्रता, का कुछ अनुमान किया जा सकता है । ज्वर एकाएक या शनैः शनैः चढ़ता है । जब एकाएक चढ़ता है, तब ज्वर के पूर्व सर्दी या जाड़ा मालूम होता है । रोग की स्थिति के अनुसार ज्वर १०१°-१०९ शतक चढ़ता है । जब रोग शरीर के अन्य अंगों में फैलता है, तब रोगी को बार बार सर्दी लगती (प्रतिशीतता Repeated rigors) है । तीव्र रोग में फुफ्फुसों में विकृति होने से कास, श्वास मस्तिष्क में विकृति होने से चित्तभ्रम, प्रलाप,

बेहोमी; त्वचा पर विविध प्रकार के और सरक विस्फोट, कामला, पचावात, एकांगवात, अद्विद इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर प्रसूता की मृत्यु होती है। जब गर्भाशय और योनि में अपतानक के जीवाणु का उपसर्ग होता है तब अपतानक (Tetanus), हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ ये लक्षण होते हैं। कुछ स्त्रियों में उपसर्ग का परिणाम उन्माद में होता है। इसको प्रसवोन्माद (Puerperal insanity) कहते हैं। संक्षेप में, कारयपसहिदा में प्रसूता के जो चौसठ रोग बताये गये हैं, वे वास्तव में स्वतन्त्र रोग न होकर योनिगर्भाशय की दुष्टि होने के कारण उत्पन्न हुए विविध लक्षण हैं।

देशकाली च परीक्ष्य—देश से यहाँ पर रोगी और काल से आतुरावस्था ग्रहण करनी चाहिए। आतुर की परीक्षा प्रकृति, विद्वृति इत्यादि इस बातों से बलदोषप्रमाण जानने के लिए और काल की परीक्षा ओषधि का योग्य उपयोग और लाभ होने के लिए की जाती है। चरक में लिखा है—देशस्तु भूमिरानुस्य । आतुरस्तु खलु कार्यदेशः । तस्य परीक्षा आतुरःप्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्वाहलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा । तस्मादातुरं परीक्षेत् प्रकृतितत्त्व, विकृतितत्त्व, सारतत्त्व, संहननतत्त्व, प्रमाणतत्त्व, सारपतत्त्व, सत्त्वतत्त्व, आहारवृत्तितत्त्व, व्यायामशक्तितत्त्व, वयसश्चेति, दशप्रमाणविक्रमप्रदशब्दहेतोः । कालः पुनः सक्तराधातुरावस्था च । आतुरावस्थास्वपि तु कार्यार्थं प्रति कानानालसंज्ञा । अस्थानवस्थापरित्यज्य मेघवस्थाकालम्, कालः पुनरन्वस्य । न ह्यपिपातितकालप्रसारात् न मेघवस्तुपुत्रवमानयौगिकं भवति । कालो हि मेघव्ययोग्यवर्षातिमपि निवर्तयति ॥ (विमान ८) । न्यायिसात्त्व्येन कर्मणा—रोग के लिए औषध, अन्न और विहार का जो लाभदायक प्रयोग हो, उसके द्वारा—उपशयो दि हेतुन्यायिविपरीते निषीदितार्थदरिभिशोषाभारविहारः सखानुत्पन्नः । स हि न्यायिसात्त्व्यसयः । (अष्टांगसंग्रह, निदान १) । गणदासाचार्य इस श्लोकार्थ का पाठ इस प्रकार से देते हैं—गयी तु देशकालीकन्यायिसात्त्व्येन कर्मणा इति पठित्वा देशादिभिः सह उपरक्त सास्यवृत्त्य सम्भारति, भोक्त्रात्त्व्येनभ्याससात्त्व्यम् । (बृहत्संहिता) । ओरसास्यम्—उपशये यदीधियादोःकामास्यं तदुच्यते । इस पाठभेद से कोई विदोष अर्थ नहीं निकल आता । इसकी अर्थेचा मूलपाठ सब दृष्टि से प्रमास है। एव मत्स्यमण्डपाद—प्रसूति का रोग शरीरदीर्घवय तथा अन्य कारणों से दास्य, कृष्णसास्य या असास्य होता है । इसकी चिकित्सा आयुजिक उक्तमोक्षम ओषधियों (जैसे, शूलोषधियाँ Galpha drugs कूर्चकी Poonjilla इत्यादि) और चिकित्सापद्धतियों द्वारा करने पर भी कई स्त्रियों का नाश होता है और यदि पूर्व सूत्रन से बच भी जाय तो रोग-प्रसव या गर्भाशय या मुत्रप्रदानिर्माणाम हो जाती है। इसलिये 'प्रवाचनार्ति पश्यन् दुरारपर्वनं वरम्' इस न्याय से स्त्री को प्रसूत रोग पैदा ही न हो जाय हम प्रकार प्रगवर्त्तनं, प्रगवृत्तलीन और प्रगवोत्तर परिचर्या करना प्रमास है। इस विषय का विवरण पीछे गर्भिणी परिचर्या (तीवरे अन्त्यादे १३७ सूत्र और हम अन्त्यादे के दूसरे सूत्र) में, प्रगवृत्तलीन परिचर्या में और भागे के सूत्र में किया गया है। इसका तात्पर्य यहाँ पर संक्षेप में

दिया जाता है। सर्गावस्था में स्त्री सुपाण्य, पौष्टिक, पर्याप्त, जीवद्रव्ययुक्त आहार का सेवन करे, त्वचा और जननेन्द्रिय की स्वच्छता के ऊपर अधिक ध्यान दे; मुख गला, नासा, त्वचा इत्यादि में कोई दूषित स्थान (Septic focus) हों तो उनकी चिकित्सा करके ठीक करे। रक्तचय या अन्य रोगों की चिकित्सा करे। जहाँ तक हो सके, योनि के भीतर अंगुलियों को प्रविष्ट करके परीक्षा न करे। अगर करना अत्यावश्यक हो तो हाथों की सफाई के ऊपर ध्यान देकर करे। प्रसूति के कार्य में प्रयुक्त स्त्रियाँ मुख, नासा, गला, स्वरयन्त्र, फुफ्फुस और त्वचा के विकारों से पीडित हों तो उनको तैनात न करे, डॉक्टर या वैद्य की भी सखसंस्थान और त्वचा के रोगों से पीडित होने पर प्रसूति का काम न करना चाहिए। प्रसूति के समय विरेचन और बस्ति के द्वारा मलाशय साफ रखे। प्रसवोपयोगी वस्त्र, पात्र शस्त्रयन्त्रादि को अत्यन्त विशोधित करके काम में लावे। योनिद्वार में कहीं विदार हुआ हो तो सुरन्त टॉके लगावे, आहार-विहार के संबंध में प्रसूता की परिचर्या जिस प्रकार से बताया गई है उस प्रकार करे, योनिद्वार की सफाई रखे तथा योनिद्वार के साथ संबंध रखने वाले सब वस्त्र अत्यन्त स्वच्छ प्रयुक्त करे, इत्यादि।

अथापरापतन्यानाहाध्मानौ कुर्वते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽहुल्या मृजेत्, कटफालावृत्तवैधनसर्पसर्पनिर्मोर्कवा कटतेलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकलेन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूर्ध्नि वाऽस्या महावृत्तक्षीरमनुसेचयेत्, वृष्टलाङ्गलीमूलककं वा मधमूत्रयोरन्यतरण पाययेत्, शालमूलककं वा पिप्पल्यादि वा मयेन । सिद्धार्थकपुष्टलाङ्गलीमहावृत्तक्षीरमिश्रेण सुप्रमाणेन वाऽऽस्यापयेत्, पतैरेय सिद्धन सिद्धार्थकलेनोत्तरवर्ति दद्यात्, स्निग्धेन वा कृत्तलेन हस्तेनापहरेत् ॥ २० ॥

(प्रगव की शरीरावस्था—) गर्भजन्म के पश्चात् (गर्भाशय से) न गिरी हुई अपरा आनाह और आभान करती है। अतः (अपरापाननाय) बालों से लिपटी हुई अंगुलि से उसके कण्ठ (गले) में गुग्गुली करे; अथवा कर्चवी तुम्बी, कर्चवी तोरी, सरसों, सोंप की केंचुली को कर्चवे तेल से मिलाकर उनसे योनिमुख का धूपन करे; अथवा उसके हाथ पैरों की तली में लांगली की जड़ के कर्क का लेप करे; अथवा उसके तिर पर सेटुम्ब के रस का सेवन करे; अथवा मध वा गोमूत्र के साथ कुष्ठ और लांगली के मूल के कर्क को पिटावे; अथवा शाठीमूलक या पिप्पल्यादि (गण का पूर्ण) मध के साथ (पिटावे); अथवा श्वेत सरसों, कुष्ठ, लांगली, सेटुम्बकी इन्में मिश्र मुराम्बक का आघातन करे; इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध सिद्धार्थक तेल की उत्तर बस्ति दे; अथवा माण्ड को टुप और र्नेदद्रव्य से सिद्ध किये हुए हाथ से निकाले ॥ २० ॥

अन्त्यादे—इस सूत्र में अपरापानन के विविध उपाय बताये गये हैं। प्रगव की शरीरावस्था की यही मुख्य बतना होती है। गर्भ को बाहर निकालने में गर्भाशय को

तथा माता को अत्यधिक परिश्रम करने पड़ते हैं, जिसके कारण गर्भजन्म होने पर ये दोनों भी थक जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दस-पंद्रह मिनट तक गर्भाशय में संकोच नहीं होता और इससे प्रसववेदना भी उतने समय तक बंद हो जाती है। इस अवधि में गर्भाशय पूर्णतया निष्क्रिय नहीं होता। यदि इस अवधि में गर्भाशय के ऊपर हाथ रक्खा जाय तो उसमें हल्की सी हलचल हो रही है, ऐसा मालूम होगा। इस हलचल से गर्भाशय अपनी शक्ति को फिर से काम करने के लिए इकट्ठा करता है और शरीर को छोटा घनाता है। इस परिवर्तन को प्रत्याकर्षण या संहरण (Retraction) कहते हैं। यह संहरण का कार्य बहुत महत्व का है। प्रथम और द्वितीय अवस्था में गर्भाशयसंकोच (Contraction) का जो महत्व है, वही महत्व तृतीयावस्था में गर्भाशयसंहरण का है। तृतीयावस्था में गर्भाशय के दो कार्य होते हैं—एक कार्य अपने प्रति होता है और दूसरा कार्य अपरा के प्रति होता है। ये दोनों कार्य अत्यन्त महत्व के हैं और इनका एक समय में होना भी आवश्यक है। ये दोनों कार्य संहरण के द्वारा होते हैं। संहरण में गर्भाशय के तन्तुओं में स्थायी संकोच हो जाता है, जिसके कारण गर्भाशय आकार में छोटा होता है। आकार छोटा होने से उसका भीतर का पृष्ठभाग भी चैत्रफल में छोटा होता है। तृतीयावस्था के पूर्व अपरा का गर्भाशयाभिमुख पृष्ठभाग और गर्भाशय का अपराभिर्दक्षिण पृष्ठभाग इनमें मेल रहता है। तृतीयावस्था के प्रारंभ से जब गर्भाशय छोटा होने लगता है, तब दोनों के पृष्ठभाग में कुछ अनमेल शुरू होता है और धीरे धीरे यह अनमेल बढ़ता जाता है। अपरा गर्भाशय के साथ सिकुड़कर छोटी नहीं होती, इसलिए तृतीयावस्था के प्रारंभ से अपरा गर्भाशय से पृथक् होने लगती है। प्रथम अपरा का मध्यभाग प्रायः पृथक् होता है। पृथक् होने पर गर्भाशय और अपरा के बीच में कुछ रक्त इकट्ठा होता है। अनमेल के बढ़ने से अपरा अधिकाधिक पृथक् होती जाती है तथा दोनों के बीच में अधिक रक्त इकट्ठा होता है। इसको प्रतीपापरा रक्तार्ध (Retro-placental haematoma) कहते हैं। यह रक्तार्ध भी अपरा को पृथक् करने में सहायता करता है संहरण का अन्तिम परिणाम अपरा के पूर्ण पृथक् होने में होता है। तत्पश्चात् गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से अपरा गर्भाशय के भीतर से निकलकर नीचे योनि में आती है। इस तरह संहरण का अपरा के प्रति परिणाम उसके पृथक्करण में होता है। अपरा पृथक्करण के साथ साथ यदि अपरा को रक्त पहुँचाने वाली रक्तवाहिनियों के मुख बंद न किये जाय, तो अपरा के स्थान से रक्त का स्राव बहुत होगा। परंतु यह देखा जाता है कि अपरा के साथ जो दो-तीन छटांक रक्त निकलता है उसके बाद रक्तस्राव नहीं होता। इसका कारण भी संहरण है। संहरण के द्वारा अपरा के स्थान की रक्तवाहिनियों के मुख गोया असंख्य बन्धनों (Ligatures) से बंद किये जाते हैं। इस तरह संहरण का गर्भाशय के प्रति कार्य रक्तस्राव बंद करने में होता है। जिस समय संहरण ठीक नहीं होता, उस समय अपरा गर्भाशय से अलग भी ठीक नहीं होती, और यदि जबरदस्ती निकाली जाय तो उसका कुछ

हिस्ता भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का डर रहता है।
 अथ—गर्भजन्म के पश्चात् प्रसव की तीसरी अवस्था में प्रसवरूपरूप की दो शाखाएँ होती हैं—मातृशाखा और अपत्यशाखा। दोनों शाखाओं का काम साथ साथ करना पड़ता है और किया भी जाता है। इन शाखाओं के कार्य बालोपचर्या और सूतिकोपचर्या कहलाते हैं। ये दोनों कार्य साथ साथ चलते हैं, इसका स्पष्ट निर्देश चरक में किया गया है—तस्यास्तु तत्त्वपराया प्रयानार्थे कर्मणि क्रियमाणे जावमात्रस्यै जुगारस्य कार्याप्येतानि कर्मणि भवन्ति। यारह्ये सूत्र में बालोपचर्या और पन्द्रहवें सूत्र से सूतिकोपचर्या का विवरण किया गया है। वास्तव में सुश्रुत में दिया हुआ सूतिकोपचर्या का क्रम कुछ उल्टा हो गया है। अपरापातन का कर्म सब से पहले याने पन्द्रहवें सूत्र के पहले देना जरूरी है। अपरापातन के सिवा प्रसव पूरा नहीं होता और अभ्यंग-चान, भोजन इत्यादि कर्म नहीं किये जाते। चरक और अष्टांगसंग्रह में सूतिकोपचर्या का क्रम ठीक दिया है—
 यदा च प्रजाता रयापदैर्बैनामवेशेत—नाचिदस्या अपरा प्रपन्ना न पेति। तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादैर्बैनामन्यतमा स्त्री इत्यादि। इसके बाद सूतिका के आहार अभ्यंगादि के बारे में विवरण किया गया है। अपरान्ती—यह अपरा का विशेषण है। चरक के उपर्युक्त वचन में और भी एक बात है, जो सुश्रुत में नहीं मिलती। यह बात इस सूत्र के पहले मानी गई है, ऐसा मालूम होता है। इस बात के साथ इस सूत्र का प्रारंभिक भाग निम्न प्रकार से परिवर्तित कर सकते हैं—अथापराऽप-तन्यानाहाध्मानो कुरुते, तस्मात् तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यात्तर्हि कण्ठमस्याः केशवेधित्यागुल्या प्रगृजेत् इत्यादि। इसका मतलब यह है कि गर्भजन्म के पश्चात् अपरा का निष्कासन या पतन आप से हो जाता है; उसके लिए विशेष कोशिश करने की आवश्यकता नहीं होती। गर्भाशय से पृथक् होने पर अपरा तुरन्त योनि से बाहर नहीं आती। प्रथम गर्भाशय से योनि में आती है और पश्चात् योनि से बाहर निकलती है। गर्भाशय से अपरा पृथक् कैसी होती है, इसका विवरण इस चर्कव्य के प्रारंभ में किया गया है। गर्भाशय और योनि की अपरा को बाहर फेंकने की शक्ति भिन्न भिन्न होती है। गर्भाशय के संहरण से अपरा पृथक् होकर उसी के संकोच से वह बालक के जन्म के पश्चात् दस-पंद्रह मिनट में खट से योनि में निकाली जाती है। गर्भाशय में जो संकोच शक्ति है, वह योनि में नहीं है। इसलिए योनि से बाहर आने में अपरा को अधिक समय लगता है। अगर अपरा का संपूर्ण निष्कासन निसर्ग या स्वभाव के ऊपर ही छोड़ दिया जाय तो समय की दृष्टि से यह देखा गया है कि २५ प्र० श० खियों में अपरा निर्गमन के लिए आधा घंटा, २५ प्र० श० खियों में एक घंटा, २५ प्र० श० में दो घंटे और शेष में दो घंटे से लेकर १२ घंटे तक समय लग जाता है। इससे यह स्पष्ट होगा कि संपूर्ण निष्कासन स्वभाव के ऊपर छोड़ने में कुछ अनिश्चिति है और कालापव्यय होने की संभावना होती है। इसलिए अपरा निष्कासन के लिए मध्यम मार्ग पसंद किया जाता है। वह मध्यम मार्ग यह है कि गर्भाशय से योनि तक का अपरा का निष्कासन स्वभाव के ऊपर छोड़ा जाता है और योनि से बाहर आने के कार्य में

हस्तद्वारा सहायता दी जाती है। प्रथम कार्य याने गर्भाशय से अपरा का पृथक होने का कार्य स्वभाव पर छोड़ने का उद्देश्य यह है कि उससे अपरा पूर्णतया निकल आती है और प्रसवोत्तर रक्तस्राव (Post partum haemorrhage) नहीं होता। अगर यह कार्य जवदंती किया जाय तो अपरा के कुछ टुकड़े भीतर रहने का डर होता है तथा गर्भाशय का संहरण ठीक न होने से रक्तस्राव भी हो सकता है। योनि से अपरा को कृत्रिम उपायों द्वारा निकलने में हन दोनो-बातों का भी डर नहीं होता और समय की बचत होती है, क्योंकि योनि में संकोचन की शक्ति न होने के कारण योनि से बाहर आने में ही अधिक समय लगता है। साधारणतया बालक के जन्म के पश्चात् दम-पंदह मिनट तक गर्भाशय में जोर से संकोच नहीं होते और स्त्री को भी पीड़ा नहीं मालूम होती। इस समय में संहरण का कार्य जारी रहता है और उसके साथ साथ अपरा पृथक्करण का भी कार्य चलता है। अपरा जब पूर्णतया पृथक हो जाती है, तब एकत्र संकोच से वह गर्भाशय के बाहर योनि में निकाल दी जाती है। यह कार्य प्रायः पंद्रह-बीस मिनट में हो जाता है। परंतु इसके लिए अधिक से अधिक एक से सवा घंटा प्रतीक्षा की जाती है। यदि इस समय में अपरा योनि में न आ जाय तो समझना चाहिए कि गर्भाशय या अपरा में कुछ दोष है, जिससे अपरा का पृथक्करण स्वभाव से नहीं हो रहा है और कृत्रिम उपायों की आवश्यकता है।

योनिगत अपरा के लक्षण—गर्भाशय की छोड़कर अपरा जब योनि में आती है, तब कुछ लक्षण और परिवर्तन होते हैं जिन्हको देखने से या प्रतीत करने से अपरा के योनि में आने की सूचना मिलती है। घंटा मवा घंटे का जो समय बताया गया है तब तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। ये पाँच लक्षण होते हैं—(१) नामिनाडी बन्द चली हो जाये (२) बालक के जन्म के पश्चात् नाडीबंदन के समय नाडी पर दो बधन लगाये जाते हैं। एक नामि से दो तीन हज़र पर और दूसरा योनिद्वार के बाहर। पश्चात् नाडी नामिबन्धन के पास काट दी जाती है। दूसरे बन्धन का उपयोग जैसे यमल के रक्तस्राव को रोकने के लिए होता है, वैसे ही अपरावतरण जानने के लिए होता है। जब अपरा गर्भाशय से योनि में आती है, तब योनिद्वार के बाहर की नामिनाडी अधिक लची हो जाती है और इसका ज्ञान योनिद्वारसमीपवर्ती बन्धन योनिद्वार से अधिक दूर दिखाई देने पर हो जाता है। (३) गर्भाशय अपर की आर नामि के पास चढ़ता है—बालक का जन्म होते ही गर्भाशय का ऊपर का हिस्सा भगारिथ से कुछ ऊपर और नामि से कुछ नीचे होता है। जब अपरा गर्भाशय से निकलकर योनि में आती है, तब गर्भाशय अपरा के ऊपर चढ़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय उदर-गुदा में कुछ ऊँचा हो जाता है और नामि तक या उससे कुछ अधिक ऊँचाई तक पहुँचता है। (४) नामि के पास जमा—धोणिगुहा से गर्भाशय ऊपर चढ़ने के कारण नामि के पास उदरप्राचीर में कुछ उभार दिखाई देने लगता है। (५) गर्भाशय की स्थिरता नम होगी है—धोणिगुहा में अपरा के साथ अब गर्भाशय रहता है, तब यह चारी ओर से घेरा

हुआ रहने के कारण हाथ से हिलाने पर ऊपर-ऊपर बहुत कम हिल सकता है। परन्तु जब यह अपराविहित होकर उदरगुहा में चढ़ता है, तब हाथ से उसको दायें-बायें हिला सकते हैं। (५) गर्भाशय को खींचने से नाडी लीची नहीं जाये—अब तक अपरा गर्भाशय में होती है, तब तक गर्भाशय को ऊपर की ओर खींचने से नामिनाडी भी ऊपर की ओर खींची जाती है। खींचते समय योनि के बाहर की नाडी पर ध्यान देने से इस बात का पता लग जाता है। हन लक्षणों के ऊपर ध्यान देने से अपरा गर्भाशय से अलग होकर योनि में आ गई है या नहीं, इसका ज्ञान हो जाता है।

पुत्रीभावस्था की भ्रूवस्था—बालक का जन्म होने पर एक तरफ बालक की परिचर्या शुरु होती है और दूसरी तरफ प्रसूता की परिचर्या जारी रहती है। बालक की परिचर्या का विचार पीछे ११वें सूत्र में किया जा चुका है। इस सूत्र में स्त्रिका की स्त्रीयावस्था की परिचर्या का विचार किया गया है। स्त्रीयावस्था में प्रसूता उत्तानासन में ही रहनी जाती है। यही आसन इस अवस्था के लिए सुविधाजनक रहता है। भारतपूर्व में द्वितीयावस्था में भी यही आसन पसन्द किया जाता है। इसलिए स्त्रीयावस्था में आमन-परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो लोग पाश्चात्यपद्धति के अनुसार द्वितीयावस्था में पारिव्रकासन पसन्द करते हैं, वे लोग स्त्रीयावस्था में फिर से स्त्री को उत्तानासन में रखते हैं। बालक का जन्म होने पर एक हाथ स्त्री के उदरप्राचीर पर नामि के पास इस तरह खड़ा दबाया जाता है कि कनिष्ठिका नीचे की ओर हो, अंगुठा ऊपर हो और हथेली भगारिथ की ओर हो। इस तरह हाथ रखने से गर्भाशय का सब हाल मालूम होता है, यदि आवश्यक हो तो गर्भाशय को हलके पीदन से उल्लेख कर सकते हैं और अपरा के नीचे आने का पता लग जाता है। इसके सिवा गर्भाशय पर हाथ रखने से भीतर दूसरा गर्म हो तो उसका भी ज्ञान हो जाता है।

जब अपरा योनि में आ जाती है, तब उसको निम्न तीन पद्धतियों से निकाल सकते हैं—(१) निष्पीडन (Expression)—इसमें उदरप्राचीर पर से गर्भाशय पकड़ा जाता है और पीछे तथा नीचे की ओर दबाया जाता है। इस पीदन से योनि पर ऊपर से दबाव पड़कर अपरा बाहर निकलती है। (२) नाडी से खींचना—नामिनाडी का जो हिस्सा बाहर रहता है, उसको पकड़कर खींचने (Traction) से अपरा बाहर चली आती है। अपरा गर्भाशय में ही रहने पर इस पद्धति का प्रयोग करने से कभी कभी गर्भाशय उल्टा (Inversion) हो जाता है। यह बंधा गम्भीर उपद्रव है। इसलिए नाडी को खींचने से पूर्व अपरा योनि में आ गई है, इसका ठीक ठीक ज्ञान लक्षणों के द्वारा कर लेना चाहिए। (३) हाथ से निराकरण (Manual removal)—इसमें स्वल्प किया हुआ हाथ योनि में प्रविष्ट करने उसी से अपरा बाहर निकाली जाती है। ये तीनों पद्धतियाँ यथापूर्व गुणावह हैं।

अधुर्वदोके अपरानिष्कासन की विधियाँ—इस सूत्र में जो विधियाँ बतलाई गई हैं, उनके अलवा चरक में निम्न

विधियाँ अधिक मिलती हैं—एनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरपरिष्टाद्बलवन्निपीड्य सव्येन . पाणिना पृष्ठ उपसंगृह्य तांस्तुनिर्धूतं निर्धूनयात् । अथास्याः पाण्यां श्रोणीमाकोटयेत् । इत्यादि । वाग्भटोक्त अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में भी ये ही विधियाँ बतलाई गई हैं । इनके ऊपर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट होती है कि जहाँ तक हो सके, अपरा का पतन स्वभाव के ऊपर ही छोड़ा जाता है । अगर उससे काम न हो तो स्वभाव को सहायता करने वाले बाहरी इलाज किये जाते हैं और उनसे न बने तो अन्त में हाथ से निकालने का काम किया जाता है । चरकसंहिता में हस्तापहरण की विधि नहीं मिलती । हाथ से जवर्दस्ती निकालने में अपरा और जरायु के हिस्से भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का डर रहता है । इनके अलावा अगर हाथ की सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो हाथ के साथ पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश गर्भाशय में होकर प्रसूति रोग उत्पन्न होने की संभावना रहती है । इसलिए आधुनिक काल में बाहरी उपायों के द्वारा ही अपरापातन का कार्य, जहाँ तक हो सके, किया जाता है । जब इनसे कार्य नहीं बनता, तब हाथों से निकालने की कोशिश की जाती है । आयुर्वेद की उपर्युक्त विधियों के क्रम में अपरापातन का यही तत्त्व दिखाई देता है । ये विधियाँ अपरापातन में किस प्रकार सहायता करती हैं, इसका कुछ विचार यहाँ पर किया जाता है ।

(१) केशवेष्टिनयांगुल्या कण्ठं प्रमृजेत्—चरकसंहिता में तथा अष्टांगहृदय में वेणी का अग्र (वालवेणी) या वेणी कण्ठप्रमार्जन के लिए प्रयुक्त की गई है । केशवेष्टित अंगुलि या वेणी से कण्ठ या तालु को छूने से (Tickling the fauces) गले में सुरसुराहट वा गुदगुदी उत्पन्न होती है । इसका परिणाम कण्ठरासनी (Glossopharyngeal) नाडी के द्वारा सुपुननाशीर्षगत वमनकेन्द्र (Vomiting centre) के ऊपर होकर तद्द्वारा वमन की क्रिया होती है । वमन क्रिया में वक्षोदरगुहामध्यस्थ महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) का तथा उदरप्राचीरपेशियों का संकोच होता है । इससे उदरगत अंगों पर दबाव पड़ता है । अर्थात् गर्भाशय पर भी दबाव पड़ता है । इस दबाव से गर्भाशय में संकोच पैदा होकर अपरापृथक्करण में सहायता होती है । (२) लांगली प्रयोग—लांगली के गुणधर्म पीछे १० वें सूत्र के अन्त में दिये हुए हैं । लांगली में गर्भाशय में संकोच पैदा करने की शक्ति है । अर्थात् लांगली गर्भाशयसंकोचक (Ecbolic, oxytocic) है । इसका गुण शरीर पर चाँधने से, लेप करने से या पीने से प्रकट होता है । इसका प्रलेप यहाँ पर केवल हाथ पैर के तलों पर करने के लिए लिखा है । अष्टांगसंग्रह में नाभिप्रदेश पर करने के लिए भी लिखा है—जांगलीमूलकल्केन वा पाणिसुदरं चालिम्बेत् । लांगली का कल्क उदर पर लगाने से जब तक कल्क गीला है, तब तक वह अपनी शीतलता के कारण गर्भाशय में संकोच पैदा कर सकता है । इससे अपरापातन में सहायता होती है । इसके सिवा यह ठंडा कल्क प्रसवोत्तर रक्तस्राव रोकने के लिए भी उपयोगी हो सकता है । डा० निकोलस प्रसव के पश्चात् अपरापातन के लिए ठंडे पानी में भिगोया हुआ

तौलिया उदर पर रखने लिए लिखते हैं—*I lay a towel, four fold, wrung out of cold water on the abdomen. This assists in the contraction of the uterus, helps to throw off the placenta, if still adherent, and do expel it, and is a safeguard against haemorrhage. Esoteric Anthropology.* लांगलीकल्कप्रलेप में ठंडे पानी के सब गुण हो सकते हैं और इनके अलावा लांगली का विशेष गुण भी होता है । (३) वस्ति या आस्थापन—वस्ति देने से मलाशय में संकोच पैदा होता है और मलाशय तथा गर्भाशय के संवन्धित होने के कारण उनमें भी संकोच पैदा होकर अपरापातन में सहायता होती है । चरक में इसके संबंध में लिखा है—*तदास्थापनमस्याः सह वातमूत्रपुरीषैर्निर्हरत्यपरामासक्तां वायो रेवाप्रतिलोमगत्वात् । अपरां हि वायमूत्रपुरीषाण्यन्यानि चान्तर्वहिरांगानि सज्जन्ति । (४) नाभेरपरिष्टाद् बलवदुपपीड्य—यह उपपीडन आधुनिक निष्पीडन (Expression) नामक उपाय के साथ मिलता है । अगर अपरा गर्भाशय में ही हो तो गर्भाशय का ऊपर का भाग एक या दो हाथों में पकड़कर निचोड़ना, जिससे, अपरा नीचे योनि में चली जाय । पश्चात् गर्भाशय को पीछे और नीचे की ओर दवाना जिससे वह योनि के बाहर निकल जाय । (५) हस्तेनापहरणम्—यह अन्तिम उपाय है । उपर्युक्त बाह्य और भीतरी उपायों से अगर अपरा न निकल पड़े तो नाखून कूटवाकर और हाथों को तैल या घृत से चुपड़कर यह कर्म किया जाता है । इस कर्म में हाथों की सफाई के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए, वरना पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश होकर मक्कलविद्रधि, प्रसूतिज्वर उत्पन्न होता है । प्रथम हाथों को साबुन से साफ धोकर पश्चात् संक्रयपव (लायसोल) के घोल से निर्दोष करना चाहिए । यदि विशोधित रबड़ के भोजे हाथ पर चढ़ाये जायें तो और भी अच्छा है । योनि में हस्तप्रवेश करने से पूर्व योनिद्वार को भी संक्रयपव के घोल से साफ धोना चाहिए । पश्चात् पाँचों अंगुलियाँ मिलाकर शंकु की तरह बनाया हुआ हाथ योनि में से गर्भाशय में प्रविष्ट किया जाता है । तदनन्तर अंगुलियों को आगे पीछे करके धीरे धीरे सारी अपरा गर्भाशय से पृथक् की जाती है । इस समय दूसरा हाथ उदरप्राचीर पर गर्भाशय के ऊपर रक्खा जाता है । इससे गर्भाशय स्थिर होता है और अपरा को पृथक् करने में सहायता होती है । पृथक् हुई अपरा हथेली पर लेकर बाहर निकाली जाती है । दूसरी चार हाथ को भीतर प्रविष्ट करके अपरा के अगर कुछ अंश भीतर रहे हों तो वे निकाले जाते हैं । इसके बाद आधे से एक प्रतिशत संक्रयपव का उत्तरवस्ति गर्भाशय में दिया जाता है । गर्भाशय में हाथ प्रविष्ट करते समय नाडी के अनुरोध से प्रवेश करना चाहिए—*रिनग्धेन वा कृतनखेन पाणिना नालानुसारतोऽपहरेत् । (अष्टांगसंग्रह) ।* अथवा वैद्योपदेशेन काचित् पाणिना स्नेहाभ्यक्तेन क्लृप्तनखेन इहिः प्रलम्बमपरानालमनुमारयन्ती कुशला तामपरामन्तरपहरेत् । (इन्दु) । नालानुसारतः इस शब्दप्रयोग की खूबी निम्न अंग्रेजी वचन से ध्यान में आ जायगी—*The other hand is inserted into the vagina and follows the cord**

up into the uterus to the placenta. *Ten teachers' Midwifery* हाथ भीतर प्रविष्ट करने के पश्चात् अगर अफरा कहीं पर थोड़ी सी प्र्यक् हुई हो तो वहाँ से प्र्यक् करने का काम प्रारम्भ करना उचित है। इससे आसानी होती है। अगर कहीं पर भी प्र्यक् न हुई हो तो ऊपर किनारे से प्र्यक् करना चाहिये। अगर अफरा बहुत ही अटल हो (Adherent) हो उसको टुकड़े टुकड़े बनाकर निकालना चाहिये। स्वाभाविक तौर से निकल आने पर या कृत्रिम तौर से निकालने पर यह देखना आवश्यक है कि अफरा या जरायु का कोई टुकड़ा गर्भाशयप्रार से थोनि में तो नहीं छटक रहा है। यदि छटक रहा हो तो उसको अंगुलियों से पकड़कर या चिमटी से पकड़कर धीरे से निकालना चाहिये। गर्भाशय के भीतर रहे हुए टुकड़े की अपेक्षा गर्भाशय के मुख से छटकता हुआ टुकड़ा अधिक भयावह होता है, क्योंकि उसके द्वारा सीढ़ी की तरह योनिगत जीवाणु आसानी से गर्भाशय के भीतर पहुँच सकते हैं।

अफरा का परीक्षण—अफरा के बाहर निकल आने पर उसको एक थाली में रखकर मली भाँति देखना चाहिये। अफरा का गर्भाशय की ओर का भाग सुन्दरा होता है। क्योंकि उसमें कई उभार होते हैं। ये दल (Cotyledons) कहलाते हैं। अफरा परीक्षण में इन दलों के ऊपर ध्यान देना चाहिये। कमी कमी एकाध दल भीतर रह सकता है। जरायु के बारे में उनके छिद्र देखने चाहिये। जरायु में एक ही छिद्र होता है, जिसमें से गर्भ बाहर निकलता है। कमी कमी अन्य स्थान में भी जरायु फट जाने से छिद्र हो सकता है। यदि दूसरा छेद मिल जाय तो फटे हुए भाग आपस में मिलाकर देखना चाहिये कि वह केवल विदार है या उसका कुछ हिस्सा भीतर रह गया है। अफरा का कोई हिस्सा भीतर रहा हो तो उसको निकालना आवश्यक है, परन्तु अगर जरायु का थोड़ा—सा अंश भीतर रहा हो और गर्भाशयमुख से नीचे योनि में छटकता हो तो उसको निकालने की आवश्यकता नहीं है। वे टुकड़े प्रसव-शोणित के साथ निकल आते हैं।

अफरा निकल आने के बाद रक्त से भरे हुए कपड़ों को हटाकर योनिद्वार, चूल्ह तथा आसपास के भाग को स्वच्छ पानी और कपड़े से पोंटना चाहिये। आयुनिक काल में इसके लिए संकल्प्यष (लायसोल) का बोल प्रयुक्त करते हैं। जननेन्द्रिय तथा आसपास की सफाई करने के बाद जननेन्द्रिय का निरीक्षण विदारों के लिए करना चाहिये और यदि दरार हों तो उनको टाँके छानना चाहिये। पश्चात् जननेन्द्रिय पर कौपीन की तरह स्वच्छ कपड़े की मोटी पट्टी नामि से लेकर चूल्ह तक उदरपट्ट की सहायता से बाँधनी चाहिये। जननेन्द्रिय की पट्टी प्रसवशोणित को सोखने के लिए और अल्पव्यक्तया स्त्रो के कपड़ों की सहायता न होने के लिए बाँधना आवश्यक है। उदर की पट्टी कौड़ी प्रदेश से ऊपर प्रथम तक लगाई जाती है। गर्भाशय से गर्भ निकल आने के बाद उदरगुहा में शून्यता, रिक्तता उत्पन्न होती है और उदर प्राचीर की पेशियाँ गर्भमुद्रि के तनाव के कारण दुर्बल और निथिल हो जाती हैं। इसलिए उदर को सहारा देना आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा गर्भाशय के

ऊपर जुट दबाव की आवश्यकता होती है। ये कार्य उदर पर कमरे पट्टी बाँधने से होते हैं। यदि स्त्री का उदर अधिक मोटा और रूख हो तो पट्टी के नाचे नामि पर बन्ध की मोटी तह रखना उचित है—श्वेदुदरं भवति उदरं वातसा; दया दया न वायुदरे विक्रियुत्पादयनवकाशत्वात्। (चक्र)। प्रमत्तमात्रमाश्राय स्वर्ग शक्य प्रभावित्वा। न्युष्मा श्यानां सवाह्य एव सक्रिय कुचिणा ॥ पीश्वेदुदरं गर्भदोष-प्रवृत्तये। भवति उदरपट्टेन कुचिणार्थं च वेष्टयेत्। तेनोदर स्वस्थान भावि वायुश्च शान्यति ॥ (कारणपसंहिता, सूतिकोपक्रमगीया-ध्याय)। सूतिका के साथ संबंध रखने वाला हर एक बच्चा अनुष्ट होना चाहिये। इसमें भी जो बच्चा जननेन्द्रिय के ऊपर रखता जाता है, वह विशेष करके अनुष्ट होना आवश्यक है।

जननेन्द्रिय के ऊपर की पट्टी प्राथमिक कुछ दिनों में दिन में कई बार बदलनी पड़ती है क्योंकि छाव अधिक रहता है। इस प्रसवशोणित छाव के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह छाव बहुत जल्दी दूषित हो जाता है तथा प्रण के साथ इसका संबंध होने से प्रण भी जल्दी दूषित होता है। इसलिए जब तक छाव हो रहा है, तब तक प्रसूता अपने हाथों का संबंध जननेन्द्रिय के साथ न करे, तथा दाईं जननेन्द्रिय की सफाई करने से पूर्व बालक की परिचर्या समाप्त करे, क्योंकि प्रसवशोणित का संसर्ग नवजात बालक की नामि या नामिनाडी पर होने से उसमें पाक होने का डर रहता है। जब एक ही दाईं दोनों का काम करती है, तब इस विषय का ध्यान करना जरूरी है। जब आयुर्वेद के अनुसार प्रत्येक काम के लिए स्वतन्त्र स्त्री होती है, तब पहले और पीछे का सवाल नहीं उठता।

प्रजातायाश्च नार्यां रूक्षशरीरायास्त इणेरविशो-
धितं रक्तं चायुना तद्दशागतेनातिसंरूक्षं नामेरघः
पार्श्वयोर्वस्ती वस्तिशिरसि वा प्रान्थि करोति; ततश्च
नाभिवस्त्वुदरं रूक्षानि भवन्ति, सूचीमिरिव निस्तु-
घते मिघते दीर्यत इव च पक्वादायः, समन्तादाम्भान-
मुमुदं भूयसंरूक्ष भवतीति मकल्ललक्षणम् ॥ २१ ॥

(मकल्लक्षण—) प्रसूत हुई (अत एव) रूक्ष शरीर की स्त्री का (पिप्पल्यादि) शीघ्र जोषधियों से अविशोषित, गर्भाशयागत वायु से रोका हुआ रक्त नामि के नीचे दोनों पार्श्वों में, वस्ति (देश) में अथवा वस्ति शिर में ग्रथि पैदा करता है। उससे नामि, वस्ति और उदर में रुध्र होता है, पक्वादाय सूचियों से शुभ रहता है, भेदित्वा वा विदीर्णो हो रहा है (ऐसी पीड़ा होती है), उदर में चारों ओर आम्भान होता है और भूयस्क जाता है, यह मकल्लक्षण है ॥ २१ ॥

वक्ष्य—रूक्षशरीर—शरीर की रूक्षता गर्भमुद्रिजन्य घातुचय, रक्तजाव इत्यादि कारणों से होती है। अर्थात् सगर्भावस्था और प्रसव के कारण प्रत्येक प्रसूता स्त्री के शरीर में रूक्षता हो ही जाती है। शीघ्रविशोषितम्—पीठे १५वें सूत्र में प्रसवशोणित रुध्रि के लिए पिप्पली पिप्पलीमूलादि कार्कण देने के लिए बताया है। इसको न देने से रक्त अविशोषित रहता है। प्रसवशोणित की रुध्रि उसका ठीक छाव होने में है। उसका ठीक छाव न होने से वह अविशोषित रहता है। पिप्पल्यादि शीघ्र जोषधियों से इसका छाव ठीक होता है और न देने से नहीं होता।

वायुना तद्देशगतेन—गर्भाशयगत वायु अर्थात् अपान वायु । मक्कल्लक्षणां—प्रजातायाः प्रजननशरीरिवसंजनितशूलं मक्कल्लः । (डल्हण) । प्रजननस्रोणित वही है, जिसका घर्षण पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसवस्रोणित (Lochia) करके किया गया है । मक्कल्ल को उत्तरापी (After pains) कहते हैं । मक्कल्ल के कई कारण हो सकते हैं । साधारणतया प्रसव के पश्चात् गर्भाशय में जोरदार संकोच नहीं होते, परन्तु धीरे धीरे संहरण (२०वें सूत्र का वक्तव्य देखो) होता रहता है । कभी चिल्लम्री प्रसव, कष्टप्रसव या अन्य कारण से गर्भाशय कुछ प्रद्युब्ध (Irritated) हो जाता है और प्रसव के पश्चात् भी कुछ काल तक जोर से संकुचित होता रहता है । इस संकोच के समय शूल होता है । कभी कभी अपरा और जरायु के कुछ टुकड़े गर्भाशय में रह जाते हैं । उनको निकालने की कोशिश में गर्भाशय में संकोच होते हैं और उससे शूल होता है । कभी कभी गर्भाशय की कमजोरी से संहरण ठीक नहीं होता और रक्त का चाव कुछ अधिक होता है । यह रक्त गर्भाशय के भीतर जमने लगता है और उनकी गाँव बनती है । इनको निकालने के लिए उत्पन्न हुए संकोच से शूल होता है । संक्षेप में कभी प्रक्षोभ के कारण, कभी अपराजरायु क्षेप रहने के कारण, कभी भीतर रक्त जम जाने के कारण और कभी कोई ठीक कारण मालूम न होते हुए भी प्रसव के बाद गर्भाशय में जो संकोच होते हैं, उनसे मक्कल्ल होता है । वास्तव में आवी और मक्कल्ल में शारीरिक कार्य की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है । जो फर्क है वह कारण और काल की दृष्टि से है । आवी गर्भ को निकालने के लिए होती है, मक्कल्ल गर्भ-जनित कुछ क्षेप क्षेप निकालने के लिए होता है; आवी गर्भजन्म के पूर्व होती है और मक्कल्ल गर्भजन्म के पश्चात् होता है । इस काल-कारण की दृष्टि से आवी को प्रसवपूर्व गर्भनिःसारक वेदना और मक्कल्ल को प्रसवोत्तर गर्भदोष-निःसारक वेदना कह सकते हैं । इसी का संक्षेप करके आवी के लिए जैसे प्रसववेदना कहते हैं, वैसे ही मक्कल्ल के लिए प्रसवोत्तर वेदना कहना चाहिए । अंग्रेजी में मक्कल्ल को पेसा ही (After pains) कहते हैं । प्रसवोत्तर वेदना गर्भाशय के संकोच के कारण जैसी होती है, वैसे ही आन्त्र-गत वायु (आध्मान) और मूत्रसंग के कारण होती है । इसको मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना (False after pains) कहते हैं । उदरगुहा से गर्भ निकल जाने पर उदर में शून्यता और रिक्तता आ जाती है तथा योनिद्वार के आस-पास के भाग पर प्रसव के समय काफी दबाव और आघात होने के कारण मूत्रद्वार और मलद्वार के सुपिरिन्नायु (Sphincters) संकुचित रहते हैं, जिसके कारण मल और मूत्र का उत्सर्ग नहीं होता—आनाहाध्मानने चोभे वचोमूत्र-ग्रहावपि । (काश्यपसंहिता) । प्रसवोत्तर वेदना और मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना में निम्न भेद होते हैं—(१) मिथ्या वेदना आन्त्रगत वायु या मूत्रसंग के कारण और वास्तविक वेदना गर्भाशयसंकोच के कारण होती है । (२) मिथ्या वेदना अनियमित समय पर और वास्तविक वेदना नियत समय पर होती है । (३) मिथ्या वेदना के समय गर्भाशय के ऊपर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता; वास्त-

विक वेदना के समय कड़ा मालूम होता है । (४) वच्चे को दूध पिलाने समय वास्तविक वेदना अधिक हो जाती है या उस समय न होती हो तो शुरू होती है । मिथ्या वेदना पर बालक के स्तनपान का कोई परिणाम नहीं होता । (५) मलमूत्र-त्याग करने से या अन्य उपायों द्वारा मलमूत्र निकालने से मिथ्या वेदना कम हो जाती है या बंद होती है । वास्तविक के ऊपर कोई परिणाम नहीं होता ।

अष्टांगसंग्रह में 'मक्कल्ल' का उल्लेख 'मर्कल' नाम से किया गया है ।

तत्र (सर्पिणा सुखोष्णेन लवणचूर्णेन वा) वीर-
तर्वासिद्धं जलमूपकादिप्रतोवापं पाययेत्, यव-
क्षारचूर्णं वा पिप्पल्यादिफ्रायै, पिप्पल्यादिचूर्णं वा
सुरामण्डेन, वरुणादिफ्रायं वा पञ्चकोललाप्रतोवापं
पृथक्पण्यादिफ्रायं वा भद्रदारुमरिचसंस्पृष्टं, पुरा-
णगुहं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुभ्युरुमिश्रं खादेत्,
अच्छं वा पिबेदरिष्टमिति ॥ २२ ॥

(मक्कल्लचिकित्सा—) उसमें वीरतर्वादि (गण की ओपधियों से) सिद्ध फ्राय उपकादि (गण की ओपधियों) का प्रक्षेप देकर (मन्दोष्ण घृत से या नमक के चूर्ण से) पिलावे; अथवा पिप्पल्यादिफ्राय यवक्षार चूर्ण के साथ, अथवा सुरामण्ड के साथ पिप्पल्यादि चूर्ण, अथवा वरुणादि फ्राय पञ्चकोल और प्ला के चूर्ण का प्रक्षेप देकर, अथवा पृथक्पण्यादि फ्राय देवदारु और काली मिरच के साथ (पिलावे), अथवा त्रिकटुक, चतुर्जात और धनिया इनसे मिश्र पुराना गुड़ खावे, अथवा केवल अरिष्ट-सेवन करे ॥ २२ ॥

वक्तव्य—वीरतर्वादिगण, उपकादिगण, पिप्पल्यादिगण, वरुणादिगण इनकी ओपधियों का विवरण सूत्रस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय (३८वें) अध्याय में किया गया है । अच्छं वा पिबेदरिष्टम्—अच्छं केवलम् । अरिष्टमभयारिष्टादिकम् । (डल्हण) । यदि गर्भाशयगत रक्तदोष के कारण शूल होता हो, उस दोष को गर्भाशय के पीठन से निकालने की कोशिश करनी चाहिए । शूल वायु के कारण होता है, इसलिए उदर पर नाभि के आस-पास गरम पानी से सेकना चाहिए, मलाशय में तथा योनि में वस्ति देना चाहिए और यदि कोष्ठशुद्धि न हो तो विरेचन द्वारा कोष्ठशुद्धि करनी चाहिए । इससे प्रायः मक्कल्ल शूल दूर हो जाता है । अगर शूल कम न हो तो आजकल फेनासिटिन, एस्त्रिन, मार्फिया इत्यादि वेदनाहर ओपधियों का उपयोग किया जाता है ।

सूतिका-परिचर्या का विवरण यहाँ पर समाप्त होता है । इसके बाद फिर से बालकोपचर्या प्रारंभ होती है ।

अथ बाले चौमपरिवृतं चौमःस्त्रास्तृतायां श-
य्यायां शाययेत्, पालुवदरोनिम्बपरूपकशाखाभि-
श्चैनं परिवीजयेत् मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमव-
चारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नधूपैः, रक्षोघ्नानि चास्य
पाणिपादशिरोप्रोवास्ववसृजेत्, तिलातसीसर्षपक-
णांश्चात्र प्रकिरेत्, अघिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्,
व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत ॥ २३ ॥

(रक्षाकर्म—) जान के पश्चात् बालक को चौम के

यस्य मं लपेटकर सौम का वस्त्र जिस पर बिछा हुआ हो, ऐसे बिछौने पर सुलावे, पील, घेर, नीम और फालसे की शाखाओं से पंखा करे; उसके सिर पर प्रतिदिन तैल का काहा रखे; उसके रक्षोम धूप से भूषित किया करे और उसके हाथ पैर सिर और प्रीवा में रक्षोघ्न द्रव्य बाँधे और बालक के अंगार में तिल, अलसी और सरसों को बखेर दे; घामकागार में अग्नि जलावे और अग्नितोषासनीय (अध्यायोक्त विधि) को काम में लावे ॥

घनस्य—अथ—बारहवें सूत्र में बताया हुआ चौरघ्नस्य कथायादि से बालक को जान कर ने के याव । मूर्ध्नि—अग्रनाल (Anterior fontanelle) पर । बालक की तालु तेल से भरने का रिवाज अभी तक भी जारी है । यह कम पाँच छः महीनों तक लगातार प्रतिदिन किया जाता है । तालु के सिवा कान में भी तेल छौंकने का रिवाज है—अथरक्षोघ्नस्य शोच्यश्यामक स्नेहाभ्युत्तेन प्लोतेन प्रच्छाद्येत । (अष्टांगसंग्रह) । शोचं च श्यामक च तयोः समाहारः शोचश्यामकम् । श्यामक—तालु । धूपयेत्तन् रक्षोमैर्धूपै—नीम की पत्ती, सरसों, नमक और घृत इनके धूप को रक्षोम धूप कहते हैं—सर्पारिष्टपत्राभ्यां सर्पिणा लवणेन च । द्विरह कारयेद् धूप दशरत्नमन्त्रिन ॥ (सूत्रस्थान ११) । कारयपरसंहिता में मित्र धूप रक्षोम बताया है—एव सिद्धपत्रे द्विदु देगनिर्माल्यमष्टा । सर्पत्रयमिदुसघाटी धूपे रक्षोम वच्यते ॥ (घृणकथाध्याय) । मिदुसघाटी—पटे पुराने कपड़े । धूप से बालक, उसके वस्त्र, सम्पूर्ण मजान इनका भी धूपन किया जाता है—एतेर्बालान् समापनानरि-श्यामनेन च । वचश्यामानानैर्घृ च बालानां धूपयेद् निवृत्त ॥ (कारयपरसंहिता, धूपरक्षोमाध्याय) । रक्षोमग्नि—अग्नितोषासनीय अध्यायोक्त छत्रातिष्ठद्वाद्वि ओषधियाँ, किया चरकोक (आगे रक्षाकर्मविधि देखो) यथा कुछ दिहुँ सर्पप हृत्पादि ओषधियाँ, किंवा जीवत्सुग्निद्राग्नौत्पात्तं सदा बाल शुभात् मनीत् । धारयेत्तच्छी मेधा शान्देन्द्रोतीववादिभ्यः ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर) । अलितोषासनीय कारयेत्—प्रसूता तथा बालक दोनों भी अग्निगत होते हैं । प्रसूता योगिगर्भाशय में और बालक नाभिनाडी और नाभि में अग्निवृत्त होते हैं । अर्थात् अग्निगत भी परिचर्या जिस प्रकार करनी आवश्यक होती है, उसी प्रकार इनकी भी परिचर्या करनी चाहिये । इस सूत्र में अग्नितोषासनीय अध्यायोक्त कुछ बातें बताई गई हैं; अनुक्त बातों के लिये यह आद्यसूत्रमह प्रयुक्त किया गया है—जैसे, प्रजासत् और आद्यवर्जित कुमारागार, सप्तम्य स्वास्तोम, प्रायश्चीरसाधन, सान्तिमंगलदेवताप्राकरणपरता, अन्नधर्तृप्राशनादि, अत्यन्त सामास्यवेदादिर्मंत्रों का पठन इत्यादि ।

इम सूत्र में बालक की रक्षाकर्मविधि वर्णन की गई है । यह विधि हम दिन तक की जाती है—अथार्य एतं पितृव्यम्—मादनी विरिचक्येयुषीपुत्ररूपकृपाभाविभवा । एवं सम स्यात् परिचारयेत् । सर्वेभ्यश्चिकित्सागारस्य सर्पशोकीशुद्धवृन्दक-निष्ठाः प्रविशेत् । एवं हनुमन्तश्चोमः शानमुपपकात् किंतेनाता-कर्मत् । इति च सुश्रुतं देहोन्मुत्पिरिभीन स्येत् । वचपुत्रोन्क-द्विहृत्संवाकीचशुभकारात्पुत्रोन् रक्षोमममस्युत्तमं पीतशोनां शोचिन्ति इत्येकश्चिकित्सागारोत्तरेहस्यवसुधेत्, तथा यद्विचाराय कर्त्तुं समुपात्तं, एवंतुत्तकृममर्देवैर्धूपे, तदेव च हयोनीस्यते । कृत्वात्तदेवतान्प्रसिन्नुक्युषीवैर्धुवाभिः यद्विचारात्पवात्तद-

रतो नित्यं स्यात् । शिवयचैनां यथोक्तगुणाः सुहृदध्यायुग्यु-दंशाश्च द्वादशाश्च वा । अनुपतप्रदानमन्त्रतादीन् स्तुतिगीतवादिप्रमन्त्र-पातविशदमन्त्ररक्षणदृष्टमन्त्रसंपूर्णं च तदेवम कार्यम् । महाप्रधावर्ष-वेदविद्यं सततमुपपकात् शान्तिं जुहुयात्, सप्तस्ययनार्थं कुमारास्य तथा चतिकायाः । (चरक) ।

अब यहाँ पर बालक से संबंधित कुछ विद्वानों का विचार किया जायगा—(१) कुमारागार—चरकसंहिता में बालक के लिये स्वतन्त्र गृह बनाने के लिये लिखा है—वास्तुविधा-उत्तमः प्रशस्त रम्यमनमक निवातं प्रयातेकदेशं दृढमपवत्तथापद-पशुद्विभूषितयनीयं द्युभिर्भक्तलिलोत्पलमृगवर्षं स्थानरानमूमि-मदानसमृद्धंयत् यत्तुंयनसनास्तरसंपन्नं कुर्वीत् । तथा सुविहितरक्षाविधानमलिनगतशोभप्रायश्चित्तं सुविष्टद्वैवातुत्तज्जन-संपूर्णम् । सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह में कुमारागार स्वतन्त्र नहीं दिया है, परन्तु अष्टांगसंग्रह में चरक के अनुसार स्वतन्त्र दिया है । अब प्रश्न यह उठता है कि स्वतन्त्र कुमारागार आवश्यक है या नहीं है, और यदि आवश्यक हो तो किस परिस्थिति में आवश्यक होना है । जन्म के पश्चात् भी, यद्यपि गर्भावस्था के समान नहीं, माता और बालक का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है क्योंकि बालक का पोषण माता के दूध पर ही हुआ करता है । इसलिए जहाँ पर और जय तक बालक माता का ही दूध पीता है वहाँ पर और तब तक बालक के लिये माता के स्थान से स्वतन्त्र स्थान न आवश्यक है, न उचित है । जहाँ पर और जय से बालक का पोषण माता के दूध पर नहीं होता, वहाँ पर और तब से बालक का स्थान माता से अलग रखने में न कोई मुविधा है, न औचित्य है । इसलिए जहाँ पर माता स्वयं बच्चे को दूध पिलाती है तथा उसकी देख-भाल करती है, वहाँ पर कुमारागार की कोई आवश्यकता नहीं है, स्तिकागार में ही कुमारे के लिये आवश्यक प्रबंध करने से काम हो जाता है । परन्तु जहाँ पर माता बालक को दूध नहीं पिला सकती (जैसे, रोग माता), अथवा बालक को दूध पिलाना नहीं चाहती (जैसे, घनी, अमीर या राजपुत्र की स्त्री जयया आधुनिक कालीन पाश्चात्यों का अन्धायुकरण करने वाली स्त्री, जो बच्चे को पिलाना एक असंभव काम समझती है या जो बच्चे की अथवा अपने स्वार्थों की पुष्टता को याने पर्याय से अपने धीवन को अधिक महत्व देती है) और इस परिस्थिति के कारण जहाँ पर बालक के लिये प्राप्ती रक्षणी गई है, या ऊपर का दूध दिया जा रहा है वहाँ पर स्तिकागार और कुमारागार शूयक रचना ही आवश्यक है । इस भी ही, जहाँ पर बालक रहे वहाँ पर बालक के लिये आवश्यक सब बातों का प्रबन्ध होना चाहिये । जैसे कि ऊपर चरक के बचन में बताया गया है । कुमारागार के संबंध में कुछ विवरण पीछे बोधे सूत्र के बचन में स्तिकागार के साथ किया गया है । शानक के बस अध्यायि—शानक के बच स्वप्न, निर्मल, शुद्ध, शुष्क और सुपीत होने चाहिये और उसकी शय्या शुद्ध, सज्जल वा निर्गु मे विरहित तथा यदि मत्स्यर हों तो मत्स्यरानी से युक्त होनी चाहिये—विशंभुल्लुमुमस्यममक च जयत् । शुचिभोगेराशानि निर्भोभिर्न मूर्त्नि च । अथार्यत्तद्विचाराभिः रक्षोमैर्धुपिगग्नि च ॥ (अष्टांगसंग्रह) । यदभात्तरत्तारत्तान् कुमारेण शुद्धंयुति

गुणधीनि स्युः । स्वैरमलमनुमण्डि मृदुपुरीषोपसृष्टानि न कर्ष्यानि स्युः, अस्तुति संभवेऽभ्यन्तेषां तद्वदेव न उपसृष्टितोषधानानि उपूपितानि मृदुनुप्रायस्युपयोगं गच्छेत्सुः ॥ धूपगानि पुनर्वाससा श्वनास्तरप्रारवसानां च यदसर्पवाजशीभिहुगुग्गुगुवाचोरेक- वयःस्थागेतोमीत्रदिलापसद्प्रासोकरेदितोसर्पमिर्गोकाणि शक्युक्तानि स्युः । (चरक) । चरक का कथन है कि जो वस मल-सृष्टादि से दूषित हो जाते हैं, उनको वर्जित करना चाहिए । यदि यह न हो सके तो उनको अच्छी तरह धोकर और सुखाकर तथा धूपित करके काम में लाना चाहिए ।

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुफौ स्वस्तिवाचनं कृत्या नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्र- नाम वा ॥ २४ ॥

(नामकरणविधि—) तदनन्तर दसवें दिन माता-पिता मंगलोल्लास किये हुए पुण्याहवाचन करके अपने को अभीष्ट अवया नक्षत्र नाम रखें ॥ २४ ॥

वक्तव्य— दशमेऽहनि— प्रसूता के छिपू दस रोज तक अशौच रहता है, इसछिपू 'भ्यारहवें दिन' ऐसा इसका अर्थ करना चाहिए । चरकसंहिता में 'दशमे राहनि' पाठ के बदले 'दशम्यां निरयतीतायाम्' ऐसा भी पाठभेद मिलता है । यह नामकरणविधि दसवें, या बारहवें दिन में और उन दिनों में न हो सकी तो आगे शुभ सुहूर्त पर किसी दिन की जाती है— नामभयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् । पुण्ये तिथी सुहूर्ते वा नक्षत्रे वा शुभान्विते ॥ (मनु- स्मृति २-३०) । इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट लिखते हैं— प्रथवा 'प्राथम्ये तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शब्दवाचनाद् दशमेऽहन्वतीते पक्षाद्दशाहं इति त्याख्येयम् ॥ प्रसूति के बाद माने गये इस अशौच को जननाशौच या सूतक कहते हैं । यह अशौच प्रसवशोणित स्राव के छिपू रमजा गया है जैसे आर्तवस्राव के छिपू अशौच होता है उसी प्रकार का यह अशौच है और जैसे आर्तवशो- णितस्राव की औसत अवधि तीन दिन की होने से उसका अशौच तीन दिन माना जाता है, वैसे ही प्रसवशोणितस्राव की औसत अवधि दस रोज की होती है, इसछिपू जनना- शौच दस रोज का माना जाता है— पित्रोस्तु सूतकं मातु- स्वदसददर्शनाद् भुवन् । (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-१६) । इस पर विज्ञानेश्वर लिखते हैं— सूतक जननानिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमा- शौचं पित्रोर्मातापित्रोरैव न सर्वेषां सपिण्डानाम् । तच्चास्पृश्यत्वं मातृशुभं दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः । कुवः । तदस्यदर्शनात् । तस्याः संवर्धित्वेनासृजो दर्शनात् । अतएव वसिष्ठः— नाशौचं विधत्ते पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति । रजस्तत्राशुचि धेयं तच्च पुंसि न विधत्ते ॥ जेलेट अपनी पुस्तक में लिखते हैं— These figures show an average duration (of lochia) of 8 1/2 days. Manual of Midwifery. अशौच मानने की कारणपरंपरा इस प्रकार की है— जैसे, आर्तवशोणित से शरीर शुद्ध होता है (३ अध्याय के ९ सूत्र के वक्तव्य को देखो), इसछिपू वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त स्त्री अस्पृश्य मानी जाती है, वैसे ही प्रसव- शोणित से योनिगर्भाशय की शुद्धि (Cleansing) होती है, इसछिपू वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त स्त्री अस्पृश्य मानी जाती है । डा० निकोलस लिखते हैं—

A cleansing discharge, called lochia, is kept up for ten or twelve days after delivery in the common practice. Esoteric Anthropology. इसकी औसत अवधि नौ या दस दिन की है, अर्थात् कुछ स्त्रियों में यह स्राव अधिक दिनों तक जारी रहता है । यदि प्रसव- शोणित स्राव पर अशौच के दिन निश्चित किये जायेंगे तो प्रत्येक स्त्री में जननाशौच की अवधि भिन्न भिन्न होगी और व्यवहार में अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होगा । अतः व्यवहार के छिपू दस दिन का अशौच औसत स्राव दिनों पर निश्चित किया गया है, जैसे आर्तव का तीन दिनों का अशौच औसत स्राव दिनों पर निश्चित किया गया है— माता शुभेदशाहिनैत्येत्तथा संव्यवहारयोग्यतामत्रन् (विज्ञानेश्वर) । कृतांगलकौतुफौ स्वस्तिवाचनं कृत्या— कौतुफ का अर्थ उत्सव है । चरकसंहिता में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है— दशमे राहनि सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धीपथैर्गौरसंपतोर्भैश्च स्रावा सपुत्रहतशुचिवसनं परिधाय पवित्रेष्टतृविचित्रभूषणवती च संव्यवहार्य मङ्गलान्पुत्रिवाचनं कृत्वा च देवतां शितिनः शुभवाससोऽ- व्यङ्गांश्च ब्राह्मणान् स्वरित वाचयित्वा कुमारमहातानां च वाससां संचये प्राक्शिरसमुदकशिरसं वा संवेदय देवतापूर्वं दिवाजिभ्यः प्रणमति ॥ नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रं वा— दो नाम रखे जाते हैं, एक अपनी इच्छा के अनुसार और दूसरा नाक्षत्रिक याने जिस नक्षत्र पर बालक का जन्म होता है, उस नक्षत्र की जो देवता होती है उसका नाम । नामकरण के कई नियम होते हैं— जैसे प्रारम्भ में अमुक अक्षर मध्य में अमुक, अन्त में अमुक अक्षर होने चाहिए । पुरुषों के नाम दो या चार अक्षर के, स्त्री के तीन अक्षर के, ब्राह्मण हो तो शर्म, क्षत्रिय हो तो वर्म इत्यादि— गोपवदापन्तरस्थमभिनि- ष्ठानान्तं द्रवक्षरं चतुरक्षरं वा । युग्मानि त्वेवं पुंसान् । आयुजानि स्त्रीयान् । (आश्वलायन गृह्यसूत्र) । मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलात्नितम् । वैश्यस्य भनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगु- प्तिनम् ॥ शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राशो रक्षासमन्वितम् । वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेयसंयुनम् ॥ स्त्रीणां सुलोचनकरं विस्पृष्टार्थ मनोहरम् । मंगल्यं दीर्घवर्णांन्वमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ (मनुस्मृति २-३१-३३) । शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुनम् । गुप्तदासा- त्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ (विष्णुपुराण) ।

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्य- मवयस्कामरोगां शीलवतामचपलामलोलुपामकृशाम- स्थूलां प्रसन्नचौरामलभ्रशोष्ठीमलम्बोध्वस्तनोमःथङ्गा- मव्यसनिनीं जोवद्धत्सां दोग्ध्रीं वरसलामलुद्रकमिणो कुले जातामतो भृयिष्ठंश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्य- चलवृद्धये चालस्य ॥ २५ ॥

(धात्री के गुण—) तदनन्तर वर्णानुसार मध्यम- शरीर की, मध्यम आयु की, नीरोग, सुशील, शान्तस्वभाव की, जो लोभी न हो, जो न पतली हो न मोटी हो, जिसका दूध प्रसन्न हो, जिसके होठ लम्बे न हों, जिसके स्तन न बहुत लम्बे हों न छोटे (पीन) हों, अव्यंग, व्यसनों से विरहित, जिसके अपत्य जिन्दे हों, बहुत दूध वाली, प्यार करने वाली, नीच कर्म न करने वाली, उत्तम कुल में पैदा हुई, इसछिपू अनेक उत्तम गुणों से युक्त तथा

श्यामा धात्री को बालक के आरोग्य और बल की वृद्धि के लिए नियुक्त करे ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—यथावर्णम्—ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण जाति की, क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय जाति की इत्यादि । मध्यमप्रमाण—जिमके शरीर में हिमी शक्त की अधिकता या अल्पता न होकर मध्यमता हो । इसका सम्बन्ध अधिकतर शरीर के जो आठ दोष चरकसंहिता में बताये गये हैं, उनसे है—मनिदापैशानिहस्वश्वातितोमा बायोमा चातिक्षुण्णश्वाति गौरश्वातिरूपश्वातिरुश्वातिरेनि । (सूत्र, अष्टौनिन्दीतीयाध्याय) । ये दोष जिमके शरीर में न हों, ऐसी । मध्यमवयस—जो न तरुणी हो, न वृद्धा हो । इसके सम्बन्ध में शारदायी बहते हैं—तरुणी स्यादवसन्ना । केश्य न सहेन इदा स्वन्व चासा न पुष्टिश्च ॥ अनेोत्पा—छोलुप का अर्थ यद्यपि छोमी होता है तथापि यहाँ पर उसका सर्वथ अधिकतर साध्य पेयों के साथ समझना चाहिए । जो धात्री साध्य पेयों में छोमी होगी उससे विषमादान, अप्यदान, समदान तथा बालक के लिए अप्य द्रव्यों का सेवन इत्यादि आहारदोष होंगे और उसका दूध खराब होगा । इसलिये धात्री साध्य-पेय द्रव्यों में छोम करने वाली न होनी चाहिए । रोगी—बहुषीरा । श्यामा श्यामा रि प्रायश्च प्रचुरोषीत भवति । (बह्वहण) । श्यामा के लक्षण—शोऽकाले मनेदुष्णा प्रोथे च सुखरीऽन्ता । शरुऽनवनवर्णामा सा स्त्री श्यामेति कीर्तिता ॥

जीवद्रव्य—जिस छी को बच्चे होकर मरते हैं उस छी को कोई माता अपने बालक को धात्री रखने क लिए तैयार नहीं होती । माता की दृष्टि से यह भावना कर प्ररन होता है । वैध की दृष्टि से भी मृतवत्सा धात्री योग्य नहीं होती क्योंकि बालक की मृत्यु का कारण उसका या उसके दूध का दोष हो सकता है, जो दोष इस नये बच्चे को भी दूषित कर सकता है । माता के दूध का संगठन बालक की आयुर्वृद्धि के साथ बदलता है, इसलिये जीवद्रव्य धात्री के बालक की उम्र करीब उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि धात्री रखने वाले बालक की होती है । इन गुणों के अतिरिक्त चरक में निम्न गुण अधिक मिलते हैं । देशान्ताया—बालक तथा उसके माता-पिता जिस देश के निवासी हों, उसी देश में रहने वाली । देशमिन्नता का परिणाम रहन-सहन और आहार पर होता है । जो आहार धात्री के लिए साम्य होता है, वह बालक के लिए साम्य नहीं होता । इससे बालक को तकलीफ होने की संभावना होती है । इसलिये समानदेशजा धात्री होनी चाहिए । कुशलोपचारा—उपचारा । बालक की परिचर्या करने में कुशल । धात्री बालक की परिचारिका भी होती है । बालक रोग होने पर खान-पानादि का प्रबन्ध उसी को करना पड़ता है । इसलिये उसमें परिचारिका गुण जो उपचारशला, वह भी होना चाहिए—उपचारशला दारुचमनुरागम्य भवति । शीघ्र चैति चतुःशोऽथ उप परिचरे अने ॥ (चरक सू० ६) । अनुगुप्तिता—बालक का स्वभाव चिदचिदा हो सकता है, स्वरूप विवृत हो सकता है, स्वास्थ्य हमेशा खराब हो सकता है, अतीसार प्रवाहिकादि विकार हो सकते हैं, ये सब कुछ होते हुए भी जिसको बालक के सम्बन्ध में पूणा पैदा नहीं होती, ऐसी । शुचि

अनुविदेषिणी—ये दोनों गुण यद्यपि एक-से मादृम पवते हैं तथापि एक नहीं हैं । बहुतेरे नीकर जहाँ पर काम करते हैं, वहाँ पर घर की परिस्थिति और सूचनाओं के अनुसार सफाई का ध्यान रखते हैं, परन्तु जब घर के बाहर जाते हैं तब सफाई के ब्याल को भूल जाते हैं और अपने गन्दे दोस्नों के साथ मिलते हैं । इसलिये धात्री में स्वयं स्वच्छ रहने का और अव्यवस्था से दूर रहने का गुण होना चाहिए । स्तनसम्पुदेषा—उन्नेय स्तनसम्पद—नादूर्ध्वी नाःशम्बा वनेत्रिकुञ्जवनविशोनी गुक्करोपपत्तरी गुल्मपानी वेति । (चरक) । गुक्करोपपत्तरी—गुक्करोपपत्तरी । 'With well shaped nipples' स्तनपानी—जिनको पीने में बालक को आसानी हो । धात्र्यदाचार्य इन गुणों के अलावा निम्न गुण अधिक बताते हैं—कदम्वारिया—निषिद्गुप्तयोगा । (इन्द्रु) । बर्हिःमैयुना (अरुणदत्त) । इस धाम् से कई अर्थ निकल आते हैं धात्री शीलवती, अक्षयला, कुलेजाता इत्यादि गुणसम्पन् होती है, अर्थात् यह अधार्मिक मैयुन नहीं कर सकती तब करने वाली हो तो उपयुक्त गुणों से युक्त भी नहीं मान जाती है । ऐसी अवस्था में जब इसके लिए मैयुन या पुरुष समागम कर्म किया गया है, तब यह समझ सकते हैं कि यह विवाहित और जीवद्रव्यका छी भी होनी चाहिए । ऐसी छी अगर उसको पुरुषसमागम के बारे में कुछ भी न बताया जाय तो समागम कर सकती है । पुरुषसमागम करने से उसके गर्भवती होने की संभावना होती है और गर्भवती छी का दूध बालक के लिए विकारी होता है । इसलिये मैयुन का निषेध जब तक छी बालक को पिलाती है, तब तक आवश्यक है । धात्री गर्भवती होने पर उसको छोड़ सकते हैं, परन्तु दूसरी धात्री रखने में कठिनाई होती है और दूसरी धात्री का दूध बालक के लिए कुछ फायदा तक असाम्य होने के कारण उसी से भी बालक बीमार पड़ सकता है । इसलिये दूध पिलाने के समय में धात्री को प्रवृत्त्य मत् से रहना नितान्त आवश्यक है । धात्री को आवश्यकता—प्रत्येक प्रसूता के लिए या प्रत्येक बालक के लिए धात्री की आवश्यकता नहीं होती । माता के समान बालक को निरपेक्ष प्यार करने वाला, बालक की रक्षा की चिन्ता करने वाला, बालक का पोषण करने वाला तब ही दूसरा कोई मनुष्य नहीं होता है क्योंकि बालक गर्भावस्था में माता के दूध से पुष्ट होता है और जन्म के पश्चात् दूध से पैदा हुए दूध से पुष्ट होता है—अतःप्रत्येक पुत्रो हरणाश्रिमाभि जायते । तस्मात् प्रियवरो मातु प्रिया एव तु बावन्वा ॥ (रामायण २-७७) । नास्ति मातृसमा क्षया नास्ति मातृसमा गति । नास्ति मातृसमं बाध नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ मातृसमा संनाशसमापत्तय विषयमे । सर्वत्र बाधसमं वा क्थ बाधयच्छु तथा । रक्षयेव ह्यत माता नाम्ना शोछ विषाजत ॥ (महाभारत, शान्तिपर्व २१६) । कुपुत्रो जायेत कृत्रिपि कुमाता न भवति । (शाकटाचार्य) । यह वर्णन काल्य वा पुराण नहीं है, वस्तुस्थिति ही ऐसी है । जन्म के पश्चात् बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम साध्य दूध है और वह भी माता का दूध है, इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद ने अत्यंत प्राचीन काल में किया है—मातृरेव प्रियेव स्वन्व दत्तर देहहृदये । (अष्टागहृदय) । पश्चात्तय देशों में माता के दूध का महत्व

अव मालूम होने लगा है—Breast feeding by the mother—This is the natural method of feeding an infant. *Jellie's Midwifery*. जो बालक माता के दूध पर बढ़ते हैं, उनका स्वास्थ्य औरों की अपेक्षा बहुत अच्छा होता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य तथा धर्म है कि वह अपने बालक को स्तनों का दूध पिलावे। इसमें उसका भी फायदा होता है क्योंकि बालक के स्तनपान से गर्भाशय पूर्वावस्था को प्राप्त होने में सहायता होती है (१४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। डा० निकोलस कहते हैं कि यदि माता दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में हो तो उसको बच्चे को दूध पिलाना चाहिए, और यदि वह दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में न हो तो वह प्रजोत्पादन करने योग्य नहीं है—Every mother ought to nurse her own child, if she is fit to do it, and no woman is fit to have a child who is not fit to nurse it. *Esoteric Anthropology*. परन्तु कई बार ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं या खड़ी की जाती हैं कि बालक को माता का दूध नहीं मिल सकता। ये अवस्थाएँ निम्न हैं—(१) माता की मृत्यु—कई बार प्रसूति ज्वर से माता की मृत्यु बालक के जन्म के कुछ दिनों के पश्चात् होती है। जन्म होते ही माता की मृत्यु होने से बालक के पालन-पोषण में औरों को बड़ी कठिनाई होती है और बालक को भी अनेक यातनाएँ सहन करती पड़ती हैं। इसलिए बचपन में माता की मृत्यु होना बालक के पूर्वपाप का निदर्शन माना जाता है—बालत्वं च मृता माता, वृद्धत्वं च मृता: सुता:। यौवनं च मृता भार्या पातकं किमतः परम् ॥ (सुभाषित)। (२) माता का अस्वास्थ्य—प्रसव के पूर्व या पश्चात् अधिक रक्तस्राव से या अन्य कारण से उत्पन्न हुआ दौर्बल्य, अपच, राजयक्ष्मा, घृकरोग, हृद्रोग, पागलपन (उन्माद) इत्यादि रोगों से माता पीडित हो तो बालक को दूध न पिलाना चाहिए। (३) स्तनस्तन्यदोष—स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, स्तन्य की खराबी ये दोष होने पर बालक को दूध न पिलाना ही प्रशस्त होता है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि जन्म के समय बालक स्वस्थ होने पर भी माता का दूध खराब होने के कारण बालक खराब होता जाता है और खराब हालत में अन्य रोगों का शिकार बनकर उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन्म से माता का दूध बालक को न देना अच्छा है। (४) पाश्चात्यों का अन्धानुकरण—पाश्चात्य देशों में एक समय

ऐसा था कि बालक को पिलाना असम्भ्यता मानी जाती थी और कृत्रिम दूध बनाकर उसके ऊपर बालक की परवरिश करना विज्ञान की करामात और मनुष्यजाति की सभ्यता परम-कोटी मानी जाती थी। हमारे देश में भी पाश्चात्य ढंग पर लिखे-पढ़े पुरुष पाश्चात्य प्रत्ययनेयबुद्धि होकर इस पद्धति की प्रशंसा करने लगे और स्त्रियाँ इसका अनुकरण करने लगीं। इस रिवाज के ऊपर—टिन टीचर की प्रसूतितन्त्र की पुस्तक में बड़ी मामिक टीका की गई है—It is a curious commentary on the triumph of science in making possible the rearing of infants on a substitute for their natural food that bottle-

feeding should have become so general as almost to be taken for granted among certain sections of the community. As soon, however, as the problem is approached from the point of view of the nation as a whole and the effects studied over large numbers, the evils of substitute feeding become clear, and it is a question whether even the triumph of science will enable a race to survive in the struggle for existence if it depends for the rearing of its young on the milk of another animal. *Ten Teacher's Midwifery*. (५) राजघराने और श्रीमती खानदान—यहाँ की स्त्रियाँ प्रायः बच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यह रिवाज बढ़प्पन के कारण जारी हुआ होगा। (६) स्तनों का स्वास्थ्य—इसमें संदेह नहीं है कि बच्चे को पिलाने से स्तन छूटे, पिलपिले, शिथिल, सुन्नथि हुए हो जाते हैं और स्तनत्याग करने के पश्चात् स्तनों को अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त होने के लिए कुछ काल लगता है। अर्थात् साल भर के लिए उत्पन्न होने वाली स्तनों की यह स्थिति कुछ जवान स्त्रियों को अखरती है। इसलिए वे बच्चों को दूध पिलाना पसन्द नहीं करतीं।

बालक को माता का स्तनपान न मिलने के ये छः कारण हैं। इनमें से प्रथम तीन कारण आवश्यक और अनेच्छिक हैं और द्वितीय तीन कारण ऐच्छिक और अस्वाभाविक हैं। कुछ भी हो और विज्ञान की उन्नति कितनी भी क्यों न हो, मनुष्य अपनी विशेषता रखता है; इसलिए मातृस्तन्य-त्याग के ये छः कारण हमेशा उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में बालक के पोषण का स्वतन्त्र प्रवध करना पड़ता है। यह प्रवध दो तरह से किया जाता है—धात्री द्वारा और गव्यादि दुग्ध द्वारा। ये दोनों उपाय प्राचीन हैं—मातुरेव पिवेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्यधान्याद्युभे कार्ये तदसंपदि वत्सले। स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिवेत् ॥ (अष्टांगहृदय)। आधुनिक काल में भी ये दोनों प्रवन्ध प्रचलित हैं।

धात्री—बालक को दूध पिलाने के लिए तथा उसकी देखभाल और सेवा-शुश्रूषा के लिए जो स्त्री रक्खी जाती है, वह धात्री कहलाती है। राजवंश में धात्री रखने का रिवाज होता है, इसका उल्लेख पीछे किया गया है। यह रिवाज बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है—उवाच धान्या प्रथमोदित बचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम् । (रघुवंश ३-२५)। कुमारः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः। आनन्दे-नाग्रजेनैव समं बधुधिरे पितुः ॥ (रघुवंश १०-७८)। वाग्भ-टाचार्य इसी को स्तन्यधात्री कहते हैं। अंग्रेजी में नर्स (Nurse) और वेटनर्स (Wet-nurse) ये दो शब्द प्रचलित हैं। बालक की दृष्टि से इन दो शब्दों के लिए अनुक्रम से धात्री और स्तन्यधात्री ये दो शब्द बहुत ही उत्तम पर्याय हैं। धात्री बालक को जन्म नहीं देती, परंतु जन्म के पश्चात् माता के समान उसका पालन-पोषण अपने स्तन्य से करती है, इसलिए वह उपमाता (Foster-mother) भी कहलाती है। वाग्भ-टाचार्य बालक के लिए दो धात्री तैनात करने के लिए लिखते हैं। यह सूचना बहुत ही अच्छी है (३०वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अगर एकाध रोज धात्री बीमार हो

श्यामा धात्री को बालक के आरोग्य और बल की वृद्धि के लिए नियुक्त करे ॥ २५ ॥

वचस्प्य—यथावाचं—ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण जाति की, पत्रिय के लिए पत्रिय जाति की इत्यादि । मध्यमप्रमाण—जिसके शरीर में किसी बात की अधिकता या अल्पता न होकर मध्यमतर हो । इसका सम्बन्ध अधिकतर शरीर के जो आठ दोष चरकसंहिता में बताये गये हैं, उनसे है—अग्निदाग्नाग्निह्रस्वशान्तिमा शालोमा, चातिक्लृष्णश्चाति-गौरश्चातिश्चूलश्चातिक्लृष्णश्चेति । (सूत्र, अष्टौमिन्दितीयाध्याय) । ये दोष जिसके शरीर में न हों, ऐसी । मध्यमवक्त्रा—जो न तर्हणी हो, न वृद्धा हो । इसके सम्बन्ध में दासकाही कहते हैं—नखी स्वादवक्त्रला । वलेयं न सहेते वृद्धा स्तन्यं चास्या न पुच्छिह्व ॥ अतोल्पा—लोल्प का अर्थ यद्यपि लोभो होता है तथापि यहाँ पर उसका संबंध अधिकतर खाद्य पेशों के साथ समझना चाहिए । जो धात्री खाद्य पेशों में लोभी होगी उससे विषमाशन, अभ्यशन, समशन तथा बालक के लिए अपथ्य द्रव्यों का सेवन इत्यादि आहारदोष होंगे और उसका दूध खराब होगा । इसलिये धात्री खाद्य-पेष द्रव्यों में लोभ करने वाली न होनी चाहिए । योग्नी—बहुचरिा । श्यामा—श्यामा हि प्रायशः प्रचुरधीरा भवति । (बृहहण) । श्यामा के लक्षण—शीतकाले भवेदुष्ण्णा शीथे च सुखशीतला । वक्त्राचनवर्णामा सा स्त्री श्यामेति श्रौतिना ॥

जीवदत्ता—जिस स्त्री को बच्चे होकर मरते हैं उस स्त्री को कोई माता अपने बालक को धात्री रखने क लिए तैयार नहीं होगी । माता की दृष्टि से यह भावना वा प्रश्न होता है । वैध की दृष्टि से भी श्रुतवत्सा धात्री योग्य नहीं होती क्योंकि बालक की श्रुत का कारण उसका या उसके दूध का दोष हो सकता है, जो दोष इस नये बच्चे को भी दूषित कर सकता है । माता के दूध का संगठन बालक की आयुवृद्धि के साथ बदलता है, इसलिये जीवहत्सा धात्री के बालक की उन्न करीब उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि धात्री रखने वाले बालक की होती है । इन गुणों के अतिरिक्त चरक में निम्न गुण अधिक मिलते हैं । देशजनीया—बालक तथा उसके माता-पिता जिस देश के निवासी हों, उसी देश में रहने वाली । देशनिम्नता का परिणाम रहन-सहन और आहार पर होता है । जो आहार धात्री के लिए साम्य होता है, वह बालक के लिए साम्य नहीं होता । इससे बालक को तकलीफ होने की संभावना होती है । इसलिये समानदेशजा धात्री होनी चाहिए । कुञ्जलीचरारा—उपचार-रत्ना । बालक की परिचर्या करने में कुशल । धात्री बालक की परिचारिका भी होती है । बालक रुग्ण होने पर खान-पानादि प्रणञ्ज उसी को करना पड़ता है । इसलिये उसमें परिचारिका गुण जो उपचारशता, बह भी होना चाहिए—उपचारप्रता वारम्भनुराग्य भवति । शौच वेति बहुभोडय उषः परिचे जने ॥ (चरक सू० ३) । अनुगुप्तिता—बालक का स्वभाव चिदचिदा हो सकता है, स्वरूप विकृत हो सकता है, स्वास्थ्य हमेशा खराब हो सकता है, अतीसार प्रवाहिकादि विकार हो सकते हैं, ये सब कुछ होते हुए भी जिसको बालक के सम्बन्ध में घृणा पैदा नहीं होती, ऐसी । शुचि,

भुञ्जिद्विपिणी—ये दोनों गुण यद्यपि एक-से मालूम पड़ते हैं तथापि एक नहीं हैं । बहुतेरे नीकर जहाँ पर काम करते हैं, वहाँ पर घर की परिस्थिति और सूचनाओं के अनुसार सफाई का ध्यान रखते हैं, परन्तु जब घर के बाहर जाते हैं तब सफाई के ब्याल को भूल जाते हैं और अपने गन्दे दोस्तों के साथ मिलते हैं । इसलिये धात्री में स्वयं स्वच्छ रहने का और अस्वच्छता से दूर रहने का गुण होना चाहिए । स्तनसम्पदुदेवा—नत्रेय स्तनसम्पद—नालुधूर्णं नात्रितम्बान-वननिकुञ्जानवतिपीनो युक्तपिप्लको गुणप्रधानो वेति । (चरक) । युक्तपिप्लको—युक्तचुबकी । 'With well shaped nipples.' गुणप्रधानो—जिनको पीने में बालक को आसानी हो । वाम्भटाचार्य इन गुणों के अलावा निम्न गुण अधिक बताते हैं—वक्रचरिणा—निविदुसयोगा । (इन्दु) । बर्जितमैदुना । (अरुणदत्त) । इस शब्द से कई अर्थ निकल आते हैं । धात्री शीलवती, अचपला, कुलेजाता इत्यादि गुणसम्पन्न होती है, अर्थात् वह अघात्मिक मैथुन नहीं कर सकती तथा करने वाली हो तो उपयुक्त गुणों से युक्त भी नहीं मानी जाती है । ऐसी अवस्था में जब इसके लिए मैथुन या पुरुष-समागम वर्य किया गया है, तब यह समझ सकते हैं कि यह विवाहित और जीवदत्तका स्त्री भी होनी चाहिए । ऐसी स्त्री अगर उसको पुरुषसमागम के बारे में कुछ भी न बताया जाय तो समागम कर सकती है । पुरुषसमागम करने से उसके गर्भवती होने की संभावना होती है और गर्भवती स्त्री का दूध बालक के लिए विकारी होता है । इसलिये मैथुन का निषेध जब तक स्त्री बालक को पिलाती है, तब तक आवश्यक है । धात्री गर्भवती होने पर उसको छोड़ सकते हैं, परन्तु दूसरी धात्री रखने में कठिनाई होती है और दूसरी धात्री का दूध बालक के लिए कुछ काल तक असाम्य होने के कारण उसी से भी बालक बीमार पड़ सकता है । इसलिये दूध पिलाने के समय में धात्री को ब्रह्मचर्य व्रत से रहना नितान्त आवश्यक है । धात्री की आवश्यकता—प्रत्येक प्रसूता के लिए या प्रत्येक बालक के लिए धात्री की आवश्यकता नहीं होती । माता के समान बालक को निरपेक्ष प्यार करने वाला, बालक की रक्षा की चिन्ता करने वाला, बालक का पोषण करने वाला ससार में दूसरा कोई मनुष्य नहीं होता है क्योंकि बालक गर्भावस्था में माता के रून से पुष्ट होता है और जन्म के पश्चात् रून से पैदा हुए दूध से पुष्ट होता है—अगप्रत्ययजन्-पुत्रो द्रव्यावाभि-जायते । तस्मात् प्रियतरो मातुः-प्रिया एव तु मान्यवाः ॥ (शमायण सू०-७७) । नात्रि मातृसमा ह्याया नात्रि मातृसमा गतिः । नात्रि मातृसमं ब्राण नात्रि मातृसमा मित्रा ॥ मातृलाभे सनाभरवन्नान्यत्र विषये । समर्थं वासुसमर्थं वा ह्यर्थं वारयकृञ्चं तथा । रत्नत्वेव पुन माता मान्यः श्रेष्ठा विधानतः ॥ (महाभारत, शान्तिपर्व २६९) । कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमारा न भवति । (शकृत्तारचर्य) । यह वर्णन काव्य या पुराण नहीं है, वस्तुस्थिति ही ऐसी है । जन्म के पश्चात् बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम खाद्य दूध है और वह भी माता का दूध है, इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद ने अत्यंत प्राचीन काल में किया है—मातुरेव प्रियेव रान्य तत्पर देहदुदये । (अष्टांगहृदय) । प्रास्राव्य देवों में माता के दूध का महत्त्व

ब्रह्म होने लगा है—Breast feeding by the mother—This is the natural method of feeding an infant. *Jello's Midwifery*. जो बालक माता के दूध पर बढ़ते हैं, उनका स्वास्थ्य औरों की अपेक्षा बहुत अच्छा होता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य तथा धर्म है कि वह अपने बालक को स्तनों का दूध पिलावे। इसमें उसका भी फायदा होता है क्योंकि बालक के स्तनपान से गर्भाशय पूर्वावस्था को प्राप्त होने में सहायता होती है (१४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। डा० निकोलस कहते हैं कि यदि माता दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में तो उसको बच्चे को दूध पिलाना चाहिए; और यदि दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में न हो तो वह त्याग करने योग्य नहीं है—Every mother ought to nurse her own child, if she is fit to do so and no woman is fit to have a child who is not fit to nurse it. *Esoteric Anthropology*. परन्तु क्वचित् वार ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं या खड़ी की जाती हैं कि बालक को माता का दूध नहीं मिल सकता। ये अवस्थाएँ निम्न हैं—(१) माता की मृत्यु—कई वार प्रसूति के वर से माता की मृत्यु बालक के जन्म के कुछ दिनों के पश्चात् होती है। जन्म होते ही माता की मृत्यु होने से बालक के पालन-पोषण में औरों को बड़ी कठिनाई होती है और बालक को भी अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। इसलिए बचपन में माता की मृत्यु होना बालक के पूर्वपाप का निर्दोष माना जाता है—नालत्वं च मृता माता, धृक्त्वं च मृताः सुताः। यौवनं च मृता भार्या पातकं किमतः परम् ॥ (सुभाषित)। (२) माता का अस्वास्थ्य—प्रसव के पूर्व या पश्चात् अधिक रक्तस्राव से या अन्य कारण से उत्पन्न हुआ दौर्बल्य, अपच, राजयक्ष्मा, धृक्कुरोग, हृद्दोग, पागलपन (उन्माद) इत्यादि रोगों से माता पीडित हो तो बालक को दूध न पिलाना चाहिए। (३) स्तनस्तन्यदोष—स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, स्तन्य की खराबी ये दोष होने पर बालक को दूध न पिलाना ही प्रशस्त होता है। कई वार ऐसा देखा जाता है कि जन्म के समय बालक स्वस्थ होने पर भी माता का दूध खराब होने के कारण बालक खराब होता जाता है और खराब हालत में अन्य रोगों का शिकार बनकर उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन्म से माता का दूध बालक को न देना अच्छा है। (४) पाश्चात्यों का अनुकरण—पाश्चात्य देशों में एक समय ऐसा था कि बालक को पिलाना असम्भव मानी जाती थी और कृत्रिम दूध बनाकर उसके ऊपर बालक की परवरिश करना विज्ञान की करामत और मनुष्यजाति की सभ्यता परम-कोटी मानी जाती थी। हमारे देश में भी पाश्चात्य ढंग पर लिखे-पढ़े पुरुष पाश्चात्य प्रत्ययनेयबुद्धि होकर इस पद्धति की प्रशंसा करने लगे और स्त्रियाँ इसका अनुकरण करने लगीं। इस रिवाज के ऊपर—'टेन टीचर की प्रसूतितन्त्र की पुस्तक' में बड़ी मार्मिक टीका की गई है—It is a curious commentary on the triumph of science in making possible the rearing of infants on a substitute for their natural food that bottle-

feeding should have become so general as almost to be taken for granted among certain sections of the community. As soon, however, as the problem is approached from the point of view of the nation as a whole and the effects studied over large numbers, the evils of substitute feeding become clear, and it is a question whether even the triumph of science will enable a race to survive in the struggle for existence if it depends for the rearing of its young on the milk of another animal. *Ten Teacher's Midwifery*. (१) राजवराने और अमीरी खानदान—यहाँ की स्त्रियाँ प्रायः बच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यह रिवाज बढ़पन के कारण जारी हुआ होगा। (६) स्तनों का स्वास्थ्य—इसमें संदेह नहीं है कि बच्चे को पिलाने से स्तन छोटे, पिलपिले, शिथिल, सुसंयोजित हुए हो जाते हैं और स्तनत्याग करने के पश्चात् स्तनों को अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त होने के लिए कुछ काल लगता है। अर्थात् साल भर के लिए उत्पन्न होने वाली स्तनों की यह स्थिति कुछ जवान स्त्रियों को खरती है। इसलिए वे बच्चों को दूध पिलाना पसन्द नहीं करतीं।

बालक को माता का स्तनपान न मिलने के ये छः कारण हैं। इनमें से प्रथम तीन कारण आवश्यक और अनैच्छिक हैं और द्वितीय तीन कारण ऐच्छिक और अस्वाभाविक हैं। कुछ भी हो और विज्ञान की उन्नति कितनी भी क्यों न हो, मनुष्य अपनी विशेषता रखता है; इसलिए मातृस्तन-त्याग के ये छः कारण हमेशा उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में बालक के पोषण का स्वतन्त्र प्रबंध करना पड़ता है। यह प्रबंध दो तरह से किया जाता है—धात्री द्वारा और गव्यादि दुग्ध द्वारा। ये दोनों उपाय प्राचीन हैं—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्यधात्र्यानुभे कार्ये तदसंपदि वत्सले। स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तदगुणं पिबेत् ॥ (अष्टांगहृदय)। आधुनिक काल में भी ये दोनों प्रबंध प्रचलित हैं।

धात्री—बालक को दूध पिलाने के लिए तथा उसकी देखभाल और सेवा-शुश्रूषा के लिए जो स्त्री रक्खी जाती है, वह धात्री कहलाती है। राजवंश में धात्री रखने का रिवाज होता है, इसका उल्लेख पीछे किया गया है। यह रिवाज बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है—उवाच धात्र्या प्रथमोदित वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम् । (रघुवंश ३-२५)। कुमारः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः। आनन्दे-नाञ्जनैव समं बृद्धिरे पितुः ॥ (रघुवंश १०-७८)। वाग्म-टाचार्य इसी को स्तन्यधात्री कहते हैं। अंग्रेजी में नर्स (Nurse) और वेटनर्स (Wet-nurse) ये दो शब्द प्रचलित हैं। बालक की दृष्टि से इन दो शब्दों के लिए अनुक्रम से धात्री और स्तन्यधात्री ये दो शब्द बहुत ही उत्तम पर्याय हैं। धात्री बालक को जन्म नहीं देती, परन्तु जन्म के पश्चात् माता के समान उसका पालन-पोषण अपने स्तन्य से करती है, इसलिए वह उपमाता (Foster-mother) भी कहलाती है। वाग्म-टाचार्य बालक के लिए दो धात्री तैनात करने के लिए लिखते हैं। यह सूचना बहुत ही अच्छी है (३०वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अगर एकाध रोज धात्री बीमार हो

जाय या आगन्तु कारण से उसको कहीं जाना आवश्यक हो जाय तो जहाँ पर एक ही धात्री है वहाँ पर बालक को तकलीफ होगी, दो होने से किसी प्रकार की तकलीफ नहीं हो सकती, जैसे जहाँ पर रेल की डबल लाइन होती है वहाँ पर एक लाइन खराब होने से आने जाने में रुकावट नहीं होती या गाड़ी या जहाज या विमान के दो गन्त (एन्जीन) होने पर एक खराब होने से गाड़ी बंद नहीं होती। माता के दूध के अभाव में एवंगुणविशिष्ट धात्री का दूध मिल जाय तो वह दूध सोलहों आने माता के दूध का काम कर सकता है। इसलिये बालक की दृष्टि से माता के अभाव में धात्री रखना यही प्रशस्ततर मार्ग है। प्ररन केवल उपर्युक्त गुण-विशिष्ट धात्री मिलने का है। प्राचीन काल में थोड़े पैसे में उस प्रकार की धात्री मिलना बहुत कठिन नहीं था, इसलिये धात्री रखने का रिवाज अधिक था। आधुनिक काल में इस प्रकार की धात्री अधिक पैसा खर्च करने पर भी मुश्किल से मिल सकती है। इसलिये धात्री रखने का रिवाज इस समय बहुत कम हो गया है। इसका और एक कारण है। प्राचीन काल में कृत्रिम दुग्धपान (Artificial feeding) की जो दूसरी विधि है, उसमें कई कठिनाइयाँ थीं। आधुनिक काल में विज्ञान की सहायता मिलने के कारण कृत्रिम दुग्धपान एक सरल, सस्ती और सब के लिये सुगम विधि हो गई है। इस विधि का विवरण आगे ११वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्वात् लम्ब्यस्तनी ना
सिकामुखं ह्यदयिरवा मरणमापादयेत् ॥ २६ ॥

(स्तनदोष के परिणाम—) इनमें ऊर्ध्वस्तनी (धात्री बालक को) कराल करती है। लम्बस्तनी (धात्री दूध पिलाते समय अपने लंबे स्तनों से बालक के) नाक और मुँह को आच्छादित करके मृत्यु उत्पन्न करती है ॥ २६ ॥

वक्तव्य—कराल—विचित्र या भयानक। स्तन ऊँचे होने के कारण दूध पीते समय बालक को ऊँचा देलना पड़ता है। इस अवस्था से उसकी दृष्टि सदा के लिये बैसी ही हो जाती है। आगे अध्यागसप्रद का श्लोक देखो। हाराणचन्द्र कराल से दन्तुर या विकृत दंतियों का समस्तते है—उप वासु मध्ये ऊर्ध्वस्तनी कराल स्तनाभ्यां दन्तमुत्पाद्युने पुनरीकृतजडदन्तमित्यर्थ। 'परातो दन्तुरे' इत्यमर ॥ इन दोषों का परिणाम अध्यागसप्रद में लिखा है—दीर्घादतिव-पराहम्भ कुर्वात्सर्वाद्युर्ध्वम् ॥ उच्छ्वासतो धाम् लम्बोपिलानो जीवित संशयम् ॥ (उत्तर १)।

ततः प्रदास्तायां तिथौ शिरःस्नातमदतवास-
समुदद्भुसुं शिशुमुपदेश्य धात्रीं प्रादभुप्रीमुपदेश्य
दक्षिणं स्तनं धौतमापत्परिष्कृतममिमन्थ्य मग्नेण
नेन पाययेत् ॥ २७ ॥

'चरमरः सामरास्तुम्य स्तनयोः क्षीरवाहिनः।
भवन्तु सुभगे नित्यं वासव्यं यत्तद्भुजे ॥ २८ ॥
पयोऽमृतस्य पौरुषं पुमास्ते शुभानने।
दोषमासुरवापानानु देवाः प्रारथाभूत यथा ॥ २९ ॥

(धात्री-स्तनपानविधि—) तदनन्तर प्रशस्त तिथि पर धात्री को पूर्वाभिमुख बैठकर शिर के ऊपर से महलादे

हुए और स्वच्छ मये धर पहनाये हुए बालक को (धात्री की गोद में) उत्तराभिमुख बैठकर धोये हुए (और दबाकर) किंचित् दूध निकाले हुए दक्षिण स्तन को हृद मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके पिलावे ॥ २७ ॥ हे सुभगे! बालक की बलवृद्धि के लिये चारों समुद्र तेरे स्तनों में निरन्तर क्षीरवाहक हों ॥ २८ ॥ हे शुभानने! जैसे अमृत-प्राशन करके देव दीर्घायु को प्राप्त हुए, वैसे ही अमृत रूप तुम्हारे दूध को पीकर बालक दीर्घायु को प्राप्त करे ॥ २९ ॥

वक्तव्य—उत—उपर्युक्त गुणयुक्त प्राप्त करने के बाद। धात्री—बालक के समान धात्री को भी उस दिन स्नान, शुश्रूषण परिधान और ऐन्द्रवादि ओषधियों का धारण करना पड़ता है—अथ धात्री स्नानावृत्तिसा निरयमदत वासा शुभना प्रनास्थापनोपथी शिरसा विम्राया इत्यादि। (अध्यागसप्रद)। दक्षिण स्तनम्—प्रथम दक्षिण स्तन और पश्चात् वाम स्तन पिलावे। धौतम्—दूध पिलाने से पहले स्तन को धोने की पद्धति बहुत अच्छी है। दूध पीने के बाद कुछ दूध चूचुक से बाहर निकलता है और वहाँ पर सूख जाता है। कभी कभी वह खराब भी हो सकता है। अगर स्तन न धोये जाय तो पहले का सूखा हुआ या खराब हुआ दूध प्रथम बालक के मुँह में चला जायगा। इससे बालक को कभी कभी तकलीफ हो सकती है। इसलिये प्रत्येक स्तनपान के पहले स्तनों को फोकर साफ करना प्रशस्त है। ऐश्वरितजम्—स्तनचूचुक में दुग्धद्वारी नालियों का अन्तिम भाग होता है। चूचुकाम खराब होने से यह खराबी कुछ मर्यादा तक भीतर जा सकती है। यदि दबाकर थोड़ा-सा दूध निकाला जाय तो उसी दूध से उन नालियों की सफाई हो जाती है। इसलिये प्रत्येक स्तनपान के समय जरा-सा दूध निकालकर पीछे बालक को स्तनपान कराना, यह प्रशस्त नियम है। आगे ३१वें सूत्र में परिष्ठत न करने का फल बताया है।

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्प्याद्
व्याधिजन्म भवति ॥ ३० ॥

(अनियत धात्रीदोष—) इस प्रकार न किया जाय तो अनेक स्तन्योपयोग के असाध्य से व्याधि उत्पन्न होती है ॥ ३० ॥

वक्तव्य—अन्योऽन्यथा—धात्री न रखके अनेक छिपों के दूध का उपयोग करने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर कुछ लोगों का यह कथन है कि धात्री हमेशा एक ही होगी चाहिए। चरक, सुश्रुत और अध्यागसप्रद में एक ही धात्री के लिये लिखा है। परन्तु अध्यागसप्रद में दो धात्री रखने के लिये लिखा है—स्तन्याभ्यग्ने पार्यं तत्सपदि वसने। अध्यागसप्रद प्रथम चरक, सुश्रुत, अध्यागसप्रद के पीछे का है, इसमें संदेह नहीं है। हम प्रथम में चरक सुश्रुतदि प्रयोगों से कई नई नई बातें मिलती हैं। ये सब बातें साम्यवाच्यार्थी ने बहुत सोच-समझकर लिगी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इस प्रथम में कोई भी बात आयुर्वेद के तथ्यों के विरुद्ध नहीं हो सकती। दो धात्रियों का निवेश असाध्य पर ही किया जा रहा है। कविराम दामिनीपूणराय अपने कुमारतन्त्र की टिप्पणी में लिखते हैं—भाष्या चनियतये नानास्तन्योपयोगे पुनारस्य स्वाधिकार्ये। अध्यागसप्रद पुं परस्परिद्व २६६ धात्री उच्य,

हृदये तु 'स्तन्यान्त्यावृभे कार्ये' इति यत् धात्रीद्वयमुक्तं तदनियत-
धात्र्या वहनिएकारिता नुभवद्विरस्माभिर्नाद्रियते । इसलिए
यहां पर साल्म्य का थोड़ा विचार किया जाता है । साल्म्य
शब्द की व्याख्या चरक में निम्न प्रकार से की गई है—
साल्म्यं नाम तत् यदात्मन्युपशेते । साल्म्यं नाम तत्, यत्सातत्येनो-
पसेवमानमुपशेते । (विमान ८) । संक्षेप में साल्म्य अभ्यास-
साल्म्य है । यदि प्रारंभ से ही दो धात्री रखकर प्रतिदिन
दोनों का दूध पिलाया जाय तो बालक के लिए दोनों स्तन्य
साल्म्य हो जायेंगे । इसमें किसी प्रकार की अनिएटा मालूम
नहीं होती । एक धात्री होने में ही कुछ कठिनाता हो सकती
है । इसका विवरण पीछे २१वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में
किया गया है । इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि बालक
के लिए धात्री नियत होना आवश्यक है चाहे एक हो,
चाहे दो हों । बीच बीच में धात्री बदलना ठीक नहीं है ।
इससे बालक में रोग उत्पन्न होने की संभावना होती है
क्योंकि प्रत्येक धात्री का दूध कुछ रोज तक असाल्म्य रहता
है । साल्म्यसेवन एकाएक छोड़ने से और असाल्म्यसेवन
एकाएक करने से असाल्म्यज रोग उत्पन्न होते हैं—असाल्म्यजा
हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात् । (अष्टांगहृदय, सूत्र ३) ।
अपरिस्त्रुतेऽप्यतिस्तव्यस्तन्यपूर्णस्तनपानानादुत्सुहि-
तस्रोतसः शिशोः कासश्वासचमोप्रादुर्भावः । तस्मा-
देवंविधानां स्तन्यं न पाययेत् ॥ ३१ ॥

(अपरिस्त्रुत स्तन्यसेवन के दोष—) परिस्त्रुत न करने
पर भी देर से इकट्ठा हुए दूध से परिपूर्ण स्तन के पान से स्रोतस्
के भर जाने के कारण बालक को श्वास, कास और वमन होता
है । इसलिए इस प्रकार की धात्रियों का स्तन्य न पिलावे ॥३१॥
वक्तव्य—अपरिस्त्रुते—इसका विवरण पीछे २१वें सूत्र के
वक्तव्य में किया गया है । उत्सुहितस्रोतसः—ऊर्ध्वपरितस्रोतस
इत्यर्थः । उत्सुहितस्रोतस इति पाठे तु ऊर्ध्वं स्तुहितमुदीर्यं स्रोतो
यत्येति समासः । (डलहण) । उत्सुहितं परितृप्तं परिपूर्णमित्येतत् ।
'हाराणचन्द्र) अपि—इससे पीछे के सूत्र के साथ संबंध जोड़
देया गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि धात्री
नियत होने पर स्तनपान कराने से पूर्व परिस्त्रुत न करने पर
भी रोगोत्पत्ति होती है । एवंविधानाम्—अनियत धात्रियों का
और अपरिस्त्रुत स्तनों का दूध ।

क्रोधशोकावात्सह्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो
भवति । अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य
यवगाधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याक-
लशुनमत्स्यकशेरुकभृङ्गाटकविसविदारिकन्दमधुकश-
तावरीनलिकालावूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥३२॥

(स्तन्यनाश के कारण और उसकी चिकित्सा—)
क्रोध, शोक, (बालक के प्रति) प्रेम न होना इत्यादि से
स्तन्य का नाश होता है । (उपर्युक्त कारणों से स्तन्यनाश
हो जाय) तब (उसमें) मन की प्रसन्नता उत्पन्न करके
जौ, गेहूँ, साँठी के चावल, मांसरस, सुरा, सौवीर,
तिलकल्क, लशुन, मछली, कसेर, सिंघाड़ा, कमलकंद,
विदारीकन्द, मुल्हठी, शतावरी, नाड़ीशाक, कद्दू, कालशाक
इत्यादि का सेवन करावे ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—स्तन्यनाश—स्तनगत दूध का कम होना

या पूर्णतया बंद होना । स्तन्यनाश के मुख्य तीन कारण
होते हैं—(१) मानसिक स्थिति—यह कारण सब से
महत्व का है । मनःस्थिति के दो विभाग कर सकते हैं ।
प्रथम विभाग वह है, जिसमें विशेष घटनाओं से मन
थोड़े काल के लिए अस्वस्थ हो जाता है । जैसे—क्रोध,
शोक, भय, विपाद, माल्म्य, काम, द्वेष इत्यादि; याने
घर में किसी की मृत्यु का दृश्य देखकर विषण्ण होना,
आष्टेय की मृत्यु की वार्ता सुनकर शोकाकुल होना, भयानक
वार्ता सुनकर भयभीत होना इत्यादि । भयादि से युक्त
मन की स्थिति प्रायः किसी न किसी बाह्य घटना पर
निर्भर होती है और उस घटना के पश्चात् जैसे जैसे काल
व्यतीत होता जाता है, वैसे वैसे मनःस्थिति भी धीरे धीरे
ठीक हो जाती है । संक्षेप में, प्रथम विभाग अनैच्छिक
कारणों का होता है और उससे होने वाला स्तन्यनाश
स्थायी नहीं होता । द्वितीय विभाग में बाह्य घटनाओं का
कुछ भी संबंध न होकर आन्तरिक भावनाओं और विचारों
का संबंध होता है । जैसे, अवात्सल्य, बालक को दूध
पिलाने की अनिच्छा या आत्मविश्वास का अभाव, कृत्रिम
दुग्धपान और कृत्रिम दुग्धों के फायदों के भद्कदार
विज्ञापनों और पुस्तकों को पढ़कर बालसंवर्धन की वही
सर्वोत्तम पद्धति है, इस प्रकार की विचारसरणि पक्की
करना, स्तनपान कराना यह एक असम्य जातियों की
प्रथा है; ऐसी भावना करना ये सब उदाहरण द्वितीय
विभाग में आते हैं । इनका परिणाम मन पर स्थायी
होता है, क्योंकि अवात्सल्यादि कुछ भावनाएँ स्वाभाविक
होती हैं और कुछ लिखने पढ़ने के पश्चात् किये हुए विचार
के फल होते हैं । इसलिए इनके कारण जो स्तन्यनाश होता
है, वह स्थायी स्वरूप का होता है । इस मानसिक स्थिति
के संबंध में टेन टीचर के प्रसूतितन्त्र में बहुत सुन्दर
विवरण किया है—In the majority of cases failure
to nurse is due to the psychological or nervous
factor. Experience has proved that nearly every
woman willing to do so can suckle her baby.
The least hopeful case is that of the woman
with little maternal instinct. They have no desire
to make a success of what they regard as a need-
less tax on their liberty. Her mother tells her
she was brought up on the bottle, and her friends
and relatives have advised this or that patent
food; Her nurse has ordered a full bottle-feeding
equipment in anticipation of the expected, and
the moment the birth of her baby is announced
she is flooded at every post with samples and
advertisements from the patent food-mongers in
which she reads such glowing accounts of how
babie's lives have been saved by this substitute
and that substitute, that it is not remarkable
she should accept it as almost inevitable that
her child should be reared artificially. Want of
Confidence in her own powers is a poor attitude

of mind in which to start nursing. बसलता, प्रेम इत्यादि से स्तनों में दूध कैसे उत्पन्न होता है? इस विषय का विचार निदानस्थान के दूधमें अभ्याप के ११ वें सूत्र में तथा उसके वक्षस्थ (पृष्ठ १५५) में किया गया है। (२) शारीरिक स्थिति—हमका और स्तन्य का बहुत कम सम्बन्ध है। देखने में कमजोर स्त्रियों में वसलता होने के कारण बचने बालक को मही भाँति दूध पिटा सकती है। कई बार राजपक्षा से पीड़ित स्त्रियों में भी काफ़ी दूध निकलता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से उनको बच्चे को पिलाना मना करना पड़ता है। दूसरी ओर देखा जाय तो कई मोटी मोटी समुद्रस्त स्त्रियाँ मन में प्रेम न होने के कारण या आधुनिक विचारों से परिपूर्ण हो जाने के कारण दुग्धहोन होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मानसिक स्थिति के मुकाबले शारीरिक स्थिति का परिणाम स्तन्य पर बहुत कम हुआ करता है। परन्तु साधारणतया यह शब्द सूझते हैं कि स्वास्थ्य सदाव होने पर स्तन्य भी कम हो सकता है। (३) भ्रूण-स्तन्य का उत्पादन कारण आहार है, शारीर और मन सदायक कारण है—रसनादो मधुर पचाहारनिन्दन । कृच्छदेरन् स्तनी प्राप्य स्तन्य इत्यभिधीते ॥ (निदान १०)। आहार अपर्याप्त और अनुचित होने से स्तन्य ठीक ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। स्तन्य में पानी की राशि बहुत होती है, इम्लिय आहार में तथा उसके अलावा जल की राशि कम होने से दूध भी कम हो जाता है। इन तीन प्रधान कारणों के अलावा स्तन्याल्पता के निम्न और दो कारण हो सकते हैं—(४) स्तनों की विकृति, जैसे स्तनप्रकोप, स्तनविद्रवि, चूचक-प्रकोप इत्यादि। (५) स्तनचूषक में कमजोरी—आयुर्वेद में शूक्र के साथ स्तन्य की तुलना की जाती है (निदान १०, १५-२३)। कई बातों में यह तुलना बहुत उचित भी है। शूक्र का उत्तम प्रवर्तक जवान स्त्री का सग होता है—प्रवर्तनी को शूक्रत्व । शार्ङ्गपर । वारिकरणमन्य च चैत्र को वा प्रवर्तितो । (चरक)। स्तन्य का उत्तम प्रवर्तक स्वस्थ सबल बालक का स्तनपान होता है। जब बालक कमजोर होता है या शुकाम, विदीर्गतालु (Cleft palate) इत्यादि से पीड़ित रहता है, तब वह जोर से स्तनपान नहीं कर सकता। अगर यह कमजोरी शूक्र से ही रही तो उसका परिणाम स्तन्याल्पता में होता है। अष्टागसंग्रह में स्तन्यनाश के निम्न कारण बताये हैं—रूचाभानदण्डनकोप शोकाभानाग्नि स्तन्यनाश ।

स्तननाश की विधिशा—निदानपरिवर्जनं यह चिकित्सा का प्रधान सूत्र है। यहाँ पर सङ्घात में जिस परम्परा में स्तन्यनाश का विचार प्रस्तुत हुआ है, उसको देखकर यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि माता और बालक दोनों के स्वस्थ होते हुए स्तन्यनाश क्यों होता है और उसकी चिकित्सा कैसे करनी चाहिए, इसका ही विवरण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से दूसरे, चौथे और पाँचवें कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। और यदि विचार भी किया जाय तो उसका समावेश स्तन्यनाशचिकित्सा में न होकर स्वतन्त्ररोगचिकित्सा में होगा। अतः स्तन्यनाश-चिकित्सा की दृष्टि से विचार करने योग्य केवल दो ही

कारण रहे, प्रथम और मृतीय, और चिकित्सा में भी इन्हीं का ही परामर्श लिया गया है। (१) सौमनस्यमुत्पाप—इसमें प्रथम कारण का विचार किया गया है। सौमनस्य की उत्पत्ति करने में क्रोध-दोकादि भावों को दूर करना, बालक के प्रति प्रेम ममत्व उत्पन्न करना, कृत्रिम दुग्धपान बालक के लिए हानिकर होता है, माता वा स्तनपान यही बालक की कृत्ति का स्वाभाविक, सरल, सरता और सर्वोत्तम उपाय है। और अगर ही दिल से चाहे तो बालक के लिए चितना आवश्यक होता है उतना दूध स्तनों में आप से आप उत्पन्न होता है। इस बात का आत्मविश्वास स्त्री के मन में उत्पन्न करना इत्यादि विषयों का समावेश होता है। प्राचीन काल की धार्मिक कल्पनाओं के अनुसार स्त्रियाँ गर्भधारण और स्तनपान से बालकप्रेम अपना कर्तव्य समझती थीं (प्रबन्धार्थ विच सृण । मनु ९-५६), तथा कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दूध इनका प्रोपेगंडा (प्रचार) करने वाले कुडमोंगा (अध्यापारी) भी नहीं थे, विसर्ग के कारण उपर्युक्त प्रकार का उपदेश करने का कारण प्राचीन काल में नहीं था। परन्तु काल-परिवर्तन के साथ स्त्रियों में कृत्रिम दुग्धपान के सम्बन्ध में जो विचार रुढ़ हो गये हैं, उनको दूर करने का प्रथम सौमनस्य उत्पादन में ही आ जाता है। (२) भ्रूण-इसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में भोजन का विचार होता है। जैसे अपतर्पण, लिवन, कठिन वे शारीरचीनकर भोजन छोड़कर जो, गेहूँ, चावल, दूध, भातरस, मड़ली, विविध शाक, पर्याप्त जल, मधुराम्ल लवणमूषिष्ठ खाद्य पदार्थ इत्यादि से युक्त शरीर को दृढ़ करने वाले भोजन (पीछे १० वें सूत्र के वक्ष्य में प्रसूता का आहार देखो) का सेवन—उत्पन्नानि तु मयनि सौधुवन्तानि, प्राप्यान्प्रीःशनि च शक्यन्मयंसानि इत्यनुरा म्बनपमूषिकशशरत्तौ शौषणमनपासथ । (चरक)। शोषनादा न्वभावादा पत्ता चौर विशुद्धनि । तदा शोषजनने प्रयेत विचरन् ॥ मधुराम्पत्रानानि द्रवयि तवपनि च । मदानि सौधुवन्तानि शक सिद्धार्यकश्चेत् ॥ वराहमिहिशूर्व मासार्थ च सौ हित । लघुनानं पचापूना सेन उपन सुवन् ॥ (शेषाथ) मयशोशनामापासनां च वन्नेन् ॥ (कारय-संहिता, शरीरालयधाय)। दूसरे विभाग में स्तन्यवर्धक (Galactogogues) औषधियों का विचार आता है। जैसे, सिंचाई, विदारीकन्द, क्षतावरी, मूषणबमूल, कार्ष्णसमूल, मूमिकृष्णक इत्यादि का सेवन—शीरिष्यशोषण, वीर-पट्टपिकित्तुशक्तिवदनइरुशरुद्रदेतयद्रकशकाणा च पन्नम् । (चरक)। मूमि कृष्णमूलस्य शीरिष्यव च रत्न । शिरेत् शर्द्रे तस्मा शोचि बहु विवर्ते ॥ क्षात्रशोषिता पीता स्तन्य विवर्तिनी । वनश्रावतेकेन्दुं मूल शोषीकेण वा । विगारित् श्रुता शिरेदा स्तन्यवर्धनम् । (योगवासकर)। संचेष में स्वस्थ प्रसूता में शीरालता हो तो सौमनस्य उत्पन्न करना और शयित दृढ़ण आहार देना ये ही दो मुख्य उपाय हैं—The usual methods of augmenting the supply (of milk) are attention to diet and sometimes 'over-feeding', the administration of large quantities of fluid, small quantities of alcohol and massage of breasts. स्तनों की मालिश सुतिका के

धर्म्यं के साथ की जाती है। पीछे १७ वें सूत्र के वक्तव्य में चृतिका की परिचर्या जो बताई गई है, उसके अनुसार भी व्यवहार करना चाहिए। इससे दूध न बढ़े तो स्तन्यजनक ओषधियों का उपयोग कर सकते हैं। जब प्रसूता में या उसके स्तनों में या बालक में कोई बीमारी हो जाती है, तब उसकी चिकित्सा भी करनी चाहिए।

अथास्याः स्तन्यमप्युपरोजेत, तच्चेच्छ्रीतलममलं तनु शहावभासमप्यु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमघ्नोत्पलशतेऽवसीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो यत्तद्वृद्धिश्च भवति ॥ ३३ ॥

(शुद्ध स्तन्य की परीक्षा—) उसके दूध की परीक्षा जल में करे। यदि वह ठण्डा, निर्मल, पतला, शङ्कु के समान (श्वेत) वर्ण का हो, जल में डालने पर एक हो जाय, फेनविरहित, तन्तुविरहित हो, (जन में) न तैरता हो या न डूबना हो तो उसको शुद्ध समझना चाहिए। इस (प्रकार के शुद्ध दूध) से बालक का आरोग्य, शरीर की बढ़ती और चल की वृद्धि होती है ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में विशुद्ध स्तन्य की घड़ी सरल परीक्षणविधि बतलाई गई है। विशुद्ध और खराब दूध की परीक्षणविधि और लक्षण पहले भी निम्न प्रकार से बताये गये हैं—यद् क्षोरुदके क्षितमेतीभवति पाण्डुरम् । नपुं च विवर्णं च प्रसन्नं तदिनिर्दिशेत् ॥ (निदान ११) । अनिष्टान्पनमलं च विवर्णं विरसं च यत् । कर्ष्यं सलवणं क्षीरं दध विप्रथितं भवेत् ॥ (सूत्र ४५) । विशुद्ध दूध की प्रतिक्रिया किंचित् क्षारीय, वर्ण किंचित् पीला, गुरुता १०१०-१०४०, स्वाद मीठा होता है और उसमें किसी तरह की गन्ध नहीं होती है। दूध की खराबी प्रायः जीवाणुओं के कारण होती है। ये जीवाणु दूध में विविध अम्ल उत्पन्न करते हैं, जिनकी उपस्थिति से दूध की प्रतिक्रिया अम्ल होकर वह विप्रथित हो (फट) जाता है। उसमें रक्षापन पैदा होता है और खट्टी बू भी आती है। एकीभावं गच्छति—अगर दूध विशुद्ध हो तो पानी के साथ मिलाने पर पानी दूध में और दूध पानी में इस तरह घेमात्म मिल जाता है कि मिश्रण में कहीं दूध अधिक और कहीं पानी अधिक इस प्रकार का वैषम्य नहीं मिल सकता। खराब दूध पानी के साथ मिलाने पर उसका तलछट बन जाता है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध दूध क्षिप्र पदार्थों का एक ऐसा स्वामाविक घोल (Natural emulsion of fats) है कि उसमें प्रोभूजिन (प्रोटीन), लवण, शर्करा आदि द्रव्य एकरूप से (Uniformly) फैले हुए रहते हैं और यह एकरूपता पानी में मिलाने पर भी नष्ट नहीं होती। खराब दूध में अन्तर्गत द्रव्यों की एकरूपता नष्ट होती है और पानी में मिलाने पर यह भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। नोस्रवते न सोदति—दूध की गुस्ता पानी से अधिक है। परन्तु यहाँ पर उत्प्लवन या अवसाद से गुस्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है। जब तक दूध प्राकृतिक अवस्था में होता है, तब तक पानी में मिलाया हुआ दूध इस प्रकार मिश्रित होता है कि इसके स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता, केवल इसको अधिक पानी का दूध कह सकते हैं। अर्थात् वह न

ऊपर तैरता है, न नीचे बैठता है। दूध विफुल होने पर उसका कुछ अंश तली में बैठता है और कुछ ऊपर तैरता है। संक्षेप में, यह प्रबन्धप्रयोग 'एकीभावं गच्छति' इसके अर्थ को भिन्न प्रकार से प्रदर्शित करता है। तेन कुमारस्या-रोगमिदं—बालक का स्वास्थ्य, शरीर की बढ़ती और चलवृद्धि खराब दूध से कदापि नहीं हो सकती; इसमें कोई सन्देह नहीं है। शुद्ध दूध से ही ये कार्य हो सकते हैं; इसमें भी सन्देह नहीं होता। परन्तु शुद्ध दूध से ये कार्य होने चाहिए, यह कोई आवश्यक नहीं है। दूध के भीतर कई सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, जिनका ज्ञान इस प्रकार के भौतिक या आधुनिक रासायनिक परीक्षणों द्वारा नहीं लगता और परीक्षण करने पर विशुद्ध मादुम हुए दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य और वर्धन ठीक नहीं होता। स्वास्थ्य और वर्धन साम्य द्रव्यों के सेवन से होता है। एक विशुद्ध दूध साम्य और दूसरा असाम्य हो सकता है। शरीरसंवर्धन की दृष्टि से विशुद्ध और साम्य दूध की आवश्यकता है। व्यावहारिक दृष्टि से वही दूध विशुद्ध कहा जा सकता है, जिससे बालक का स्वास्थ्य और शरीरोपचय ठीक होता है। काश्यपसंहिता में इसी व्यावहारिक दृष्टि से शुद्ध क्षीर की व्याख्या दी गई है—अन्याहनवलागासुररोगो वर्धते गगम् । शिशुभाष्योऽनापतिः शुद्धक्षीरस्य लक्षणम् ॥ (क्षीरोत्पत्त्यध्याय) । अधिक विचार करने पर व्यावहारिक चिकित्सक दूध की शुद्धता के ऊपर अधिक ध्यान न देकर बालक के ऊपर दूध के परिणामों पर ही अधिक ध्यान देता है। रायट्ट हचीसन बालक के रोगों के अपने व्याख्यानों में काश्यपसुनि के समान अपना अनुभव बताते हैं— I should advise, you, however, to fix your attention on the child's weight; and so long as this goes up satisfactorily not to pay too much attention to supposed evidences that the milk disagrees. Failure to gain weight, indeed, is the only justification for weaning. Attempt to correlate any particular form of indigestion with some special fault in the composition of breast milk is apt to prove disappointing. When I first began out-patient work I used to make a practice of analyzing the mother's milk in cases of dyspepsia in breast-fed infants, but I gave it up, as I found that game is not worth the candle. Lectures on diseases of children. इसलिए धात्री के दूध की विशुद्धता देखकर निश्चित न होना चाहिए, परन्तु बालक के स्वास्थ्य और तोल पर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य ठीक न रहे तो विशुद्ध स्तन्य और संपूर्ण गुणों से युक्त धात्री होने पर भी उसका दूध बन्द करना चाहिए।

न च क्षुधितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्टधातुगंभीरीज्वरितातिक्षीणातिस्थूलविदग्धभक्तविरुद्धाहारतपितायाः स्तन्यं पाययेत् ; नाजीर्यौषधं च घालं, दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥ ३४ ॥

of mind in which to start nursing बसलता, प्रेम ह्यादि से स्तनों में दूध कैसे उत्पन्न होता है? इस विषय का विचार निदानरूपान के दूसरे अध्याय के ११ वें सूत्र में तथा उसके वक्ष्य (शुद्ध १३५) में किया गया है। (१) शारीरिक स्थिति—इसका और स्तन्य का बहुत कम सम्बन्ध है। देखने में कमजोर स्त्रियाँ मन में बसलता देने के कारण अपने बालक को भली भाँति दूध पिला सकती हैं। कई बार राजपत्नी से पीड़ित स्त्रियों में भी काफी दूध निकलता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से उनको बच्चे को पिलाना मना करना पड़ता है। दूसरी और देखा जाय तो कई मोटी मोटी तन्दुरुस्त स्त्रियाँ मन में प्रेम न होने के कारण या आधुनिक विचारों से परिपूर्ण हो जाने के कारण दुग्धहीन होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मानसिक स्थिति के मुकाबले शारीरिक स्थिति का परिणाम स्तन्य पर बहुत कम हुआ करता है। परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि स्वास्थ्य खराब होने पर स्तन्य भी कम हो सकता है। (३) आहार—स्तन्य का उत्पादन कारण आहार है, शरीर और मन सहायक कारण है—रसप्रसादो मधुर पक्वाहारनिमित्तम् । कृच्छदेहात् स्तनो प्राप्य स्वयं श्रवमिषोते ॥ (निदान १०) । आहार अपर्याप्त और अनुचित होने से स्तन्य ठीक ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। स्तन्य में पानी की राशि बहुत होती है, इसलिए आहार में तथा उसके अलावा जल की राशि कम होने से दूध भी कम हो जाता है। इन तीन प्रधान कारणों के अलावा स्तन्याल्पता के निम्न और दो कारण हो सकते हैं—(४) स्तनों की विकृति, जैसे स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, चुचुक-प्रकोप इत्यादि। (५) स्तनवृषण में कमजोरी—आयुर्वेद में शुक्र के साथ स्तन्य की तुलना की जाती है (निदान १०, १९-२३) । कई बातों में यह तुलना बहुत उचित भी है। शुक्र का उत्तम प्रवर्तक जवान की का सग होता है—प्रवर्तनी को शुक्रत्व । (शाङ्गधर) । वाजीकरणम् च चक्र को या प्रवर्तिणी । (चरक) । स्तन्य का उत्तम प्रवर्तक स्वस्थ सबल बालक का स्तनपान होता है। जब बालक कमजोर होता है या उलकाम, विदीर्णतालु (Cleft palate) इत्यादि से पीड़ित रहता है, तब वह जोर से स्तनपान नहीं कर सकता । अगर यह कमजोरी शुरू से ही रही तो उसका परिणाम स्तन्याल्पता में होता है। अष्टासंग्रह में स्तन्यनाश के निम्न कारण बताये हैं—स्त्रोत्प्राणकर्मणोः शोषणामादिभिः स्वन्वनात् ।

स्तन्यनाश की चिकित्सा—निदानपरिवर्तन यह चिकित्सा का प्रधान सूत्र है। यहाँ पर संहिता में जिस परम्परा में स्तन्यनाश का विचार प्रस्तुत हुआ है, उसको देखकर यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि माता और बालक दोनों के स्वस्थ होते हुए स्तन्यनाश क्यों होता है और उसकी चिकित्सा कैसे करनी चाहिए, इसका ही विचार अभिप्रेत है। इस दृष्टि से दूसरे, चौथे और पाँचवें कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। और यदि विचार भी किया जाय तो उसका समावेश स्तन्यनाशचिकित्सा में न होकर स्वतन्त्ररोगचिकित्सा में होगा। अतः स्तन्यनाश-चिकित्सा की दृष्टि से विचार करने योग्य केवल दो ही

कारण रहे, प्रथम और तृतीय; और चिकित्सा में भी इन्हीं का ही परामर्श लिया गया है। (१) सौमनस्यव्यवस्था—इसमें प्रथम कारण का विचार किया गया है। सौमनस्य की उत्पत्ति करने में क्रोध-दोषादि भावों को दूर करना, बालक के प्रति प्रेम ममत्व उत्पन्न करना, कृत्रिम दुग्धपान बालक के लिए हानिकर होता है, माता का स्तनपान यही बालक की बुद्धि का स्वाभाविक, सरल, सरता और सर्वोत्तम उपाय है, और अगर यही दिल से चाहे तो बालक के लिए उचितना आवश्यक होता है उतना दूध स्तनों में थाप से थाप उत्पन्न होता है। इस बात का आधुनिकज्ञान ही के मन में उत्पन्न करना इत्यादि विषयों का समावेश होता है। प्राचीन काल की धार्मिक कल्पनाओं के अनुसार स्त्रियाँ गर्भधारण और स्तनपान से बालकरोपण अपना कर्तव्य समझती थीं (प्रबन्धार्थं लियं सृष्टाः । मनु ९-२६), तथा कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दूध इनका प्रोपेण्डा (प्रचार) करने वाले पुद्गमोंगर (अध्यायापारी) भी नहीं थे, जिसके कारण उपर्युक्त प्रकार का उपदेश करने का कारण प्राचीन काल में नहीं था। परन्तु काल परिवर्तन के साथ स्त्रियों में कृत्रिम दुग्धपान के सम्बन्ध में जो विचार रूढ़ हो गये हैं, उनको दूर करने का प्रयत्न सौमनस्य उत्पादन में ही आ जाता है। (२) आहार—इसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में भोजन का विचार होता है। जैसे, अपतर्पण, लिवन, कर्णन ये शरीरहीनकर भोजन छोड़कर जी, गेहूँ, चावल, दूध, मांसरस, मट्ठी, विविध शाक, पर्याप्त जल, मसुराका लवणभूयिष्ठ खाद्य पदार्थ इत्यादि से युक्त शरीर को बृंहण करने वाले भोजन (पीछे १० वें सूत्र के वक्ष्य में प्रसूता का आहार देखो) का सेवन—शरीरजननानि तु भवानि सद्युक्तानि, द्वास्थानप्रीदानि च शक्याभ्यन्तानि द्रव्यभूता मूलवपभूयिष्वाद्याहार्यं शीतानमयायासश्च । (चरक) । शोषनादा न्वभावादा यस्या चोर विदुद्रवति । तस्या चोरप्रजनने प्रयत्ने वि-सद्यः ॥ मधुराण्यन्नपानानि द्वाणि तवयानि च । मघानि सद्युक्तानि शाक सिद्धार्थवद्भूते ॥ ब्राह्महिषादूर्ध्वं मांसानि च रसे हित । लघुनामं पलाण्डना सेवन शयन सुषणम् । (कोषाख) मधुकोशानामायासानां च वर्जनम् ॥ (कारयप-संहिता, शरीरव्ययथाय) । दूसरे विभाग में स्तन्यवर्धक (Galactagogues) कोषधियों का विचार आता है। जैसे, सिंघादा, विदारीकन्द, शतावरी, गुणपत्रमूल, कार्पासमूल, भूमिकृष्णाम्बु इत्यादि का सेवन—शरीरव्ययथाय, वीर्य-पथिशासिकेनुवापिनसदमं कुशकाशुद्रकव्यमूकपायाणां च पानम् । (चरक) । भूमिकृष्णाम्बुसूत्रं चोरविदुद्रव्य वा रसम् । विशेस शर्वं तस्या शीतं बद्ध विवर्धते ॥ शतावरीश्रीरपिशा पीता तस्य विवर्धनी । वनव्यापसकेवृणां मूलं शीवीक्रेण वा । विदारिकन्दं सुरया विद्रेक्ष्य स्तन्यवर्धनम् । (योगरत्नाकर) । संक्षेप में स्वस्थ प्रसूता में शरीरत्वता हो तो सौमनस्य उत्पन्न करना और यथेष्ट बृंहण आहार देना ये ही दो मुख्य उपाय हैं—The usual methods of augmenting the supply (of milk) are attention to diet and sometimes 'over-feeding', the administration of large quantities of fluid, small quantities of alcohol, and massage of breasts. स्तनों की मालिश सूतिका के

सकता है। मिथ्याहार वह है, जिसमें आहार्य द्रव्यों के विविध घटकों का उचित प्रमाण नहीं होता। इसको आयुर्वेद की परिभाषा में 'अनियमित मात्राहार' आधुनिक परिभाषा के अनुसार असंतुलित (Unbalanced diet) कह सकते हैं। आहाररस से स्तन्य उत्पन्न होता है और जब माता या धात्री का आहार अपर्याप्त, अनुचित, दोषयुक्त या अन्य तरह से खराब रहता है, तब उसका परिणाम स्तन्य की खराबी में होना स्वाभाविक है। प्राय्यास्तु—धात्री से उपमाता और माता दोनों का बोध होता है—धात्री त्यादुपमाताऽपि । (अमरकोश) । अपिना जनन्यपि धात्री । माता के अर्थ में धात्री का उपयोग भी होता है—पुनर्भात्रो पुनर्गर्भमोजस्त्वय प्रधावति । अष्टमे मास्यता गर्भा जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ (चाक्षवल्क्यस्मृति ३-८२) । यहाँ पर यद्यपि संदर्भ के अनुसार उपमाता का अर्थ होता है तथापि यह कथन माता और उपमाता दोनों के लिए लागू है। इसलिए धात्री से माता और उपमाता दोनों का ग्रहण करना चाहिए। सम्यग् विभावयेत्—अच्छी तरह सोच-विचार करके जाने। बड़े मनुष्य की अपेक्षा बालकों में रोगपरीक्षण में अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक स्वयं कुछ भी नहीं बता सकता या गलत बताता है। अतः शरीरगत विकार का स्थान उसके हालचाल, चर्चा, रुदन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों, चिह्नों (Physical signs) और अनैच्छिक क्रियाओं (Involuntary actions) से जान लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए अब उन्हीं लक्षणों और चिह्नों का वर्णन करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते ।

मुद्गमुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥ ३७ ॥

निमोलिनात्तं मूर्धस्थे शिरो रोगे न धारयेत् ।

वस्तिस्थे मूत्रसङ्घातो रुजा तृप्यति मूर्च्छति ॥ ३८ ॥

त्रिपुत्रसङ्घवेधण्यच्छर्द्याधमनात्रकृजनेः ।

कोष्ठ दोषान् विजानोयात् सर्वत्रस्थाश्च रदनैः ॥ ३९ ॥

(बालकों में विकृति का स्थान जानने की रीति—) बालक के जिस अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उस अंग-प्रत्यंग को बार-बार छूता है और (उस अंग को) स्पर्श करने पर रोता है ॥ ३७ ॥ मस्तिष्क के रोग में आँखें बंद किया हुआ रहता है और शिर को धारण नहीं करता। वस्ति (प्रदेश के रोग) में पीड़ा के कारण मूत्र रुक जाता है, तृपायुक्त होता है और मूर्च्छित होता है ॥ ३८ ॥ मलावरोध, मूत्रावरोध, विवर्णता, वमन, पेट का फूलना, आँतों में गुदगुद शब्द होना इनसे कोष्ठ में दोष है, ऐसा समझे। और रोने से सर्वत्र विकृति समझे ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—अंगप्रत्यंगदेशे—शरीर में कहीं भी जब कुछ गड़बड़ होती है, चाहे वह आगन्तुक कारणों से हो चाहे निज कारणों से हो, तब उस अंग का हट जाना या स्थानिक पेशियों में संकोच पैदा होना या वहाँ पर हाथ का पहुँच जाना ये कर्म हुआ करते हैं। जैसे, आँख में पीड़ा होने से या आँख के भीतर बाहर से कोई चीज प्रविष्ट होने से पलक बंद होते हैं, पुतली सिंकड़ जाती है और मनुष्य आँख के ऊपर अपना हाथ रखता है। ये कर्म शरीररक्षा के लिए

आवश्यक होते हैं। शरीररक्षा के लिए प्रयत्न करना यह जीवसृष्टि का एक स्वाभाविक गुण है और यह गुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव से लेकर अत्यन्त बड़े जीव में दिखाई देता है। इसमें बुद्धि का या मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् ये कर्म अनैच्छिक होते हैं। इनको प्रतिचेप कर्म (Reflex actions) कहते हैं। बालक कितना भी छोटा क्यों न हो, उसमें भी ये कर्म दिखाई देते हैं। इसलिए अगर बालक बार-बार कहीं पर छूता हो तो समझ लेना चाहिए कि उस स्थान में, या उसके आसपास, या उसके नीचे गहराई में स्थित अंगों में पीड़ा है। शरीरगत पीड़ा जानने का यह पहला मार्ग है। स्पृश्यमाने च रोदिति—जहाँ पर बालक बार-बार छूता है, वहाँ पर स्पर्श करने पर या जरा सा दबाने पर बालक रोता है क्योंकि दबाने से पीड़ा बढ़ती है। शरीरगत असह्य पीड़ा को मालूम कराने का मार्ग बच्चों में रुदन होता है। बड़े मनुष्य में प्रायः रुदन नहीं होता, परन्तु पीड़न के समय उसके चेहरे की ओर देखने से पीड़ा का ज्ञान हो जाता है। स्पर्श करने पर पीड़ा होने की अवस्था को स्पर्शनाक्षमता या पीड़नाक्षमता (Tenderness) कहते हैं—स्पर्श च न क्षमते तत्र रुन्मुपलक्षयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । अन्यस्पर्शान् च न सहते । (इन्दु) । यत्र च स्पर्शनाक्षमं, तत्र विधातुजम् । (अष्टांगहृदय, उत्तर २) । इस तरह शरीरगत रुजा दो प्रकार से प्रकट होती है, एक प्रकार में वह बिना स्पर्श के होती रहती है। इस लक्षण को वेदना (Pain) कहते हैं और दूसरे प्रकार में छूने पर प्रकट होती है। इसको पीड़नाक्षमता कहते हैं। मूर्धस्थे—इसका सम्बन्ध 'रोग' के साथ है, याने मूर्धस्थ रोग का विशेषण है। यहाँ पर मूर्धस्थ रोग के दो लक्षण बताये गये हैं, आँखें बन्द करना और शिर को धारण न करना। इसके और भी लक्षण होते हैं—अवकृजन याने धीरे धीरे असंबद्ध धोलना या मुख से आवाज करना (Low muttering), अरतिमानस्वप्न याने ठीक नींद न आना (Disturbed sleep)। शिरो न धारयेत्—इससे शिर धारण करने का असामर्थ्य प्रकट होता है। यह असामर्थ्य दो प्रकार से दिखाई दे सकता है—शिर के एक तरफ गिरने से या शिर के काँपने से। आगे कार्यपसंहिता का शिरोरोग सम्बन्ध का श्लोक देखो। वास्तव्य—भ्रगास्थि के आस-पास के विकार में—मूत्रसंगतृप्सृच्छात्रासदिग्बीजणखली-हस्तपादस्तम्भकुञ्जीमयनकेशुष्टुवनैर्वस्तौ गुह्ये च । (अष्टांगसंग्रह) । कोष्ठ—उदरविभाग में विशेषतया आमाशय और आन्त्र में। 'स्थानान्यामाग्निपकानाम्' मूत्रस्थ रक्षिरस्य च । हृदण्डकः कुम्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ इस व्यापक अर्थ में कोष्ठ का प्रयोग न होकर केवल स्थानान्यामाग्निपकानाम् इसके लिए प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ से कोष्ठशब्द का उपयोग 'मृदुकोष्ठमृदुकोष्ठ' इन शब्दों में होता है—मृदुकोष्ठसिरात्रेण स्तिग्ध्यच्छोपसिन्धवा । स्तिग्ध्यति क्रुकोष्ठस्तु सप्तत्रेण मानवः ॥ (चरक सूत्र १३) । सर्वत्रस्थाश्च रोदनैः—सर्वत्र च, स्वभावातिरिक्तरोदनेन मुखविकृण्णनेन च । (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) । रोदन से स्वभावातिरिक्त रोदन समझना चाहिए। स्वाभावातिरिक्त रोदन का अभिप्राय यह है कि बालक स्वस्थावस्था में जितना रोता है, उससे अधिक रोने पर। कुछ बालक स्वभाव से ही न रोने

भवन्ति चान्न— । । । । ।
 घान्यास्तु गृहमिर्मांश्यायपमंवापलस्तथा ।
 दोग्धा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रकुप्यति ॥ ३५ ॥
 मिष्याहारविहारिण्या दुष्टो वातादयः खिर्याः ।
 हूपयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः ।
 भवन्ति कुशलस्तांश्च मपक्वं सम्यग्विभाषयेत् ॥ ३६ ॥

(स्तन्यदूषण के कारण और उसके फल—) भूय लगी हुई, शोकपीडित, थकी हुई, जिसके शरीर के दोषों में (तथा घातुओं में) विकार उत्पन्न हुआ है यैसी, गर्भवती, ज्वर युक्त, अतिवीण, अतिस्थूल, विदाहजनक और विरुद्ध आहार सेवन की हुई स्त्री का दूध बच्चे को न पिलावे। (वैसे ही) दोष, औषध और खाने हुए द्रव्य की तीव्र वेगोत्पत्ति के दूर से (भयम सेवन कराई हुई) ओषधि का पचन जब तक न हो जाय, तब तक दूध न पिलावे ॥ ३५ ॥ यहाँ पर उल्लेख है— गरिष्ठ, विषम और दोषोत्पादक आहारों से घात्री के शरीर में दोष प्रकृषित होते हैं, जिससे दूध भी दूषित होता है ॥ ३५ ॥ मिष्या आहार और विहार करने वाली स्त्री के दूषित वातादि द्वारा दूध को दूषित करते हैं, जिससे बालक में शारीरिक दोषधियाँ उत्पन्न होती हैं। कुशल वैध इनको (निम्न पद्धति से) मठी भीति जान ले ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर स्तन्यदूषण के कारण बतलाये गये हैं। इन कारणों से दूध के प्रोभूजिनादि के संगठन में फर्क होता है, स्तन शरीरगत चीजों को उत्सर्ग करने वाली प्रणियों होने के कारण शरीरगत विष और जीवाणुओं का स्तन्य के साथ उत्सर्ग हो सकता है तथा प्रोभूजिनादि की अन्तर्गत रचना में फर्क हो सकता है। प्रत्येक अवस्था में क्या क्या फर्क होते हैं, इनका ज्ञान होना आज की स्थिति में भी कठिन है; परन्तु फर्क होते हैं, इस बात को समी मानते हैं। जैसे, माता को अफीम देने से बालक पर अफीम का परिणाम होता है, माता को परफ्री का तेल देने से बच्चे को पतले दस्त होते हैं, माता को हींग, प्याज, लहसुन देने से स्तन्य में इनकी गन्ध आ जाती है, माता को पारा, स्वस्विया इत्यादि ओषधियाँ देने से स्तन्य में इनका अंश मिल जाता है इत्यादि। माता अंतर विषमयत्ता (Toxaemia या जीवाणुमयत्ता Sepsicaemia) से पीडित हो तो दूध में विष या जीवाणु मिल सकते हैं। मासिक धर्म के समय स्त्री के शरीर में एक प्रकार का विष होता है, (२ अध्याय के २७वें श्लोक का वक्तव्य देखो) उसका भी उत्सर्ग दूध के साथ होता है और उस समय का दूध पीने से बालक की प्रकृति कुछ खराब भी हो जाती है। इसी कारण से स्तन्यकाल में अधिकसंख्य (९० प्र० दा०) खियों में अतारतव दिखाई देता है (पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में 'प्राग्बदरगत्या' की टिप्पणी देखो)। बालक की स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से निसर्ग

(विवेकः । अष्टांगहृद्य) इत्यादि का समावेश होता है। ये किस प्रकार से स्तन्यदोष उत्पन्न करते हैं, इसका ठीक ठीक जवाब नहीं दे सकते, परन्तु इनके कारण अन्तःशरीर प्रणियों के खारों में कुछ न्यूनाधिकता या विराकता (. . . .) श्लोक का वक्तव्य उन में फर्क बहुत उत्पन्न होते हैं—

Nervous impressions of a marked character have a decided and immediate effect upon the milk. An infant who takes the breast under these circumstances may show signs of acute indigestion, such as vomiting and the presence of undigested food in the stools, or there may be, in addition, great prostration, toxic symptoms, and even convulsions. Jellies Midwifery.

(२) शारीरिक कारणों में दुष्वाग्ना, यकावट, अतिचीणता, अतिस्थूलता, ज्वर; तथा अन्य, शारीरिक विकार आते हैं। इन अवस्थाओं में—स्तन्य का स्वाभाविक होना असंभव है। इसके लिए अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है। गर्भधारण—इसका समावेश शारीरिक कारणों में ही करना उचित है। गर्भधारणा होने से स्तन्य की राशि तथा उन्नत स्नेह तथा अन्य पदार्थों की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि बीजप्रणियों के कार्बोसल्यूटम और अपरा से-प्रावेस्टे-रीन नामक द्रव्य उत्पन्न होकर (तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक का, २२वें सूत्र का और १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) वह पाषणिका ग्रन्थि के अध्रभाग से उत्पन्न होने वाले स्तन्यप्रवर्तकों को बन्द करता है। गर्भिणी का दूध पीने से बालक में पारिगमिक रोग उत्पन्न होता है—मातुः कुमारो गर्भिण्याः सान्य-प्रायः पित्रन्धि । कानाप्रसव-पथुःप्राप्तार्थोऽविभ्रमैः । युवन्ते नोऽपृथ्वा तु मातुः पारि-गमिकम् ॥ (अष्टांगसंहिता) । पारिगमिक कोई खास रोग

के अनेक कारण हैं, उनमें गर्भणीदुग्धपान एक है। (३) आहारविषय—इसमें विषमाहार, विदग्धाहार, विरुद्धाहार और मिष्याहार इत्यादि आहारविषयक कारणों का विचार-होता है। विषमाहार वह है जिसमें समय असमय न्यूनाधिक आहार सेवन किया जाता है—बहु श्लोकमकाले वा विष्व विषमाद्यन्तः । विदग्ध भव्य वह है, जो अग्नि पर अधिक षल गया हो। Over-cooked ; किवा जिसका सेवन करने पर आमाशय, पहले से विदाह उत्पन्न होता है—विदाहद्रव्यप्रसङ्गः कुर्वाण तथा एतद्वत् इति दाहः । अतयेत् शकं गन्धवि परिभ्रायः ॥ जैसे, खटनी, अचार; गरम मसाला युक्त खाद्य, मिर्च इत्यादि। विरुद्धाहार वह है जिसमें एक ही समय में, विरोधी कार्य करने वाले पदार्थ सेवन किये जाते हैं। यह विरोध खदोरा का, माया का, धीरे का या अन्य प्रकार का (सूक्ष्मान्न, अध्याय ३० देखो) हो

के अनेक कारण हैं, उनमें गर्भणीदुग्धपान एक है। (३) आहारविषय—इसमें विषमाहार, विदग्धाहार, विरुद्धाहार और मिष्याहार इत्यादि आहारविषयक कारणों का विचार-होता है। विषमाहार वह है जिसमें समय असमय न्यूनाधिक आहार सेवन किया जाता है—बहु श्लोकमकाले वा विष्व विषमाद्यन्तः । विदग्ध भव्य वह है, जो अग्नि पर अधिक षल गया हो। Over-cooked ; किवा जिसका सेवन करने पर आमाशय, पहले से विदाह उत्पन्न होता है—विदाहद्रव्यप्रसङ्गः कुर्वाण तथा एतद्वत् इति दाहः । अतयेत् शकं गन्धवि परिभ्रायः ॥ जैसे, खटनी, अचार; गरम मसाला युक्त खाद्य, मिर्च इत्यादि। विरुद्धाहार वह है जिसमें एक ही समय में, विरोधी कार्य करने वाले पदार्थ सेवन किये जाते हैं। यह विरोध खदोरा का, माया का, धीरे का या अन्य प्रकार का (सूक्ष्मान्न, अध्याय ३० देखो) हो

३५ किया उभक्त कर ३५५ है—मानसिक, शारीरिक और आहारविषयक (१) मासिक कारणों में श्लेष्म, शोक, भय, विचेतसत्व

सकता है । मिथ्याहार वह है, जिसमें आहार्य द्रव्यों के विविध घटकों का उचित प्रमाण नहीं होता । इसको आयुर्वेद की परिभाषा में 'अनियमित मात्राहार' आधुनिक परिभाषा के अनुसार असंतुलित (Unbalanced diet) कह सकते हैं । आहाररस से स्तन्य उत्पन्न होता है और जब माता या धात्री का आहार अपर्याप्त, अनुचित, दोषयुक्त या अन्य तरह से खराब रहता है, तब उसका परिणाम स्तन्य की खराबी में होना स्वाभाविक है । धात्र्यास्तु- धात्री से उपमाता और माता दोनों का बोध होता है—
 धात्री स्यादुपमाऽऽपि । (अमरकोश) । अपिना जनन्यपि धात्री । माता के अर्थ में धात्री का उपयोग भी होता है—
 पुनर्भात्रो पुनर्गर्भमोजन्तव्य प्रधावति । ऋषेभ्यो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-८२) । यहाँ पर यद्यपि संदर्भ के अनुसार उपमाता का अर्थ होता है तथापि यह कथन माता और उपमाता दोनों के लिए लागू है । इसलिए धात्री से माता और उपमाता दोनों का ग्रहण करना चाहिए । सम्भग् विभावयेत्—अच्छी तरह सोच-विचार करके जाने । बड़े मनुष्य की अपेक्षा बालकों में रोगपरीक्षण में अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक स्वयं कुछ भी नहीं बता सकता या गलत बताता है । अतः शरीरगत विकार का स्थान उसके हालचाल, चर्चा, रुदन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों, चिह्नों (Physical signs) और अनैच्छिक क्रियाओं (Involuntary actions) से जान लेने की आवश्यकता होती है । इसलिए अब उन्हीं लक्षणों और चिह्नों का वर्णन करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते ।
 मुहुर्मुहुः स्पृशति तं म्पृश्यमाने च रोदिति ॥ ३७ ॥
 निमोलिनात् मूर्धस्ये शिरो रोगे न धारयेत् ।
 वस्तिस्थे मूत्रसङ्घातो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥ ३८ ॥
 त्रिणमूत्रसङ्घातवर्ण्यच्छर्द्याभ्रान्त्रकृजनेः ।
 कोष्ठे गोपान् विजानीयात् सर्वत्रस्थाश्च रौदनेः ॥ ३९ ॥
 (बालकों में विकृति का स्थान जानने की रीति—)
 बालक के जिस अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उस अंग-प्रत्यंग को ब्राह्मण छूता है और (उस अंग को) स्पर्श करने पर रोता है ॥ ३७ ॥ मस्तिष्क के रोग में आँखें बंद किया हुआ रहता है और शिर को धारण नहीं करता । वस्ति (प्रदेश के रोग) में पीड़ा के कारण मूत्र रुक जाता है, तृपायुक्त होता है और मूर्च्छित होता है ॥ ३८ ॥ मलाचरोध, मूत्राचरोध, विवर्णता, वमन, पेट का फूलना, आँखों में गुड़गुड़ शब्द होना इनसे कोष्ठ में दोष है, ऐसा समझे । और रोग से सर्वत्र विकृति समझे ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—अंगप्रत्यंगदेशे—शरीर में कहीं भी जब कुछ गड़बड़ होती है, चाहे वह आगन्तुक कारणों से हो चाहे निज कारणों से हो, तब उस अंग का हट जाना या स्थानिक वैशिष्ट्यों में संकोच पैदा होना या वहाँ पर हाथ का पहुँच जाना ये कर्म हुआ करते हैं । जैसे, आँख में पीड़ा होने से या आँख के भीतर बाहर से कोई चीज प्रविष्ट होने से पलक बंद होते हैं, पुतली सिंक्रुड़ जाती है और मनुष्य आँख के ऊपर अपना हाथ रखता है । ये कर्म शरीररक्षा के लिए

आवश्यक होते हैं । शरीररक्षा के लिए प्रयत्न करना यह जीवसृष्टि का एक स्वाभाविक गुण है और यह गुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव से लेकर अत्यन्त बड़े जीव में दिखाई देता है । इसमें बुद्धि का या मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों का कोई सम्यन्त्र नहीं होता । अर्थात् ये कर्म अनैच्छिक होते हैं । इनको प्रतिरोध कर्म (Reflex actions) कहते हैं । बालक कितना भी छोटा क्यों न हो, उसमें भी ये कर्म दिखाई देते हैं । इसलिए अगर बालक बार बार कहीं पर छूटा हो तो समझ लेना चाहिए कि उस स्थान में, या उसके आसपास, या उसके नीचे गहराई में स्थित अंगों में पीड़ा है । शरीरगत पीड़ा जानने का यह पहला मार्ग है । स्पृश्यमाने च रोदिति—जहाँ पर बालक बार बार छूटा है, वहाँ पर स्पर्श करने पर या जरा सा दवाने पर बालक रोता है क्योंकि दवाने से पीड़ा चढ़ती है । शरीरगत असह्य पीड़ा को मालूम कराने का मार्ग यच्चों में रुदन होता है । बड़े मनुष्य में प्रायः रुदन नहीं होता, परन्तु पीडन के समय उसके चेहरे की ओर देखने से पीड़ा का ज्ञान हो जाता है । स्पर्श करने पर पीड़ा होने की अवस्था को स्पर्शानुसमता या पीडानुसमता (Tenderness) कहते हैं—स्पर्श च न क्षमते तत्र रजमुपलक्षयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । अन्यस्पर्शनं च न सहते । (हस्तु) । यत्र च स्पर्शनाक्षमः, तत्र विषाद्गुणम् । (अष्टांगहृदय, उत्तर २) । इस तरह शरीरगत रुजा दो प्रकार से प्रकट होती है, एक प्रकार में वह बिना स्पर्श के होती रहती है । इस लक्षण को वेदना (Pain) कहते हैं और दूसरे प्रकार में छूने पर प्रकट होती है । इसका पीडनानुसमता कहते हैं ।
 मूर्धस्थे—इसका सम्बन्ध 'रोगे' के साथ है, याने मूर्धस्थ रोग का विशेषण है । यहाँ पर मूर्धस्थ रोग के दो लक्षण बताये गये हैं, आँखें बन्द करना और शिर को धारण न करना । इसके और भी लक्षण होते हैं—अवकृजन याने धीरे धीरे अस्वच्छ बोलना या मुख से आवाज करना (Low muttering), अतिमानस्वप्न याने ठीक नींद न आना (Disturbed sleep) । शिरो न धारयेत्—इससे शिर धारण करने का असामर्थ्य प्रकट होता है । यह असामर्थ्य दो प्रकार से दिखाई दे सकता है—शिर के एक तरफ गिरने से या शिर के काँपने से । आगे काश्यपसंहिता का शिरोरोग सम्बन्ध का श्लोक देखो । वास्तस्थे—भ्रगास्थि के आस-पास के विकार में—मूत्रमंगमूत्रमूर्च्छात्रासदिन्वीक्षणखण्डि-हस्तपादस्तम्भकुञ्जीमदनकेशुजनेर्वस्तौ शुद्धे च । (अष्टांगसंग्रह) ।
 कोष्ठे—उदरविभाग में विशेषतया आमाशय और आन्त्र में । 'स्थानान्यामाग्नपकानां मूत्रस्थ रश्चिरस्थ च । हृदुण्डकं फुफुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥' इस व्यापक अर्थ में कोष्ठ का प्रयोग न होकर केवल 'स्थानान्यामाग्नपकानाम्' इसके लिए प्रयुक्त हुआ है । इस अर्थ से कोष्ठशब्द का उपयोग 'मृदुकोष्ठकूरकोष्ठ' इन शब्दों में होता है—'मृदुकोष्ठ' शिरात्रेण-स्निग्धस्थच्छोपसेवया । दिनशति क्रूरकोष्ठस्तु सतरात्रेण मानवः ॥ (चरक, सूत्र ३३) ।
 सर्वत्रस्थाश्च, रौदनेः—सर्वत्र च, स्वभावातिरिक्तोरौदनेन गुणविकृत्य-नेन च । (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) । रौदन से स्वभावातिरिक्त रौदन समझना चाहिए । स्वाभावातिरिक्त रौदन का अभिप्राय यह है कि बालक स्वस्थावस्था में जितना रोता है, उससे अधिक रोने पर । कुछ बालक स्वभाव से ही न रोने

में तैलपित्तु रखने का विचार है। पीछे २३वां सूत्र देखो।
 वचन में जब तक तालु बन्द नहीं होती, तब तक उसकी
 स्थिति से बालक के साधारण स्वास्थ्य का, मस्तिष्कगत
 विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है।
 प्रवाहिका, अतिसार, अनुबद्ध वमन तथा अन्य क्षीणता-
 जनक तीव्र विकारों में तालु में निम्नता (Depression)
 आ जाती है। आगे तालुकेंद्रक देखा। तालु की निम्नता
 एक गभीरतादर्शक लक्षण होता है। अस्थिवक्रता
 (एक Rickets आगे २२वें श्लोक के अन्तर्गत में देखो)
 नामक रोग में तालु की अस्थिर्यो देर में मिलती हैं। बड़े
 रोगियों में नाड़ी की क्षीणता का जो मतलब होता है
 वही मतलब यच्चों में तालु की निम्नता का होता है।
 मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) मस्तिष्कावर्तुद (Tumour)
 इत्यादि मस्तिष्क के विकारों में तालु तनाव से युक्त और कुछ
 उन्नत होती है। सचेप में, तालुपात या तालु की अन्य
 स्थिति एक लक्षण है, जिससे बालक की विकृति का कुछ
 पता चल जाना है। तालुपात बालक की क्षीणता या
 स्वास्थ्य दैन्य का निदर्शक है। मस्तुल्लुगल्लय—तालु का
 पात बालक के अतिसार, प्रवाहिका, वमन इत्यादि शरीरगत
 जलौष का नाश करने वाले विकारों में होता है। शरीरगत
 जल की कमी का परिणाम मस्तिष्कसुषुप्ताजल (Cerebro-
 spinal fluid) की कमी में होता है। यह जल मस्तिष्क के
 चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी
 होने से आवरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होता है।
 अन्य स्थानों पर कठिन हुईयाँ होने से इसका पता नहीं
 लगता, परन्तु पूर्वतालुप्रदेश में हड्डी न होने से। यह निम्न
 हो जाता है। सचेप में मस्तुल्लुगल्लय से 'मस्तुल्लुगल्लय'
 समझना चाहिए। वायु—तालुनिम्नता का आन्तरिक
 कारण मस्तिष्कजलछय है और बाह्य कारण वायु है। वायु
 से बाह्य वायु (वातावरण Atmosphere) और शरीरगत
 वायु दोष दोनों का बोध होता है (चरक का वातकलाकलीय
 अध्याय सूत्र १२)। तालु के पात में बाह्य वायु ही
 कारण है। हमारे शरीर पर बाह्य वायु का बहुत भारी
 दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दबाव होने
 के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण
 उसका शान हमें नहीं होता। शरीर में जहाँ पर कुछ
 पोलापन या निर्वात (Vacuum) स्थिति होती है, वहाँ पर
 बाहर की वायु दबती है। पुण्ड्रसूत्र में जय पुण्ड्रसूत्र
 भीतर से विवरयुक्त पोला हो जाता है, तब बाहर की वायु
 का दबाव यच्चों से पुण्ड्रान्तरीय स्थान भीतर धँसे हुए
 दिव्यादि देते हैं तथा अक्षक (हसली) के ऊपर और नीचे
 गड़े बन जाते हैं। मस्तिष्कजलछय में बालकों की तालु में
 हड्डी न होने के कारण बाह्य वायु के दबाव से तालु दब
 जाती है। बाह्यवायु के पश्चात् मस्तिष्कजलछय होने पर
 भी इस प्रकार की निम्नता नहीं होती क्योंकि दबने कायक
 स्थान शोषण में नहीं होता। पुण्ड्रसूत्रसूत्र—जिन समय
 तालुपात होता है, उस समय रोगी की स्थिति बड़ी शोषणीय
 होती है। जैसे—शरीर की सूखाता, क्षीणता, पित्तियों का
 विस्फोषण अर्थात् कपेल और उद्गर भीतर धमे हुए
 बद्धवाम्य इत्यादि। शरीरगत जलौष का नाश जिन रोगों

में अधिक होता है, उन रोगों में तालुपात होता है। अर्थात्
 जलौष की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वभाव से ही
 अधिक प्यास मादम होती है। मधुरके शान्त-मधुराण
 में बलकारक, जीवनीय शोषणियों (सूत्रस्थान के १२वें
 अध्याय का २३वां सूत्र देखा) होती हैं। गान्धुव्रण-
 शीतल जल का प्रयोग दीन, क्षीण बालक को हेतियार करने
 के लिए, उसकी होश पर खाने के लिए होता है। इसका
 उपयोग अधिकतर आँसों पर, चेहरे पर किया जाता है।
 अतिनाशप्रतिपाता नाभि सहजा नृण्डिससिन्धिताप।
 माहृतपन्ने। प्रशमयेत् स्नेहक्रेदोपनाहने ॥ ४८ ॥

(नाभितुण्डि—) वायु के कारण पृथी हुई पीडा-
 युक्त तुण्डि नामक नाभि को वायुनाशक स्नेह, स्नेह और
 उपनाह से शान्त करे ॥ ४९ ॥

वक्षस्य—नाडीकल्पन की विधि पीछे ११वें सूत्र में
 तथा उसके वक्षस्य में भली भाँति वर्णन की गई है। उस
 समय सूत्र, कंचो, वज्र इत्यादि की सफाई में लापरवाही
 करने से मणयुक्त नाभि दूषित होती है। कभी कभी यह
 दोष नाडी के द्वारा यकृत और रक्त में प्रवेश करके बालका,
 ज्वर, वमन, प्रवाहिका और जीवाणुमयता उत्पन्न करके
 बालक का नाश करता है। इसलिये, नाडीकल्पन के सब
 साधन अत्यन्त शुद्ध काम में खाने चाहिए। परन्तु प्रायः दोष
 इतनी दूर तक न फैलकर नाभि तक सीमित रहता है
 और नाभिपाक (Omphalus) उत्पन्न होता है। नाभितुण्डि
 उत्पन्न होने से पूर्व प्रायः नाभिपाक होता है। इसलिये
 चरक और अष्टांगसंग्रह में प्रथम नाभिपाक का उल्लेख किया
 गया है—उत्थ, यथाभि पर्यन्त तौ लोभमयुक्तमिधुरद्वार
 हरिद्वारकसिद्धेन तैलेनाम्यज्ज्वाय एषामेव तैलोपानां पूजनात्
 पूण्येत। (चरक, भा० १०, १०)। नाभि का पाक होने से
 नाभि अधिक कमजोर होती है। इस कमजोरी के साथ
 यदि बालक में मलावरोध, निरुद्धप्रकाश (निदान ११-५०)
 और रोदनाधिक्य ये विकार हों तो उदरगत भार वज्र काने
 से धान्न का कुछ हिस्सा नाभि के सिद्ध में से बाहर आने
 लगता है और नाभि प्रमापित होती है। इन अवस्था को
 नाभिगत आन्त्रपृदि (Umbilical hernia) कहते हैं। बिना
 नाभिपाक के भी मलावरोधोपदि कारण आधक बाल
 तक जारी रहें तो यह विकार हो जाता है क्योंकि नाभि
 का स्थान उदरप्रार्चर के अन्य स्थानों की अपेक्षा
 स्वभावतः कमजोर रहता है। चरकसहिता में नाभि के
 चार विकार दिये हैं—वक्षस्यदहनं हि नाब्धा भ्रायाम वाया
 मोचु ग्नापिषन्तिनाभिमिवात्रिभिःप्राप्तो भयम्। इस के
 ऊपर चक्रपाण्डित लिखते हैं—प्रायानो देव्यं प्रायानो
 विस्मयं, साम्यासुपुण्डिता भ्रायाम वायामो ण्डिता, दीवपीनस्य
 शुद्धेत्थं। विण्डिका परिमण्डल्युता, विनामिता भनोष्कृता
 मयन्निष्ठा। विमृभिका तु सुमुमुद्गदिमरी। शुद्धतापमभि
 मपीष्वेति नाडीपाननात्परिषे तथा वाने चायाम-वायामोचण्डिका
 दिविकारभल्लयशरक दो दोरो गुरु स उवचरिदध्याररदं दय।
 ये चार विकार वास्तव में चार स्वतन्त्र विकार न होकर
 एक विकार के चार प्रकार हैं और यह विकार है नाभिगत
 आन्त्रपृदि। सुसुप्त की तुण्डि चरक की आध्यात्म्यायामो
 तुण्डिका है। विजुम्भिक में नाभि हमेशा के लिए उमरी

हुई नहीं होती, परंतु जिस समय बालक रोता है या मल त्याग करता है, उस समय उदरगत भार बढ़ने के कारण फूलती है। चाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है। इस नाभि में छद्मंत्र का कुछ हिस्सा आता है। बालक की आयुर्वृद्धि के साथ नाभि का आयाम-व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे धीरे धीरे ठीक हो जाता है। रोगस्वेदोपनाहनेः—सालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा। उपनाह—उपनाहो बहलं लेपं दत्त्वा त्रिमादिभिरावृत्वा व्याधियुक्तत्वांगस्य बंधनम् । (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र १४)। आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को नाभिपट्ट (Umbilical belt) कह सकते हैं। इसके अलावा मलावरोधादि सहायक कारणां को भी दूर करना चाहिए।

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नो कारयेत् क्रियाम् । रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोहितम् ॥ ४७ ॥

(गुदपाक—) बालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पित्तनाशक चिकित्सा करे। (इसमें) विशेषतः रसोत् पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—गुदपाक—छुद्रोरोगनिदान (१३वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुद करके बालकों का एक रोग वर्णन किया गया है। गुदपाक के कारण और लक्षण और कहीं पर नहीं मिलते। इसलिए गुदकुद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है। परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालूम होते हैं—(१) दोनों रोग बालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है। (२) वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते। (३) गुदपाक में जैसी पित्तघ्न चिकित्सा होती है, वैसी पित्तघ्न चिकित्सा गुदकुन्द में भी होती है—नव व पित्तघ्नणजिच्छस्यते गुदकुन्दे । (अष्टांगसंग्रह)। (४) अहिपूतन चिकित्सा की औपधियों में रसाञ्जन भी एक है—दोलपत्रत्रिफलारसञ्जनविपाचनम् । पीने धन नाशयति कृच्छ्रमायि पूतनाम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०)। इन दृष्टियों में रसाञ्जन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्थ से किया गया है। (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है। यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था। परंतु रोग बालकों का होने के कारण यहाँ पर बालकों के रोगों में संक्षेप में उसका सूत्र बताया गया है। रसाञ्जन—दारुहरिद्रा के काथ से बनाया हुआ, जो रसोत् भी कहलाता है।

बालकों के रोग—बाल्यावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं है, वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—(१) महापत्र—विसर्पेस्तु शिशोः प्रायानाशने वस्तिशीर्षजः । पत्रवर्षो महापत्रनामा शोषत्रयोद्भवः ॥ शालाभ्यो हृदयैः याति हृदयाद्वा गुदं ब्रजेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। यह विसर्प है। इसकी नवजात विसर्प (Erysipelas neonatorum) कहते हैं। इसका प्रारम्भ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदरावरण शोथ पैदा करता है। इसी उपद्रव

से यह रोग प्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश सतज विसर्प में (निदान १०) होता है। (२) दन्तशब्द—रुवाशिनो वातिकरय चांतयत्यनिलः सिराः । ह्वाश्रयाः प्रसुप्तस्य दन्तैः शब्दान् करोत्यतः ॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेषण (Grinding of teeth) कहते हैं। यह कोई महत्व का रोग नहीं है। केंचुवे के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है। (३) तालुकण्टक—तालुसांसि कफः क्रुद्धः कुरते तालुकण्टकान् । तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शक्यं द्रवम् । तृक्ष्णिकण्ठान्यरुजा त्रीवादुर्धता वसिः ॥ (अष्टांगसंग्रह)। तालुकण्टक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है। बालकों की दृष्टि से इसको थश (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसक—स्तन्ये त्रिदोषमजिते दुर्गन्ध्यामं जलोपमम् । विषदमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥ शकृत्तानान्यधावर्षं मूत्रं पीति सितं घनम् । ज्वरारोचकण्टर्घादिशुभोद्गारविण्मिम्बाः ॥ अश्रुमदोऽप्यवित्तेषु कृजने वेपथुञ्जमः । प्राणाचिमुलुपाकाया जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम् । क्षीरालसकमित्याहुरस्यं ज्ञानिदारुणम् ॥ (अष्टांगहृदय)। क्षीरालसक दूध की खराबी से होने वाली बच्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea) है। (५) शूल—स्तनं व्युदस्यते रीति चोत्तानश्चावभस्यते । उदरस्तब्धता रीत्य गुलस्वेदश्च शूलिनः ॥ (कारश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। वच्चा में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्तब्धता (कठिनता) आ जाती है। (६) व. शीर्षकम्—कपालि पत्रवे दृष्टे गभस्थस्यापि जायते ॥ संवर्षो नीरुजः शोफस्त विद्यादुपशीर्षकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७)। उपशीर्षक को शीर्षशोणवृद्ध (Cephal haematoma) कहते हैं। यह शोफपार्ष्व कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से होता है। (७) उल्वकम्—गर्भाम्भसामवमनात् कम्भणः कण्ठगस्य वा । संपर्काद् हृदये दृष्टे मार्गानावृणुते रसः ॥ बद्धमष्टिन्तो मुखद्वोर्गैर्बालोऽभिभूयते । हृदोर्गान्नेपकश्चासकासच्छ्रित्ज्वरादिभिः । उल्वकं सहजं व्याधिमन्त्रपूर्णं च न वेदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। उल्वक को शिशवीय आक्षेप (Infantile convulsions) कहते हैं। इसका कारण मस्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्ट प्रसूति के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आक्षेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतचक्षुर्नखमुखाविण्मूत्रः कामलादितः । उभयत्र निरुत्साहो नद्यग्निनखिरस्युहः ॥ (कारश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बालकों में कामला निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय बालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कर्णों की संख्या स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कर्णों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है। (आ) पित्तवाहिनी-मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वार में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है। (इ) नाभिनाडी

में तैलपिचु रखने का विधान है। पीढ़े २३वाँ सूत्र देखो। श्वसन में जब तक ताउ बन्द नहीं होती, तब तक उसकी स्थिति। स वालक क साधारण स्वास्थ्य का, मस्तिष्कगत विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है। प्रवाहिका, अतीव्यार, अनुबद्ध धमन तथा अन्य चीजता-जनक रोग विकारों में तालु में निद्रता (Depression) आ जाती है। आगे तालुच्छन्क वृत्ते। तालु की निद्रता एक गभीरतादर्शक लक्षण होता है। अस्थिवक्रता (एक Rirketa आगे ६२वें श्लोक के चकच्य में देखो)

नामक रोग में ताउ की अस्थियाँ दैर में मिलती हैं। वषे रोमियों में नाभी की चीजता का जो मत्तलप होता है, वही मत्तलप वर्षों में तालु की निद्रता का होता है। मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) अस्थिव्याधुषु (Tumour) इत्यादि मस्तिष्क के विकारों में तालु सनाय से युक्त और कुछ वषत होती है। संक्षेप में, तालुपात या तालु की अन्य स्थिति एक लक्षण है, जिससे वालक की विकृति का कुछ पता चल जाता है। तालुपात वालक की चीजता या स्वास्थ्य देखना का निर्देशक है। मस्तुलुगजपात—तालु का पात वालक के अतिसार, प्रवाहिका, धमन इत्यादि शरीरगत जलजल का नाश करने वाले विकारों में होता है। शरीरगत जल की कमी का परिणाम मस्तिष्कसुषुम्नाजल (Cerebrospinal fluid) की कमी में होता है। यह जल मस्तिष्क के चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी होने से सावरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होगा है। अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इसका पता नहीं चलता, परन्तु पूर्वतालुप्रदेश में हड्डी न होने से। वह निद्र हो जाता है। संक्षेप में 'मस्तुलुगजय' से 'मस्तुलुगजल' समझना चाहिए। वायु—तालुनिद्रता का आन्तरिक कारण मस्तिष्कजलशय है और बाह्य कारण वायु है। वायु से बाह्य वायु (वातावरण Atmosphere) ही शरीरगत वायु दोष दोषों का बोध होता है (एक का वातकलाकलीय अध्याय सूत्र १२)। तालु के पात में बाह्य वायु ही कारण है। हमारे शरीर पर बाह्य वायु का बहुत भारी दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दबाव होने के कारण या हड्डी के तमान कठिन आवरण होने के कारण उसका शान हमें नहीं होता। शरीर में जहाँ पर कुछ उसका शान हमें नहीं होता। स्थिति होती है, वहाँ पर पोलोपान वा निर्वात (Vacuum) स्थिति होती है, वहाँ पर शरीर की वायु दबाती है। पुत्रपुत्रसूत्र में जब पुत्रपुत्र भीतर से विवरयुक्त पोटा हो जाता है, तब बाहर की वायु का दबाव पड़ने से पुरुकात्तरीय स्थान भीतर उँसे हुए विचार्ये देने हैं तथा बाह्यक (हस्तकी) के ऊपर और नीचे गये मन जाते हैं। मस्तिष्कजलशय में बालकों की तालु में हड्डी न होने के कारण बाह्य वायु का दबाव से तालु दूब जाती है। बालकावस्था के प्रथम मस्तिष्कजलशय होने पर भी इस प्रकार की निद्रता नहीं होती क्योंकि वृत्तिका कथक स्थान जोषयी में नहीं होता। उन्ने-सुश्रुतसूत्र—जिस समय तालुपात होता है, उस समय रोगी की स्थिति चर्ची शोषणीय होती है। जैसे—शरीर की दृढता, चीजता, पशियों का

में अधिक होता है, उन रोगों में तालुपात होता है। अर्थात् जलता की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वभाव से ही अधिक प्यास मान्य होती है। मनुके ११२-सुश्रुतगण में बलकारक, जीवनिय ओषधियाँ (सुश्रुतगण के ४२वें अध्याय का २३वाँ सूत्र देखो) होती हैं। तालुबदलन—शरीरगत जल का प्रयोग हीन, चीज बालक को होशियार करने के लिए, उसके हाथ पर छाने के लिए होता है। इसका उपयोग अधिकतर आँवों पर, चैहरी पर किया जाता है। अतिनामापिता नामि सखजा लुण्डिसंहिताम्। मातृतर्ज्यैः प्रसामयेत् स्नेहद्वयेदोपनाहनौ ॥ ४८ ॥

(नामिण्डि-१) वायु के कारण पृथी हुई कीटा-युक्त शुण्डि नामक नामि का वायुनाशक स्नेह, स्नेह और उपनाह से शान्त करे ॥ ४८ ॥

। चकच्य—नाडीकल्पन की विधि 'पीठे ११वें सूत्र में तथा उसके चकच्य में भली भाँति समन की गई है। उस समय सूत्र, कंचो, वष इत्यादि की सफाई में लापरवाही करने से मण्युक्त नाडी दूषित होती है। कमी कमी यह दोष नाडी के द्वारा यष्ट्य और रक्त में प्रवेश करके बालता, ज्वर, धमन, प्रवाहिका और नीवायुमयता उत्पन्न करके वालक का नाश करता है। इसलिए नाडीकल्पन के सब साधन अत्यन्त दृढ काम में लाने चाहिए। परन्तु प्रायः दोष हृत्तनी दूर तक न फैलकर नामि तक सीमित रहता है और नामिपाक (Omphalus) उत्पन्न होता है। नामिण्डि उत्पन्न होने से पूर्व प्रायः नामिपाक होता है। इसलिए चरक और अष्टांगसंग्रह में प्रथम नामिपाक का उल्लेख किया गया है—इत्य, चर्मादि २५२१, । तालुजलशयसुश्रुतार हरिद्रावल्कलदिने तैलेनाम्न्यात् पशयित तैलेनान्ना चूर्णना चूर्णवत् । (बाह्य, शा. १०)। नामि का पाक होने से नामि अधिक कमजोर होती है। इस कमजोरी के साथ यदि बालक में मलावरोध, निद्रप्रकाश (निदान १३-५०) और रोदनादिय ये विकार हों तब उदरगत भार बढ़ जाने से आन्त का कुछ हिस्सा नामि के शिथि में से बाहर आने लगता है और नामि प्रेषित होती है। इस अवस्था को नामिगत आम्न्रुद्धि Umbilical hernia । कहते हैं। शिवा नामिपाक के ४ भी मलावरोधादि कारण अधिक काल तक जारी रहें तो यह विकार हो जाता है क्योंकि नामि का स्थान उदरप्रार्चर के अन्य स्थानों की जोषा स्वभावत कमजोर रहता है। चरकसंहिता में नामि के चार विकार दिये हैं—अमममममम दि न व्वा आशामन्म मोतुण्णनापण्डिकादिनामिण्डिनिमिण्डिकादिभ्यो, ममम् । इ ऊपर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—आशामो देव्यं बाल विलार, तालुसुश्रुतिका आशामन्मनामो सुश्रुता, शिवश सुश्रुते । शिण्डिका परिमण्डलुजा दिनामिरा अन्नेनं मममिण्डा । निमिण्डा इ मस्तुद्विदिमिदी । सुश्रुतसंग्रह मदीयेति नाडीपश्याकारदिते तथा बने वायुना-वायुनामिण्डि निमिराचतुष्पाकेको मे दोषो गुप्त से उपचरितम्बर अरन्ध्र ये चार विकार वाग्नात में चार स्वतन्त्र विकार न हों एक विकार के चार प्रकार हैं और यह विकार है नामिगत आम्न्रुद्धि। सुश्रुत की शुण्डि चरक की आशामन्मनाम्

। अर्जि कपोल और उदर भीतर पसे हुए

हुई नहीं होती, परंतु जिस समय बालक रोता है या मल त्याग करता है, उस समय उदरगत भार बढ़ने के कारण फूलती है। बाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है। इस नाभि में छुद्रांत्र का कुछ हिस्सा आता है। बालक की आयुर्वृद्धि के साथ नाभि का आयाम-व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे आप ठीक हो जाता है। स्वेदोपनाहनेः—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा। उपनाह—उपनाहो बहलं लेपं दद्यात् चर्मदिभिरावृत्य व्याधियुक्तस्यांगस्य बंधनम् । (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र० १४) ॥ आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को नाभिपट्ट (Umbilical belt) कह सकते हैं। इसके अलावा मलाबरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए।

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नो कारयेत् क्रियाम् ।

रसाञ्जनं त्रिगोपेण पानालेपनयोहितम् ॥ ४७ ॥

(गुदपाक—) बालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पित्तनाशक चिकित्सा करे। (इसमें) विशेषतः रसोत पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—गुदपाक—छुद्ररोगनिदान (१३वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुंद करके बालकों का एक रोग वर्णन किया गया है। गुदपाक के कारण और लक्षण और कहीं पर नहीं मिलते। इसलिए गुदकुंद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है। परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक माल्यम होते हैं—(१) दोनों रोग बालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है। (२) वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते। (३) गुदपाक में जैसी पित्तघ्न चिकित्सा होती है, वैसी पित्तघ्न चिकित्सा गुदकुन्द में भी होती है—नर्व च पित्तघ्नगुणिल्लस्यते गुदकुण्डे । (अष्टांगसंग्रह) । (४) अहिपूतन चिकित्सा की औषधियों में रसाञ्जन भी एक है—गोलपत्रत्रिफलारसञ्जनविपाचनम् । पीतं घृतं नाभयति कृच्छ्रमभ्यापूतनाम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०) । इन द्रव्यों में रसाञ्जन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्थ से किया गया है। (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है। यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था। परंतु रोग बालकों का होने के कारण यहाँ पर बालकों के रोगों में संक्षेप में उसका सूत्र बताया गया है। रसाञ्जन—दारुहरिद्रा के काथ से बनाया हुआ, जो रसोत भी कहलाता है।

बालकों के रोग—बाल्यावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं है, वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—(१) महापचन—विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः । पचंश्चो महापचनासा दोषत्रयोद्धवः ॥ शाखाभ्यां हृदये व्याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । यह विसर्प है। इसको नवजात विसर्प (Brysielas neonatorum) कहते हैं। इसका प्रारम्भ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदरावरण शोथ पैदा करता है। इसी उपद्रव

से यह रोग प्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश क्षतज विसर्प में (निदान १०) होता है। (२) दन्तशब्द—रुवाशिनो वातिकरय चालयत्यनिलः सिराः । एवाध्रयाः प्रसुप्तस्य दन्तैः शब्दान् वरोत्यतः ॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेपण (Grinding of teeth) कहते हैं। यह कोई महारव का रोग नहीं है। केंचुवे के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है। (३) तालुकण्टक—बालुमासे कफः क्रुद्धः कुरते तालुकण्टकान् । तेन तालुप्रदेशस्य निद्रता मूर्ध्नि जायते ॥ तालुपातः स्तन-द्वेषः कृच्छ्रात् पानं शक्यं द्रव्यं । वृद्धिकण्ठान्यरुजा व्रीवाद्युपंरता वमिः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । तालुकण्टक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है। बालकों की दृष्टि से इसको थ्रश (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसक—स्तन्ये विदोषमलिनं दुर्गन्ध्यामं जलोपमं । विवक्ष्मच्छं विच्छिद्यं फेनिलं चोपदेश्यते ॥ शक्यनानान्य-धावर्थं मूत्रं पीतं सितं घनम् । क्षीरारोचकलृद्धदिशुकोद्गारविजृ-म्भिकाः ॥ अक्षमङ्गोऽह्वितेषुः कूजनं वेपथुर्धमः । प्राणाधिमुखपाकाया जायन्तेऽन्येऽपि तं गदन् । क्षीरालसकमित्याहुरस्यं शानिदास्यन् ॥ (अष्टांगहृदय) । क्षीरालसक दूध की खराबी से होने वाली बच्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea) है। (५) शूल—स्तनं च्युदस्यते रीति चोत्तानथावमञ्जते । उदरस्त्वथता शैत्यं सुखस्वदश्च शूलिनः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय) । बच्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करता है और उसी से उदरस्तब्धता (कठिनता) आ जाती है। (६) व. शीर्षकम्—कपाले पवने दृष्टे गर्भस्थस्यापि जायते । सवर्णो नीरुजः शोफस्त विधाद्युपशीर्षकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७) । उपशीर्षक को शीर्षशोणार्जुदं (Cephal haematoma) कहते हैं। यह शोफापरव कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से होता है। (७) उल्बकम्—गर्भाम्भसाम्भसनात् क्षण्यः कण्ठगस्य वा । संपर्काद् हृदये दृष्टे मार्गानाद्युते रसः ॥ वदमुष्टिनतो मुखद्रो-गैर्बालोऽभिभूयते । हृदोगानेपकथासकासच्छुदिचर्रादिभिः । उल्बकं सहजं व्याधिमन्त्रपूर्णं च न वदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) । उल्बक को शोधावीय आक्षेप (Infantile convulsions) कहते हैं। इसका कारण मस्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्ट प्रसूति के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आक्षेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतचक्षुर्नखमुखविष्मृत्तः कामलादितः । उभयत्र निरु-त्साहो नष्टमिन्नरुधिरं स्पृष्टः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय) । बालकों में कामला निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय बालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कर्णों की सख्या स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कर्णों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है। (आ) पित्तवाहिनी-मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वार में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरोध होता है और कामला होती है। (इ) नासिनाडी

वाले होते हैं। इनके बारे में जरा-सा भी रोगा संदेहास्य होता है। कुछ बालक स्वभाव से अधिक रोने वाले होते हैं। इनके बारे में जब ये उससे अधिक रोएंगे, तब संदेह होगा। मुखविज्ञाने च—मुखसर्वा (Facial expression) के फर्क से। चेहरा शरीर का आदर्श होता है, जिसमें शारीरिक और मानसिक विकारों का प्रतिबिम्ब मिलता है। शरीर या मन में बरा-सी उपलब्ध होने से उसका पता चेहरे से लग जाता है। सर्वत्रलोक—इसके फले जो दोष वर्णन किये गये थे, वे एकदेशीय थे। जैसे—शरीरगत, वस्तिगत, उदरगत इत्यादि। इसमें एकदेशीयता न होकर सर्वांगगतता या सर्वशरीरव्यापकता होती है। अर्थात् सर्वत्रस्य दोषों से ऐसे रोगों का बोध होता है कि जिनमें दोष किसी एक स्थान में सीमित है, ऐसा नहीं बताया जा सकता है। जैसे, वर, सर्वाङ्गवात, पाण्डु इत्यादि। सुप्तस्थान के २३वें अध्याय का ३२वाँ सूत्र देखो। अर्थात् इसका अभिप्राय यह है कि जब बालक स्वभाव से अधिक रोने लगे, उसके चेहरे में कुछ फर्क पड़ जाय और स्थानिक विवृति के लक्षण कहीं पर न दिखाई दें तो यह समझना चाहिए कि बालक उबर जैसे सर्वाङ्गरोग से पीड़ित हुआ है।

इन रडोकों में जो बालक बोलना नहीं जानते या अपने विचार प्रकट करना नहीं समझते, उन बालकों के रोगों का निदान लक्षणों और चिह्नों को देखकर कैसा करना चाहिए इनका विवरण किया गया है। इस प्रकार का विवरण अष्टाङ्गहृदय और अष्टाङ्गसमूह (उपर २) में भी मिलता है, परन्तु ये सब विवरण बहुत संक्षेप में हैं। कारयसंहिता में इस महत्व के विषय का विवरण अधिक विस्तार से दिया गया है। अतः इसका कुछ उपयोगी अंश नीचे दिया जाता है—**गालघनानाम् वक्षसा विविगा देहवेदना । प्रादभूता कष वैषो जानीवाडकला मंड ।** अति श्लेष्मामाग वक्षयो लोक्शुद्धय । श्रोत्रय वेदनास्तस्ये कारयोर्बलदेहजा ॥ यद्य शिर स्पन्दयति निगोत्रयति चक्षुरी । भ्रवकुक्ष्यरिमानस्वभक्ष गिरिरेरिचि ॥ भयो स्थिति हटाग्या शिरो भ्रमयते मुहम् । आस्योचक्रास्वनेयानीवाल्क्यवेदनाम् ॥ लासालनक्षमत्यर्थं स्वनदेपारत्वक्षया । पीनसुरिदिति चीर नासा-इवासी मुष्माभवे ॥ लालास्रायोऽर्ककालानि कपोले श्वयुग्मंवा । मुखस्य विदुपक्ष च बानीवादिभिरिद्विह्वाम् ॥ मुद्रनमन्तेऽज्ञानि नभमते कसते मुद्रु । बानीमान्पीथेऽन्यथात् स्वनं नात्यनि मन्दति ॥ प्रक्षयोप्यत्ववेवर्णं सलादस्यातिवक्षया । अरुचि पादयो-शैत्य चरे श्चु पूर्ववेदना ॥ स्वन स्पन्दस्वने रीति चोपानश्राव मन्वते । उरस्तम्भना शैत्य मुखस्वेदश्च सुस्तिन ॥ स्वनपिबति कालस्य च त्वप्यति रोदिति । मुष्मोऽग्राहस्तोम्येऽर्दुरेस्तस्युषवाऽद्रित ॥ रोमहर्षोऽङ्गरुषं मूषघ्नाने च वेदना । मूत्रकण्ठे दशश्लोषो रसि श्लशति पाथिना ॥ सघर्षातिमूत्रत्व सूत्रकले च वेदना । प्रउर रोदिति क्षामस्त म्यादचमरीगदम् ॥ इतिभ्याङ्गुला घोद शोषयन्नाश्रुक्ता । इतस्य चोपलिन्यन्ते चक्षुरो चक्षुरासमये ॥ वर्षं त्वज्ञानि भयने रोदितिऽप्यति मर्दनम् । मुष्ककण्ठवदिति विषाणउश्वादां प्रवदते ॥ मुष्मापते मृषमान मृषमान च द्यते । इत सवति सत्योऽामार्दानां श्लेष्माहवत् ॥ बाम्बां समन्तउ शोष भेऽगति मक्षरुक्ता ॥ पाण्डुरोगेऽग्निनासाश्च श्वयुष्माधिःकृतयो ॥ योवधुष्मन्तवमुष्माधिःपुत्र भ्रमनाऽदिति । वयवय निरस्ताहो नष्टादि रविरस्त ॥ मुद्रमुष्मोऽप्यभिमिति पीला पीला स्वन तु य ।

सर्वत्रो नास्तिके चाल्य लनाड चरामप्यते ॥ श्लोतास्वमीव सृष्टे पीनसे चोति बाले ॥ उरोपाते तवेव स्वाग्निमन्त्रुरसाऽपिकम् ॥ स्वस्वचरुरो बालो न शेते तु भदा निधि । रक्विन्दुचिनाम्ब विषाच बन्धुकारिवम् ॥ (वेदनाध्याय) ॥

तेषु च यथामिहितं मूद्रच्छेदनीयमौषध मात्रया क्षीरस्य क्षीरसर्पिणा घान्याह्वं विदध्यात्, क्षीरा प्रादस्यात्मनि घान्याश्च, अन्नादस्य कपायादोनात्म न्येव न घाड्या ॥ ४० ॥

(ओषधिप्रदान की पद्धति—) उन रोगों में यद्, तीक्ष्णवेगाहित और यथोक्त ओषधि मात्रानुसार दूध पीने वाले बालक को दूध और शृत के साथ और घात्री (या माता) को (हुग्घादि के सिवा) सेवन करावे। दूध और अन्न खाने वाले बालक (के रोगों में उस) को तथा घात्री (या माता) को। अन्नसेवन करने वाले बालक (के रोगों में उस) को ही दे, घात्री को न दे ॥ ४० ॥

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वयग्रह(शु)सं मितामीषधमात्रा विदध्यात्, कोलास्थिसमितां कल्क मात्रा क्षीराघादाय, कोलासमितामन्नादायेति ॥ ४१ ॥

(ओषधि मात्रा का बालक के लिए प्रमाण—) एक मास से ऊपर के दूध पीने वाले बालक के लिए अंगुलि के दो फेरों में जितनी ओषधि रह सके, उतनी दे। दूध और अन्न खाने वाले बालक के लिए वेर की गुठली के समान कल्क (या नूर्ण) की मात्रा और अन्न खाने वाले बालक के लिए वेर के बराबर (ओषधि की मात्रा दे) ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—अभ्युत्पिबदयग्रहणसमिगाम्—सुटकी भा। क्षीर इत्यादि—आहार की हद से बाल्यावस्था के तीन विभाग होते हैं—प्रथम वर्ष की क्षीराभावस्था, दूसरे और तीसरे वर्ष की क्षीरपात्राध्यावस्था और चौथे वर्ष से अष्टादावस्था। सुप्तस्थान के ३२वें अध्याय के ३३वें सूत्र को तथा उसके वक्तव्य को देखो। मात्रा—इसके अर्थ का विवरण सुप्तस्थान के ३५वें अध्याय के ३६वें सूत्र तथा उसके वक्तव्य में किया गया है।

बच्चों को ओषधियाँ हमेशा द्रव या लेह के रूप में देनी चाहिए। नूर्ण या कल्क ही शब्द के साथ मिलाकर घटाना चाहिए। गोली या बटिका (Pills and tablets) बच्चों को कदापि न देनी चाहिए। माता या घात्री को ओषधि देने की कल्पना भी ठीक है क्योंकि इनसे सेवन की हुई ओषधि स्तनों से दूध के साथ उत्सर्गित होती है। बच्चों को अफीम या अफीमयुक्त ओषधि न देना ही उचित है क्योंकि उनके ऊपर अफीम का विषेला असर बहुत अस्वी होता है।

येया गदानां ये योगा प्रचयन्तेऽग्रादङ्कुरा । तेषु तत्कल्कसलितौ पाययेत् शिशुं स्तनौ ॥ ४२ ॥

(स्तनलेप से औषधप्रदान करने का मार्ग—) जिन रोगों के जो रोगनिवारक योग कहे जायेंगे, उन रोगों में उन दवाओं के कल्क से लिप किये हुए स्तन बालक को पिलाये ॥ ४२ ॥ एक ढ़े श्लोधि चाहानि वातपित्तकफज्वरे ।

स्तन्यपायादितं सर्पिरितराभ्या यथार्थतः ॥ ४३ ॥ (उपर में शृतप्रयोग—) दूध पीने वाले बालक के

लिष्ट वातज, पित्तज और कफज ज्वर में क्रमशः एक, दो और तीन दिन घृत (का पान) अहितकर होता है। क्षीराश्राद तथा अश्राद बालकों के लिए जैसा उचित मालूम हो, वैसा करे ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में ज्वरचिकित्सा के लिए प्रारंभ में लंघन और पश्चात् सर्पिष्पान की विधि बतलाई गई है—यूपैरुत्तरनम्लैर्वा जांगलैर्वा रसैर्दितैः । दशाहंतावदशनीयाहृत्पथं ज्वरशान्तये ॥ अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे । परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽशुभम् ॥ निर्दशाहमपि शक्त्वा कफोत्तरमल-क्षितम् । न सर्पिः पाययेद्देषः कषायैश्शमुपाचरेण । (चिकित्सा ३) । इस विधि का उपयोग तीनों प्रकार के बालकों में किस प्रकार करना चाहिए, इसका विवरण इस श्लोक में है। क्षीरप बालकों के लिए नियम स्पष्ट है। इतराम्यां यथार्थतः—इसका अभिप्राय यह है कि क्षीराश्राद और अश्राद बालकों के लिए वातज्वर के लिए एक दिन से अधिक, पित्तज्वर के लिए दो दिन से अधिक और कफज्वर के लिए तीन दिन से अधिक जितने दिन उचित समझे, उतने दिन उनको घी न दे, उसके पश्चात् दे। यथार्थत इति निवृत्त्यपरपर्यायोऽयमर्थेदाम्बो यथा मशकाथो घूम इति । तथा च अर्थम्—‘निर्दशाहमपि शक्त्वा कफोत्तरमलक्षितम् । न सर्पिः पाययेद्’ इत्युक्तं ज्वर-प्रतिषेधे वक्ष्यमाणं च प्रतिषेधमनतिक्रम्य इतराम्यामश्रादक्षीरापा-दाभ्यान्तु सर्पिर्विरहितमुपदिशेदित्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । इतराम्यां क्षीराश्रादाश्रादाभ्यां, यथार्थतः यथाप्रयोजनतः, हितं सर्पिरित्यर्थः । (ढरहण) ।

न च तृष्णाभयाद्ब्र पाययेत् शिशुं स्तनौ ।

(ज्वर में स्तनपान—) ज्वर में घृणा के भय से शिशु को स्तन न पिलावे ।

वक्तव्य—ज्वर के प्रारम्भ में लंघन करने की या कराने की विधि होती है—ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३) । पिछले श्लोक में ज्वर में सर्पिष्पान की विधि बतलाई गई है। इस श्लोकार्थ में लंघन की विधि पर्याय से बतलाई गई है। तृष्णामयात्—स्तन्यतृष्णामयात्, अस्याहार-भयादित्यर्थः । स्वस्थावस्था में बालक जितना दूध पीता है, उतना ही दूध वह ज्वरितावस्था में भी पी सकता है क्योंकि स्तनों के साथ मुख का संबंध होने पर दूध पीना इतनी ही बात उस समय वह समझता है। ऐसी अवस्था में अगर उसको नित्य के समान स्तनपान कराया जाय तो अजीर्ण होने का डर रहता है। इसलिए ज्वर के प्रारंभिक दिनों में स्तनपान न कराना ही प्रशस्त मार्ग है। परन्तु लंघन के इन दिनों में बालक को उबाला हुआ पानी, जैसे कि औरों को दिया जाता है, देना चाहिए—तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे । दीपनं पाचनं चैव ज्वरप्रमुषयं हि तत् । ज्वरसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३) । लङ्घनादिकाले एव अत्रस्थाविशेषे देयं जलमाह—तृष्यत इत्यादि । (चक्रपाणिदत्त) । शिशु को पानी देने में आपत्ति न करनी चाहिए। पानी किस प्रकार का देना चाहिए, इसके संबंध में काश्यपसंहिता में लिखा है—उष्णोदकं शिशोः । रक्तपित्तामयं त्यक्त्वा प्रायो वातकफामयके । रोमे शिशुर्वा धात्री वा गुर्विखी वोष्णकं पिबेत् । कच्चिद्रोगविशेषेण तप्तशीतं हितं बहु ॥ (पानीयगुण-विशेषाध्याय) । यदि बालक स्वस्थ हो तो ज्वरित होने

पर कुछ दिनों तक लंघन सह सहता है। यदि बालक बुजुर्ग हो तो उसके लिए लंघन कराना ठीक नहीं होता। ऐसी अवस्था में ‘न’ का अर्थ अल्प करके उसको थोड़ा थोड़ा स्तन-पान कराना चाहिए। बालक के लंघन के संबंध में रायर्ट हचीसन का निम्न वचन महत्व का है—Babies will stand the complete withdrawal of all nourishment for two or three, or even more days without any disadvantage, and, indeed, often with great benefit, provided always that you fulfil two conditions. The first of these is that child is kept warm. And the second condition is that water must on no account be withheld. That may take the form of boiled water. Lectures on diseases of children, इसके ऊपर हाराणचन्द्र लिखते हैं—न चेति प्रतिषेधोऽयमजीर्णशुद्धयेति गम्यते, अतो यावन्नासा-वाशुद्धा मुद्धिमपितिष्ठति वावदल्पमल्पं पाययेद्देव, उपस्थितायाश्च तस्यामाशुद्धायां मात्रयाऽऽवरान्वरा यथास्वोपधत्तितं जलमेव पाय-येदित्युपदिशन्त्याचार्याः ॥ आगे १० वें श्लोक के वक्तव्य में ‘लंघनात्’ देखो ।

विरेकघ्नोस्तवमनानृत्ये कुर्याच्च नात्ययात् ॥ ४४ ॥

(विरेचनादि के उपयोग का निर्देश—) आत्यधिक अवस्था के अलावा विरेचन, वस्ति और वमन न कराना चाहिए ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—अत्ययादृते—अत्यन्त आवश्यकता जिसमें हो, ऐसी अवस्था या व्याधि। बालकों में इनका पूर्ण निषेध नहीं होता। बालकों के रोगों की चिकित्सा के कुछ तत्त्व, जो अष्टांगसंग्रह में दिये हैं, नीचे दिये जाते हैं—न एव दोषा दूषयाश्च उवराणा व्याधयश्च यत् । अतस्त्वेव मैषव्यं मात्रा त्वत्त्व कनीयसी ॥ सीकुमार्याल्पकायवरासर्वाज्ञानुपसेवनात् ॥ सिम्भा एव सदा बाला घृतक्षीरनिषेवणात् । सधस्तान् वमनं तस्मात्पाय-येन्मतिमान् मृद ॥ स्तन्यस्य तृप्तं वमयेत् क्षीरक्षीरात्रसेविनम् । पीतवन्तं तनुं पेयामश्रादं घृतसंयुगम् ॥ वस्ति साध्ये विरेकेण मर्शेन प्रतिमशनम् । तुंज्याद्विरेचनादीस्तु धान्या एव यथोदिवान् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) ।

अब इसके बाद बालकों के कुछ रोग वर्णन किये जाते हैं—मस्तुलुङ्गन्त्याद्यस्य वायुस्ताल्वस्थि नामयेत् । तस्य तृड्वैदन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम् । पानाम्यक्षनयोर्योज्यं शीताभूद्देजनं तथा ॥ ४५ ॥

(तालुपात—) मस्तुलुङ्ग के लय के कारण वायु जिस (शिशु) की तालु (प्रदेश) की हड्डी को वृताता है, उस तृपा और दीनता से युक्त बालक को मधुरगण की ओषधियों से सिद्ध घी का पान और अभ्यंग कराना चाहिए और ठण्डे जल से उसको उद्देजित करना चाहिए ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—ताल्वस्थि नामयेत्—मस्तक की खोपड़ी में दो तालुएँ होती हैं—पूर्व (Anterior fontanelle) और पश्चिम (Posterior fontanelle) । इनमें पीछे की तालु; जन्म के पश्चात् शीघ्र बन्द हो जाती है। पूर्वतालु स्वस्थ बालक में षेड साल की उम्र में बन्द हो जाती है। अर्थात् षेड साल तक तालु प्रदेश में हड्डी नहीं होती। बालक के इस प्रदेश

में तैलपित्त रक्षने का रियाज है। पीछे २३वाँः सूत्र देखो।
 बचपन में जब तक तालु बन्द नहीं होती, तब तक उसकी
 स्थिति; से बालक के साधारण स्वास्थ्य का, मस्तिष्कगत
 विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है।
 प्रवाहिका, अतिसार, अनुबद्ध वमन तथा अन्य चीणता-
 जनक तीव्र विकारों में तालु में निम्नता (Depression)
 आ जाती है। आगे तालुकंटक देखो। तालु की निम्नता
 एक गभीरतादर्शक लक्षण होता है। अस्थिवक्रता
 (एक Rickets आगे ६२वें श्लोक के वक्तव्य में देखो)
 नामक रोग में तालु की अस्थियाँ देर में मिलती हैं। बड़े
 रोगियों में नाड़ी की चीणता का जो मतलब होता है, वही
 मतलब बच्चों में तालु की निम्नता का होता है।
 मस्तिष्कवर्ण शोथ (Meningitis) मस्तिष्कवर्ण (Tumour)
 इत्यादि मस्तिष्क के विकारों में तालु तनाव से युक्त और कुछ
 उन्नत होती है। सचेप में, तालुपात या तालु की अन्य
 स्थिति एक लक्षण है, जिससे बालक की विकृति का कुछ
 पता चल जाता है। तालुपात बालक की चीणता या
 स्वास्थ्य वैय्य का निदर्शक है। मस्तुलुगश्याव—तालु का
 पात बालक के अतिसार, प्रवाहिका, वमन इत्यादि शरीरगत
 जलाशय का नाश करने वाले विकारों में होता है। शरीरगत
 जल की कमी का परिणाम मस्तिष्कसुषुम्नाजल (Cerebro-
 spinal fluid) की कमी में होता है। यह जल मस्तिष्क के
 चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी
 होने से साधारण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होता है।
 अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इसका पता नहीं
 लगता, परन्तु पूर्वतालुप्रदेश में हड्डी न होने से। यह निम्न
 हो जाता है। सचेप में मस्तुलुगश्याव से मस्तुलुगश्याव
 समझना चाहिए। वायु—तालुनिम्नता का आन्तरिक
 कारण मस्तिष्कजलशय है और बाह्य कारण वायु है। वायु
 से बाह्य वायु (वातावरण atmosphere) और शरीरगत
 वायु दोष दोनों का बोध होता है (चरक का वातकलाकठीय
 अध्याय सूत्र २२)। तालु के पात में बाह्य वायु ही
 कारण है। हमारे शरीर पर बाह्य वायु का बहुत भारी
 दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दबाव होने
 के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण
 उसका ज्ञान हमें नहीं होता। शरीर में जहाँ पर कुछ
 पॉन्डान का निर्वात (vacuum) स्थिति होती है, वहाँ पर
 बाहर की वायु दबानी है। कुम्भसूत्रय में अथ पुत्रसूत्र
 भीतर से विद्युत्सूत्र फोटा हा आना है, तब बाहर की वायु
 का दबाव पड़ने से पुत्रसूत्रांतरीय स्थान भीतर घुसने हुए
 दिखाई देने हैं तथा अण्डक (हसली) के ऊपर और नीचे
 गने बन जाते हैं। मस्तुलुगश्याव में बाह्य की तालु में
 हड्डी न होने के कारण बाह्य वायु के दबाव से तालु दब
 जाती है। बाह्यवायु का ये पञ्चा मस्तिष्कजलशय होने पर
 भी इस प्रकार की निम्नता नहीं होती क्योंकि दबने समय
 स्थान श्लेषकी में नहीं होता। मस्तुलुगश्याव—जिन समय
 तालुपात होता है, उस समय रोगी की स्थिति बड़ी भयानक
 होती है। जैसे—शरीर की सूखाता, चीणता, पतियों का
 विकल्पानन, अर्धे कपेल और ज्वर भीतर घुसने हुए
 बरपड़ानी इत्यादि। शरीरगत जलाशय का नाश जिन रोगों

में अधिक होता है, उन रोगों में तालुपात होता है। अर्थात्
 जलाशय की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वभाव से ही
 अधिक प्यास मानदः होती है। मधुरके मधुर—मधुराण
 में बलकारक, जीवनीय ओषधियाँ (सुश्रुतस्थान के ४२वें
 अध्याय का २३वाँ सूत्र देखो) होती हैं। शीतल जल—
 शीतल जल का प्रयोग हीन, चीण बालक को होशियार करने
 के लिए, उसको होश पर लाने के लिए होता है। इसका
 उपयोग अधिकतर आँसों पर, चेहरे पर किया जाता है।
 अतिनाभ्यापिता नाभि स्रक्तां तुण्डिसंशिताप।
 माहृतप्तेः प्रामयेत् स्नेहस्नेदोयनाहते ॥ ४६ ॥

(नाभितुण्डि—) वायु के कारण घृही हुई, पीडा-
 युक्त तुण्डि नामक नाभि को वायुनाशक स्नेह, स्नेह और
 उपनाह से शान्त करे ॥ ४६ ॥

१ वक्तव्य—नाडीकरण की विधि पीछे ११वें सूत्र में
 तथा उसके वक्तव्य में भली भाँति वर्णन की गई है। उस
 समय सूत्र, कंचो, घस इत्यादि की सर्कारों में ऊपरवाही
 करने से श्वणयुक्त नाडी दृश्यित होती है। कमी कमी यह
 दोष नाडी के द्वारा यक्ष्म और रक्त में प्रवेश करके बामला,
 ज्वर, वमन, प्रवाहिका और जीवाणुमयता उत्पन्न करके
 बालक का नाश करता है। इसलिए, नाडीकरण के सब
 साधन अत्यन्त शुद्ध काम में लाने चाहिये। परन्तु प्रायः दोष
 इतनी दूर तक न फैलकर नाभि तक सीमित रहता है
 और नाभिपाक (Omphalitis) उत्पन्न होता है। नाभितुण्डि
 उत्पन्न होने से पूर्व प्रायः नाभिपाक होता है। इसलिए
 चरक और अष्टांगसंग्रह में प्रथम नाभिपाक का उल्लेख किया
 गया है—उत्थ नाभि २३२८ त्। १०। मस्तुलुगश्याव-
 हरिद्रावस्त्रसिद्धे तैलेनभ्यज्यात्, एषामेव तैलोपानां पूर्वोन्नाह-
 पूर्वोन्नाह। (चरक, भा. १०)। नाभि कम जोर देने से
 नाभि अधिक कमजोर होती है। इस कारण रोगी के साथ
 यदि बालक में महाबरोध, निन्दप्रसाध (निन्द ११-१०)
 और रोदनापिनये विकार हों तो उन्नतगत भार यज्ञ जाने
 से आन्त्र का कुछ हिस्सा नाभि के सिद्ध में से बाहर आने
 लगता है और नाभि प्नापित होती है। इस अवस्था को
 नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) कहते हैं। बिना
 नाभिपाक के भी महाबरोधपादि कारण आधक बाल
 तक जारी रहें तो यह विकार हो जाता है क्योंकि नाभि
 का स्थान उत्पन्नकरके के अन्य स्थानों की अपेक्षा
 स्वभावतः कमजोर रहता है। चरकसंहिता में नाभि के
 चार विकार विधे हैं—मस्तुलुगश्याव दि मस्तुलुगश्याव-
 मोतुण्डिगण्डि-नाभितुण्डि-विरिभ्यानाभिमो मधुर। इस के
 ऊपर चक्रप्राग्निवृत्त लिखते हैं—वायुको दैर्घ्यं, वायुको
 स्थिरा, ताप्यमुपुण्डिका धावाभ-वपमो पुण्डिका, दीपको ल
 मुहेल्लेः। विपदात्त परिमण्डिका, विनामिा कमोपुना
 मयपिना। विरुग्मिका मु मुकुण्डिकापि। पुत्रसूत्रसिद्धि
 मदीपेने जलवायवाव-वृत्ते तथा आरे वायव वायुपुण्डिका
 दिविकारपुण्डिकारके दो रोगो एव म उपपदि चरकरोदर-
 ये चार विकार वास्तव में चार वरगन्त विकार न होकर
 एक विकार के चार प्रकार हैं और यह विकार है नाभिगत
 आन्त्रवृद्धि। मुकुण्डि की तुण्डि चरक की आधामप्यावाम-
 तुण्डिका है। विरुग्मिका में नाभि हमेशा के लिए उभरी

हुई नहीं होती, परंतु जिस समय बालक रोता है या मल त्याग करता है, उस समय उदरगत भार बढ़ने के कारण फूलती है । बाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है । इस नाभि में सुद्रांत्र का कुछ हिस्सा आता है । बालक की आयुर्वृद्धि के साथ नाभि का आध्यात्म-व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे धीप ठीक हो जाता है । श्लेष्मेदोपनाहनः—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा । उपनाह—उपनाही बहलं लेपः दद्यात् चर्मादिभिरावृत्य न्याथियुक्त्यांगस्य बंधनम् । (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र १४) । आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को नाभिपट्ट (Umbilical belt) कह सकते हैं । इसके अलावा मलाचरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए ।

गुदपाके तू गलानां पित्तघ्नो कारयेत् क्रियाम् ।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोहितम् ॥ ४७ ॥

(गुदपाक—) बालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पित्तनाशक चिकित्सा करे । (इसमें) विशेषतः रसोत् पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—गुदपाक—सुद्रोरोगनिदान (१३वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुंद करके बालकों का एक रोग वर्णन किया गया है । गुदपाक के कारण और लक्षण और कहीं पर नहीं मिलते । इसलिए गुदकुंद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है । परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालूम होते हैं—(१) दोनों रोग बालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है । (२) वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते । (३) गुदपाक में जैसी पित्तघ्न चिकित्सा होती है, वैसी पित्तघ्न चिकित्सा गुदकुंद में भी होती है—नत्र च पित्तघ्नणजिह्वत्यते गुदकुंदके । (अष्टांगसंग्रह) । (४) अहिपूतन चिकित्सा की औषधियों में रसाञ्जन भी एक है—रसेलपत्रत्रिकलारसञ्जनविपाचनम् । पीनं घृतं नाशयति कृच्छ्रमथ्यापूतनाम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०) । इन द्रव्यों में रसाञ्जन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्थ से किया गया है । (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है । यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था । परंतु रोग बालकों का होने के कारण यहाँ पर बालकों के रोगों में संक्षेप में उसका सूत्र बताया गया है । रसाञ्जन—दारुहरिद्रा के काथ से बनाया हुआ, जो रसोत् भी कहलाता है ।

बालकों के रोग—बाल्यावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं । उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—(१) महापक्व—विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनी वस्तिशोषजः । पंचवर्षी महापक्वनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ शोखाभ्यां हृदये श्याति हृदयाद्वा गुदं त्रजेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । यह विसर्प है । इसको नवजात विसर्प (Brysiopelas neonatorum) कहते हैं । इसका प्रारम्भ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदराचरण शोथ पैदा करता है । इसी उपद्रव

से यह रोग प्राणनाशक होता है । सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश संतज विसर्प में (निदान १०) होता है । (२) दन्तशब्द—रुचाशिनो वातिकरय चालयत्यनिलः सिराः । हन्वाभ्याः प्रसृतस्य दन्तैः शब्दान् करोत्यतः ॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेपण (Grinding of teeth) कहते हैं । यह कोई महत्व का रोग नहीं है । केंचुके के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है । (३) तालुकण्टक—तालुमांसं कफः कृदः कुदते तालुकण्टकान् । तेन तालुप्रदेशस्य निद्राया मूर्धनं जायते ॥ तालुपातः स्तन-द्रोपः कृच्छ्राय पानं शक्यं द्रवम् । वृद्धिकण्ठास्यरजा व्रीडावुर्धता वसिः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । तालुकण्टक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है । बालकों की दृष्टि से इसको थशा (Thrush) कह सकते हैं । (४) क्षीरालसक—स्तन्ये मिश्रोपमलिनैः दुर्गन्ध्यामं जलोपनम् । विवेकमच्छदं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेशयते ॥ शकृन्नानाव्य-धायर्षं मूलं पीतं सितं घनम् । ज्वरारोचकवृद्धदिशुष्कोद्गारविणु-म्निकाः ॥ श्रद्धमज्ञोऽज्ञविक्षेपः कूर्जनं वेपथुर्भ्रमः । प्राणाक्षिसुखपाकाया जायन्तेऽन्येऽपि तं गदन् । क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ॥ (अष्टांगहृदय) । क्षीरालसक दूध की खराबी से होने वाली बच्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea) है । (५) शूल—स्तनं च्युदस्यते रीति चोत्तानश्चावभज्यते । उदरस्तपथा शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय) । बच्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है । ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्तपथता (कठिनता) आ जाती है । (६) उ शीर्षकम्—कपाले पवने दृष्टे गर्भस्थस्यापि जायते । सर्वर्षी नीरुजः शोफस्त विषादुपशीर्षकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७) । उपशीर्षक को शीर्षशोणार्जुदं (Cephal haematoma) कहते हैं । यह शोफपार्श्व कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से होता है । (७) उल्वकम्—गर्भाभिसामवमनात् श्मभणः कण्ठगस्थं वा । संपकारं हृदये दुष्टो मार्गानावृणुते रसः ॥ वदमुष्टिन्तो मुखोद्गो-र्गालोऽभिभूयते । हृद्रोगेनैकस्यासकालच्छदिज्वरादिभिः । उल्वके सद्य न्यापिमन्वपूर्णं च न वदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) । उल्वक को शिशवीय आक्षेप (Infantile convulsions) कहते हैं । इसका कारण मास्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्ट प्रसूति के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है । ये आक्षेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं । अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए । (८) कामला—पीतचक्षुनखमुखविण्मूत्रः कामलादितः । उभयत्र निरु-त्साहो नष्टाग्निरुधिररश्मः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय) । बालकों में कामला निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय बालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है । ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कर्णों की संख्या स्वाभाविक हो जाती है । इन अधिक कर्णों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है । (आ) पित्तवाहिनी-मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वार में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरोध होता है और कामला होती है । (इ) नाभिनाडी

के दूषित होने से—नाड़ी कल्पन में सफाई का ध्यान न रखने से कभी कभी पूषजनक जीवाणु उसमें प्रवेश करके उसी के द्वारा सीधे यकृत में प्रवेश करते हैं। यह कामला बसाध्य होती है। इसमें ज्वर भी होता है। (६) सङ्गज्वर—कभी कभी पित्तवाहिनियों की ठीक छुद्दि न होने से कामला होती है। यह रोग भी असाध्य होता है। (उ) सङ्ग किरणज्वर—माता-पिता किरण पीडित होने पर यह रोग बालक में भी चला आता है। उसको सङ्ग किरण (Congenital syphilis) कहते हैं। इसके कारण भी कभी कभी कामला होती है। इसमें बालक में सङ्ग किरण के अन्व लक्षण दिखाई देते हैं। (क) कुलज कामला (Familial Jaundice)—इसमें खानदान में कई बालक कामला से पीडित होते हैं। इसका कारण माता की विषमयता (Toxaemia) मानी जाती है। यह रोग जन्म के पश्चात् कुछ घंटों में प्रारम्भ होता है और कुछ दिनों में बालक की मृत्यु हो जाती है। (१) फक वा अरिक्केटा (Rickets)—इसका वर्णन आगे १२वें श्लोक केवक्ष्यके अन्त में किया गया है।

क्षीराहारय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकषचामा-
सीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पलीहरिद्रा-
कुपुसैन्धवसिद्धम् क्षीरात्रादाय मधुकवचापिप्पलीचि-
त्रकत्रिफलासिद्धम्, अत्रादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतग-
रमद्रदावमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्रिप्राह्मीसिद्धम् । ते-
नारोग्ययलमेधायुषि शिशोर्भवन्ति ॥ ४८ ॥ - -

(स्वास्थ्यरक्षक घृत—) दूध पीने वाले बालक को सिद्धार्थक (गौरसर्प), वचा, जटामांसी, चिरकाकोठी, अपामार्ग, शतावरी, अमन्तमूल, ब्राह्मी, पिप्पली, हस्दी, कुष्ठ और सैन्धव इनसे सिद्ध किया हुआ घृत पिलावे। दूध और अन्न खाने वाले को मुलहठी, यचा, पिप्पली, चित्रक और त्रिफला से सिद्ध (घृत पिलावे)। अश्वसेन करने वाले को दोनों पञ्चमूल, चिर, तगर, देवदारु, काठी मरिच, मुलहठी, वायविडग, मुनक्का और दो प्रकार की ब्राह्मी इनसे सिद्ध (घृत पिलावे)। इस (आयु के अनुसार बनाये हुए विशिष्ट घृत के सेवन) से बालक के स्वास्थ्य, बल, बुद्धि और आयु (की बुद्धि) होती है ॥ ४८ ॥

वक्ष्य—द्विपञ्चमूल—दशमूल, लघुपञ्चमूल और बृहस्पञ्चमूल । त्रिफला—भाड़ी और मन्दूकपर्णी, अथवा 'भाग्यी भाड़ी' नाम शकभैवि दिनाकी । (हाराणचन्द्र)।

वालं पुनर्गात्रसुखं शृङ्गीयात्, न चैनं तर्जयेत्,
सहसा न प्रतिबोधयेद्विभ्रासभयात्, सहसा नाप-
हरेदुत्तिष्ठेद्वा घातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत्
कोल्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघासुः
पचमनमिदतमनास्त्वभिबर्धते निर्यमुद्रसस्त्वसंपन्नो
नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति । वातातपचिद्युत्प्रभा
पादपलताद्यन्यागारनिस्त्रस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्भ-
होपसर्गतंश्च बाल रक्षेत् ॥ ४९ ॥

नाशुचौ धिक्जेद्वालं नाकारो विषमे न च ।

नोपामासतधर्षेण रजोभूमेदकेषु च ॥ ५० ॥

(विद्युत्पावन—) बालक को (हमेया) जिससे

उसके शरीर को सुख हो, उस तरह से उठावे। उसको धिक्के नहीं। दर उपपन्न होने के दर से उसे अचानक न जगावे। वातादि (दोषों) का प्रकोप होने के दर से उसे अचानक (दूसरे के पास से) न लौंच ले अथवा ऊँचा भी न उड़ाले। कुबड़ा होने के दर से उसे (जल्दी) न बैठावे और (बालक के स्वास्थ्य का) नाश करने की इच्छा न करने वाला प्रतिदिन सैकड़ों प्रियकर बातों से उसका अनुनय करे। इस प्रकार (बालक के साथ बरताव रखने से) वह अप्रतिहतचित्त रहकर दिन प्रति दिन बुद्धि को प्राप्त होता है और उल्टे सवसपन्न, स्वस्थ तथा प्रसन्नमन भी रहता है। बालक को जोर से बहने वाली वायु (आंधी), (कफ़ी) धूप, बिजली की चमक, घृष्ट, छटा, राग्यष्टद, (कूप, गदे इत्यादि) गहरे स्थानों, प्राणी की छुआया तथा दुष्ट ग्रहों के उपसर्ग से बचावे ॥ ४९ ॥ बालक को मंडी जगह पर, आकाश में, ऊँची नीची जगह पर, धूप, आंधी, वर्षा, धूल, धुआँ, पानी (इनसे युक्त स्थानों में) न छोड़े ॥ ५० ॥

वक्ष्य—गानधुत्व—बालक के शरीर के अंग प्रत्यंग बहुत ही कोमल और कमजोर होते हैं। अतः बालक को पकवते समय या उठाते समय जवर्दस्ती, कर्षाई या लापरवाही करने से उसकी हड्डियाँ टूट सकती हैं, जोड़ विश्लेषित हो सकते हैं, योनियाँ विदीर्ण हो सकती हैं और नादिर्वा घातित (Paralysed) हो सकती हैं। इसी के परिणाम स्वरूप में आगे चलकर हड्डियों का पच (Bone T. B.) या अगघात (जैसे, Musculo spinal nerve paralysis) होता है। कई बार मातारों क्रोध में बालक को उसके एक हाथ को पकड़कर उठाती हैं या खींचकर ले जाती हैं। बालक के ऊपर क्रोध करने की यह प्रवृत्ति सततवाक है। इससे कभी कभी उपयुक्त विकार उत्पन्न होकर बालक की जिन्वर्गी चैपट हो सकती है। माता या बालक के पालन के लिए रखे हुए किसी मनुष्य के लिए यह कर्म अनुचित है। इस प्रकार का बरताव अधिकतर अज्ञान के कारण किया जाता है। माता को अगर इसका परिणाम बताया जाय तो उससे ऐसा निर्घृण बरताव नहीं होगा। नौकरों से इस प्रकार का बरताव अज्ञान की अपेक्षा अवास्तव्य और लापरवाही के कारण होता है। उ— माता के सामान एक बार बतलाने से काम नहीं हो सक उनके साथ कर्षाई से काम लेना पड़ता है। न- तजवेद—जब बालक बहुत रोता है या श्वाता नहीं अन्य प्रकार से दिक् करता है, तब उसको गुप्त करने के हि भूतमेतपिशाचादि के नाम का या खोर, डाह, ब्याघ्र, रि इत्यादि का दर दिखाना यह एक बहुत साधारण व्यवह अल्पत प्राचीन काल से अब तक दिखाई देता है। परंतु इ प्रकार न करना चाहिए—न इत्य विश्रासनं तापु । एत तस्मिन् रुरयमुन्नाने वाज्यन्व विषेवतामगन्धवि राधसपिशा- पूतनाधानां नामान्वाधपग कुमारस्य विनाशनमर्थं नामप्रय- कर्त्तव्यम् । (चरक, भा० १०) । विनाशनमर्थं, वातादि विघातमगाद—इनका मधितार्थं निम्न तत्त्व पर निर्भर है मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में एक बात को छोड़कर सभी बातों में समता होती है और यह बात है ज्ञान— आहारनिद्राअवभेमुन च सामान्यमेव पशुभिर्नतामन् । ज्ञान इ

तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥ पशुओं में भी कुछ ज्ञान होता है और उसकी विशेषता यह है कि वह जन्म के समय में भी होता है और उतना ही मृत्यु तक रहता है। मनुष्य में जन्म के समय कुछ भी ज्ञान नहीं होता और मृत्यु के समय तक उसका ज्ञान बढ़ता जाता है। अर्थात् जन्म के समय मनुष्य और पशु की तुलना की जाय तो पशु कहीं दर्जे मनुष्य से अधिक ज्ञानी होता है परंतु उसके पश्चात् देखा जाय तो पशु पशु ही रहता है और मनुष्य मनुष्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि पशुओं का ज्ञान सहज और मनुष्यों का विकासशील होता है। इस ज्ञान का स्थान मस्तिष्क के सब से उपर के हिस्से (Cortex of the brain) में होता है। इस भाग में कई नालियाँ और कई उभार होते हैं, जिनमें ज्ञानप्राप्ति के अनेक केन्द्र और उन केन्द्रों को जोड़ने वाले तार होते हैं। शारीरिक इष्टि से विचार किया जाय तो मनुष्येतर प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में यही मस्तिष्क का भाग अधिक होता है। मनुष्यों मनुष्यों में भी देखा जाय तो पागलों की अपेक्षा ज्ञानी मनुष्यों में यही भाग अधिक प्रगल्भ रहता है। संपूर्ण शरीर के कार्यों का नियन्त्रण मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्कगत केन्द्रों और तत्संबंधित तारों के कार्यों का विकास वाह्य परिस्थिति, शिक्षा, संस्कार इत्यादि पर निर्भर होता है। वचपन में अगर किसी बात के लिए डर पैदा किया जाय तो आगे चलकर उस बात का डर निकल जाने पर भी उसमें डरपोकघृत्ति, चित्तवैकल्य उत्पन्न होता है। संक्षेप में वचपन में बालक के साथ कोई ऐसा व्यवहार न करना चाहिए, जिससे कि उसके कोमल अविकसित मस्तिष्क पर अचानक जोर से प्रतिक्रिया हो। मस्तिष्क के ऊपर प्रतिक्रिया होने के साधन पंचज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके अर्थों में अध्वानक तीव्र भेद उत्पन्न होने से बालक के मस्तिष्क के ऊपर बुरा असर होता है और वह स्थायी बन जाता है। इसलिये, बालक को अचानक जगाना, ऊपर फेंकना, नीचे गिराना, भास्वर रूपों को दिखाना, इत्यादि कर्म न करने चाहियें। इनसे बालक के मस्तिष्क के विकास में कुछ खराबी हो जाती है। नोपवेशयेत् कौञ्च्यभयात्— बालक का पृष्ठवंश जब तक काफी मजबूत नहीं हुआ है, तब तक उसको जवर्दस्ती बैठाना उचित नहीं है। पृष्ठवंश कमजोर होने पर बैठाने से वह बक्र हो जाता है। यह एक उपलक्षण समझकर चलाने के बारे में भी इस सूत्र का उपयोग कर सकते हैं। जैसे, जब तक बालक के पैरों में शक्ति नहीं आती, तब तक उसको जवर्दस्ती पैरों पर न चलाना चाहिए, वरना तलुवे सपाट (Flat foot) होने का डर रहता है। अष्टांगसंग्रह में पाँचवें महीने में बालक को बैठाने के लिए लिखा है—पश्चमे मासि पुण्येऽङ्घ्रिण्यामुपवेशयेत् । स्वाहेति मन्त्रेणानेन प्रत्यहं च ततः परम् । साग्र्यं सवलम्बं च कट्यादीन् मर्दयेदनु ॥ (उत्तर १) । बालक को बैठाने के नियम निम्न होते हैं। बालक को प्रतिदिन थोड़ी देर बैठाया जाय, रोगी बालक को न बैठाया जाय, अकेला न बैठाया जाय, बैठाने का स्थान मृदास्तरणादि से युक्त हो, उसके आस-पास शस्त्रतोयाग्नि इत्यादि न हो इत्यादि । काश्यपसंहिता में इसका बहुत उत्तम वर्णन

दिया है। वहाँ पर पाँचवें के बदले छठे महीने में उपवेशन-विधि करने के लिए लिखा है—यद्ये मासि पुण्याहेऽभ्यर्च्य देवतां, द्विजांश्च भोजनेन संतर्प्य दक्षिणाभिः स्वस्ति वाच्य च, गृहमध्ये वास्तुमध्ये वा शुची देशे गोमयेनाग्निश्च चतुर्हस्तमात्रं स्थण्डिल-मुपलप्य मण्डलं चतुरस्रं वा.....ततस्तं मण्डलमध्ये तथैव खातमलङ्कृतमहत्वात्ससं कुमारं प्राहमुखमुपवेशयेन्मुहूर्तम् । सोपा-श्रयास्तरण्योपेतायां भूमौ प्रतिदिनमभ्यासार्थं सङ्कतुपविशेदिति । तत्र श्लोकाः—उपलिते शुची देशे शस्त्रतोयाग्निवर्जने । उपविष्टं सङ्कचैनं न चिरात्स्वापपेद शुभैः । स्तैमित्यं कटिदौर्बल्यं पृष्ठभङ्गः धमो ज्वरः । विण्मूत्रानिलसंरोधाध्मानं चात्युपवेशनात् । आमीनत्याग्निवालस्य सततं भूमिसेवनात् । आसन्नान्येव दुःस्नानि निर्यातं गात्रभेदनम् । निर्घाताञ्जर्जराङ्गत्वं वेदना ज्वरसंभवः । ततो न वृद्धिर्वालस्य कठोराङ्गत्वमेव च । तस्मान्नातंतिरं नैको न शनो न च रोगितः । उपवेश्यो भवेद्बालो नापुण्याहङ्कनादिकः ॥ (जातकर्मोत्तराध्याय) । अजिघांसुः—स्वास्थ्यमजिघांसुः । बालक के स्वास्थ्य का नाश न करने की इच्छा रखने वाला। हिंसा या घात का संबंध बालक की मृत्यु के साथ नहीं है। यह आलंकारिक शब्द है। इसका अभिप्राय यह है कि जो उपर्युक्त सूचनाओं के अनुसार बालक के साथ वर्तान्न नहीं करता, वह बालक के स्वास्थ्य का नाश करता है याने एक दृष्टि से वह बालक की हिंसा करने वाला होता है। जैसे कि—गृथकशय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते । 'अजिघांसुः' यह माता का, धात्री का या बालक के लिए रखे हुए नौकर का विशेषण है—अजिघांसुरिति अहन्तुमिच्छुः सन् बालप्रापक इति शेषः । (दृक्लक्षण) । इसी को कुमारधार कहते हैं—अभियुक्तः सूदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः । कुमारधारः कर्णव्यस्तत्राघो बालचित्तवित् ॥ अध्यामिकं दुराचारः स्थूलो विकटगामिनम् । करोति लोछुषो बालं घस्मरत्वेन रोगिणम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसमें 'तत्राघो बालचित्तवित्' यह विशेषण बहुत महत्व का है। इसका अभिप्राय यह है कि कुमारधार बालस्वभाव को जानने वाला हो और उसके साथ इस प्रकार का बरताव करे कि बालक के मन पर चाँट न पहुँच जाय। साथ ही साथ उस बरताव से बालक को कोई बुरी आदत न लग जाय और कोई बुरी आदत (असाल्म्य) हो तो धीरे धीरे छूट जाय। यही तत्त्व 'नित्यं चैनमनुवर्तत प्रियशतैरजिघांसुः' इस सुश्रुत के वचन में और निम्न चरक के वचन में पर्याय से बताया गया है—अरोगे त्वरोगवृत्तमातिष्ठेदेशकालात्मगुणविपर्ययेण वर्तमानः, क्रमेणा-साल्म्यानि परिवर्त्योपयुजानः सर्वोप्यहिनानि वजंयेत् ॥ (चरक, शा० ८) । दुर्ग्रहोपसर्गतश्च—स्कन्दादि बालकों के जो नवग्रह होते हैं, उनके उपसर्ग से। स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च । शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूताना ॥ पूतना शीतनामा च तथैव मुखमण्डिका । नवमो नैगमेपश्च यः पितृग्रहसंज्ञितः ॥ (उत्तर ७) । इनका उपसर्ग होने के कारण—धात्रामात्रोः प्राग्प्रदिष्ट्याप-चाराञ्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान् । वस्तान् हर्षास्तंजितान् ताडितान् वा पूजाहेतोर्हिस्तुरेते कुमारान् ॥ (उत्तर २७) । शूलिनेति नियुक्तास्ते बलिपूजाभिकाक्षिणः । क्रद्धान् भोतान् विमनसः शून्यस्थानेकचारिणः ॥ बालान् कश्मलधात्रीकान् संघ्यासु रदतो-ऽशुचीन् । ऋक्षोष्कविबालादिरूपैरन्यैस्तथादभुनैः ॥ सन्नासयन्तः शयितान् कदाचिज्जायतोऽपि वा । प्रायः पर्वसु गृहन्ति ग्रहा-

शिशुप्रहारिणः ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर ३) । अर्थात् स्कन्दादि दुर्मतेषाम् से बालक की रक्षा करने का मार्ग इन श्लोकों में वर्णन की हुई सूचनाओं के अनुसार बालक का पालन है । शल्यनागर—इसका निषेध इसलिये किया गया है कि शून्यस्थान में बालक को रखने से स्कन्दादि ग्रहों का उपसर्ग हो जाता है । नागुनी—बालक जहाँ पर रक्खा जाय या जहाँ पर खेले, वह भूमि वैसी होनी चाहिये इसके सम्बन्ध में अष्टांगसंग्रह में लिखा है—श्रीधाम्निः समा कार्या निरक्षो-पन-सुरंग । श्लेषकर्मगमोभिः सिक्ता निम्नोदकेन वा ॥ क्रीडा-भूमि पर कङ्कड़, पत्थर इत्यादि पदार्थ होने पर उनको बालक को चोट लग सकती है या बालक उठके उनकी मुख में डाल सकता है । इसलिये भूमि इनसे विरहित होनी चाहिये । धूलियुक्त भूमि होने से बालक का शरीर और कपड़े खराब हो जाया करते हैं तथा मिट्टी खाने का भी दर होता है । ओषधि-द्रव्यों के पानी से भूमि सिक्त करने पर ये दोष दूर हो जाते हैं । नाकयै—ऊँचा स्थान अथवा जहाँ पर कुछ भी आधार न हो, ऐसा स्थान—सोपाप्रथमस्तरणोपेत्याम् भूमौ उपविशेरिति । (कारयपसंहिता) । सुश्रुत में जिनका उल्लेख नहीं है, उन बातों का बच विचार किया जाता है । क्रीडनक-वर्षा के खिलौने के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—क्रीडनकानि षड् कुमारेण विविधाणि षोडशमयमिरामाणि चाग्रस्य चतुर्विंशत्यग्रिणि चाना-र्यप्रवेशानि नामाण्यग्रिणि चात्रिंशत्सामानि स्युः (शारीर ८) । अग्निव्यापन मवाशारिमहान्यमथना फलम् । (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १) । अष्टांगसंग्रह में बालक के पालन में निम्न श्लोकार्थ मिलता है—रक्षणात् परस्परं पालनेष्वनन्तम् । यस्यापामु मुषादिषु वक्ष्यन्तम् । (इन्द्र) । अनेक लोगों को सोते समय सुख पर बख ओढ़कर सोने की आदत होती है । यह आदत बहुत खराब है क्योंकि इसमें श्वास-प्रवास के लिये स्पर्श हवा नहीं मिल सकती । यदि आदमी में इस आदत से अधिक दुकसान होने का दर नहीं रहता, क्योंकि दम घुटते ही नींद में भी यह सुख के ऊपर के कपड़े को दूर कर सकता है । बच्चों में सुख पर बख गिरने पर दम घुटके मरने का दर रहता है क्योंकि वे स्वयं बख को दूर करने में असमर्थ होते हैं । इसलिये जाग्रतावस्था में बालक के सुख पर बख गिर जाय तो उसको षट से दूर करना चाहिये तथा निद्रितावस्था में उसके सुख पर बख कदापि भी न डालना चाहिये । जाग्रतावस्था की अपेक्षा निद्रितावस्था में सुखाच्छादन में अधिक पतला होता है क्योंकि बालक के निद्रित होने के कारण बहुत देर तक उसके शरक कोई नहीं देपना और निद्रितावस्था में बालक निश्चल होने के कारण श्वाभावरोध होने की सम्भावना होती है । इसका विशेष निर्देश करने का कारण यह है कि मनुष्यों या मन्थियों से बचाने के लिये कई मातार्य बालक निद्रित होने पर उसको पूर्णतया बख से आच्छादित करती है । मनुष्यरहित से बचाने का उत्तम मार्ग महाहरी है, बालक को पूर्णतया बख से आच्छादन करना नहीं है । परस्परं—पर से उन लोगों का बोध होता है, जो बालक के श्वास्थ्य के नाशक होते हैं याने (ब्याट) । इसमें बालकरोषी और ओढरो का समावेश कर सकते हैं । बालकरोषी लोगों के

स्पर्श से नजर लगने का दर रहता है । नजर लगने की घटना पर किसी का विश्वास हो या न हो, यह घटना होती है, इसमें मन्देह नहीं । जिनका विश्वास नहीं, वे दूसरी तरह से उस घटना का अर्थ करने की कोशिश करते हैं । बालक का नीकर या घात्री किस प्रकार के होने चाहिये, इसका विवरण पीछे बहुत कुछ हो चुका है । इस प्रकार के स्वच्छ और उत्तम आचार के अन्वय नीकर नहीं हो सकते । इनके स्पर्श से बालकों में सुखी, छाजन इत्यादि अनेक रक्वा के रोग, आँवों के रोग, ज्वर, एरिब, छिमि इत्यादि उपद्रव तथा गुहागों के (Venereal) रोग हो जाते हैं । इसलिये किसी अशक्त मनुष्य के पास बालक को न देना चाहिये । लजिना—लंघन से यहाँ अपतर्पण या हीन मात्रा भोजन अभिमत है । बालक में प्रतिपूर्ति के अलावा घातुहृदि बहुत होती है । इसलिये उसको सतर्पण या बृंहण करना चाहिये—इत्येव स्विकारालक्षणात् । (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४) । अर्थात् बालक बृंह होता है । स्वस्वाधरथा में उसको पर्याप्त मात्रा में पीष्टिक अन्न देना चाहिये । जब बालक रोग पीडित हो जाता है, तब अपतर्पण या लडुन की आवश्यकता होती है । उत समय लडुन कराने में कोई आपत्ति नहीं (पीछे ४४ वें प्रथम श्लोकार्थ का वक्ष्य्य देखो) । परन्तु उसकी उपयोगिता देखकर लडुन करना चाहिये—इदंशु घृष्ट लक्ष्येव । युक्त्या वा देवक्यादितस्तत्सामुपाचारे ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४) ।

शोरस्ताम्यतया शोरमाजं गन्धमथापि वा ।
दद्यादास्तन्यपयतिर्यालानां घोषय मात्रया ॥ ५१ ॥
(स्तन्याभावे देने योग्य दूध—) (माता का या घात्री का स्तन्य न मिलने पर बालकों को) स्तन्य साध्य होने के कारण बकरी का अथवा गौ का दूध स्तन्यपयति तक मात्रा के अनुसार देवे ॥ ५१ ॥

वक्ष्य्य—इस श्लोक में माता का या घात्री का दूध न मिलने पर जिसका दूध बालक को देना चाहिये, इसका निर्देश किया है । चरकभाचार्य के इस विषय के संबन्ध में निम्न श्लोक लिखते हैं—स्तन्याभावे पयदागं गन्ध वा लक्ष्य्य विवेद । (उत्तर १) । यह स्थाकार्य सुश्रुत श्लोक के उत्तरार्थ के साथ योक्त-सा फक करके निम्नलिखित प्रकार से मिलाया जाय तो हृत्प्रिम दुग्धपान (Artificial feeding) के सब संशय में वर्णन करने वाला एक सुन्दर श्लोक बनता है—स-यामने पयदागं गन्ध वा लक्ष्य्य पयदा । दद्यादास्तन्यपयतिर्यालानां घोषय मात्रया ॥ शोरस्ताम्यतया—शोरस्ताम्य के दो कारण बताये जाते हैं—
(१) मधुर विचित्रं हीनं क्षिब्धं क्लृप्तं सारं घृष्टं । सर्वमाद्युर्गं
(सूत्र ४०) । (२) अन्त-
(३) अन्त-
(४) अन्त-
(५) अन्त-
(६) अन्त-
(७) अन्त-
(८) अन्त-
(९) अन्त-
(१०) अन्त-
(११) अन्त-
(१२) अन्त-
(१३) अन्त-
(१४) अन्त-
(१५) अन्त-
(१६) अन्त-
(१७) अन्त-
(१८) अन्त-
(१९) अन्त-
(२०) अन्त-
(२१) अन्त-
(२२) अन्त-
(२३) अन्त-
(२४) अन्त-
(२५) अन्त-
(२६) अन्त-
(२७) अन्त-
(२८) अन्त-
(२९) अन्त-
(३०) अन्त-
(३१) अन्त-
(३२) अन्त-
(३३) अन्त-
(३४) अन्त-
(३५) अन्त-
(३६) अन्त-
(३७) अन्त-
(३८) अन्त-
(३९) अन्त-
(४०) अन्त-
(४१) अन्त-
(४२) अन्त-
(४३) अन्त-
(४४) अन्त-
(४५) अन्त-
(४६) अन्त-
(४७) अन्त-
(४८) अन्त-
(४९) अन्त-
(५०) अन्त-
(५१) अन्त-
(५२) अन्त-
(५३) अन्त-
(५४) अन्त-
(५५) अन्त-
(५६) अन्त-
(५७) अन्त-
(५८) अन्त-
(५९) अन्त-
(६०) अन्त-
(६१) अन्त-
(६२) अन्त-
(६३) अन्त-
(६४) अन्त-
(६५) अन्त-
(६६) अन्त-
(६७) अन्त-
(६८) अन्त-
(६९) अन्त-
(७०) अन्त-
(७१) अन्त-
(७२) अन्त-
(७३) अन्त-
(७४) अन्त-
(७५) अन्त-
(७६) अन्त-
(७७) अन्त-
(७८) अन्त-
(७९) अन्त-
(८०) अन्त-
(८१) अन्त-
(८२) अन्त-
(८३) अन्त-
(८४) अन्त-
(८५) अन्त-
(८६) अन्त-
(८७) अन्त-
(८८) अन्त-
(८९) अन्त-
(९०) अन्त-
(९१) अन्त-
(९२) अन्त-
(९३) अन्त-
(९४) अन्त-
(९५) अन्त-
(९६) अन्त-
(९७) अन्त-
(९८) अन्त-
(९९) अन्त-
(१००) अन्त-

होता है। सात्म्य वस्तु वह हो सकती है, जिसका संगठन शरीर के संगठन के साथ मिलता है। दूध एक ऐसा पदार्थ है कि जिसका संगठन शरीरसंगठन के साथ पूर्णतया मिल जाता है (सूत्रस्थान ४६ के ४६ वें सूत्र का वक्तव्य तथा ४६ के ५२४ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), इसलिए दूध सात्म्य है। परन्तु केवल संगठन से सात्म्यता का विचार पूरा नहीं हो सकता, उस वस्तु की भौतिक स्थिति का और पचनीयता का भी सवाल आता है। जैसे, लड्डू और रोटी जवानी में सात्म्य होने पर बालक के लिए सात्म्य नहीं हो सकते (सूत्रस्थान ४६ के ४९४ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), क्योंकि इनका रासायनिक संगठन ठीक होने पर भी बालक न इनको सेवन कर सकता है, न हजम कर सकता है। दूध पानी के समान पतला होने के कारण प्रथम दिन का बालक तक उसको सेवन कर सकता है तथा तद्गत प्रोथीजिनादि अवयव इस कदर सूक्ष्म कणों के रूप में उसमें मिले हुए होते हैं कि उनके पचन में बालक के पचनसंस्थान को किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती है। इसलिए दूध सब दृष्टि से विचार करने पर भी सात्म्य होता है। आनं गन्धमयापि वा—आयुर्वेद में अष्टविध दूध (सूत्र ४५ का ४७ वाँ श्लोक देखो) पीने के काम के लिए योग्य बताया गया है। आधुनिक काल में गधी के दूध का समावेश इसी में कर सकते हैं। इस तरह नवविध दूध हो जाता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में गधा गुण ग्रहण के लिए योग्य—ब्रविश्रान्तं वहेद्भारं शोतोष्णं न च विन्दति। ससन्तोषस्तथा नित्यं त्रीणि शिञ्जेत गर्दभात् ॥ (चाणक्य)—मानने पर भी मंदबुद्धि और अपवित्रता के कारण दुग्धग्रहण के लिए योग्य नहीं माना गया था। अतः पीने के दूध में गधी के दूध का समावेश नहीं माना गया है। प्रलेपादि में इसका उपयोग किया जाता है (सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय के ४७ वें श्लोक के वक्तव्य में डरहण का वचन देखो)। इसमें संदेह नहीं कि गधी के दूध का संगठन स्त्री के दूध के साथ औरों की अपेक्षा अधिक मिलता है (सूत्र ४५ के ४९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। अष्टविध दुग्धों में गौ, भैंस और बकरी का दूध सब को मिल सकता है। इनमें भैंस का दूध अत्यन्त गरिष्ठ होने के कारण बालक के लिए अयोग्य है। इसलिए गौ का और बकरी का ही दूध देने योग्य रह गया। आस्तन्यपर्याप्तेः—यावत् स्तन्यस्य पुनः पर्याप्तिः परि समन्ततो-भावेन प्राप्तिर्भवति, अथवा यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता तावदित्यर्थः। (डरहण)। स्तन्याभाव के मुख्य दो कारण होते हैं—नित्य और नैमित्तिक। नित्य में माता की मृत्यु प्रधान है। इसके सिवा काम्य और निपिद्ध भी दो नित्य के प्रकार होते हैं। जब माता स्वस्थ होने पर भी बालक को पिलाना नहीं चाहती, तब वह काम्य परन्तु नित्य स्तन्याभाव हो जाता है। जब माता राज्यध्मा, कुष्ठ, फिरंग इत्यादि शरीररक्षक रोगों से पीडित होती है, तब स्तन्यपान का निषेध होता है। इसको निपिद्ध और नित्य स्तन्याभाव कह सकते हैं। जब माता बालक को पिलाती है, परन्तु बीच में लंबन, उपवास, ज्वर या अन्य विकारों से पीडित होने के कारण नहीं पिला सकती, तब उस स्तन्याभाव को नैमित्तिक कहते हैं। डरहणवचन के प्रथमार्ध में इस नैमित्तिक स्तन्याभाव

की दृष्टि से अर्थ किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी निमित्त से माता का स्तन्य बंद हो जाय, तब उस समय बच्चे को गौ या बकरी का दूध पिलावे और जब स्तन्य पूर्ववत् आने लगे, तब बाहर का दूध देना बंद किया जाय। अभाव में अल्पता (Deficiency) का भी समावेश होता है। अगर माता का दूध पर्याप्त न हो तो कमी की पूर्ति गौ या बकरी के दूध से (Mixed breast and bottle feeding) की जाय। इस बीच में दूध बढ़ाने की कोशिश करने पर अगर दूध बढ़ जाय तो गौ का दूध बंद कर सकते हैं। अगर दूध न बढ़ा तो यही मिश्र दुग्धपान की परम्परा स्तन्यापनयन (Weaning) तक जारी रखी जाय। यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता यावत् स्तन्यपानस्योपयोगिता, श्रावश्य-कता वा। माता बालक को कब तक स्तन्यपान करावे, यह एक बड़ा महत्त्व का प्रश्न है। इस प्रश्न का विचार माता और बालक दोनों की ओर से करना चाहिए। अगर दोनों स्वस्थ हों तो इस प्रश्न का विचार निम्न प्रकार से करना चाहिए। दूध जिन्दगी भर का आहार नहीं है। बाल्यावस्था में एक काल तक वह पूर्णाहार होता है। उसके पश्चात् कुछ काल तक वह आंशिकाहार होता है और उसके पश्चात् वह गौणाहार होता है। बाल्यावस्था में अन्नसेवन न करने का कारण पचनसंस्थान का अन्न सेवन और पचन करने का असामर्थ्य है। यह असामर्थ्य अधिकतर दाँतों के न होने से होता है। जब दाँत आने लगते हैं, तब धीरे धीरे बालक को अन्न का कुछ अंश दिया जाता है और दूध की राशि कम की जाती है—अथैन जातदशनं क्रमशोऽनयेत् स्तनात्। पूर्वाक्तं योजयेत् क्षीरमन्नं च लघु बृहणम्। भजेथथा यथा चान्नं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। इसका साधारण काल नौ महीने का होता है। स्तन्य के द्वारा बालक माता के शरीर का शोषण करता है। जब तक माता स्वस्थ होती है, तब तक वृंहण आहार-विहार से इस शोषण की पूर्ति की जाती है, परन्तु जब माता अस्वस्थ हो जाती है, तब वह पर्याप्त मात्रा में आहार सेवन नहीं कर सकती तथा स्तन्यशोषण के कारण उसका स्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है। इसलिए यदि माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो कुछ पहले स्तनपान बंद करना उचित है। इसका औसतकाल छः महीने का समझ सकते हैं। जब बालक अस्वस्थ रहता है, तब उसके लिए बाहरी दूध की अपेक्षा माता का दूध अधिक हितकर होता है। इसलिए बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ पीछे स्तनत्याग करना उचित है। इसका औसतकाल एक साल का होता है। संक्षेप में बालक की आयु नौ महीने की होने पर उसको स्तनपान से दूर करना चाहिए। अगर इस के पहले से माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो बालक नौ महीने का होने से पूर्व उसको दूर करना उचित है। अगर स्तनत्याग करने के समय बालक का स्वास्थ्य खराब हो जाय तो उस समय स्तनत्याग न करके उसका स्वास्थ्य अच्छा होने के बाद स्तनत्याग करना चाहिए। एक बरस की उम्र के पश्चात् स्तनपान जारी रखना किसी हालत में ठीक नहीं है क्योंकि उस आयु में बालक को कुछ अवल आने लगती है, जिसके कारण स्तनपान उसके लिए सुधानिवारण का उपाय न

रहकर एक व्यसन बन जाता है और उसके बाद उसको स्तनपान से निवृत्त करने में कठिनाई होती है। आयुर्वेद में स्तनपान का जो काल दिया है, वैसे ही काल पाश्चात्य बालचिकित्सक बताते हैं—A child should be weaned at nine months Weaning should be gradual Ten Teacher's Misadventure Wean at a year old, or as soon as a child has teeth enough to make a good beginning at mastication. *Esoteric Anthropology* इस विषय का कुछ अधिक विवरण आगे के सूत्र के प्रसंग में किया गया है। मातृ-ज्वर तक बालक माता का या धात्री का दूध पीता है, तब तक मात्रा का उतना सवाल नहीं उठता, परन्तु जब गौ का दूध दिया जाता है, तब मात्रा का अधिक ख्याल रखना पड़ता है। मात्रा का विचार दो प्रकार से करना पड़ता है—प्रत्येक समय की मात्रा और दिन-रात की मात्रा। प्रत्येक समय की मात्रा जठर की समाई के बराबर या उससे कुछ कम होनी चाहिए। बालक के जठर की समाई प्रथम दिन एक आंस (वाई तोला), दो सप्ताह पर दो आंस, एक महीने पर दार्वे आंस, तीन महीने पर साढ़े चार आंस, चौथे महीने पर पाँच आंस, पाँचवें महीने पर साढ़े पाँच आंस, छठे महीने पर छह आंस, सातवें महीने पर साढ़े छह आंस, आठवें महीने पर सात आंस, नौवें महीने पर साढ़े सात आंस, दसवें महीने पर आठ आंस, बाराहवें महीने पर साढ़े आठ आंस, और बारहवें महीने पर नौ आंस होती है। अर्थात् प्रत्येक समय आयु के अनुसार इतना दूध बालक को पिलाना जा सकता है। इससे अधिक बढ़ाएँ भी न पिलाना चाहिए। दिन रात पिलाने का साधारण नियम यह है कि प्रथम महीने में प्रत्येक दो घंटे के बाद और कुल पान दस, दूसरे और तीसरे महीने में दार्वे दार्वे घंटे के बाद और कुल पान (Feeds) आठ, चौथे और पाँचवें महीने में प्रत्येक तीन तीन घंटे के बाद और कुल पान सात, छठे और सातवें महीने में प्रत्येक साढ़े तीन घंटे के बाद और कुल पान छह, और इसके बाद प्रत्येक चौथे घंटे के बाद और कुल पान पाँच पाँच दिये जाय। यह साधारण नियम बताया गया है। बालक की पचनशक्ति, शक्ति और उपचय देखकर इसमें न्यूनताधिकता करनी चाहिए।

शून्य के अभाव में किन्ना दूध दिया जाय ?—यहाँ पर गौ का या बकरी का दूध देने के लिए कहा है। आयुर्वेद में गौ का दूध सर्वश्रेष्ठ माना गया है—गोचरं चोरा-वां प्रथमम् (चरक, सूत्र २६)। गन्ध और रस श्रेष्ठम् (सुश्रुत, सूत्र ४६)। न द वाच्यं मधु (अष्टांगहृदय, अध्यायसप्तम)। इसीलिये यद्यपि वाग्भट तथा सुश्रुत में गौ के दूध के पहले बकरी के दूध का उल्लेख आया है तथापि वह प्राधान्य ख्यापनाथ न होकर धनदानुरोधार्थ है। स्तन्यामास में प्रथम गौ का ही दूध देना चाहिए। अगर गौ का दूध न मिल सके या दूधिता के कारण उसको प्राप्त न कर सके तो बकरी का दूध प्रयोग में ला सकते हैं। इसके अलावा जब बालक की पचनशक्ति शीघ्र होती है तथा अतीव प्रवाहिकता उपद्रव होते हैं; तब गौ के दूध की अपेक्षा

बकरी का दूध फायदेमन्द होता है। ऐसी कोई कठिनाई या आवश्यकता न हो तो हमेशा गौ का ही दूध बालक को देना चाहिए। पाश्चात्य देशों में भी बालक के लिए गौ के दूध का ही उपयोग किया जाता है।

दूध किस प्रकार से दिया जाय ?—माता के दूध का मुकाबला अन्य किसी दूध से नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभाव से बालक के लिए ही उत्पन्न किया गया है तथा बालक की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें दिन प्रतिदिन और मासानुमासिक फर्क होता जाता है। यह कथन प्रत्येक जाति के सस्तन प्राणि के लिए लागू है। इसीलिये एक जाति के सस्तन प्राणी का दूध दूसरी जाति के सस्तन प्राणी के लिए पूर्णतया भुआधिक नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न होती हैं। तथापि सब जातियों के प्राणियों का दूध बच्चों के पोषण के लिए ही उत्पन्न किया गया है, यह बात सब जातियों के दूधों की सामान्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है और इसी सामान्यता के आधार पर मानुस्तन्याभावे दूसरे जाति के प्राणी का दूध उपयोग में लाया जाता है। गौ का दूध तमाम सस्य भर में बालक के लिए प्रयुक्त होता है। भारतवर्ष में तो गौ माता ही मानी जाती है। अब सवाल यह है कि गौ का दूध बालक को किस तरह से दिया जाय ? इसका उत्तर वाग्भट-चार्य देते हैं—वदुष्य विभेत्। तदुष्यम्—प्राचीन और अर्वाची काल के अनुसार इसके मिश्र भिन्न अर्थ कर सकते हैं—(1) प्राचीन काल के अनुसार वाग्भटचार्य के श्लोकार्थ का स्पष्ट करण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—मातृस्त-याभावे गन्धमा वा दुष्य वदुष्य (मातृस्त-वगुय) अनल्पत विभेत्। माताः दूध न मिलने पर उसके दूध के समान गुण का गौ का बकरी का दूध सेवन किया जाय। अर्थात् प्राचीन कल्प के अनुसार गौ का दूध गुण की दृष्टि से माता के दूध समान होता है। बच्चे को देते समय उसमें कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती (Whole milk undiluted and unaltered) यही इसका मतलब आधुनिक कल्प के अनुसार निकलता है। वाग्भटचार्य इस दूध में घृतलवण ओषधियों का उपयोग करने लिए देते हैं—स्त-यामा पचस्त्राय गन्ध वा वदुष्य विभेत्। वृक्षे तिस्र वृक्षलवणैः स्थिरान् वा तिस्रगुणम् ॥ (उत्तर १)। तदुष्य का अर्थ टीकाकार नि प्रकार से करते हैं—श्लेष्म-यामाव वदुष्यमिति पूर्वोक्तय र्त् स्त-वक्ष्य संवीरकारदिभिर्गुणैः सद्गुणम्। (इन्द्रु)। स्थान्यसामां सति द्वाग पयो गन्ध वा द्वागवदुष्यगुण विभेत्। द्वागसमानगुण गन्ध स्वाद्यप्याह। हृत्वेनेत्यादि। (अष्टांगसूत्र)। इसमें अष्टांग का अर्थ बिलकुल गलत है, उसका विचार करने का कारण नहीं है। इन्द्रु के करने का तात्पर्य यह है कि माता के उच्छ दूध के जो लक्षण पीछे ३३ में सूत्र में वर्णन किये गये हैं उन लक्षणों से युक्त पाने अदुषित दूध। इस प्रकार का अर्थ उपर जो अर्थ दिया है उससे विरोधी नहीं है। (२) अर्वाचीन कल्पना के अनुसार उक्त श्लोकार्थ का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—मातृस्त-याभावे गन्धमान वा दुष्य वदुष्य इति विभेत्। आधुनिक काल में रसायनशास्त्र की उन्नति होने पर मिश्र मिश्र प्राणियों के दूधों का भी प्रयोजन होने लगा। इससे मातृम दुष्ठा कि यद्यपि दूध का सामान्य संगठन १९

होता है तथापि उसके उपादानों की मात्रा प्रत्येक प्राणी के दूध में भिन्न भिन्न (क्षीरवर्गों में संगठन की तालिका देखो) हुआ करती है और यह अवयवमात्राभिन्नता प्रत्येक जाति के प्राणी की आवश्यकताएँ विभिन्न होने के कारण रक्खी गई है । अगर एक जाति के प्राणी का दूध दूसरी जाति के बालक के लिए उपयोग में लाना हो तो इस भिन्नता को दूर करना चाहिए, यही इससे अर्थ निकलता है । इसलिए अन्य प्राणियों का दूध बालक को देते समय उसमें इस तरह परिवर्तन किये जाते हैं कि उसके अवयवों की मात्रा स्त्री-दूध के समान हो जाय । प्रस्तुत गौ के दूध का ही विचार करना है । इसलिए यहाँ पर स्त्री के और गौ के दूध के भेद प्रथम वर्णन किये जाते हैं ।

गौ के और माता के दूध में भेद—(१) माता का दूध बालक को शरीरताप (Body temperature) पर मिलता है, जिसके कारण उनको गरम करने में या ठंडा करने में बालक की शक्ति खर्च नहीं होती । गौ का या अन्य प्राणी का दूध इस प्रकार नहीं मिलता । (२) माता का दूध, बाह्य जगत् का संबंध न होकर, सीधा बालक के शरीर में चला जाता है । गौ का दूध हवा, पात्र, हाथ इत्यादि से बहुत देर तक संबंधित रहता है । इसलिए माता का दूध अदूषित स्थिति में बालक को मिलता है; गौ का इस प्रकार नहीं मिल सकता । यही कारण है कि माता का दूध जीवाणुरहित और गौ का दूध जीवाणुयुक्त रहता है । (३) माता के शरीर में अनेक रोगों के लिए जो क्षमता होती है, उसका भी कुछ अंश स्तन्य के द्वारा बालक को मिलता है । गौ के दूध से इस प्रकार का लाभ नहीं होता । (४) माता का दूध बालक के शरीर में स्वाभाविक स्थिति में जाता है । उसमें कोई कृत्रिम परिवर्तन नहीं होता । इसलिए उसकी पौष्टिकता अप्रतिहत रहती है । गौ का दूध स्वाभाविक स्थिति में नहीं मिलता । इसलिए उसकी पौष्टिकता कुछ घटिया होती है । (५) माता के दूध की अपेक्षा गौ के दूध में कुल प्रोभूजिनों की राशि दुगुनी होती है । इसके सिवा माता के दूध में दुग्धशुद्धि (ल्याक्टाल्ब्यूमिन) की राशि गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी होती है और किलाटी (क्यासिनोजन) की राशि केवल 1/2 होती है । प्रोभूजिनों के प्रकारों की राशि का यह भेद पचन की दृष्टि से विशेष महत्व का है । किलाटी (क्यासिनोजन) पचने में कठिन होती है और वही गौ के दूध में अधिक रहती है और दुग्धशुद्धि (ल्याक्टाल्ब्यूमिन) पचन में हलकी रहती है और वही कम रहती है । (६) दुग्धशर्करा की राशि माता के दूध में गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी के करीब होती है । इसलिए माता का दूध गौ के दूध की अपेक्षा अधिक मीठा होता है और बालक भी उसको गौ के दूध की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है । (७) माता के दूध की प्रतिक्रिया क्षारीय और गौ के दूध की अम्ल होती है । (८) स्नेह की राशि यद्यपि दोनों में एक-सी होती है तथापि माता के दूध का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा सूक्ष्मतर 'कणों' के रूप में दूध में फैला रहता है । इस कारण माता के दूध का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा सुपाच्य और 'सुशोष्य' रहता है । (९) माता के दूध में खनिज द्रव्य की राशि गौ

के दूध की अपेक्षा कम रहती है । आधुनिक खोज से सिद्ध हुए माता और गौ के दूध के ये भेद देखकर 'मातुरेव विवेक स्तन्यं तत्परं देहद्वये' (अष्टांगहृदय, उत्तर १) इस वाग्भटाचार्य के वचन की यथार्थता और अपने ही दूध से बालक के पोषण की माता की कर्तव्यता स्पष्ट हो जाती है । परन्तु जब विवश होकर गौ का दूध देना पड़ता है, तब उपर्युक्त भेदरूप दोषों को जहाँ तक हो सके दूर करके देने की कोशिश करनी चाहिए । गौ के दूध में कुछ दोष ऐसे होते हैं कि जो मुश्किल से दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रथम चार भेद । कुछ ऐसे होते हैं कि जो अधिकांश दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रोभूजिनादि की राशि । कृत्रिम दूध में गौ के दूध के ये दोष हटाकर उसको माता के दूध के समान (तद्गुण) करने की कोशिश की जाती है

तद्गुण करने की विधियाँ—(१) जलमिश्रण (Dilution)—गौ के दूध में प्रोभूजिनों की राशि दुगुनी होती है । उसको बराबर करने के लिए दूध के साथ उतना ही उवाला हुआ जल मिलाया जाता है । इससे प्रोभूजिनों की राशि स्तन्य के समान होती है, परन्तु स्नेह और शर्करा भी कम हो जाती है । इसके लिए दूध में मलाई और चीनी मिलाई जाती है । शर्करा के लिए दुग्धशर्करा हो तो उत्तम है; न हो तो मामूली चीनी ३ औंस दूध के लिए एक चाय का चमच भर मिलाई जाती है । मलाई भी इसी प्रमाण में मिलाई जाती है । कुछ लोग दूध में मलाई मिलाने की अपेक्षा दूध पिलाने के बाद मछली का तेल आधी मात्रा में देना पसन्द करते हैं । (२) गौ का दूध आमाशय में मा के दूध की अपेक्षा अधिक कठिन रूप में जम जाता है । इसको दूर करने के लिए दूध के साथ चारालु निम्बवीय (Sodium citrate) एक औंस के पीछे एक ग्रेन के प्रमाण में मिलाया जाता है । इसके अलावा चूने का पानी, जौ का यूप, चावल का पानी इत्यादि अन्य द्रव्य भी मिलाये जाते हैं, परन्तु सब से उत्तम चारालु निम्बवीय है । (३) माता के दूध में जीवाणु नहीं होते, गौ के दूध में बहुत होते हैं । उनका नाश करना आवश्यक होता है । यह कार्य दूध उवालने से होता है । अधिक देर तक उवालना ठीक नहीं है । एक उवाल देकर दूध को उतारना चाहिए । अधिक देर तक दूध उवालने से उसकी पौष्टिकता कम होकर गरिष्ठता बढ़ती है । घरेलू कामों के लिए यह विधि उत्तम है । इसके अलावा भाप के द्वारा जीवाणुनाशन, पाश्चरीकरण (Pasteurisation १६०° फ़ै० पर २० तक गरम करना) इनका भी उपयोग किया जाता है । इनमें उवालने की विधि सरल और अधिक विश्वसनीय है ।

क्या गौ का दूध तद्गुण करना आवश्यक है?—कितनी भी कोशिशें क्यों न की जायँ, गौ का दूध माता के दूध के समान कदापि नहीं हो सकता । परन्तु उपर्युक्त विधियों का उपयोग करने से वह कुछ कुछ माता के दूध के समान हो जाता है । अब सवाल यह उठता है कि क्या इस प्रकार का परिवर्तन करना आवश्यक है? तार्किक दृष्टि से विचार करने पर इसका उत्तर पक्ष में ही देना पड़ता है । इसलिए कुछ लोग इस प्रकार का कृत्रिम दूध देना पसन्द करते हैं । कुछ लोगों का यह मत है कि इस प्रकार का फेरफार करने की कोई आवश्यकता नहीं

है। आधिर में गौ का भी दूध है और वैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि फायदा यह होता है कि वर्षे को दस्त सुलभ आता है। परकार किये हुए दूध से मलावरोध की शिकायत प्रायः होती है। गौ के दूध का यह दस्तापर गुण घरक, सुभ्रुन, वामत इन प्रणयों में नहीं मिलता, परन्तु कारयपमंहिता में विशेष रूप से मिलता है—भौषपात्रात्रिमहत्वादिरेवयति तत् पयः। पयस्माद् वारणादुक्त गर्वां डोर रसावनम् । एष वैशेषिकगुणो गोधोरस्य प्रकीर्तितः ॥ (घोरगुणविशेषाध्याय) । परन्तु इसमें दूध की निर्दोषता पर ध्यान देना चाहिए। निर्दोषता की दृष्टि से यदि हो सके तो बालक को घारोण्य दूध देना ही उचित है। घारोण्य दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय के ६३ वें श्लोक के पक्ष्य में किया गया है। घारोण्य न मिल सके तो दूध को एक उचाल देकर लेना चाहिये।

सुरेप में स्तन्याभाव होने पर गौ का घारोण्य दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पक्ष है। यदि घारोण्य दूध न मिल सके तो दूध को उचालकर देना उचित है। यदि सम्पूर्ण दूध सुवाफिक न हो तो तिहाई पानी और थोड़ी चीनी मिलाकर दे सकते हैं। विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारम्भिक तीन चार महीनों में देना ठीक है। उसके बाद सम्पूर्ण दूध दे सकते हैं। आवुवंद में सम्पूर्ण दूध देने का ही रिवाज है। केवल लघुपत्रमूल या शालिपर्णी पृथिविर्णों के साथ यह उचाला जाना है और उसमें थोड़ी चीनी भी मिलाई जाती है—स्तन्याभवे पयस्त्रयं गन्धं वा तदगुणं विवेदं । हस्वेन पत्रमूलेन रिसरया वा मित्रासुनम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । आज कल वर्षों को दूध पिलाने के लिए कृपी और चूसनी (Teats) का उपयोग किया जाता है। इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जरूर है, परन्तु यदि उनकी सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो इनसे बालक को लाभ की अपवा अधिकांश प्रुकसान होने का डर रहता है। अतः दूध पिलाने के बाद गरम पानी से इनको साफ करके रखना चाहिए। अन्यथा कृपी और चूसनी क्षुण्ण होकर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—उपाय चिन्तयन् प्राधो ह्यधमपि चिन्तयेत् ।

परमासं चैनमद्यं प्राशयेत्सुप्तं हितं च ॥ ५२ ॥

(अध्यायानविधि—) छूटे महीने में उसको हल्का और हितकर अध्यायान कराये ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—पीछे १५ वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रसूतावस्था की अवधि तीन महीने की होती है और इस अवस्था की समाप्ति माता और बालक के देवदर्शन से की जाती है—वत्स्यं चविवागारामसिक्रन्दं प्रोगामान् । मासे निष्कामयेद् देवात् नमस्तुत् स्तनकृत्स्नम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उचर ० १) । अष्टांगसंग्रह में यह श्लोक स्तन्याभाव के पश्चात् आता है। वत्स्यं मासि वनत्य शिशोर्निष्कामय गृहान् । षष्ठेऽध्यायाने मासि, यदेत मन्त्रे कुले ॥ (मनुस्मृति, २-३४) । गृहपूर्वों में पक्ष मास में अध्यायान की विधि वर्णन की है—पक्ष मास्यध्यायानम् । दापमनुपुत्रमन् प्राशयेत् । अध्यायानं का मन्त्र—मन्त्रपतेऽस्य नो देवानमीवर्य शुभिन्य । प्र प्रतादार तारिष कर्जं नो पेदि दिपदे चतुपदे ॥

पक्ष मास में अध्यायान की विधि का अर्थ यह

नहीं है कि उस दिन से बालक को भरपेट भक्ष दिया जाय। अन्न से यहाँ पर भक्ष्य और भोज्य पदार्थ समझने चाहिये। हिन्दूधर्मशास्त्र में जो विविध संस्कार हैं, वे एक व्यक्ति के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए बनाये गये हैं। जैसे, घर के बाहर जाने का प्रारम्भ गृह निष्क्रमणविधि से, अध्यायान का प्रारम्भ अध्यायानविधि से, दृजामत करने का प्रारम्भ चौलकर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, खी और पुरष का पति पत्नी के नाते रहने का विवाहविधि से, स्त्री-पुरुरतमागम का गर्माधानविधि से इत्यादि। इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य न किया जाय, वह विशिष्ट कार्य धूम सुआँवर पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् आँवरपकटा और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए अनुग्रह्य रहे। जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को धीमणेश से प्रारम्भ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तमाम शाख पराये जाते हैं, वैसे ही अध्यायानविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसको तमाम भक्ष्य भोज्य पदार्थ खिलाये जाते हैं। विद्याभ्यास में शक्ति से मस्तिष्क की शक्ति और अध्यायान में शक्ति से पचनसंस्थान की शक्ति अभिवृद्ध है। इसलिए अष्टांगसंग्रह में लिखा है—षष्ठेऽध्यायाने मासि क्रमात्तत्र प्रथमेऽयं । पचनसंस्थान की शक्ति पाचक रसों पर और दाँतों पर निर्भर होती है। अन्न के लिए दाँतों की आवश्यकता होती है जब तक दाँत नहीं होते, तब तक अन्न देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक विना पचाये अन्न को निगल लेता है। अन्नसेवन और दाँतों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए दन्तोद्भेद के प्रारंभ में अध्यायानविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी दाँतों की वृद्धि होती जाती है, वैसे वैसे अन्न की राशि बढ़ाई जाती है। इसी दृष्टि से ऊपर के वामत के वचन में 'क्रमात्' शब्द प्रयुक्त किया गया है। कारयपमंहिता में छूटे महीने में फलप्राशन कराने के लिए, दशवें महीने में अध्यायान के लिए और बारहवें महीने के बाद वास्तविक अन्न देने के लिए लिखा है—तस्मिन्नेव (पक्षे) मासि विविधानां फलानां प्राशनं विषयतुविधेयम् । तदि दन्तनाशत्राध्यायाने दशमे वा मासि प्रथमेऽयं । उपायोर्थे द्वादशमासिकत्यायममिलषोऽल्पशब्देनाभि ददाति । शालीनां पक्षिणानां वा पुराणानां विशेषणः । तदुक्तैर्नित्यैर्गृहे चालिते साधनाः द्रवाः ॥ सस्नेहवशां वैद्या बालानां पुष्टिकर्तना । गोधूमनां तथा चूर्णं यवानां वापि सारग्व्य ॥ पक्षान्तरं द्यन्तं वा देवाग्निस्त्वकालिदम् । यदा वा क्षुधिं पश्येत् तदैव सारग्व्यं माशयेत् ॥ (जातकर्मोत्तराध्याय) । बालक को अन्न देने में शीघ्रता कदापि न करनी चाहिए, शीघ्रता में पचास्य की हानि है। देर में अन्न देने में हानि नहीं है बल्कि फायदा होता है—विद्याविषेयनाशोऽयं बालो नानुग्रहमन्वयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । कारयपसंहिता में अन्नसेवन की जो साल भर की मर्यादा बताई गई है, वह शेष सत्कारपर 'छोटा' (सूत्रस्थान ३५-३३) के साथ मिलती है। उस सूत्र का वक्तव्य भी देखो। अष्टांगसंग्रहटीकाकार तथा अष्टांगसंग्रह कार अध्यायान का वास्तविक काल एक वर्ष का ही मानते हैं। 'अनेन नावदशनम्' इस श्लोक की टीका में इन्दु लिखते

हैं—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं बालं क्रमशः स्तनादपनयेत् । काश्यपसंहिताकार की वृत्तों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है । फलों से बालकों को सुपाच्य रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो वचपन के शरीरवृद्धिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं ।

अन्नप्राशन, दन्तोद्भेद और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है । इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भेद का अथ विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुत-संहिता में नहीं किया गया है । स्तनापनयन (Weaning—) इसके काल का विचार पीछे ११वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना उचित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अन्नप्राशन या गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए । आयुर्वेद का यह एक सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणापगत-दोषाः क्रमेणापगता गुणाः । नाप्नुवन्ति पुनर्भावमप्रवृथ्वा भवन्ति हि ॥ (चरक, सूत्र ७) । स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांगा संग्रह में बताये हैं—जुयादपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या स्तनलेपनैः । वीभत्सैर्यावकासेकृत्रिमसत्तदर्शनैः ॥ स्नेहसंक्रान्ति का मतलब यह है कि बालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना । इसी काम के लिए यह ग्रीष्मन मोदक दिया है—प्रियात्मज्जमधुक-मधुताजसितोपलैः । अस्पस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः ॥ स्तनापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर बालक में अग्नि की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो निम्न ओषधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—रीपनो बाल-विल्वलाशर्करालाजसक्तुभिः । संग्राही धातकीपुष्पशर्करालाज-तर्पणैः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

दन्तोद्भेद (Dentition—) तरुण विवाहित स्त्रियों के जीवन में सगर्भावस्था और प्रसूति जैसी महत्त्व की घटनाएँ हैं, वैसी बाल्यावस्था में दन्तोद्भेद की घटना होती है । ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिएँ । परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घटनाओं में किया जाता है—दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम् । पृष्ठभङ्गं विडालानां बहिष्णां च शिखोद्भेदः । दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चिन्न दृश्यते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं । अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है । इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है । जिस बालक का स्वास्थ्य अच्छा होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी तकलीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रहे हैं । मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं । जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं । ये प्रथम दन्त या अस्थायी दन्त (Temporary milk tooth) कहलाते हैं । जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanent) कहलाते हैं । प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु से होता है और ढाई वर्ष की आयु तक वे पूरे निकल आते

हैं—दन्तोद्भेदश्च दीर्घायुषोऽष्टमांशमासात् परतो वा प्रवर्तते । इतरेषां तु चतुर्थाद् । तत्रास्थिमज्जानो दन्तोत्पत्तिहेतू । तदा च तयोरसम्पूर्णवीर्यत्वात् कालान्तरेण दन्तानां पवनमापूर्यमाणधातु-त्वाच्च पुनरस्थानम् । पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारंभ छूटे साल से होता है और २५वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं । इनकी संख्या वृत्तिस होती है । दाँतों के लिए 'द्विज' शब्द प्रयुक्त होता है । परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से बारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और बीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है । अतः बारह सकृज्जात और बीस द्विज होते हैं—इह खलु नृणां द्वात्रिंशद्दन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्वरुद्धन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः ॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय) । यहाँ पर अष्टौ शब्द गलत मालूम होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए । ये द्वादश सकृज्जात दाँत दाढ़ें (Molars) हैं । मुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisors), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं । इस तरह प्रत्येक हनु के एक पक्ष में पाँच करके कुल बीस दाँत वचपन में निकलते हैं । पुनर्दन्तों में ये बीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पक्ष में तीन चर्वणक (दाढ़ें) करके बारह दाढ़ें अधिक होती हैं । नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

| नाम | प्रथमदन्तकाल | नाम | पुनर्दन्तकाल |
|-----------------------|--------------|----------------|--------------|
| नीचे के अन्तःकर्तनक | ६-९ मास तक | प्रथम चर्वणक | ६ वर्ष |
| ऊपर के चारों कर्तनक | ८-१० मास तक | कर्तनक | ७-८ वर्ष |
| नीचे के बाह्य कर्तनक | १२-१४ मास तक | पूर्व चर्वणक | ९-१० वर्ष |
| अगले चार पूर्व चर्वणक | १२-१४ मास तक | भेदक | ११-१२ वर्ष |
| भेदक | १६-२० मास तक | द्वितीय चर्वणक | १२-१३ वर्ष |
| पिछले पूर्व चर्वणक | २०-२४ मास तक | तृतीय चर्वणक | १७-२४ वर्ष |

यह साधारण काल है । इसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत, ढेढ़ वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँत और ढाई वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिएँ । छूटे साल में चार दाढ़ें निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है । साधारणतया नीचे के जबड़े के दाँत पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के जबड़े में निकलते हैं । आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म एक उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति करने के लिए लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते तावत्स्वहः-क्षुद्भिद्यन्ते । यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत् उद्भिद्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिद्यन्ते । तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ राजदन्त-संज्ञी भवतः, ती पवित्रौ, तस्मात्ताभ्यां खण्डे न धादमर्हति अपवित्रो हि सः । तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, कारालदन्तता

है। आखिर में गौ का मी दूध है और घैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि फायदा यह होता है कि बच्चे को दस्त सुलभतर आता है। परकार किये हुए दूध से मलाशयों की शिकायत प्रायः होता है। गौ के दूध का यह दस्तावर गुण धरक, सुभ्रुत, वायुमत् इन ग्रन्थों में नहीं मिलता, परन्तु कारयपसंहिता में विशेष रूप से मिलता है—श्रीश्यामिनिभक्तारिचरवति तत् ५५:। एतस्मात् वररायुक्त गवां शोर रसायनम् । एष वैशेषिकगुणो गोशीरस्य प्रकीर्तितः ॥ (श्रीरगुणविशेषाध्याय) । परन्तु इसमें दूध की निर्दायता पर ध्यान देना चाहिए। निर्दायता की दृष्टि से यदि हो सके तो बालक को धारोष्ण दूध देना ही उचित है। धारोष्ण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सूत्रस्थान के ४५ में अध्याय के ६३ में श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। धारोष्ण न मिल सके तो दूध को एक उबाल देकर लेना चाहिये।

संशेष में स्तन्याभाव होने पर गौ का धारोष्ण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पक्ष है। यदि धारोष्ण दूध न मिल सके तो दूध को उबालकर देना उचित है। यदि सम्पूर्ण दूध सुवाफिक न हो तो तिहाई पानी और थोड़ी चीनी मिलाकर दे सकते हैं। विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारम्भिक तीन चार महीनों में देना ठीक है। उसके बाद सम्पूर्ण दूध दे सकते हैं। आयुर्वेद में सम्पूर्ण दूध देने का ही रिवाज है। केवल लघुपत्रमूल या शालिपर्णी वृक्षिपर्णी के साथ वह उबाला जाता है और उसमें थोड़ी चीनी भी मिलाई जाती है—स्तन्याभावे पयवद्भाग गन्ध वा तदुष्णं पिबेत् । हस्वेन पत्रमूलेन विवरया वा सितायुतम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) ॥ आज कल बच्चों को दूध पिलाने के लिए कृषी और चूसनी (Teats) का उपयोग किया जाता है। इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जरूर है, परन्तु यदि उनकी सहाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो इनसे बालक को लाभ की अपेक्षा अधिक नुकसान होने का डर रहता है। अतः दूध पिलाने के बाद गरम पानी से इनको साफ करके रखना चाहिए। अन्यथा कृषी और चूसनी दूषित होकर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—उपाय चित्तयन् प्राशो अथायसपि चिन्तयेत् ।

परमासं चैनमथं प्राशयेत्सु दित च ॥ ५२ ॥

(अष्टांगसंग्रहनिविधि—) छठे महीने में उसको हल्का और हितकर अष्टांगसंग्रह कराये ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—पीछे १९ वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रसूतावस्था की अवधि तीन महीने की होती है और इस अवस्था की समाप्ति माता और बालक के देवदर्शन से की जाती है—वतुर्षे चनिक्तगारावशिरुक्त्वं प्रयोगमात् । मासे निष्कामयेत् देवात् नमस्तुर्षु स्वतःकृतम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर ० १) । अष्टांगसंग्रह में यह श्लोक स्तन्याभाव के पश्चात् आता है। चतुर्थे मासि कतव्य शिशोर्निष्कामय गुहात् । षष्ठेऽत्राशाने मासि, यदष्ट महते ज्ञेये ॥ (मनुस्मृति, २-३४) । गृहस्थाश्रम में षष्ठ मास में अष्टांगसंग्रह की विधि वर्णन की है—१४ मासवधप्रदानम् । दधिमुपश्रवणं प्राशयेत् । अष्टांगसंग्रहं का मन्यन्—मन्त्रनेत्रवत्ये नो देवतामीरस्य शुभियम् । प्रस्तानार तारिष कर्त्तुं नो धेहि दिपदे प्तुत्पदे ॥

षष्ठ मास में अष्टांगसंग्रह की विधि का अर्थ यह

नहीं है कि उस दिन से बालक को भरणे अथ दया जाय। अन्न से यहाँ पर भरण और भोग पदार्थ समझने चाहिए। हिन्दूधर्मशास्त्र में जो विविध संस्कार हैं, वे एक व्यक्ति के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए बनाये गये हैं। जैसे, घर के बाहर जाने का प्रारम्भ गृह निष्क्रमणविधि से, अष्टांगसंग्रह का प्रारम्भ अष्टांगसंग्रहनिविधि से, हजामत करने का प्रारम्भ चौलकर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, स्त्री और पुरुष का पति-पत्नी के बन्धे रहने का विवाहविधि से, स्त्री-पुरुषसमागम का गर्भाधानविधि से इत्यादि। इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य न किया जाय, वह विशिष्ट कार्य शुभ सुदृढ़ से पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् आवश्यकता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए स्वार्थगम्य रहे। जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को धर्मगोत्रा से प्रारम्भ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तमाम शास्त्र पढ़ाये जाते हैं, वैसे ही अष्टांगसंग्रहनिविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसके तमाम भरण भोग्य पदार्थ खिलाये जाते हैं। विद्याभ्यास में शक्ति से मरितव्य की शक्ति और अष्टांगसंग्रह में शक्ति से पचनसंस्थान की शक्ति अभिप्रेत है। इसलिये अष्टांगसंग्रह में लिखा है—५४३अष्टांगसंग्रहं मासि क्रमात्पथ प्रयोजयेत् । पचनसंस्थान की शक्ति पाचक रसों पर और दाँतों पर निर्भर होती है। अन्न के लिए दाँतों की आवश्यकता होती है जब तक दाँत नहीं होते, तब तक अन्न देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक बिना चबाये अन्न को निगल लेता है। अन्नसेवन और दाँतों का धनिए सम्बन्ध है। इसलिये दन्तोद्भेद के प्रारम्भ में अष्टांगसंग्रहनिविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसे दाँतों की वृद्धि होती जाती है, वैसे वैसे अन्न की राशि बढ़ाई जाती है। इसी दृष्टि से ऊपर के वायुमत् के वचन में 'क्रमात्' शब्द प्रयुक्त किया गया है। कारयपसंहिता में छठे महीने में फलप्राशन कराने के लिए, दशवें महीने में अष्टांगसंग्रह के लिए और बारहवें महीने के बाद वास्तविक अन्न देने के लिए लिखा है—तस्मिन्नेव (षष्ठे) मासि विविधाणां फलानां प्राशनं निषेधगुणितम् । तदि दन्तनाशराश्याशाने दशमे वा मासि प्रशस्तोऽस्ति । उत्थायोर्षे ब्राह्मणमासिकरायानमभिलषोऽप्यश्वथामानि दद्यादिति । शालीते पिच्छानो वा पुराशानो विवेकेत् ॥ लघुर्षेतिस्तुषुर्षुष्टे शालीते साधिया द्रव्य ॥ सन्नेहलक्षणा उष्णा बालानां पुष्टिवर्धना । गोभूयानां तथा पूर्णं यवानां वाडपि साम्येव ॥ एकान्तरं इत्यन्तरं वा देशाश्रितकालविदः । दद्या वा सुपिण्डे पश्येत् तदैव साम्यं माशयेत् ॥ (जातकर्मोत्तराध्याय) । बालक को अन्न देने में शीघ्रता कदापि न करनी चाहिए, शीघ्रता में स्वास्थ्य की हानि है। देर में अन्न देने में हानि नहीं है बल्कि फायदा होता है—चिराश्रितेवमाशोऽत्र बालो नाशुर्षभयनुदे ॥ (अष्टांगसंग्रह) । कारयपसंहिता में अष्टांगसंग्रह में अन्नसेवन की जो शला भर की मर्यादा बताई गई है, वह भी उपसंस्कार 'चौरवा' (सूत्रस्थान १५-३३) के साथ मिलती है। उस सूत्र का वक्तव्य भी देखो। अष्टांगसंग्रहटीकाकार तथा अष्टांगसंग्रह कार अष्टांगसंग्रह का वास्तविक काल एक वर्ष का ही मानते हैं। 'अथेनं ज्ञातव्यमन्' इस श्लोक की टीका में ह्यनु लिखते

शारीरस्थानम् ।

प्यायः १०]

—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं वालं क्रमशः स्तनापनयेत् ।
 प्रथमसंहिताकार की वक्त्रों को फल देने की विधि भी
 बहुत स्वास्थ्यकर है । फलों से बालकों को सुपाच्य रस
 और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो वचपन
 के शारीरवृद्धिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं ।

अन्नप्राशन, दन्तोद्भेद और स्तनापनयन इनका परस्पर
 संबंध है । इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भेद का
 अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुत-
 संहिता में नहीं किया गया है । स्तनापनयन (Weaning—)
 के काल का विचार पीछे ५१वें श्लोक के वक्ष्य में किया
 है । स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना
 चेत नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अन्नप्राशन
 । गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए । आयुर्वेद का यह
 सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और
 धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणपगत-
 दोषाः क्रमेणोपगता गुणाः । नापुवन्ति पुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति
 हि ॥ (चरक, सूत्र ७) । स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांग
 संग्रह में बताये हैं—कुर्यादपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या स्नानलेपनैः ।
 वीमत्सैर्यावकासिककृत्रिमसप्तदर्शनैः ॥ स्नेहसंक्रान्ति का मतलब
 यह है कि बालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है,
 वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना । इसी
 काम के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुक-
 म्पह्लाजसितोपलैः । अस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः ॥

स्तनापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर
 लक में अक्षि की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो
 मूत्र जोषाधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—रीपनो बाल-
 विरैलाश्रद्धैराला नसक्तमिः । संग्राही धातकीपुष्पशर्करालान-
 तपणैः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

दन्तोद्भेद (Dentition—) तरुण विवाहित स्त्रियों के
 जीवन में सर्मावस्था और प्रसूति जैसी महत्त्व की घटनाएँ
 हैं, वैसी वास्त्यावस्था में दन्तोद्भेद की घटना होती है । ये
 सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी
 होनी चाहिएँ । परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घट-
 त्तों में किया जाता है—दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम् । पृष्ठभङ्ग
 ङ्गालानां वहिर्यां च शिखोद्भेदम् । दन्तोद्भेदे च बालानां न हि
 केवलित् द्यते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसका कारण यह है कि
 स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी
 खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली
 होती हैं । अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण
 से खराब रहता ही है । इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस
 प्रकार की कल्पना हो चुकी है । जिस बालक का स्वास्थ्य
 श्र होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी
 ल्टीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत
 निकल रहे हैं । मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं । जो
 पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं । ये प्रथम दन्त
 या अस्थायी दन्त (Temporary milk tooth) कहलाते
 हैं । जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत
 (Permanent) कहलाते हैं । प्रथम दन्तों की संख्या २०
 होती है, उनका उत्पत्ति का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु
 से होता है और आठे वर्ष की आयु तक वे गिरे निश्चय आते

हैं—दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम् । पृष्ठभङ्ग
 ङ्गालानां वहिर्यां च शिखोद्भेदम् । दन्तोद्भेदे च बालानां न हि
 केवलित् द्यते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसका कारण यह है कि
 स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी
 खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली
 होती हैं । अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण
 से खराब रहता ही है । इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस
 प्रकार की कल्पना हो चुकी है । जिस बालक का स्वास्थ्य
 श्र होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी
 ल्टीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत
 निकल रहे हैं । मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं । जो
 पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं । ये प्रथम दन्त
 या अस्थायी दन्त (Temporary milk tooth) कहलाते
 हैं । जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत
 (Permanent) कहलाते हैं । प्रथम दन्तों की संख्या २०
 होती है, उनका उत्पत्ति का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु
 से होता है और आठे वर्ष की आयु तक वे गिरे निश्चय आते

| नाम | प्रथमदन्तकाल | नाम | पुनर्दन्तकाल |
|-----------------------|--------------|----------------|--------------|
| नीचे के अन्तःकर्तनक | ६-९ मास तक | प्रथम चर्वणक | ६ वर्ष |
| ऊपर के चारों कर्तनक | ५-१० मास तक | कर्तनक | ७-८ वर्ष |
| नीचे के बाह्य कर्तनक | १२-१४ मास तक | पूर्व चर्वणक | ९-१० वर्ष |
| अगले चार पूर्व चर्वणक | १२-१४ मास तक | भेदक | ११-१२ वर्ष |
| भेदक | १६-२० मास तक | द्वितीय चर्वणक | १२-१३ वर्ष |
| पिछले पूर्व चर्वणक | २०-२४ मास तक | तृतीय चर्वणक | १७-२४ वर्ष |

यह साधारण काल है । इसमें न्युनाधिक्यता को संभालना
 है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत
 आते हैं, दो वर्ष के बालक के १२ दाँत, दो वर्ष के बालक के १६ दाँत
 और आठे वर्ष के बालक के २० दाँत होने चाहिएँ । छठे स
 में चार दाँद निकल आती हैं, जिससे दाँतों की सं
 २४ हो जाती है । साधारणतया नीचे के जबड़े के जय
 पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म
 निकलते हैं । आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म
 उत्पात माना गया है और उसके लिए दन्ता निषिच्यन्ते ता
 छिपु लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते ता
 छिपु लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत उन्निच्यन्ते
 च वर्षेषु पविताः पुनरुन्निच्यन्ते । तत्र मध्ये द्वादशतरी
 थपवित्रो हि सः । तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वसूतदन्त
 दिरादन्तजन्म च, दीनदन्तवा च, अपिचदन्तवा च,

है। धानिर में गी का भी दूध है और वैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि फायदा यह होता है कि बच्चे को दूध मुफ्तकर आता है। परकार किये दूध दूध में मन्दासोच की सिद्धायन प्रायः होती है। गी के दूध का यह दस्तावर गुण परक, सुखन, वगन्त हन प्रयोग में नहीं मिलता, परन्तु कारवपसंहिता में विशेष रूप से मिलता है—**घोरप्रमासिधयश्चिरेवति त्व १४ । दग्धान् कारवपुत्रक मर्गं घोरि रलयनम् । वन वैदेविकजुलो गोधीरस्य मर्गेऽपि ॥ (श्रीरामविशेषाध्याय) ।** परन्तु इसमें दूध की निर्दोषता पर ध्यान देना चाहिए। निर्दोषता की दृष्टि से यदि हो सके तो बालक को घातोष्ण दूध देना ही उचित है। घातोष्ण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार मूत्राधान के ४४ वें अध्याय के ६३ वें सूत्र के बहस्य में किया गया है। घातोष्ण न मिल सके तो दूध को एक उबाउ देकर लेना चाहिए।

संदेश में सन्ध्यामाय होने पर गी का घातोष्ण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पद्य है। यदि घातोष्ण दूध न मिल सके तो दूध को उबाउकर देना उचित है। यदि सगून दूध मुवाफिक न हो तो तिहाई पानी और घाँसी बीनी मिलकर दे सकते हैं। कालिब करके जामिम दूध प्रारम्भिक तीन चार महीनों में देना ठीक है। उसके बाद सगून दूध दे सकते हैं। आयुर्वेद में सगून दूध देने का ही विचार है। बेवत लघुरसमूल का कालिबर्गी प्रथिवर्गी के साथ वह उबाटा जाता है और उसमें घाँसी बीनी भी मिलाई जाती है—**अथान्ये पदरसमयं वा लघुमं विरेद । हरिभ वपुनेन विरवा वा िगुाम् ॥ (अर्थाद्वय) ।** आज कल बच्चों को दूध पिजाने के लिए बूनी और सूयनी (Tomb) का उपयोग किया जाता है। इसमें दूध पिजाने में कुछ सुविधा जरूर है, परन्तु यदि उनकी गच्छाई की और ध्यान न दिया जाय तो हमें बालक को काम की आवा अथिक मुक्तमान होने का डर रहता है। अतः दूध पिजाने के बाद तम पानी से हमको साफ करके रचना चाहिए। अथवा बूनी और सूयनी दूधि हानर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—**अथ कालिबर्गी कालिबर्गी (अध्याय २) ।**

नहीं है कि उस दिन से बालक को भयने बह दिव जाय। अतः से यहाँ पर भय और भोग्य पदार्थ समकं चाहिए। दिव्यधर्मशास्त्र में जो विविध संस्कार हैं, वे वा स्यात् के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके स्थि बनाये गये हैं। जैसे, घर के बाहर जाने का प्रारम्भ पृथ निष्कमाविधि से, अन्नप्राशन का प्रारम्भ अन्नप्राशनविधि से, हजामत करने का प्रारम्भ चौडकर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, धी और पुरुष का पति-पत्नी के वां रहने का त्रिवाहविधि से, स्त्री-पुरुषसमागम का गर्भोधानविधि से इत्यादि। इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विहित संस्कार के पहले विहित कार्य न किया जाय, वह विहित कार्य हुए सुश्रुत पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् आचरणकृता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने से दिव्य उस व्यक्ति के दिव्य स्वाप्रस्थ रहे। जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को प्रीणोत्त से प्रारम्भ करे धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तयाम साध वाप्ये जाने हैं, जैसे ही अन्नप्राशनविधि के पश्चात् उमकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसके तमाम भय भोग्य पदार्थ लिखाये जाने हैं। विद्याभ्यास में शक्ति से मस्तिष्क की शक्ति और अन्नप्राशन में शक्ति से पचनसंस्थान की शक्ति अभिवेद है। इसलिये अर्थागमग्रह में लिखा है—**अथेऽन्नजन मधि कालिब प्रलोभेत् । पचनसंस्थान की शक्ति पाचक शक्तियों पर और शक्तियों पर निर्भर होती है। अन्न के लिए शक्तियों की आवश्यकता होती है जब तक शक्ति नहीं होगी, तब तक अन्न देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक बिना पचाने अन्न को निगल लेता है। अन्नोपवन और शक्तियों का पथिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये ह्योत्तरे के प्रारम्भ में अन्नप्राशनविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी शक्तियों की वृद्धि होती जाती है, वैसी वैसी अन्न की राशि बढ़ाई जाती है। इसी दृष्टि से उत्तर के पश्चात् के बचन में 'अन्नान्' शब्द प्रयुक्त किया गया है। कारवर्णहना में वां महीने में पतनप्राशन करने के लिए, श्रावण महीने में अन्नप्राशन के लिए और बारह महीने के बाद बालविक अन्न देने के लिए लिखा है—**अथिभेत् (४६) म न विरिपत्नी क मं मयुषं विवपुत् ३२४ । अथि ह्यथिभेत् ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १००० १००१ १००२ १००३ १००४ १००५ १००६ १००७ १००८ १००९ १०१० १०११ १०१२ १०१३ १०१४ १०१५ १०१६ १०१७ १०१८ १०१९ १०२० १०२१ १०२२ १०२३ १०२४ १०२५ १०२६ १०२७ १०२८ १०२९ १०३० १०३१ १०३२ १०३३ १०३४ १०३५ १०३६ १०३७ १०३८ १०३९ १०४० १०४१ १०४२ १०४३ १०४४ १०४५ १०४६ १०४७ १०४८ १०४९ १०५० १०५१ १०५२ १०५३ १०५४ १०५५ १०५६ १०५७ १०५८ १०५९ १०६० १०६१ १०६२ १०६३ १०६४ १०६५ १०६६ १०६७ १०६८ १०६९ १०७० १०७१ १०७२ १०७३ १०७४ १०७५ १०७६ १०७७ १०७८ १०७९ १०८० १०८१ १०८२ १०८३ १०८४ १०८५ १०८६ १०८७ १०८८ १०८९ १०९० १०९१ १०९२ १०९३ १०९४ १०९५ १०९६ १०९७ १०९८ १०९९ ११०० ११०१ ११०२ ११०३ ११०४ ११०५ ११०६ ११०७ ११०८ ११०९ १११० ११११ १११२ १११३ १११४ १११५ १११६ १११७ १११८ १११९ ११२० ११२१ ११२२ ११२३ ११२४ ११२५ ११२६ ११२७ ११२८ ११२९ ११३० ११३१ ११३२ ११३३ ११३४ ११३५ ११३६ ११३७ ११३८ ११३९ ११४० ११४१ ११४२ ११४३ ११४४ ११४५ ११४६ ११४७ ११४८ ११४९ ११५० ११५१ ११५२ ११५३ ११५४ ११५५ ११५६ ११५७ ११५८ ११५९ ११६० ११६१ ११६२ ११६३ ११६४ ११६५ ११६६ ११६७ ११६८ ११६९ ११७० ११७१ ११७२ ११७३ ११७४ ११७५ ११७६ ११७७ ११७८ ११७९ ११८० ११८१ ११८२ ११८३ ११८४ ११८५ ११८६ ११८७ ११८८ ११८९ ११९० ११९१ ११९२ ११९३ ११९४ ११९५ ११९६ ११९७ ११९८ ११९९ १२०० १२०१ १२०२ १२०३ १२०४ १२०५ १२०६ १२०७ १२०८ १२०९ १२१० १२११ १२१२ १२१३ १२१४ १२१५ १२१६ १२१७ १२१८ १२१९ १२२० १२२१ १२२२ १२२३ १२२४ १२२५ १२२६ १२२७ १२२८ १२२९ १२३० १२३१ १२३२ १२३३ १२३४ १२३५ १२३६ १२३७ १२३८ १२३९ १२४० १२४१ १२४२ १२४३ १२४४ १२४५ १२४६ १२४७ १२४८ १२४९ १२५० १२५१ १२५२ १२५३ १२५४ १२५५ १२५६ १२५७ १२५८ १२५९ १२६० १२६१ १२६२ १२६३ १२६४ १२६५ १२६६ १२६७ १२६८ १२६९ १२७० १२७१ १२७२ १२७३ १२७४ १२७५ १२७६ १२७७ १२७८ १२७९ १२८० १२८१ १२८२ १२८३ १२८४ १२८५ १२८६ १२८७ १२८८ १२८९ १२९० १२९१ १२९२ १२९३ १२९४ १२९५ १२९६ १२९७ १२९८ १२९९ १३०० १३०१ १३०२ १३०३ १३०४ १३०५ १३०६ १३०७ १३०८ १३०९ १३१० १३११ १३१२ १३१३ १३१४ १३१५ १३१६ १३१७ १३१८ १३१९ १३२० १३२१ १३२२ १३२३ १३२४ १३२५ १३२६ १३२७ १३२८ १३२९ १३३० १३३१ १३३२ १३३३ १३३४ १३३५ १३३६ १३३७ १३३८ १३३९ १३४० १३४१ १३४२ १३४३ १३४४ १३४५ १३४६ १३४७ १३४८ १३४९ १३५० १३५१ १३५२ १३५३ १३५४ १३५५ १३५६ १३५७ १३५८ १३५९ १३६० १३६१ १३६२ १३६३ १३६४ १३६५ १३६६ १३६७ १३६८ १३६९ १३७० १३७१ १३७२ १३७३ १३७४ १३७५ १३७६ १३७७ १३७८ १३७९ १३८० १३८१ १३८२ १३८३ १३८४ १३८५ १३८६ १३८७ १३८८ १३८९ १३९० १३९१ १३९२ १३९३ १३९४ १३९५ १३९६ १३९७ १३९८ १३९९ १४०० १४०१ १४०२ १४०३ १४०४ १४०५ १४०६ १४०७ १४०८ १४०९ १४१० १४११ १४१२ १४१३ १४१४ १४१५ १४१६ १४१७ १४१८ १४१९ १४२० १४२१ १४२२ १४२३ १४२४ १४२५ १४२६ १४२७ १४२८ १४२९ १४३० १४३१ १४३२ १४३३ १४३४ १४३५ १४३६ १४३७ १४३८ १४३९ १४४० १४४१ १४४२ १४४३ १४४४ १४४५ १४४६ १४४७ १४४८ १४४९ १४५० १४५१ १४५२ १४५३ १४५४ १४५५ १४५६ १४५७ १४५८ १४५९ १४६० १४६१ १४६२ १४६३ १४६४ १४६५ १४६६ १४६७ १४६८ १४६९ १४७० १४७१ १४७२ १४७३ १४७४ १४७५ १४७६ १४७७ १४७८ १४७९ १४८० १४८१ १४८२ १४८३ १४८४ १४८५ १४८६ १४८७ १४८८ १४८९ १४९० १४९१ १४९२ १४९३ १४९४ १४९५ १४९६ १४९७ १४९८ १४९९ १५०० १५०१ १५०२ १५०३ १५०४ १५०५ १५०६ १५०७ १५०८ १५०९ १५१० १५११ १५१२ १५१३ १५१४ १५१५ १५१६ १५१७ १५१८ १५१९ १५२० १५२१ १५२२ १५२३ १५२४ १५२५ १५२६ १५२७ १५२८ १५२९ १५३० १५३१ १५३२ १५३३ १५३४ १५३५ १५३६ १५३७ १५३८ १५३९ १५४० १५४१ १५४२ १५४३ १५४४ १५४५ १५४६ १५४७ १५४८ १५४९ १५५० १५५१ १५५२ १५५३ १५५४ १५५५ १५५६ १५५७ १५५८ १५५९ १५६० १५६१ १५६२ १५६३ १५६४ १५६५ १५६६ १५६७ १५६८ १५६९ १५७० १५७१ १५७२ १५७३ १५७४ १५७५ १५७६ १५७७ १५७८ १५७९ १५८० १५८१ १५८२ १५८३ १५८४ १५८५ १५८६ १५८७ १५८८ १५८९ १५९० १५९१ १५९२ १५९३ १५९४ १५९५ १५९६ १५९७ १५९८ १५९९ १६०० १६०१ १६०२ १६०३ १६०४ १६०५ १६०६ १६०७ १६०८ १६०९ १६१० १६११ १६१२ १६१३ १६१४ १६१५ १६१६ १६१७ १६१८ १६१९ १६२० १६२१ १६२२ १६२३ १६२४ १६२५ १६२६ १६२७ १६२८ १६२९ १६३० १६३१ १६३२ १६३३ १६३४ १६३५ १६३६ १६३७ १६३८ १६३९ १६४० १६४१ १६४२ १६४३ १६४४ १६४५ १६४६ १६४७ १६४८ १****

हैं—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं बालं क्रमशः स्तनादपनयेत् । काश्यपसंहिताकार की बच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है । फलों से बालकों को सुपाच्य रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो बचपन के शरीरवृद्धिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं ।

अन्नप्राशन, दन्तोद्भेद और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है । इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भेद का अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुत-संहिता में नहीं किया गया है । स्तनापनयन (Weaning—) इसके काल का विचार पीछे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना उचित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अन्नप्राशन या गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए । आयुर्वेद का यह एक सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणापगत-दोषाः क्रमेणोपगता गुणाः । नाप्नुवन्ति पुनर्भावमप्रकाम्या भवन्ति हि ॥ (चरक, सूत्र ७) । स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांग संग्रह में बताये हैं—कु्यादिपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या रतनलेपनैः । धीमत्सैव्यवकासेकृत्रिमज्ञतदर्शनैः ॥ स्नेहसंक्रान्ति का मतलब यह है कि बालक को स्तनापन के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना । इसी काम के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुक-मधुलाजसिन्धोपलैः । अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः ॥ स्तनापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर बालक में अग्नि की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो निम्न ओषधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—शीपनी बाल-विश्वैलाशर्करालाजसुकुमिः । संग्राही भातकीपुष्पशर्करालाज-तर्पणैः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

दन्तोद्भेद (Dentition—) तरुण विवाहित स्त्रियों के जीवन में सर्गावस्था और प्रसूति जैसी महत्त्व की घटनाएँ हैं, वैसी बाल्यावस्था में दन्तोद्भेद की घटना होती है । ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिए। परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घटनाओं में किया जाता है—दन्तोद्भेद सर्वरोगायतनम् । पृष्ठभङ्ग विडालानां बहिष्णां च शिखोद्भेदे । दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चिन्न दृश्यते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं । अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है । इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है । जिस बालक का स्वास्थ्य अच्छा होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी तकलीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रहे हैं । मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं । जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं । ये प्रथम दन्त या अस्थायी दन्त (Temporary milk tooth) कहलाते हैं । जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanent) कहलाते हैं । प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु से होता है और ढाई वर्ष की आयु तक वे पूरे निकल आते

हैं—दन्तोद्भेदश्च दीर्घासुषोऽष्टमात्मासात् परतो वा प्रवर्तते । शतरेपां तु चतुर्थांश । तत्रास्थिमज्जानी दन्तोत्पत्तिहेत् । तदा च तयोरसम्पूर्णवीर्यत्वात् कालान्तरेण दन्तानां पतनमाप्यमाणधातु-त्वाच्च पुनरस्थानम् । पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारम्भ छठे साल से होता है और २५वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं । इनकी संख्या बत्तीस होती है । दाँतों के लिए 'द्विज' शब्द प्रयुक्त होता है । परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से बारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और बीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है । अतः बारह सकृज्जात और बीस द्विज होते हैं—रह खलु नृणां द्वात्रिंशदन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्वरुद्धदन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः ॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय) । यहाँ पर अष्टौ शब्द गलत मालूम होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए । ये द्वादश सकृज्जात दाँत दाढ़ें (Molars) हैं । मुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisors), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं । इस तरह प्रत्येक हनु के एक पक्ष में पाँच करके कुल बीस दाँत बचपन में निकलते हैं । पुनर्दन्तों में ये बीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पक्ष में तीन चर्वणक (दाढ़ें) करके बारह दाढ़ें अधिक होती हैं । नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

| नाम | प्रथमदन्तकाल | नाम | पुनर्दन्तकाल |
|-----------------------|--------------|----------------|--------------|
| नीचे के अन्तःकर्तनक | ६-९ मास तक | प्रथम चर्वणक | ६ वर्ष |
| ऊपर के चारों कर्तनक | ८-१० मास तक | कर्तनक | ७-८ वर्ष |
| नीचे के बाह्य कर्तनक | १२-१४ मास तक | पूर्व चर्वणक | ९-१० वर्ष |
| अगले चार पूर्व चर्वणक | १२-१४ मास तक | भेदक | ११-१२ वर्ष |
| भेदक | १६-२० मास तक | द्वितीय चर्वणक | १२-१३ वर्ष |
| पिछले पूर्व चर्वणक | २०-२४ मास तक | तृतीय चर्वणक | १७-२५ वर्ष |

यह साधारण काल है । इसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत, ढेढ़ वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँत और ढाई वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिए। छठे साल में चार दाढ़ें निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है । साधारणतया नीचे के जबड़े के दाँत पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के जबड़े में निकलते हैं । आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म एक उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति करने के लिए लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते तावत्स्वेव-सुद्धिच्यन्ते । यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत उद्धिच्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्धिच्यन्ते । तत्र मध्ये द्वात्रिंशत्तरी राजदन्त-संज्ञी भवतः, ती पवित्रौ, तस्मान्ताभ्यां खण्डे न श्राद्धमर्हति अपवित्रो हि सः । तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, करालदन्तता

च, विवर्णदन्तता च, स्फुटितदन्तता चामद्गत्या भवति ॥ पूर्णता, समता, वनता, शुद्धता, क्लिष्टता, ऋक्षता निर्मलता, निरामयता, किञ्चिदुत्तरोन्नता, दन्तव्यनानां च समान रक्ता क्लिष्टता वृद्धनरिथामूलता चेति दन्तसम्बन्धुच्यते ॥ (कारयपसहिता) । राजदन्त शब्द का प्रयोग चरक में भी मिलता है । इससे Upper central incisors का बोध होता है । ये दाँत सामने विशेषतया प्रकट रहने के कारण इन्हीं के उपर दन्तपंक्ति की शोभा निर्भर होती है । इसलिये राजदन्त (दन्तानां राजा) कहलाते हैं ।

दन्तोद्भेद की प्रक्रिया—दाँतों की उत्पत्ति दन्तबीजों (Special dental germs) से होती है । ये बीज प्रत्येक जवड़े में प्रथम दाँतों के लिए दस और पुनर्दंतों के लिए सोलह होते हैं । प्रथम दाँतों के बीज आगे और पुनर्दंतों के पीछे होते हैं । दन्तबीज की कल्पना अधोर्गमसंज्ञ में स्पष्ट रूप में मिलती है—न पुनर्दन्तोत्पत्तिर्बलात्प्रपितानानां तदधिष्ठानेन धानुवीजमंत्रात् । (उत्तर २) । तदधिष्ठाने दन्ताधिष्ठाने गतो यो दन्तपोषणो धानुस्त्वदेव बीज तस्य माशात् । (इन्दु) । इस बीज से उचित काल पर दाँत उत्पन्न होकर मसूँहों की छेदकर जवड़े से बाहर आते हैं । इसी को दन्तोद्भेद कहते हैं । बालक का स्वास्थ्य ठीक न होने पर मसूँहों को छेदकर जब दाँत बाहर आते हैं तब जब, चिबूचिबूपाण, रोदन, झिड़केंदार पतले दस्त, निद्रानाश, भूगी, कर्णरुल, खोसी इत्यादि अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं । दाँत जब बाहर आने लगते हैं, तब मसूँहों में सरसराहट भी होती है जिसके कारण बालक हर एक चीज को मसूँहों से काटना चाहता है । यह एक स्वाभाविक कार्य है, जो दाँतों के बाहर आने में सहायता करता है । इसलिये दाँत निकलना प्रारम्भ होने पर बच्चे को कभी कभी पकाध चीज ऐसी देनी चाहिए, जिसमें दाँतों का उपयोग आवश्यक होता है । इससे दाँत जवड़े निकल आते हैं और मजबूत होते हैं—नो तु धातु कालकमेव पच्यमानो यदा दन्ताद्यधनमुपपद्यते तदास्य किञ्चिदुत्तेधेनोर्ध्वोदन्तमासपट्टना-दृक्पूर्वो जायते । तदन्ते च खेः षा वण्डरुनया चतुस्र इत्यने । यथादन्तमेव तदपरास्यमानयति । मारुतधारस्य दन्तमूलेषु मूर्धन्ति । ततः स कान्तुविद्योःस्थिमज्जविधनः सर्वतो विसरन् सृष्ट चित्तेन धानुन् मन्नाद्य इत्यन् विविधाभ्यन्वोदिनानुपदानानिर्निर्वर्तयति ॥

दाँतों का सङ्गत अस्थि के समान होता है (पौचर्वे अध्याय के २२वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । इसलिये आयुर्वेद में दाँत अस्थियों के साथ गिने गये हैं, दाँतों का उत्पत्तिहेतु अस्थि ही माना गया है—नारास्थिभ्रान्तो दन्तोत्पत्तिहेतुः । (अधोर्गमसंज्ञ) और अस्थिरोगों के साथ दाँतों के रोग भी बताये गये हैं—प्रस्थिष्वयेःस्थिरुल्ल दन्तनसमन्तो रोगश्च । अस्त्वन्वभ्यन्वधिदन्तान् । (सूत्र १२) । दाँतों को अस्थियों के साथ गिनने की आयुर्वेद की पद्धति यद्यपि पाश्चात्य मंत्रानुसार ठीक नहीं मादम होती तथापि यह वर्गीकरण रोगसंज्ञासि और चिकित्सा की दृष्टि से बहुत उपयोगी है । दाँतों और अस्थियों के लिए चूना (Calcium) और जीव-द्रव्य की (सूत्र ११-१२४ के वक्तव्य में जीवद्रव्य देखो) की आवश्यकता होती है । आहार में दोनों उपस्थित रहने से हड्डियों और दाँतों की दृष्टि ठीक होती है । एक वा

दोनों की कमी होने से फ्रक या अस्थिवक्रता (Rickets) । अस्थिसुदुता (Osteomalacia) , कुमिदन्त (Dente cario) इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं । अस्थिवक्रता वरुं का रोग है । इसमें चूने की कमी से या जीवद्रव्य की व कमी से चूने का सात्वकीकरण ठीक न होने से हड्डियाँ भी दाँवें ठीक नहीं बनते, जिससे हड्डियाँ मुड़ होती हैं और दाँवें देर में निकलते हैं तथा पराव होते हैं । हड्डिय मुड़ होने के कारण शरीर के दबाव से थक हो जाती हैं । यह वक्रता हाथ-पैर की हड्डियों में और पसलियों में अधिक दिखलाई देती है । अस्थि या दन्त के रोगों में, इसलिये, दूध अणुका, फल, साग-सब्जी, मछली का तेल, सूर्यप्रकाश इत्यादि चूना और जीवद्रव्य की इनसे युक्त आहार-विहार रखने से सफलता मिलती है । फल क्या है?—यह बच्चे का एक रोग है, जो कारयपसहिता में कुछ विस्तार सं वर्णन (फकचिकित्साध्याय) किया गया है । चरक सुश्रुतादि अन्य उपलब्ध ग्रंथों में इसका नाम तक नहीं मिलता । इसके कारण और लक्षण नीचे दिये जाते हैं— बालेः सवत्सराः (पत्रः) पादाभ्यां यो न गच्छति । स एक इति विवेकस्य वक्ष्यामि लक्षणम् । सद्यश्चित्तचन्द्रमरोरः शिरो-मुखाः । पीनाद्यो द्विजागदश्च दृश्यमानारिषिधरः । प्रस्तानाथर-कायश्च नित्यमूत्रपुरीकृत् । निश्चेष्टापरिव्रायो वा पाण्यजानु-गमोऽपि वा । दीर्घशाम्भुद्वेषेऽथ मदत्वाद परिभूतवः । मलका-कुमिदीदानां गन्धकासप्रश्लुत्स्क् । विशीघ्रदृष्टोमा च स्वधरोमा मशान्तः । दुर्गंधी मलिनः । कोषो फक् मसिति ताम्बिनि ॥ फक् का मुख्य लक्षण यह बताया गया है कि जिस समय बालक को चलना फिरना चाहिए, उस समय यह चल फिर नहीं सकता । इस लक्षण को चलनासामर्थ्य (ability to walk) कहते हैं । चलने का असामर्थ्य दो प्रकार का होता है—एक चलने फिरने का कार्य शुरू होने के बाद और दूसरा चलना फिरना शुरू होने के पहले । यहाँ पर एक वर्ष की जा मर्यादा बतलाई है, उससे यह असामर्थ्य दूसरे प्रकार का मादम होता है । इस असामर्थ्य के तीन कारण राबर्ट हचीसन देते हैं—अस्थिवक्रता (Rickets), अंगघात (Paralysis) और बुद्धिहीनता (Mentally defective) । फक रोग तीनों से एक होना चाहिए । अब अन्य लक्षणों का विचार किया जाता है । भ्रोः (विद्युः) —बच्चों के उदरभृष्टि के मुख्य दो कारण होते हैं—अस्थिवक्रता और उदरपथ (Tuberculosis) । शिरोबुद्धि के भी दो कारण होते हैं—अस्थिवक्रता और जलशीर्ष (Hydrocephalus) । निःसुरीकृष्ट—बार बार मलत्याग करने वाला प्रवाहिका (Diarrhoea) युक्त । यह लक्षण उपर्युक्त रोगों में से अस्थिवक्रता और आन्त्रपथ में होता है । मोषी—विषधिका (Irritable) । यह लक्षण अन्य रोगों की अपेक्षा अस्थिवक्रता में ही मिलता है । अस्थि टापयि—बमजोरी, छाती की विरुति, खोसी इनके कारण अस्थिवक्रता में सॉल हाथनी यह लक्षण अधिक मिलता है । संप्रेय में प्रधान लक्षण तथा अन्य लक्षणों का विचार करने पर फक आयुनिक अस्थिवक्रता (Rickets) मादम होता है । परंतु यदि शानो रोग क्षीप्रता से पै जाय तो दोनो ही एकता अवधी प्यान में बढ़ी आती । इसका कारण यह है कि अस्थि-

वक्रता के वर्णन में अधिक जोर शारीरिक विकृतियों के ऊपर दिया जाता है और फक्क के वर्णन में शारीरिक कार्य की विकृतियों के ऊपर दिया गया है ।

फक्क के कारण—धात्री क्लैमिकदुग्धा तु फक्कदुग्धेति संज्ञिता । तत्तीरोपो बहुव्याधिः काश्यात् फक्कत्वामान्युयात् ॥ क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसंभवम् । फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तम्—॥ (काश्यप-संहिता) । अस्थिवक्रता का मुख्य कारण जीवद्रव्य डी की कमी है । इसके सिवा चूने की कमी, स्नेह और प्रोभूजिनों की, पिष्टमय पदार्थों की अधिकता ये भी आहार के दोष इसके कारण माने जाते हैं । पाश्चात्य ग्रंथों में यह लिखा जाता है कि अस्थिवक्रता रोग कृत्रिम दुग्धपान करने वाले बालकों में होता है, स्तन्यपान करने वालों में नहीं होता । यह कथन ठीक नहीं है । जिस प्रकार का सदोष आहार बालक में अस्थिवक्रता रोग उत्पन्न कर सकता है, वही आहार माता का स्तन्यपान करने वाले बालक में माता के द्वारा वही रोग उत्पन्न कर सकता है । इसी दृष्टि से अगर देखा जाय तो सदोष स्तन्यपान फक्क का कारण हो सकता है और भारतवर्ष में कृत्रिम दुग्धपान की अपेक्षा सदोष स्तन्यपान इस रोग का अधिक महत्व का कारण होता है । इस रोग का मुख्य कारण जो जीवद्रव्य डी—वह जैसे खाद्य द्रव्यों से शरीर को मिलता है वैसे ही सूर्य की किरणों का शरीर की त्वचा पर कार्य होने पर शरीर में ही उत्पन्न होता है । भारतवर्ष सूर्य-प्रकाश वाला और उष्ण देश है । मनुष्यों की त्वचा भारतवर्ष में सूर्यकिरणों के लिए प्रतिदिन न्यूनाधिक समय तक अनावृत रहा करती है । स्त्रियों में इतनी अनावृति नहीं हो सकती, यह बात सत्य है । इसलिए उनके शरीर में जीवद्रव्य डी की कुछ कमी हो सकती है । यूरोप के शीत और अति-शीत प्रदेशों में जहाँ पर सूर्यप्रकाश की कमी होती है और मनुष्य हमेशा च्छाच्छादित रहते हैं, वहाँ पर जीवद्रव्य डी की कमी भारतवर्ष की अपेक्षा बहुत अधिक रहती है । इसलिए यूरोप के देशों में इस रोग का स्वरूप जितना तीव्र और प्रफुट्ट होता है, उतना भारतवर्ष में कदापि नहीं हो सकता; इस बात को जरूर ध्यान में रखना चाहिए । पाश्चात्य ग्रंथोक्त अस्थिवक्रता के लक्षणों से फक्क के लक्षण पूर्णतया न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें उपर्युक्त कारण बहुत महत्व का है ।

सम्प्राप्ति और लक्षण—जीवद्रव्य डी की कमी से चूना, भास्वर (फास्फोरस) तथा हड्डी के लिए आवश्यक अन्य खनिजों का शोषण और साल्मीकरण ठीक न होकर वे खनिज हड्डियों में भली भाँति संचित नहीं होते, जिससे अस्थियाँ मृदु रहती हैं और उनकी वृद्धि ठीक नहीं होती । इसका परिणाम यह होता है कि जिन हड्डियों के ऊपर दवाव पड़ता है, वे हड्डियाँ टेढ़ी हो जाया करती हैं । जैसे, हाथ-पैर की हड्डियाँ, छाती की पसलियाँ इत्यादि । यह लक्षण पाश्चात्य ग्रंथों में विशेष रूप से वर्णित होता है परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि यह लक्षण रोग की तीव्रता का निर्दर्शक है, जो भारतवर्ष में बहुत ही कम देखने में आता है । फक्क के लक्षणों में अस्थियों की वक्रता का निर्देश न होने का यही कारण हो सकता है । इस लक्षण के अतिरिक्त शोष सब लक्षण फक्क के वर्णन में मिलते हैं । जिनका निर्देश स्पष्ट रूप से नहीं है

वे निम्न लक्षण हैं । स्वस्थ बालक में पूर्वात्तलु १८-२४ वें महीने तक पूर्णतया बंद हो जाती है और दाँत ६-८ वें महीने में निकलने लगते हैं । फक्क या अस्थिवक्रता से पीड़ित होने पर दोनों में देरी हो जाती है और जो हड्डियाँ या दाँत बनते हैं, वे कमजोर और खराब होते हैं ।

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरत्न उपसर्गभ्यात् ; प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गभ्यो रक्ष्या वाला भवन्ति ॥५३॥

(ग्रहोपसर्गप्रतिषेध का उपाय—) बालक की रक्षा करने वाला हमेशा (ग्रहों के) उपसर्ग के भय से अवरोध के भीतर रहे, (क्योंकि) ग्रहों के उपद्रवों से बालकों की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी पड़ती है ॥ ५३ ॥

वक्तव्य—अवरोधरत—अवरोध का अर्थ अन्तःपुर या या मकान का अहाता होता है । समय असमय बालक को बाहर ले जाने के संबंध में यह निर्देश है । तीसरे महीने के बाद बालक को मकान के बाहर ले जाने में वैसी आपत्ति नहीं होती । पिछले सूत्र के वक्तव्य का प्रारंभ देखो ।

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्घात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जम्भते भ्रवौ वित्तिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्गमति सन्द्रष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्चा दोनार्त-स्वरो निशि जागति दुर्वलो भ्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छु-न्दरिम्कुण्णगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं, विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥ ५४ ॥

(ग्रहोपसृष्ट सामान्य लक्षण—) बालक उद्विग्न होता है, डरता है, रोता है, बेहोश होता है, धात्री को तथा अपने को नखों से खरोंचता है और दाँतों से काटता है, दाँतों को कटकटाता है, आवाज करता है, जम्माई लेता है, भौंहों को चढ़ाता है, ऊपर देखता है, (मुख से) क्षाम निकालता है, दाँतों से ओठों को काटने वाला, (देखने में) क्रूर, पतले और आँवयुक्त दस्त होने वाला, दीन और आर्तस्वर वाला, रात को जागता है, दुर्बल सुरक्षाये हुए अंग का, मड़ली छुछुन्दर और खटमल की गन्ध का, जैसे (ग्रहों का उपसर्ग होने से) पहले धात्री का दूध चाहता था वैसे नहीं चाहता है । ये ग्रहोपसर्ग के सामान्य लक्षण हैं । उत्तरतन्त्र (के सप्तार्दिसर्वे अध्याय) में विस्तारपूर्वक कहेंगे ॥५३॥

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावण विद्यां ग्राहयेत् ॥५५॥

(अध्यापनविधि—) उसकी शक्तिमान् समझकर वर्ण के अनुसार विद्या पढ़ावे ॥ ५५ ॥

वक्तव्य—शक्तिमन्तम्—विद्याग्रहणशक्तिमन्तम् । कौटिलीय अर्थशास्त्र में चौलकर्म के पश्चात् याने चौथे वर्ष से अङ्क और अक्षर पढ़ाने के लिए लिखा है—वृत्तचौतकर्मालिपि संख्यान् चोपयुजीत । (१-५) । रघुवंश में भी विद्याभ्यास के प्रारंभ का यही काल बतलाया है—त वृत्त-चूलश्लकाकपचकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः । लिपेयंथावद् ग्रहयेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ (३-२८) । यह लिपिसंख्या की शिक्षा वास्तव में विद्या नहीं कही जा सकती । वास्तविक विद्या का प्रारंभ उपनयन के पश्चात् होता है । यह उपनयन साधारणतया प्राहण का आठवें,

पुत्रिय का गदारहवें और वैरय का बारहवें वर्ष में होना है, परतु यदि कुमार अधिक शक्तिमान् (अर्थात् वर्णानुसार शक्ति का स्वरूप मिश्र होता है) हो तो ब्राह्मण का पौत्रवें वर्ष में, पुत्रिय का छठ वर्ष में, और वैरय का आठवें वर्ष में उपनयन किया जा सकता है— गर्माहनेऽप्ये दुर्वायं माह्वयत्योपनयनम् । गर्माह्वयेऽप्ये राशे गर्मांशु दास्ये विश । ब्रह्मचर्यव्रतस्य कार्यं विप्रस्य पश्ये । राशे बलाग्नि- पथे वैदयत्येऽहिनोऽप्ये ॥ (मनुस्मृति २-३६, ३७) । इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उपनयन के पूर्व वेद को छोड़कर अन्य विद्याओं को पढ़ा सकते हैं—ती व भगवता वाल्मीकिना भग्नोऽनं वल्लवः परिरुद्रा पोषितो परिरुद्रितो च वृषचोऽकर्मणोऽथ तपोऽधीवर्त्य- मित्रास्त्विको विद्या सावधानेन परिनिष्ठाविद्याः । समनन्तरं च गर्माह्वये वर्षे चात्रेण कल्पेनोपनीय गुरुणा त्रयीविद्यामध्यापितो ॥ (उचरारामधरित २) । दयावर्षान्—ब्राह्मणवर्षी, राज्ञो दण्डनोविम्, वैश्वो वासामिति । (बृहहण) । त्रयी—नामयं जुर्वेदास्तयज्ययी । वागी—कृषिवागुपाल्ये वाणिज्या च वागी । यर्माभर्मा अध्याम् । अर्षानर्षी वाद्यार्थम् । नवानयो दण्डनात्याम् ॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्र १-२, ३, ४) प्रत्येक वर्ण के लिए यह जो एक विद्या बताई गई है, वह मुख्यविद्या करके बताई गई है । इसके अतिरिक्त धर्मोदि विषयों का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिये । इसलिये घरक और अष्टांगसंग्रह में बालक की विद्या के संबंध में निम्न प्रकार से सर्वभाही वर्णन मिलता है—एवमेन कुमारभायोऽननसर्षेर्मांशुऽप्ये गमनाभाऽनुपालयेत् । (घरक) । शक्तिन्त यथावर्षं विद्यामध्या पवेत्त । मनुषिभ्याऽ सदा येन यर्मायं विनवाय च । यथा नैन्द्रिय दुष्टभेदिनये कीवनागमे ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षीयं द्वादशवर्षी पत्नीमा यहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥ ३६ ॥ (विवाह—) विद्या समाप्त कर चुकने के पश्चात् पत्नीस वर्ष की उम्र वाले धातक को बारह साल की पत्नी प्रदान करे, जिससे कि वह पित्र्य, धर्म, अर्थ, काम और प्रजा को प्राप्त हो जाय ॥ ३६ ॥
 वक्ष्य—पञ्चविंशतिवर्षीय—इससे निश्चित आयु मानने की आवश्यकता नहीं है । पुरुषों की विवाह की आयु विद्याभ्यास के ऊपर निर्भर होती है । यह स्थिति प्राचीन काल में थी और आधुनिक काल में भी है । विद्याभ्यास का काल विद्याओं की संख्या और बुद्धि की बुराप्रता के अनुसार न्यूनाधिक होता है । इसलिये पत्नीस वर्ष से केवल जीवन प्राप्ति का बोध लेना चाहिए । ऊपर घरक का वचन देखो । अष्टांगसंग्रह में विवाह की आयु २१ साल की बताई है—पुनारनेविशतिवर्षं क्वाः द्वादशवर्षेऽपीमायुः वदते ॥ पत्नीस से अधिक भी आयु ही सकती है—विश्रमर्षेऽहेतव्यां दुर्वाः द्वादशवर्षीयम् ॥ (मनु १-१४) । द्वादशवर्षान्—प्राचीन काल में स्त्रियों के विवाह की यह साधारण आयु है । स्त्रियों के विवाह की आयु में बहुत फर्क नहीं होता था, क्योंकि आर्यसभ्यता के पूर्व उनका विवाह कराना वह धार्मिक विषय था । कभी कभी बाहर साल से कम उम्र में भी स्त्रियों का विवाह होता था—उचरारामधरिणी वा यर्षे लीरुः सत्वर ॥ (मनुस्मृति ९-१४) । द्वादश वर्ष विवाह के

लिए योग्य काल होने पर भी समागम के लिए योग्य काल नहीं होता है । आगे के श्लोक देखो । पित्र्यधर्मार्थकामप्रजा—विद्वित् कर्म पित्र्य ब्राह्मणानादि, धर्मं द्रुविस्त्वृतिविवित यज्ञानुष्ठानम्, धर्मं सुवर्षादिः, कामं स्वेषु स्वेतु विवेदिभित्तिद्रायाणामानुक्त्यन प्रशुचि, प्रजा पुत्रयोऽपय ॥ (बृहहण) । काम और प्रजा स्त्री के विना नहीं मिल सकती, यह स्पष्ट है । धात्र, यज्ञ आदि धार्मिक कर्मों में स्त्री की आवश्यकता होती है । उसके बिना ये कर्म नहीं कर सकते । इसलिये स्त्री सद्गर्भधारिणी कहलाती है । अर्थ के संबंध में कुछ शंका उपस्थित हो सकती है । स्त्री प्रत्यक्ष पैसा कमाती नहीं है परतु पति से कमाये हुए पैसे की रक्षा करती है—धर्मस्य समये चैनां न्यये चैव नियोजयेत् । शीवे धर्मोऽन्यत्कर्त्ता च पारिणामस्य वैषण ॥ (मनुस्मृति ९-११) । प्राप्तायं का ठीक ब्यय करना, यह भी अर्थप्राप्ति का एक साधन है—Money saved is money earned

अगले श्लोक के साथ तथा सुश्रवण के ३२वें अध्याय के १४वें श्लोक के साथ अगर इस सूत्र का समन्वय करना हो तो 'पञ्चविंशतिवर्षीयं' के बदले अष्टांगसंग्रह के अनुसार 'पञ्चविंशतिवर्षीयं' ऐसा पाठ होना चाहिए, अथवा 'द्वादशवर्षीयं' के बदले 'पौत्रवर्षीयं' ऐसा पाठ होना चाहिए । परतु दूसरा पाठ प्राचीन कल्पना के अनुसार ठीक नहीं हो सकता इसलिये प्रथम पाठमेव ही सत्युक्तिक है ।

ऊनपोऽदशवर्षीयामप्रासः पञ्चविंशतिम् । यथाघृते पुमान् गर्भं कुत्तिस्थः स विपश्यते ॥ ३७ ॥ जातो या न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्मलेन्द्रियम् । तस्मादत्यन्तयास्तायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ ३८ ॥

(प्रथम गर्भाधानकाल—) सोलह साल से कम उम्र (की स्त्री) में पत्नीस को प्राप्त व हुआ पुरुष यदि गर्भ का आधान करे तो वह (गर्भ) कुचि में ही मर जाता है ॥ ३७ ॥ या जन्म ले तो देर तक नहीं जीता, या दुर्बल इन्द्रिययुक्त जीता है । इसलिये अत्यन्त बाल्य में गर्भ का आधान न करे ॥ ३८ ॥

वक्ष्य—इस विषय का विवरण सुश्रवण के ३१ वें अध्याय के १४ वें श्लोक के वक्ष्य में किया गया है । आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है कि, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, सोलह साल के पहले मनुष्यशरीर स्वयं प्रजा उत्पादन करने में असमर्थ होता है—नोऽवर्षवर्षोऽहो गिरिगुरुकोर्मोऽप्ये प्रभवत । (कारयप संहिता जासिस्त्रीय शारीरान्याय) । इसका कारण यह है कि इस आयु में तथा इसके पूर्व स्त्री-पुरुषों के लोहित रक्त अपरिपक होते हैं । अर्थात् अपरिपक रक्त जैसे उत्तम भंडार उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, वैसे ही अपरिपक दुग्धसाहित उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में असमर्थ होता है । उचित—यह कोई आवश्यक नहीं है कि यहाँ पर बताया हुए परिणाम हो जाय । बाल्यावस्था में गर्भाधान करने से क्या हो सकता है, इसका दिग्दर्शन कुशिरय इत्यादि से किया गया है । अत्यन्त बाल्यावस्था—सोलह साल की स्त्री बाला कहलाती है—अपेति नीये नरो वास्वर्षीयं बोधम् । (योगरत्नकर) । इसलिये सोलह साल से जिनकी आयु कम होती है, वह अल्पय बाला की होती है, उसमें । अनियुक्तयां दाम्पत्यगिण्यामभ्येन या विचारेणोप

सृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत । पुरुषस्याप्येवंविधस्य
त एव दोषाः संभवन्ति ॥ ५६ ॥

(गर्भाधान के लिए अयोग्य—) अतिवृद्धा, दीर्घकाल
से रोगपीडित या अन्य विकार से उपसृष्ट स्त्री में गर्भाधान
न करे । इस प्रकार के पुरुष (से भी गर्भाधान कराने) के
वही दोष होते हैं ॥ ५५ ॥

वक्तव्य—अतिवृद्धा—अतिवृद्धाचारिणी । प्रौढ कुमारी,
विवाह के समय जिसकी आयु बहुत अधिक हो, ऐसी ।
बूढ़ी स्त्री ऐसा इसका अर्थ नहीं है । पुरुष के संबंध में मात्र
इसका अर्थ बूढ़ा पुरुष ऐसा है । इसका कारण यह है कि
गर्भाधान करने की योग्यता की आयुर्मर्यादा पुरुषों में
निश्चित नहीं होती, परंतु स्त्रियों में गर्भग्रहण करने की आयु
निश्चित होती है । उसके पश्चात् तरुण पुरुष भी स्त्री में गर्भ
का आधान नहीं कर सकता । त एव दोषाः—कुलिस्थः स
विपद्यते इत्यादि । विशेष विवरणों के लिए अध्याय के ३४वें श्लोक
के वक्तव्य में 'स्त्री पुरुषों का प्रथम सन्तानोत्पादक काल' देखो ।

तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भं गर्भाशय-
कटीवह्णवस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च, तत्र शीतैः
परिपेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनीयशृतक्षीरपा-
नैश्च; गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्ततसन्धारणार्थं क्षीर-
मुत्पलादिसिद्धं पाययेत्; प्रसंसमाने सदाहपार्श्व-
पृष्ठशलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः, स्थानात् स्थानं
चोपक्रामति गर्भं कोष्ठे संरम्भः, तत्र क्षिग्धशीताः
क्रियाः; वेदनायां महासहानुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्रा-
कण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाय-
येत्, मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धम्; आनाहे दिङ्गुसौवर्चल-
लशुनवचासिद्धम्; अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठा-
गारिकागारमृत्पिण्डसमङ्गाघातकीकुसुमनवमालिका-
गैरिकसर्जरसरसाखनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथा-
लाभं न्यग्रोधादित्वकप्रवालकल्कं वा पयसा पाय-
येत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूक-
कल्कं वा शृतेन पयसा, उदुम्बरफलौदककन्दकाथेन
वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिण्डं, न्यग्रोधादिस्वरस-
परिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्; अथा-
दृष्टशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमञ्जिष्ठापयस्या-
सिद्धं पयः पाययेत्, तदेवाश्रमन्तकशतावरीपयस्या-
सिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा, बृहतीद्वयोत्पल-
शतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा, एवं क्षिप्रमु-
पक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते; ध्यव-
स्थिते च गर्भे गव्येनोडुम्बरशलाट्टसिद्धेन पयसा
भोजयेत्; अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभिरुद्द-
लकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो
मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि; वस्त्युदरश्लेषु पुराण-
गुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा ॥ ६० ॥

(गर्भपात की चिकित्सा—) पूर्वोक्त कारणों से गर्भ
गिरने लगे तो गर्भाशय, कटी, बङ्घण, वस्ति (इन स्थानों)

में पीड़ा और (योनि से) रक्तस्राव होता है । उस समय
शीतल परिपेक, अवगाहन तथा प्रलेपों से (बाह्य) और
जीवनीय ओपधियों से सिद्ध क्षीरपान से (आभ्यन्तरीय)
चिकित्सा करे । गर्भ का स्फुरण होने पर उसको शान्त
करने के लिए उत्पलादिसिद्ध क्षीर चार चार पिलावे ।
गर्भस्राव के समय दाहयुक्त पार्श्वों और पीठ में शूल, योनि
से रक्तस्राव, आध्मान और मूत्रावरोध होता है । गर्भ के
एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते समय कोष्ठ में खलबली
मचती है । उसके लिए स्निग्ध और शीत चिकित्सा करनी
चाहिए । वेदना होने पर मापपर्णों, मुद्गपर्णों, मुलहठी,
गोखरू, इनसे सिद्ध दूध खॉड और मधु मिलाकर
पिलावे । मूत्रावरोध में दर्भादि (तृणपञ्चमूल) सिद्ध
(दूध पिलावे) । आनाह में हींग, सौवर्चल लवण, लशुन
और वचा से सिद्ध (दूध) पिलावे । अत्यधिक रक्तस्राव
होने पर कोष्ठागारिका (नामक कीड़े) के घर की मिट्टी,
मञ्जिष्ठा, धाय के फूल, वनमल्लिका के फूल, गेरू, राल,
रसांजन इनमें से जितने द्रव्य मिल सकें उनका चूर्ण
मधु के साथ चटावे; अथवा न्यग्रोधादि घृत्तों की त्वचा
और कोंपल के कल्क को दूध के साथ पिलावे; अथवा
उत्पलादि के कल्क को या कसेरू सिंघाड़ा तथा कमलकन्द
के कल्क को उचाले हुए दूध के साथ पिलावे; अथवा शालि-
धान्य के पिष्ट को शर्करा और मधु से मधुर किये हुए
गूलर के फल के और (कमल आदि) जलकन्द के काथ
के साथ पिलावे; अथवा न्यग्रोधादि घृत्तों के स्वरस में
भिगोये हुए कपड़े को योनि में धारण करावे । रक्तस्राव के
विना पीड़ा होने पर मुलहठी, देवदारु, मञ्जिष्ठा और
क्षीरकाकोली इनसे सिद्ध दूध पिलावे; अथवा पापाणभेद,
शतावरी, क्षीरकाकोली से सिद्ध अथवा विदारिगन्धादिगण
से सिद्ध दूध पिलावे; अथवा छोटी और बड़ी कटेरी,
नीलोत्पल, शतावरी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और
मुलहठी से सिद्ध दूध पिलावे; इस प्रकार तुरन्त चिकित्सित
स्त्री की वेदनाएँ नष्ट होती हैं और गर्भ भी वृद्धि को प्राप्त
होता है । गर्भ व्यवस्थित रहने पर कच्चे गूलर के फल से
साधित गोदुग्ध के साथ भोजन करावे । यदि गर्भ गिर
जाय तो पाचनीय द्रव्यों से संस्कृत नमक और घृत से
विरहित उद्दालक आदि (जंगली कुधान्य) की यवागुओं
से जितने महीने का गर्भ गिरा हो, उतने दिन चिकित्सा
करे; वस्तिदेश तथा उदर में शूल हो तो दीपनीय द्रव्यों
से पुराना गुड़ खिलावे अथवा अरिष्ट पिलावे ॥ ६० ॥

वक्तव्य—पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भं—मूढगर्भ
निदान के दूसरे सूत्र में, दसवें श्लोक में और इस अध्याय
के दूसरे सूत्र में बतलाये हुए कारणों से गर्भपात होने पर ।
प्रसंसमाने गर्भ—Inevitable abortion. कोष्ठे संरम्भः—
श्रामपच्यमानपकाशयादी क्षोभः । (इहण) । पेट में खलबली
मचना या अत्यन्त बेचैना मालूम होना । औदकाः कन्दाः—
कसेरूशालुकनदीमापकादयः । (इहण) । पयस्या—अर्क-
पुष्पी । (इहण) । व्यवस्थिते—स्थिरीभूते । अतीते—पतित
इत्यर्थः । दीपनीयसंयुक्तम्—पन्नकोलचूर्णसंयुक्तम् । अरिष्टम्—
श्रमयारिष्टादिकम् । गर्भश्चाप्यायते—तन्त्रान्तरे चोपविष्टकाख्योऽयं
गर्भः कथितः । (इहण) । उपविष्टक का स्वरूप निम्न

प्रकार से वर्णन किया है—तब यस्या वादाचित्सांतवपरि-
सागन्तौ च इदयदे सतन च गर्भं प्राप्तापरिमाणारपरिहीयमान
व स्फुरति न व कुचिर्विकथते सप्रपविष्टकमित्वाचपठते ॥
(अष्टांगसंग्रह) । उपविष्टक का स्वरूप स्वावहारिक परि-
भाषा में निम्न प्रकार से बता सकते हैं । जैसे, एक स्थान
से दूसरे स्थान को जाने वाला मनुष्य यकावट के कारण
बीच में थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है याने प्रवास बंद
करता है और फिर प्रवास शुरू करके अपने स्थान को
पहुँचता है, वैसे ही वृद्धि रूप प्रवास करने वाला गर्भ
बीच में कारणवश बैठ जाता है (उपविशति) याने वृद्धि
रूप प्रवास बंद कर देता है और फिर अपना प्रवास करता
है याने वृद्धि शुरू करता है और अपने इच्छित स्थान को
पहुँच जाता है । सर्वप्रथम उपविष्टक का अर्थ बीच में कुछ
काल तक बैठने वाला गर्भ—गर्भो वृद्धिमगानुवनुपविशति ॥
(अष्टांगसंग्रह, शां ४) ।

इस सूत्र में गर्भस्राव (Abortion) या गर्भपात (Mi-
scarage) के लक्षण और चिकित्सा वर्णन की गई है ।
गर्भस्राव और गर्भपात ये दो शब्द काल के अनुसार गर्भ
के गिर जाने के लिए प्रयुक्त (सूदगर्भनिदान ८६ अध्याय
के ११वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं । परंतु व्यवहार
में दोनों पर्यायरूप से ही प्रयुक्त होते हैं । गर्भपात के दो
मुख्य लक्षण होते हैं—(१) पीडा (Pain)—बहु पीडा
गर्भाशय के आकुंचन से उत्पन्न होती है और आकुंचन की
सीमातीव्रता पर पीडा की सीमातीव्रता निर्भर होती है ।
सूत्र म वेदना, शूल, सरभ, आनाह, मुखसग इत्यादि जो
लक्षण वर्णन किये हैं, वे इसी के ही विविध स्वरूप या
परिणाम हैं । (२) नस्राव (Uterine haemorrhage)—
योनि से रक्तस्राव होना यह गर्भपात का महत्त्व का लक्षण
है । रक्त का स्राव एकाएक और अधिक राशि में या धीरे
धीरे और अल्प राशि में हो सकता है । प्रायः यह रक्तस्राव
थोड़ी थोड़ी देर के बाद चार चार (Recurring) हुआ करता
है । गर्भाशय की अन्तःकला से रक्त और अपरा पृथक होने
के कारण रक्तस्राव हुआ करता है । इन दो लक्षणों के
अलावा और दा लक्षण मिल सकते हैं । वे इनके परिणाम-
स्वरूप में होते हैं । इनमें प्रथम है निपात (Collapse) ।
यह लक्षण अधिक रक्तस्राव होने के कारण उत्पन्न होता
है । दूसरा लक्षण है गर्भाशयसुखविस्तृति (Distention of
the uterus) । यह लक्षण गर्भाशयस्कोच के कारण
उत्पन्न होता है । रक्तस्राव का ही निर्वेश ऊपर सूत्र में
रक्तदर्शन, असुखकरके किया गया है । ये दोनों लक्षण
जब किसी स्त्री में, जिसमें गर्भधारणा के निश्चित लक्षण
मिलते हैं, मिल जायें तो गर्भपात की आशंका करके उसके
अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए ।

गर्भपात कई प्रकार का होता है । जब पीडा और रक्त
दर्शन होने पर भी गम चिकित्सा से गर्भाशय में रहकर वृद्धि
कर सकता है, तब उसकी परिहार्य (Threatened) गर्भपात
कहते हैं । जब पिप्रमुक्ता-नावा तपान्तने स्त्री गर्भस्थापयाने
व्यवस्थिते च गर्भे । उपविष्टक गर्भं ये स्य शब्द परिहार्य गर्भ
पात के हैं । जब गर्भ और अपरा गर्भाशय से अधिक पृथक्
होती है, रक्तस्राव और पीडा अधिक होती है, गर्भाशय का

मुख काफी विद्युत हो जाता है और जब चिकित्सा करने पर
भी पुनश्च गर्भ के आप्यायन की आशा नहीं की जा सकती
तब उसको अपरिहार्य (Inevitable) गर्भपात कहते हैं ।
इसका उल्लेख सूत्र में 'प्रसप्तमाने' करके किया गया है । जब
गर्भ पूर्णतया गिर जाता है, तब उसको पूर्ण (Complete)
गर्भपात कहते हैं । इसका उल्लेख सूत्र में 'भनोति' करके किया
गया है । जब गर्भ या अपरा का कुछ हिस्सा गर्भाशय में रहता
है, तब उसको अपूर्ण (Incomplete) गर्भपात कहते हैं ।

माध्यासाध्वना—चरक का मत है कि प्रथम तीन महीने
के गर्भ अज्ञातसार होने के कारण प्रायः ये गर्भाशय में स्थिर
नहीं हो सकते, इसके पश्चात् हो सकते हैं—ना वेपचारात्
द्रवोक्षिपु वा मासेषु पुष्प परवेनास्या गर्भं स्थारयति विद्यात् ।
पञ्चासतरो दि तस्मिन् याने भवति गर्भे ॥ (शारीर ८) ।
साधारणतया परिहार्य गर्भपात का परिहार चिकित्सा से
होता है । अपरिहार्य गर्भपात का परिहार नहीं होता ।
चिकित्सा—गर्भपात के लक्षण मालूम होते ही स्त्री को विस्तरे
पर धाराम से रखना चाहिए । खान-पान, मल-मूत्रविसर्जन
इत्यादि के लिए उठना बैठना, कुन्यना इत्यादि कम बर्ण
करने चाहिए—शयनं तावद्गुडुलक्षिरित्तरणसखीयमोषवदन
तस्मिन्क प्रविष्टसैति । कोपशोकापातव्यापयव्यापामेव्याधिर
नेत्, सोम्यागिचैना कथामिर्नोनुकृताभिरासीत् ॥ (चरक) ।
तीव्र चिरेचन या रक्ति न देना चाहिए । ये स्वरूप स्त्री में
भी गर्भपात उत्पन्न कर सकते हैं तो जो गर्भपात से पीडित
है, उसमें निश्चिति से गर्भ का नाश कर देंगे । खाने के लिए
दूध जैसा हल्का आहार दिया जाय । परिहार्य गर्भपात में
हस्ती से प्रायः कार्य हो जाता है । रक्तस्राव और पीडाहरण
की सूत्रक ओषधियाँ दे सकते हैं । पीडाहरण के लिए
पाश्चात्य वैद्यक में अफीम या माफिया (१/४ ग्रेन त्र्यधा द्वारा)
या ओमाइडम् देते हैं । रक्तस्राव रोकने के लिए अर्गट,
हेमस्टिस्ट, हीमोस्टाटिक सीरम इत्यादि ओषधियाँ देते हैं ।
इसके अलावा योनि में टेण्ट (Tent) रखने का भी प्रवन्ध
होता है । ऊपर के सूत्र में 'वक्षारवचनो न्याय धारयेत् देखो ।
अपरिहार्य गर्भपात में जब रक्तस्राव अधिक होता है और
गर्भ बाहर नहीं निकलता या अपूर्ण निकलता है, तब गर्भ-
शय को दवाकर (Expressing) या अङ्गुल या तालयत्र
(Curett) को गर्भाशय में प्रविष्ट करके गर्भ को निकालने
की कोशिश की जाती है । गर्भ गिर जाने पर सुतिका के
समान उसकी चिकित्सा करे । पतित गर्भ की चिकित्सा
अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से बतलाई है—गर्भं निपतिते
वीर्य मय सारभवेन विनत । गमनोद्धविशुद्धयमतिविस्मरकाय
च ॥ लघुना पञ्चमूलेन कृपां वेयां तव पिनेत् । देवाममया वने
साधित्वा पाञ्चनीके ॥ क्लिन्तारिपञ्चयकामे क्लिन्तारिपञ्चयकामे
नासतुवद्विदान्येव येयारि पतिवे क्रम ॥ (शारीर २) । अथा
इष्टीकितवेरनापयम्—इसमें अ का अर्थ ईश्वर या अमाव हो
सकता है । गर्भपात में पीडा होती है परन्तु यह बहुत तीव्र
नहीं होती । इसका साथ प्रायः रक्तस्राव होता है । जब
रक्तस्राव कम होता है या नहीं होता तथा वेदना अत्यधिक
होती है, तब बहिर्गर्भाशय गर्भपात (Captured extra
uterine pregnancy) का भी भयान रखना चाहिए । इसके
लिए शस्त्रकर्म के सिवा और कोई चिकित्सा नहीं होती है ।

वहिर्गर्भं गर्भावस्था के लिए ३ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में 'संसृज्यते चार्तवेन' की टिप्पणी देखो ।

वातोपद्रवग्रहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उक्तोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्, मापतिलविल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्मापान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिवेत् सप्तरात्रं; कालातीतस्थायिनि गर्भं विशेषतः सधान्य-मुदूखलं मुसलेनाभिह्न्याद्विप्रमे वा यानासने सेवेत; वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुञ्चि न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं वृंहणीयैः पयोभिर्मांस-रसैश्चोपचरेत्; शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमव-क्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोप-शान्तं नैगमेपापहतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः; तत्रापि लीनवत् तीकारः ॥ ६१ ॥

(लीन और उपशुष्क गर्भ—) स्रोतों के वात के पद्रव से पीड़ित होने के कारण गर्भ लीन हो जाता है । ह अधिक काल तक (गर्भाशय में) रहता हुआ मर जाता है । (इस लीन गर्भ में) छी की मृदु स्नेहादि से चिकित्सा करे, उक्तोश (कुररी—पचिविशेष) के मांसरस से साधित यवागूं पर्याप्त जेह से युक्त पिलावे, अथवा उदूद तिल तथा बेल के शलाटु से साधित कुल्माप खेलावे और पश्चात् सात दिन तक मधुसह माध्वीक पीवे । अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में विशेषतया ऊबल में धान्य डालकर कूटे, अथवा विषम वाहन या आसन पर बैठे । वात से पीड़ित होने पर भी गर्भ सूख जाता है । वह माता की कुञ्चि को पूर्णतया वहीं व्यापता और धीरे धीरे हलचल करता है । उसकी माता को पुष्टिकर दूध और मांसरस से चिकित्सित करे । वायु से पीड़ित हुआ शुक्रशोणित जीवात्मा की अवक्रान्ति होने पर उदर को फुला देता है । वह कदाचित् अचानक शान्त होने पर नैगमेपापहत कहलाता है । वही कदाचित् धीरे धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है । यहाँ पर लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—लीयते गर्भः— इसको लीनगर्भ कहते हैं— यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसृष्टो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः । (अष्टांगसंग्रह) । माध्वीकम्—महुवे का या द्राक्षा का मधु । कालातीतस्थायिनि गर्भं—गर्भाशय में गर्भ के रहने के योग्य काल का विचार तीसरे अध्याय के ३९वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है; उस काल के पश्चात् । मुसलेनाभिह्न्यात् श्यादि—ये उपाय गर्भाशय में संकोच पैदा करने के लिए होते हैं । पीछे ७ वें सूत्र के वक्तव्य में अन्तिम भाग देखो । कुञ्चि न पूरयति—मासानुमासिक वृद्धि के अनुसार कुञ्चि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए, उतनी वृद्धि नहीं होती है । नागोदर—इसी को उपशुष्क भी कहते हैं—उपशुष्कं नागोदरं च । (अष्टांगसंग्रह) । तं गर्भमुपशुष्कनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते । (इन्दु) । नैगमेपा-

पहत—नागोदर या उपशुष्क में गर्भधारणा होने के बाद कुछ काल तक गर्भवृद्धि होकर उसके पश्चात् उसकी वृद्धि रुक जाती है और गर्भ सूखने लगता है । जो लोग भूत-पिशाच के ऊपर विश्वास करते हैं, वे इस विकार को नैगमेपापहत कहते हैं । वास्तव में वातविकृति का यह एक परिणाम है ।

इस सूत्र में लीन और उपशुष्क या नागोदर या नैगमेपापहत करके गर्भ के दो विकार वर्णन किये गये हैं । आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यद्यपि इनके लिए निश्चित पर्याय देना मुश्किल है तथापि ये गर्भाशयस्थ मृतगर्भ (Intra-uterine death of the foetus) या मांस-गर्भ (Carneous mole) के समान मालूम होते हैं । इनमें लीनगर्भ कौन है और उपशुष्क कौन है? कहना कठिन है तथापि अगर नामकरण करना हो तो लक्षणों के अनुसार लीनगर्भ को Missed abortion कह सकते हैं । इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—In exceptional cases, however, the dead foetus is not expelled from the uterus at once, but is retained for months, the so called 'missed abortion'. *Ten. Teachers's Midwifery*. नागोदर को Carneous mole कह सकते हैं ।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः ॥ ६२ ॥

अब इसके पश्चात् मासानुमासिक (गर्भपात का चिकित्साक्रम) कहेंगे ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—ये मासानुमासिक ओपधियाँ गर्भस्रावप्रतिषेधक होती हैं । अतः जिनमें गर्भस्राव की प्रवृत्ति होती है, उनमें इसका उपयोग करना उचित है ।

मधुकं शाकवीजं च पयस्या सुरदार च । अश्रमन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥ ६३ ॥

चुत्तादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा । अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च ॥ ६४ ॥

वृहत्स्यौ काशमरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्रयो वृतम् । पृश्निपर्णी वला शिशु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥ ६५ ॥

शृङ्गाटकं विसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता । चत्सैते सप्तयोगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः ।

यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पय्युताः ॥ ६६ ॥ कपित्थवृहतीविल्वपटोलेज्जुनिदिग्धिका ।

मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद् भिपगष्टमे ॥ ६७ ॥ नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिवेत् ।

क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्यादशमे हितम् ॥ ६८ ॥ सर्कारा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदार च ।

एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥ ६९ ॥ (मासानुमासिक ओपधिक्रम—) (१) सुल्हठी, सागवान का बीज, क्षीरकाकोली और देवदार । (२) पापाणभेद, काले तिल, मञ्जिष्ठा, शतावरी ॥ ६३ ॥ (३) चुत्तादनी (वाँदा), क्षीरकाकोली, लता (गुहूची अथवा प्रियङ्गु) और अनन्तमूल । (४) अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, रास्ना, पद्मा और सुल्हठी ॥ ६४ ॥ (५) छोटी और बड़ी वृहती,

प्रकार से वर्णन किया है—तत्र यस्याः कादाचित्कान्तर्परि-
 स्थापनो न इदमेतं सन्न च गर्भः प्रासात्परिमाणापरिहीयमान
 न्व स्फुरति, न च दुर्चिर्निवर्धते तमुपविष्टकमित्याचक्षते ॥
 (अष्टागसम्प्रद) । उपविष्टक का स्वरूप भ्यावहारिक परि-
 माणा में निम्न प्रकार से बता सकते हैं । जैसे, एक स्थान
 से दूसरे स्थान को जाने वाला मनुष्य थकावट के कारण
 बीच में थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है याने प्रवास बंद
 करता है और फिर प्रवास शुरू करके अपने स्थान को
 पहुँचता है, वैसे ही वृद्धि रूप प्रवास करने वाला गर्भ
 बीच में कारणवश बैठ जाता है (उपविशति) याने वृद्धि
 रूप प्रवास बंद कर देता है और फिर अपना प्रवास करता
 है याने वृद्धि शुरू करता है और अपने इच्छित स्थान को
 पहुँच जाता है । सचेष्ट में उपविष्टक का अर्थ बीच में कुछ
 काल तक बैठने वाला गर्भ—गर्भो वृद्धिप्रामुख्यनुपविशति ॥
 (अष्टागसम्प्रद, शा० ४) ।

इस सूत्र में गर्भनाश (Abortion) या गर्भपात (Mi-
 carriage) के लक्षण और चिकित्सा वर्णन की गई है ।
 गर्भनाश और गर्भपात ये दो शब्द काल के अनुसार गर्भ
 के गिर जाने के लिए प्रयुक्त (मूढगर्भनिदान ८वें अध्याय
 के १३वें श्लोक का वक्ष्य देखो) होते हैं । परंतु व्यवहार
 में दोनों पर्यायरूप से ही प्रयुक्त होते हैं । गर्भपात के दो
 मुख्य लक्षण होते हैं—(१) पीडा (Pain)—यह पीडा
 गर्भाशय के आकुंचन से उत्पन्न होती है और आकुंचन की
 तीव्रतावत्ता पर पीडा की तीव्रतावत्ता निर्भर होती है ।
 सूत्र में वेदना, गुल, सन्म, आनाह, सूत्रसग इत्यादि जो
 लक्षण वर्णन किये हैं, वे इसी के ही विविध स्वरूप या
 परिणाम हैं । (२) रक्तान्ध *Uterine haemorrhage*—
 योनि से रक्तस्राव होना यह गर्भपात का महत्त्व वा लक्षण
 है । रक्त का छाव प्लाएक और अधिक राशि में वा धीरे
 धीरे और अल्प राशि में हो सकता है । प्रायः यह रक्तस्राव
 थोड़ी थोड़ी देर के बाद बार बार (Recurring) हुआ करता
 है । गर्भाशय की अन्तःशला से गर्भ और अपरा पृथक् होने
 के कारण रक्तस्राव हुआ करता है । इन दो लक्षणों के
 अलावा और दो लक्षण मिल सकते हैं । वे इनके परिणाम-
 स्वरूप में होते हैं । इनमें प्रथम है निपात (Collapse)—
 यह लक्षण अधिक रक्तस्राव होने के कारण उत्पन्न होता
 है । दूसरा लक्षण है गर्भाशयमुल्लिखित (Dilata ion of
 the Uterus) । यह लक्षण गर्भाशयसंकोच के कारण
 उत्पन्न होता है । रक्तस्राव का ही निर्देश उपर सूत्र में
 रक्तदर्शन, अस्फुर करके किया गया है । ये दोनों लक्षण
 अथ किसी भी में, जिसमें गर्भधारणा के निश्चित लक्षण
 मिलते हैं, मिल जायें तो गर्भपात की आशंका करके उसके
 अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए ।

गर्भपात कई प्रकार का होता है । अथ पीडा और रक्त
 दर्शन होने पर भी गभ चिकित्सा से गर्भाशय में रहकर वृद्धि
 कर सकता है, तब उसको परिहाय (Threatened) गर्भपात
 कहते हैं । जब विपुपुष्पा-नाश उपरान्ते होवे गर्भभाष्यादने,
 अर्थात् गर्भ गम्ये । उपविष्टक गर्भ ये सब शब्द परिहाय गर्भ
 पात के हैं । जब गर्भ और अपरा गर्भाशय से अधिक पृथक्
 होती है, रक्तस्राव और पीडा अधिक होती है, गर्भाशय का

मुल काफी विद्युत हो जाता है और जब चिकित्सा करने पर
 भी पुनश्च गर्भ के आष्यायन की आशा नहीं की जा सकता
 तब उसको अपरिहाय (Inevitable) गर्भपात कहते हैं ।
 इसका उल्लेख सूत्र में 'प्रसंसमाने' करके किया गया है । जब
 गर्भ पूर्णतया गिर जाता है, तब उसको पूर्ण (Complete)
 गर्भपात कहते हैं । इसका उल्लेख सूत्र में 'अगते' करके किय
 गया है । जब गर्भ वा अपरा का कुछ हिस्सा गर्भाशय में रहता
 है, तब उसको अपूर्ण (Incomplete) गर्भपात कहते हैं ।

साध्यासाध्या—चरक का मत है कि प्रथम तीन महीने
 के गर्भ अजातसार होने के कारण प्रायः वे गर्भाशय में स्थिर
 नहीं हो सकते, इसके पश्चात् हो सकते हैं—ना शेरचरात्
 द्योत्पिपु वा मासेषु पुष्य पश्येन्नास्या गर्भः स्वास्त्याति विधाप ।
 पञ्जावसरो हि तस्मिन् काले भवति गर्भः ॥ (शारीर ८) ।
 साधारणतया परिहाय गर्भपात का परिहार चिकित्सा से
 होता है । अपरिहाय गर्भपात का परिहार नहीं होता ।
 चिकित्सा—गर्भपात के लक्षण मालूम होते ही स्त्री को विस्तरे
 पर आराम से रखना चाहिए । खान-पान, मल-मूत्रविसर्जन
 इत्यादि के लिए उठना बैठना, कुन्थना इत्यादि कर्म बर्ज्य
 करने चाहिए—रथन ताकमूढसुखान्तिरिहारेणसस्तीघमपीनयन-
 तशिरस्क प्रतिपद्यस्तेति । श्लेषजोवायासन्यायाव्यावायेभ्यश्चाभिर-
 वेद, सौम्याभिर्येनो कथामिर्मनोमुहलाभिव्यासीत् ॥ (चरक) ।
 तीव्र विरेचन या वस्ति न देना चाहिए । ये स्वरथ की में
 भी गर्भपात उत्पन्न कर सकते हैं तो जो गर्भपात से पीडित
 है, उसमें निश्चित से गर्भ का नाश कर देंगे । खाने के लिए
 दूध जैसा हल्का आहार दिया जाय । परिहाय गर्भपात में
 इसी से प्रायः कार्य हो जाता है । रक्तस्राव और पीडाहरण
 की सूत्रोक औषधियाँ दे सकते हैं । पीडाहरण के लिए
 पाश्राशय वैद्यक में अफीम या मार्फिया ($\frac{1}{2}$ ग्रैन्स तथा द्रात्र)
 या मोमाइडम देते हैं । रक्तस्राव रोकने के लिए आंगट,
 हैड्रास्टिम, हीमोस्टाटिक सीरम इत्यादि औषधियाँ देते हैं ।
 इसके अलावा योनि में टेण्ट (Tent) रखने का भी प्रयत्न
 होता है । उपर के सूत्र में 'व्याशयन योन्या धारयेत्' देखो ।
 अपरिहाय गर्भपात में जब रक्तस्राव अधिक होता है और
 गर्भ बाहर नहीं निकलता या अपूर्ण निकलता है, तब गर्भा-
 शय को दबाकर (Expressing) या अहुलित या तालपत्र
 (Curette) को गर्भाशय में प्रविष्ट करके गर्भ को निकालने
 की कोशिश की जाती है । गर्भ गिर जाने पर सूतिका के
 समान उसकी चिकित्सा करे । पतित गर्भ की चिकित्सा
 अष्टागसूत्र में निम्न प्रकार से बतलाई है—गर्भे निपाते
 पोषण मय सामर्थ्य विरेद । गर्भपातसिमुदयभतिगिरणप्राय
 च ॥ लघुसा पश्येत्केन रुपां येवा तस विरेद । येवाभयया वले
 ताविना पाश्र्वीणिके ॥ विलासिचरश्चैव तिलोहाचक्रमुष्टे ।
 मातदुग्धनिदान्येव येवादिः पतिते मम ॥ (शारीर ९) । मया-
 दृष्टोपिठवेदनाप्राय—इसमें अ वा अर्थ हैपद या अभाव हो
 सकता है । गर्भपात में पीडा होती है परन्तु यह बहुत तीव्र
 नहीं होती । इसके साथ प्रायः रक्तस्राव होता है । जब
 रक्तस्राव कम होता है या नहीं होता तथा वेदना अत्यधिक
 होती है, तब अर्द्धिगर्भाशय गर्भपात (Impaired extra-
 uterine pregnancy) का भी ध्यान रखना चाहिए । इसके
 लिए अष्टागसूत्र में सिवा और कोटि चिकित्सा नहीं होती है ।

वर्धितं गर्भावस्था के लिए ३ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में 'संस्वयते नातंभेन' की टिप्पणी देखो ।

वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उक्तोशरससंसिद्धामनल्प-स्नेहां यवागूं पाययेत्, मापतिलविल्वशलाटुसिद्धाच्च कुलमापान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिवेत् सप्तगन्धं; कालातीतस्थायिनि गर्भं विशेषतः सधान्य-मुद्गखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेतः वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्द्ं स्पन्दते च, तं घृंहणीयैः पयोभिर्मांस-रसैश्चोपचरेत्; शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमव-क्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदान्चिद्वह्योप-शान्तं नैगमेपापहतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः; तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः ॥ ६१ ॥

(लीन और उपशुष्क गर्भ—) स्रोतों के वात के उपद्रव से पीड़ित होने के कारण गर्भ लीन हो जाता है । वह अधिक काल तक (गर्भाशय में) रहता हुआ मर जाता है । (इस लीन गर्भ में) खी की मृदु स्नेहादि से चिकित्सा करे, उक्तोश (कुररी—पश्चिमिरोप) के मांसरस से साधित यवागूं पर्याप्त चोह से युक्त पिलावे, अथवा उद्द तिल तथा बेल के शलाटु से साधित कुलमाप खिलावे और पश्चात् सात दिन तक मधुसह माध्वीक पीवे । अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में विशेषतया ऊखल में धान्य डालकर कूटे, अथवा विषम वाहन या आसन पर बैठे । वात से पीड़ित होने पर भी गर्भ सूख जाता है । वह माता की कुक्षि को पूर्णतया वहीं व्यापता और धीरे धीरे हलचल करता है । उस(की माता) को षुष्टिकर दूध और मांसरस से चिकित्सित करे । वायु से गीदित हुआ शुक्रशोणित जीवात्मा की अवक्रान्ति होने पर उदर को फुला देता है । वह कदाचित् अचानक शान्त होने पर नैगमेपापहत कहलाता है । वही कदाचित् धीरे धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है । यहाँ पर लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—लीयते गर्भः—इसको लीनगर्भ कहते हैं—यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसृतो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः । (अष्टांगसंग्रह) । माध्वीकम्—महुवे का या द्राक्षा का मद्य । कालातीतस्थायिनि गर्भं—गर्भाशय में गर्भ के रहने के योग्य काल का विचार तीसरे अध्याय के ३९वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है; उस काल के पश्चात् । मुसलेनाभिहन्यात् इत्यादि—ये उपाय गर्भाशय में संकोच पैदा करने के लिए होते हैं । पीछे ७ वें सूत्र के वक्तव्य में अन्तिम भाग देखो । कुक्षिं न पूरयति—मासानुमासिक वृद्धि के अनुसार कुक्षि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए, उतनी वृद्धि नहीं होती है । नागोदर—इसी को उपशुष्क भी कहते हैं—उपशुष्कं नागोदरं च । (अष्टांगसंग्रह) । तं गर्भमुपशुष्कनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते । (इन्द्रु) । नैगमेपा-

पहत—नागोदर या उपशुष्क में गर्भधारणा होने के बाद कुछ काल तक गर्भवृद्धि होकर उसके पश्चात् उसकी वृद्धि रुक जाती है और गर्भ सूखने लगता है । जो लोग भूत-पिशाच के उपर विश्वास करते हैं, वे इस विकार को नैगमेपापहत कहते हैं । वास्तव में वातविकृति का यह एक परिणाम है ।

इस सूत्र में लीन और उपशुष्क या नागोदर या नैगमेपापहत करके गर्भ के दो विकार वर्णन किये गये हैं । आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यद्यपि इनके लिए निश्चित पर्याय देना मुश्किल है तथापि ये गर्भाशयस्थ मृतगर्भ (Intra-uterine death of the foetus) या मांस-गर्भ (Carnous mole) के समान मालूम होते हैं । इनमें लीनगर्भ कौन है और उपशुष्क कौन है ? कहना कठिन है तथापि अगर नामकरण करना हो तो लक्षणों के अनुसार लीनगर्भ को Missed abortion कह सकते हैं । इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—In exceptional cases, however, the dead foetus is not expelled from the uterus at once, but is retained for months, the so called 'missed abortion'. Ten Teacher's Midwifery. नागोदर को Carnous mole कह सकते हैं ।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वदयामः ॥ ६२ ॥

अथ इसके पश्चात् मासानुमासिक (गर्भपात का चिकित्साक्रम) कहेंगे ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—ये मासानुमासिक ओपधियाँ गर्भस्रावप्रतिपे-धक होती हैं । अतः जिनमें गर्भस्राव की प्रवृत्ति होती है, उनमें इसका उपयोग करना उचित है ।

मधुकं शाकवीजं च पयस्या सुरदारु च ।

अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवह्नी शतावरी ॥ ६३ ॥

वृक्षादनी पयस्या च लता सोपलसारिवा ।

अनन्ता सारिवा राम्ना पद्मा मधुकमेव च ॥ ६४ ॥

वृहत्याँ काशमरी चापि क्षीरिण्डास्त्रचो घृतम् ।

पृश्निपर्णी वला शिशु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥ ६५ ॥

शृङ्गाटकं विसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता ।

वत्सेते सप्तयोगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः ।

यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः ॥ ६६ ॥

कपित्थवृहतीविल्वपटोलेजुनिदिग्धिका ।

मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद् भिषगग्रमे ॥ ६७ ॥

नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत् ।

क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम् ॥ ६८ ॥

सर्क्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च ।

एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥ ६९ ॥

(मासानुमासिक ओपधिक्रम—) (१) मुलहठी, सागवान का बीज, क्षीरकाकोली और देवदारु । (२) पापाणभेद, काले तिल, मञ्जिष्ठा, शतावरी ॥ ६३ ॥ (३) वृक्षादनी (वाँदा), क्षीरकाकोली, लता (गुहूची अथवा त्रियङ्गु) और अनन्तमूल । (४) अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, रास्ता, पद्मा और मुलहठी ॥ ६४ ॥ (५) क्षौट्टी और बड़ी वृहती,

गम्भारी, चरी घृषों के अद्भुत तथा घाल और घी । (६) पृथिव्या, घला, दोमोजन गोखरू, मधुपर्णिका ॥ ६९ ॥ (७) सिंघादा, विल (बमलमूल), मुनका (द्राचा), कसेरू, मुलहठी और खोड । हे सुभ्रत ! आधे श्लोक में समाप्त होने वाले ये सात योग क्रम से (सालों महीनों में) गर्भदाय में दूध के साथ प्रयुक्त करावे ॥६९॥ आठवें महीने में घैष कैंध, बर्षा कटेरी, पेल, पटाळ, ईल, छोटी कटेरी इनकी जड़ों से साधित चौर पिलाने ॥६९॥ नौवें महीने में मुलहठी, अनन्तमूल, चौरकाकोली और कृष्णसारिवा (इनसे साधित दूध) को पीवे । दसवें महीने में सोंठ तथा चौरकाकोली से साधित दूध हितकर होता है ॥ ६८ ॥ अथवा सोंठ, मुलहठी और देवदारु दूध के साथ हितकर होता है । इस प्रकार मासानुमासिक प्रयोग से गर्भ की वृद्धि होती है और तीव्र पीडा शान्त होती है ॥६९॥

वचस्य—वचस्या—शर्कराधुनी । गयी तु पयस्या चीरविदारो चौरकाकोली वा नूत । (इलहण) । अमत्रक—कोविदारो-सहस्रोऽम्पत्र शम्भलोदक इति लोके । (इलहण) । 'आपटा' महाराष्ट्र भाषा में : यमलपत्रक । (अरुणदत्त) । तावन्ती—रामदन्वी, मज्जिग्रामपरे । (इलहण) । लवा—प्रियङ्गु । (इलहण) । गन्धप्रियङ्गु । गौरसारिवेद्यन्ये । (अरुणदत्त) । शुद्धी । (हाराणचन्द्र) । उत्तलसारिवा—अनन्तमूल या कृष्णसारिवा । (अरुणदत्त) । अनन्ता—दूर्वा । (इन्दु) । पमा—पद्मचारिणी, भार्गवपरे । (इलहण) । पयोधुना—इन औषधियों का चूर्ण, या कसक दूध के साथ दे सकते हैं किंवा दूध में इनको साधित करके वह दूध दे सकते हैं । मधुपर्णी—मधुव टिना । (इलहण) । जीवन्ती । (इन्दु) । शुद्धी । (हाराणचन्द्र) । निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः पद्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्मवति ॥७०॥

निवृत्तप्रसवा स्त्री के ६ वर्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाला बालक अल्पायु होता है ॥ ७० ॥

वचस्य—माता और बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से दो गर्भधारणाओं के बीच में कुछ अन्तर होना आवश्यक है । इस अन्तर की अल्पतम मर्यादा का विचार पीछे १७ वें सूत्र के वक्तव्य में 'मैनुन' की टिप्पणी में और २ अध्याय के ३४वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है । इस सूत्र में इस अन्तर की अधिकतम मर्यादा बताई जाती है । इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि एक गर्भधारणा के छ साल के पश्चात् यदि दूसरी गर्भधारणा हो तो जो बालक जन्म लेता है, वह अल्पायु होता है । अल्पायु का अर्थ अल्पप्राण, दुर्बल (Of low vitality) है । दुर्बलता के कारण वह बोधी उम्र में मर भी सकता है, परन्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं है । इसका कारण यह है कि जब उचित काल में एक के बाद एक गर्भधारणा होती जाती है, तब गर्भाशय अपने कर्म में सुरक्षी हो जाता है, याने उत्तरोत्तर होने वाले बालक अधिकाधिक बलवान् होते हैं । Repeated pregnancies tend to cause an increase in the weight and length of the foetus Such increase in weight occurs with greater regularity the longer are the intervals between each successive pregnancy Jellie & Meadows जैसे दो

प्रसवों का अन्तर अत्यन्त कम होने से बालक कमजोर होता है, वैसे ही दो प्रसवों के बीच का अन्तर अधिक हो से बालक कमजोर रहता है क्योंकि अधिक काल बीतने से गर्भाशय पूर्ववत् सिद्ध जाता है । इससे सम्भाने लिए एक इच्छांत दिया जा सकता है । जैसे, कोई बिलाल जो हमेशा रोलेता रहता है, फार्म (Form) में रहता है अर्थात् अधिक काल तक रोले छोड़ देने पर फार्म में नहीं (Of form) रहता है, वैसे ही अधिक काल तक गर्भधारण होने से गर्भाशय 'आउट आफ फार्म' हो जाता है । इ अधिक काल की मर्यादा आनुबद्ध में छ साल की तक गई है । इसमें कुछ कुछ घटा-बढ़ी हो सकती है परन्तु पर जो सावध बतयाया गया है, वह बिलकुल ठीक है । हाराणचन्द्र इस सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं—

स्त्रीणां हि पश्चात्तु वर्षे आर्तव क्षय यानि इत्युपदिष्टम् । अर्थात् विद्युत्कार्याद्वारा उत्पन्नकरुणार्थपदाननिवेशाद्वाऽधिक काल तत् प्रवर्तते तर्हि वदपश्चात् पर प्रसवमानायाःरस्या प्रहीनबल धीर्यत्वेन पुनराऽस्त्यायुर्मवतीत्यादि-पितृभिदमुच्यते निवृत्तेन निवृत्तप्रसवायाः अतीवपश्चात्प्रसवाः पद्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसव मानायाः अल्पमूर्ध्वेन प्रसव कुर्वन्त्या इत्यर्थः । इसका अभिप्राय यह है कि साधारणतः १० वर्ष की आयु में ही निवृत्तताया अतएव निवृत्तप्रसवा भी हो जाते हैं, परन्तु यदि आहारादि के कारण आर्तव १० से अधिक काल तक जारी रहे तो उसको प्रजा भी हो सकती है । ५६ साल के बाद उत्पन्न हुई प्रजा निर्बल या अल्पायु होती है । हाराणचन्द्र का यह मत निम्न कारण से ठीक नहीं मान्य होता । (१) जिस सिलसिले में यह सूत्र आया है, उसके अनुसार निवृत्तप्रसवा का अर्थ निवृत्तताया करना ठीक नहीं है । इस अध्याय में प्रथमगर्भा स्त्री की प्रवृत्ति और उसकी परिचर्या वर्णन (पीछे १६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) की गई है । उसी स्त्री के सर्वध में ये श्लोक हैं । अर्थात् प्रथम बालक के बाद दूसरा बालक वैसे ही स्वस्थ और दीर्घायु होने के लिए दोनों में कितना अन्तर उचित है, इस विषय का विवरण इस सूत्र में किया गया है । सोलह या अठारह साल की उम्र से छपन साल की उम्र में पूरक एक कूद पड़ने की न कोई आवश्यकता है, न प्रशस्तता मालूम होती है । (२) पचपन साल की उम्र के बाद आर्तवदर्शन जारी रहकर प्रजोत्पत्ति होना यह संभवनीय घटना नहीं मालूम होती । उष्ण प्रदेशों में आर्तवनिवृत्ति की मर्यादा बचने की अपेक्षा प्रायः बट जाती है—The menstrual cycle comes to a final end at the menopause or climacteric at an average age of forty-five or rather earlier among the inhabitants of hot climates Intro duction to sexual physiology by Marshall (३) छपन साल के बाद होने वाला बालक अल्पायु और छपन के पूर्व होने वाला दीर्घायु इस प्रकार का फर्क युक्तिसंगत नहीं मालूम होता । अगर इसमें कुछ तथ्य हो तो छपन के पूर्व और पश्चात् होने वाले दोनों बालक अल्पायु होंगे क्योंकि ऋतु (जीसस) के अन्त में घृषों को आने वाले फल हमेशा आकार में छोटे, विषम, कृमि से उपद्रुत हुआ करते हैं ।

अथ गर्भिणी व्याध्युत्पत्तावत्यये क्षुद्येन्मधुरा-
म्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनोयं च मृदु
विद्ध्यादन्नपानयोः, अश्लीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं
गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यद्योगं
चिदघोत मृदुप्रायाः ॥ ७१ ॥

(गर्भिणी-चिकित्सा के लिए कुट्ट मार्गदर्शक सूचनाएँ—)
तीव्र व्याधि उत्पन्न होने पर गर्भिणी को मधुर और अम्ल
अन्न के साथ (मिलाई हुई ओषधि से) व्रतन करावे तथा
अनुलोमन भी करावे । मृदुसंशमनीय भी अन्नपान के
साथ दे । मृदुवीर्य, मधुरमूषिष्ठ और गर्भ को हानि न
करने वाला अन्न सेवन करावे । इसी प्रकार गर्भ को
हानि न करने वाली और हल्की क्रियाएँ करावे ॥ ७१ ॥

भवन्ति चात्र—

सौवर्णं क्षुण्णं चूर्णं कुण्डं मधु घृतं वचा ।
मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥ ७२ ॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा ।
हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥ ७३ ॥
चत्वारोऽभिहितः प्राज्ञाः श्लोकाधेषु चतुर्ष्वपि ।

कुमाराणां

चपुर्मैधावत्तबुद्धिविबर्धनाः ॥ ७४ ॥

इति सुश्रुतसंहितानां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणं शारीरं
नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(चालबुद्धिवर्धक योग—) अच्छी तरह से तैयार किया
हुआ सोने का चूर्ण, कुण्ड, मधु, घी और वचा । मत्स्याक्षक
(माछी), शङ्खपुष्पी, मधु, घी और सुवर्णचूर्ण ॥ ७२ ॥
अर्कपुष्पी (पपुसा), मधु, घी, सुवर्णचूर्ण और वचा ।
सुवर्णचूर्ण, कैडर्य (कट्फल, पर्यंतनिम्ब), श्वेतदूर्वा, घी
और मधु ॥ ७३ ॥ चार श्लोकाधों में बताये हुए ये चार प्राजा
(लोह) बालकों के शरीर, मेधा (ग्रहणशक्ति), प्राप्ति, बुद्धि को
बढ़ाने वाले हैं (इनमें से किसी एक योग को प्रयुक्त करें) ॥ ७४ ॥

महाराष्ट्रप्रदेशे यं राज्ञरीयामजन्मिना ।
घाणेकरउपाहेन काशीदेशनिवासिना ॥
श्रीगोविन्दस्य पुत्रेण भास्करेण सुधीमता ।
वैपके प्राच्यपाश्चात्त्ये लाचार्योपाधिधारिणा ॥
आयुर्वेदं बुनिर्मथ्य पाश्चात्त्यं वैपकं तथा ।
आयुर्वेदोपनीतानि शास्त्राण्यन्यानिवीक्ष्य च ॥
नानातन्द्रविहीनानां भिपत्रां चाल्पभेषसाम् ।
छात्राणां चोपकाराय यथानामतथागुणा ॥
आयुर्वेदरहस्याख्या दीपिका लिखिता च या ।
इयताऽवधिना तस्याः शारीरं च समाप्यते ॥

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां गर्भिणीव्याकरणं शारीरं

नाम दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

सुश्रुतसंहितायाः संस्कृत-हिन्दी-शब्दालुक्रमणिका

| | | | | |
|-----------------------------|------------------------------|-------------------------|---------------------------------------|----------|
| अ | अन्नवह स्रोतस् | २२९, २३० | अभ्यंग प्रसवद्वितीयावस्था में योनि का | २४४ |
| अग्नि | अपतर्पणचिकित्सा प्रसूताकी | २५७ | " प्रसूतावस्था में | २५७ |
| अक्षक | अपची में सिरावेध | २०८ | " स्तनों का स्तन्यनाश में | २७२ |
| अक्षिकोप की रचना | अपतानक (धनुर्वात भी देखो) | १५६ | अमध्यस्थधर्मी | ८ |
| अण्डा गर्भिणी के लिए | " प्रसूति के पश्चात् | २६० | अयुक्त राक्षस गर्भ | ५२ |
| अतिमैथुन, रक्तप्रदर का कारण | अपत्य के गुण | ३५ | अयोनिगमन | ४९ |
| " रक्तशुक्र का कारण | अपरा, व्युत्पत्ति | १०९, ११० | अरतिमान स्वप्न | २७५ |
| अतिनिद्रा की चिकित्सा | " बनावट और कार्य | ६३, ६४, ११० | अरलि | २०४ |
| अतिवाहिक शरीर | " गर्भाशय में स्थान | १६४ | अरिष्ट, प्रकृतिपरिवर्तन रूप | १३४ |
| अतिविद्धा सिरा | " अन्तःस्त्राव | ७६, ९३ | अर्श, गर्भिणी में | ८१ |
| अत्युदीर्णा सिरा | " यमलों में | ४२, ४३ | अर्थसंग्रह व्यय में स्त्री का | |
| अधर गुद् | " पतन की प्रक्रिया प्रसव में | २६१ | उत्तरदायित्व | २६० |
| अधिपति सिरा | अपरा, निष्कासन का सिद्धान्त | २६१ | अलाघु | २१३, २१४ |
| अधिपति मर्म | " " की विधियाँ | २६२ | अलिङ्ग | ८ |
| अधिचर्म | " योनिगत के लक्षण | २६२ | अलंकारव्युत्पत्ति | ३१ |
| अधिदैवत | " परीक्षण, पतन के पश्चात् | २६४ | अल्पशुक्रता | १६ |
| अधिभूत | " अंश का गर्भाशय में रहना | | अल्पशुक्राणुता | १६ |
| अध्यवसाय | असृग्गर्भ का हेतु | २६ | अवकृजन | २७५ |
| अध्यात्म | " अंश का गर्भाशय में रहना | | अवहृ | १८७ |
| अध्यापनकाल, बालक का | मकल का हेतु | २६० | अवलेखन | ३० |
| अनपत्या वन्ध्या | " अंश का गर्भाशय में रहना | | अवकान्ति गर्भ की | ५७ |
| अनस्थिगर्भोत्पत्ति हेतु | प्रसूतिज्वर का हेतु | २६९ | अवभासिनी त्वचा | १०० |
| अनस्थि गर्भ, अर्ध | अपरा जन्मावस्था, प्रसव की | २३८ | अवस्थिति गर्भ की गर्भाशय में | १६५ |
| अनादि | अपलाप | १८३, १८४, १८५, १९२ | अव्यक्त सृष्टिसंभव हेतु | १ |
| अनार्तव, हेतु और प्रकार | " सिरा | १६८ | " का स्वरूप | २ |
| " काल | अपसंचुति गर्भाशय की | २६ | " का अष्टरूप | २ |
| अनुस्थितविद्धासिरा | अपस्तम्भ | १८३, १८४, १८५, १९२, १९८ | " में पुरुष का समावेश करक में | ६ |
| अनुलोमन की विधियाँ गर्भकी | अपस्मार में सिरावेध | २०६, २१० | " से सृष्ट्युत्पत्ति का क्रम | २ |
| अनृतुकाल | अपविद्धा सिरा | २११ | अव्यक्तावस्था गर्भ की | ३५, ७८ |
| " गर्भधारण प्रतिबन्धक | अपांग | १८७, १८८, १६३, २००, २१० | अव्यध्या सिराएँ | १६८, २०० |
| अनेत्रता | " सिरा | १९९ | अशुक्राणुता | १९ |
| अनेकबीजात्मक अपत्य | अपान (श्वास में) | १९ | अशोकघृत, अरिष्ट असृग्गर्भ में | २८ |
| " की विशेषताएँ | अपान चायु के कर्म | ४२, ५४, ७६ | अशित अन्न | १०५ |
| अन्तस्त्वक् | अपाश्रय | २७१ | अशररी का शस्त्रकर्म | १८३ |
| अन्तःपुष्प | अपसृता सिरा | २११ | अश्रुवाहिनी धमनी | २१६ |
| अन्तेऽभिहता सिरा | अप्रजाता में गर्भाशय | १६४ | अष्टविध दूध | २८३ |
| अन्तराधिविकारीगर्भ | अफीमनिषेध बालक में | २७६ | अष्ट रूप अव्यक्त का | २ |
| अन्न | अभ्यंग निद्रानाश में | १२८ | अष्टविध-मैथुन | ३० |
| " चतुर्विध | " त्वचा से शोषण | २२१ | अष्टांगों का विभाजन, सुश्रुत में | १६७ |
| " पचनकाल | " योनि का गर्भिणी में | २३४ | अष्टीलागत मूत्रमार्ग | १०६ |
| अन्नप्रादानविधि बालक की | " प्रसव प्रथमावस्था में | २४२ | " रसस्त्राव मैथुनप्रारंभ में | ४१ |
| " काल | | | " शुक्र में | २० |
| " मन्त्र | | | अस्तात्म्यज रोग और उनका हेतु | २७१ |

| | | | | | |
|--------------------------------|--------------------|--------------------------------------|--|--------------------------------------|--------------------|
| असूया | १३७ | आत्ययिक | २०२ | आतं वधमनी | २२१, २२१ |
| असूयक | १३७ | आत्मजीवी | ६३ | आतं ववह स्रोतम् | २२८, २३० |
| असूयद्वर निरुक्ति | २६, २२९ | आत्मलिंगता | ४८ | आतं व काल | २२, ७६ |
| " के हेतु | २६, २७ | आत्मा के पर्याय | ६२-६३ | " और गर्भ का सम्बन्ध | ७७ |
| " में वातादि दोष युक्त रक्त के | | (जीव और पुरुष भी देखो) | | आतं व प्रवृत्तिचक्रकाल | २६, ७५, १९२ |
| लक्षण | २६ | " घेतन्य कारण | ६, ६३, १२० | आतं व दर्शन यौवनारंभसूचक | ७३ |
| " के लक्षण | २७ | " के लक्षण | १६, १२३ | " और धीनोत्सर्ग का सम्बन्ध | ७३ |
| " संमत्ति | २६, २२३ | " आत्मा का निवासस्थान | १२०, २२२ | " शरीरशुद्धिकर | ७३ |
| " असाध्य लक्षण | २७ | " मृत शरीर में अभाव | १५, ६२, १७० | " ठीक न होना अस्वास्थ्यदर्शक | ७३ |
| " चिकित्सा | २७ | " का परिधाम | १६, १६, ८५, १२०, १७० | " का गर्भधारण प्रतिवधन में | |
| अस्थिसंख्या मतमतान्तर | १४६ | " का ज्ञान हृन्दिष्याधीन | १२६, २२२ | उपयोग | ६०, ७३, ७२ |
| " आपुनिक सख्या से | | " के विविध अर्थ | १७३ | " राज और नैमित्तिक | २८ |
| मिथता के हेतु | १४७ | आदिवलप्रवृत्त रोग | ३७ | " स्वरूप | २४, ७६ |
| " गणना में वय का | | आदिवलप्रवृत्ति (कुलप्रवृत्ति देखो) | | आतं व दर्शन के प्रकार | २८ |
| विचार | १४७, १६९ | आधिदैविक पक्ष | ६ | " गर्भिणी और प्रसूता में | |
| " दासाओं की | १४७ | आधिभौतिक पक्ष | ६ | स्वाभाविक | २८ |
| " घट की | १४८ | आध्यात्मिक पक्ष | ६ | " का कोष्ठक | २६ |
| " शिर और प्रीवा की | १४६ | आनन्द्य प्रज्ञा का | ८ | " गर्भिणी में होने की उत्पत्ति | |
| " तुलनात्मक कोष्ठक | १२०, १५१ | आन्त्र के प्रकार और कार्य | १०६, १०८, १०९, १४०, १४२, २२०, २२६, २८८ | " प्रसवतिथिनिर्णय में उपयोग | ७३ |
| अस्थि के प्रकार और उनके | | " की लम्बाई | १४४ | " चिकित्सा | २६ |
| रयान | १५१, १६२ | " में अक्षयचन का काल | १०६ | आतं व वाहुरूप का अर्थ | ६७, ६८ |
| " का संगठन | १६३ | " मृत शरीर रथा के लिए | | आतं व चय | २६ |
| " की सूक्ष्म रचना | १६३ | निकाशने की आवश्यकता | १६८ | आतं व शुद्ध का लक्षण | २४, ७६ |
| " के साथ दन्तगणना और | १६३ | आन्त्रवृद्धि, नाभिगत बालक में हेतु | १४७, २०८ | आलस्य | १६९ |
| " तदुद्गारिय गणना की | | आप का लक्षण | १२ | आलिगन, रपसंसुल का एक प्रकार | ७७ |
| सुष्कायुक्तता | १२४ | " के गुण | १७ | आलोचक पित्त के प्रकार | १७१ |
| अस्थिकार्य | १५४ | " के शरीरगत अवयव | १७ | आवर्त | १८७, १८८, १६२, १९९ |
| " मर्म, सख्या | १७३ | आपगा | १६६ | आयी | २३८, २३९, २४३ |
| " नाम | १७४ | आमातय अन्न का आधार | २२०, २१५ | " वास्तविक और मिथ्या में भेद | २३८ |
| अस्थिविकासकेन्द्र | १६३ | " अपकाश का आधार | १७३ | " और मज्ज में भेद | २६२ |
| अस्थिसृष्टता, हेतु | २३२, २८८ | " की मर्यादा | १७३ | आवृत्तातं व | |
| अस्थिवृत्ता (कष्ट देखो) | १६३, २८८ | " और हृदयकालसम्बन्ध | १३०, १७७, १८४ | आशय | १४२-१४४ |
| अस्थिसंघात | १६६, १६८ | " पूर्णता का इत्कार्य पर परिणाम | १३०, १७४, १८४ | आसन, मैथुन के लिए | ४४, ६९ |
| अस्थिसंधि (संधि देखो) | | " पर आघात का " | २२२ | " भोजनोत्तर आराम के लिए | १२६ |
| अधिदान | १७९ | " की समाई शिशुवयानुसार | २०४ | " प्रसव प्रथमावस्था में | १४९ |
| अधुना | ३ | आयु, प्रज्ञेत्पदान के लिए योग्य | ३८, ७५, २३० | " " द्वितीयावस्था में | २४४ |
| " से हृन्दिष्यों की उत्पत्ति | ३, १३ | " विवाह के लिए | २१० | " " तृतीयावस्था में | २६२ |
| आ | | " युग्मोत्पत्ति की दृष्टि से | ७३ | " प्रसूतावस्था में | २६४ |
| आक्रांता के शरीरगत लक्षण | १२ | " के अनुसार निद्रा काल | ११३ | आसन उत्कृष्टकवि का गर्भिणी में निषेध | ८३ |
| " " गुण | १७ | " आशानिद्रा में | ११५ | " शिशु के लिए | २८१ |
| " " अवयव | १७ | " विचार मृतमयोधन में | १६९ | आसन्नप्रसवा के लक्षण | १३८-२४० |
| " का शब्द संरहण रेक्तियों में | २१९ | आराम, शारीरिक प्रसूता के लिए | २१५, २६५ | आनीन प्रचलायित | १२६ |
| आघेपक | १२०, १८०, ११८ | " मानसिक गर्भिणी के लिए | ८३, २१३ | आसुरकाय के लक्षण | १४० |
| " संमत्ति | १३७ | " प्रसूता के लिए | २६२ | आसेवय क्लीब | ४४ |
| " में मिरायेष | २०१, २०२ | आतं व थाप का अर्थ और कारण | ७३, २१९ | " की उत्पत्ति | ४६ |
| " से स्यू | १८० | आतं व के अर्थ (सोमित भी देखो) | १८, २०, ४१, ४२, २६८ | " का कामुक विमर्ष में रयान | ४६ |
| आचमन | २३ | | | आस्तिरय, पारमार्थिक | १९, ९३ |
| आजगुप | २८४ | | | " आशुवेदिक | २३ |
| आग्निमर्म | १७९, १८०, १८१, १९९ | | | | |
| आगुरपरीक्षा | १९० | | | | |

| | |
|----------------------------------|-------------------------|
| आहार, गर्भिणी का | ८३, २३२, २३३ |
| " प्रसूता का | २५५, २५७, २५८ |
| " बालक का प्रथम तीन दिन में | २४६, २५१, २५२ |
| " " उसके पश्चात् | २८२-२८६ |
| " " ज्वर में | २७७ |
| " का स्तन्य पर परिणाम | २७२, २७४, २७५ |
| " का गर्भलिंग पर परिणाम | ६७ |
| " का गर्भाधान पर परिणाम | ६७ |
| " मात्राधिक्य हृदय पर परिणाम | १८४, २३२ |
| " सार्विक | २३२ |
| " विदाही | २३२, २७४ |
| " " का निषेध ऋतुमती में | ३० |
| " मात्रावत् का लक्षण | १७७, १८४, २३२ |
| " का सन्तान पर परिणाम | ५० |
| " गर्भविकृति का कारण | ५३ |
| " का शरीर वर्णोत्पत्ति में सवन्ध | ४० |
| इ | |
| इन्द्रिय उत्पत्ति | २, ३ |
| " भौतिकत्व | १३ |
| " के विषय | ४, ५, १३ |
| " के अर्थ | १३ |
| " आत्मा के ज्ञान के साधन | १२५, २२२ |
| इन्द्रवस्ति | १७९, १८०, १८१, १६२ |
| ई | |
| ईर्ष्याक ह्रीव | ४४ |
| " उपपत्ति | ४३ |
| " का कामुक विप्रकृति में स्थान | ४६ |
| ईश्वर | १० |
| ईश्वरवादी | ११ |
| उ | |
| उच्छ्वास | ५४ |
| उपहुक | १४२, २८ |
| उत्क्रान्ति | १५ |
| उत्कटकासन गर्भिणी में निषेध | ८३ |
| उत्कलेश | १२६ |
| " युक्त विकार | १३० |
| उत्तेप | १८७, १८८, १९२, १९६, २०० |
| उत्तुण्डिका | २७८ |
| उत्तरावी | २६५ |
| उत्तानाशन प्रसव में | २४१, ३४४ |
| उत्तरवस्ति | २२ |
| उत्तर गुद | १८२ |
| उदरवृद्धि गर्भिणी में | ८०, २३७ |
| उदरवृद्धि हेतु बालकों में | २८८ |
| उदर के मर्म | १८२ |
| " की अवैध्य तिराण | १५८ |

| | |
|---|----------------------|
| उदर का धन्धन प्रसूता में | २६४ |
| उदकवह स्रोतस् | २२५, २३० |
| उदकधरा त्वचा | १०० |
| उदश्वित् | २८ |
| उदान वायु | १११, ११२ |
| उदावर्त योनि | २४ |
| उद्दीप्यता | ९६ |
| उद्धर्तन के गुण | १२८ |
| उद्घेष्टन | १२६ |
| उन्मेप | १६ |
| उन्माद | ३० |
| " प्रसवोत्तर | २६० |
| " में सिरावेध | २०९ |
| उपदंश | ३४ |
| उपनयनविधि | ३०४ |
| उपनयनकाल वर्णानुसार | २६० |
| उपनाह, व्याख्या | २७९ |
| उपमाता | २६६ |
| उपविष्टक गर्भ | २९१ |
| उपवेशनविधि, बालक की | २८१ |
| उपशय | २६० |
| उपशीर्षक | २७९ |
| उपशुष्क गर्भ | २९६ |
| उपसर्ग, जीवाणु का मर्मस्थान में प्राणहारक | १७७ |
| " " नाभिनाडी में | २४९, २७८ |
| " " गर्भाशय में प्रसूतिज्वर का हेतु | ३५९ |
| उपस्नेहन | १६४ |
| उपस्थ | ५ |
| " के विषय | ५ |
| उरःफलक | १५ |
| उरःक्षत | १२५, १८४ |
| उत्सृज्यलसन्धि | १५५, १५८ |
| उत्सृज्य | २४६ |
| उत्सृज्य रोग | २७९ |
| ऊ | |
| ऊरुमर्म | १७६, १८१, १९२ |
| ऊर्वी सिरा | १९८, २०० |
| ऋ | |
| ऋण, तीन | ३९ |
| " मोचन के मार्ग | ३९ |
| " मोचन सखुन्न का लक्षण | ३७ |
| ऋतुचर्या का सिद्धान्त | ३६ |
| ऋतुकाल २५, २७, २८, ३६, ६०, ७१, ७२ | |
| " में गर्भाशयगत परिवर्तन | ७२, ७५, ८६, १०६, १६४ |
| " में सहवास का फल | ३३, ७२ |
| ऋतुकाल में सहवास योग्य दिन | ३३, ३४ |
| " में समधिपम दिन सहवास का फल | ३३, ७७ |

| | |
|--|--------------------|
| ऋतुकाल के पश्चात् गर्भाधारण की संभावना | ७२ |
| ऋतुमती की चर्या | २६ |
| " की गृहकर्म के लिए अपवित्रता | ३० |
| " की शुद्धि | ३० |
| " के लक्षण | ७४ |
| ऋतुस्नाता स्त्री में प्रथम पतिदर्शन का महत्त्व | ३१ |
| " कामवासनाघृद्धि | ७५ |
| ऋतुविकाय के लक्षण | १३७ |
| ए | |
| एक गर्भयन्ध्यता | ७३६ |
| एक जीवात्मक युग्म | ४२ |
| " की विशेषताएँ | ४२ |
| " गर्भों से संयुक्त | |
| राक्षस की उत्पत्ति | ५३ |
| ओ | |
| ओकसात्म्य | १२७, २६० |
| ओजस्थान | ११४ |
| ओजवाहिनी | ११४, २१५ |
| ओटो शानर की उपपत्ति | ६७ |
| ओपधिविकित्सा की विशेषता | २०७ |
| ओपधिप्रधानपद्धति, बालकों में | २७६ |
| ओपधिमाम्रा का प्रमाण | २७६ |
| ओपधिप्रयोग में काल का महत्त्व | २६० |
| ओ | |
| ओदककन्द | २९१ |
| ओदकभाव | २ |
| ओदर्यगर्भावस्था | ५९ |
| ओपनासिका सिरा | १९९, २०० |
| ओपरिष्टक | ४६ |
| ओर्वात्रिकाण | १८१ |
| ओ | |
| अंगप्रत्यंगनिर्घृत्ति के नियम | ९८ |
| अंगच्छेदन के निर्देश | १६० |
| अंगप्रत्यंगविज्ञान | १, १३८ |
| " स्थूल और सूक्ष्म | १७१ |
| " का शक्यतन्त्र में महत्त्व | १६७ |
| अन्तःपुष्प | १९, २०, २१ |
| अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियाँ | ४९, ७९, ९३, १४२ |
| " " गर्भलिंगोत्पत्ति में संवन्ध | ५०, ७० |
| " कामुकविकृति में संवन्ध | ४९, ५० |
| अम्बुवाही स्रोतस् | २२५ |
| अंस | १८५, १९२ |
| अंसफलक | १४६, १८५, १८७, १९२ |
| क | |
| कचाधर | १८१, १८२, १९२ |

| | | | | | |
|---|---------------|---|---------------|--|----------|
| चित्रिणी स्त्री | ४६ | जातिस्मरता के हेतु | ५५, ५६ | तत्त्वचतुर्विंशति का आधिभूतादि त्रैविध्य | ६ |
| चिन्तन का मनचाही सन्तानोत्पत्ति में उपयोग | ३१ | जात्यन्धता, संप्राप्ति | ४० | " का अचेतनत्व | ६ |
| " का गर्भवर्ण पर परिणाम | ४० | जानु | १४६, १८०, १९२ | तन्मात्राएँ | ४ |
| " का ध्वजोच्छ्राय में कार्य | ४६ | जाल | १४५ | तन्मात्राओं से भूतोत्पत्ति | ४ |
| " मन का विषय | ५ | जालधरा सिरा | १६७, २०० | तन्द्रा | १२८ |
| सुन्यन, स्पर्शसुख का एक प्रकार - | ४७ | जिह्वा की अवैध्य सिराएँ | १९८, २०० | " और निद्रा में भेद | १२८ |
| चूने का महत्त्व गर्भिणी में | २३२ | " रोगों में सिरावेध | २०६ | " संप्राप्ति | १२८ |
| चेतनत्व, आत्मा का | ६ | " की सीवनी | १४५ | तप का सामर्थ्य | १७२ |
| " के लक्षण | ९६, ११४ | जीव (आत्मा) के पर्याय | ६२, ६३, ६४ | तपश्शुद्धि | १७२ |
| " का स्थान हृदय १११, ११४, १२० | | " गर्भाशय में पहुँचने का कारण | ६४ | तम का पंगुत्व | ३ |
| चैत्य | २३१ | " का परिमाण | ८५ | तर्णास्थि | १५२, १५४ |
| चौलकर्म | २८६ | " की गर्भोत्पत्ति में आवश्यकता | ६४ | " के प्रकार | १५२ |
| | | " का अर्थ दार्शनिक और वैषकीय | ६४, ६५ | " की सुषम रचना | १५३ |
| | | | | " अस्थि के साथ गिनने की युक्तयुक्ता | १५३ |
| छागदुग्ध | २८४ | जीवितिकि 'ए' 'वी' गर्भिणी के आहार में आवश्यक | २३२ | तलहृदय १५८, १७६, १८०, १८१, १९२ | १५३ |
| छाती के मर्म | १८३, १८४, १८५ | जीवितिकि 'डी' अस्थि बनने के लिए आवश्यक | १५३, २३२ | तलहृदयगत रक्तस्राव की चिकित्सा | १८९ |
| " के सिरावेध रोगानुसार | २०६ | जीवितिकि 'टी' के अभाव से होने वाले रोग | २८८, २८९ | तामस गुण | २ |
| " की अवैध्य सिराएँ | १९८ | जीवितिकि, संग्रह यकृत में | १४१ | " मन | १७ |
| " के आघातजन्य रोग | १८४-१८५ | जीवाणुमयता मर्माघातजनित | १७७ | " बुद्धि | ३, १६ |
| " की अस्थिर्यो | १४८, १४९ | " प्रसूतिज्वर में | २५९ | तामसी निद्रा (संन्यास भी देखो) | ११८ |
| छेदन, अंग का, निर्देश | १६० | " नाडीकल्पनजनित | २४६, २७८ | तामस प्रकृति के प्रकार | १३८ |
| | | जीवशोणित, लक्षण | २५ | तालु (कपाल) पूर्व और पश्चिम | २७७ |
| जंघा | १८० | जुग्भा | १२९ | " अस्थिभवन का काल | २७७, २८६ |
| जंघापिण्डिका | १८० | " में मुखाच्छादन की आवश्यकता | १२९ | " की स्थिति बालक रोगदर्शक | २७८ |
| जंघा में कालापन, गर्भिणी में | ८० | " से हनुसन्धिविश्लेष | १२९ | " पात रोगों का लक्षण | २७७ |
| जघ्रध्वं पेदीसंख्या | १६० | " का प्रसव प्रथमावस्था में उपयोग | २४२ | " संप्राप्ति | २७८ |
| " मर्म | १७४, १८६ | ज्वर (बालक का) में घृतप्रयोग | २७७ | " का अभ्यंग बालकों में | २६६, २७८ |
| " सिरासंख्या | १९५ | " " स्तनपान | २७७ | तालु (गला) वृषा से संबन्ध | २२६ |
| " अवैध्य सिरा | १९८ | " " जलसेवन | २७७ | " प्रमार्जन बालक में | २४६ |
| " सिरावेधन रोगानुसार | २०६ | " प्रसूति | २५८ | तालुकण्टक | २७७ |
| जननाशौच का सिद्धान्त और काल | २६७ | " स्तन्य | २५१ | तालवद्धता हृदय की | ११५, १६२ |
| जन्मवत्प्रवृत्ति, लैङ्गिक विपर्यास में | ४९, ५० | ज्ञान | ९६ | " अनैच्छिक पेशियों का गुण | १६२ |
| जन्मान्धता | ४० | " चक्षु | १५१-१७२ | तिर्यग्योनि | १५ |
| जरण | १०५ | " मनुष्यों की विशेषता | २८० | तिर्यग्योनि में पुरुषसंचरण अधर्म से | १५ |
| जरायु, अर्थ | ५४, ११० | " चक्षु के द्वारा अदृश्य वस्तुओं का दर्शन | १७२ | तिर्यग्योनिगमन (कामुकविप्रकृति) | ४८ |
| " परीक्षण प्रसवोत्तर | २६४ | " वर्धन में शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों का महत्त्व | १६७ | तिर्यग्विद्धा सिरा | २११ |
| " शेष, मकल हेतु | २६५ | | | तुलसेवनी सन्धि | १५७ |
| " के साथ बालक का जन्म | २४०, २४६ | | | तुम्बो, रक्तनिर्हरण के लिए | २१३, २१४ |
| " विदारण, प्रसव के समय | २४० | | | तुल्यगोत्र विवाह के गुणदोष | ३७ |
| जल, उष्ण के गुण | २७७ | | | तृणपुत्रिक (पूलिका) | ५०, ७० |
| जलरक्ता गर्भिणी में | ८१ | | | तृतीयक ज्वर में सिरावेध | २०५ |
| जलशीर्ष | २८८ | | | तृपासंप्राप्ति | २२५, २२६ |
| जलोदरसंप्राप्ति | २२५ | | | तेज का लक्षण (महाभूत) | १२ |
| जलोदर में शस्त्र कर्म | २०७, २०६ | | | तेज के गुण | १७ |
| " " का स्थान | १०० | | | तेज (शरीरगत) के अर्थ | ५८ |
| जलौका प्रयोग निर्देश | २०१, २१४ | | | तेजस्वनन, मैथुन में | ५८ |
| जाङ्गल देश | २५४ | | | | |
| जातकर्म बालक का | २४६, २५० | | | | |
| जातिसाल्य, दूध का | २८२ | | | | |

| | | | | | |
|-------------------------------------|----------------------|---|------------------|---------------------------------------|-------------------|
| गर्भाधानविधि का तात्पर्य | २८६ | गर्भिणी व्याकरण अध्याय | २१०-२१५ | गुदमेधुन द्विलिङ्गियों में | १ |
| गर्भाधान, प्रथम के लिए योग्य वय | ३८, ७६, २६० | गर्भिणी लक्षण | ७७-८२ | गुदयोनि ह्राव | १ |
| " अत्यन्त बाला में निषेध | २६१ | " निदानसहायक सारिणी | ९० | गुल्फ | १७९, १७२, १८०, २० |
| गर्भापतानक में सिरावेध | २०१, २०२ | " में अनातंत्र्य | २८, ७८, ११०, २२६ | गुग्गुली | १२ |
| गर्भविज्ञान्ति शारीर अध्याय | ५७ | " में आर्तवदर्शन | २८, ७८, ९१, ११० | " में सिरावेध | २०४, २० |
| गर्भावस्था, गर्भिणी देखो | | " में योनिगत परिवर्तन | ७८, ८१ | गुहनिष्क्रमणविधि बालक की | २८ |
| " औद्यं | ६६ | " में हृदयस्पन्दन | ७८ | गोमूत्रगुण | २ |
| " वीत्रकोपस्य | ७६ | " में गर्महृत्स्पन्दन | ८६ | " नद्यार्तव में | २ |
| " नालिकागत | ६० | " में कामवासना की कमी | ७८ | गोदुग्ध की सर्वश्रेष्ठता | २८ |
| " की अवधि | ७३ | " में स्तनगण परिवर्तन | ७९, १४३ | " बालक को देने की विधि | २८ |
| गर्भाशय का स्थान उदरगुहा में | १७३, १६३, १६५ | " में पचनसंस्थानगत परिवर्तन | ७९ | " और माता के दूध में भेद | २८ |
| " का स्वरूप | १४३, १६३, १६४ | " में शरीर का कार्पण्य | ८० | " माता के दूध के समान करने की विधि | २८ |
| " की पेशियाँ | १६३ | " में उदरवृद्धि | ८०, २३७ | " परिवर्तित के दोष | १८८ |
| " के श्रुतकालीन परिवर्तन | ७२, ७३, ७६, १०१, १६४ | " में गर्भाशयवृद्धि | ८१, १६३, २३७ | " का विरेचक गुण | २८१ |
| " की स्थिति मेधुन के समय | ५८ | " में गर्भाशय का आकुचन | ८१ | " अपरिवर्तित देने का हेतु | १८८ |
| " में फर्क वयानुसार | १६३, १६५ | " में माभिगत परिवर्तन | ८१ | गोधा गुण | ८८ |
| " में गर्भ का आगमन | ६० | " स्वस्थवृत्त और सामान्य परिचर्या | ८२-८४, २३०-२३३ | गोशीर्षचन्दन | २३ |
| " के गर्भ में जीव प्रवेश का हेतु | ६७ | " में व्यवाय के नियम | ८२ | गौरव | १३७ |
| " की स्थिति | १६५ | " में व्यायामनिषेध का हेतु | ८२ | गौरी सिरा | १३५ |
| " के प्रदर कारक रोग | २७ | " में व्यायाम के नियम | ८३ | ग्रहोपसर्ग, बालक का प्रतिषेध और लक्षण | २२९ |
| " का आकुचन, गर्भिणी में | ८६ | " में वह्निनिष्क्रमण के नियम | २३१, २३३ | ग्रहणी | २२२ |
| " छुद्दि, मासानुमासिक | ८१, २३७ | " में यानावरुहण के नियम | ८३ | ग्रीवा के मर्म | १८९ |
| " " की छूक | १६५ | " में वेगविधारण के नियम | ८४ | " की अवेध्य सिरायें | १९८, २०० |
| " प्रत्यकालनिर्णय में | ८१ | " में चिकित्सापयोगी नियम | ८४, २०५ | " की हृदियाँ | १४६ |
| " गर्मवृद्धिदर्शक | ८१ | " का आहार | ८६, २३३ | " की सन्धियाँ | १५६ |
| गर्भाशयगत रक्तलाव, अमृदर में | २६ | " का मासानुमासिक आहार | २३३ | " की पेशियाँ | १९० |
| " गर्भह्राव में | १९१ | " में स्वच्छता के नियम | २३२, २३३ | ग्रीष्म, दिवास्वप्न के लिए योग्य | १२२ |
| " शोथक ओषधियाँ | १८८, २३२ | गर्भिणी का सोने का स्थान | २३१ | श्लानि | १३० |
| " अपरिपक्व, अनातंत्र्य हेतु | २६ | " की सूक्तिकागारप्रवेशविधि | २३५ | घ | |
| " की अयसंपृप्ति | २६ | " की मानसिक स्थिति के नियम | ८३, ८४, २३३ | घोरपट्ट | ८८ |
| " की स्वसंपृप्ति | २६ | " के दूध का बालक पर परिणाम | २६६ | घोष अर्थ | २१६ |
| " स्वसंपृप्ति की प्रक्रिया और गर्ति | ३५४ | गर्मोद्क, अधिकता गर्भावस्था पूर्वार्ध में | १६६ | घोषवरा घमनी | २१६ |
| " परिवर्तन प्रयोज्य | २१२ | " का छात्र प्रत्यय में | २४० | घ | |
| " स्थानापवृत्ति का हेतु | २५२ | गणगण्ड | १०० | घ | |
| " की सम्प्रति | १६५ | " में सिरावेध | १०८ | घ | |
| " अमृदर का हेतु | २० | राधोनी | २२०, २२८ | घ | |
| " कल्पना का हेतु | १२५ | राधोनीकापलक्षण | १३० | घ | |
| " संग २. ४, २४३, २४२ | | गुणपरिणामवादी | ११ | घ | |
| " हेतु, प्रकार और चिकित्सा | २४५ | गुणागुण अंगों के | १२ | घ | |
| " धाम्नि वा मुखी | २४५ | गुणविकार | ११, १० | घ | |
| " संहरण | २१३ | गुद मर्म | १८३ | घ | |
| " गुण, प्रत्यक्ष रूप में | २३८ | " शरीर का गुण | १०३ | घ | |
| " प्रत्यय में | २३९ | गुणराक | १०३ | घ | |
| " गर्भपतन में | २५३ | गुणवृन्द, गुणवृन्दक | १०२ | घ | |
| " और अन्य का सम्बन्ध ७९, १४३, १५१ | | गुदमेधुन | ६० | घ | |

| | | | | | |
|---|---------------|---|---------------|--|----------|
| चित्रिणी सी | ४६ | जातिस्मरता के हेतु | ५५, ५६ | तत्त्वचतुर्विंशति का आधिभूतादि त्रैविध्य | ६ |
| चिन्तन का मनचाही सन्तानोत्पत्ति में उपयोग | ४१ | जात्यन्धता, संप्राप्ति | ४० | " का अचेतनत्व | ६ |
| " का गर्भवर्ण पर परिणाम | ४० | जानु | १४६, १८०, १६२ | तन्मात्राएँ | ४ |
| " का ध्वजोच्छ्राय में कार्य | ४६ | जाल | १४५ | तन्मात्राओं से भूतोत्पत्ति | ४ |
| " मन का विषय | ५ | जालधरा सिरा | १६७, २०० | तन्द्रा | १२८ |
| सुम्यन, स्पर्शसुख का एक प्रकार | ४७ | जिह्वा की अवेध्य सिराएँ | १९८, २०० | " और निद्रा में भेद | १२८ |
| चूने का महत्व गर्भिणी में | २३२ | " रोगों में सिरावेध | २०६ | " संप्राप्ति | १२८ |
| चेतनत्व, आत्मा का | ६ | " की सीयनी | १४५ | तप का सामर्थ्य | १७२ |
| " के लक्षण | १६, ११४ | जीव (आत्मा) के पर्याय | ६२, ६३, ६४ | तपश्चक्र | १७२ |
| " का स्थान हृदय १११, ११४, १२० | | " गर्भाशय में पहुँचने का कारण | ६४ | तम का पंगुत्व | ३ |
| चैत्य | २३१ | " का परिमाण | ८५ | तरुणास्थि | १५२, १५४ |
| चौलकर्म | २८६ | " की गर्भोत्पत्ति में आवश्यकता | ६४ | " के प्रकार | १५२ |
| | | " का अर्थ दार्शनिक और वैद्यकीय | ६४, ६५ | " की सूक्ष्म रचना | १५३ |
| छ | | जीवितिकि 'ए' 'वी' गर्भिणी के आहार में आवश्यक | २३२ | " अस्थि के साथ गिनने की युक्तायुक्तता | १५३ |
| छागदुग्ध | २८४ | जीवितिकि 'डी' अस्थि बनने के लिए आवश्यक | १५३, २३२ | तलहृदय १७८, १७६, १८०, १८१, १९२ | १५६ |
| छाती के मर्म | १८३, १८४, १८५ | जीवितिकि 'डी' के अभाव से होने वाले रोग | २८८, २८६ | तलहृदयगत रक्तस्राव की चिकित्सा | १८९ |
| " के सिरावेध रोगानुसार | २०६ | जीवितिकि, संग्रह यकृत में | १४१ | तामस गुण | २ |
| " की अवेध्य सिराएँ | १९८ | जीवाणुमयता मर्माघातजनित | १७७ | " मन | १७ |
| " के आघातजन्य रोग | १८४-१८५ | " प्रसूतिज्वर में | २५९ | " बुद्धि | ६, १६ |
| " की अस्थिर्यो | १४८, १४९ | " नाडीकल्पनजनित | २४६, २७८ | तामसी निद्रा (संन्यास भी देखो) | ११८ |
| छेदन, अंग का, निर्देश | १६० | जीवशोणित, लक्षण | २५ | तामस प्रकृति के प्रकार | १३८ |
| ज | | जुम्भा | १२९ | तालु (कपाल) पूर्व और पश्चिम | २७७ |
| जंघा | १८० | " में मुखाच्छादन की आवश्यकता | १२९ | " अस्थिभवन का काल | २७७, २८६ |
| जंघापिण्डिका | १८० | " से हनुसन्धिविश्लेष | १२९ | " की स्थिति वालक रोगदर्शक | २७८ |
| जंघा में कालापन, गर्भिणी में | ८० | " का प्रसव प्रथमावस्था में उपयोग | २४२ | " पात रोगों का लक्षण | २७७ |
| जन्मपूर्व पेदीसंख्या | १६० | ज्वर (वालक का) में घृतप्रयोग | २७७ | " " संप्राप्ति | २७८ |
| " मर्म | १७४, १८६ | " " स्तनपान | २७७ | " का अभ्यंग बालकों में | २६६, २७८ |
| " सिरासंख्या | १९५ | " " जलसेवन | २७७ | तालु (गला) तृपा से संबन्ध | २२६ |
| " अवेध्य सिरा | १९८ | " प्रसूति | २५८ | " प्रमार्जन बालक में | २४६ |
| " सिरावेधन रोगानुसार | २०६ | " स्तन्य | २५१ | तालुकण्टक | २७९ |
| जननाशौच का सिद्धान्त और काल | २६७ | ज्ञान | ९६ | तालवद्धता हृदय की | ११५, १६२ |
| जन्मवल्प्रवृत्ति, लैङ्गिक विपर्यास में | ४९, ५० | " चक्षु | १७१-१७२ | " अनैच्छिक पेशियों का गुण | १६२ |
| जन्मान्धता | ४० | " मनुष्यों की विशेषता | २८० | तिर्यग्योनि | १५ |
| जरण | १०५ | " चक्षु द्वारा अदृश्य वस्तुओं का दर्शन | १७२ | तिर्यग्योनि में पुरुषसंचरण अधर्म से | १५ |
| जरायु, अर्थ | ५४, ११० | " वर्धन में शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों का सहत्व | १६७ | तिर्यग्योनिगमन (कामुकविप्रकृति) | ४८ |
| " परीक्षण प्रसवोत्तर | २६४ | ट | | तिर्यग्विद्धा सिरा | २११ |
| " शेष, सकल हेतु | २६५ | टेंडुआ, रचना | १५२ | तुलसेवनी सन्धि | १५७ |
| " के साथ बालक का जन्म | २४०, २४६ | त | | तुम्बो, रक्तनिर्हरण के लिए | २१३, २१४ |
| " विदारण, प्रसव के समय | २४० | तत्कालमृत्यु के कारण | १७६ | तुल्यगोत्र विवाह के गुणदोष | ३७ |
| जल, उष्ण के गुण | २७७ | तत्त्वचतुर्विंशति | ४ | तृणपुत्रिक (पूलिका) | ५०, ७० |
| जलरक्ता गर्भिणी में | ८१ | तत्त्वचतुर्विंशति गणना में चरक का भेद | ४ | तृतीयक ज्वर में सिरावेध | २०९ |
| जलशीर्ष | २८८ | | | तृपासंप्राप्ति | २२५, २२६ |
| जलोदरसंप्राप्ति | २२५ | | | तेज का लक्षण (महाभूत) | १२ |
| जलोदर में शास्त्र कर्म | २०७, २०६ | | | तेज के गुण | १७ |
| " " का स्थान | १०० | | | तेज (शरीरगत) के अर्थ | १८ |
| जलौका प्रयोग निर्देश | २०१, २१४ | | | तेजस्वलन, मैथुन में | ५८ |
| जाङ्गल देश | २५४ | | | | |
| जातकर्म बालक का | २४६, २५० | | | | |
| जातिसाल्म्य, दूध का | २८२ | | | | |

| | | | | | |
|---|-------------------|-----------------------------------|--------------------|-------------------------------------|---------------|
| कटीकृतस्य | १८५, १८६, १२२ | कामला में सिरावेध | २०२, २१० | कृत्रिमधसन, की पद्धतियों | २४१ |
| " सिरा | १८८ | " में रक्त नेग्रता | २२७ | कृमिदन्त, थालकों में, कारण | २८८ |
| कण्ठनाडी | १८६ | " थालकों में, हेतु | २७१, २८० | कृष्णमण्डल की रचना | ४० |
| " रचना | १५२ | काय, प्रकृतिदोरो | | कैलुवे वृन्तनाम्द के कारण | २०१ |
| कण्ठप्रमाजैनविधि अपरापातनाथं | २६३ | कारिय, तरुणास्थिदेवो | | केदा, अर्थ | ३६ |
| कण्ठरा | १६, १४४, १४०, १६३ | काण्व्यं, गभिणी में स्तनों का | ७३ | " वृद्धि गर्भावस्था में | ८० |
| कण्ठरा, द्विनारस्का और यतु'तिरस्का की | १८१ | " स्तनों का अन्य हेतु | ७५ | " " की वृद्धि शरीर स्वास्थ्य निरदोष | १३१ |
| कनपत्री | १८८ | " गभिणी में अगों का | ८० | केसिका | १०३, १३३, २२९ |
| कन्दोत्पत्ति की उपपत्तियों ३३, ६६, ६६, ७७ | | काल (अगकारण) | १०, ११ | " प्राचीर की बनावट और उससे | |
| कपालास्थियाँ | १५१ | कालवादी | ११ | रक्षध्वज | १५३ |
| कफप्रकृति | १३२ | कालपरीणा रोगी की | २६० | " की अधिकता औदरिक विभाग में २०६ | |
| " के लक्षण | १३४ | किविस संप्राप्ति गभिणी में | ८० | " बहृतद्गीहागत | २२६ |
| कफस्थान | १५२ | " पूर्वगर्भावस्थासूचक | ८१ | " मांसगत | २२७ |
| कण्वह मिरा, संख्या | १५५ | " चिकित्सा | २३४ | " की मोटाई | १५४ |
| " प्राट्टन और विवृतकार्यं | १५६ | किलाटि गुण | २८५ | " लम्बाई और क्षेत्रफल | २०६ |
| कयामत | ५६ | कुर्मों से परावृत्त करने के विविध | | कैवस्य | ७ |
| करण | १२२ | साधन | ४५ | कोय के हेतु, मृत शरीर में | १७० |
| कर्ण, शङ्खुली की रचना | १२४ | कुजुन्दर | १८२, १८६, १९२ | " प्रतिबन्धक उपाय " | १७१ |
| " की अवेष्य सिराएँ | ११९, २०० | कुचिला, रक्तचय में | २३ | कोरसन्धि | १२६ |
| " रोग में सिरावेध | २०३ | कुम्बिता सिरा | २११ | " के प्रकार | १५७ |
| कर्मेज व्याधि | ४२, १६ | कुटनाष्टकावलेह | २८ | कोष्ठक (सारणी) सांख्यदर्शन का | १० |
| कर्मेविपाक | ६३, ८८ | कुम्बिता सिरा | २११ | " साख्यायुर्वेदभेददर्शक | १६ |
| कर्मेन्द्रिय | ३ | कुनस | ३० | " पंचीकरण का | १८ |
| " के विषय | ३ | कुमारधार के गुण | २८१ | " आर्तवादर्शन का | २६ |
| कलन(ल) अवस्था गर्भ की | ८५ | कुमारगार | २३६, २६६ | " प्रसवकालविधिदर्शक | ७३, ७४ |
| कला, स्वरूप और सख्या १०३, १०७, १०३ | | कुम्भीक | ४४ | " गभिणीचिह्नों का | ३० |
| " अर्थ और वाद | १०६, १०७ | " की उपपत्ति | ४७ | " त्वचास्तर तुलना का | १०२ |
| " प्रकार | १०३ | " कामुक विप्रकृति में स्थान | ४७ | " कला अर्थदर्शक | १०७ |
| कल्क | २३ | कुलप्रवृत्ति, शरीरवर्ण में | ३५ | " बयानुसार नाडीगतिदर्शक | १३२ |
| " छागली का उपयोग अपरापातन | | " वद्वपत्यता में | ४३ | " अग्निधसंक्रयातुलनात्मक | १५० |
| में | २६३ | " कामुक विप्रकृति में | ४५, ५० | " सन्धियों का तुलनात्मक | १५८ |
| " लेपन स्तन पर शिशुरोगों में | २७६ | " कालातीत प्रसव में | ५२ | " पेशीसंक्रयातुलनात्मक | १६० |
| काकलक | १६० | " प्रकृति की यनावट में | १३२, १३८ | " मासानुमासिक गर्भवृद्धिदर्शक | १६५ |
| काकवन्ध्या स्त्री | २२९ | " के वाहक | ६६ | " अस्थामाविक गर्भस्थितिदर्शक | १६५ |
| काम, व्यापरा | २१० | " के रोग | ३५, ५५, ६० | " गर्भनार्थगतिदर्शक | १६६ |
| कामजडता | ४८ | कुलपरीक्षण का महत्व विवाह में | ३७ | " ममों का | १९२ |
| कामकटिवन्ध | ४७, ७१ | कुल, उत्पत्ति स्थान | १०१ | " अवेष्य सिराओं का | २०० |
| कामकुरिता | ४८ | कुलतैल के गुण | २४९ | " जघ्णस्य सिरा सख्या का | १३६ |
| कामसान्ति, गर्भधारणा में आवश्यकता | ६१, ७८ | " नाभिनाडीवधन में | २४९ | " धमनियों का, श्रोतसों का | २३० |
| कामवासना का कम होना, गभिणी में ७८ | | कुण्ठिता सिरा | २११ | दन्तोद्भेद का | २८७ |
| कामानुरता का शरीर पर परिणाम ७६, ७६ | | कुर्चमर्म | १७१, १८०, १८१, १९२ | कोष्ठ, १०५, ११४, १२०, १८५, १८६, २७५ | |
| " ऋमुघाता स्त्री में | ७६ | कुर्चाशिरमर्म | १७१, १८०, १८१, १९२ | कोष्ठग | १२०, २२७ |
| कामोत्कटता | ४८ | कुर्चा | १४९ | कौञ्ज, थालक में जल्दी बैठाने से | २८१ |
| कामुकविप्रकृति | ४८ | कुर्पर | १४६, १८१ | कौशरकायलक्षण | १३७ |
| " के प्रकार और उदाहरण ४८, ४९ | | कुर्परदूट, कपाल | १४८ | क्रीडनक थालक के लिए | २८२ |
| " के हेतु | ४९, ५० | कुकाटिका १८६, १८७, १९२, १९८, २०० | | क्रीडाभूमि " " | २८२ |
| कामदुघारस | २८ | कुचार्तव | २४ १४४ | कुम्भ | १२६ |
| कामला के प्रकार | २०३ | कुम्भ दुग्धधान | २०३, २०२ | कुम्भ के प्रकार (नष्टमक भी देखो) | ४४, ४८ |
| | | " " की विधि | २०३, २०५ | " सद्यक और अद्यक | ४५ |
| | | कृत्रिमधसन, नवजातधालावरोध में | २४७ | | |

| | | | | |
|--------------------------------------|---|--------------|--------------------------------------|---------------------|
| पल्लव्य के कारण ५०, ६९, ७०, ११३, २२८ | गर्म, अनेक होने के हेतु | ४३ | गर्म काणातीत की चिकित्सा | २३३ |
| ह्राम, अर्धनिर्णय | " " " की संप्राप्ति | ४२ | " की स्थिति गर्भाशय में | १६५ |
| ए किरण, यमलनिर्णय में | " " " का प्रमाण | ४२ | " का स्तिर नीचे रहने के हेतु | १६ |
| सामता, गर्भधारणा के लिए | " का शुष्क होना | ४४ | " की अस्वाभाविक स्थिति का | |
| " पुत्रोत्पत्ति में | " हृदयहीन होने का हेतु | ४४ | कोष्ठक | १६५ |
| " गर्भिणी में | " में मलाभाव का हेतु | ५३ | " की अवस्थिति | १६५ |
| सिप्रमर्म | " में लिङ्ग भेद के हेतु | ६६-७१ | " निष्कर्मणीति प्रसक्त में | १६६, १६७ |
| " का सद्यःप्राणहरण | " रोदनाभाव " | ५४ | " शिर, प्रसवकाल में | १६६, १६७ |
| " वेधचिकित्सा | " नेत्रचिकारोग्यत्तिहेतु | ४० | " पोषण का विवरण | ३७, ९३ |
| शीणार्तव, लक्षण और चिकित्सा | " का गर्भाशय में पहुँचने का काल | ८५ | " चलनस्वन | ८६ |
| शीर, शुद्ध का लक्षण | " का स्वरूप प्रथम मास | ८२-८३ | " जीवन समता का मास | ९१ |
| " जनक उपाय और ओषधि | " " द्वितीय " | ८२-८६ | " स्पन्दनप्रतीति माता को | ८० |
| " साम्य के हेतु | " " तृतीय " | ८६ | " धौर दौहद का सम्बन्ध | ८६ |
| शीरालसक | " " चतुर्थ " | ८७ | गर्भधारण काल ५०, ७५ गर्भाधान भी | |
| क्षीरी दूध | " " पंचम " | ८६ | देवरी | |
| वालक स्नानोदक में | " " षष्ठ " | ८० | " की सामग्री | ३६, ९६ |
| न्त्र, आन्त्र देखो | गर्म का स्वरूप सप्तम मास में | ६० | " के लिए अनेक समागम की | |
| , दर्शनशान्त्रगत प्यारुण | " " अष्टम " | ६० | आवश्यकता के हेतु | ६०, ६२ |
| स्त्रीशरीर के लिए | " " नवम " | ६०, ९१ | " के लिए योनिगर्भाशयशुद्धि | |
| ज्ञ | " आठवें मास में न यचने का हेतु | ९० | की आवश्यकता | ६० |
| के पर्याय | " के प्रक्षासादि कर्म माता के अधीन | ६४ | " अयोव्य स्त्रीपुरुष | २६१ |
| स्त | गर्भहस्तस्पन्दन, संख्या | ८९ | " के लिए स्त्री की दृष्ट्या | ६१ |
| उकोरसन्धि | " सगर्भावस्थादर्शक | ८६ | " स्त्री की मनस्थिति | ६१ |
| दित अन्न | " गर्भगति सूचक | ८९ | " पुरुष की " | ६२ |
| तलीने, वालक के | " गर्भासनसूचक | ८९ | " योग्य स्त्री | ७५ |
| तेस (दूध) | " गर्भस्वास्थ्य और लिंग | | गर्भधारणा के लिए योग्य आसन | ६२ |
| ग | सूचक | ८६ | " स्त्री-कामशान्ति की आवश्यकता | ६१ |
| पि के गुण | " युग्मसूचक | ८६ | " प्रतिबन्धक काल | ६० |
| पि के दूध का उपयोग | " गर्भापत्ति सूचक | ८९ | " में आर्तवदर्शन की अनावश्यकता | ७५ |
| पन्ध का स्थान ध्वजोच्छ्वाय में | " का अभाव गर्भमृत्युसूचक | ८६ | " दो में अल्पतम कालमर्यादा | ३९, २५६ |
| " के अनुसार स्त्रियों के भेद | गर्भ का रक्तसंवहन | ६४, ९५ | " " अधिक " | २६४ |
| पन्धवह धमनी | " के मातृजादि लक्षण | ९६ | गर्भपात (स्त्राय) | २६, ८३, २९२ |
| गरमाना, जानवरों में | " की गति | ८९, १६६, १६७ | " कारक, जीवद्रव्य वी का अभाव | २३२ |
| गर्म, व्याख्या ५७, ५९, ६२, ६४, १३९ | " के आसन | ८९ | " कारक कर्म | ८२, ८३, २३३ |
| " अवक्रान्ति | " लिंगसूचक लक्षण | ८९, ९७ | " के प्रकार | २९२ |
| " " की सामान्य प्रक्रिया ११७, १३९ | " लिङ्गसूचक विवरण | ६६, ६९, ६७ | " के लक्षण | २९२ |
| " " में जीव की आवश्यकता | " लिङ्गोत्पत्ति में वीर्य का स्थान | ६६ | " की चिकित्सा | २६१, २९२ |
| " " का स्थान | " लिङ्गोत्पत्ति में आर्तव का स्थान | ६७ | " साध्यासाध्यता | २९२ |
| " प्रथमार्ग उत्पत्ति के मतमतान्तर | " लिङ्गोत्पत्ति में शारीर स्वास्थ्य का | | " बहिर्गर्भाशय | २६५ |
| " " " में धन्वन्तरिमत् | स्थान | ६७ | " मासानुमासिक | प्रतिपधक |
| " के विविध अंगों की उत्पत्ति | " लिङ्गोत्पत्ति में समागमकाल का | | चिकित्सा | २६२ |
| " " के हेतु | स्थान | ६७, ७७ | गर्भस्त्रावी धन्ध्यता | २३६ |
| " संभव की सामग्री | " लिङ्गोत्पत्ति में स्त्रीबीज की पक्का- | | गर्भस्त्राव (पात), अशुद्धर का हेतु | २६ |
| " व्यक्त और अव्यक्तावस्था | पक्ता | ६८ | गर्भविषमयता में सिराबोध | २०२ |
| " गौरकृष्णादिवर्णोत्पत्तिहेतु | " लिङ्गोत्पत्ति में दैविक उपायों का | | गर्भव्याकरण शारीर अध्याय | ९६-१३८ |
| " में अन्धादि उत्पन्न होने के हेतु | स्थान | ६८ | गर्भावक्रान्ति शारीर अध्याय | ५७-६८ |
| " विकृताकारी होने के हेतु | " लिङ्गोत्पत्ति में अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों- | | गर्भसंग | २४५ |
| " विकृताकार के प्रकार | का स्थान | ७०, ७१ | गर्भ पर परिणाम, मैथुन का | ८२, ८३ |
| | " अन्तःमृत के लक्षण | ११४ | " " माता की मानसिक | |
| | " कालातीत की मर्यादा | ९१, ९२ | स्थिति का | ३२, ८३, ८४, ८७, २३३ |
| | | | " " माता के जाहार का | २३२ |

| | | | | | |
|-----------------------------------|----------------------|---|------------------|--|--------------------|
| गर्भाधानविधि का साधन | २८६ | गर्भिणी व्याकरण अध्याय | २३०-२३५ | गुदमेधुन द्विलिङ्गियों में | १८ |
| गर्भाधान, प्रथम के लिए योग्य वय | ३८, ७२, ११० | गर्भिणी लक्षण | ७७-८२ | गुदयोनि छ्वाह | १२ |
| " अत्यन्त बाला में निषेध | २३१ | " निदानसहायक स्तरिणी | ९० | गुफक | ११६, १०२, १८०, २०२ |
| गर्भापाननामक में मिरारेष | २०१, २०२ | " में अमार्तव्य | २८, ७८, ११०, २२१ | गुध्रसी | १२७ |
| गर्भविक्रान्ति शरीर अध्याय | ७७ | " में आर्तवदर्शन | २८, ७८, ९१, ११० | " में तिरायेष | २०४, २०८ |
| गर्भावस्था, गर्भिणी वेगों | | " में योनिगत परिवर्तन | ७८, ८१ | गृहनिष्प्रणविधि बालक की | २८१ |
| " शीघ्र | ९३ | " में हृदयस्पन्दन | ७८ | गोमूत्रगुण | २८ |
| " शीघ्रकोपस्य | ८३ | " में गर्भहृत्स्पन्दन | ८९ | " भ्रष्टार्तव में | २८ |
| " नालिकागत | ६० | " में कामवासना की कमी | ७८ | गोदुग्ध की सर्वश्रेष्ठता | २८४ |
| " की अवधि | ७३ | " में स्तनगत परियतन | ५९, १४३ | " बालक को देने की विधि | २८४ |
| गर्भाशय का स्थान उदरगुहा में | १४३, १६२ | " में पचनसंस्थानगत परिवर्तन | ७९ | " और माता के दूध में भेद | २८२ |
| " का स्वरूप | १४३, १६३, १६४ | " में शरीर का कार्य | ८० | " माता के दूध के समान करने की विधि | २८५ |
| " की पेशियाँ | १६२ | " में उदरवृद्धि | ८०, १३७ | " परिवर्तित के दोष | २८६ |
| " के श्रानुशालीन परिवर्तन | ७२, ७२, ७६, १०४, १६४ | " में गर्भाशयवृद्धि | ८१, १६२, २३७ | " का विरेचक गुण | २८६ |
| " की स्थिति मैथुन के समय | ९८ | " में गर्भाशय का आकुचन | ८९ | " अपरिवर्तित देने का हेतु | २८२ |
| " में फर्क वयानुसार | १६३, १६९ | " में नाभिगत परिवर्तन | ८१ | गोधा गुण | ८८ |
| " में गर्भ का आगमन | ६० | " स्वस्थवृत्त और सामान्य परिधायी | ८२-८४, २३०-२३३ | गोरीपंचन्दन | २३ |
| " के गर्भ में जीव प्रवेश का हेतु | ६४ | " में व्यवाय के नियम | ८२ | गौरव | १३० |
| " की स्थिति | १६९ | " में व्यवायनिषेध का हेतु | ८२ | गौरी सिरा | १६७ |
| " के प्रद्वर कारक रोग | २७ | " में व्यायाम के नियम | ८३ | ग्रहोपसर्ग, बालक का प्रतिषेध और लक्षण | २८९ |
| " का आकुचन, गर्भिणी में | ८३ | " में बह्निनिष्प्रण के नियम | २३१, २३३ | ग्रहणी | २३२ |
| " वृद्धि, मासानुमासिक | ८१, २३७ | " में यानावरोहण के नियम | ८३ | श्रीवा के भ्रम | १८६ |
| " " कोष्ठक | १६२ | " में वेगविधारण के नियम | ८४ | " की अवैष्य सिराएँ | १९८, २०० |
| " प्रसवकालनिर्णय में | ८१ | " में विक्रिस्तोपयोगी नियम | ८४, २९२ | " की दृष्टियाँ | १४६ |
| " गर्भवृद्धिदर्शक | ८१ | " का आहार | ८३, २३२ | " की सन्धिर्था | १६६ |
| गर्भाशयगत रक्तश्राव, अक्षुद्र में | २६ | " का मासानुमासिक आहार | २३३ | " की पेशियाँ | १६० |
| " " गर्भसाव में | २९२ | " में स्वच्छता के नियम | २३२, २३३ | श्रीपम्, दिवास्वप्न के लिए योग्य | १२२ |
| " " रोधक औषधियाँ | १८, २३२ | गर्भिणी का सोने का स्थान | २३१ | श्लानि | १३० |
| " अपरिपक्व, अनार्तव्य हेतु | २६ | " की सूक्तिकागारप्रवेशविधि | २३५ | घ | |
| " की अपमंशुति | २६ | " की मानसिक स्थिति के नियम | ८३, ८४, १३३ | घोरपद | ८८ |
| " की स्वसंशुति | २६ | " के दूध का बालक पर परिणाम | २६६ | घोष अर्थ | २१६ |
| " स्वसंशुति की प्रक्रिया और गति | २५४ | गर्भोदक, अधिक्ता गर्भावस्था पूर्वार्ध में | १६६ | घोषकरा घमनी | २१६ |
| " परिवर्तन प्रयोज्य | २५२ | " का श्राव प्रसव में | २३० | घ | |
| " स्थानापवृत्त का हेतु | २५२ | गलगण्ड | १०० | च | |
| " " की मग्रांसि | १६५ | " में सिरावेध | २०८ | चक्षु के तीन प्रकार | १७१, १७२ |
| " " अक्षुद्र का हेतु | २५ | गलोनी | २२०, २२८ | चक्षुर्वैशेषिक आलाचक पित्त | १७१ |
| " " वन्धता का हेतु | २२९ | गार्धवकायलक्षण | १३७ | चक्षुर्विशतितत्व, सांख्यदर्शन के | ४ |
| " " सग | २३४, २४४, २४२ | गुणपरिणामवादी | ११ | चक्षुर्विवाति तथवगणना में चरक सुश्रुत का भेद | ४ |
| " " हेतु, प्रकार और चिकित्सा | २४५ | गुणागुण अंगों के | १८ | चक्षुर्वैशेषिक में सिरावेध | २०९ |
| " " अम्नि या मुस्ली | २४५ | गुणविकास | ११, १७ | चन्दन, प्रकार और उपयोग | २३ |
| " " सहरण | २६१ | गुद मर्म | १८२ | चर्मचक्षु | १७१, १०२ |
| " " मुख, प्रसवपूर्व रूप में | २३८ | " शरीर का मूल | १८३ | चर्मप्रच्छेद का प्रयोग, म्याकिन्टस के तौर पर | २४१ |
| " " प्रसव में | २३३ | गुदपाक | २७६ | चिकित्सा का उद्देश्य | १२, २०७ |
| " " गर्भापात में | २९२ | गुदकुन्द, गुदकुट्टक | २७९ | " औषधि और शास्त्र की विशेषता | २०७ |
| " और स्नान का सम्बन्ध | ७९, १४३, २५१ | गुदमेधुन | ४७ | " में भूतज्ञान का उपयोग | १२, १३ |
| | | | | " में त्रिगुणानुसार भूतज्ञान का उपयोग | १८ |

| | | | | |
|----------------------------------|---------------|---|------------------------------------|---------------|
| तेजेदीरग, मैयुन में | ८८ | दिव्य दृष्टि आमर्दान के लिए आय- | धमनी का अर्थ | ११३, २१७, २२२ |
| तैजसिपुधरग, योनि में | २३४ | रचना | " का कार्य और रचना | १०३, ११३, |
| तैजसिपुधरग, वात पर बालक में | २१६, २४८ | दुःख | " स्वरूप और लक्षण | ११३, ११७ |
| प्रथी चिदा | २१० | दुःखपात कृत्रिम | " माहात्म्य | २१६, २२२ |
| त्रिक | १४६, १४८, २३८ | " कृत्रिम मात्रा और काल | धमना का हृदय से सम्बन्ध | ११३, २१६ |
| त्रिगुणमध्ता दृष्टि की | १, १२३ | दुर्बिदा मिरा | " मिरा से प्रयत्न | २१६, २१६ |
| " में तरतम भेद का विद्वान्त | २ | दुष्टम्यधन (सिरानेध) नाम और लक्षण | " का नामिसम्बन्ध और उसकी | |
| " पुरण (आत्मा) की | १, १२३ | " न होने के उपाय | " उपरते | २१६ |
| त्रिगुणों के कार्य | १२३ | " का कारण वैध | " स्पन्दन की उपपत्ति | २१६, २१७ |
| विदोष, आयुर्वेद की नीव | २१७ | दृष्ट की जातिसाम्यता | " स्पन्दन मन्वीवावस्था का | |
| " शरीरगत और प्रकृतितग कामेद | १३६ | " गौ का, (गेदुख देखो) | " दर्शक | ११७, २२३ |
| " का सर्वकारि में परिष्करण | १९६, १९७ | " गौ का, घातोष्ण की प्रेरणा | " संख्या | २१६ |
| त्रिमर्म शरीर के | १०१ | " पिलाने के उपकरण और उनकी | " के विभाग | २१६ |
| त्रिचक्रा | १८ | स्वच्छता | " उर्ध्वार्ग के कार्य | २१६ |
| खवा का वर्णन | २९-१०३ | " माता का, (स्तन्य देखो) | " अधोगामी के कार्य | २२० |
| " के स्तर, चरक और सुश्रुत मत | १००, | " माता का, बालकदृष्टि के लिए | " तिर्यंगामी के कार्य | २२३ |
| " का वर्ण | १०२ | सर्वधेष्ट | " का अर्थ नवों करने से बनवस्था | |
| " की मोटाई | १०३ | " माता और गौ के भेद | प्रसंग | २१७ |
| " के स्तरों का आधुनिक विवरण | १००, | " माता का न मिलने के कारण | " मर्म | १०३ |
| " के स्तरों का तुलनात्मक कोष्टक | १०३ | द्वयोनि कृत्र | धर्म | २१० |
| " की औषधिघोषणा का शक्ति | २२३ | दृष्टि के प्रकार | धनुष्य के कारण | २० |
| " की स्वच्छता करने की विधि | | दृष्टि की स्थिरता और अर्थ | " अन्य दाह | २० |
| नवजल बालक में | २२० | देता (रोगी) परीचग की विधि | घात्री, व्याख्या और अर्थ | २६९, २७० |
| द | | दैवयोनि | " रखने का विवाह राजघराने में | २६९ |
| दक्षेद्र (जलेद्र देखो) | २२५ | दैवयोनि में पुरुष का संचरण धर्म से | " की आवरणकता | २६९ |
| दन्त, रचना और सगण | १-३, २८७ | दैविक उपाय, गर्भलेगोत्पत्ति में महत्त्व | " के गुण | २१७, २६८ |
| " अस्थि के साथ मिलने की | | दोष, त्रिदूष तथा वात, पित्त, | " दो रखने का मत और उसकी | |
| युक्तायुक्तता | १२३, २८८ | कफ भी देखो | युक्तायुक्तता | २७ |
| " के प्रकार | २८७ | " देहव्यापित्त | धूप रक्षोमि | २६६ |
| " बीज | २८८ | " के अनुसार प्रकृतियेद | धूपन बन्नादि का बालक के | २६६ |
| " सन्ध और दोष | २८८ | " शरीरगतों और प्रकृतियेदों | " प्रस्तागार का | २३६ |
| " शब्द रोग | २७९ | का भेद | दृष्टि | ३६ |
| " बालक के बयानुसार सख्या | २८० | " वाहक सिराओं के लक्षण | धेनुका सिरा | २३१ |
| दन्तेद्भेद | २०५, ८७, २८९ | दौर्बिद, पर्याय | ध्रुवधर्म, गर्भनाय का | २३९ |
| " का कोष्टक | २८७ | " प्रकृत होने का काल | ध्रुवभा के हेतु | ३४ |
| " की प्रक्रिया | २८८ | " और गर्भ का सम्बन्ध | ध्रुवोच्छाय | ३५ |
| " के लक्षण | २८८ | " पूरण का महत्त्व | " में शिरनगत परिवर्तन | ३५ |
| " और अक्षसेवन का सम्बन्ध | २२६, २८९ | " के अनुसार अपन्ययुग | " की प्रक्रिया | ३६ |
| दाई के गुण (घात्री भी देखो) | २४३, २६० | " की उपपत्ति | " में रूप | ३६ |
| दांत, (दन्त देखो) | | दौर्बिदनी | " में रस | ३६ |
| दिवास्त्र, विधिनिषेध | १३२, १३७ | द्विज (दन्त) | " में गन्ध | ३६ |
| दिवास्त्र का अन्वेष से निर्दिष्ट | १३७ | द्विपंचमूल | " में स्पर्श | ३७ |
| दिवास्त्र के लिये धारण | १३८ | द्विवाङ्गी | " में शब्द | ३७ |
| दिशामैयुननिषेध | १३३ | द्विलिङ्गी | " ठीक न होने से मैयुन | |
| दिव्य दृष्टि | १०२ | घ | का वैषम्य | ६२ |
| | | घनुवर्त, कारण | न | |
| | | घननी व्याकरण अर्थात् | नल कान्ते का महत्त्व, स्वच्छता में | २४३ |
| | | " व्युत्पत्ति | नल, निरन्तर दृष्टि | १३३ |

| | | |
|---|--|--|
| नपुंसक, अर्थ (स्त्रीय भी देखो) ४६, ६९, ७० | निद्रा, शरीरधारक ११७, ११८, १२४ | परस्परानुग्रहता महाभूतों की ६७ |
| ” के कारण ५०, ६९, ७०, ७१, ११३ | ” उचित सेवनसे चिरायुफल १२४, १२७ | परिचारक के गुण २६८ |
| ” के प्रकार ४४, ४८, ४६, ५१, ६९ | ” शरीर के लिए आवश्यक १२४ | परिणाम १०, ११ |
| ” राघस ६९ | ” की वृद्धि अभ्यास से ११९ | परिणामवादी ११ |
| नरपण्ड ४८, ४७, ४८ | ” के प्रकार ११७, ११८, ११९ | परिशुष्का सिरा २१६ |
| नलकास्थि ११२, १९३ | ” तामसी या पाप्मा ११८, ११९ | परोपजीवी गर्भ ५३ |
| नवजात नेत्राभिव्यन्द २४६ | ” पापज ११८ | पल्ल २३४ |
| ” बालक के रोने का कारण २४७ | ” वैकारिकी ११६ | पलाशवृत्त २१ |
| नवजात श्वासारोघ २४७ | ” की उपपत्तियाँ १२३, १२४ | पसलियाँ १४९, १६० |
| ” विसर्प २०९ | और भोजन का संबंध १२६ | पशुओं में यक्षपत्यता ४३ |
| नष्टशुक्राणुता १६ | निद्रा का स्थान गर्भिणी में २३१ | पशुकाय लक्षण १३८ |
| नष्टार्थ २८ | ” में मुख घन्नावृत्त करने का निषेध २८२ | पादशोफ गर्भिणी में ८१ |
| ” कारण और प्रकार २८ | ” और तन्द्रा में भेद १२८ | पाददाह, पादहर्ष २०८ |
| नस्य की ओपधियाँ पुंसवन में ३६ | ” नाश के कारण ११८, १२७ | पापकर्म रोगोत्पत्ति में ५२, ५३, ५६ |
| नागोदर गर्भ २९३ | ” की चिकित्सा १२७ | पारिगर्भिक २६६, २७४ |
| नाभिवक्षचक्षसन ११२ | ” ” के कारण प्रसूता में २६६ | पारावत गुण १३७ |
| नाभि ११२, २१५ | ” अधिक की चिकित्सा १२८ | पार्श्व की अवैध्य सिराएँ १९८ |
| ” अर्थ ११२, २०० | ” के अनुकूल साधन १२८ | पार्श्वसन्धि १८५-१८६ १६२, |
| ” गर्भिणी में ८१ | निमेष १६ | पार्श्वशूल में सिरावेध २०९ |
| ” मर्म १८२, १८३ | नियति १०, ११ | पार्श्वसिन प्रसव में २४४ |
| ” सिरा और धमनी का मूल १८२, १९४, २१६ | निरिन्द्रिय सृष्टि ३ | पार्ष्णि १८० |
| ” माननेका हेतु १९२, १९४, २१६ | निश्वास ५४ | पाश्चरीकरण २८५ |
| ” गत सिराधमनीचक्र १९५ | नीला मर्म १८६, १९२ | पित्त २३ |
| ” ” आन्त्रवृद्धि बालक में २७८ | ” सिरा १९७ | ” गर्भिणी में योनि के अभ्यंगार्थ २३४ |
| ” की अवैध्य सिरा २००, २१५ | नेत्र की अवैध्य सिराएँ १६९, २००, | पित्तुट्टिन २३९, १४८ |
| ” गर्भ में शरीरवृद्धि का मूल ९५, १३१ | ” रोग में सिरावेध २०९ | पिघिता सिरा २११ |
| ” विकार बालक में २४९, २७८ | ” ” की उत्पत्ति गर्भ के ४० | पण्डलिका नाभिरोग २७८ |
| नाभि जीवी गर्भ ५२ | नेत्राभिव्यन्द नवजात २४६ | पण्डिका जंवा १८० |
| नाभितुण्डी २४९, २७८ | नेत्ररक्षण की आवश्यकता नवजात में २३६ | पित्तसूत्र ९९, ६५ |
| ” पाक २४९, २७८ | नैगमेपापहत गर्भ २९३ | पित्त के स्थान १९५ |
| ” नाडी, रचना ९३, ९४ | प ५ | ” वह सिरासंख्या १९५ |
| ” कल्पनविधि २४८, २४९ | पकादाय १४२, १४३ | ” ” के प्राकृत और विकृत कर्म १९६ |
| ” विभाग उदर का १८३ | पक्षाघात १८२, २१८ | ” की उत्पत्ति यकृत में १४१ |
| नामकरणविधि बालक की २६७ | ” में सिरावेध २०१, २१०, २१४ | ” धरा कला १०५, १०८, २२० |
| ” के नियम वर्णानुसार २६७ | पक्षियों की कामपरायणता १३७ | पित्तप्रकृति लक्षण १३३, १३४ |
| नारीपण्ड ४९, ४७, ४८, ५१ | पचन परिभाषा और काल १०५ | पित्ताशय ११४, १४१, १४२, १६२ |
| नासा १९४ | पचनसंस्थान के विकार, गर्भिणी में ७९ | पिप्पल्यादिचूर्ण, प्रसवदोषित-शुद्ध्यर्थ २५२, २५३ |
| ” की अवैध्य सिरा १९९ | पंचकर्म २१३ | पिपासा जलोदर में २२६ |
| ” का गन्धप्रदेश १८८ | ” के पश्चात् निषिद्ध कर्म २१३ | पीटर का गर्भ ८५ |
| नासायोनिच्छिव ४४ | पंचांग के पाँच अङ्ग २३५ | पीठ के मर्म १८५, १८६ |
| नास्तिक्य पारमार्थिक ९३ | पंचीकरण १२, १७ | ” की अवैध्य सिराएँ १९८, २०० |
| ” वैद्यकीय ९३ | ” कोष्ठक १८ | ” में रोगानुसार सिरावेध २०९ |
| नितम्ब १८९, १८६, १९२ | पट्ट बन्धन प्रसूता में २६४ | पीडनाक्षमता और पीडा १७५ |
| निद्रा, स्वाभाविक ११९ | पतिवैचल ३१ | पीत अन्न १०५ |
| ” ” का उचित काल ११८ | पत्नी धर्मार्थ कामों में आवश्यक २९० | पीथूप ७९, २९१ |
| ” ” १२९, १२६ | पद्मिनी स्त्री ४६ | पुत्र की निरुक्ति ३९, ६५ |
| ” वय और व्यवसायानुसार काल ११९ | पनमोटरी कार्य प्रवस में २४० | ” का अर्थ ५० |
| ३६ सु० सं० | परमात्मा ६३ | ” औरस की व्याख्या ३६ |
| | परस्परकोरसन्धि १९७ | |

| | | | | | |
|----------------------------------|----------------|---|--------------------|------------------------------------|---------|
| पुत्र के ज्ञान | ३३ | पुंसवन का औचित्य | ६९, ७१ | प्रकृति के राक्षस प्रकार | १३७, १ |
| " से छान | ३४ | पुंसी टिंगी | ७० | " के सामस प्रकार | १ |
| " कामेष्टि यत्, पुत्रीपविधि | ३२ | पृष्टयुक्ता | २० | " के और शरार के दोषों का | |
| " " पश्यान् कर्म | ३३ | पूर्वजन्म कर्म का पुनर्जन्म से सम्बन्ध | २२, १७, ६३, ६४, ६८ | पृष्टस्त्व | १ |
| पुत्रोत्पत्ति समर्पण सहवास से | ३३, ७७ | " यमलोत्पत्ति से सम्बन्ध | ४४ | " शान का चिकित्सा में महाव | १ |
| " के लिप् पुंसवनपिधि | ३५ | " दौर्द्ध से सम्बन्ध | ८८ | प्रकृतिवादी | |
| " " वाजीकरण | ३१, ६७ | शुधियी (महामृत) के लक्षण | १२ | प्रकृति विहृति | |
| पुनस्तुना विज्ञा सिरा | २११ | " के गुण | १७ | " " दार्शनिक अरिष्ट रूप | १ |
| पुनर्जन्म | ५५, २६ | पृथुल धातु | १५९ | प्रस्थान रक्षामोचन में स्थान | २०१, २१ |
| पुद्गामकल | २४७ | पृष्ठासन प्रसव में | २४१ | | २ |
| पुरीषधरा कला | १०२, १८ | पृष्ठदंरा की अस्थियाँ | ११९ | प्रजनन, ऋणमोचन का श्रेष्ठ साधन | १ |
| पुरीषवद चोत्स | २२८, २३० | पृष्ठ की अक्षेप्य सिराएँ | १९८ | पतर सन्धि | ११ |
| पुरष (आमा) निरुक्ति | | " पश्चता बालक में | २८१ | प्रतिश्लोम गर्भ अनुलोम करने के | |
| (आमा भी देखो) | ७, ६३ | पेसी, अर्ध और स्वरूप | १६१, १६३ | उपाय | २१ |
| " का अधिष्ठान प्रकृति | १, २ | " के आकार | ७, १६३ | प्रत्यक्ष | ३१ |
| " का स्वरूप | ८, १४ | " के कार्य | १६१ | प्रतीयापरा रक्षसंचय | २१ |
| " का चेतनत्व | ६, ६२, १२० | " की सृष्ण रचना | १६२ | प्रत्यावर्तन कर्म | २७ |
| " का बहुत्व | ८ | " ऐच्छिक | १६२ | " जनित हनेद | १७ |
| " की मध्यस्थता | ३ | " अनैच्छिक, स्थान और विशेषता | १६२ | " " स्तब्धता | १७ |
| " के गुण | १२, १२० | " सख्या, शरीरगत | १६०, १६१ | " सद्भव | १२ |
| " का नित्यत्व | १५ | " " तुलनात्मक कोष्ठक | १६० | " का निवारण | १२ |
| " का परिमाण | १४, १०, १०१ | " स्त्रियों की विशेष | १६२ | प्रत्येक मर्म निर्देश शारीर अध्याय | १०१ |
| " का सगुणत्व | ६, १२३ | " योनि गर्भाशय की | १६२ | | १२ |
| " का प्रकृति में समावेश | ६ | " स्तनों की | १६२ | प्रत्येक शरीर के | १२ |
| " और प्रकृति का सम्बन्ध | ७ | " पुरुष में स्त्रीविशिष्ट के प्रतिनिधि | १६३ | प्रदर व्युत्पत्ति | १७, २२ |
| " " साधर्म्य वैधर्म्य | ८, १ | पैशाच कायलक्षण | १३८ | प्रदरारि, प्रदरान्तक | २ |
| " के पर्याय नाम | ६२ | पेपणिका प्रम्य का स्थान कामुक | | प्रदर्शनीयता कामुकविपर्यास | ४ |
| " का अनेक योनिगमन | १२, ५६, ६२, ६३ | विपर्यासों में | ४९ | प्रयत्न | १ |
| " का शुक्रशोणित संयोग में अवतरण | १६, १९, ६२, ६४ | " " गर्भ लिण्णोत्पत्ति में | २०, ७० | प्रलय | ११८, १७ |
| " सुख-दुःख का शाता | ६३ | " प्रम्य का स्थान स्तन्योत्पत्ति में | २५१ | प्रवाहिका बालक की | २७ |
| " को कर्मफल भोगने की आवश्यकता | २६, ६२ | प्रकार की राशि स्तिकागृह में | २६६ | प्रवाहण | २४३, ६४ |
| " का सूत शरीर में अभाव | १६, १०१ | प्रकृति (अव्यक्त, भी देखो) १, २, ५, ८, ११ | | प्रवृत्ति | ७, ११ |
| पुरष (मनुष्य) श्रोतसो का समुदाय | २२४ | " और पुरष का साधर्म्य वैधर्म्य ८, १ | | प्रधास, अर्ध | २१ |
| पुरष (नर) सुप्रजानिर्माण के लिप् | | " के पुरषार्थ प्रकृति का कारण | | प्रसरणमें प्रकृति | ४ |
| योग्यायोग्यता | ३२, २६० | सीमासा | ७ | प्रसवकर औषधियाँ | १४ |
| " प्रवेत्यादन के लिप् योग्य वध | | प्रकृति (स्वभाव मनुष्य का) अर्ध | १३२ | प्रसव, दो में स्वार्थ्यकर अन्तर | |
| " " में शीघ्र स्वरूप | ३७ | " उत्पत्ति, संख्या और प्रकार | १३१, १३२ | अक्षतम | ३१ |
| " " मनस्थिति | ६२ | " में दोषस्थता का निदम | १३२ | " अधिकतम | २४५ |
| " और स्त्री में अन्तर | ३८ | " का शरीर के लिप् अवाधित्व | १३५ | " उपयोगी सामग्री | २३५ |
| पुरषकर माग | २० | " की निश्चलता | १३४ | प्रसवकालनिर्णय कीष्टक | ७१-७५ |
| पुरषायित आसन मैथुन में | ४१ | प्रकृति वातिक के लक्षण | १३३ | " में शार्तवादर्शन का उपयोग | ७३ |
| पुष्य | ८१ | " पैच्छिक " | १३३ | " में गर्भ रचन का उपयोग | ८० |
| पुष्यानुग वर्ण | २८ | " शैम्भिक " | १३४ | " में गर्भाशय वृद्धि का उपयोग | ८३ |
| पुंसवनपिधि | ३२ | " मिश्र " | १३४ | " की म्युनाधिक मर्यादा | ११, ९२ |
| " प्रथमगर्भा की में | ३६ | " परिवर्तन अरिष्टसूचक | १३४ | " में अदिश्रय के कारण | १२ |
| " का काल | ३२ | " के मौक्तिक प्रकार | १३६ | प्रसवर्ण लक्षण | २३४ |
| " में मत्स्यादि सेवन की अवधि | ३६ | " के सात्त्विक प्रकार | १३६, १३७ | प्रसवोपयोगी स्त्रियों के गुण | २४१ |
| | | | | प्रसवलक्षण प्रथमावस्था के | २३९ |
| | | | | " द्वितीयावस्था के | २४४ |
| | | | | " तृतीयावस्था के | २६० |

| | | | | | |
|--|---------------|--|---------------|--------------------------------------|-------------------|
| प्रसव की अवस्थाएँ | २३८ | प्राण (शरीर के) | ६६, १३४, १६४ | वालक, जातकर्म | १४६ |
| प्रसवपूर्व तथा उत्तर जल | २४० | ” मर्मों में अवस्थान | १९० | ” नाडीकल्पनविधि | २४७, २४६ |
| प्रसव प्रथमावस्था के कर्म | २४० | प्राणवायु, रक्तशुद्धिकर | १११, ११२, २२५ | ” स्नानविधि | २५० |
| ” द्वितीयावस्था के कर्म | २४३ | प्राणवह स्रोतस् | २२४, २२९, २३० | ” का गृह | २६६ |
| ” प्रथमावस्था की व्यवस्था | २४२ | | २३६, २४१ | ” के वस्त्र | २६६ |
| ” द्वितीयावस्था की ” | २४४ | प्राणायतन शरीर के | १२० | ” की रक्षा | २८२ |
| ” ” के वैदिक मन्त्र | २४५ | प्रारब्ध | ६३ | ” रचाकर्म | २६२ |
| ” तृतीयावस्था के ” | २६२ | प्रेतसत्व कार्य | १३८ | ” के लिप् मधुसर्पिःप्राशनविधि | |
| प्रसववेदना | २३६, २४४ | प्रीहा | १४१ | | २४६, २५० |
| ” और प्रवाहण का संयन्ध | २४३, २४४ | ” के कार्य | १०६, १४२ | ” नामकरणविधि | २६७ |
| ” और मक्खल का सम्यन्ध | २६५ | ” रक्त का भाण्डार | १०४, १४२ | ” प्रकाशदर्शनविधि | २३६ |
| प्रसव में गर्भ निष्क्रमणरीति | १६५, १६६ | ” वृद्धि में सिरावेध | २०८ | ” में विकृतिज्ञापक पद्धति | २७५, २७६ |
| प्रसवोत्तर रक्तलाव, अपरा जवर्दस्ती | | फ | | ” ओपधिप्रदानपद्धति | २७६ |
| निकालने से | २६२ | फफ | २७८, २८०, २८८ | ” ओपधिमाम्रा प्रमाण | २७६ |
| ” साहस प्रसव में | २३४ | ” के हेतु | २८६ | ” के लिप् अफीम या गोली का निषेध | २७६ |
| ” वेदना | २६६ | ” संप्राप्ति और लक्षण | २८९ | ” चिरेचनादि प्रदान की पद्धति | २७७ |
| ” वास्तविक और मिथ्या में भेद | २६६ | फड़काव गर्भिणी में | ८० | ” में विविध अंगों की विकृति के लक्षण | २७५, ५७६ |
| प्रसवशोणित घाव की अवधि | २६७ | फणा मर्म | १८७, १८८, १९२ | ” के रोग | २७६, २८०, २८७-२८६ |
| प्रसवशोणित | २६५, २६४, २६४ | फलवाहिनी (बीजवाहिनी देखो) | २३, २२९ | ” का गृहनिष्क्रमण काल | २८६ |
| ” से शरीरशुद्धि | २६७ | फुफ्फुस | १११, १४२, २२६ | ” पालन के सामान्य नियम | २८० |
| ” शुद्धि के लिप् पिप्पल्यादि चूर्ण | २५३ | ” रक्तशुद्धि का स्थान | ११२ | ” वित्रासननिषेध हेतु | २८० |
| प्रसवकालीन उपद्रव | २६४ | फेफड़ा, फुफ्फुस देखो | १ | ” उपवेशन विधि और काल | २८१ |
| प्रसवोन्माद | २६० | व | | ” अन्नप्राशन विधि और काल | २६६ |
| प्रसूता, परिचर्या और स्वस्थघृत्त | २६२-२६७ | वललाभ, परिभाषा | २१३ | | २८६, २८७ |
| ” देशभेदानुसार | २६४ | वलत्तैल, प्रसूता के लिप् अभ्यङ्गार्थ | २५७ | ” का अध्यापन काल | २८९, २९० |
| ” का आराम | २६४ | ” नवजात बालक के अभ्यङ्गार्थ | २५० | ” में चलनासामर्थ्य के हेतु | २८८ |
| ” का आहार | २५५ | वस्ति (मूत्राशय) | १४३, १८३, २२० | ” में उदरवृद्धि के हेतु | २८९ |
| ” के आहार में देशकुलसात्म्य का विचार | २६५ | ” भेदनकर्म | १८३ | ” कृत्रिम दुग्धपान की विधि | २८४-२८६ |
| ” का मानसिक आराम और निद्रा | २६६ | ” सूत्ररोगों का अधिष्ठान | २२७ | ” ” ” की मात्रा चयानुसार | २८४ |
| ” के लिप् अभ्यङ्ग | २५७ | ” सूत्रवह स्रोतस्रो का मूल | २२७ | ” में लंघन के नियम | २७७, २८२ |
| ” उदरबन्धन | २६४ | विभाग उदर का | १८३ | ” की तीन अवस्थाएँ | २७६ |
| ” स्वस्थघृत्त का सूत्र | २६७ | वस्तिकर्म, निषेध गर्भावस्था के प्रथम सात मास में | ८४ | ” का नौकर | २८१ |
| ” के लिप् मैथुन सेवनकाल | २५६ | ” का उपयोग आठवें महीने में | २६४ | ” की फ्रीटासूमि | २८२ |
| ” दश रोज तक अशुद्ध मानने का हेतु | २६७ | ” प्रसव के समय | २३८ | ” के खिलौने | २८२ |
| ” में पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त करने की अवधि | २६६ | ” प्रसव प्रथमावस्थामें | २४२ | ” के ग्रह, नामसंख्या | २८१ |
| प्रसूतावस्था की अवधि | २५३ | ” अपरानिष्कासन में | २६३ | ” ग्रहोपगर्ग के सामान्य लक्षण | २८९ |
| ” का अन्त देवदर्शन से | २८६ | ” गुण और कायचिकित्सा में प्राधान्य | २१३ | ” के हेतु | २८१ |
| ” में नष्टार्थव | २८ | वहिनिष्क्रमण के नियम गर्भिणी में | २३६, २३३ | ” ” का प्रतिषेध | २८९ |
| ” का महत्त्व | ३० | ” बालक के | २८६, २८९ | ” को फल देने की पद्धति | २८६ |
| ” के रोग | २५६ | ” प्रसूता के | २८६ | ” के स्तनापयन का विचार | २८३, २८७ |
| प्रसूतिज्वर, (सूक्तिकाज्वर देखो) | | वहिनः पुष्प | १९, २०, ७२ | ” में दन्तोद्भेद | २५६, २८७ |
| प्रस्य का प्रमाण सिरावेध में प्राण | २०७ | वहिनः पुष्पता | ४२ | ” के लिप् शुद्धिधर्मक लेह | २६५ |
| प्राण के स्थान | १२० | ” का प्रमाण | ४२ | वाला स्त्री व्याख्या | २९० |
| | | ” में आयुर्मर्यादा | ४६ | ” स्त्री में गर्भाधान निषेध | २९० |
| | | ” के हेतु | ४३ | वाहु के मर्म | १८१ |
| | | ” उपपत्ति | ४३ | ” में सिरावेध रोगानुसार | २०८ |
| | | | | ” में सिरावेध | २०४ |

| | | | | | |
|------------------------------------|---------------|-----------------------------------|-------------|----------------------------------|----------------|
| युग्म आत्मजीवी गर्भ | ५३ | रक्तकणों का कार्य | १४६ | रुचक | १५३, १५५ |
| योग अर्थ | १४० | रक्तगुणमलक्षण | ५२, ८०-८२ | रूपदर्शन ध्वजोच्छाय में | ४१ |
| योगवाही श्रोतस् | १४० | " प्रदरहेतु | २७ | रूपवह धमनी | २३१ |
| योनिविभाग सृष्टि का | १४, ६४ | रक्तशुक्रता, अतिव्यवाय से | १९ | रोगी परीक्षण की विधि | २६५ |
| योनि (स्त्रीकी) रचना और पेशियाँ | १६३ | " ध्रुवणाघात से | २२८ | रोदन वालरोगविज्ञान में | २७१ |
| " का स्वरूप | १६४ | रक्तप्रदर (असुग्दर देखो) | २५ | रोमरूप | २२१ |
| " की स्थिति शुक्रस्त्रलन | | रक्ताशय | १४२ | " का स्थैर्य | १३१ |
| के समय | ५८ | रचाकर्म, बालक का | २६२, २६६ | रोहिणी स्वचा | १११, १०५ |
| " से शुक्र का शोषण | ८२ | रचोन्न ध्रुव | २६६ | रोहिणी सिरा | १४७ |
| " स्फुरण और स्पन्दन ७८, ८१ | | " ओषधियाँ | २६६ | रोमावर्त | १८८ |
| " की स्थिति गर्भावस्था में ८१, ८२ | | रज (गुण) का प्रवर्तकत्व | ३ | रू | |
| " प्रसव के समय २४४ | | रज, आर्तव देखो | | लक्ष्मणा | ३२ |
| " में तैलपित्तुधारण गर्भिणी के २३४ | | रज कुच्छ | १६४ | लघनचिकित्सा | २२८ |
| योनिचुम्बन | ४७ | रजस्वला की गृहकर्मयोग्यता | ३० | " के नियम बालक में | २८२ |
| योनिप्रवाह | २५९ | " शुद्धि | ३० | ललाट | १३९ |
| योन्यापेय | २६१ | " गमन का फल | ३३, ३४ | " की अवेष्य सिराएँ | १९९, २०० |
| र | | रजोदर्शनकाल | ७६ | लसवाहिनी | ११३ |
| रक्त, उत्पत्तिस्थान | १०४, १०९, २२६ | " गर्भिणी और प्रसूता में | ३६ | लक्ष्मिका | १७७ |
| " शरीर का मूल और प्राण | १५४, २०७ | रजोनिवृत्ति, काल और परिवर्तन | ७६, ७७, २५४ | लांगली, गर्भाशयसकोचक | २४६, २६३ |
| " स्वतन्त्रद्रव्य | १९७, २१३ | | | लायसोल योनिप्रचालनार्थ प्रसव में | २३४, २४४ |
| " का शल्यतन्त्र में प्राधान्य | २१३ | रजोविष | ३१ | लिंगपरिवर्तनकाल गर्भ में | ३९, ७१ |
| " की शुद्धि फुफ्फुस में | ११२, २१३ | " का बालक पर परिणाम | ३१, २७४ | लिंग, लिंगप्रादुर्भा | ८ |
| " गर्भ के माता के द्वारा २४ | | रतींधी में बहृत | १४१ | लिंगशरीर | १०, ५५, ६३, ६४ |
| " स्त्राव के प्रकार | १७७ | रम (इन्द्रियार्थ) शिरनोत्थापन में | ४६ | " का प्रमाण | ६४ |
| " " सृष्ट्यु का कारण | १७७ | रसकृत्पा | २२० | लिंगशापक लक्षण गर्भिणी में | ३७ |
| " " लक्षण | १८६ | रसप्रपा | २२० | लिंगभेदोत्पादक हेतु, गर्भ में | ३६-७१ |
| " " चिकित्सा | १९० | रससवहन | ११६ | लिंग सूत्र | ६६ |
| " " स्थापक ओषधियाँ | २८ | रसवाहिनी | ११३ | लीड अक्ष | १०५ |
| रक्तचय में बहृत सेवन | २८, १४१ | रसवह धमनी | २१३ | लीनगर्भ | २९३ |
| " की ओषधियाँ | २८ | " सिरा | ३१८ | लेहप्राशन विधि नवजात बालक में | २४९ |
| रक्तसवहन गर्भस्थ | ९३ | रस का स्थान और अर्थ | १४३, २२० | " के निर्देश | २२१ |
| " जन्मोत्तर | ११५, १९६, २०६ | रसकूपर का घोल, गुण | २३४ २४४ | " बनाने की विधि और लाभ | २५२ |
| " दो विभाग | २२६ | रसाञ्जन, रसोत | २७९ | " बुद्धिचर्चक | २६२ |
| " के साथ त्रिदोषों का संचरण | २१८, २३३ | राचस (विकृतगर्भ) और उनके प्रकार | ५२, ५३, ६९ | लैंगिकविपर्यास व्याख्या | ४८ |
| रक्तपरा कला | १०७, १०३, १०९ | राचसकाय लक्षण | १३७ | " के सोदाहरण प्रकार | ४६ |
| रक्तवह संधान के अन्न | २०६ | राजदन्त | २८८ | " के हेतु | ४९, ५० |
| " " सिरासंस्था | १५५ | राजस गुण | २ | लोकायतिक | ११ |
| " " प्राकृत कार्य | ११६ | " बुद्धि | ३ | लोम | ९६ |
| " " विकृत कार्य | १९६ | " मन | १६ | " शुद्धि गर्भिणी में | ८० |
| " श्रोतस् | २५६, २३० | " प्रकृति के प्रकार | १३७ | लोह रक्तचय में | २८, २९ |
| रक्तनिपीडाधिक्य में सिरासंस्था | २१०, २१४ | रान्ता | ७० | लोहिताद्य मर्म | १७६, १८१, १६२ |
| " अन्त छात्री प्रनियर्था | २७ | रात्रि, निद्रा का उचित काल | ११८, ११९ | " सिरा | १९८ |
| " गर्भिणी में | ७८ | " जागरण निषेध | १२५, १२७ | लोहितपूर्ण कोष्ठता | २००, १८४ |
| " के हेतु | १९४ | " " के लिए दिवास्वप्न का नियम | १२९ | लौंबेबात्री | ४८ |
| रक्तमांस का प्रमाण सिरासंस्था में | २०७, २०८ | " " से होने वाले विकार | १२६ | घ | |
| " के स्थानानुसार शल्य | ३-२१४ | " का अभ्यास से निर्दोषत्व | १२७ | यक्ष्माभिरुचि शसन | ११२ |
| " योग्य रोगों का वर्गीकरण | २१४ | " " केलिये योग्य | १२८ | यक्ष्मासुरगा | १८१ |
| " अत्यधिक के लक्षण | २७७ | | | यक्ष्मी या यक्ष्मपत्र बलीय | ४४ |
| रक्त, अस्तिव्यवृत्ति का हेतु | २१८ | | | | |
| रक्तगन्ध या दर्शन, मूच्छा का हेतु | २०६ | | | | |

| | | | | | |
|--------------------------------------|---------------------|-----------------------------------|--------------------|-----------------------------------|---------------|
| वन्ध्य | ११, ४५ | विद्रग्वाहार | २७४ | श | |
| वन्ध्यता (पुरुषों में) व्याख्या | १९, २२६ | विदाही द्रव्य | २३२, २३४ | शंख | १२७, १८८, १९२ |
| " के हेतु | १६, २०, २०, ६२, १८१ | विद्रुता सिरा | २११ | शंखसन्धिसिरा | १९९ |
| " स्त्रियों में हेतु | ६१, २२९ | विद्रधि चिकित्सा | २०७ | शंखावर्त | १९६, १९७ |
| " के प्रकार स्त्रियों में | २२९ | विद्युर | १२७, १९२, १९२, २०० | शंखिनी त्री | ४६ |
| वपा | १०४, २२७ | विनामिका रोग | २७२ | शब्दबह घमनी | २१९ |
| वपावहन | १०४, २२७ | विरुदाहार | २७४ | शब्दवाहिनी सिरा | १९९ |
| वयस्य अर्थ | २०७ | विवाहकाल | २६० | शरीर अर्थ | १३९ |
| वर्ण, शरीर के | २९ | विविक्तता | १७ | शरीरसंख्या व्याकरण अध्याय | १३२-१७२ |
| " उत्पत्ति की उपपत्ति | २९ | विशिक्षान्तर | २४२ | शरीर के पदंग | १३९ |
| " पर व्यवसाय का परिणाम | ४९ | विशेष (दार्शनिक) | ४, ६ | " श्लयंग | १३९ |
| " का त्वचा में स्थान | १०२ | विश्वाम्नी में सिरावेध | २०४ | " द्वार | १४४ |
| " में फर्क होने के हेतु | ४० | विपनाहार | २७४ | " की अस्थियाँ | १४६-१९४ |
| वल्ग्यास्थि | १६२ | विषमज्वर, प्रकार और उसमें सिरावेध | २०९ | " पेशियाँ | १६०-१६४ |
| वसा | १०४ | विषाद के परिणाम | २४६ | " सन्धियाँ | १६९-१६८ |
| वाग्वह सिरा | १६२ | विष्णुपदानृत | १११, २२२ | " रक्तवाहिनियों के प्रकार | १०३, १९३ |
| वाजीकरण योग | २२ | विस्मर्ण उत्पत्ति स्थान | १०२ | " के प्राग | ६२, १९०, |
| " का हेतु सुषुप्तप्रसि | २७, ६७ | वीर्य अर्थ | १३४ | " की सिराएँ | १६३ |
| वाजीकरण का श्रेष्ठ साधन उत्तम स्त्री | २२६ | वृक्ष | ११३ | अवेध्यसिराएँ | २०० |
| वातदोष का स्थान | १९९ | " के कायु | ११२, २२७ | " गन्धानुसार स्त्रियों के प्रकार | ४६ |
| " का शरीरगत कार्य | २१७ | " कार्य ज्ञानामाव के हेतु | ११३ | " के कर्म | १९२, १९३ |
| " " का विवरण | १६६ | वृद्धावस्था, शरीर पर पत्न्यास | १६९ | शक्यतन्त्र की विशेषता | २०७ |
| | २१७, २१६ | घृष का अर्थ | १२७ | शक्यप्रियता | ४२ |
| वातवह सिरासंख्या | १९९ | घृषण | ११३ | शब्द का स्थान व्यञ्जोच्चारण में | ४७ |
| " प्राकृत और विकृत | | " कार्यज्ञान का हेतु | ११२ | शाङ्खन्तिकाय लक्षण | १३७ |
| कार्य | १६७, १६६ | " का अन्तः स्त्राव | ४९ | शाखा (शरीर की) | १३९ |
| " घमनियाँ | २१८ | " छूटि में वेधन का स्थान | २०६ | " सन्धिसंख्या | १२६ |
| वात (महानृत) के गुण | १७ | घृषणसंविनी | १४६ | " अस्थिसंख्या | १६६ |
| " के लक्षण | १२ | वेगविधारणानिषेध गर्भिणी में | २३३ | " ज्ञायुसंख्या | १९८ |
| " का शरीर पर भार | २७२ | वेदनं, वेदना | १९ | " पेशीसंख्या | १६० |
| वातप्रकृति | १३२ | वेदनाहर औषधियाँ | २६७ | " के मर्म | १७६-१८२ |
| वाताश्रय | १४२ | वेदना त्वचा | ९९, १०१, १०२ | " मर्मों का परीक्षण | १८२ |
| वातिक पद | ८२, ६६ | वेदान्तसूत्र शारीरिक कहने का हेतु | १ | " " गौणत्व | १८२ |
| वातिक पीडायुक्त रोग, निद्रानाश हेतु | १२७ | वेपिता सिरा | २११ | " की अवेध्य सिराएँ | १६८, २०० |
| वातोरस, छाती पर आवात से | १८४ | वेदिकमन्त्र, प्रसवसमय के | २४६ | " की सिरावेधनविधि | २०४ |
| वानस्पत्य कायलक्षण | १३८ | " स्तनपानविधि के | २७० | " की सिराएँ | २०४ |
| वायुसुण्ड सन्धि | १५७ | " अन्नप्राशनविधि के | २८६ | शाखाविकारी गर्भ | ९३ |
| वायुकाय लक्षण | १३७ | " मधुप्राशनविधि के | २६० | शान्ता देवी, जातिस्मरता का उदाहरण | ९६ |
| वार्ता (कासुक विप्रकृति) | ६२, ७० | वैद्यगृह | २३९ | शारीरस्थान | १, १३२, १७३ |
| वार्ताविद्या | २६० | वैद्यकीय व्यवसाय के लिए योग्यता | १७२ | शारीरिकसूत्र | १ |
| वाहन का अर्थ | १२६ | वैष्णवी निद्रा | ११७ | शार्ङ्ग स्तर त्वचाका | १०० |
| वाहिन्यामिक केन्द्र | २०६ | व्यंग सहज | ३४ | शाङ्खुद्धि | ५५ |
| " " वात | १३०, १७७ | व्यवसाय अर्थ | ३ | शिरः प्राधान्य के हेतु | १२१ |
| विकल्प | ४, १६ | व्याकरण, अर्थ | ४, ६६, २३० | " में मन का स्थान | १२२ |
| विकृति दार्शनिक लक्षण संख्या | ९ | व्याधिसाल्य | २६० | " की हड्डियाँ | १९० |
| विशुद्धसंज्ञापानद्वि | १३३ | व्यान वायु | २१२ | " के मर्म | १८७ |
| विमृन्मिका मानिरोग | २७८ | व्यास अर्थ | १४४ | " की अवेध्यसिराएँ | १९९ |
| विज्ञान अर्थ | २६ | व्याम्भिन्न लिगावस्था | ७० | " के सिरावेधन की पद्धति | २०३ |
| विट्पनर्म | १७६, १८१, १८२, १९२ | व्याप्यास के नियम गर्भिणी में | ८३ | | |
| " सिरा | १६८, २०० | " " प्रसूता में | २७७ | | |

| | | | | | |
|-------------------------------------|--------------|--------------------------------|--------------------|--------------------------------------|----------------------|
| शिर सेवनी | १४६ | शुक्राणु, का संस्कारवद्दत्व | ६५ | ध्वाविघात गर्भे विकृतितमें | ५३ |
| शिरा, सिरा देखो | | " वीजवाहिनी में सजीव रहने | | श्रीगोचक | १२० |
| शिरोगति गर्भ की | ८२, ११२, १६६ | का काल | ९१ | " की अवेष्य सिरा | ११८, १०० |
| शिरोग्भय के गुण | १२८ | का छी वीज से सयोगस्थान | १९ | श्लेपक कफ | १०४, १२६ |
| शिरोग्भवप्रणय प्रसव में गर्भ का | २१९ | " और वीज का अमेद | ६५ | श्लेष्माशय | १४२ |
| शिरोग्भिरचन पञ्चकर्म में | २१३ | " पर योनिस्त्राव का परिणाम | ६० | श्लेष्मघात कला | १०४, १०८, १६६ |
| शिरोग्भृदिहेतु बालक में | २८८ | शुक्राशय | २०, १०६ | श्लेष्मप्रकृति | १३४ |
| शिवरन्ध्र | १८८ | शुभ वस्त्र के गुण | २३१ | शसन के प्रकार | ११२ |
| शिक्ष को पशियाँ | ४५ | शुष्कगर्भ | ४४ | शसकृच्छ्र | २१०, २२१ |
| " के विकार नयुसकला के हेतु | ५० | शुष्किलालु | १२५ | शसावरोध नयजात | २४७ |
| " का उत्पादन, ध्वजोच्छ्वाय देखो | ४२ | शूल बालक में | २०९ | शतकणों का उत्पत्तिस्थान | १४२ |
| " का गर्भधारणा में | ६२ | शुद्र (सींग) रक्तमांशण में | २१३, २१४ | प | |
| शीर्षदर्शन गर्भ का | २४३ | शुद्राटक | १८७, १८८, १९२, २६६ | पदगशारीर | १३३ |
| शीर्षविकारी गर्भ | ५३ | शोफ, शिभ देखो | | पद ((ह्रिव और नयुसक भी देखो) | ४२, ६९ |
| शुक्तिशुद्ध हृदय का | ९२ | " सेवनी | १४२ | पण्डक | ४५ |
| शुक्रशोणितशुद्धि अध्याय | १८-५७ | " स्तम्भ | १४३ | पण्डता के कारण | २०, ६३, ७१, ११३, १८१ |
| शुक्र, स्त्रियों का | ४१, ४२, ५६ | " च्छेद कलेज्य का हेतु | ११२ | पोदशासस्कारों का अर्थ | २८६ |
| शुक्र, पर्यायनाम | १८ | शोणित (आतव), अर्थ और भेद | १९, ४१ | स | |
| " दोष | १९ | " छाव के दोष | २० | संक्षय | ४, १६ |
| " चिकित्सा | २१, २२ | " की चिकित्सा | २३ | सखिया रक्तक्षय में | २९ |
| " के हेतु | १९, २० | " का शुद्ध स्वरूप | २४ | सगर्भावस्था, गर्भिणी देखो | |
| " में रक्त | १९ | " का वर्ण | २४, ७६ | संज्ञावद् श्रोतस् | ११८ |
| " का सगमन | २०, १०८ | " की गन्ध | ७६ | सत्कार्यवाद | २, ६, ३ |
| " का शुद्ध स्वरूप | २२, २३ | " का सगठन | २५, ७३ | सद्यो गृहीत गर्भा के लक्षण | ७७ |
| " की मधुरता | २२ | " की राशि | २४ | सव्यगुण | २ |
| " की गन्ध | २२ | " की अवधि | २४ | " का पंगुत्व | ३ |
| " का कार्य | ३४ | " की युक्ति | ७३, १०९, ११० | संतपणचिकित्सा | २६८ |
| " का यानि से शोषण | २२, ८३ | " के अनुपगयी लक्षण | २४ | सन्धि व्याख्या | १६८ |
| " सेवन के गुण | ४६ | " से शरीरशुद्धि | ३२, ७३ | " गति के अनुसार प्रकार और | |
| " आसेच्य में | ४४ | " की आनयेयता | २७ | उनके स्थान | १०२, १२४ |
| " बाहुस्य का पुत्रोत्पादन में स्थान | | " के समय में गर्भाशय की स्थिति | ७२ | " चल | १२५ |
| " की सौम्यता | ५७ | " और बीजविपाक का संवध | ७३, ११० | " अचल | १२५ |
| " स्थलन वालीन आपत्तियाँ | १८ | शोणितदर्शन के उपयोग | ७३ | " रचना | १५५ |
| " की गर्भाशय में प्रवेश की युक्ति | ५८ | " के पश्चात् कामशुद्धि | ७५ | " संख्या | १५६ |
| " और शोणित के लक्षण का स्थान | २९ | " गर्भावस्था में | ११, २८, ११० | " रचना के अनुसार प्रकार | १५६, ११७ |
| " प्रक्रिया | ५९, ६९ | शोणितप्रवृत्तिचक्रकाल | २५, ७३, ६२ | " की विविध गतियाँ | १५७ |
| शुक्रघरा कला | १०६, १०८ | " का अवबन्ध गर्भधारणा में | ७७, ७८ | " का सुदनात्म काष्ठक | १६८ |
| शुक्रपणाली, शुक्रवाहिनी | २०, १०६, ११२ | " की उपपत्ति | ११० | सन्धिर्मम, नाम और संख्या | १४४ |
| शुक्रवद् नाडी, आघात का फल | १८१ | " अद्गु, रज, आतव भी देखो | | सन्धिरलेप्ता | १०४, ११६ |
| शुक्रघोत | १०६, ११२ | शोणितवर्धक (रक्त) योग | २८ | सन्धिविरलेप या भग्न | १५६, १७७ |
| शुक्रवद् श्रोतस | २२८, २३० | शोणितोरस | १८४ | " हनु का कुम्भा से | १२९ |
| " घमनी | २२१ | शोय के पर्यवसान | २०२ | संनिवेश अर्थ | २४ |
| शुक्रचय | १९ | शोकनिषेध गर्भिणी में | ८३ | सन्ध्यास व्याख्या | ११८, ११९ |
| " के हेतु | २० | शोय के विकारों में मिरावेच | २०३, २१० | " समाप्ति | १४७ |
| शुक्राणु, वीर्य का मुख्य अंग | ११, १० | रमसान | १३१ | " लक्षण | १३० |
| " सूक्ष्म रचना | ३२ | श्यामा छी के गुण | २६८ | " युक्त रोग | १२८ |
| " संख्या शुक्रप्राय में | २८ | श्यावागता | २४६ | समलिंगी, समलिंगता | ४८ |
| " उत्पत्तिस्थान | ११६ | | | समिति अर्थ | १३३ |
| " का गौतमव्य | ३२, ५९, ६८ | | | समुच्चयसर्वाविधि, नयजात आसाय-रोध में | २४६ |

| | | | | | |
|-------------------------------------|--------------------|---|-------------------------|--|---------------|
| संघीहित गर्भ | ४४ | सिरामर्म, नाम और संख्या | १७३, १८२ | सूतिकाज्वर, व्याख्या | २५८ |
| संयुक्तराक्षस गर्भ | ५३ | ” स्थित अंग | १८२ | ” के हेतु | २५१ २८८ २९६ |
| सर्पकाय | १३७ | सिराव्यधिविधि शारीर अध्याय | २०१-२१६ | ” की विकृतियाँ | २९९, २९० |
| ” का स्वभाव | १३७ | सिरावेध, विधि | २०२, २०३, २१० | ” के लक्षण | २९६ |
| ” दंश में सिरावेध | २०१, २०२, २१० | ” का स्वस्थावस्था में निषेध | २०३ | ” के उपद्रव | २६० |
| सर्पिष्पान ज्वर में | २७७ | ” में बन्धन की विधियाँ | २०२-२०५ | ” की प्रतिषेधक चिकित्सा | २६० |
| सर्वगन्ध | २५० | ” के शस्त्र | २०३ | ” की असाध्यता के हेतु | २३६, २५५, |
| सर्वभूतचिन्ताशारीर अध्याय | १-१८ | ” ” पातन का प्रमाण | २०५ | ” ” | ३५७ |
| संव्यूहन प्रणाली | १८१ | ” ” योग्य काल | २०५ | सृष्टि, भौतिक अव्यक्त से उत्पत्ति | २ |
| संस्कार, अर्थ | २८६ | ” ” के लिए अयोग्य काल | २०३ | ” के दो भेद | ३- |
| संस्कारवाही | ४७, ५० | ” ” योग्यरोग | २१४ | ” के आदि कारण | १०, ११ |
| संस्कारवाहिता | ४७, ५० | ” ” योग्य आसन | २०३ | ” सेन्द्रिय | ३ |
| सहधर्मचारिणी | २९०, | ” ” स्थान | २१० | सेतुधमनी, सेतु सिरा | ९५ |
| सांख्यदर्शन | १, ४ | ” ” योग्य सिरा | २१० | सेन्द्रिय सृष्टि | ३ |
| ” घृत्त | १० | ” ” विविध रोगों के स्थान | २०८-२१० | सेवनी | २३० |
| ” से आयुर्वेद का भेद | १०, १३, १४, १६ | ” ” निषिद्ध रोगी | २०१ | सोम | ६६ |
| ” में पंचीकरण का अभाव | १८ | ” ” निषिद्धों में वेध प्रयोजन | २०२ | सोने का चाटन वालक में | २५०, २५२ |
| सात्त्विक गुण | १६, ३९ | ” ” निषेध का हेतु | २०१ | सौगन्धिक ह्रीव | ४४ |
| ” प्रकृति के प्रकार | १३६, १३७ | ” ” योग्यविकार | २०१, २०२, २१० | ” की उपपत्ति | ४७ |
| ” आहार | २३२ | ” में स्नेहन से लाभ | २०२ | स्तन, स्थान और रचना | १४३ |
| ” मन | १६ | ” में रक्त मोक्षण का प्रमाण | २०७ | ” के परिवर्तन यौवन में | १६२ |
| ” बुद्धि | ३ | ” में प्रथम दुष्टरक्त का स्राव | २०५ | ” ” गर्भिणी में | ७९ |
| सात्म्यीकरण | ९९ | ” में टीक रक्त न बहने के हेतु | २०५ | ” और गर्भाशय का संबंध | ७६, १४३ |
| सात्म्य | २१९, २२२ | ” में पुनवधन का काल | २०६ | ” पर आघात के परिणाम | २२८ |
| ” ओक | ११७, २६० | ” में दोष सशेष रखने का महत्त्व | २०७ | ” प्रदेश | १३९ |
| ” जाति | २८२ | ” में सशेष रक्त को निर्दोष करने के उपाय | २०७, २१२ | ” युक्त प्राणियों के बच्चों का पोषण | २८२ |
| साधर्म्य वैधर्म्य, प्रकृति पुरुष का | ८ | ” के पश्चात् कर्म | २०८ | ” द्वारा शरीरगत दोषों का उत्सर्ग | २७४ |
| साम मैथुनकालीन | ३३ | ” के निषिद्ध कर्म | २१३ | स्तनपान, प्रथम कराने का दिन | २८२ |
| सासुद्रसन्धि | १९७ | ” का शल्यतन्त्र में प्राधान्य | २१३ | ” प्रथमदिन कराने से लाभ | २८२ |
| सारणियाँ कोष्ठक देखो | | सौगेल की उपपत्ति कन्यापुत्रोत्पत्ति की | ६८ | ” न कराने के कारण | २६६ |
| साहस प्रसव | २३४ | सौमन्त | १४६, १८८, १६२, १९९, २०० | स्तनपान विधि | २७० |
| सिरावर्णविभक्ति अध्याय | १९३-२०० | सौवन के लिए स्नायु | १५८ | स्तनसंपत् | २६८ |
| सिरा, अर्थ | १०३, १८३, १९३, २१६ | सौवनी | १४५, १५७ | स्तनदोष के परिणाम | २७० |
| ” प्राचीर की रचना | १९४ | सूक्ष्म शरीर | ६४ | स्तनलेप से ओषधिदानपद्धति | २७६ |
| ” का हृदय से संबंध | ११३ | सूचीमुखी | १६४ | स्तनापयन का काल | २५६, २८३, २८७ |
| ” और धमनी का पृथक्त्व | २१५, २१६ | सूतक | २६६ | ” के उपाय | २८७ |
| ” संख्या, स्वरूप और मूल | १६३ | सूतिका, व्याख्या | ३४ | स्तनायनयक मोदक | २८७ |
| ” दोषवहों की संख्या | १९५ | ” का गृह | २३५, २३६ | स्तनमूल | १८४, १६२, २०३ |
| ” ” के कार्य | १९६ | ” परिचर्या और स्वस्थवृत्त | २५२-२५७ | स्तनरोहित | १८४, १९२, २०३ |
| ” के लक्षण | १९७ | ” अवस्था की अवधि | २५३ | ” सिरा | १९८ |
| ” का सर्वदोषवहत्व | १६६ | ” के लिए आराम | २५४ | स्तन्य, प्रसूति के बाद उत्पत्ति का काल | २५० |
| ” की चंचलता | २१२ | ” का आहार | २५५ | ” प्रवर्तन की उपपत्ति | २५० |
| ” अदृश्यता के हेतु | २०१ | ” का मानसिक आराम और निद्रा | २०६ | ” की उत्पत्ति | २७२ |
| ” कुटिलता के हेतु | २११ | ” का मैथुनसेवन का काल | २५६ | ” का संगठन प्रारम्भिक | २५१ |
| ” ” गर्भिणी में | ८१ | ” का अभ्यंग और व्यायाम | २५७ | ” शुद्ध की परीक्षा | २७३ |
| ” चतुर्विध | १७८ | ” के चौसठ रोग | २५८ | ” नाश या अभाव के कारण | २७१, २७२ |
| ” गत रक्त का विभजन | २०६ | ” में स्तन्योत्पत्ति काल | २५० | ” ” | २८३ |
| ” अवैध्य अंग प्रत्यंगों की | १९७, २०० | सूतिकागार प्रवेशविधि गर्भिणी की | २३५ | | |
| ” सुविद्धालक्षण | २०५ | | | | |

| | | | | | |
|--|--------------------|---------------------------------------|-----------------|---|--------------------|
| स्तन्य, नारा की चिकित्सा | २७२ | स्नायु, संख्या | १२८ | स्वभाव गर्भ के सिर के बल जन्म लेने में | १६८, १६६, १६७ |
| " वर्षक आहार और ओषधियाँ | २७२ | " प्रकार और उनके स्थान | १२८, १२९ | " प्रसवोत्तर स्तन्यप्रवर्तन में | २५०, २५१ |
| " पर मानसिक स्थिति का परिणाम | २७४ | " कार्य | १२९, १३१ | खभाव, प्रकृति देखो | |
| " दूषणहेतु | २७३, २७४ | " का महत्त्व | १६० | स्वभाववादी | ११ |
| " के अभाव में व्यवस्था | २६६, २८२ | " विद्वलक्षण | १५९ | स्वसंज्ञित, गर्भाशय की | २६, २५४ |
| " " किसका दूध दिया जाया | २८४ | " मर्म, नाम और संख्या | १७१, | स्वस्थवृत्त, गर्भिणी कान्त-न्त, २३१-२३३ | |
| " और शुभ की सुलना | २७२ | " और नाड़ी का साम्य | २२२ | " प्रसूता का | २६२-२६७ |
| " अपरिष्कृत स्तेन करने का परिणाम | २७१ | स्नेह, चतुर्विध | १७४ | " बालक का | २८०-२८२ |
| स्तन्यज्वर, हेतुलक्षण | २६१ | स्नेहन स्वेदन से लाभ | २०२, २१३ | स्वास्थ्यरक्षक घृत बालक का | १८० |
| स्तन्यधात्री (प्राज्ञी देखो) | २६८, २६९ | " गर्भिणी में | ८४ | तेदु और रोमरूप का सम्बन्ध | २२१ |
| स्तन्यवह धमनी | २१६ | स्पर्दन, घमनी का लक्षण | २१६ | हृ | |
| " छातस् | २२८ | " जीवितावस्था का लक्षण | २२३ | हृथेली के रक्तप्राय की चिकित्सा | १६० |
| स्तन्यागय | १४३ | स्पर्श सुख मैथुन में | २८ | हनुसन्धि विक्षेप जूम्मा से | १२६ |
| स्तन्यधता, हेतु और प्रकार | १७८ | स्पर्श का अर्थ | २६१ | हनु की अवेष्य सिराएँ | १९८, २०० |
| " लक्षण | १८८, १९१ | स्मशान | २६१ | हस्तमैथुन | ४८ |
| " आमाशयान्द्राघात से | २२९ | स्मृति | १६ | हस्तसिरावेधनविधि | २०४, २०८ |
| " गुद के आघात से | १८२ | क्षोत्सू निरुक्ति | १३३, १३४, २१६ | हस्तिनी स्त्री | ४६ |
| " शंखप्रदेशाघात से | १८८ | " योगवाही | १४० | हृविष्य अक्ष | ३० |
| स्त्री, प्रजोत्पादन योग्यायोग्यता ३, २९० | | " मनोवाही | २६३ | हिङ्गार मैथुन के | ३३ |
| " प्रजोत्पादन योग्य वय ३८, २९० | | " वहिर्मुख | १४४ | हिङ्गवा | ६६ |
| " का कर्तव्य प्रजनन | २४२ | " संख्या | १४४ | हिरण्य पुष्पी | २४६, |
| " और पुरुष में अन्तर | ३८ | " सजावह | ११८ | हृदय, शरीर में स्थान | ८६, ११३ |
| " के दो प्रसवों में अन्तर | ३९ | " व्याख्या | २३० | " की मर्यादायु | १८४ |
| " में यौवनपदार्पण के लक्षण | ७४ | " विद्व | २३० | " का वर्णन शारीरिक | ११५, १२१ |
| " पुरुष में शुक्रप्रवर्तक | २७२ | " सख्या | २२४ | " रस का स्थान | १४३, २३० |
| " की इच्छा गर्भधारणाथं | ६१ | " अर्थ और लक्षण | २२४ | " रस का स्थान | ११३, ११४ |
| " की मन स्थिति " | ६१ | " प्राणवह | २२४, २२९ | " ओज का स्थान | ११३, ११४ |
| " की कामशांति " | ६१ | " अप्रवह | २२६, २३० | " प्राण का स्थान | ११६ |
| " पुरुष निर्णय में लिङ्ग सूत्र | ६६ | " उदकवह | २२६, २३० | " आत्मा और मन का स्थान | १२०, २२२ |
| " का शुक | ७१, ६३ | " रसवह | २२६, २३० | " चैतन्य का स्थान ११४, १२०, १०६ | |
| " कर भाग | ५० | " रक्तवह | २२६ | " का वास्तविक अर्थ | १२०-१२२ |
| स्त्रीबीज, आतंत्, शोणित भी देखो | ३६ | " मेदोवह | २२७, २३० | " का सकोच विकास स्वातन्त्र्य | ११४, ११६ |
| " का शुक के साथ सयोग स्थान | ४१, ६६, १२८ | " मासवह | २२७, २३० | " की गति ध्यायुसार | ११६ |
| " की गति | ५९, ८२ | " सूत्रवह | २२८, २३० | " पर व्यायामादिका परिणाम | ११६ |
| " निवृत्ति | ७७, २५४ | " पुरीषवह | २२८, २३० | " रक्षाशय नहीं | १४३ |
| " का गर्भलिगोत्पत्ति में स्थान | ६८ | " शुकवह | २२८, २३० | " और आमाशय का सघन | १७० |
| स्त्रीपुसलिंगी | ७० | " आतंत्ववह | २२८, २३० | १३०, १८४ | |
| स्वपनी | १८७, १८८, ११३, २०० | " स्तन्यवह | २२८, २३० | " प्राणवाही क्षोत्सू का मूल | २३४ |
| स्यूलान्त्र कार्य, (आन्त्र देखो) | | स्वच्छता की आवश्यकता गर्भिणी में २३२ | | " रसवाही क्षोत्सू का मूल २२५, २२६ | |
| स्थिति गर्भ की | १६५ | " " प्रसूता में २६७, २६९ | | " सिराओं का मूल | १९४, २१५ |
| स्नान, गर्भिणी में | २३२ | " " नालच्छेदन में २४६ | | हृदयवारण, रचना और कार्य | ११६ |
| " प्रसवपूर्व | २४१, २४२ | " " प्रसाविका में २४१, २४२ | | हृदयस्पन्दन गर्भाशय में | ७८, ११५ |
| " प्रसूतावस्था में | २५७ | स्वप्न की उपपत्ति | १२४ | हृदयहीन गर्भ | ४४, ५६ |
| " भवजात बालक में | २५० | स्वभाव | १०, ११, ९८, ११३ | हृदय के हेतु | १०६, १७०, २२६, २२६ |
| " दिन रजस्वला में | ३० | " राशि निद्रा का हेतु | १२३ | हृष्य अर्थ | २३२ |
| " " प्रसूता में | ६५४ | " शरीर सखिवेश का हेतु २४, ६५, ११० | | हृष्य आहार | २३२ |
| स्नायु, अर्थ | ९६, १२८, १५९, २१० | " नखकेन्द्र निरन्तरवृद्धि का हेतु १३१ | | हेतार का विद्व | ८५ |
| | | " हृष्टिरोमहृष्यरता का हेतु १३१ | | | |
| | | " स्तनपान काल में अनातंत् का हेतु | १३, २०४ | | |

ENGLISH INDEX

| A | | Androgony | ७० | Artery Lateral planter | १८० |
|----------------------------|-----------------------|-------------------------|--------------------|----------------------------|---------------|
| Abdominal pregnancy | ५९ | Androgynoid | ७० | " " thoracic | १९८ |
| Abduction | १५७ | Aneurism | २१० | " " Lingual | १८६, २१९, २३० |
| Abortion, Cause of uterine | | Anidians | ५२ | " " metacarpal | १८० |
| haemorrhage | २६, २९२ | Ano-coccygeal raphe | १४६ | Artery mammary | २१९, २३० |
| Symptoms of | २९२ | Anopthalmos | ४० | " " middle meningeal | १८८ |
| Threatened | २९२ | Anorchism | ६९ | " " nutrient | १५५ |
| inevitable | २९२ | Anus | १४४, १८२, १९२ | " " occipital | १९८ |
| Complete | २९२ | imperforate | ९८ | " " ovarian | २२९, २२९, २३० |
| incomplete | २९२ | Aorta | २०६, २२१, २३० | " " peroneal | १८० |
| missed | २९३ | Aortic regurgitation | १७६ | " " Phrenic | २१९, २३० |
| Prognosis of | २९२ | Apex of lung | १११ | " " posterior auricular | १८८, १९८ |
| Treatment of | २९१ | Aponeurosis | १५९ | " " tibial | १८८ |
| Prop laxis of | २९२ | palmer | १८१, १९२ | " " profunda lingue | १९८ |
| Adduction | १५७ | Appendix | १४२ | " " pulmonary | २२५ |
| Adductor canal | १८१ | Appendicitis | १४२ | " " renal | २२०, २२१, २३० |
| Adrenalin in heartfailure | ११५ | Apoplexy | ७७ | " " Spermatic | २२१, २३० |
| Aerobes | १७० | Arbitrator | १३७ | " " sublingual | २२०, २३० |
| Aerola (Mamma) | १४३ | Arterioles | १९७, २०६ | " " subscapular | १८५, १९७, २०० |
| Primary | ७९ | Arthrodia | १५७ | " " Superficial occipital | १९९ |
| Secondary | ७९ | Articulations | १५५-१५८ | " " " temporal | १८८, १९९ |
| After pains | २६५ | Artificial feeding | २७०, २८२ | " " Superior mesenteric | २२०, २३० |
| false | २६५ | " " details of | २८२-२८६ | " " Thyroid | १८६ |
| After waters | २४० | Artery | १०३, ११३, १३१, १९७ | " " Supra orbital | १९९ |
| Agenetic period | ६० | angular | १९९ | " " Testicular | २२१, २३० |
| Age for marriage | २९० | anterior tympanic | १९८ | " " transverse cervical | १८६ |
| " " education | २८९ | axillary | १८१, १९२, १९८ | " " ulner | १८१ |
| " " procreation | ३८ | brachial | १९२, १९८ | " " uterine | ७६, २२१, २३० |
| Ala of the ileum | १८६, १९२ | Carotid | १९९, १९८, १८६, १८७ | " " zygomatico-temporal | १९९ |
| Albinism | ४० | Central retinal | २१९ | Ascending Colon | १४२ |
| Alexandrina Samona | ५६ | Coelic | २२०, २३० | Aspermia | १९ |
| Alimentary Canal | ९८ | Colic | २२१ | Asphyxia neonatorum | २४७ |
| Amenorrhoea | २८, २९, ७८ | Common iliac | १८६ | Assimilation, sign of life | ९९ |
| Primary | २८ | first dorsal- | | Asthenia | १२९ |
| Secondary | ८२ | metatarsal | १८० | Asoites, Causes of | २२५ |
| Physiological | २८ | femoral | १९१, १९८, २०० | Tapping | १००, २०७ |
| Amnion | ९४ | gluteal | १९८ | Atlas | १४९ |
| Amphiarthrosis | १५८ | intercostal | १९८, २१९, २३० | Atmosphere, pressure on | |
| Amphiarthrodia | १५७ | internal auditory | २१९, २३० | body | २७८ |
| Amputation | १९० | internal mammary | १९८ | Atresia of the cervix | २२९ |
| Anarobes | १७० | " " pudendal | १८६ | Atrophy, disuse | २० |
| Anaemia, Cause of | | " " maxillary | १९८, १९९, २३० | " overstimulation | २० |
| amenorrhoea | २९ | " " inferior mesenteric | २१९, २३० | Atrophic paralysis | १८१ |
| Anamolies of development | ४९, ५२ | Lacrimal | २१९, २३० | Attitude of the foetus | १६५ |
| " etiology | ५३ | Laryngeal | २१९, २३० | | |
| Anatomy | १, १३८, १६७, १७२, २१७ | | | | |
| Divisions of | १७१ | | | | |

INDEX

| | | | | | |
|------------------------------|---------------|-------------------------------|--------------------|------------------------------|--------------------|
| Atlanto-occipital joint | 227 | Blood vessels | 223, 200, 224 | Cardiac orifice of the | |
| Auditory ossicles | 242 | " menstrual | 22 | stomach | 220, 204 |
| " tube | 200 | Blood-pressure, effect of | | " Rhythm myogenic | 224 |
| Auricle heart | 214 | mental conditions on | 20 | Carcenous mole | 222 |
| Autolytic ferments | 200 | " " Increase in | | Carotid arteries | 224, 200 |
| Autonomous nervous System | | " " pregnancy | 20 | Carpal bones | 224, 200, 224, 222 |
| | 229, 220, 202 | " " mechanism of | 202 | Cartilage | 220, 222 |
| Auto parasite | 42 | " " venesection in | 220 | " structure of | 242 |
| Auto sexuality | 22 | Bones, number in body | 228 | " part of framework | 244 |
| Auto site | 42 | " classes of | 222, 222 | Castrate | 22 |
| " double | 42 | " structure of | 242 | Caul, born with a | 222 |
| Axial rotation | 240 | " Histology of | 242 | Cavernous sinus | 222, 222 |
| Axillary vessels | 221, 222 | " Table of | 240 | Cellulitis | 224, 220 |
| Azoo spermia | 22 | Bonemarrow | 224, 222 | Centre of gravity, effect on | |
| " Varieties of | 20 | Bottle feeding | 229, 202 | foetal presentation | 222 |
| B | | Brachial plexus | 222, 222 | Cephal haematoma | 200 |
| Bacillic vein | 222 | " artery | 222 | Cerebrospinal fluid | 200 |
| Ball and socket joint | 240 | Braxton Hick's sign | 22 | " nerves | 220 |
| Bandage in venesection | 202 | Brain | 220, 222, 222 | Cerebellum | 220 |
| Bath warm, before labour | 222 | " causes of anaemia of | | Cervix uteri | 222 |
| " for the new born | 220 | | 220, 220 | " imperforate | 22 |
| Bartholin glands | 22 | Breathlessness | 224 | " laceration of | 222 |
| Bearing down efforts in | | Breast feeding, importance | | Cervical Canal | 224 |
| labour | 222, 224 | of | 222 | " vertebrae | 222 |
| Bestiality | 22 | Breast milk, tests for | 202 | Character | 222 |
| Biceps muscle | 221, 222 | " and Cow milk | 224 | " Varieties of | 222, 222 |
| Bicycling cause of | | Bronchii | 224, 222, 224 | Chest injuries of | 224 |
| menorrhagia | 22 | " structure of | 224 | Chlorosis | 20 |
| Birthcontrol | 20 | Broncho-pneumonia, | | Choice of mate | 20 |
| Bisexuals | 22, 22 | venesection in | 202 | Chordee | 220 |
| Bisexual phase of the foetus | 22 | Bryce-Teacher's ovum | 22 | Chorion | 22 |
| Black water fever | 222 | C | | Chorio-desidual space | 22 |
| Bladder urinary | 222 | Cadaveric changes | 200 | Chorea | 20 |
| " " rupture of | 222 | " lividity | 200 | Chromosomes | 22, 20, 22 |
| " " gall | 222 | Calcaneus | 222 | " sex | 22 |
| Blastula | 22 | Calcium, result of deficiency | | Ciliary muscle | 222 |
| Blood corpuscles | 222 | in pregnancy | 222 | Circumduction | 220 |
| " circulation | 222 | Calf muscles | 220, 202 | Clavicle | 224 |
| " " Portal | 222 | Canal adductor | 222 | Cleft palate | 22, 222 |
| " " greater | 222 | " alimentary | 22 | Clitoris | 22, 222 |
| " " lesser | 222 | " inguinal, testes in | 20 | Climacteric | 20, 222 |
| " formation, places of | 202 | " " effect of trauma | 222 | Climax, in colour | 20 |
| " " cells of | 202 | " " a vital part | 221, 222 | Coccyx | 224, 222, 222 |
| " distribution, | | Canthus | 222 | Coecum | 222, 220 |
| " " mechanism of | 202 | Capillary | 202, 222, 224, 202 | Coitus, Phenomenon of | 20 |
| " " oxygenated | 222 | | 222, 224, 220 | " Danger of | 22 |
| " " quantity in | | Canals of the joint | 204 | " Posture in | 22 |
| " " Venesection | 200 | Carbohydrate | 222 | " during pregnancy | 22 |
| " " reservoirs of | 204, 222 | Carbon monoxide poisoning | 202 | " puerperium | 222 |
| | | Cardiac centre | 200 | Colostrum | 22, 22 |

| | | | | | |
|----------------------------|---------------|-----------------------------|--------------------|-----------------------------|-----------|
| Colic, infantile | 209 | Death, from hæmorrhage | 203 | Dysparunia | 229 |
| Colon | 227, 220 | Dentition | 200 | Dyspnea | 229, 229 |
| Coma | 229, 230 | " symptoms of | 200 | Dyspopsia | 220 |
| " as a complication | 227 | " table of | 200 | E | |
| Common integument | 200 | " physiology of | 200 | Echolics | 222 |
| Complete abortion | 222 | Dental Caries | 200 | Eclampsia | 202 |
| Compression of the brain | 203, 200 | Dental germs | 200 | Ectoderm | 229 |
| Congestion | 20 | Depression | 220 | Ejaculatory duct | 206 |
| Congenital malformations | 22 | Dermis | 202 | Elbow joint | 202, 222 |
| " etiology | 42 | Detoxifying function of | | Emaciation in pregnancy | 22 |
| Condyle | 240 | liver | 222 | Embolism in the brain | 229 |
| Condylloid joint | 240 | Detumescence | 40 | Embryo, definition | 40, 229 |
| Concussion | 200, 200 | Developmental errors | 40 | " indifferent stage of | 24 |
| Convulsions | 220, 200, 202 | Diastole of the heart | 222 | Embryology | 2, 24, 40 |
| " infantile | 209 | Diaphragm | 222, 222, 222, 222 | Emotion, cause of monor- | |
| Contracted pelvis | 220 | Diarthrosis | 222, 222 | rhoea | 22 |
| Corrosive Sublimato | 222, 222 | Dichotomy | 22 | Empyema, result of trauma | 222 |
| Corpus luteum | 02, 00, 209 | Diet | 22 | Enarthrosis | 220, 222 |
| Corpora Spungiosa | 22 | " in infancy | 200 | Enamel of Tooth | 222 |
| " Caverosa | 22 | " in pregnancy | 222 | Encephalitis lethargica | 220 |
| Coronal Suture | 222 | " in puerperium | 22, 222, 220 | Endocrine glands | 22, 222 |
| Coracoid process | 222 | " effect on the sex of the | | Endometritis | 20, 222 |
| Cord Spinal | 200 | child | 20 | " putrid | 222 |
| " Spermatic | 202, 220 | " " conception | 20 | Ensiform Cartilago | 22 |
| " umbilical | 22 | " " on milk | 202, 202 | Eutoderm | 229 |
| " " management of | 220 | Dilatation of the stomach | | Epididymis | 222 |
| Cow's milk and breast milk | 202 | " " " | 220, 222 | Epidermis | 202, 202 |
| Cramps | 200, 229 | " os uteri | 220, 222 | Epiphysis | 222 |
| Crowning of the head | 222 | " of heart | 220 | Epistrophins | 220 |
| Crypts of Lieberkuhn | 200 | Diphysis | 222 | Erection, in women, pro- | |
| Cryptomenorrhoea | 20 | Dislocations | 222 | cess of | 22 |
| Cubital fossa | 202, 222 | " of lower jaw | 222 | " of penis, process of | 22 |
| Cunnilingus | 20 | Displacements of the uterus | 20 | " " physiology of | 22-22 |
| Cycle of menstruation | 222 | | 222 | Ergot | 20 |
| " " theory of | 02 | Dissection | 222, 220 | Erogenic zones | 20 |
| Cyanosis | 220, 222 | " method of | 220-202 | Eroticism | 20 |
| Cysterna Chyli | 220 | " importance to | | Erysipelas | 202, 200 |
| Cystitis | 222 | surgeon | 220 | " neonatorum | 202 |
| Cystotomy, Lateral | 202 | Divine vision or eye | 202 | Erythroblast | 202 |
| D | | Doom's day | 22 | Ether, medium of sound | |
| Dancing, Cause of | | Dorsal position in labour | 222, 222 | waves | 222 |
| menorrhoea | 22 | Drive | 222 | Ethmoid bone | 220, |
| Decidua, parts of | 22, 220 | Drowsiness | 220 | Eugenics, principle of | 22, 22 |
| Dentine | 222 | Ductus arteriosus | 22 | Eunuchs | 22 |
| Death, signs of | 222, 200 | " deferens | 220, 220 | Eunuchoid gigantism | 22 |
| " causes of sudden | 202, 200 | " venosus | 22 | Evolution | 20 |
| " " delayed | 200 | Dusts | 222 | Expression of the placenta | 222 |
| | | Duodenum | 220 | Extrauterine pregnancy rup- | |
| | | Dysmenorrhoea | 22, 222 | ture of | 222 |

INDEX

| | | | | | |
|-----------------------------|----------------|-----------------------------|--------------------|--------------------------------|---------------|
| Exhibitionism | 202 | Foetus, malpresentation of | 202, 224 | Gastronemius | 21 |
| Eye, naked | 202 | " viability of | 22 | Genital ridge | 1 |
| " divine | 202 | " intra uterine death of | 222 | Genetic period | 1 |
| " scientific | 202 | " effect of mother's | 222 | Genes of sexcells | 1 |
| F | | " mental condition on | 222, 223 | Gestation period | 4 |
| Fallopian tube | 22, 23, 24, 25 | " effect of repeated | 222 | Gigantism eunuchoid | 4 |
| " place of fertilization | 22 | pregnancies on | 222 | Ginglymus joint | 24 |
| Facial expression in infant | 202 | sex de termination | 222 | Ginglymoarthrodial joint | 24 |
| diseases | 202 | Postal circulation | 22 | Glabella | 20 |
| False after pains | 222, 223 | " heartsounds | 22 | Glenoid cavity | 24 |
| " labour pains | 222 | " membranes | 22, 23 | Gluteal region | 22, 23 |
| Painting fit | 222 | " rapture in labour | 22 | Gomphosis | 24 |
| Facia | 202, 222 | " ovoid | 22 | Gravity, effect on circulation | 222 |
| " deep | 202 | " length of | 22 | " Centre of, in the foetus | 222 |
| " temporal | 222 | " development in different | 22 | Graf Von Spee ovum | 22 |
| Fasting in infants | 202 | months | 22-23 | Orlading of teeth in children | 202 |
| Fat, varieties in body | 202 | Pontanello, anterior | 22 | Gymnastics, cause of | |
| Ferundation | 22 | " oiling in infants | 22 | menorrhoea | 22 |
| Feeding, artificial | 222, 223 | " Condition in | 22 | Gynandry | 20 |
| " " mixed | 222 | " diseases | 22 | Gynandroid | 20 |
| Fellatio | 22, 23 | " posterior | 22 | H | |
| Female invert | 22 | " time of closure | 22 | Habit in relation to nature | 222 |
| Femur | 222, 223 | Foramen ovale | 22, 23 | " " Sleep | 222 |
| Femoral artery | 222, 223 | Forehead | 222, 223 | Hair, growth in pregnancy | 22 |
| " vein | 222, 223 | Porewaters | 22 | Hair, follicles | 222 |
| " triangle | 222 | Forcible pressure | 22 | Hematinic | 22 |
| Fetichism | 22, 23 | Fossa, cubital | 222, 223 | Hemietoma, retro-placental | 222 |
| Fertilization of ovum | 22, 23, 24 | Poster mother | 22 | Hemophilia | 22 |
| " " place of | 22 | Fracture dislocation | 222, 223 | Hemostatics, uterine | 22, 223 |
| Fibrous tissue | 22, 223 | Framework of the body | 222 | Hemosperma | 22 |
| Fibula | 222, 223 | Freaks of nature | 22 | Hemoptysis | 222, 223 |
| Fibroids uteri cause of | 22 | Frenum linguae | 222 | Hemothorax | 222 |
| menorrhoea | 22 | Fright, cause of menorrhoea | 22 | Hemorrhage, indication for | |
| " cause of vaginal | 22 | Fright, effect on foetus | 22 | amputation | 222 |
| colouration | 22 | " effect on breast milk | 222 | " from Scalp | 222 |
| Fibrosis uteri | 22 | Frigitas osium | 22 | " Volar and planter | |
| Flat bones | 222, 223 | Frontal bone | 222, 223 | arch | 222 |
| " foot | 222 | " Suture | 222 | " uterine | 222 |
| Flowers (Menses) | 22 | " Sinus | 222 | " symptoms of | 222 |
| Foetus, destination of | 222 | Fundas uteri | 222 | " varieties of | 222 |
| " Compressus | 22 | G | | " post-partum | 222 |
| " papyraceous | 22 | Gall bladder | 222, 223, 224, 225 | Heart | 222, 223 |
| " attitude of | 222 | Galactogogues | 222 | " condition during rest | |
| " bisexual phase of | 22 | Gastritis | 222 | and work | 222 |
| " development of | 22, 223 | Gastric region | 222 | " Anatomy of | 222, 223, 224 |
| " place of blood | 222 | | | " failure | 222 |
| formation in | 222 | | | " surface marking | 222 |
| " presentations of | 22, 223 | | | | |
| " position of | 22, 223 | | | | |

| | | | | | |
|------------------------------|-------------|-----------------------------|--------------------|---|----------|
| Heart failure adrenalin in | ११५ | Impotence, Causes of | ५० | Joints, movements of | १५७ |
| " " Causes of | १७६ | Inbreeding, defects of | ३७ | " structure of | १५५ |
| Heart disease, Venesection | | Incomplete abortion | २९२ | " Tibiofibular | १८० |
| in | २१० | Indifferant stage of embryo | ३५ | " talo crural | १८० |
| Heart burn | १३० | " nature | १३७ | " table of | १५८ |
| Heat stroke | १२९ | Inevitable abortion | २९२ | " varieties of | १५५, १५६ |
| Hegar's Sign of Conception | ८२ | Infection | १७७ | " wrist | १८१ |
| Hemiplegia | १८२ | Inferior nasal conchae | १५० | Jolting contraindicated in | |
| Hermaphroditism | ४८, ७० | Inflammation | १२७, २०२ | pregnancy | ८३ |
| Hermaphrodites | ७० | Infantalism in impotence | ४८ | Jugular vein | १८७ |
| " true and pseudo | ७० | Infant feeding | २६९ | | |
| Hernia, umbilical causes of | २७८ | Infantile colic | २७९ | K | |
| Herodity | ५५, ५६, ६५ | " diarrhoca | २७९ | Kidney | ११२, २२७ |
| " in character | १३२, १३५ | " convulsions | २७९ | " pelvis of | ११२ |
| " colour | ३९ | Infantile paralysis | २८० | Kleitman on sleep | १२३ |
| " Sexual perversion | ४९ | " uterus | २२९ | Kneejoint | १८०, १९२ |
| " in marriage | ३७ | Inguinal Canal | ९५, १८१, १९२ | Knowledge, importance of 'prac- | |
| Hereditary diseases | ५५, ३७, ६० | Insanity | ३० | tical and theoretical | १६७ |
| Hinge joint | १५६ | " puerperal | २६० | Kuffer'cells | १०९ |
| Hip lone | १४९ | Insomnia | ११९ | | |
| Hip joint | १५७ | " Causes of | १२७ | L | |
| Homo sexuality | ४८ | " treatment of | १२७, १२८ | Labour stages of | २३८ |
| Homo sexual | ४८ | Intermetacarpal space | १८१ | Labour duration of the stages | |
| " female | ५१ | Intermetatarsal | १८० | of | २३८ |
| Hormones | ६१, ७१, २१९ | Inter phalangeal joints | १५७ | " position in | २४१ |
| " Sexual | ५० | Inter osseus ligaments | १५५ | " " during 1st stage | २४२ |
| " diagnosis based on | ९७ | Intervertebral fibrocarti- | | " " during 2nd stage | २४४ |
| Humerous | १४८, १५० | lages | १४९ | " " 3rd stage | २६२ |
| Hunting, cause of menorrhoea | २६ | Intestnes | १०५, १०८, १०९, १४३ | " preparations for | २३५-२३६ |
| Hydrocephalus | २८८ | " number | १४० | " premonitory stage of | २३७ |
| Hydraemia | ८१ | " length of | १४४ | " first stage | २३८ |
| Hydrastis | २८ | " function of large | १०९, १४२ | " " management of | २४२ |
| Hygiene of pregnancy | | Inverts male and female | ४८ | " 2nd stage | २४३ |
| " Conception | ६१ | Inversion sexual | ४८ | " " management of | २४४ |
| " puerperum | २५२, २५७ | Involution of the uterus | २६, २५४ | " " " management of | २६० |
| Hymen imperforate | २८ | Involuntary actions | १९६ | " " " " management of | २६० |
| Hypo-pituitrism | ५० | " muscles | १६२ | " " " " " management of | २६० |
| Hypothalamus | १२४ | Iris, structure of | ४०, १६२ | " " " " " " management of | २६० |
| I | | Irritability, sign of life | ९९ | " " " " " " " management of | २६० |
| Idea of menstrual cycle | ६० | Ischium | १४८ | " " " " " " " " management of | २६० |
| Ilio costals | १४५ | Ischial tuberosity | १८६ | " " " " " " " " " management of | २६० |
| Ileum | १४८ | J | | " " " " " " " " " " management of | २६० |
| " ala of | १८६, १९२ | Jaundice, obstructive | २०२ | " " " " " " " " " " " management of | २६० |
| Iliac spines | १८६ | " Toxic | २०२, २१० | " " " " " " " " " " " " management of | २६० |
| Imperforate anus | ९८ | " in infants | २७९ | " " " " " " " " " " " " " management of | २६० |
| " Hymen | २९ | " familial | २७९ | " " " " " " " " " " " " " " management of | २६० |
| Impotent | ४५, ४६, ६९ | Joints, ankle | १५७, १८०, १९० | " " " " " " " " " " " " " " " management of | २६० |
| " conditional | ४७ | " allanto-occipital | १९२ | " " " " " " " " " " " " " " " management of | २६० |
| " Varieties of | ४४, ४५ | " elbow | १८१, १९२ | " " " " " " " " " " " " " " " " management of | २६० |
| | | " knee | १८०, १९२ | " " " " " " " " " " " " " " " " management of | २६० |

| | | | | | |
|--|--------------|--------------------------------|------------|-------------------------------------|---------------------|
| Ladour contraction of the accessory muscles in | 282 | Ligament Talo calcaneal | 291, 292 | Massage, during 1st Stage of labour | 29 |
| " exhausted uterus during, cause and treatment | 284 | " ulner | 292 | " " 2nd Stage of labour | 29 |
| " lightening | 283 | Ligamentum venosum | 292 | " " puerperum | 291 |
| " lying in room | 284, 285 | Lightening in labour | 293 | Mastoid bone | 24 |
| " mechanism in vertex presentation | 283, 280 | Linea nigra | 20 | Mate, importance of healthy | 21 |
| " safety-valve action | 284 | " gravidarum | 21 | Maternity homes | 231 |
| " show | 285 | " albicantes | 21 | Maxilla | 240, 241 |
| " pelvic floor in | 282 | Liver, anatomy | 282 | Meconium, meaning of | 41 |
| Labyrinth disease cause of vertigo | 230 | " functions of | 281, 282 | Medula oblongata | 229, 230 |
| Lacerations of perineum | 219 | " Symptoms of rupture of | 223 | Melanin, pigment of skin | 23 |
| " Cervix uteri | 222 | " use in anaemia | 20, 21, 21 | " place in skin layers | 201 |
| Lacertus fibrosus | 208 | Lochia | 242, 244 | Melancholia, cause of amenorrhoea | 20 |
| Lacrimal bone | 240 | " duration of | 243 | Membrane | 202, 203 |
| Lactiferous ducts | 222, 242 | Longissimus muscle | 244 | " fibrous | 202, 203, 204 |
| Languor | 220 | Lotion for vaginal wash | 22 | " mucous | 202, 203 |
| Larynx | 209 | " in labour | 224, 224 | " " of intestines | 205, 206 |
| Laryngitis | 201, 210 | Longings of pregnancy | 29, 200 | " " vesiculae seminales | 200 |
| Lateral position in labour | 212, 214 | Lungs | 212, 224 | " synovial | 204, 205 |
| Law of causation | 20 | " Apex of | 212 | " serous | 200, 201 |
| " dominance | 20 | Lunate bone | 210 | " foetal | 204, 210 |
| " polarity of uterus | 229 | Lymph | 224 | " " bag of | 240 |
| Lethargy | 220 | Lymphatics | 224, 220 | " " rupture in labour | 229 |
| Leprosy, earliest skin lesions | 200 | Lymphatic vessels | 222, 220 | meningocele | 42 |
| Life, signs of | 29, 214 | Lysol in labour | 224, 224 | Meno pause, time of | 26, 244 |
| " tripod of | 205 | M | | " changes at the time of | 20 |
| Ligament | 28, 249, 250 | Mac Kintosh, use in labour | 241 | Menorrhagia, Definition | 26 |
| Ligament structure of | 249 | Madness | 20 | " etiology | 28, 20 |
| " broad | 248, 248 | Malar bone | 245 | " Symptoms | 20 |
| " calcaneofibular | 200 | Male inverts | 20 | " treatment | 20 |
| " carpometacarpal | 201, 202 | Mal presentation of the foetus | 22, 202 | Menses | 29, 20, 24, 22, 222 |
| " collateral | 201 | Malpighian layer | 201, 202 | " age of onset | 24, 20 |
| " coraco humeral | 202 | Mammas, anatomy | 212 | " characters of blood | 24, 24 |
| " deltoid | 200 | " development in puberty | 212 | " period of flow | 24 |
| " glenohumeral | 202 | " changes during pregnancy | 29 | " clinical features of | 24 |
| " inter carpal | 201, 202 | " areola of | 21, 212 | " uterine changes during | 20, 24, 20 |
| " intertarsal | 202 | " rudimentary | 212 | " Synonyms of | 20 |
| " interosseous | 244 | Mammary region | 222 | " cyclical theory of | 244 |
| " lateral | 202 | Mammals, infant feeding in | | " concealed | 20 |
| " long planter | 200, 202 | Mandible bone | 240, 242 | " absence during pregnancy | 20, 20 |
| " Radio carpal | 202 | Manubrium Sterni | 244 | | |
| " Radial | 201 | Marasmus | 204 | | |
| " round | 241 | Marrow, bone, place of | 242 | | |
| " Suspensory, mamma | 204 | " Composition of | 204 | | |
| | | Marrow, Red and yellow | 204 | | |
| | | Massage, effect of | 220, 222 | | |

| | | | | | |
|---|-------------|--|--------------------|-----------------------------------|---------------|
| Menses Continuation | ३८, ३९ | Morning sickness | ४९ | Nature, see character | १२९ |
| " sexual ardour after | ४९ | " " sign of pregnancy | ४९ | Navel (see umbilicus also) | ३१५ |
| " profuse, see menorrhagia | | Morula | ४९ | Navicular bone | १४८ |
| " cessation of, see menopause | | Mother's impressions, see mental impressions | | Necrozoospermia | १९ |
| " painful, see dysmenorrhoea | | " milk, importance of | ३३८ | Necrophilia | ४८ |
| " absence see amenorrhoea | | " " tests for | ३३९ | Neck vessels | १९० |
| " in milkers | ७८ | Multi para, value of quickening in | ८० | Nerve Acoustic | ३१९ |
| Menstruation, see menses | | " increase of weight of foetus in | ३४ | " drop peroneal | १८८ |
| Menstrual blood, see menses | | " relation between uterine space and foetus in | १६६ | " Gluteal | १८८ |
| " life | ७१ | " condition of exit as before labour | ३३८ | " Glisso-pharyngeal | ३८९, ३९० |
| " cycle | ७३, ७४, ७५ | Muscle | १५८, १६०, १६१ | " Hygo-cervical | १८९, ३१९ |
| " Toxin | ११ | " forms of | १६० | " Internal pudendal | १८८ |
| Meningitis | १३६, १३७ | " number of | १६०, १६० | " Inferior laryngeal | ३१९ |
| Metnal Condition in pregnancy | ८३, ८४, १३३ | " properties of | १६१ | " Laryngeal | ३१९ |
| " condition in puerperium | २५६, २७० | " varieties of | १६१, १६३ | " Lacrimal | ३१९ |
| " condition effect on milk | २७० | " Biceps | १६३ | " Lingual | ३१९ |
| " " " foetus | २३, ८३, ८७ | " Gastrocnemius | १६० | " Lateral planter | १८० |
| " " necessary for Sleep | १६७ | " Plantaris | १६० | " median | १८१ |
| Mercury chloride, contra indication for use in labour | २३४ | " Quadriceps femoris | १६० | " Medial planter | १८० |
| Mesochism | ४८ | " soleus | १६० | " olfactory | १८२, ३१९ |
| Metodorm | १३९ | " Temporal | १८८, १९३ | " optic | ३१९ |
| Metabolism | ७१ | Muscle Trapezius | १८९, १९३ | " sciatic | १८६ |
| Meta carpal bones | १४८, १५० | " calf | १८०, १९० | " suprascapular | १८६ |
| Meta tarsal bones | १४८, १५० | " ciliary | १६३ | " saphenous | १८१ |
| Metopic Suture | १४६ | " corpora spongiosa | ४५ | " Tibial | १८० |
| Metrorrhagia, | ६६ | " " cavernosa | ४५ | " vestibular | १३० |
| " causes of | २६, ७७ | " Diaphragm | १११, १४१, १८४, २१९ | " Vagus | २३० |
| Midwife, qualifications of | २४१ | " Longissimus | १४५ | Nervous system autonomous | १३९ |
| Milk fever | ३५१ | " pectoralis major | १८५, १९३ | " diseases, pathogenesis of same | ३१७, ३१८ |
| Missed abortion | ३९३ | " skeletal | १६३ | Neuter stage of foetus | ७० |
| Mixo scopia | ४६ | " sphinctor | १५९, १६३ | Neuralgia | २०८ |
| Monsters | ३४, ५३ | " spinalis | १४५ | Nouritis | २०८ |
| " acardiac | ४४, ५३ | Musculospinal paralysis | ३८० | Nipple | १४३ |
| " varieties of single | ५३ | Musculus uvulae | १६० | Nymphomania | ४८ |
| " " double | ५३ | Myoma uteri cause, of menorrhoea | २७ | Nyria | ५६ |
| " etiology | ५३ | | | O | |
| Monstrosity | ५३ | Nasal bones | १५०, १५१ | Occipital bone | १५०, १५१ |
| Montgomery' follicles in pregnancy | ७९ | " arch | १८८, १९३ | Oostrus | ३० |
| | | Nature, dominance of | १०, ५६, ६६ | Oostrin | ७३, ७९, १०९ |
| | | " freaks of | ९८ | Oesophagus | २३५, २३० |
| | | | | Ointment, absorption through skin | २२१ |
| | | | | Olecranon | १४८ |
| | | | | Olfactory region | १८८ |
| | | | | Oligomenorrhoea | २९ |
| | | | | Oligospermia | १९ |
| | | | | Oligozoospermia | १९ |
| | | | | Omentum | १०४, १०७, २३७ |

| | | | | | |
|--|---------------------------------|--|---------------|--|-------------|
| Omphalosis | 42 | Papillae of the skin | 101 | Pituitary, in connection with lactation | 246, 247 |
| Omphalitis | 200 | Papillary layer of the skin | 101 | Pivot joint | 140 |
| Oophoritis | 244 | Parasthesia sexualis | 42 | Placenta, formation and structure of | 22, 24, 110 |
| Operculum | 222 | Parodoxia | 42 | " secretion of | 69, 94 |
| Ophthalmia neonatorum | 248 | Parietal bone | 140, 141 | " in twins | 42, 43 |
| Orgasm | 41, 42 | Pasteurisation of milk | 204 | " functions of | 94 |
| " effect on ovulation | 41, 42 | Patella | 146, 140, 141 | " place of attachment in uterus | 114 |
| " uterus | 42 | Pavlov on Sleep | 124 | " retention of part cause of menorrhagia | 22 |
| " complications of | 42 | Pectoralis major | 154, 192 | " delivery of | 250 |
| Os innominatum | 145, 147 | Pelvis | 144 | " methods of removal | 251-252 |
| " calcis | 140 | " contracted | 140 | " symptoms of in lower uterine segment | 252 |
| Ossification of bones | 142, 143 | P.vic cellulitis in rupture of bladder | 102 | Placenta, examination of after removal | 224 |
| Osteomalacia | 41, 222, 225 | Pelvic cellulitis in puerperal infection | 242 | Plantaris muscle | 150 |
| Os uteri | 144, 144 | Penis | 144 | Planter arch, wounds of | 159 |
| " pinhole | 144 | " erection of, physiology | 44-46 | " treatment | 190 |
| " dilatation of, during labour | 222, 241 | " " in sexual perverts | 42 | Plexus, brachial | 102, 192 |
| Otto Schoners' theory of sex determination | 40 | " " " " | 42 | " hypogastric | 220 |
| Ovary | 25, 24, 49, 109, 144, 142 | Perineum, strain in squatting on | 103 | " inferior mesenteric | 220 |
| Ovulation | 41 | " lacerations of, in labour | 224 | " renal | 220 |
| " time | 41, 62 | " in labour | 244 | " Sacral | 102 |
| Ovum | 19, 20, 21, 22, 41, 44, 144, 20 | Peritoneum | 104, 102 | " Spermatic | 222 |
| " fertilization of | 40, 62, 109 | Peritonitis | 102, 242 | Plethora, indication for venesection | 202 |
| " Segmentation of | 122 | Pericardium, function of | 102 | Pleurisy dry | 202 |
| " Bryce Teachers | 104 | Pernicious anaemia, coma in | 102 | " with effusion, result of chest injury | 104 |
| Ovarian tumour, mammary changes in | 100 | " " use of liver in | 141 | Pneumonia | 202 |
| " cyst, linea gravidarum in | 100 | Permeability of vessels | 104 | " result of chest injury | 104 |
| " Pregnancy | 42 | Phalanges | 140, 140, 142 | " indication for venesection | 210 |
| Oxygen | 112 | Philosophy Indian, Speciality of | 42 | Pneumothorax, result of chest injury | 104, 104 |
| Oxygenated blood | 112 | Phlebotomy | 210 | " indication for venesection | 210 |
| Oxy toxics | 222 | Photo phobia in infants | 212 | Polarity, law of | 212 |
| P | | Physiology | 1, 2, 10 | Polypus uterine cause of menorrhagia | 20 |
| Pad Vaginal, use in vaginal diseases | 22 | Pica | 69, 10 | Popliteal fossa | 100 |
| " " use in pregnancy | 224 | Pigment of the skin | 24 | Porta hepatis | 102 |
| Paidophilia | 42 | " of the Iris | 40 | Post menstrual period | 62 |
| Paints | 222 | Pigmentation in pregnancy | 10 | Post-partum haemorrhage | 212 |
| Pallor | 20 | stigmata (Paints) | 222 | | |
| Palpitations in pregnancy | 102, 114 | Pinna of the ear | 144 | | |
| Palatine bone | 140, 141 | Iteltrin in labour | 112 | | |
| Palmer arch | 102 | " in asphyxia neonatorum | 240 | | |
| " difficult haemorrhage | 190 | Pituitary, in sexual disorders | 44 | | |
| " treatment of haemorrhage | 190 | | | | |
| " sponneurosis | 102, 102 | | | | |
| Pancreas | 111, 142 | | | | |

| | | | | | |
|------------------------------------|----------|--|----------|--|---------------|
| Semen absorption from vagina | 32 | Steepleness, causes of | 220 | Stomach, relations between | |
| " fœtine | 41 | " treatment | 220, 221 | heart and | 220, 220, 221 |
| Septum | 200 | Snake poisoning, venesection | | Stratum compactum | 9 |
| Septicaemia | 200 | in | 201, 210 | " spongiosum | 9 |
| " puerperal | 249 | Sockets of teeth | 220 | " Granulosum | 202, 203 |
| Sex chromosomes | 52 | Sodism | 22 | " lacidum | 200, 201 |
| " glands and hormones | 29, 40 | Soleus | 220 | Stria gravidrum | 21 |
| " determination, theories | 55, 57 | Spacing between two children | 22 | Striped muscles | 222 |
| " change of, theories | 55, 56 | Spermatic cord | 22, 23 | Stupor | 222 |
| Sex probable symptoms to determine | 20 | Spermatozoa | 22, 23 | Stypticin | 22 |
| Sexuæ, meeting place of | 22 | " characters of | 24 | Subinvolution of uterus | |
| Sexual aberrations | 20, 21 | " place of origin | 222 | after abortion | 22 |
| " perversions | 20 | " effect of vaginal secretion on | 22 | Subcutaneous tissue | 200, 202, 203 |
| " perverts | 21 | Sphenoid bone, | 223, 240 | " fat de | |
| " inversions | 20, 21 | Sphincter muscles | 223, 224 | posit in | 202 |
| " frigidity | 20 | " vaginae | 222 | Succus entericus | 202 |
| " impulse, effects of | 20 | Spine | 224, 225 | Sudden death, causes | 202 |
| " " more after menses | 20 | " of the scapula | 222 | Supra renal gland | 22 |
| " " waning, sign of pregnancy | 20 | Spinalis muscle | 222 | Suppuration | 202 |
| " Excitement, effects of | 20 | Spleen | 222 | Surgeon, importance of dissection to | 220 |
| " gratification for fecundation | 22 | " functions of | 222 | Surgical shock | 202 |
| " excess, cause of menorrhagia | 22 | " reservoir of blood, | 202, 220 | Sutures, cranial | 224, 240 |
| " relations in pregnancy | 22 | Splanchnic area | 202 | Sutura serrata | 240 |
| Sheaths | 222 | Spongyltissue of bone | 222 | " harmonia | 240 |
| Shock, causes | 200 | Sprain | 220, 200 | " squamosa | 240 |
| " varieties and symptoms | 200, 222 | Spray | 222 | synovial membrane | 202, 202, 222 |
| Shoulder joint | 240, 222 | Squatting, contra-indicated in pregnancy | 22 | " fluid | 202, 202, 222 |
| Show in labour | 222 | Squamosal suture | 220 | Synovitis | 222 |
| Siegel on sex determination | 22 | Stages of labour | 222 | Syncope, causes of | 220, 220 |
| Signs of life | 22, 222 | Status lymphaticus | 200 | " Symptoms of | 222 |
| " death | 222, 200 | Stejskal on function of skin | 222 | Systole of heart | 222 |
| Sinusoids | 202 | Sternum | 222 | Syphilis congenital, cause of jaundice in the new born | 220 |
| Sinus, frontal | 222 | Sternal notch | 222 | | |
| " cavernous | 222, 222 | Sterile | 22, 22 | T | |
| " intercavernous | 222, 222 | Sterility | 22 | Table of Sankhya Darshan | 20 |
| " confluence of | 222 | " dueto injury to Spermatie cord | 222 | " sankhyaurveda difference | 20 |
| Sixlets | 22 | " in women | 222 | " Panchikaran | 22 |
| Skeleton | 222 | " one child | 222 | " amenorrhœa | 22 |
| Skeletal muscles | 222 | " absolute | 222 | " obstetrical | 22, 22 |
| Skin diseases of | 200 | Still born | 22, 222 | " of signs of pregnancy | 20 |
| " layers of | 22, 202 | Still birth | 222 | " of cutaneous layers | 202 |
| Skull | 222 | Stirrage | 22 | " of Kalas | 200, 202 |
| Sleep, theories of | 222, 222 | Stomach, region of | 222 | " of pulse rate according to age | 222 |
| Sleepiness | 222 | " flatulence in | 220 | " of the number of bones | 222 |
| | | " dilatation of | 220, 222 | " of joints | 222 |

| | | | | | |
|--|-------------------|---|-----------------|--|--------------------|
| Table of number of muscles | 150 | Teratium | 40 | Twins multiovarular | 42 |
| " monthly foetal development | 155 | Tetradelphians | 41 | " diagnosis of | 45, 46 |
| " of abnormal foetal attitudes | 154 | Tetradymos | 42 | Tympanum | 100 |
| " showing relative frequency of Vertex and pelvic presentation at different months | 155 | Teratonecephalians | 40 | U | |
| " of Marmas | 100 | Tetrapagians | 41 | Ulna | 100 |
| " Veins contraindicated for venesection | 200 | Testes, Testicles | 112 | Ulnar artery | 151 |
| veins above clavicles | 199 | " descent in the inguinal canal | 90 | Umbilicus | 151, 152, 153, 154 |
| arteries | 220 | Test tube babies | 70 | Umbilical artery | 151, 154 |
| scrotasas | 220 | Tetanus | 100, 100 | " velu | 151, 154 |
| dentition | 250 | " in puerperium | 250 | " belt | 203 |
| mesenterics | 200 | Thirst | 234 | " region | 159 |
| ectile corpuscles | 101 | " theory of | 235 | " hernia | 94, 100 |
| ulas | 140 | Thoracic vertebra | 172 | Umbilical cord, structure of | 94 |
| impotence, use in pregnancy | 220 | " Duct | 220, 224 | " " colling of | 94 |
| arsal bones | 144, 140, 140 | Throbbing, Vaginal | 100 | " " management of | 240 |
| | 140 | Thrush | 209 | " " removal of placenta by traction on | 252 |
| arsus | 140 | Threatened abortion | 200 | Urea | 44 |
| teeth, structure and composition of | 140 | Thyamus | 49 | Ureamia | 129, 201, 210 |
| " milk and permanent | 200 | Thyroid | 42 | Urinary bladder | 142, 142 |
| " physiology of the development | 200 | Tibia | 140, 140 | " " rupture of | 152, 152 |
| Compartament | 151, 151 | Torcular Herophilina | 150, 150 | Ureters | 122, 220, 220, 220 |
| " Lymphatic | 152 | Tourniquet | 190 | Urothra | 105 |
| " nervous | 152 | Toxaemia, puerperal | 249 | " prostatic portion of | 105 |
| " Sanguineo | 152 | Traction of the cord | 252 | Uterus | 142, 154 |
| " unchanging character of | 154 | Transmigration of soul | 42 | " double | 110 |
| " Various types of | 155-155 | Trapezius | 155, 152 | " infantile | 229 |
| " importance of in treatment | 155 | Trachno | 140 | " coehleto | 229 |
| " effect on heart's action | 155 | " structure of | 142 | " exhausted | 244 |
| Temperaturo, effect on heart | 155 | Transverso colon | 142 | " in virgin | 152 |
| Temporal bone | 140, 141, 150 | Trauma on the host, diseases resulting from | 154 | " in pregnancy | 154, 229 |
| " fascia | 192 | Tripod of life | 105 | " in orgasm | 40 |
| " Suture | 144 | Triplet see also 'twins' | 42, 42 | " in menses | 104, 105, 109 |
| " musculo | 192 | Trophoblast | 52, 54, 95, 139 | " fundus of | 50, 94, 152 |
| Temples | 155, 152 | Trochanter greater | 155 | " sinking of, before delivery | 230 |
| Tendons | 95, 144, 149, 100 | Tubalcs semi iniferi | 112 | " involution of | 25, 252, 254 |
| " of Biceps | 192 | " lactoferi | 225, 230 | " Sub involution of | 25 |
| " Quadriceps | 192 | Tubercles of vertebrae | 149 | " fibrosis of | 20 |
| Tenderness | 204 | Tuberculosis, pulmonary | 154 | " retraction of | 251 |
| Tents | 192 | Tumescence | 40 | " Prolapse of | 244 |
| | | Tumour, ovarian | 109 | " arteries of | 105, 92 |
| | | Twins | 42 | " blood vesools of | 220 |
| | | " causation | 42 | " displacements of | 20, 154, 229 |
| | | " Varieties | 42 | Uterine arterios | 105, 92 |
| | | " in equal developement of | 42 | " tubes | 152, 154 |
| | | " percentago | 42 | " inertia | 224, 244 |
| | | " uniovular | 42, 42 | " haemorrhage | 250, 292 |

| | | | |
|---|------------------------|---|---|
| Uterine or, dilatation of before delivery | 225, 229 240 | Venesection, indications and contra indications for 202 | Vessels, superficial temporal 226 220 |
| " fibroids | 20 | " process of 202, 220, 222 202 | " spermatic 200 |
| V | | " time for 202 | " supra-orbital 200 |
| Vaginal canal | 222, 224 | " common veins for 204, 220 | " zygomatics tempo 200 |
| " pulsation | 20, 22 | " quantity of blood in 202 | sal 225, 200 |
| " throbbing | 20 | " accidents in 222 | Viability of foetus 22 |
| " secretion | 22 | " importance of, in surgery 222 | Villi placental 22 |
| Vaginismus | 222 | Ventricle of the heart 224 | " of membranes 220 |
| Vaginitis | 222 | Ventilation in labour room 222 | Vision divine 202 |
| Valves of heart | 224 | Vernix caseosa 22 240 | " scientific 202 |
| Valvular disease | 20 | Vertebra 220 | Vital functions 200 |
| Varicose veins | 222 | Vertebral column 222 | Vital parts 202 |
| " " in pregnancy | 22 | Vertigo 220 | " " table of 222, 222 |
| Vasomotor nerves | 202 | Vertex presentation 22, 222 | Vitamins 222, 222 |
| " paralytic | 220 | " " genesis of 222 | " D 222, 222 |
| " instability | 202 | Vesicula seminalis 202 | Voluntary muscles 222 |
| " centro | 202 | Vessels, lymphatic 222 | " actions 222 |
| Vasa deferens | 202 | " blood, Axillary 200 | Volar arch, wounds of 202 |
| Vein | 202, 222, 222, 220 202 | " Angular 200 | Vomer 220, 222 |
| " Angular | 22 | " Anterior tympanic 200 | Voyeurism 22 |
| " Axillary | 222 | " Brachial 200 | W |
| " Bacillo | 222, 222 | " common iliac 222 | Walking inability in infants, causes of 222 |
| " cephalic | 222, 200 | " deep lingual 200 | Weaning, time of 222, 220 |
| " Facial | 200 | " Gluteal 200 | Wetnurse, 222 |
| " Femoral | 222, 222, 200 | " Femoral 222 | " qualifications for 222 |
| Vein Frontal | 222, 222, 200, 220 | " Internal mammary 222 | " indications for keeping 222 |
| " Gluteal | 222 | " Inferior epigastric 222, 200 | Whartonian jelly 22 |
| " Internal maxillary | 222 | " Internal maxillary 200 | Wheeler 222 |
| " Jugular | 220, 222, 200, 220 | " Lateral thoracic 222 | Woman |
| " median cubital | 202, 202 | " of the neck 222 | Wolfian b . |
| " occipital | 222, 222 | " occipital 200 | Wrist joint |
| " posterior auricular | 220, 222 | " posterior auricular 222, 200 | Xiphoid process |
| " saphenous | 220, 200, 202 | " subscapular 222, 222 | Z |
| " supra orbital | 222, 220 | | Zones erogenic |
| " superficial temporal | 222 | | Zona pellucida |
| " " dorsal of penis | 202 | | Zygomatic bone |
| " Varicose in pregnancy | 22 | | |

